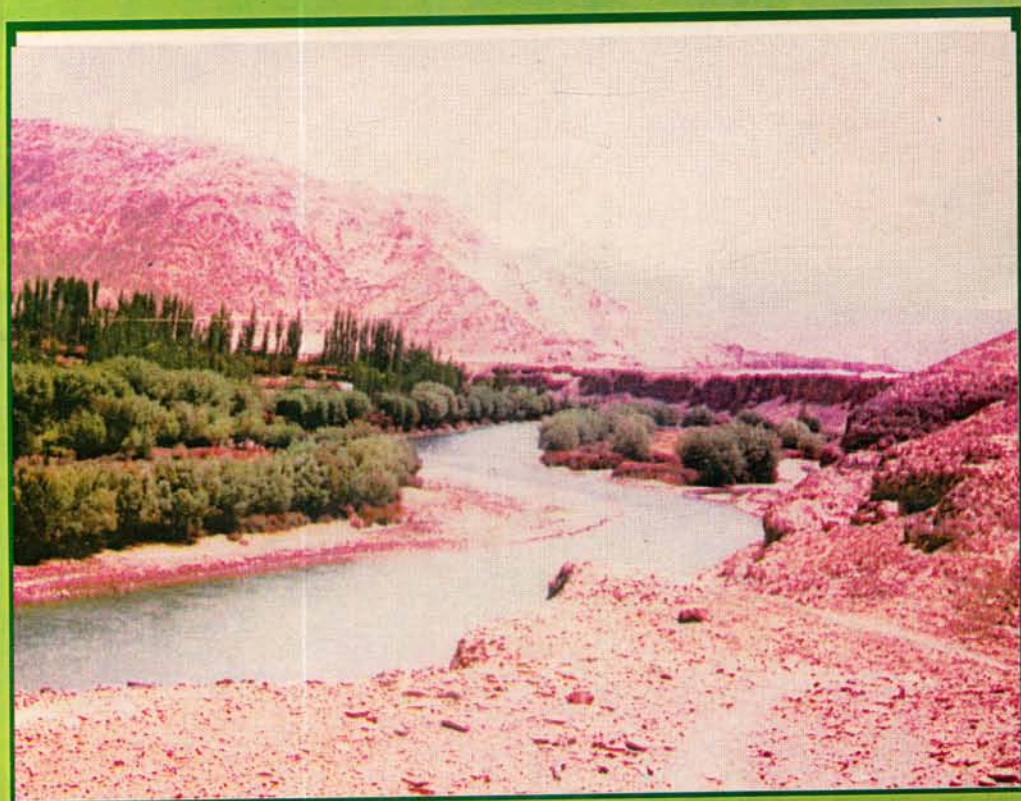


वसुदेवहिण्डी : भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा



डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

प्राकृत-जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान
वैशाली

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव द्वारा प्रणीत 'वसुदेवहिण्डी : भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा' उच्चस्तरीय शोधकार्य है। लेखक ने 'वसुदेवहिण्डी' ग्रन्थ का सम्यक् विवेचन कर उसके महत्त्व पर विशद प्रकाश डाला है। उन्होंने सम्बद्ध मूल स्रोतों का अध्ययन कर भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों के उद्घाटन का स्तुत्य कार्य सम्पन्न किया है।

कृष्णदत्त वाजपेयी

सेवानिवृत्त टैगोर प्रोफेसर तथा
अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास,
संस्कृति तथा पुरातत्त्व-विभाग
सागर-विश्वविद्यालय (मध्यप्रदेश)

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव प्राकृत-जैन वाङ्मय के एक अधिकारी अध्येता एवं विद्वान हैं। उनका ग्रन्थ 'वसुदेवहिण्डी : भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा' एक सुन्दर शोध-विषयक ग्रन्थ है। इसके प्रकाशन से जैन वाङ्मय समृद्ध हुआ है।

डॉ. रामजी सिंह

पूर्व-कुलपति

जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ (राजस्थान)

प्राकृत-जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान प्रबन्धमाला-संख्या ३७

सम्पादन-प्रमुख
डॉ. युगलकिशोर मिश्र
निदेशक

वसुदेवहिण्डी : भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा

डॉ. श्रीरंजन सुरिदेव

एच. ए. (प्राकृत-जैनशास्त्र, संस्कृत एवं हिन्दी) , स्वर्णपदक-प्राप्त,
पी-एच. डी.; साहित्य-आयुर्वेद-पुराण-पालि-जैनदर्शनान्वार्य,
व्याकरणतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यलंकार
पूर्व-व्याख्याता : प्राकृत, प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली; पूर्व-उपनिदेशक (शोध)
एवं सम्पादक : 'परिषद्-पत्रिका', बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

प्राकृत-जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली
बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर (बिहार)

सन् १९९३ ई०

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : सन् १९९३ ई०

मूल्य : रु० २५०-००

प्राकृत-जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली, बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर (बिहार)
की ओर से इसके निदेशक डॉ. युगलकिशोर मिश्र द्वारा प्रकाशित
एवं तारा प्रिण्टिंग वर्क्स, वाराणसी द्वारा मुद्रित

**महनीयास्पद
पं. मथुराप्रसाद दीक्षित (गुरुजी)
की पुण्यस्मृति को**

जो प्राकृत के रसलिप्सु तथा हिन्दी-सौध की गहरी नींव की सुदृढ़ शिला थे और
जिन्होंने मुझे प्राकृत-साहित्य के अध्ययन की प्रेरणा दी ।

—श्रीरंजन सूरिदेव



The Government of Bihar established the Research Institute of Prakrit Jainology and Ahimsa, Vaishali in 1955 with the object, inter alia, to promote advanced studies and research in Prakrit and Jainology and to publish works of permanent value to scholars. This institute is one of the six research institutes being run by the Government of Bihar. The five others are (i) Mithila Institute of Post-graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga; (ii) Kashi Prasad Jayaswal Research Institute for Research in Ancient, Medieval and Modern Indian History at Patna; (iii) Bihar Rastrabhasa Parisad for Research and Advanced Studies in Hindi at Patna; (iv) Nava Nalanda Mahavihar for Research and Post-graduate Studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda and (v) Institute of Post-graduate Studies and Research in Arabic and Persian Learning at Patna.

As part of this programme of rehabilitating and reorienting ancient learning and scholarship, this is the Research Volume No. 37 which is the Ph. D. thesis of Shreeranjana Soorideva approved by the University of Bihar. The Government of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship would bear fruit in the fullness of time.

सम्पादकीय वक्तव्य

डॉ. श्रीरंजन सुरिदेव के शोध-ग्रन्थ 'वसुदेवहिण्डी : भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा' को संस्थान के गौरवशाली प्रकाशनों में सम्मिलित कर इसे सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें व्यक्तिगत हर्ष एवं गौरव का अनुभव हो रहा है। डॉ. सुरिदेव हिन्दी, संस्कृत तथा प्राकृत-जैनशास्त्र के समान रूप से अधिकारी एवं लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं तथा इन विषयों में लेखन-सम्पादन का इन्हें गम्भीर एवं विस्तृत अनुभव प्राप्त है। इनका प्रस्तुत शोध-अध्ययन प्राकृत-कथासाहित्य के शोधकों की गवेषणा-दृष्टि से अबतक प्रायः ओझल और अल्पज्ञात अनमोल निधि को सांगोपांग उद्धाटित करने का एक श्लाघनीय एवं सार्थक सत्प्रयास है।

आचार्य संघदासगणी द्वारा आर्ष प्राकृत-भाषा में निबद्ध 'वसुदेवहिण्डी' का प्राच्य कथा-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। यह गुणाढ्य द्वारा पैशाची में निबद्ध 'बृहत्कथा' का जैन रूपान्तर है, जो बुधस्वामी-कृत 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', सोमदेव-कृत 'कथासरित्सागर' तथा क्षेमेन्द्र-कृत 'बृहत्कथामंजरी' के साथ समानान्तर अध्ययन से गुणाढ्य के मूलकथा के निकटतम प्रमाणित होता है। भारतीय कथा-साहित्य में दृष्टान्तों का प्रयोग बहुलता से हुआ है। 'वसुदेवहिण्डी' में भी इस दृष्टान्त-शैली का हृदयावर्जक प्रयोग मिलता है। इस सन्दर्भ की ग्रन्थकार द्वारा की गई गम्भीर गवेषणा विश्वसनीय होने के साथ ही अतिशय रोचक एवं विस्मयकारी है। 'वसुदेवहिण्डी' में कृष्णकथा, रामकथा तथा अन्य पौराणिक कथाएँ प्रसंगवश आई हैं। शोधश्रमी लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन और ब्राह्मण पुराण-कथाओं का तुलनात्मक मूल्यांकन बहुत सटीक ढंग से किया है। इसके अतिरिक्त सृष्टि-प्रक्रिया, वेदोत्पत्ति, गणिका-उत्पत्ति आदि प्रसंगों का शोधानुशीलन और मूल्यांकन प्रस्तुत ग्रन्थ का उल्लेखनीय वैशिष्ट्य निरूपित करता है। भारतीय पारम्परिक विद्याएँ और कलाएँ 'वसुदेवहिण्डी' में प्रायोगिक रूप से वर्णित हुई हैं। इन प्रयोगों के आधार पर ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, वास्तुशास्त्र, कामशास्त्र एवं ललित कलाओं के सम्बन्ध में प्राप्त बहुमूल्य सामग्री का भी शोधगर्भ अध्ययन ग्रन्थकार ने बड़े ही वैदुष्यपूर्ण एवं प्रामाणिक ढंग से उपन्यस्त किया है।

'वसुदेवहिण्डी' वस्तुतः भारतीय जीवन और संस्कृति का महाकोष है। इसमें लोकजीवन की सुरम्य झोंकियाँ दृष्टिगत होती हैं। अनेक नगरों, जनपदों, देशों, पहाड़ों और नदियों का अपूर्व भौगोलिक चित्रण इसमें मिलता है। तत्कालीन धार्मिक स्थिति को रेखांकित करनेवाले आचार्यों और दार्शनिक मतों की भी चर्चा यहाँ उपस्थापित है। उस युग की राजनीतिक परिस्थितियों, राज-परिवार की जीवन-पद्धतियों एवं अर्थ-व्यवस्था का भी व्यापक विवेचन इस ग्रन्थ में सुलभ हुआ है। शोधमनीषी लेखक ने अपने इस ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति के विविध आयामों का पुंखानुपुंख विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। कृतविद्य लेखक द्वारा सम्पन्न 'वसुदेवहिण्डी' के भाषिक वैभव एवं साहित्यिक सौन्दर्य का पाण्डित्यपूर्ण परिशीलन भी अद्वितीय है। निस्सन्देह, यह कहना अत्युक्ति नहीं कि प्रस्तुत शोध-महार्घ ग्रन्थ में पहली बार उपस्थापित 'वसुदेवहिण्डी' का महनीय शोधालोचन प्राकृत-भाषा और साहित्य के शोध-जगत् में सर्वोत्तम स्थान आयत्त करता है।

इस शोधग्रन्थ के कलावरेण्य मुद्रण, प्रस्तबन और परिवेषण के लिए तारा प्रिण्टिंग वर्क्स के अधिस्वामी रविप्रकाश पण्ड्या संस्थान की ओर से हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर

३१ दिसम्बर, १९९३ ई.

युगलकिशोर मिश्र

सम्पादन-प्रमुख

प्रास्ताविकी

आचार्य संघदासगणी (अनुमानतः ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती) द्वारा प्राचीन या आर्य प्राकृत-भाषा में निबद्ध 'वसुदेवहिण्डी' का प्राच्य कथा-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। प्राच्यविद्या के पांक्तेय मनीषियों की अवधारणा है कि 'वसुदेवहिण्डी' गुणाढ्य की पैशाची-निबद्ध नामशेष 'बृहत्कथा' का जैन रूपान्तर है, जो ब्राह्मण-परम्परा में प्राप्त रूपान्तरों की अपेक्षा मूल 'बृहत्कथा' के अधिक निकट है। ब्राह्मण-परम्परा के रूपान्तर—'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', 'बृहत्कथामंजरी' तथा 'कथासरित्सागर' के साथ 'वसुदेवहिण्डी' का समेकित अध्ययन करने पर मूल बृहत्कथा की रूपरेखा, यानी कथावस्तु और संरचना-शिल्पविधि कुछ और अधिक स्पष्ट होकर सामने आती है।

भारतीय कथा-साहित्य में दृष्टान्तों का प्रयोग-बाहुल्य उपलब्ध होता है। तत्कालीन कथाकारों ने अपनी रचना-प्रक्रिया में दृष्टान्तों को कथा-विकास के माध्यम के रूप में विनिवेशित किया है। इस दृष्टान्त-शैली का प्रयोग-प्राचुर्य 'वसुदेवहिण्डी' के संरचना-शिल्प में भी भूरिशः दृष्टिगत होता है। प्राचीन कथाकारों का दृष्टान्त के प्रति आग्रह का मूल्य इसलिए अधिक है कि इससे कथा में एकरसता नहीं आती और कथा की रोचकता ततोऽधिक बढ़ जाती है। कहना न होगा कि दृष्टान्त अपने-आपमें प्रायः रोचक और प्रसादक होते हैं। 'वसुदेवहिण्डी' के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि इन दृष्टान्तों का आयात-निर्यात एक परम्परा से दूसरी परम्परा में सहज रूप से हुआ है।

'वसुदेवहिण्डी' में कृष्णकथा, रामकथा तथा अन्यान्य पौराणिक कथाएँ प्रसंगवशात् आई हैं। संघदासगणी ने यथास्वीकृत पौराणिक कथाओं को श्रमण-परम्परा की दृष्टि से पुनर्मूल्यांकित किया है, या उनका पुनर्व्याख्यान उपस्थापित किया है। इनके अतिरिक्त जैन परम्परा की रूढ़ कथाएँ, जैसे सृष्टि-प्रक्रिया, वेदोत्पत्ति, गणिकोत्पत्ति, धनुर्वेदोत्पत्ति, हरिवंशोत्पत्ति, विष्णुगीतोत्पत्ति, कोटिशिलोत्पत्ति, अष्टापदतीर्थोत्पत्ति आदि भी इस कथाग्रन्थ में प्रसंगानुसार विन्यस्त हैं। इन कथाओं के समीक्षण और तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य उद्भाविता होता है कि ब्राह्मण और श्रमण-परम्परा की पौराणिक कथाएँ बहिरंग वर्णन की विचित्रता और विषमता के बावजूद अन्तरंग दृष्टि से समस्वर हैं।

भारतीय पारम्परिक विद्याएँ और कलाएँ 'वसुदेवहिण्डी' के रचयिताका उपजीव्य रही हैं। पात्रों एवं प्रसंगों के उपस्थापन की परिवेश-भूमि विभिन्न विद्याओं और कलाओं की चमत्कारिता से परिपूर्ण है। फलतः, इस महत्कथा में विद्याओं और कलाओं के सैद्धान्तिक विवरण के साथ ही उनके प्रयोगात्मक रूप भी बहुधा प्राप्त होते हैं। प्राचीन विद्याओं के प्रयोग-विस्तार के क्रम में ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, वास्तुशास्त्र, कामशास्त्र एवं रमणीय ललितकलाओं का विपुल वर्णन उपन्यस्त हुआ है।

'वसुदेवहिण्डी' में लोकजीवन या सामान्य सांस्कृतिक जीवन का बहुवर्णी झाँकियाँ मिलती हैं। उत्सव-त्योहार, सामाजिक संस्कार, वाणिज्य-व्यापार के निमित्त लम्बी साहसिक समुद्रयात्रा आदि के वर्णन कथासूत्र में पग-पग पर पिरोये हुए हैं। इनमें अधिकांश वर्णन रूढ़ या पारम्परिक हैं और 'वसुदेवहिण्डी' जैसी महत्कथा में, जिसमें वार्तापटु कथाकार बहुधा पाठकों को यथार्थ से दूर स्वप्न-जगत् में ले जाते हैं, अनेक स्थल अवश्य ही कल्पनाप्रसूत हैं। फिर भी, इतिहास और कल्पना का अद्भुत मिश्रण उपस्थित करनेवाली इस विलक्षण कथाकृति की कथाओं के आधार पर तत्कालीन श्रेष्ठतर सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के उत्कृष्टतम मनोरम रूप का अनुमान सहज ही होता है।

‘वसुदेवहिण्डी’ से तत्कालीन भौगोलिक, राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक परिस्थितियों का भी विशद वर्णन प्राप्त होता है। इस महनीय कथाग्रन्थ में अनेक नगरों, जनपदों, देशों, पर्वतों और नदियों के नामों का उल्लेख मिलता है, जिससे प्राचीन पथ-पद्धति और महाजनपदों के सातिशय समृद्ध एवं विविध-विचित्र रूपों का दिग्दर्शन होता है। प्रसंगानुसार, इस ग्रन्थ में, जैनदर्शन और आचार की विवेचना के क्रम में जैनैतर दर्शनों तथा विभिन्न धार्मिक-साम्प्रदायिक मतवादों का गम्भीर और रोचक विश्लेषण किया गया है। इससे तत्कालीन धार्मिक स्थिति को हृदयंगम करने का महत्वपूर्ण और प्रामाणिक आधार सुलभ हुआ है।

‘वसुदेवहिण्डी’ की प्राकृत-भाषा भाषिक अध्ययन की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। यह बहुधा आर्य प्राकृत या श्वेताम्बर-आगमों की अर्द्धमागधी के बहुत समीप है। ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा परवर्ती प्राकृत के वैयाकरणों का आदर्श रही होगी, इसलिए इस ग्रन्थ की भाषा की रूप-निष्पत्ति के विषय में प्रचलित प्राकृत-व्याकरणों से बहुत ही कम जानकारी मिलती है। इसके अतिरिक्त, श्वेताम्बर-आगमों के काल-निर्धारण तथा उनकी भाषा के परीक्षण के सन्दर्भ में भी ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा का प्रासंगिक मूल्य है। आगमिक भाषा से सातिशय निकटता रहने पर भी इस कथाकृति में कतिपय ऐसे भाषिक रूप मिलते हैं, जो आगमों, चूर्णियों और निर्युक्तियों में अनुपलब्ध हैं, किन्तु वे रूप पालि-भाषा में प्राप्त हैं।

इस प्रकार, ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा की जहाँ एक ओर आगमों की भाषा से सन्निकटता है, वहाँ दूसरी ओर पालि-भाषा से भी इसकी संगति है। अतएव, ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा से अर्द्धमागधी और पालि-भाषा के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने में सहायता मिलती है। इस कथाग्रन्थ में कुछ ऐसे भी प्रयोग उपलब्ध होते हैं, जो वैयाकरणों के अनुसार, अनुपलब्ध पैशाची भाषा के विशिष्ट लक्षणों से युक्त हैं। गुणाढ्य ने ‘बृहत्कथा’ की रचना पैशाची-भाषा में की थी। पैशाची-विषयक लक्षण-वैशिष्ट्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ‘बृहत्कथा’ पर आधृत इस महत्कथा की प्राकृत-भाषा में पैशाची की भी प्रवृत्ति सुरक्षित है।

‘वसुदेवहिण्डी’ में अप्रचलित और देशी शब्दों का तो विशाल भाण्डार है। इन शब्दों की ऊहापोहपूर्वक की गई व्युत्पत्ति और तज्जनित अर्थ से न केवल प्राकृत-भाषा की, अपितु संस्कृत-प्राकृत-परम्परा की सभी भाषाओं के कोश की पर्याप्त समृद्धि की सम्भावना संकेतित होती है।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में ‘वसुदेवहिण्डी’ की उपर्युक्त विशेषताओं को निम्नविवृत पाँच अध्ययनों में पल्लवित किया गया है :

अध्ययन : १ में, ‘वसुदेवहिण्डी’ के स्रोत और स्वरूप पर विचार करने में क्रम में इस महत्कथा को गुणाढ्य की ‘बृहत्कथा’ के ही विभिन्न नव्योद्भावनों में अन्यतम सिद्ध किया गया है। पुनः ‘वसुदेवहिण्डी’ के कथा-संक्षेप को उपन्यस्त करने के बाद इस कथाकृति की ग्रन्थ-पद्धति पर विशदता से प्रकाश डाला गया है।

अध्ययन : २ में, ‘वसुदेवहिण्डी’ की पौराणिक कथाओं का विवेचन उपस्थापित किया गया है। इस सन्दर्भ में इस महत्कथा में प्राप्य कृष्णकथा, रामकथा, रूढ (मिथक) कथाओं और प्रकीर्ण कथाओं की शास्त्रीय और सैद्धान्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है और निष्कर्ष निकाला गया है कि श्रमण-परम्परा में ब्राह्मण-परम्परा की पुराणकथाओं का पुनः संस्कार करके उन्हें नवीन मूल्य और जीवन-बोध के सातिशय रमणीय लौकिकतिलौकिक परिवेश में उपन्यस्त किया गया है।

अध्ययन : ३ में, 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित पारम्परिक विद्याओं का तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत करने के क्रम में यथोल्लिखित चामत्कारिक विद्याओं के प्रासंगिक परिचय का विशद उपस्थापन किया गया है, साथ ही इस महत्कथा में यथाप्रतिपादित ज्योतिष-विद्या, आयुर्वेद-विद्या, धनुर्वेद-विद्या, वास्तुविद्या और ललितकलाओं का, ब्राह्मण और श्रमण-परम्परा में निर्दिष्ट शास्त्रीय सैद्धान्तिक विवेचन के परिप्रेक्ष्य में, सांगोपांग, साथ ही तुलनात्मक अनुशीलन हुआ है।

अध्ययन : ४ में, 'वसुदेवहिण्डी' में प्रतिबिम्बित लोकजीवन का सविस्तर अनुशीलन, आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक आसंग में, उपन्यस्त किया गया है। इस क्रम में वसुदेवहिण्डीकार **आचार्य संघदासगणी** द्वारा चित्रित तत्कालीन सामान्य सांस्कृतिक जीवन का व्यापक विश्लेषण हुआ है, तो उस समय की अर्थ-व्यवस्था एवं राजनयिक प्रशासन-विधि का भी, जिसमें विधि और दण्ड-व्यवस्था भी सम्मिलित है, प्रसंगोद्धारण-सहित विस्तृत मूल्यांकन उपस्थापित किया गया है। पुनः, तदयुगीन भौगोलिक स्थिति एवं ऐतिहासिक परिवेश का पुंखानुपुंख अध्ययन प्रसंगोल्लेखपूर्वक हुआ है, तो तत्कालीन दार्शनिक मतवादों एवं साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों को भी अन्तःसाक्ष्यमूलक प्रसंगों के आधार पर व्याकृत किया गया है।

अध्ययन : ५ में, 'वसुदेवहिण्डी' का भाषिक और साहित्यिक मूल्यांकन उपस्थापित किया गया है। भाषाशास्त्रीय परीक्षण के क्रम में, भाषा की संरचना-शैली का मूल प्रयोगों के उपस्थापन-सहित अध्ययन करके यह सिद्ध किया गया है कि इस कथाकृति की भाषा अर्द्धमागधी की समीपवर्ती आर्ष प्राकृत या प्राचीन जैन महाराष्ट्री है। पुनः, साहित्यिक तत्त्वों की मीमांसा सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से उपन्यस्त हुई है, साथ ही आचार्य कथाकार द्वारा प्रतिपादित कथातत्त्वों के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रस्तुत महत्कथाकृति भारतीय औपन्यासिक कथा-साहित्य के पार्यन्तिक और पार्यन्त आदिग्रन्थों में अपनी उल्लेखनीय विशेषता रखती है।

उपसंहार के बाद, **परिशिष्ट १** में 'वसुदेवहिण्डी' में प्राप्य अन्यत्र दुर्लभ प्राकृत-शब्द-प्रयोगों का शब्दशास्त्रीय विश्लेषण तथा उनकी तुलनात्मक भाषिक मीमांसा उपन्यस्त की गई है। **परिशिष्ट २** में 'वसुदेवहिण्डी' के कथानायक वसुदेव की अट्ठाईस पत्नियों का विवरण दिया गया है और फिर **परिशिष्ट ३** में 'धम्मिल्लहिण्डी' के अन्तर्गत वर्णित धम्मिल्ल की बत्तीस पत्नियों की विवरणी प्रस्तुत की गई है। पुनः **परिशिष्ट ४** में वसुदेवहिण्डी के विशिष्ट चार्चिक स्थलों की सूची दी गई है। ज्ञातव्य है कि इन स्थलों के, पौराणिक अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन की अपनी निजता और महत्ता है।

अन्त में, मैं विनम्र निवेदन करना चाहूँगा, 'वसुदेवहिण्डी' जैसी अद्भुत कथाकृति का यथाप्रस्तुत यह शोध-अध्ययन पार्यन्तिक नहीं है। इस महत्कथा का विषय जितना ही विस्तृत है, उतना ही अगाध और अतलस्पर्श। इस कथाग्रन्थ पर इस प्रकार के अनेक शोधग्रन्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मेरा प्रयास आंशिक ही है, पूर्ण नहीं। इसमें अनेक आसंग ऐसे हैं, जिनकी ओर मैंने संकेतमात्र ही किया है और जिनके लिए प्राच्य साहित्य के गवेषकों का सारस्वत श्रम प्रतीक्षित है। विशेष कर, इस कृति का भाषिक अध्ययन तो स्वतन्त्र शोधग्रन्थ का विषय है। साथ ही, सांस्कृतिक परम्परा का व्यापक प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करनेवाले इस कथाग्रन्थ का साहित्यशास्त्रीय अनुशीलन के लिए तो एक नहीं, अपितु अनेक शोधग्रन्थों के प्रणयन की अपेक्षा होगी।

विषय-विवेचन एवं प्रसंगाकलन के क्रम में कोष्ठक में दृष्टिगत होनेवाली संख्याएँ यथाप्राप्त 'वसुदेवहिण्डी' के भावनगर (गुजरात)-संस्करण की पृष्ठ, पंक्ति और लम्ब के संकेत के लिए अंकित

हैं। पादटिप्पणी में समाविष्ट सन्दर्भ प्रायः सम्बद्ध मूलग्रन्थों से ही उद्धृत हैं। मूलग्रन्थों की दुर्लभता की स्थिति में कहीं-कहीं सम्बद्ध सन्दर्भों को अनूद्धृत भी किया गया है। अमूल और अनपेक्षित से प्रायः बचने का मेरा सहज प्रयास रहा है। फिर भी, त्रुटियाँ और स्खलन मानव की सहज दुर्बलता है, इसलिए मैं इस सूक्ति के प्रति आस्थानवान् हूँ :

धावतां स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।

हसन्ति दुर्जनास्तत्रोत्तोलयन्ति हि पण्डिताः ॥

इस सारस्वत महायज्ञ की पूर्णाहुति अपार भगवत्कृपा से ही सम्भव हुई है। व्यावहारिक दृष्टि से, इस बहुविध श्रेयःकार्य की पूर्णता का श्रेय मेरे सहृदयहृदय सुधी शोध-पुरोधा तथा सौस्नातिक मित्र डॉ. रामप्रकाश पोद्दार (तत्कालीन निदेशक, प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली) को है, जिन्होंने वैदुष्यपूर्ण परामर्श के साथ ही सामयिक प्रोत्साहन तथा प्रेरणा से मुझे स्वीकृत ग्रन्थलेखन-कार्य के प्रति सतत गतिशील बनाये रखा। मैं उनकी सारस्वत अधमर्णता सहज ही स्वीकार करता हूँ। कर्नाटक कॉलेज, धारवाड़ के प्राकृत-विभाग के रीडर विद्वद्रेण्य डॉ. बी. के. खड्गडी का मैं अन्तःकृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कतिपय तात्त्विक विषयों के विनिवेश का निर्देश देकर ग्रन्थ की प्रामाणिकता को ततोऽधिक परिपुष्ट किया है।

ग्रन्थ-लेखन की अवधि में सन्दर्भ-सामग्री की सुलभता के लिए प्राकृत शोध-संस्थान (वैशाली), बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् तथा रिसर्च सोसाइटी लाइब्रेरी (पटना) के अनुसन्धान-पुस्तकालयों तथा उनके प्रभारी पदाधिकारियों के सौजन्य-सहयोग के प्रति मैं सदा आभारी रहूँगा।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ-लेखन की सम्पन्नता के निमित्त मुझे जिन सन्दर्भ-ग्रन्थों से साहाय्य और वैचारिक सम्बल उपलब्ध हुआ, उनके महाप्रज्ञ लेखकों के प्रति अन्तःकरण से आभारी होने में मुझे सहज गर्व का अनुभव होता है।

इस अवसर पर, मैं पुण्यश्लोक पं. मथुराप्रसाद दीक्षित (गुरुजी) तथा पुण्यश्लोक डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री जैसे शुभानुध्यायी भनीषियों का सश्रद्ध स्मरण करता हूँ। ज्ञातव्य है कि गुरुजी ने ही मुझे सर्वप्रथम प्राकृत के अध्ययन की प्रेरणा दी और डॉ. शास्त्री ने उस प्रेरणा की साकारता के लिए आचार्यमित्रोचित सक्रिय सारस्वत सहयोग और सहज स्नेहित आत्मीयता के साथ मुझे उत्तेजित किया। अतिशय उदार एवं आत्मीयत्ववर्षी ऋजुप्राज्ञ साहित्यिक अभिभावक पुण्यश्लोक आचार्य शिवपूजन सहाय तथा आचार्य नलिनबिलोचन शर्मा अपने मन में निरन्तर मेरे साहित्यिक उत्कर्ष की कामना सँजोये रहते थे। प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ उन दिव्यात्माओं के अमृतमय सारस्वत आशीर्वचन की अज्ञात-अप्रत्यक्ष शुभभावना का ही आक्षरिक पुण्यफल है, इसमें सन्देह नहीं।

मेरे इस श्रमसाध्य शोध-रचनात्मक अनुष्ठान में प्रारम्भ से अन्ततक मेरी गृहस्वामिनी श्रीमती लता रंजन 'सब' की प्रतिमूर्ति होकर, एक विचक्षण 'विधिकरी' की भाँति सुविधा की समिधा जुटाती रहीं और स्थल-स्थल पर यथालिखित कथा-कान्त सामग्री को पढ़कर या हमारे द्वारा सुनकर उसमें निहित लोक-सामान्यता के भावों की अनुकूलता को उन्होंने न केवल अनुशंसित किया, अपितु अपेक्षित शब्दों के उचित संस्थापन का सुझाव भी दिया। निश्चय ही, यह शोध-ग्रन्थ उनकी ही गार्हपत्य तपस्या का सर्जनात्मक फल है। विशेष उल्लेख्य यह है कि मेरे परिवार के सभी प्रकार के सदस्य बाल-बच्चे,

बड़े-बूढ़े और विपुल मित्रवर्ग 'वसुदेवहिण्डी' की रोचक कथाओं को सुनकर अपने आन्तरिक आह्लाद से मुझे निरन्तर समुत्साहित करते रहे। मैं एक-एक करके सबके प्रति कृतज्ञ हूँ।

मैं अपने विद्यानुरागी जनान्तरसुहृद् डॉ. युगलकिशोर मिश्र (निदेशक : प्राकृत-जैनशास्त्र और अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली) की स्वतःस्फूर्त उपकार-भावना और विद्वज्जनोचित सहज अनुग्राहिता का ऋणी हूँ; क्योंकि यह शोधग्रन्थ उन्हीं की गुणज्ञता, कर्मण्यता और व्यवहारज्ञता का आशंसनीय परिणाम है। इसे प्रकाशित देखकर उन्हें उतना आह्लाद होगा, जितना मुझे भी नहीं हो सकता।

आशा है, इस शोध-ग्रन्थ से कथा-साहित्य के अध्येताओं और कलाभूयिष्ठ संस्कृति के जिज्ञासुओं को निराशा नहीं होगी। कारण, इसका लेखन केवल 'लीलया विततं' नहीं है। 'वसुदेवहिण्डी' एक ऐसा अनल्पगुण ज्योतिर्मय कथाग्रन्थ है, जिसपर लिखनेवाला स्वयं गुणदीप्ति से समुद्भासित हो उठेगा।

मूलतः, बिहार विश्वविद्यालय (मुजफ्फरपुर) की पी-एच्. डी. उपाधि के लिए शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत यह शोध-ग्रन्थ विनम्रतापूर्वक, प्राच्यविद्या के जिज्ञासु विद्वज्जनों के स्वाध्याय के लिए साग्रह निवेदित है।

पी. एन्. सिन्हा कॉलोनी

□ श्रीरंजन सूरिदेव

भिखनापहाड़ी, पटना-८०० ००६

सन् १९९३ ई.

विषय-क्रम

प्रारम्भिकी

प्राकृत-कथासाहित्य में 'वसुदेवहिण्डी' का स्थान : १-१२

अध्ययन : १

'वसुदेवहिण्डी' का स्रोत और स्वरूप : १३-७९

(क) 'वसुदेवहिण्डी' तथा 'बृहत्कथा' के विभिन्न नव्योद्भावन : २०

'वसुदेवहिण्डी' का महत्त्व : २७; 'वसुदेवहिण्डी' और 'बृहत्कथाश्लोक-संग्रह' में विलक्षण कथासाम्य : ३१; 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' और 'वसुदेवहिण्डी' की पूर्वापरवर्तिता के कतिपय विचारणीय पक्ष : ३४; 'वसुदेवहिण्डी' के अतिरिक्त परवर्ती कथा-साहित्य पर गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का प्रभाव : ३७

(ख) 'वसुदेवहिण्डी' का कथा-संक्षेप : ३८

लोकोत्तरचरित वसुदेव का विलक्षण व्यक्तित्व : ३८; कथा-संक्षेप : ४०

(ग) कथा की ग्रथन-पद्धति : ६७

प्रथम 'कथोत्पत्ति' अधिकार की कथावस्तु : ७२; 'धम्मिल्लचरित' की कथावस्तु : ७३; 'पीठिका' अधिकार की कथावस्तु : ७४; 'मुख' अधिकार की कथावस्तु : ७४; 'प्रतिमुख' अधिकार की कथावस्तु : ७५; 'शरीर' अधिकार की कथावस्तु : ७५; निष्कर्ष : ७६

अध्ययन : २

'वसुदेवहिण्डी' की पौराणिक कथाएँ : ८०-१५४

कथा के विभिन्न पर्याय : ८०

(क) कृष्णकथा : ८३

(ख) रामकथा : १०२

निष्कर्ष : ११२

(ग) रूढ या मिथक कथाएँ : ११३

रूढकथा और कथारूढियाँ : ११५-१३१; मिथक कथा : १३१

(घ) प्रकीर्ण कथाएँ : १४५

प्रकीर्ण कथाओं में पौराणिक कथाओं का महत्त्व : १५१; निष्कर्ष : १५२

अध्ययन : ३

‘वसुदेवहिण्डी’ की पारम्परिक विद्याएँ : १५५—२९१

(क) ज्योतिष-विद्या : १७१

स्वप्नफल : १७३; ज्योतिषियों, मुनियों और तीर्थंकरों की भविष्यवाणियाँ : १७४; शुभ तिथि, नक्षत्र, वार, योग, करण और मुहूर्त : १७९; शकुन-कौतुक : १८५; अंगलक्षण या अंगविद्या : १८६; पुरुष-लक्षण और आयु-विचार : १८९

(ख) आयुर्वेद-विद्या : १९२

भोजन-प्रकरण : १९६; गर्भप्रकरण : २००; शल्यचिकित्सा-प्रकरण : २०५; विभिन्न रोग और उनकी चिकित्सा : २११; विष-प्रकरण : २१५; रस-प्रकरण : २१७

(ग) धनुर्वेद-विद्या : २२१

निष्कर्ष : २४१

(घ) वास्तुविद्या : २४२

निष्कर्ष : २५४

(ङ) ललित कलाएँ : २५५

नृत्य, नाट्य और संगीत : २६५; गणिका : ललित-कला की आचार्या : १७०; नृत्य-नाट्य : २८०; संगीत : १८४; द्युतकला : २८८; निष्कर्ष : २९०

अध्ययन : ४

‘वसुदेवहिण्डी’ में प्रतिबिम्बित लोकजीवन : २९२—४९५

(क) सामान्य सामाजिक जीवन : २९५

(ख) सामान्य सांस्कृतिक जीवन : ३१८

संस्कृति के विभिन्न सन्दर्भ : ३१९ वेदाध्ययन और यज्ञ : ३२२; विवाह-संस्कार : ३३०; शवदाह और श्राद्ध : ३४०; अन्यान्य धार्मिक कृत्य : ३४३; जैन संस्कार : ३४६; धर्म-सम्प्रदाय : ३४८; वस्त्र और अलंकरण : ३५२; अंग-प्रसाधन और सज्जा : ३६०; वाद्ययन्त्र : ३६२; पशु-पक्षी-सर्प : ३६६; वन और वनस्पति : ३७७; भोजन-सामग्री : ३८६; नरक और स्वर्ग : ३८८; देव और देवियाँ : ३९८; विद्याधर और अप्सरा : ४०६; अन्य देवयोनियाँ : ४१०; वैज्ञानिक चेतना : ४१५; निष्कर्ष : ४१८

(ग) प्रशासन एवं अर्थ-व्यवस्था : ४१९

मन्त्रिपरिषद् : ४२१; राज्य-प्रशासनविधि : ४२५; राजकुल : ४२८; विधि-
व्यवस्था : अपराध और दण्ड : ४३३; अर्थ-व्यवस्था : ४४६; निष्कर्ष : ४५५

(घ) भौगोलिक एवं राजनीतिक आसंग तथा ऐतिहासिक साक्ष्य : ४५६

द्वीप : ४५७; पर्वत : ४६१; नदियाँ, समुद्र और ह्रद : ४६६; जनपद, नगर,
ग्राम, सन्निवेश आदि : ४७१

(ङ) दार्शनिक मतवाद : ४८२

अध्ययन : ५

'वसुदेवहिण्डी' में भाषिक और साहित्यिक तत्त्व : ४९६—५६४

(क) भाषिक तत्त्व : ४९८

भाषिक प्रयोग-वैविध्य : ५१४; संस्कृत-व्याकरण का प्रभाव : ५१७

(ख) साहित्यिक तत्त्व : ५२१

कथा के विविध रूप : ५२१; साहित्यिक सौन्दर्य के विविध पक्ष : ५३५;
सौन्दर्य : ५३६; निष्कर्ष : ५४२; कल्पना : ५४२; बिम्ब : ५४६; निष्कर्ष :
५५३; प्रतीक : ५५३

(ग) भाषा की संरचना-शैली एवं अन्य साहित्यिक तत्त्व : ५५७

सूक्ति-चमत्कार : ५६२; निष्कर्ष : ५६४

उपसमाहार : ५६५

परिशिष्ट : १

कतिपय विशिष्ट विवेचनीय शब्द : ५७२

परिशिष्ट : २

वसुदेव की अट्ठाईस पत्नियों की विवरणी : ५९८

परिशिष्ट : ३

धम्मिल्ल की बत्तीस पत्नियों की विवरणी : ६००

परिशिष्ट : ४

'वसुदेवहिण्डी' के विशिष्ट चार्चिक स्थल : ६०१

सन्दर्भ-ग्रन्थानुक्रमणी : ६०२

शब्दानुक्रमणी : ६१०

प्रारम्भिकी

प्राकृत-कथासाहित्य में 'वसुदेवहिण्डी' का स्थान

प्राचीन संस्कृत-कथाओं की आधारशिला बहुलांशतः दिव्यभूमि पर प्रतिष्ठापित की गई है। किन्तु, ठीक इसकी प्रतिभावना-स्वरूप प्राकृत-कथाओं की रचना-प्रक्रिया में दिव्यादिव्य शक्तियों की समन्वित को प्रमुखता दी गई है। कारण, संस्कृत के कथाकार वेदों और उपनिषदों में प्रतिपादित ईश्वरीय शक्ति की सर्वोपरिता की अवधारणा से आक्रान्त थे; परन्तु इसके विपरीत प्राकृत-कथाकारों ने मानव-शक्ति की सर्वोपरिता को लक्ष्य किया था। इसीलिए, मानवत्व के विनियोग अथवा ईश्वर के कर्तृत्व की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व में विपुल विश्वास के प्रति प्राकृत-कथाकारों का आग्रह अधिक सजग रहा। संस्कृत-कथाकार जहाँ केवल अतिलौकिक भावभूमि के पक्षधर बने, वहीं प्राकृत-कथाकारों ने लौकिक भावधारा को अतिलौकिक पृष्ठभूमि से जोड़कर अपने मानवतावादी दृष्टिकोण का संकेत दिया।

प्राकृत और संस्कृत के कथाकारों की सैद्धान्तिक मान्यताओं के उपर्युक्त वैचारिक स्वातन्त्र्य के मूल में न केवल साम्प्रदायिक, अपितु अपने-अपने युग का, अर्थात् समसामयिक भाषिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक परिवेश का प्रभाव भी सक्रिय रहा है, फलतः उन्होंने अपनी-अपनी सांस्कृतिक चेतना और बौद्धिक चिन्तन या मानसिक अवधारणा के अनुकूल भाव-जगत् में संचरण करते हुए यथास्वीकृत पद्धति से कथा-साहित्य को नूतन अभिविवेश दिया, नई-नई दिशाएँ दीं और उसके नये-नये आयाम निर्धारित किये। किन्तु, सामान्य जनजीवन से सम्बद्ध प्राकृत-कथाकारों ने ततोऽधिक विकासवादी दृष्टि का परिचय दिया, अर्थात् उन्होंने मानव-नियति को दैवी नियति से सम्बद्ध न मानकर, लोकभावना को कर्मवाद पर आधृत सामाजिक गतिशीलता की ओर प्रेरित किया; अदिव्य को दिव्य से मिलाकर उसे दिव्यादिव्यत्व प्रदान किया। चिराचरित सार्वभौमतावादी युगधर्म को विकसित कर उसमें लोकजीवन की लोकोत्तरवादी चेतना की व्यापक विनियुक्ति प्राकृत-कथाओं की मौलिक विशेषता है, जो अपने साथ, भाषिक और साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से, सारस्वत क्षेत्र के लिए अपूर्व उपलब्धि की गरिमा का संवहन करती हैं।

वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा के संस्कृत-कथा-साहित्य की विविधता और विपुलता ने जिस प्रकार अपने युग का निर्माण किया है, उसी प्रकार श्रमण-परम्परा में प्राकृत-कथावाङ्मय की विशालता से एक युग की स्थापना हुई है। श्रमण-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा—दोनों समान्तर गति से प्रवाहित होती आ रही हैं। दोनों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं है। यह बात दूसरी है कि कोई परम्परा काल-धर्म के कारण क्षीणप्रभ और तेजोदीप्त होती रहे। कोई भी परम्परा अपने सारस्वत वैभव से ही दीर्घायु होती है। ब्राह्मण-परम्परा अपने साहित्यिक उत्कर्ष, दार्शनिक दीप्ति और भाषिक ऋद्धि से शाश्वत बनी हुई है, उसी प्रकार श्रमण-परम्परा की जैन और बौद्ध—ये दोनों शाखाएँ भी अपनी महामहिम साहित्यिक-दार्शनिक-भाषिक विभूति से ही युग-युग का जीवनकल्प हो गई हैं।

कोई भी परम्परा या सम्प्रदाय यदि सामाजिक गति को केवल तथाकथित धार्मिक नियति से संयोजित करने की चेष्टा करता है, तो वह पल्लवित होने की अपेक्षा संकीर्ण और स्थायी होने की अपेक्षा अस्थायी हो जाता है। श्रमण-परम्परा की स्थायिता का मूलकारण धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी वैचारिक उदारता है। श्रमण-परम्परा की प्राकृत-कथाओं में उदार-दृष्टिवादी साहित्य, धर्म और दर्शन की समन्वित त्रिवेणी प्रवाहित हुई है, अतएव इसी परिप्रेक्ष्य में प्राकृत-कथाओं का मूल्यांकन न्यायोचित होगा। आगम-परवर्ती प्राकृत-कथासाहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यही नहीं है कि प्राकृत-कथाकारों ने लोक-प्रचलित कथाओं को धार्मिक परिवेश प्रदान किया है या श्रेष्ठ कथाओं की सर्जना केवल धर्म-प्रचार के निमित्त की है। प्राकृत-कथाओं का प्रधान उद्देश्य केवल सिद्धान्त-विशेष की स्थापना करना भी नहीं है। वरंच, सिद्धान्त-विशेष की स्थापना और धार्मिक परिवेश के प्रस्तवन के साथ ही अपने समय के सम्पूर्ण राष्ट्रधर्म या युगधर्म का प्रतिबिम्बन भी प्राकृत-कथा का प्रमुख प्रतिपाद्य है, जिसमें भावों की रसपेशलता, सौन्दर्य-चेतना और निर्दुष्ट मनोरंजन के तथ्य भी स्वभावतः समाकलित हो गये हैं। कहना यह चाहिए कि प्राकृत-कथाकारों ने अपनी कथाओं में धर्म-साधना या दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना को साम्प्रदायिक आवेश से आवृत करने के आग्रही होते हुए भी संरचना-शिल्प, भाव-सौन्दर्य, पदशय्या, भणिति-भंगी, बिम्बविधान, प्रतीक-रमणीयता आदि की दृष्टि से अपने कथाकार के व्यक्तित्व को खण्डित नहीं होने दिया। हालाँकि इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि किसी कथाकार या रचनाकार के लिए जिस अन्तर्निगूढ निर्वैयक्तिकता या अनाग्रहशीलता या धर्मनिरपेक्षता की अपेक्षा होती है, उससे प्राकृत-कथाकार अपने को प्रतिबद्ध नहीं रख सके। वे अनेकान्त, अपरिग्रह एवं अहिंसा का अखण्ड वैचारिक समर्थन भी करते रहे और अपने धर्म की श्रेष्ठता का डिण्डिमघोष भी।

ऐसा इसलिए सम्भव हुआ कि वैदिक धर्म के यज्ञीय आडम्बरोँ और अनाचारों से विमुक्ति के लिए भगवान् महावीर ने लोकजीवन को अहिंसा और अपरिग्रह से सम्पुटित जिस अनेकान्तवादी अभिनव धर्म का सन्देश दिया था, वह राजधर्म के रूप में स्वीकृत था, इसलिए उसके प्रचार-प्रसार का कार्य राज्याश्रित बुद्धिवादियों या दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सम्यक्त्व द्वारा मोक्ष के आकांक्षी श्रुतज्ञ तथा श्रमण कथाकारों का नैतिक एवं धार्मिक इतिकर्तव्य था। इसके अतिरिक्त, कथा-कहानी प्रचार-प्रसार का अधिक प्रभावकारी माध्यम सिद्ध होती है, इसलिए कथा के व्याज से धर्म और नीति की बातें बड़ी सरलता से जनसामान्य को हृदयंगम कराई जा सकती हैं। यही कारण है कि जैनागमोक्त धर्म के आचारिक और वैचारिक पक्ष की विवेचना और उसके व्यापक प्रचार के निमित्त प्राकृत-कथाएँ अनुकूल माध्यम मानी गई हों। अतएव, तत्कालीन लोकतन्त्रीय राजधर्म के प्रति किसी भी लोकचिन्तक कलाकार की पूज्य भावना सहज सम्भाव्य है, जो उसके राष्ट्रीय दायित्व के पालन के प्रति सजगता का संकेतक भी है। स्पष्ट है कि प्राकृत-कथाकारों की रचना-प्रतिभा धर्म, दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में सममति थी। धार्मिक चेतना, दार्शनिक प्रमा तथा साहित्यिक विदग्धता के शास्त्रीय समन्वय की प्रतिमूर्ति प्राकृत के कथाकारों की कथाभूमि एक साथ धर्मोद्घोष से मुखर, दार्शनिक उन्मेष से प्रखर तथा साहित्यिक सुषमा से मधुर है। इसीलिए, प्राकृत-कथाओं के मूल्य-निर्धारण के निमित्त अभिनव दृष्टि और स्वतन्त्र मानसिकता की अपेक्षा है।

प्राकृत-कथा न केवल धर्मकथा है, न ही कामकथा और न अर्थकथा। इसके अतिरिक्त, प्राकृत-कथा को केवल मोक्षकथा भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः, प्राकृत-कथा मिश्रकथा है, जिसमें पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की सिद्धि का उपाय निर्देशित हुआ है। अनुभूतियों की सांगोपांग अभिव्यक्ति मिश्रकथा में ही सम्भव है। जीवन की समस्त सम्भावनाओं के विन्यास की दृष्टि से प्राकृत-कथा की द्वितीयता नहीं है।

सामान्यतया, प्राकृत-कथाओं की संरचना-शैली का पालि-कथाओं से बहुशः साम्य परिलक्षित होता है। फिर भी, दोनों में उल्लेखनीय अन्तर यह है कि पालि-कथाओं में पात्रों के पूर्वभूत कथा के मुख्य भाग के रूप में उपन्यस्त हैं, परन्तु प्राकृत-कथाओं में पात्रों के पूर्वभूत उपसंहार के रूप में विन्यस्त हुए हैं। पालि-कथाओं या जातक-कथाओं में बोधिसत्त्व मुख्य केन्द्रबिन्दु हैं, और उनके कार्यकलाप की परिणति प्रायः उपदेश-कथा के रूप में होती है। इस क्रम में किसी एक गाथा को सूत्ररूप में उपस्थापित करके गद्यांश में उसे पल्लवित कर दिया गया है, जिससे कथा की पुष्टि में समरसता या एकरसता का अनुभव होता है। किन्तु, प्राकृत-कथाओं में जातक-कथाओं जैसी एकरसता नहीं, अपितु घटनाक्रम की विविधता और उसके प्रवाह का समन्वयात्मक आयोजन हुआ है। गहराई और विस्तार प्राकृत-कथाओं की शैली की अपनी विशिष्टता है। प्राकृत-कथा की महत्ता इस बात में निहित है कि इसके रचयिताओं ने हृद्य और लोकप्रिय किस्सा-कहानी एवं साहित्यिक तथा कलापूर्ण गल्प के बीच की मिथ्याप्रतीतिके व्यवधान को निरस्त कर दिया है। प्राकृत-कथाकारों ने उच्च और निम्नवर्ग के वैषम्य को भी अपनी कृतियों से दूर कर दिया है। फलतः, इनकी रचनाओं में दोनों वर्गों की विशेषताओं का सफल समन्वय हुआ है। दूसरी ओर, जो लोग कथाओं में साहित्यिक अभिनिवेश और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं की अपेक्षा रखते हैं, उन्हें भी प्राकृत-कथाओं से कोई निराशा नहीं हो सकती। यह एक बहुत बड़ी बात है, जो बहुत कम कथा-साहित्य के बारे में कही जा सकती है।

व्यापक और गम्भीर सूक्ष्मेक्षिका से सम्पन्न भारतीयतर विद्वानों ने भी अपने संरचना-शिल्प में सम्पूर्ण भारतीय परम्परा को समाहित करनेवाली प्राकृत-कथा-वाङ्मय की विशालता पर विपुल आश्चर्य व्यक्त किया है। भारतीय साहित्य के पारगामी अधीती तथा 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' के प्रथितयशा लेखक विण्टरनिट्स केवल इसी बात से चकित नहीं हैं कि प्राकृत-कथा-साहित्य में जनसाधारण के वास्तविक जीवन की झाँकियाँ मिलती हैं, वह तो इसलिए प्रशंसामुखर हैं कि प्राकृत-कथाओं की भाषा में एक ओर यदि जनभाषा की शरीरात्मा प्रतिनिहित है, तो दूसरी ओर वर्ण्य विषय में विभिन्न वर्गों के वास्तविक जीवन का हृदयावर्जक चित्र समग्रता के साथ, मांसल रेखाओं में अंकित है। इसके अतिरिक्त, प्राकृत-कथाकारों की विश्वजनीन अनुभूति का प्रमाण यह भी है कि उनके द्वारा प्रस्तुत अभिव्यक्ति की विलक्षणता, कल्पना की प्रवणता, भावनाओं और आवेगों का विश्लेषण तथा मानव-नियति का भ्राजमान चित्रण—ये तमाम तत्त्व विश्व के कथा-साहित्य की विशेषताओं का मूल्य-मान रखते हैं। सबसे अधिक उल्लेख्य तथ्य यह है कि प्राकृत-कथासाहित्य में सुरक्षित संस्थान और शिल्प विभिन्न परवर्ती भारतीय कथा-साहित्य के आधारदर्श बने। ज्ञातव्य है कि प्राकृत-कथा के शिल्प-विधान में न केवल बाह्य वैलक्षण्य है, अपितु उसमें प्रतिष्ठित आन्तरिक शिल्प की सौन्दर्य-चेतना में पाठकों से आत्मीयत्व स्थापित करने की अपूर्व क्षमता भी है।

प्राकृत-कथाओं की असाधारणता ने 'ऑन द लिटरेचर ऑव द श्वेताम्बराज ऑव गुजरात' के मनीषी लेखक प्रो. हर्टेल का भी ध्यान आवर्जित किया है। वह प्राकृत-कथाकारों के कथाकौशल की कलात्मक विशिष्टता और औपन्यासिक स्थापत्य पर विस्मय-विमुग्ध हैं। लोकजीवन की विविधता की पूर्ण सत्यता के साथ अभिव्यक्ति में प्राकृत-कथाकारों की सातिशय विचक्षणता ने उन्हें बरबस आकृष्ट किया है। इसलिए, वह प्राकृत-कथाओं को जनसाधारण की नैतिक शिक्षा का मूलस्रोत ही नहीं, अपितु भारतीय सभ्यता का ललित इतिहास भी मानते हैं।

यह तथ्य है कि संस्कृति और सभ्यता का यथार्थ और उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राकृत-कथासाहित्य की उपयोगिता असन्दिग्ध है। उच्च, मध्य और निम्न वर्गों के चारित्रिक विकास और उसके सहज विस्तार को जितनी प्रभावोत्पादक सूक्ष्मता से प्राकृत-कथाकारों ने रूपायित किया है, उतनी तलस्पर्शिता का प्रदर्शन अन्य भाषाओं के कथाकार कदाचित् ही कर पाये हैं। मान्त्रिक वाग्मिता के साथ अपनी स्थापना या प्रतिज्ञा (थीसिस) को, मौलिकता और नवीनता की प्रभावान्विति से आवेष्टित कर, उपस्थापित करना प्राकृत-कथाकारों की रचना-प्रक्रिया की अन्यत्र दुर्लभ सारस्वत उपलब्धि है।

जीवन की जटिलता और दुस्तर भवयात्रा की विभीषिका में मानव के मनोबल को सतत दृढतर और उसकी आध्यात्मिक चेतना को निरन्तर उन्निर एवं पदक्रम को अविरत गतिशील बनाये रखने के लिए कालद्रष्टा तपोधन ऋषियों तथा दर्शन-ज्ञान-चारित्रसम्पन्न आचार्यों ने मित्रसम्मित या कान्तासम्मित उपदेशों को कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया, ताकि भवयात्रियों का जीवन-मार्ग दुःख की दारुण अनुभूति से बोझिल न होकर सुगम हो जाय और उन्हें अपनी आत्मा में निहित लोकोत्तर शक्ति को ऊर्ध्वमुख करने की प्रेरणा भी मिलती रहे। इस प्रकार, जीवन और जगत्, दिक् और काल की सार्थकता ही कथा का मूल उद्देश्य है। चाहे पूरी भवयात्रा हो, या सामान्य दैनन्दिन-जीवन की खण्डयात्रा, दोनों की सुखसाध्यता और ततोऽधिक मंगलमयता या सफलता के लिए कथा अनिवार्य है। 'श्रीमद्भागवत' (१०.३१.९) के अनुसार, तप्त जीवन के लिए कथा एक ऐसा अमृत है, जो न केवल श्रवण-सुखद है, अपितु कल्मषापह भी है। सच पूछिए, तो मानव का जीवन ही एक कथा है। कथा अपने जीवन की हो, या किसी दूसरे के जीवन की, मानव-मन की समान भावानुभूति की दृष्टि से प्रत्येक कथा तदात्मता या समभावदशा से आविष्ट कर लेती है और फिर, उससे जो जीवन की सही दिशा का निर्देश मिलता है, वह सहज ग्राह्य भी होता है। इसीलिए, भगवान् के द्वारा कही गई वेद या पुराण की संस्कृत-कथाएँ या जैनागम की प्राकृत-कथाएँ या फिर बौद्ध त्रिपिटक की पालि-कथाएँ अतिशय लोकप्रिय हैं। इस प्रकार, प्रत्येक परम्परा का आगम-साहित्य ही कथा की आदिभूमि है।

भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट जैनागमों का संकलन अर्द्धमागधी प्राकृत में हुआ है। अतएव, प्राकृत-कथाओं की बीजभूमि या उद्गम-भूमि आगम-ग्रन्थ ही हैं। निर्वृक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि आगमिक टीका-ग्रन्थों में भी लघु और बृहत् सहस्रों कथाएँ हैं। आगमिक साहित्य में धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तन, नीति और कर्तव्य का निर्धारण आदि जीवनाभ्युदयमूलक विषयों का प्रतिपादन कथाओं के माध्यम से किया गया है। इतना ही नहीं, सैद्धान्तिक तथ्यों का निरूपण, नात्विक निर्णय, दार्शनिक गूढ़ समस्याओं के समाधान तथा अनेक ग्रन्थिल-गम्भीर विषयों के

स्पष्टीकरण के लिए कथाओं को माध्यम बनाया गया है। तीर्थंकरों, गणधरों और अन्यान्य आचार्यों ने कथा की शक्ति को पहचाना था, इसलिए उन्होंने अपने विचारों के प्रचार के लिए कथा को सर्वाधिक महत्त्व दिया।

प्राकृत-निबद्ध अंग और उपांग-साहित्य में प्राप्त, आर्हत सिद्धान्तों को अभिव्यक्ति देनेवाले आख्यान प्रेरक और प्रांजल तो हैं ही, अन्तर्निगूढ संवेदनशील भावनाओं के समुद्भावक और सम्पोषक भी हैं। आगमकालीन इन आख्यानों का उद्देश्य है—मिथ्यात्व से उपहत अधोगमिनी मानवता को नैतिक और आध्यात्मिक उदात्तता की ऊर्ध्वभूमि पर प्रतिष्ठापित करना। आगमकाल प्राकृत-कथासाहित्य का आदिकाल या संक्रमण-काल था। इस अवधि में नीति और सिद्धान्तपरक प्राकृत-कथाएँ क्रमशः साहित्यिक कथाओं के रूप में संक्रमित हो रही थीं, अर्थात् उनमें सपाटबयानी के अतिरिक्त साहित्य-बोध की अन्तरंग सज्जगता और रसात्मक अभिव्यक्ति की आकुलता का संक्रमण हो रहा था। अर्हंतों की उपदेश-वाणी की तीक्ष्णता और रूक्षता को या उसकी कड़वाहट को प्रपानक रस के रूप में परिणत कर अभिव्यक्त करने की चिन्ता प्रथमानुयोग के युग में रूपायित हुई और साहित्य की सरसता से सिक्त होने का अवसर मिल जाने से गुरुसम्पित वाणी जैसी प्राकृत-कथाएँ कान्तासम्मित वाणी में परिवर्तित होकर ततोऽधिक व्यापक और प्रभावक बन गईं और इस प्रकार, संकलन की प्रवृत्ति सर्जनावृत्ति में परिणत हुई। विषय-निरूपण की सशक्तता के लिए सपाट कथाओं में अनेक घटनाओं और वृत्तान्तों का संयोजन किया गया, उनमें मानव की जिजीविषा और संघर्ष के आघात-प्रत्याघात एवं प्रगति की अदम्य आन्तरिक आकांक्षाओं के उत्थान-पतन का समावेश किया गया; इसके अतिरिक्त उनमें सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में विकृतियाँ उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियाँ चित्रित हुईं और उनपर विजय-प्राप्ति के उपाय भी निर्दिष्ट हुए। पाण्डित्य के साथ-साथ सौन्दर्योन्मेष, रसोच्छल भावावेग, प्रेम-विह्वलता और लालित्य की भी प्राणप्रतिष्ठा की गई। इस प्रकार, प्राकृत-कथाएँ पुनर्मूल्यांकित होकर आख्यान-साहित्य के समारम्भ का मूलकल्प बनीं और उनका लक्ष्य हुआ कर्ममल से मानव की मुक्ति और जीवन की उदात्तता के बलपर ईश्वरत्व में उसकी चरम परिणति या मोक्ष की उपलब्धि।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि प्राकृत-कथासाहित्य की मूलधारा आगमिक कथाओं से उद्भूत होकर समकालीन विभिन्न प्राकृतेतर कथाओं को सिंचित-समेकित करती हुई पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती तक अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रही। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने उचित ही लिखा है कि आगम-साहित्य प्राकृत-कथासाहित्य की गंगोत्तरी है। ज्ञातधर्मकथा, उपासकदशा, अनुत्तरौपपातिकदशा आदि अंग तथा राजप्रशनीय, कल्पिका, कल्पावर्तसिका आदि उपांग प्राकृत-कथा-साहित्य के सुमेरुशिखर हैं।

उपर्युक्त ऊहापोह से यह निष्कर्ष स्थापित होता है कि प्राकृत-साहित्य की विभिन्न विधाओं में कथा-साहित्य का ऊर्जस्वल महत्त्व है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि प्राकृत-कथासाहित्य ने प्राकृत-काव्यों को अपदस्थ किया है। इसलिए कि कथा-साहित्य में यथार्थता का जो सातत्य है, उसका निर्वाह काव्य-साहित्य में प्रायः कम पाया जाता है। हालाँकि, अस्वाभाविक आकस्मिकता और अतिनाटकीयता से प्राचीन प्राकृत-कथासाहित्य भी मुक्त नहीं है। युगीनता के अनुकूल कथा-साहित्य के शिल्प और प्रवृत्ति में अन्तर अस्वाभाविक नहीं। घटनाओं और चरित्रों के समानान्तर विकास का विनियोग प्राकृत-कथाकार अच्छी तरह जानते थे। चेतना की समरसता

और धार्मिक सूत्र की एकतानता तथा उपमा और दृष्टान्तों की एकरस परम्परा के बावजूद प्राकृत-कथाओं की रोचकता और रुचिरता से इनकार नहीं किया जा सकता। चेतना के प्रवाह के साथ चरित्र के विकास का प्रदर्शन प्राकृत-कथाओं का एक ऐसा मूल्यवान् पक्ष है कि जिससे कथा-साहित्य का निर्माण-कौशल विकसित हुआ है।

आगमिक प्राकृत-कथासाहित्य के उत्तर काल में अपरम्परित प्राकृत-कथा के तीन प्रतिनिधि आचार्य कूटस्थ दिखाई पड़ते हैं, जिन्होंने कथा के क्षेत्र में क्रोशशिला की स्थापना की है। इनके नाम हैं : विमलसूरि, संघदासगणिवाचक और हरिभद्र। विमलसूरि और संघदासगणिवाचक के मध्यवर्ती आचार्य पादलिप्तसूरि का नाम भी उल्लेख्य है, जिन्होंने 'तरंगवती' नामक शिखरस्थ कथाग्रन्थ की रचना की थी। 'तरंगवती', रामायण की परम्परा से स्वतन्त्र, सर्वाधिक प्राचीन प्राकृत-काव्य है। यदि इसकी मूल पाण्डुलिपि सुलभ हो जाती, तो तदनुजन्म 'वसुदेवहिण्डी' के अध्ययन को ततोऽधिक सांगोपांगता प्राप्त होती। तरंगवती-कथा का उल्लेख 'विशेषावश्यकभाष्य' (जिनभद्र), 'अनुयोगद्वारसूत्र' (आर्यरक्षित), 'कुवलयमाला' (उद्योतनसूरि), 'तिलकमंजरी' (धनपाल) आदि में किया गया है। हाल सातवाहन की 'गाथासप्तशती' में पादलिप्त-कृत गाथाओं का संकलन पाया जाता है। तेरहवीं शती के प्रभाचन्द्र ने, जो आचार्यों एवं कवियों के प्रसिद्ध चरित्रलेखक हैं, अपने 'प्रभावकचरित्र' में पादलिप्तसूरि के जीवनवृत्त पर प्रकाश डाला है। पादलिप्तसूरि विद्याधर-कुल के थे और उनके गुरु का नाम नागहस्ती था। अनुमानतः 'तरंगवती' का रचनाकाल सन् ५०० ई. से पूर्व है।^१ वीरभद्र के शिष्य नेमिचन्द्र ने 'तरंगवती' का 'तरंगलोला' नाम से संक्षेपण किया है, जो प्रकाश में आ चुका है। यह एक धार्मिक उपन्यास है और इसकी ख्याति लोकोत्तर कथा के रूप में अत्यधिक थी। 'निशीथचूर्णि' के अनुसार, डॉ. हीरालाल जैन की मान्यता है कि इसके भाष्यकार आचार्य संघदासगणी थे।^२ नरवाहनदत्त की कथा लौकिक और तरंगवती, मगधसेना आदि की कथाएँ लोकोत्तर हैं : "अणेगित्थीहिं जा कामकह, तत्थ लोइया णरवाहणदत्तकहा लोउत्तरिया तरंगवतीमगधसेणादीणि।"^३ 'वसुदेवहिण्डी' की भाँति 'तरंगवती' की कथा उत्तमपुरुष में वर्णित है। आर्यिका तरंगवती ने राजगृह की धरती पर अपने जीवन की, प्रेम, विरक्ति और दीक्षा की कहानी स्वयं कही है। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' जिस प्रकार नायिकाप्रधान कथाकृति है, उसी प्रकार 'तरंगवती' भी। तरंगवती के नायक के विषय में डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'तरंगवती' की आलोचना करते हुए, बड़ी ही सटीक उपमा उपन्यस्त की है : "तरंगवती में नायक का चरित्र उसी प्रकार दबा हुआ है, जिस प्रकार पहाड़ी शिला के नीचे मधुर स्रोत।" निश्चय ही, जीवन के तनावों और संघर्ष के घात-प्रत्याघातों के विन्यास की दृष्टि से यह उपन्यास महतोमहीयान् है। अस्तु;

उपर्युक्त प्राकृत-कथासाहित्य की आचार्यत्रयी में दूसरी-तीसरी शती के आचार्य विमलसूरि ने वाल्मीकि-परम्परा से प्रचलित रामकथा को नई भंगिमा प्रदान करने के निमित्त 'पउमचरिय' की

१. द्र. 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' : डॉ. हीरालाल जैन; प्र. मध्यप्रदेश शासन-साहित्य-परिषद्, भोपाल, सन् १९६२ ई., पृ. १३६

२. उपरिवत्, पृ. ७२

३. संक्षिप्त 'तरंगवती' की प्रस्तावना में उद्धृत, पृ. ७

रचना की, जिसमें रचयिता ने मानव की ईश्वरत्व-प्राप्ति की क्षमता, यानी ईश्वर के कर्तृत्व की अपेक्षा उनके व्यक्तित्व में विश्वास की भावना पर अधिक बल दिया है, साथ ही मानववाद के समर्थन में विद्रोही विचारधारा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। ज्ञातव्य है कि पालि, अर्द्धमागधी, प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य में अभिव्यक्त मानववाद की विद्रोही विचारधाराओं ने बहुधा संस्कृत-साहित्य को भी पुनरुज्जीवित किया था। हिन्दी की नव्यालोचना के प्रवर्तक आचार्य नलिनखिलोचन शर्मा^१ के कथनानुसार, श्रमणों की यह प्राचीन परम्परा या विचारधारा कालक्रम से मार्क्सवाद से अनुप्राणित होकर प्रगतिवादी हिन्दी-साहित्य की रीढ़ बनी।

'पउमचरिय' में, मानववाद की विद्रोही विचारधारा या परम्परा की, उत्कृष्ट साहित्यिक रूप में, श्रेयस्कर परिणति हुई है। कहना न होगा कि जो स्थायी महत्त्व का साहित्य होता है, उसमें मानववादी विचारधारा अनिवार्यतः अनुस्यूत रहती है। यहाँ प्राकृत-साहित्य की प्राचीन प्रवृत्ति और परम्परा पर, बद्धमूल धारणाओं के विपरीत, थोड़ा दृक्पात कर लेना समीचीन होगा। प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य की परम्परा यथार्थता की परम्परा है। वेदों में भी यम-यमी-संवाद आदि प्रसंगों में यथार्थतापूर्ण साहित्यिक वर्णन उपलब्ध हैं। संस्कृत-साहित्य में भी आदर्शवादिता से कहीं अधिक परिमाण में यथार्थता का तत्त्व समाहित है। इसका सबसे बड़ा और मूल्यवान् प्रमाण है कामशास्त्र का अध्ययन-अध्यापन तथा साहित्य में उसका निःशंक, निर्भीक और निर्विकार समावेश। इसीलिए, आचार्य नलिनजी ने कहा है कि पाश्चात्य साहित्य में यथार्थता का जो तत्त्व उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में, संघटित आन्दोलन के बाद, ग्राह्य हुआ; वह शक्तियों पूर्व प्राचीन साहित्य के लिए साधारण बात थी। आधुनिक हिन्दी तथा हिन्दीतर साहित्य में यथार्थता की जो धारा परिलक्षित होती है, वह प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य से ही प्रवाहित होकर आई है।

श्रमणों की परम्परा मानववादी परम्परा है। मानववाद में अतिवाद को प्राश्रय नहीं मिलता है। इसीलिए, श्रमण-परम्परा के प्राकृत-कथासाहित्य के पात्र मानववादी विचारधारा के अनुसार अतिवादी होकर भी अमर्यादित नहीं हैं। वे अतीत के ज्ञान और संस्कार की सहायता से अपने वर्तमान को मर्यादित करते हैं तथा अपनी विवेकशक्ति के आधार पर अपने अतीत और वर्तमान का सदुपयोग करते हैं। कल्याणमित्र भगवान् महावीर के मानववादी दर्शन का संक्षेप यही है कि मनुष्य मनुष्य है, मनुष्य-जीवन की अपनी सार्थकता होती है। और, इसी सूत्र का महाभाष्य न केवल प्राकृत-कथासाहित्य, अपितु सम्पूर्ण श्रमण-साहित्य में उपलब्ध होता है। आचार्य विमलसूरि ने 'पउमचरिय' में परम्परागत रामकथा का संस्कार करके उसे ईश्वर के कर्तृत्व की अवधारणा के आवेष्टन से मुक्त किया है और 'पउम'^२ (पद्य = राम) को 'कर्त्ता' पुरुष की कोटि में न रखकर 'कर्मों' पुरुष के रूप में उपस्थित करते हुए मानववादी मूल्यों को अभिव्यक्ति दी है, इसीलिए उन्होंने राक्षसों और वानरों को नृवंशी बताया है। बालि और सुग्रीव वानर-वंश के प्रभावशाली शासक थे तथा रावण राक्षस-वंश का उदात्तचरित्र शासक। प्रचण्ड पराक्रमी तथा

१. द्र. 'साहित्य का इतिहास-दर्शन'; प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, सन् १९६० ई., अ. १५, पृ. २७९

२. कौशल्या से उत्पन्न राम का मुख पद्य जैसा था, इसीलिए विमलसूरि ने या तत्परवर्ती अपभ्रंश-रामायण के रचयिता स्वयम्भू कवि (७ वीं—१० वीं शती के बीच) ने राम का पर्यायवाची नाम 'पद्य' भी रखा है, जिसका प्राकृत-अपभ्रंश-रूप 'पउम' है।

अप्रतिहत योद्धा हनुमान् भी वानर-वंशी थे। रामकथा के प्रसंग में विद्याधर-वंश का समावेश प्राकृत-कथासाहित्य की मौलिक विशिष्टता का परिचायक है। इन्द्र, सोम, वरुण इत्यादि देव नहीं थे, बल्कि विभिन्न प्रान्तों के मानव-वंशी सामन्त थे।

‘पउमचरियं’ के नायक राम और प्रतिनायक रावण के चरित्रों को उदार मानववादी दृष्टिकोण से संवलिता किया गया है। राम और रावण दोनों मानववादी हैं। जीवमात्र के कष्टों को मिटाना ही मानववाद का चरम लक्ष्य है। मानववादी के हृदय में सहानुभूति तथा पीड़ितों के साथ समवेदना की भावना उद्बलित रहती है। वह सुखी को अधिक सुखी बनाने की अपेक्षा दुःखी को सुखी बनाने के लिए व्यग्र रहता है। वस्तुतः, वातावरण ही मानववादी के स्वभाव का निर्माण करता है, इसलिए वह मानव-जाति की सामाजिक या आर्थिक व्यवस्था को समुन्नत करने की आकांक्षा रखता है। ‘पउमचरियं’ के राम और रावण, दोनों मानव-जाति की सर्वतोमुखी समुन्नति के न केवल अभिलाषी हैं, अपितु उसके लिए कृतप्रयत्न भी हैं। चौदहवीं शती के प्रसिद्ध साहित्यशास्त्री आचार्य विश्वनाथ ने ‘साहित्यदर्पण’ में काव्यफल का निर्देश करते हुए, ‘रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्’ कहकर राम के चरित्र को आदर्श बताया है और रावण के दुरादर्श की अनुकृति का निषेध किया है। निश्चय ही, यह, विश्वनाथ के कथन पर, ब्राह्मण-परम्परा की रामकथा का प्रभाव है; किन्तु श्रमण-परम्परा के रावण का आदर्श रूप तो ततोऽधिक उदात्त है। ‘पउमचरियं’ का रावण धर्मात्मा, व्रतनिष्ठ और नीतिनिपुण व्यक्ति है। वह परम्परागत रावण की भाँति कामुक तो बिल्कुल ही नहीं है, तभी तो उसने नलकुबेर की रानी उपरम्भा के काम-प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। इतना ही नहीं, उस प्रस्ताविका को भी जघन्य कृत्य से विरत किया था। सीता की सुन्दरता पर मोहित होकर उसने उसका अपहरण अवश्य किया, परन्तु उसपर बलात्कार की चेष्टा कभी नहीं की। वरन् परदारापहरण-रूप अकार्य पर आत्मपश्चात्ताप करते हुए रावण ने सीता से कहा था : “अनन्तवीर्य के चरणों में मैंने व्रत लिया है कि अप्रसन्न परनारी का मैं नियमेन उपभोग नहीं करूँगा।”^१ वह सीता को राम के पास लौटा देना चाहता था, किन्तु उसने उन्हें इस भय से नहीं लौटाया कि लोग उसे कायर न समझ लें। उसने अपने मन में निश्चय किया था कि युद्ध में राम-लक्ष्मण को जीतकर परम वैभव के साथ सीता को वापस करूँगा, इससे उसकी कीर्ति कलंकित नहीं होगी। निश्चय ही, यथार्थ की भूमि पर आधृत रावण की यह मानववादी विचारधारा उसके चरित्र को अतिशय औदात्य प्रदान करती है। विमलसूरि की, मानववाद के लिए अनिवार्य, विद्रोही विचारधारा का यह प्रबल प्रमाण है, जो प्राकृत-कथासाहित्य की अभिनवता की सुदृढ मूलभूति है।

मानववाद के फलस्वरूप प्राकृत-कथासाहित्य में जहाँ एक ओर दृष्टिकोण में उदात्तता आ गई, वहीं प्राचीनता और शास्त्रीयता के प्रति पक्षपात की प्रवृत्ति भी। अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के कारण प्राकृत-कथाओं में अतिवाद या यथार्थवाद और मर्यादावाद या आदर्शवाद का अद्भुत समन्वय हो गया है। प्राकृत-कथाकार दार्शनिक या सन्त होने के बावजूद सहृदय साहित्यकार भी थे, फलतः उनकी अभिव्यंजना-विधि में अतिवादिता की कटुता मृदुल बन गई है और सतह पर दार्शनिक रूक्षता की जगह मानवता उभर आई है। प्राचीन काल में मानववादी दार्शनिक सन्त रचनाकारों ने धर्म के कट्टरपन से विद्रोह करके, फिर किसी-न-किसी प्रकार के धर्म का ही आश्रय

१. गहिये वयं किसोयरे ! अणन्तचिरियस्य पायमूलमि ।

अपसन्ना परमहिता न भुजियन्वा मए निययं ॥ —पउमचरियं, पर्व ६९, गाथा २३

लिया है। जैसे, महावीर, बुद्ध, कबीर, नानक आदि ने यही किया है। फर्क यही है कि इन मानववादियों ने धर्म के विवेचन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और स्वतन्त्र चिन्तन से काम लिया है। 'पठमचरियं' में विमलसूरि ने भी इसी वैचारिक आयाम को पल्लवित किया है।

आचार्य नलिनजी ने अपने क्रोशशिला-संस्थापक ग्रन्थ 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' के 'हिन्दी-साहित्य की महान् परम्परा' शीर्षक पन्द्रहवें अध्याय में 'परम्परा' का बड़ा ही प्राञ्जल सैद्धान्तिक विवेचन किया है। उसी परिप्रेक्ष्य में यहाँ प्राकृत-साहित्य की काव्यदृष्टिवादी परम्परा का विश्लेषण अपेक्षित है। प्राकृत का कथा-साहित्य बड़ा विशाल है और श्रमण-परम्परा के कथालेखकों ने धर्म और दर्शन, आचार और विचारों की कथा के माध्यम से, सरस अभिव्यंजना करने में चूडान्त कौशल और वैदुष्य का परिचय दिया है। आगमिक कथा-परम्परा या भारतीय प्राचीन कथा-परम्परा के विकास में उन्होंने जो श्रम-साधना प्रदर्शित की है, वह एक साथ विस्मित और आह्लादित करती है।

न केवल प्राकृत-कथा की, अपितु समस्त कथासाहित्य की परम्परा, प्राचीन काल से आधुनिक काल तक, अविच्छिन्न रहते हुए भी क्रमागत नहीं है। क्योंकि, क्रमागत परम्परा केवल चर्वितचर्वण या पिष्टपेषण नहीं हुआ करती। क्रमागत परम्परा के विश्लेषण-क्रम में आचार्य नलिनजी ने प्रसिद्ध पाश्चात्य कविर्मनाषी टी. एम्. इलियट का कथन उद्धृत किया है : "परम्परा क्रमागत नहीं हो सकती, यदि कोई इसकी आवश्यकता अनुभव करता है, तो उसे इसकी प्राप्ति के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ता है।" प्राकृत-कथाकारों ने क्रमागत परम्परा की मौलिक प्रखरता को नष्ट होने से बचाने के लिए उसे नवीन अनुभूतियों के सान पर चढ़ाकर परिवर्तित किया है। परम्परा अप्रतिहत गतिवाली निम्नाभिमुख जलधारा के समान होती है, साथ ही उसमें कारण और कार्य का सातत्य भी रहता है। किन्तु, प्राकृत-कथालेखकों ने जलधारा में तिनके की तरह असहाय बहने की अपेक्षा इस धारा को अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा और श्रम-साधना के अनुरूप, तथा समय और परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार नई दिशा में मोड़ दिया है। अतीत को स्वायत्त करने का प्रयत्न और उसे वर्तमान के प्रकाश में देखने की सूक्ष्मता—ये दोनों ही बातें प्राकृत-कथाकारों को, अच्छे अर्थ में, परम्परा से सम्बद्ध करती हैं। आचार्य विमलसूरि ने 'पठमचरियं' में इसी विकासवादी दृष्टि से अतीत की रामकथा-परम्परा को पुनर्व्याख्यापित करके अपनी मौलिक काव्यप्रतिभा का परिचय दिया है। इसीलिए, उनकी इस महत्कृति को संस्कृत की 'वाल्मीकिरामायण' के समानान्तर प्राकृत का आदिकाव्य कहा जाता है।

आचार्य विमलसूरि (द्वितीय-तृतीय शती) के परवर्ती पूर्वोक्त दोनों आचार्यों—संघदास-गणिवाचक (तृतीय-चतुर्थ शती) और हरिभद्र (आठवीं-नवीं शती) ने भी अपने कथा-साहित्य के माध्यम से अतीत की सांस्कृतिक परम्परा की, समसामयिक सन्दर्भ में, पुनर्व्याख्या और पुनर्मूल्यांकन किया है।

इस प्रसंग में, आचार्य हरिभद्र सूरि (सन् ७३०—८३० ई.) की कालजयी कथाकृति 'समराइच्च-कहा' ('समरादित्यकथा') उल्लेख्य है। यह कथाकृति नौ 'भवों' या परिच्छेदों में निबद्ध है। प्रत्येक भव की कथा किसी स्थान, काल और क्रिया की भूमिका में पर्यावरण को परिवर्तित करती है। अर्थात्, एक भव की कथा अगले भव की कथा के उपस्थित होने पर अपने

वातावरण, काल और स्थान का परिवर्तन करती है। सामान्यतया, प्रत्येक भव की कथा स्वतन्त्र होते हुए भी अपनी प्रभावान्विति से अगले भव की कथा को आवेष्टित करती है। फिर भी, आस्वाद में एकरसता नहीं आने पाई है, अपितु प्रत्येक भव की कथा में क्षण-क्षण नवीनता से उत्पन्न रमणीयता की रसात्मक स्फूर्ति का आह्लादक प्रस्पन्दन विद्यमान है।

प्राकृत-कथासाहित्य को उल्लेखनीय समृद्धि प्रदान करनेवाले, संघदासगणी के परवर्ती कथाकारों में आचार्य हरिभद्र तथा उनके विद्वान् शिष्य आचार्य उद्योतन सूरि ('कुवलयमालाकहा' के प्रणेता) पाँकेय हैं। बाणभट्ट (सातवीं शती का पूर्वार्द्ध) - रचित कूटस्थ संस्कृत-कथासाहित्य 'कादम्बरी' की प्रतिकल्पता की परवर्ती विकास-परम्परा हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' में दृष्टिगोचर होती है। अतएव, सम्पूर्ण भारतीय कथा-साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से 'समराइच्चकहा' का पार्यन्तिक महत्त्व है। 'वसुदेवहिण्डी' की वस्तु, शिल्प और शैलीगत प्रभावान्विति से संवर्धित 'समराइच्चकहा' भी संस्कृति, समाज, साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान-विषयक तत्त्वों का बृहत् कोश है। इसीलिए परवर्ती काल में हरिभद्र की प्राकृत-कथाओं से कई कथानक-रूढ़ियों का विकास हुआ और वे अनेक कथाकारों के कथा-ग्रन्थों का उपजीव्य बनीं।

'समराइच्चकहा' में, कथानायक समरादित्य को उसके पिता द्वारा संसार में आसक्त बनाये रखने का प्रयास तथा समरादित्य द्वारा संसार को छोड़ देने का प्रयत्न एवं इन दोनों के बीच होनेवाला संघर्ष बड़ी मोहक शैली में वर्णित है। कहना न होगा कि इस कथा का बीज 'वसुदेवहिण्डी' की धम्मिल्ल-कथा में सुरक्षित है, जो कामकथा होते हुए भी मूलतः धर्मकथा में पर्यवसित होती है। संघदासगणी की भाँति ही हरिभद्र ने निर्वैयक्तिक भाव से दुराचारी, चोर और कामलम्पट व्यक्तियों के चरित्रों का चित्रण कर उनके चरित्रों के प्रति विकर्षण उत्पन्न किया है। स्वयं कथानायक समरादित्य को मित्रगोष्ठी द्वारा जागतिक चर्चा करके विषय-पंक में फँसाने की पूरी चेष्टा की गई है, किन्तु ठीक इसके विपरीत समरादित्य का वैराग्यभाव उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया है। भगवान् बुद्ध के वैराग्य-कारणों की तरह, वृद्ध, रोगी और मृत ये तीन प्रधान निमित्त कुमार समरादित्य की भी वैराग्य-वृद्धि में सहायक होते हैं। कुल मिलाकर, हरिभद्र ने भी संघदासगणी की कथाशैली के समान ही यौनवृत्ति की व्यापकता और यौन वर्जनाओं के विभिन्न प्रभावक और व्यापक रूप उद्भावित किये हैं।

'वसुदेवहिण्डी' की भाँति 'समराइच्चकहा' में सौन्दर्य-चेतना आद्यन्त परिव्याप्त है। सौन्दर्य-चेतना ही संस्कृति का प्रधान अंग है। शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रतिक्षण दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था ही संस्कृति है। वास्तव में, मन, आचार अथवा रुचियों का परिष्कार संस्कृति है और इसका सम्बन्ध मूलतः आत्मा के परिष्करण से है। आत्मा का परिष्कार होने पर ही उदात्त चरित्र की प्रतिष्ठा सम्भव है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आचार-व्यवहार और चिन्तन-मनन को सुन्दर तथा सुरुचिपूर्ण बनाने का उपक्रम करता है। सुन्दर बनने की यह प्रवृत्ति ही संस्कृति या संस्कार है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी महार्थ कथाकृति 'समराइच्चकहा' के द्वारा आत्मा को सुसंस्कृत बनाने के लिए शाश्वत सिद्धान्तों और नियमों की विवेचना की है। इस प्रकार, इस युगचेता कथाकार ने मध्यकालीन दलित और पतित समाज के अभ्युत्थान के लिए सांस्कृतिक जागरण का शंखनाद किया है।

हरिभद्र के पूर्ववर्ती और विमलसूरि के परवर्ती प्राकृत-कथालेखक संधदासगणिवाचक ने अपनी पार्यान्तिक कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में न केवल आगमिक कथा-परम्परा और न विमलसूरि की कथापद्धति को ही आत्मसात् किया है, अपितु गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' को स्वायत्त करके, श्रमण-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में, उसका नव्योद्भावन किया है।

'वसुदेवहिण्डी' प्राकृत-कथासाहित्य की मणिमाला का अलङ्घ्य सुमेरु है, जो अपनी विशिष्ट शैली और शिल्प से प्राञ्जल प्राकृतगद्य की कथा-रचनाओं में उत्कृष्ट सीमा का निर्धारण करती है और जिसकी रोचक तथा ज्ञानोन्मेषक, विस्मितिजनक तथा चित्ताह्लादक कथाएँ परवर्ती कथा-साहित्य में विविध भंगिमाओं के साथ रूपान्तरित और प्रतिविवर्तित हुई हैं। 'वसुदेवहिण्डी' में अन्तःकथाओं या अवान्तर कथाओं के रूप में प्राप्य निजन्धरी कथाएँ तो परवर्ती प्राकृत-कथाग्रन्थों में यत्र-तत्र मूल तथा पर्याय-रूपों में बिखरी पड़ी हैं। गुणाढ्य की आपातरमणीय 'बृहत्कथा' का अनुकरण परवर्ती समग्र भारतीय साहित्य में, विपुल परिमाण में और व्यापक रूप से हुआ है। ज्ञातव्य है कि विभिन्न सम्प्रदायों के कथालेखकों की सहज प्रवृत्ति अपने सिद्धान्तों को मनोरंजक शैली में कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने की रही है। कथा-शैली के अतिरिक्त मनोरंजन की और कोई दूसरी शैली उपयुक्त भी नहीं हो सकती। वेदोत्तर या आगमोत्तर काल में गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से बढ़कर अद्भुत और अपूर्व दूसरी कोई कथावस्तु नहीं मिलती। अतएव, श्रमण-परम्परा के प्राकृत और संस्कृत कथाकार या ब्राह्मण-परम्परा के संस्कृत-कथाकार, सबने समान रूप से 'बृहत्कथा' के कथानक को, अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा और श्रम-साधना तथा रचना-प्रक्रिया के द्वारा साम्प्रदायिक चेतना या युगानुकूलता को ध्यान में रखते हुए, पल्लवित किया, और इस प्रकार 'बृहत्कथा' की परम्परा अविच्छिन्न रूप से विकास पाती रही। डॉ. जगदीशचन्द्र जैन^१ ने कथाकारों की इस प्रवृत्ति को 'लोकवृत्ति' की संज्ञा दी है और कहा है कि यह लोकवृत्ति केवल संधदासगणिवाचक की महत्कृति 'वसुदेवहिण्डी' में ही नहीं मिलती, अपितु जिन्सेन ने 'हरिवंश-पुराण', हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' तथा गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' और पुष्पदन्त ने 'महापुराण' में 'बृहत्कथा' की परम्परा का स्वतन्त्र रूप से अनुसरण कर इसी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। जो हो, उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, 'बृहत्कथा' की कथा सार्वभौम महत्त्व को स्वायत्त करता है।

'बृहत्कथा' की कथा-विभूति की प्रभा से नव्योद्भाविता 'वसुदेवहिण्डी' प्राकृत और संस्कृत की अनेक कथाओं का आधारदर्श है। प्राकृत-कथासाहित्य का मौलिकमुकुट 'वसुदेवहिण्डी' न केवल उत्तरकालीन आख्यायिकाओं के लिए प्रेरणास्त्रोत है, अपितु समस्त भारतीय यात्रावृत्तान्त-साहित्य की ही आधारशिला है। 'वसुदेवहिण्डी' न केवल प्राकृत-कथासाहित्य के लिए, वरंच सम्पूर्ण कथा-वाङ्मय के लिए गौरवग्रन्थ है। क्योंकि, इसमें वैसी भारतीय सभ्यता चित्रित हुई है, जिसके अन्तरंग में वर्तमान आभ्यन्तर चेतना और संस्कृति भी परिलक्षित होती है। सच पूछिए, तो 'वसुदेवहिण्डी' भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा है, जिसमें न केवल भारत की, अपितु बृहत्तर भारत की उदात्ततम जीवन-चेतना मूर्त हो उठी है।

भारतीय सभ्यता के इतिहास के जिस युग में इस देश की विशिष्ट संस्कृति सबसे अधिक अभिव्यक्त हुई थी, उसी युग में संघदासगणिवाचक वर्तमान थे। वह कालिदास की तरह भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग के कथाकार कवि थे। कालिदास, विक्रम के समसामयिक थे या गुप्तों के, यह इसलिए विशेष महत्वपूर्ण विवाद का विषय नहीं है; क्योंकि विक्रम से गुप्तों तक का समय (न कि केवल गुप्तों का, जैसा साधारणतः इतिहासकार मानते हैं) भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग था। इस युग की सभ्यता और संस्कृति साहित्य में ही नहीं, अपितु ललित, वास्तु और स्थापत्य आदि विभिन्न कलाओं में परिपूर्णता के साथ व्यक्त हुई हैं। संघदासगणिवाचक इस युग के श्रेष्ठ कवि थे और उन्होंने समय की बाह्य वास्तविकता, अर्थात् सभ्यता का चित्रण तो किया ही है, साथ-ही-साथ उसकी अन्तरंग चेतना का भी, जिसे हम संस्कृति कह सकते हैं, मनोहारी समाहार प्रस्तुत किया है।

संघदासगणिवाचक ने अपनी कालजयी कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में भारत की जिस आभ्यन्तर चेतना या अध्यात्मभावना का चित्रण किया है, उसमें प्रवृत्तियों का समन्वय अभीष्ट रहा है, और किसी भी दशा में वह निषेधमूलक नहीं है। न कि केवल अनेक जातियों के सम्मिश्रण आदि के कारण, अपितु अनिषेधमूलकता के अर्थ में ही भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक है, जो किसी भी देश की सभ्यता का अनिवार्य तथ्य होता है। संघदासगणिवाचक ने यदुवंशियों को इसी सांस्कृतिक आदर्श के प्रतीक के रूप में देखा है। धर्मशास्त्रों में बार-बार उद्घोषित पुरुषार्थचतुष्टय के आयत्तीकरण के निमित्त सदाचेष्ट यदुवंशियों की आदर्श प्रतीक-कथा के माध्यम से मानव-जीवन के मूल्यों के विषय में 'वसुदेवहिण्डी' अपना विशिष्ट दृष्टिकोण उपस्थित करती है, इसलिए यह मानव-संस्कृति की अतिशय उदात्त और अद्वितीय ललित कथा है। दूसरे शब्दों में, यह भारतीय जीवन और संस्कृति का महामहिम महार्णव है।

‘वसुदेवहिण्डी’ का स्रोत और स्वरूप

संघदासगणिवाचक भारतवर्ष के प्रमुख गद्यकारों में अन्यतम हैं। उनकी उल्लेखनीय गद्यात्मक कथाकृति ‘वसुदेवहिण्डी’ की उपलब्धि इसलिए महत्वपूर्ण घटना है कि इससे ‘बृहत्कथा’ के अज्ञात मूल स्वरूप पर प्रकाश पड़ता है। यह सुनिश्चित है कि संघदासगणी ने जो ‘वसुदेवहिण्डी’ लिखी, उसमें उन्होंने गुणाढ्य की ‘बृहत्कथा’ को ही आधार बनाया है। सुदुर्लभ कथाशक्ति से सम्पन्न ‘इतिवृत्तकथक’ होने के नाते उन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा, कला-चेतना और सारस्वत श्रम के विनियोग द्वारा ‘वसुदेवहिण्डी’ के शिल्प-सन्धान और अन्तरंग प्रतिमान में अनेक परिवर्तन किये, जिससे कि ‘बृहत्कथा’ से उद्गत मूलस्रोत को, नई दिशा की ओर मुड़कर स्वतन्त्र कथाधारा के रूप में संज्ञित होने का अवसर मिला।

‘बृहत्कथा’ विशुद्ध लौकिक कामकथा थी, किन्तु संघदासगणिवाचक ने ‘वसुदेवहिण्डी’ को धर्मकथा और लौकिक कामकथा के मिश्रित रूप में उपस्थित किया। संघदासगणी, चूँकि जैनाग्रह के निष्णात आचार्य थे, इसलिए आग्रहवश उन्होंने ‘वसुदेवहिण्डी’ में जैनधर्म और दर्शन की प्रभावना करनेवाले अनेक प्रसंगों का आसंग भी जोड़ दिया; परन्तु मूलकथा के साथ उनकी ठीक-ठीक बुनावट नहीं हो पाई और कथा की शिल्प-संघटना भी अनावश्यक बोझिल हो गई, फलतः वैसे स्थलों पर शिल्परचना-सम्बन्धी उनकी दृष्टि उदार नहीं रह सकी। हालाँकि, इससे ‘वसुदेवहिण्डी’ की महाकाव्यात्मक औपन्यासिक भव्यता में कमी नहीं आई है। यह बात दूसरी है कि पाठक उन धर्मदर्शनगूढ़ अंशों को छोड़कर मूलकथा की धारा के साथ अपने को जोड़ ले। ‘वसुदेवहिण्डी’ को गुणाढ्य की ‘बृहत्कथा’ का जैन रूपान्तर माननेवाले डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने अहमदाबाद के लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति-विद्यामन्दिर से प्रकाशित अपने, ‘वसुदेवहिण्डी’ के, अंगरेजी-संस्करण (‘वसुदेवहिण्डी : एन् ऑथेण्टिक जैन वर्सन ऑव द बृहत्कथा’) में दर्शन-ग्रन्थिल प्रसंगों को छोड़कर केवल मूलकथा का अनुवाद उपस्थित करके सामान्य कथापाठकों को अनर्थक बौद्धिक श्रम से बचा लिया है। अस्तु,

कथामर्मज्ञ संघदासगणी ने ‘बृहत्कथा’ की मौलिकता में ‘वसुदेवहिण्डी’ की मौलिकता को विसर्जित नहीं होने दिया है। उन्होंने ‘बृहत्कथा’ की लौकिक कामकथा को धर्मकथा और लोककथा में परिवर्तित तो किया ही, कथानायक को बदलकर सबसे अधिक महत्व का परिवर्तन किया। पैशाची-निबद्ध गुणाढ्य की ‘बृहत्कथा’ (‘बडुकहा’) में वत्सराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त कथानायक हैं, किन्तु संघदासगणी ने अन्धकवृष्णि-वंश के प्रसिद्ध महापुरुष वसुदेव को कथानायक की गरिमा प्रदान की।

गुणाढ्य की ‘बृहत्कथा’ केवल प्राकृत-कथा ‘वसुदेवहिण्डी’ का ही मूलाधार नहीं है, अपितु ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ (बुधस्वामी), ‘कथासरित्सागर’ (सोमदेव) और ‘बृहत्कथामञ्जरी’ (क्षेमेन्द्र) का भी आधारोपजीव्य है। इसीलिए, सोमदेव ने ‘बृहत्कथा’ को विविध कथाओं के

अमृत का आगार^१ कहा है। पैशाची भाषा में निबद्ध 'बृहत्कथा' की रचना गुणाढ्य ने आन्ध्रराजा हल सातवाहन के समय, ई. पू. प्रथम शती में की थी। इसकी चर्चा ई. पू. प्रथम शती के कवि कालिदास ने भी उदयनकथा (मेघ १.३०) के नाम से की है। साथ ही, 'हित्वा हालाभिमतरसाम्' (१.४९) के द्वारा उन्होंने हल सातवाहन की राजपरम्परा की ओर भी संकेत किया है।^२ आन्ध्रसातवाहन-युग में जल-स्थल-मार्गों पर अनेक सार्धवाह, पोताधिपति एवं सांयात्रिक व्यापारी अहर्निश यात्रा करते थे। लम्बी यात्रा के क्रम में मनोविनोद के लिए अनेक कहानियों की रचना अस्वाभाविक नहीं थी, जिनमें उन यात्रियों के देश-देशान्तर-भ्रमण से उत्पन्न अनुभवों का सार संकलित किया जाता था। सम्पूर्ण भारत के स्थल-भाग पर जंगलों, पहाड़ों, नगरों और गाँवों में उनके शकट दौड़ते-रेंगते रहते थे। उसी प्रकार, जल-भाग पर उनके प्रवहन (जहाज) तीव्र गति से छूटते थे। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल^३ ने कहा है कि सातवाहन-नरेशों की मुद्राओं पर अंकित जलयानों के चित्र उस काल के सामुद्रिक व्यापार और द्वीपान्तर-सन्निवेश की सूचना देते हैं। उन्हीं के प्रयत्नों से बृहत्तर भारत का वह रूप सम्पन्न हो पाया, जिसे 'मत्स्यपुराण' के लेखक ने बारह द्वीपों और ग्यारह पत्तनों से निर्मित 'नारायण-महार्णव' कहकर प्रणाम किया है : "द्वादशार्कमयो द्वीपो रुद्रैकादशपत्तनः..." (मत्स्यपुराण, २४८. २२—२६)

विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न कथाकार गुणाढ्य ने उन्हीं उद्यमी साथी और नौयात्रियों के रोचक-रंजक अनुभवों को 'बृहत्कथा' के रूप में उपन्यस्त किया। 'बृहत्कथा' की उत्तरकालीन वाचनाओं 'वसुदेवहिण्डी', 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' से यह सूचना मिलती है कि गुणाढ्य के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज में पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के आर-पार के भूखण्डों की अनेक मनोरंजक कथाएँ सम्मिलित थीं। इसी सन्दर्भ में डॉ. अग्रवाल ने यह निष्कर्ष उपस्थित किया है कि 'बृहत्कथा' के रूप में गुणाढ्य ने जो साहित्यिक सत्र विक्रमीय प्रथम शती के लगभग आरम्भ किया था, वह प्राचीन वा. म्य का सहस्रसंवत्सरीय सत्र बन गया, जिसमें संस्कृत-प्राकृत के कई प्रतिभाशाली मनीषी रचयिताओं ने भाग लिया। संघदासगणिवाचक की 'वसुदेवहिण्डी' 'बृहत्कथा' के विकास की पहली कड़ी है और सोमदेव का 'कथासरित्सागर' अन्तिम कड़ी। डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', सोमदेव के 'कथासरित्सागर', क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी', धर्मसेनगणिमहत्तर के 'मज्झिमखण्ड' तथा संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश में लिखित अन्यान्य जैनकथा-ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इस निष्कर्ष की स्थापना की है कि 'वसुदेवहिण्डी' गुणाढ्य की अनुपलब्ध सर्वोत्तम कृति 'बृहत्कथा' का प्रामाणिक जैन रूपान्तर है, जिसकी चर्चा उन्होंने पूर्वोक्त 'वसुदेवहिण्डी' के अँगरेजी-संस्करण में विस्तार से की है।

१. नानाकथामृतमयस्य बृहत्कथायाः सारस्य सज्जनमनोभूषिपूर्णचन्द्रः ।

सोमेन विश्रवरभूरिगुणाधिरामः । मात्मजेन विहितः खलु सङ्ग्रहोऽयम् ॥

(कथासरित्सागर की अन्तिम प्रशस्ति)

२. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : 'संस्कृत-सुकवि-समीक्षा' : आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ. ८६ तथा 'मेघदूतः एक अनुचिन्तन' : डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, मुखबन्ध, पृ. १८

३. समश्लोकी हिन्दी-अनुवाद-सहित 'कथासरित्सागर' (प्रथम खण्ड) की भूमिका, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-४, पृ. ५

‘वसुदेवहिण्डी’ के स्वरूप के यथार्थ परिचय के लिए उसकी पृष्ठभूमि में ‘बृहत्कथा’ और उसकी उत्तरकालीन वाचनाओं के विषय में यहाँ विशद रूप से प्रकाश डालना समीचीन होगा। ज्योतनसूरि (सन् ७७९ ई.) द्वारा विरचित ‘कुवलयमालाकहा’ के आरम्भ में ‘बहुकहा’ (‘बृहत्कथा’) के विषय में कहा गया है :

सखल-कलागम-णिलया सिक्खाविय-कइयणस्स मुहयंदा ।

कमलासणो गुणद्धो सरस्सई जस्स बहुकहा ॥

(कुवलयमाला : पृ. ३, गाथा २२)

‘बृहत्कथा’ क्या है, साक्षात् सरस्वती है। गुणाढ्य स्वयं ब्रह्मा है। यह ‘बृहत्कथा’ सकल कलाओं का आगार है। कविजन इसे पढ़कर शिक्षित बनते हैं।

ज्योतनसूरि से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व महाकवि बाण (सातवीं शती का पूर्वार्द्ध) ने ‘बृहत्कथा’ की प्रशंसा करते हुए कहा था :

समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना ।

हरलीलेव लोकस्य विस्मयाय बृहत्कथा ॥

(हर्षचरित : मंगलाचरण : श्लो. १७)

इस श्लोक में प्रयुक्त ‘समुद्दीपितकन्दर्पा’ विशेषण से यह स्पष्ट है कि बाण के समय तक ‘बृहत्कथा’ कामकथा के रूप में ही परिचित थी। वही उसका मूल रूप था। ‘कृतगौरीप्रसाधना’ विशेषण से सूचित होता है कि ‘बृहत्कथा’ का आरम्भिक पाठ शिव-पार्वती-संवाद के रूप में था। अर्थात्, पार्वती ने शिवजी से कथा सुनाने की प्रार्थना की और पार्वती की प्रसन्नता के लिए शिवजी ने जो कथा सुनाई, वही ‘बृहत्कथा’ हुई।

इसी कथा-प्रसंग को सोमदेव^१ ने ‘कथासरित्सागर’ के प्रथम लम्बक में इस प्रकार उपन्यस्त किया है :

हिमालय के उत्तरी शिखर, कैलास पर सुखासीन पार्वती ने शिव से कोई नवीन कथा सुनाने का आग्रह किया। तब, शिव ने पार्वती के पत्नी बनने की पूर्वजन्म की कथा सुनाई। इसपर पार्वती क्रुद्ध हो उठीं और शिव को ‘धूर्त’ कहते हुए उन्हें हृद्य (मनोहर) कथा नहीं सुनाने का उपालम्भ दिया। पार्वती के व्यंग्य-वचन सुनकर शिव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और दिव्य कथा सुनाने का वचन दिया। इससे पार्वती प्रसन्न हो गई।

शिव को, कथा कहने के लिए उद्यत देखकर पार्वती ने स्वयं आज्ञा दी कि कथा के समय यहाँ कोई अन्य व्यक्ति प्रवेश न करे। नन्दी प्रवेशद्वार पर पहरा देने लगा और शिव ने कथा प्रारम्भ करते हुए कहा : “देवता सदा सुखी रहते हैं और मनुष्य सदा दुःखी। इसलिए उनके चरित मनोहर नहीं होते। अतः, मैं दिव्य और मानुष (सुख और दुःख) दोनों प्रकृतियों से मिश्रित विद्याधरों का चरित तुम्हें सुनाता हूँ।” शिव यह कह ही रहे थे कि उसी समय उनका कृपापात्र गण पुष्पदन्त आ गया। किन्तु, द्वार पर बैठे नन्दी ने उसे भीतर जाने से रोक दिया।

१. इसी कथा को क्षेमेन्द्र ने भी ‘बृहत्कथामंजरी’ के ‘कथापीठ’ में प्रायः यथावत् उपन्यस्त किया है।

अन्तरंग व्यक्ति के भी निषेध किये जाने के कारण पुष्पदन्त को कुतूहल हुआ और वह योगशक्ति से शीघ्र ही भीतर चला गया और वहाँ उसने शिव द्वारा वर्णन किये जाते हुए सात विद्याधरों के अद्भुत चरित सुने। उसने उन सातों विद्याधरों की कथा अपनी पत्नी जया से कही और जया ने उसे पुनः पार्वती को जा सुनाया। तब, पार्वती ने रुष्ट होकर शिव से कहा : “आपने कोई अपूर्व कथा मुझे नहीं सुनाई, इस कथा को तो जया भी जानती है।”

शिव ने समाधि द्वारा वस्तुस्थिति समझ ली। उन्होंने पुष्पदन्त को अभिशाप दिया और उसकी ओर से क्षमा माँगनेवाले मात्यवान् को भी शाप दिया। शापवश दोनों मनुष्य-योनि में उत्पन्न हुए। किन्तु, दोनों गणों और जया के प्रार्थना करने पर पार्वती ने शापान्त की घोषणा इस प्रकार की : “कुबेर के शाप से विन्ध्यारण्य में पिशाच बनकर रहनेवाला सुप्रतीक नाम का यक्ष काणभूति के नाम से प्रसिद्ध है। हे पुष्पदन्त ! जब तुम उस काणभूति को देखकर अपने पूर्वजन्म का स्मरण करोगे और यह कथा उसे सुनाओगे, तब शाप से मुक्त हो जाओगे। और, मात्यवान् जब काणभूति से इस कथा को सुनकर उसे प्रसारित करेगा, तब काणभूति के साथ वह भी मुक्त हो जायगा।”

कुछ समय बीतने पर करुणार्द्रहृदया पार्वती ने शिव से अभिशापों की स्थिति के सम्बन्ध में पूछा, तो उन्होंने बताया कि पुष्पदन्त कौशाम्बी में वररुचि के नाम से उत्पन्न हुआ है और मात्यवान् ने सुप्रतिष्ठित नगर में गुणाढ्य नाम से जन्म लिया है।

विन्ध्याटवी में काणभूति को देखकर वररुचि को जातिस्मरण हो आया और वह काणभूति को सातों विद्याधरों की दिव्य कथा सुनाकर शापमुक्त हो गया। किन्तु, खिन्नहृदय मात्यवान् मर्त्यशरीर में गुणाढ्य नाम से विख्यात होकर, वन में भटक रहा था और प्रतिज्ञानुसार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं को छोड़ पैशाची भाषा का प्रयोग करता था तथा राजा सातवाहन की सेवा से स्वयं अलग होकर विन्ध्यवासिनी भगवती के दर्शन के निमित्त विन्ध्यवन में आ बसा था। विन्ध्यवासिनी की कृपा से उसने विन्ध्यारण्य में काणभूति को देखा। काणभूति को देखते ही गुणाढ्य को भी पूर्वजाति का स्मरण हो आया। पैशाची भाषा में अपना नाम सुनाकर गुणाढ्य काणभूति से बोला : “पुष्पदन्त से सुनी हुई उस दिव्य कथा को शीघ्र सुनाओ, ताकि हम एक साथ शापमुक्त हो जायें।”

काणभूति के आग्रह करने पर गुणाढ्य ने पहले अपना जीवन-वृत्तान्त सुनाया कि वह प्रतिष्ठान देश के सुप्रतिष्ठित नगर के सोमशर्मा ब्राह्मण की अविवाहिता पुत्री श्रुतार्था के, नामराज वासुकि के भाई के पुत्र कुमार कीर्तिसेन द्वारा प्रतिष्ठापित गर्भ से उत्पन्न हुआ। उसके उत्पन्न होते ही आकाशवाणी हुई कि यह गुणाढ्य नाम का ब्राह्मण शिव के गण का अवतार है।

गुणाढ्य दक्षिणदेश में समस्त विद्याओं को प्राप्त करके प्रसिद्ध विद्वान् हुआ और अपने विद्यागुणों के प्रदर्शन की आकांक्षा से स्वदेश लौटा और सुप्रतिष्ठित नगर के राजा सातवाहन का मन्त्री बन गया। मन्त्री-पद पर नियुक्त होने के बाद वहाँ विवाह करके वह शिष्यों को पढ़ाते हुए आनन्द के साथ रहने लगा।

दीपकर्णि नाम के प्रसिद्ध पराक्रमी राजा ने 'सात' नामक यक्ष से रक्षित एक बालक प्राप्त किया, उसी का नाम सातवाहन रखा गया और वही आगे चलकर सार्वभौम राजा हुआ। एक बार वसन्तोत्सव के समय राजा सातवाहन रानियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था। पानी के छींटों की बौछार करती हुई, स्तनभार से क्लान्त एक सुकुमार रानी राजा से बोली : "मुझे पानी से मत (मोदकैः = मा + उदकैः) मारो।" राजा व्याकरण से अनभिज्ञ था। 'मोदकैः' का सन्धि-विच्छेद न कर पाने के कारण उसने रानी के लिए बहुत-से लड्डू मँगवाये। इसपर शब्दशास्त्रज्ञ रानी ने राजा को मूर्ख कहा और अनेक प्रकार से फटकारा भी। राजा लज्जित होकर चिन्ता में पड़ गया—'पाण्डित्य की शरण में जाऊँ या मृत्यु की?'

गुणाढ्य ने राजा सातवाहन को छह वर्षों में व्याकरण सिखा देने का आश्वासन दिया, किन्तु राजा के अन्य मन्त्री शर्ववर्मा ने ईर्ष्याविश छह महीनों में ही व्याकरण सिखाने की बात राजा से कही। इस अनहोनी बात को सुनकर गुणाढ्य ने क्रोध में आकर शर्ववर्मा से कहा : "यदि तुम छह महीने में राजा को व्याकरण सिखा दोगे, तो मैं संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश, इन तीनों मनुष्य-भाषाओं को सदा के लिए छोड़ दूँगा।"

शर्ववर्मा के पढ़ाने पर परमात्मा की कृपा से छह महीनों में ही राजा को सभी विद्याएँ स्वयं प्राप्त हो गईं। राजा ने शर्ववर्मा की राजरत्नों से गुरुपूजा की।

प्रतिज्ञानुसार, जैसा पहले कहा गया, गुणाढ्य तीनों मनुष्य-भाषाओं को छोड़ देने के कारण मौन रहने लगा। किन्तु, मौनी होने के कारण वह राजकार्य तथा सांसारिक व्यवहारों से पृथक् रहने लगा और न चाहते हुए भी राजा से आज्ञा लेकर दो शिष्यों के साथ उस नगर से निकला और विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन के निमित्त विन्ध्याटवी में प्रविष्ट हुआ। वहाँ गुणाढ्य ने पिशाचों के परस्पर वार्तालाप को सुनकर पैशाची भाषा सीखी, जो संस्कृत, प्राकृत तथा लोकभाषा (अपभ्रंश) से विलक्षण चौथी भाषा थी। गुणाढ्य ने मौन त्याग कर पैशाची बोलना प्रारम्भ किया।

जन्म-वृत्तान्त सुनने के बाद, गुणाढ्य के अनुरोध पर, काणभूति ने उसे पैशाची भाषा में सात कथाओंवाली दिव्यकथा कह सुनाई, जो उसने पुष्पदन्त (वररुचि) से सुनी थी। विद्याधरों द्वारा हरण कर लिये जाने के भय से गुणाढ्य ने उस कथा को सात वर्षों में, सात लाख छन्दों में, घोर जंगल में स्याही और कागज न मिलने के कारण अपने रक्त से पत्ते पर^१ लिखा। अन्त में, पार्वती के आज्ञानुसार गुणाढ्य ने उस दिव्यकथा के पृथ्वी पर प्रसार के निमित्त अपने दो शिष्यों—गुणदेव और नन्दिदेव से कहा और उन्हें कथा-पुस्तक सौंपकर राजा सातवाहन के पास भेज दिया। शिष्यों ने राजा सातवाहन के पास जाकर गुणाढ्य का वह उत्तम काव्य उसे दिखलाया।

पिशाचाकार गुणाढ्य के शिष्यों और पिशाच-भाषा में रक्त से लिखे उस काव्य को देखकर राजा सातवाहन ने उन्हें धिक्कारा। राजा से प्राप्त धिक्कार की बात शिष्यों से सुनकर गुणाढ्य को अत्यन्त खेद हुआ। उसने शिष्यों के साथ समीपवर्ती पर्वत पर जाकर एक अग्निकुण्ड तैयार

१. सात लाख श्लोकों को अपने रक्त से लिखना सम्भव नहीं प्रतीत होता, अतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह अनुमान सही है कि "कागज का काम सूखे चमड़ों से लिया गया और स्याही का काम पशुओं के रक्त से। पिशाचों की बस्ती में और मिल ही क्या सकता था।" (द्र. 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल', द्वि. सं., सन् १९५७ ई., तृतीय व्याख्यान, पृ. ६०)

किया और अपनी उस 'बृहत्कथा' के एक-एक पत्र को पढ़कर उसमें जलाना शुरू किया। मृग-पक्षी उसे सुनते और दोनों शिष्य अश्रुपूर्ण आँखों से गुणाढ्य को देखते थे। शिष्यों के अनुरोध से 'नरवाहनदत्तचरित' नामक एक भाग को गुणाढ्य ने बचा लिया, जो एक लाख श्लोकों में था।

जिस समय गुणाढ्य उस दिव्यकथा के एक-एक पत्र को पढ़कर जला रहा था, उस समय जंगल के सभी पशु—हिरन, सूअर जैसे आदि झुण्ड में निश्चल होकर और चरना छोड़कर आँसू बहाते हुए कथा को सुन रहे थे।

इसी बीच राजा सातवाहन अस्वस्थ हो गया। वैद्यों ने बताया, सूखा मांस खाने के कारण राजा अस्वस्थ हो गया है। रसोइयों से पूछताछ की गई, तो उन्होंने बताया कि पर्वत के शिखर पर कोई ब्राह्मण एक-एक पत्र पढ़कर अग्नि में झोंक रहा है, इसलिए जंगल के समस्त प्राणी एकत्र होकर, निराहार रहकर उसे सुनते हैं। वे कहीं चरने के लिए नहीं जाते, इसीलिए उनका मांस सूख गया है।

राजा कौतूहलवश गुणाढ्य के पास गया और पशु-पक्षियों के बीच बैठे उसे पहचानकर नमस्कार किया। फिर, गुणाढ्य द्वारा 'बृहत्कथा' का वृत्तान्त सुनकर और गुणाढ्य को माल्यवान् नामक शिवगण का अवतार जानकर राजा उसके पैरों पर गिर पड़ा और शिव के मुख से निकली वह दिव्यकथा उससे माँगी। तब, गुणाढ्य ने राजा सातवाहन से कहा कि "छह लाख श्लोकों में लिखी छह कथाएँ मैंने जला दीं। एक लाख श्लोक की एक कथा बची है, इसे ले लो। मेरे दोनों शिष्य (गुणदेव और नन्दिदेव) इस कथा के व्याख्याता होंगे।" ऐसा कहकर और योग-समाधि द्वारा अपने मानव-शरीर का त्याग कर शापमुक्त गुणाढ्य ने अपने पूर्व (माल्यवान्) पद को प्राप्त किया।

राजा सातवाहन ने गुणाढ्य के दोनों शिष्यों की सहायता से उस कथा के प्रचार के लिए उसका देशभाषा (अपभ्रंश या आन्ध्रभाषा = तेलुगु = प्राक्-द्रविड) में अनुवाद कराया और कथापीठ (कथा के परिचयात्मक भाग) की भी रचना की।^१ विचित्र रसों से परिपूर्ण एवं देवकथाओं को भुला देनेवाली यह कथा, सुप्रतिष्ठित नगर में निरन्तर प्रचारित होती हुई क्रमशः सारे भूमण्डल में प्रसिद्ध हो गई।^२

'कथासरित्सागर' के प्रथम लम्बक के यथाप्रस्तुत कथापीठ से यह भी आभास मिलता है कि शिव-पार्वती-संवादमूलक 'बृहत्कथा' की तेलुगु (प्राक्-द्रविड)-निबद्ध कोई आन्ध्र-प्रति भी रही होगी, जिसे राजा सातवाहन ने प्रचार के निमित्त अपनी देशभाषा में रूपान्तरित कराया था और जो बाद में समस्त भूमण्डल में प्रसिद्ध हुई थी। इस अनुमान की प्रत्यक्षसिद्धि 'बृहत्कथा' के अधीतियों के शोध-प्रयास का उत्तरकल्प है। साथ ही, 'बृहत्कथा' के नये भाषिक आयाम की उपलब्धि के सन्दर्भ में तेलुगु (प्राक्-द्रविड) और पैशाची के तुलनात्मक भाषावैज्ञानिक अध्ययन की आवश्यकता भी अपेक्षित है। कन्नड़ और पैशाची का तुलनात्मक अध्ययन तो स्फुट रूप से हुआ भी है।^३ अस्तु;

१. तद्भाषयावतारं वक्तुं चक्रे कथापीठम् ।—कथासरित्सागर, १.३७

२. यही कहानी 'नैपाल-माहात्म्य' (अ. २७-२९) में थोड़ी भिन्नता के साथ मिलती है।

३. द. 'सम्बोधि' (त्रैमासिक), अप्रैल-जुलाई, १९७७ ई., ला. द. भारतीय संस्कृति-विद्यामन्दिर, अहमदाबाद

कहना न होगा कि 'बृहत्कथा' ने संस्कृत-प्राकृत-शाखा की (ई.पू.प्रथम शती के कालिदास से बारहवीं शती के हेमचन्द्र तक) विद्वन्मण्डली को समान रूप से उद्ग्रीव किया है।

प्राचीन भारत की लौकिक कथाओं का आकर-ग्रन्थ 'बृहत्कथा' उज्जयिनीनरेश वत्सराज उदयन और उनके पराक्रमी पुत्र नरवाहनदत्त के जीवनवृत्त की मनोरम कथा है। कालिदास ने अपने पार्यन्तिक काव्यग्रन्थ 'मेघदूत' के पूर्वमेघ के तीसवें श्लोक में उदयनकथा ('प्राप्यावन्ती-मुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्') की चर्चा की है। मल्लिनाथ के पूर्ववर्ती टीकाकार वत्सनभदेव ने 'उदयनकथा' की टीका करते हुए लिखा है : 'उदयनकथा बृहत्कथा वत्सराजवृत्तान्तः।'^१ स्पष्ट है कि कालिदास के समय अवन्ती में 'बृहत्कथा' बहुचर्चित थी, जिसे ग्रामवृद्ध बड़ी कुशलता के साथ प्रस्तुत करते थे।

पंचम-षष्ठ शतक के प्रसिद्ध कथालेखक एवं नाट्यकार सुबन्धु ने अपनी 'वासवदत्ता' नाम की कथाकृति में 'बृहत्कथा' को 'लम्बो' से युक्त कहा है : 'बृहत्कथालम्बैरिव शालभञ्जिकानिवहैः।' अर्थात्, बृहत्कथा के लम्बो या सर्गों में शालभञ्जिका या स्त्रियों की कथाएँ थीं। यहाँ ज्ञातव्य है कि किसी भी बृहत्कथा की लम्बबद्धता की परम्परा सुबन्धु के समय में ही 'लम्बक' शब्द से प्रयुक्त होने लगी थी, जिसे सुबन्धु के परवर्ती क्षेमेन्द्र ने 'बृहत्कथामंजरी' में और सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' में अपनाया।

काव्यादर्शकार दण्डी (सप्तम शती) ने भूतभाषाविबद्ध 'बृहत्कथा' को अद्भुत अर्थवाली कहा है :

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते ।

भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्था बृहत्कथाम् ॥ (काव्यादर्श : १.३८)

मालवराज मुंज का सभासद दशरूपककार धनंजय (नवम-दशम शती) ने रामायण आदि के साथ विचित्रकथाओंवाली 'बृहत्कथा' की चर्चा की है :

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेदजातं रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।

आसूत्रयेत्तदनु नेत्रसानुगुण्याच्चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चैः ॥

धनंजय के भाई, दशरूपक की 'अवलोकवृत्ति' नामक टीका के कर्ता धनिक ने विशाखदत्त (पंचम-षष्ठ शतक) की प्रसिद्ध नाट्यकृति 'मुद्राराक्षस' को 'बृहत्कथा' पर आधारित बतलाया है : "तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्।"

प्रो. भोगीलाल जयचन्द भाई साण्डेसरा ने 'वसुदेवहिण्डी' के गुजराती में अनूदित संस्करण की अपनी भूमिका में, षष्ठ शतक के दक्षिण हिन्द के एक ताम्रपत्र तथा नवम शती के एक कम्बोडिया-शिलाभिलेख में 'बृहत्कथा' के आदरपूर्वक उल्लेख होने की चर्चा की है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार, त्रिविक्रमभट्ट (दशम शती का आरम्भ) और गोवर्द्धनाचार्य (१२वीं शती) ने 'बृहत्कथा' का प्रशंसापूर्वक स्मरण किया है।^२

१. द्र. 'मेघदूत : एक अनुचिन्तन' : डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, प्र. मोतीलाल बनारसीदास, पटना, पृ. २४०

२. 'संस्कृत-सुकवि-समीक्षा', पूर्ववत्, चौखम्बा-सं., पृ. २४०

‘तिलकमंजरी’ के कर्ता धनपाल (११वीं शती) ने ‘बृहत्कथा’ की उपमा समुद्र से दी है, जिसकी एक-एक बूँद से अन्य कितनी ही कथाओं की रचना हुई। उसके आगे की अन्य कथाएँ कन्या (कथरी) के समान हैं :

सत्यं बृहत्कथाम्बोधेर्बिन्दुमादाय संस्कृताः ।

तेनेतरकथाकन्याः प्रतिभान्ति तदग्रतः ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने भी ‘स्वोपज्ञवृत्ति’ में कथाओं के भेद बतलाते हुए ‘बृहत्कथा’ का उल्लेख किया है : “लम्भाङ्गिताद्भुतार्था नरवाहनदत्तचरित्रवद् बृहत्कथा ।” (अ. ८, सू. ८)

स्पष्ट है कि ‘बृहत्कथा’ लम्बो में विभक्त थी और संघदासगणी ने भी ‘बृहत्कथा’ के आधार पर ‘वसुदेवहिण्डी’ की लम्बबद्ध रचना की। यथाविवेचित ‘वसुदेवहिण्डी’ के स्रोत और स्वरूप को समझने के लिए इन दोनों कथाग्रन्थों के विभिन्न नव्योद्धावनों की विशिष्ट चर्चा प्रासंगिक होगी।

(क) ‘वसुदेवहिण्डी’ तथा ‘बृहत्कथा’ के विभिन्न नव्योद्धावन

उपर्युक्त अध्ययन से यह निर्देश मिलता है कि ‘वसुदेवहिण्डी’ से ‘कथासरित्सागर’ तक ‘बृहत्कथा’ के अनेक नव्योद्धावन हुए हैं। यह निश्चित है कि गुणाढ्य-कृत ‘बृहत्कथा’ अब मूल रूप में प्राप्य नहीं है। ज्ञात होता है, कश्मीरी विद्वान् सोमदेव (११वीं शती) के बाद उस महाकथा का विलोप हो गया। किन्तु, कालक्रम से ‘बृहत्कथा’ के जो नव्योद्धावन हुए उनमें यथाक्रम चार अबतक उपलब्ध हैं : १. ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ (बुधस्वामी), २. ‘वसुदेवहिण्डी’ (संघदासगणि-वाचक), ३. ‘बृहत्कथा-मंजरी’ (क्षेमेन्द्र) और ४. ‘कथासरित्सागर’ (सोमदेव)।

पहला, बुधस्वामी-कृत ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ सम्भवतः ईसा की द्वितीय-तृतीय शती में, संस्कृत में, लिखा गया। डॉ. वसुदेवशरण अग्रवाल के अनुमानानुसार, इसका रचनाकाल पाँचवीं शती है। चूँकि डॉ. अग्रवाल संस्कृत-प्राकृत के समृद्धिकाल को आपाततः गुप्तयुग में मानने को प्रतिबद्ध रहते थे, इसलिए उन्होंने पाँचवीं शती के प्रति स्वाग्रह व्यक्त किया है। डॉ. अग्रवाल पाश्चात्य मनीषियों के मन्तव्यों के प्रकाश में काल-निर्धारण के अधिक पक्षपाती रहे हैं। किन्तु, यहाँ प्रसंगवश यह ज्ञातव्य है कि पाश्चात्यों ने ऐतिहासिक काल-निर्धारण के सन्दर्भ में भारतीय परम्परा की सोहेश्य उपेक्षा की है। उदाहरणस्वरूप, वे आज तक कालिदास का समय निश्चित नहीं कर पाये हैं। इसीलिए, वे उन्हें ५७ ई. पू. (ई. पू. प्रथम शती) के विक्रम का समकालीन मानने से इनकार करते रहे हैं, यद्यपि निश्चित परम्परा यही है। कहना न होगा कि पाश्चात्यों ने भाषा और शैली जैसे तथाकथित अन्तर्साक्ष्यों और अनेक प्रकार के बहिर्साक्ष्यों के चक्कर में पड़कर कालिदास के समय को सदा के लिए असमाधेय बना दिया है। इसीलिए, आचार्य नलिनजी ने अपनी पार्यान्तिक कृति ‘साहित्य का इतिहास-दर्शन’ में साहित्यिक इतिहास की प्राचीन भारतीय परम्परा की चर्चा करते हुए पाश्चात्यों की उक्त पूर्वाग्रहपूर्ण प्रवृत्ति पर बड़ी गम्भीर टिप्पणी की है : “वेदों, रामायण, महाभारत, पुराणों तथा बाद के लेखकों और कृतियों के बारे में जो निःसन्दिग्ध परम्परा-प्राप्त तिथिक्रम मान्य होना चाहिए था, उसे एकबारगी अविश्वसनीय और निराधार धोषित कर पाश्चात्यों ने हमारे लिए जो समस्या उत्पन्न कर दी है, उसका समाधान हमें नये सिरे से ढूँढ़ना है (पृ. ११)।”^१

१. कालिदास के काल-निर्णय के सन्दर्भ में विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य : ‘मेघदूत : एक अनुचिन्तन’ : डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, मुखबन्ध, पृ. ११

डॉ. अग्रवाल ने जिस प्रकार कालिदास को गुप्तकालीन माना है, उसी प्रकार उन्होंने 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के रचयिता बुधस्वामी को भी गुप्तकालीन स्वीकारते हुए कहा है कि "बुध-स्वामी ने गुप्तकालीन स्वर्णयुग की संस्कृति के साँचे में 'बृहत्कथा' को ढालने का प्रयत्न किया है।"^१ किन्तु, यह सिद्ध है कि केवल गुप्तयुग ही स्वर्णयुग नहीं था, अपितु जैसा पहले कहा गया, ईसवी-पूर्व प्रथम शती के विक्रम के युग से गुप्तयुग का सम्पूर्ण काल ही स्वर्णकाल था। इसी स्वर्णिम युग की दूसरी-तीसरी शती में 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की रचना हुई, जिसमें भारतीय संस्कृति की कला-चेतना और अध्यात्मभावना के वरेण्यतम विकास को मूर्त रूप दिया गया, जो साहित्यिक आलोचना-जगत में सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। क्योंकि, इस महत्कृति में मानव-ज्ञान की परिधि का अनन्त विस्तार है, जो सौन्दर्य-चेतना के विस्तार का अवच्छेदक तत्व है, साथ ही इसकी काव्यात्मक कथावस्तु का काव्येतर कलाओं के साथ सघन सम्बन्ध है।

'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के अध्ययन में कई पाश्चात्य मनीषियों के नाम अनुकीर्तित होते रहते हैं। भारतीय विद्वानों में डॉ. अग्रवाल के अतिरिक्त डॉ. जगदीशचन्द्र जैन का नाम उल्लेख्य है। डॉ. जैन ने 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की रचनावधि पर स्वतन्त्रतया प्रकाश नहीं डाला है, किन्तु 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' और 'वसुदेवहिण्डी' के तुलनात्मक अध्ययन में प्रयुक्त उनकी मनीषा प्रीतिकर है। डॉ. जैन, प्रो. लाकोत द्वारा निर्धारित बुधस्वामी के काल (नवम शती) के परिप्रेक्ष्य में ही यह निष्कर्ष-वाक्य कहते हैं कि 'वसुदेवहिण्डी' 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के पहले की रचना सिद्ध होती है।^२ किन्तु, यह संगत नहीं है। क्योंकि, आचार्य नलिनजी के शब्दों में, पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय साहित्येतिहास के तिथिक्रम को जाने-अनजाने अनिश्चित तथा सन्दिग्ध बनाने में योग दिया है।^३

'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' 'वसुदेवहिण्डी' से पूर्व की रचना है, यह सुविचारित तथ्य है। डॉ. जैन की, 'वसुदेवहिण्डी' से 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की परवर्तिता-विषयक मान्यता में इसलिए अधिक बल नहीं है कि वह प्रो. लाकोत की धारणा की पुनरावृत्ति-मात्र है। यों, डॉ. जैन संशोधनवादी प्रवृत्ति के उदार विचारक हैं—बहुत हद तक समन्वयवादी भी। इसलिए, वह समय-समय, शोध-विकास की दृष्टि से अपने विचारों में परिवर्तन भी करते हैं। 'वसुदेवहिण्डी' के काल-निर्धारण में उन्होंने वैसा ही किया है।

'प्राकृत-साहित्य का इतिहास'^४ में डॉ. जैन लिखते हैं, "जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण ने 'विशेषण-वती' में इस ग्रन्थ ('वसुदेवहिण्डी') का उल्लेख किया है, इसी से संघदासगणी का समय ईसवी-सन् की लगभग पाँचवीं शती माना जाता है।" फिर, सत्रह वर्ष के बाद, सन् १९७८ ई. में डॉ. जैन अपने विचारों में संशोधन करते हुए अनुमान लगाते हैं: "इस ग्रन्थ ('वसुदेवहिण्डी') में जैन रामायण का प्राचीनतम रूप उपलब्ध है और जैन महाराष्ट्री का प्राचीनतम स्वरूप विद्यमान है, अतएव यह रचना ईसवी-सन् की दूसरी-तीसरी शती के आसपास लिखी हुई होनी चाहिए।"^५

१. द्रष्टव्य: 'कथासरित्सागर' (प्रथम खण्ड) की भूमिका (प्र. पूर्ववत्), पृ. ७

२. 'परिषद्-पत्रिका', वर्ष १७, अंक ४, पृ. ४६

३. 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' (प्र. पूर्ववत्), पृ. ११

४. प्र. चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, संस्करण, १९६१ ई., पृ. ३८१

५. 'परिषद्-पत्रिका', वर्ष १७, अंक ४, पृ. ४१

‘वसुदेवहिण्डी’ की पूर्ववर्तिता के विषय में डॉ. जैन का यह तर्क भी अधिक पुष्ट नहीं है कि ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ में अनुपलब्ध कथावस्तु ‘वसुदेवहिण्डी’ में पाई जाती है।^१ क्योंकि, जिस कथाग्रन्थ की रचना पहले होती है, उसमें जिन त्रुटियों या कमियों को, उसी परम्परा का परवर्ती कथाकार लक्ष्य करता है, उन्हें अपनी कथाकृति में परिमार्जित या परिपूरित करता है। बृहत्कथा-परम्परा के कथाकार आचार्य संघदासगणी ने वही किया है। उन्होंने ‘बृहत्कथा’ की नेपाली वाचना ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ की अपूर्णता को अपनी ‘वसुदेवहिण्डी’ में पूर्णत्व प्रदान किया और उसका ततोऽधिक पल्लवन-परिस्स्करण कश्मीरी वाचना—‘कथासरित्सागर’ और ‘बृहत्कथासंज्ञरी’ में हुआ। कहना न होगा कि ‘बृहत्कथा’ का अपने समय में आसेतुहिमाचल या कश्मीर से कन्याकुमारी तक प्रचार था।

डॉ. अग्रवाल और डॉ. जैन की यह धारणा सही है कि बुधस्वामी और संघदासगणी के सम्मुख कवि गुणाद्वय की ‘बृहत्कथा’ का मूलरूप विद्यमान था। बहुशः कथासाम्य के आधार पर यह धारणा बनती है कि रचनाकाल की दृष्टि से बुधस्वामी और संघदासगणी में विशेष दूरी नहीं है, अपितु बुधस्वामी संघदासगणी के प्रवृद्ध-समकालीन थे और उनका ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ महाकवि गुणाद्वय (ई.पू. प्रथम शती) की, पैशाचीनिबद्ध, महाभारतोत्तर भारतीय वाङ्मय के आदिकथाग्रन्थ ‘बृहत्कथा’ की उत्तरकालीन वाचनाओं में प्रथम स्थान रखता है और ‘वसुदेवहिण्डी’ द्वितीय स्थान; क्योंकि सुधर्मा-जम्बूस्वामी के संवाद-रूप जैनसूत्रों (संकलन-काल : तृतीय-चतुर्थ शती)^२ की संरचना-शैली पर लिखित होने के कारण ‘वसुदेवहिण्डी’ का रचनाकाल भी तृतीय या चतुर्थ शती के आसपास ही सम्भव है। इस प्रकार, अनुमानतः ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ का रचनाकाल द्वितीय-तृतीय शतक और ‘वसुदेवहिण्डी’ का तृतीय-चतुर्थ शतक प्रतीत होता है। बहुत सम्भव है कि संघदासगणी ने सुधर्मा-जम्बूस्वामी के संवाद-रूप में प्रस्तुत आगमिक या आगमप्रमाण वसुदेव-कथा का, प्रथमानुयोग के अनुरूप, पुनर्संस्करण किया हो।

डॉ. अग्रवाल भी ‘वसुदेवहिण्डी’ को ‘बृहत्कथा’ की परम्परा में द्वितीय स्थान देते हैं। उनका मन्तव्य है कि बुधस्वामी के बाद ‘बृहत्कथा’ की संस्कृत-वाचना की प्राप्ति न होकर, संघदासगणी-कृत ‘वसुदेवहिण्डी’ ही प्राकृत-वाचना के रूप में उपलब्ध हुई है। निश्चय ही, पैशाची ‘बृहत्कथा’ का प्राकृत में नव्योद्भावन, भाषिक दृष्टि से एकशाखीय होने के कारण, अपेक्षित था; जिसे संघदासगणी ने जैनाग्नाय के परिवेश में उपस्थित कर कथा-जगत् में ऐतिहासिक महत्त्व का काम किया। यह कार्य दोनों कथाकारों ने लगभग एक ही समय सम्पन्न किया। इसीलिए, डॉ. अग्रवाल को कहना पड़ा है कि “बुधस्वामी के प्रायः साथ ही या सम्भवतः सौ वर्ष के भीतर ‘बृहत्कथा’ का एक प्राकृत-संस्करण, जैन परम्परा में संघदासगणी ने ‘वसुदेवहिण्डी’ के नाम से तैयार किया।”^३ इसीलिए, ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ तथा ‘वसुदेवहिण्डी’ में कथा की दृष्टि से अद्भुत समानता है। यदि ‘वसुदेवहिण्डी’ के जैन परिवेश को हटा दिया जाय, तो दोनों की कथाएँ आपस में बिम्ब-प्रतिबिम्ब की तरह प्रतीत होंगी।

१. ‘परिषद्-पत्रिका’, वर्ष १७, अंक ४, पृ. ४६

२. द्रष्टव्य : ‘स्थानांग’ की भूमिका, श्रीजैनविश्वभारती (लाडनूँ)-संस्करण, भूमिका-भाग, पृ. १७

३. ‘कथासरित्सागर’ के प्रथम खण्ड की भूमिका (प्र. पूर्ववत्), पृ. ७

‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ के आरम्भ में उज्जयिनी की प्रशंसा और वहाँ के शासक महासेन प्रद्योत की मृत्यु का उल्लेख है। उसके बाद उसका पुत्र गोपाल राज्याभिषिक्त हुआ। किन्तु पितृहन्ता होने के अपयश से उसने राज्य का परित्याग कर दिया और उसका भाई पालक राजा हुआ। उसने भी राज्य त्याग दिया और उसका भतीजा गोपाल का पुत्र अवन्तिवर्द्धन सिंहासन पर बैठा। चौथे सर्ग से पूरे ग्रन्थ में उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त की प्रेमकथा का विस्तार हुआ है। बुधस्वामी भी अद्भुत प्रतिभाशाली कथाकार थे और डॉ. अग्रवाल के उपर्युक्त वैचारिक परिप्रेक्ष्य में यह अनुमान करने का अवसर मिलता है कि उन्होंने (बुधस्वामी ने) लगभग ख्रिष्टाब्द की प्रथम-द्वितीय शती में, भारत के स्वर्णयुग की उत्कृष्टतर संस्कृति का साक्ष्य प्रस्तुत करनेवाली प्रवाहमयी संस्कृत-शैली में नरवाहनदत्त की विमोहक कथा का विन्यास किया।

फिर भी, काल-निर्धारण के आधार पर, ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ और ‘वसुदेवहिण्डी’ की पूर्वापरवर्तिता-विषयक किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए शोधमनीषियों के ऊहापोह का सातत्य अपेक्षित ही रहेगा।^१

विद्वानों द्वारा ‘बृहत्कथा’ की नेपाली वाचना के रूप में स्वीकृत ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ का मूल संस्करण सर्वप्रथम फ्रेंचमनीषी प्रो. लाकोत ने देवनागरी-लिपि में फ्रेंच-अनुवाद के साथ सन् १९०८ ई. में पेरिस से प्रकाशित कराया था। उसके बाद सन् १९६४ ई. में, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने, प्रो. लाकोत के संस्करण की दुर्लभता देखकर इस महत्कृति का एक नया संस्करण तैयार किया, जो उनकी मृत्यु के बाद, सन् १९७४ ई. में, सांस्कृतिक अध्ययन-विषयक परिशिष्ट के साथ, डॉ. पी. के. अग्रवाल द्वारा सम्पादित होकर, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। इन दोनों संस्करणों के अतिरिक्त, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की त्रैमासिक शोध-पत्रिका (‘परिषद्-पत्रिका’) में इस महान् कथाग्रन्थ का डॉ. रामप्रकाश पोद्दार-कृत हिन्दी-अनुवाद डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव द्वारा सम्पादित होकर धारावाहिक रूप से (वर्ष १६ : अंक ३ से वर्ष १८ : अंक ४ तक) प्रकाशित हुआ है।^२ डॉ. जगदीशचन्द्र जैन की सूचना के अनुसार^३, बुधस्वामी की इस रचना की अपूर्ण पाण्डुलिपि नेपाल से प्राप्त हुई, जो प्रोफेसर लाकोत तथा रैन्यू द्वारा सम्पादित एवं फ्रेंच-भाषा में अनूदित होकर पेरिस से सन् १९०८-२९ ई. में प्रकाशित हुई। लाकोत ने ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ और ‘कथासरित्सागर’ का तुलनात्मक अध्ययन फ्रेंच-भाषा के माध्यम से किया और इस विषय पर प्रस्तुत उनके फ्रेंच-निबन्ध रेक्वेरेण्ड ट बार्ड द्वारा अँगरेजी में अनूदित होकर बँगलोर की ‘क्वार्टर्ली जर्नल ऑव द मिथिक रिसर्च सोसायटी’ से प्रकाशित हुआ।

उपरिप्रस्तुत सन्दर्भ से यह स्पष्ट है, बुधस्वामी का ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ गुणाढ्य की ‘बृहत्कथा’ पर आधृत^४ उसकी उत्तरकालीन वाचनाओं में प्रथमस्थानीय है। भारतीय कथाशैली

१. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने चौखम्भा ओरियण्टलिया, वाराणसी से सन् १९७८ ई. में प्रकाशित ‘नारी के विविध रूप’ नामक पुस्तक (कथा-संग्रह) की भूमिका (पृ. ९-१० पा. टि.) में बुधस्वामी का काल पंचम शतक और संघदासगणी का काल तृतीय शतक निर्धारित किया है। इस प्रकार, डॉ. जैन के मत से ‘वसुदेवहिण्डी’, ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ से पूर्ववर्ती सिद्ध होती है।

२. ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ का डॉ. रामप्रकाश पोद्दार-कृत मूल-सह-अँगरेजी-अनुवाद; तारा बुक एजेंसी, वाराणसी से उपलब्ध है।

३. ‘परिषद्-पत्रिका’, वर्ष १७, अंक ४, पृ. ४४

४. ताभ्यामुक्तमशक्यं तदुणाढ्येनापि शंसितुम्। — बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, १४. ६०

की विकास-परम्परा तथा संस्कृति और सभ्यता के उन्नत-उदात्त अवस्था की आपातमनोहर रुचिरता का संवहन करनेवाली नरवाहनदत्त की आत्मकथा से कमनीय इस सदग्रन्थ का सांगोपांग अध्ययन अभी तक अपेक्षित ही रह गया है। यह प्राचीन कथा अब भी भारतीय मनीषा की प्रतीक्षा कर रही है। प्रो. लाकोत निश्चय ही अतिशय श्लाघ्य प्रज्ञापुरुष हैं, जिनके प्रति हम इसलिए सदा कृतज्ञ रहेंगे कि उन्होंने 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' जैसे महत्त्वपूर्ण भारतीय साहित्यिक अवशेष को न केवल नष्ट होने से बचाया, अपितु उसका अध्ययन, मूल्यांकन और मुद्रण-प्रकाशन किया।

'बृहत्कथा' के बुधस्वामी-कृत संस्कृत-नव्योद्भावन के बाद क्षेमेन्द्र-कृत 'बृहत्कथामंजरी' का पांतेय स्थान है। क्षेमेन्द्र कश्मीर के राजा अनन्त (सन् १०२९—१०६४ ई.) के सभासद थे। इस प्रतिभाशाली कवि का दूसरा नाम व्यासदास था। किसी बड़े काव्य को संक्षिप्त करके उसे मौलिक रूप देने में इन्होंने श्लाघ्य कुशलता आयत्त की थी। इनके द्वारा किया गया रामायण और महाभारत का संक्षेप 'रामायणमंजरी' और 'भारतमंजरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इनका 'बोधिसत्त्वावदानकल्पलता' ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। एतदतिरिक्त, 'कलाविलास', 'देशोपदेश', 'नर्ममाला' और 'समयमातृका' ग्रन्थों में क्षेमेन्द्र की सारस्वत प्रतिभा का अतिशय उत्कृष्ट रूप उपलब्ध होता है।

'बृहत्कथा' पर आधृत^१ क्षेमेन्द्र की पार्यन्तिक कथाकृति 'बृहत्कथामंजरी' १८ लम्बकों में निबद्ध है। इसमें, विचित्रता, अलौकिकता तथा विस्मयकारी रसपेशलता के लिए देश-देशान्तर में ख्यात 'बृहत्कथा' का नव्योद्भावन संक्षिप्त और निरलंकार होते हुए भी प्रभावक और सरस है। फिर भी, कथा की अधिक संक्षिप्तता तथा अस्पष्टता के कारण क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' उतनी लोकप्रिय नहीं हुई, जितनी वह आलोचना का कारण बनी। प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित कीथ ने क्षेमेन्द्र की आलोचना करते हुए कहा भी है कि कहीं अत्यधिक संक्षेप और कहीं अस्पष्टता के कारण 'बृहत्कथामंजरी' की कथाओं का सारा आकर्षण और रोचकता नष्ट हो जाती है।^२ घटनाओं के विनियोग को अधिक महत्त्व न देने के कारण ही क्षेमेन्द्र कथादक्ष होते हुए भी कलादक्ष नहीं सिद्ध हो सके और इसीलिए उनकी 'बृहत्कथामंजरी' में 'कथासरित्सागर' की भाँति रुचिकरता नहीं आ पाई।

सोमदेव (सन् १०६३—१०८१ ई.)-कृत 'कथासरित्सागर' 'बृहत्कथा' का अन्तिम संस्कृत-नव्योद्भावन है। क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' की भाँति यह भी कश्मीरी वाचना है। कुछ विपर्यास के साथ यह कथाग्रन्थ भी १८ लम्बकों में विभक्त है। क्षेमेन्द्र की तरह सोमदेवभट्ट भी कश्मीर के राजा अनन्त के सभापण्डित थे। इन्होंने अनन्त की रानी सूर्यमती के मनोविनोद के लिए 'कथासरित्सागर' की रचना की। एक सौ चौबीस तरंगों में विभक्त २१,३८८ श्लोकप्रमाण यह ग्रन्थ वर्तमान रूप में अनेक छोटी-बड़ी कहानियों का संग्रह है। प्रधान कथा के साथ अनेक अवान्तर कथाओं के गुम्फन के कारण सोमदेव ने यथार्थ ही इसे कथा की सरिताओं का सागर

१. इत्येतां विपुलाक्षर्यां स राजा सातवाहनः।

गुणाब्जाच्छिष्यसहितः सभासाद्य बृहत्कथाम् ॥...

क्षेमेन्द्रनामा तनयस्तस्य विद्वत्सु विश्रुतः।...

कथामेतामनुध्यायन्दिनेषु विपुलेक्षणः ।

विदधे विबुधानन्दसुधास्यन्दतरङ्गिणीम् ॥—उपसंहार, श्लोक २७, ३६, ४०

२. विशेष विवरण के लिए द्र. कीथ : 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' (हिन्दी-अनु. श्रीमंगलदेव शास्त्री), पृ. ३३५

कहा है। यह 'बृहत्कथा' का ही नव्योद्भावन है, इसकी सूचना कथाकार ने कथापीठ-लम्बक के प्रथम तरंग के तीसरे श्लोक में दी है : 'बृहत्कथायाः सारस्य सङ्ग्रहं रचयाम्यहम् ।'

'बृहत्कथा' के सार का संग्रह करके 'कथासरित्सागर' रचने की दूसरी सूचना कथाकार ने अन्तिम प्रशस्ति में इस प्रकार विशदतापूर्वक उपस्थित की है :

नानाकथामृतमयस्य बृहत्कथायाः सारस्य सज्जनमनोबुधिपूर्णचन्द्रः ।

सोमेन विप्रवर-भूरिगुणाभिराम-रामात्मजेन विहितः खलु सङ्ग्रहोऽयम् ॥

'कथासरित्सागर' में सर्ग के लिए प्रयुक्त 'लम्बक' शब्द अपने मूल स्रोत की ओर संकेत करता है। 'लम्बक' अपने मूल संस्कृत-रूप में 'लम्भक' था। विवाह द्वारा स्त्री की प्राप्ति 'लम्भ' के रूप में प्रचलित थी और इसी के अनुसार अलंकारवतीलम्बक, शशांकवतीलम्बक, मदनमंजुका-लम्बक, पद्मावतीलम्बक आदि अलग-अलग कथाओं के नाम रखे गये होंगे। इसीलिए, हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' की टीका में बृहत्कथा को लम्भों में विभक्त कहा है। वादीभसिंह (नवीं शती)-कृत 'गद्यचिन्तामणि' में नायक द्वारा पत्नी की प्राप्ति का वर्णन करनेवाले कथाखण्डों को 'लम्भ' की आख्या दी गई है। 'वसुदेवहिण्डी' में भी पत्नीप्राप्तिपरक प्रत्येक कथा-विभाग को 'लम्भ' नाम दिया गया है, किन्तु 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में ग्रन्थ का विभाग सर्गों में हुआ है। यह एक सर्गबद्ध रचना है, पर इसमें भी प्रत्येक कथा के अन्त में 'लाभ' शब्द प्रयुक्त है। जैसे : वेगवती-लाभ, गन्धर्वदत्ता-लाभ, मदनमंजुका-लाभ आदि।

सोमदेव-कृत 'बृहत्कथा' के कश्मीरी संस्कृत-नव्योद्भावन 'कथासरित्सागर' में कथा-विभाग के लिए प्रयुक्त लम्बक (= लम्भक) शब्द का पत्नीप्राप्ति-परक कथा-विभाग के रूप में अर्थविस्तार बुधस्वामी के समय तक नहीं हुआ था। इसीलिए, उन्होंने 'बृहत्कथा' के अपने नैपाली नव्योद्भावन 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' को सामान्य काव्यों के समान सर्गों में विभक्त किया है। उसके उपलब्ध अंश में २८ सर्ग हैं। जैन या प्राकृत-नव्योद्भावन 'वसुदेवहिण्डी' में 'लम्भ' का प्रयोग, अपने मूल अर्थ में, अर्थात् मुख्य नायक के विजय के वर्णनपरक मुख्य कथाभाग के प्रकरणों के नामकरण के लिए, हुआ है।

कश्मीरी लेखक सोमदेव और क्षेमेन्द्र ने कथापीठ को पहला लम्बक कहा है और गुणाढ्य-विषयक कथावस्तु उसका प्रतिपाद्य है। किन्तु, नैपाली-रूपान्तर, अर्थात् बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में मूल कथापीठ के अंश मिल-जुल गये हैं। कश्मीरी वाचनाओं में उदयन, वासवदत्ता और पद्मावती की सम्पूर्ण कथाएँ हैं। परन्तु, नैपाली वाचना में उसे संक्षिप्त कर दिया गया है। इसीलिए प्रो. लाकोत को यह आशंका है कि बुधस्वामी के ग्रन्थ का आरम्भिक भाग कदाचित् खण्डित है। फिर भी, उन्होंने ने यह माना है कि कश्मीरी नव्योद्भावनों की तुलना में नैपाली नव्योद्भावन मूल बृहत्कथा का यथार्थ चित्र उपन्यस्त करता है।

'कथासरित्सागर' के आरम्भ में सोमदेव ने उसके स्वरूप और वर्ण्य विषयों का समीचीन परिचय उपस्थित किया है और अट्टारहों लम्बकों की नामतः गणना करते हुए आरम्भिक प्रतिज्ञा में कहा है कि मैं 'बृहत्कथा' के सार का संग्रह कर रहा हूँ। मेरे सामने जैसा मूल था, वैसा ही मैंने यह ग्रन्थ रचा है। थोड़ा भी हेरफेर नहीं किया है। हाँ, केवल औचित्य और एक-दूसरी कथा के साथ अन्वयन का ध्यान यथाशक्ति रखा गया है। इसमें काव्य का अंश मैंने उतना ही जोड़ा

है, जितने से कथा के रस का विधात न हो। पाण्डित्य के यश के लोभ से मेरा यह प्रयत्न नहीं है। मेरा उद्देश्य केवल यह है कि अनेक कथाओं का समूह सरलता से स्मृति में रखा जा सके।^१

पाश्चात्य मनीषियों ने 'कथासरित्सागर' का बड़े मनोयोग से तलस्पर्श अध्ययन किया है, जिनमें सी. एच. टॉनी, पैंगर और विशेषकर कीथ के नाम तो धुरिकीर्तनीय हैं। सी. एच. टॉनी-कृत अँगरेजी-अनुवाद की भूमिका लिखते हुए पैंगर ने 'कथासरित्सागर' की भूरिशः प्रशंसा की है और कथाकार सोमदेव की विलक्षण प्रतिभा पर विस्मयाभिभूत होकर कहा है कि ईसवी-सन् से सैकड़ों वर्ष पहले की जीव-जन्तु-कथाएँ इसमें हैं। द्युलोक और पृथ्वी की रचना-सम्बन्धी ऋग्वेदकालीन कथाएँ भी यहाँ हैं। उसी प्रकार रक्तपान करनेवाले वेतालों की कहानियाँ, सुन्दर काव्यमयी प्रेम-कहानियाँ और देवता, मनुष्य एवं असुरों के लोमहर्षक युद्धों की कहानियाँ भी इस कथा-कृति में हैं। भारतवर्ष कथा-साहित्य की सच्ची भूमि है, जो इस विषय में ईरान और अरब से बढ़-चढ़कर है।

पैंगर कथाकुशल कालिदास के बाद 'कथासरित्सागर' के कर्ता सोमदेव को ही द्वितीय स्थान देते हैं। क्योंकि, सोमदेव में कालिदास की ही भाँति स्पष्ट, रोचक और हृदयाकर्षक एवं विषयों की व्यापकता और विभिन्नता से वलयित कहानी कहने की अद्भुत शक्ति थी। इनकी कथा में मानवी प्रकृति का परिचय, भाषा-शैली की सरलता, वर्णन में सौन्दर्य-चेतना और भावशक्ति तथा उक्तिचातुरी के गुण प्रचुरता के साथ भरे हुए हैं। प्रवाह-सातत्य 'कथासरित्सागर' की अपनी विशेषता है, यही कारण है कि उसकी कहानियाँ, एक के बाद दूसरी, अपनी अभिनवता के साथ, आश्चर्यजनक वेग से उभरती हुई सामने आती चली जाती हैं। पैंगर, 'कथासरित्सागर' के बारे में प्रशंसामुखर शब्दों में सोल्लास कहते हैं कि यह कथाग्रन्थ अलिफ लैला की कहानियों से प्राचीनतर है और अलिफ लैला की अनेक कहानियों के मूल रूप इसमें हैं, जिनके द्वारा उपजीवित और परिवृंहित न केवल ईरानी और तुर्की लेखकों की, बल्कि बोकैशियो, चौसर, लॉ फॉर्नेन एवं अन्य अनेक पाश्चात्य कथालेखकों की कल्पनाएँ पश्चिमी संसार को प्रचुरता से प्राप्त हुई हैं। सामाजिक और राजनीतिक जीवन की अनेक रोचक-रोमांचक कहानियों से भरपूर 'कथासरित्सागर' भारतीय कल्पना-जगत् का विराट् दर्पण है, जिसे कथामनीषी सोमदेव भावी पीढ़ियों के लिए अक्षय सारस्वत धरोहर के रूप में छोड़ गये हैं।

कीथ ने आलोचनाप्रखर मुखरता के साथ 'कथासरित्सागर' के वर्तमान संरचना-शिल्प और लम्बकों के क्रम की स्थापना की तात्त्विक विवेचना करते हुए कहा है कि प्रयास-बाहुल्य के बावजूद सोमदेव एक सुसंघटित ग्रन्थ की सफल रचना नहीं कर सके, किन्तु 'कथासरित्सागर' के उत्कर्ष का आधार उसकी वस्तु-संघटना नहीं, अपितु वह ठोस और रुचिकर कथावस्तु है, जिसे अथीती कथाकार ने सरल-सहज ढंग से मनोविनोदक और आकर्षक कलावरेण्यता के आवेष्टन में उपन्यस्त किया है।^२

श्रीसुशीलकुमार दे-कृत 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' की पृष्ठ-संख्या ४२१ की पाद-टिप्पणी का हवाला देते हुए डॉ. वसुदेवशरण अग्रवाल ने, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से पं. केदारनाथ

१. 'कथासरित्सागर', १.१०—१२

२. विशेष द्र. कीथ : 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' (हिन्दी-अनुवाद : श्रीमंगलदेवशास्त्री), पृ. ३३४-३३५

शर्मा सारस्वत-कृत हिन्दी-अनुवाद के साथ प्रकाशित 'कथासरित्सागर' के प्रथम खण्ड की भूमिका में, कहा है कि क्षेमेन्द्र के विपरीत सोमदेव 'पंचतन्त्र' के लेखक की तरह कथा कहने की प्रतिभा के महाकोष थे। वह पाठक के मन को आयासित किये बिना सावधानी से अभीष्ट अर्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता से सम्पन्न थे। उनकी कथाओं का रुचिकर रूप कभी नहीं छीजता। 'कथासरित्सागर' में कहानियों का एक बढ़िया गुच्छा 'वेतालपंचविंशति' नामक पच्चीस (शशांक-वतीलम्बक, तरंग ८, अ. ७५—९९) कहानियों का है। क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' में भी ये कहानियाँ हैं। सोमदेव की अपेक्षा क्षेमेन्द्र का वर्णन संक्षिप्त और अलंकार-रहित है।

यह प्रश्न सम्भावित है कि विक्रम और वेताल की ये कहानियाँ, यानी 'बैतालपचीसी' की कहानियाँ मूल बृहत्कथा में थीं या नहीं। इस विषय में हर्टेल और एजर्टन का मत है कि मूल 'बृहत्कथा' में 'वेतालपंचविंशति' की कहानियाँ विद्यमान न थीं। नरवाहनदत्त के उपाख्यान से स्पष्टतः उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध भी नहीं जान पड़ता। कीथ के अनुसार, 'वेतालपंचविंशति' के उपाख्यानों पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। अस्तु:

मानव-स्वभाव के यथार्थ अंकन में सोमदेव साक्षात् व्यासदेव हैं। सोमदेव की अनेक कहानियाँ, अपनी तीव्र भावानुभूति की वेधकता के कारण, मन पर एक बार मुद्रित हो जाने के बाद अभिष्ट हो जाती हैं। ग्यारहवीं शती में, जब कि समासबहुल शैली में लिखने की धूम थी, व्यासशैली में लिखित सोमदेव का 'कथासरित्सागर' अनन्य और अनुपम है, साथ ही शिल्प की दृष्टि से एक नई दिशा का निर्धारक भी है।

डॉ. अग्रवाल ने सोमदेव के 'कथासरित्सागर' की संरचना-शैली को 'तरंगित शैली' की आख्या दी है और कथाओं की सरसता और सघनता को दृष्टि में रखकर, सटीक लौकिक उदाहरण का परिवेश प्रस्तुत करते हुए कहा है कि सोमदेव की छोटी कहानियाँ बड़ी कहानियों के सम्पुट में, कटहल में कोयों की तरह भरी हुई हैं। निःसन्देह, साहित्य की अनेक शैलियों और अभिप्रायों के समाहत अंकन में सोमदेव की निपुणता उनका सहज गुण थी। 'कथासरित्सागर' सचमुच कथाओं का महार्णव है। यह, 'बृहत्कथा' की पूर्व-परम्परा के स्थापत्य का ऐसा विकसित कथा-विन्यास है, जो अन्तिम है और आज तक अननुकृत भी। इसी में सोमदेव के शिल्प-सन्धान का वैशिष्ट्य और उनके कथाशिल्पी की सार्थकता निहित है। इसीलिए, 'बृहत्कथा' के उपरि-विवेचित तीनों संस्कृत-नव्योद्भावनों में सोमदेव के 'कथासरित्सागर' को ही सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई, जो किसी भी कथाकार के लिए उसकी चूडान्त सफलता का उद्घोषक निष्कर्ष है।

'वसुदेवहिण्डी' का महत्त्व :

'वसुदेवहिण्डी', 'बृहत्कथा' के उक्त नैपाली नव्योद्भावन 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' का परवर्ती (या कनीय समकालीन) तथा कश्मीरी नव्योद्भावनों—'बृहत्कथामंजरी' और 'कथासरित्सागर' के पूर्ववर्ती, जैनान्नाय पर आधृत प्राकृत-नव्योद्भावन है। प्राञ्जल गद्य की भूमि पर, परिवर्तित कथानायक और नव्यता के साथ उपन्यस्त कथा की दृष्टि से यह कथाकृति 'मौलिक' या फिर 'नव्योद्भावन' शब्द को सर्वथा सार्थक करती है। इसके युगचेतना-सम्पन्न कथालेखक ने सच्चे अर्थ में 'बृहत्कथा' की अविच्छिन्न परम्परा को नई दिशा देकर, उसे सातिशय ऊर्जस्वल और प्राणवाहिनी धारा से संवर्धित कर ततोऽधिक गतिशील बनाया है। संघदासगणी परम्परा के अन्धानुगामी नहीं, अपितु

परम्परा और अपरम्परा के समन्वयकारी कलासाधक हैं। वह सच्चे अर्थों में अनेकान्तवादी विचारक हैं। इसीलिए, उन्होंने जैनाम्नाय के प्रति न तो कभी दुराग्रहवादी प्रचारात्मक दृष्टिकोण अपनाया है, न ही जैनेतर आम्नायों की विकृतियों और विशेषताओं के उद्भावन में पक्षपात का प्रदर्शन किया है। कथा की प्रथम-कला में, एक कथाकार के लिए जो निर्वैयक्तिकता या माध्यस्थ्य अपेक्षित है, संघदासगणी में वह भरपूर है और वह सही मानी में कला की तन्मयता की मधुमती भूमिका में स्थित साधारणीकृत भावचेतना-लोक के कलाकार हैं। लोकसंग्रह की भावना और अगाध वैदुष्य दोनों की मणिप्रवाल-शैली के मनोहारी दर्शन इनकी युगविजयिनी कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में सदासुलभ हैं।

'बृहत्कथा' के प्राचीन रूपान्तर 'वसुदेवहिण्डी' के विषय में प्रसिद्ध जर्मन-विद्वान् ऑल्सडोर्फ^१ का यह अनुसन्धानात्मक दृष्टिकोण अतिशय ग्राह्य है कि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' निःसन्देह प्राचीन भारतीय साहित्य का एक रसमय और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस लुप्त ग्रन्थ के ठीक प्रकार का निर्धारण और पुनर्घटन का कार्य अत्यन्त रोचक है। सोमदेव-कृत 'कथासरित्सागर' और क्षेमेन्द्र-कृत 'बृहत्कथामंजरी' के रूप में इन कश्मीरी लेखकों की दो कृतियाँ जबतक विदित थीं, तबतक 'बृहत्कथा' के स्वरूप का अनुमान करना सरल था। किन्तु, जब उससे आश्चर्यजनक रीति से भिन्न 'बृहत्कथा' का नैपाली नव्योद्भावन बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के रूप में प्राप्त हुआ, तब यह समस्या कुछ कठिन हो गई। फ्रेंच विद्वान् लाकोत ने 'गुणाढ्य एवं बृहत्कथा' नामक, सन् १९०८ ई. में प्रकाशित अपनी पुस्तक में इस क्लिष्ट प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे: "अपने दो कश्मीरी नव्योद्भावनों ('कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी') में गुणाढ्य की मूल बृहत्कथा अत्यन्त विपर्यस्त एवं अव्यवस्थित रूप में उपलब्ध है। इन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर मूल ग्रन्थ का संक्षिप्त सारोद्धार कर दिया गया है और इनमें मूल के कई अंश छोड़ भी दिये गये हैं एवं कितने ही नवीन अंश प्रक्षेप रूप में जोड़ दिये गये हैं। इस तरह मूल ग्रन्थ की वस्तु और आयोजना में बेढंगे फेरफार हो गये हैं। फलस्वरूप, इन कश्मीरी कृतियों में कई प्रकार की असंगतियाँ आ गईं और जोड़े हुए अंशों के कारण मूल ग्रन्थ का स्वरूप पर्याप्त विकृत हो गया। इसके विपरीत, बुधस्वामी के ग्रन्थ में कथावस्तु की अनुकूल आयोजना के माध्यम से मूल प्राचीन 'बृहत्कथा' का यथार्थ चित्र प्राप्त होता है। किन्तु, खेद है कि यह चित्र पूरा नहीं है; क्योंकि बुधस्वामी के ग्रन्थ का केवल चतुर्थांश ही उपलब्ध है। इसलिए, केवल उसी अंश का कश्मीरी कृतियों के साथ तुलना सम्भव है।"

प्रो. लाकोत के उपर्युक्त मत से 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' नामक पार्यन्तिक कृति के प्रख्यात लेखक श्रीविण्टरनिस् सहमत हैं। उन्होंने अपनी उक्त पुस्तक के तृतीय भाग में, ऐतद्विषयक प्रसंग की सिद्धि के क्रम में बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढंग से अपना तर्क उपस्थित किया है। किन्तु, वह

१. श्रीभोगीलाल ज. साण्डेसरा ने 'वसुदेवहिण्डी' के स्विकृत गुजराती-भाषान्तर की भूमिका (पृ. ९-१३) में ऑल्सडोर्फ के 'एइन नेवे वर्सन डेर वलरेनेन बृहत्कथा डेस गुणाढ्य' ('ए न्यू वर्सन ऑव दि लॉस्ट बृहत्कथा ऑव गुणाढ्य') नामक निबन्ध का गुजराती-अनुवाद उपस्थित किया है (मूल जर्मन-निबन्ध का गुजराती अनुवाद श्रीरसिकलाल पारिख ने किया था) और उसका संक्षिप्त हिन्दी-रूपान्तर डॉ. वामुदेवशरण अग्रवाल ने 'कथासरित्सागर' (परिषद्-संस्करण) के प्रथम खण्ड की भूमिका में अपने विवेचन के क्रम में प्रस्तुत किया है। इस शोध-ग्रन्थ में तद्विषयक वैचारिक पल्लवन दोनों सामग्री (गुजराती-हिन्दी) के प्ररिप्रेक्ष्य में उपन्यस्त किया गया है। —ले.

‘बृहत्कथा’ के यथाप्राप्त रूपान्तरों के आधार पर मूल ग्रन्थ की पुनर्घटना के प्रयत्न को व्यर्थ मानते हैं। सन् १९०८ ई. में लाकोत ने जब अपना ग्रन्थ लिखा, तब उनके समक्ष ‘बृहत्कथा’ की कठिन समस्या को सुलझाने के लिए कोई उपयोगी सामग्री उपलब्ध नहीं थी। ऐसी स्थिति में अपर्याप्त सामग्री की सहायता से प्रतिपादित उनका मत सन्दिग्ध हो, तो आश्चर्य नहीं। इसीलिए लाकोत के मत का विवेचन करने के बाद विण्टरनिस्स को यह कहना पड़ा है कि बृहत्कथा-विषयक जबतक और अधिक सामग्री न मिले, तबतक लाकोत के निर्णय में बहुत अधिक संशोधन की गुंजाइश नहीं है। ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ की उपलब्धि की चर्चा के क्रम में डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने प्रो. लाकोत की प्रशंसा करते हुए लिखा है : “बृहत्कथा के इस नैपाली-रूपान्तर को प्रकाश में लाकर और कश्मीरी-रूपान्तरों के साथ उसका तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर लाकोत ने जो अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है, उसके लिए भारतीय संस्कृति के प्रेमी विद्वान् उनके ऋणी रहेंगे।”^१

श्रमण शोधकों को नैपाली और कश्मीरी नव्योद्भावनों से सर्वथा विलक्षण, ‘बृहत्कथा’ का एक विस्तृत प्राकृत-नव्योद्भावन ‘वसुदेवहिण्डी’ के रूप में उपलब्ध हुआ, जिसने आश्चर्यजनक ढंग से विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। इसके रचयिता संघदासगणिवाचक ने कथा के शिल्प और विषयवस्तु को अपनी कल्पना-शक्ति से अतिशय विमोहक रूप प्रदान किया। उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त के अद्भुत पराक्रम को कृष्ण के पिता वसुदेव पर आरोपित करके प्राचीन कथा की परम्परा को नई दिशा दे दी। वसुदेव के परिभ्रमण से सम्बद्ध यह उच्चतर कथाकृति ‘वसुदेवहिण्डी’ न केवल प्राचीन जैनकथाओं में, अपितु विश्व के प्राचीन कथा-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। गुणाढ्य से सोमदेव तक की भारतीय कथाओं के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज पर ‘वसुदेवहिण्डी’ का ज्योतिर्मय भाव-भास्वर उदय नितान्त विस्मयजनक है।

जैन साहित्येतिहास के अनुसार वर्गीकृत प्रथमानुयोग के संस्कृत-निबद्ध चरित्रग्रन्थों में उल्लेख्य हेमचन्द्र-कृत ‘त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित’ में ‘नेमिनाथचरित’ के अन्तर्गत वसुदेवचरित चित्रित हुआ है। उसमें भी जैन ‘बृहत्कथा’ की रूपरेखा परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की प्राचीन कथाओं से सम्बद्ध जैन कथाग्रन्थों में भी ‘बृहत्कथा’ का संक्षिप्त सार या नव्योद्भावन प्राप्त होता है। किन्तु, संघदासगणी-कृत ‘वसुदेवहिण्डी’ ने तो अपने विस्तार और विषय-वैविध्य के कारण जैन बृहत्कथा की परम्परा में क्रान्तिकारी या युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। ‘आवश्यकचूर्णि’ में इस ग्रन्थ के उल्लेख से इसकी कथा की विपुल व्यापकता का अनुमान सहज सम्भव है। ग्रन्थ की संस्कृत-तत्समप्रधान प्राचीन प्राकृत-भाषा से भी इसके रचनाकाल की प्राचीनता की सूचना मिलती है और इसकी कथा-रुचिरता की ख्याति ई. तृतीय शती से छठी शती तक समान भाव से अनुध्वनित होती रही। इसलिए, गुप्तकाल को ही संस्कृत-प्राकृत का स्वर्णयुग माननेवाले भारतीय और भारतीयेतर विद्वान् इस ग्रन्थ के रचनाकाल की अन्तिम मर्यादा ६०० ई. के आसपास निर्धारित करते हैं।

यों, संरचना की दृष्टि से, अनेक विस्मयकारी और कौतूहलवर्द्धक, बहुत हद तक रोचक और ज्ञानोन्मेषक भी, अन्तःकथाओं से संवलिता किसी प्रबल पुरुषार्थी और प्रचण्ड पराक्रमी राजा या राजपुत्र की बड़ी कथा ही ‘बृहत्कथा’ नाम से संज्ञित हुई है। ‘वसुदेवहिण्डी’ की संरचना भी

‘बृहत्कथा’ की शैली में की गई है। भारतीय देशों में भी ‘सहस्ररजनीचरित’ (‘अरेबियन नाइट्स टेल’), ‘अलिफ लैला की कथा’, ‘हातिमताई का किस्सा’ आदि बृहत्कथाओं की परम्परा रहती आई है। आधुनिक हिन्दी में भी श्रीदेवकीनन्दन खत्री के ऐयारी या तिलिस्मवाले उपन्यास ‘चन्द्राकान्ता’ और ‘चन्द्राकान्ता-सन्तति’ बृहत्कथा का ही हिन्दी-नव्योद्भावन है। भले ही, इनके चरितनायक उदयन या नरवाहनदत्त के बदले कोई दूसरे ही क्यों न हों? ‘बृहत्कथा’ विराट् उपन्यास का ही नामान्तर है, जिसे गल्प की व्यापक श्रेणी में रखा जा सकता है।

ज्ञातव्य है कि तमिल-साहित्य के इतिहास में, ‘वसुदेवहिण्डी’ के तमिल-रूपान्तर ‘वसुदेवनार सिन्दम्’ (वसुदेव, ‘नार’ = का, ‘सिन्दम्’ = हिण्डन) का भी उल्लेख प्राप्त होता है।^१ और फिर, कन्नड़-साहित्य के इतिहास से यह ज्ञात होता है कि राजा दुर्विनीत (सन् ६०० ई.) ने गुणाढ्य की ‘बृहत्कथा’ का संस्कृत-रूपान्तर प्रस्तुत किया था, किन्तु दुर्भाग्यवश अब वह उपलब्ध नहीं होता।^२ इस संक्षिप्त सूचना से यह स्पष्ट है कि ‘बृहत्कथा’ का प्राकृत-रूपान्तर ‘वसुदेवहिण्डी’ की हृदयावर्जक और लोकप्रिय कथा की व्यापकता उत्तर और दक्षिण भारत में समान रूप से बनी हुई थी।

कहना न होगा कि प्राकृत-कथाग्रन्थ ‘वसुदेवहिण्डी’ में ‘बृहत्कथा’ की परम्परा का ही नव्योद्भावन हुआ है। निश्चय ही, ‘वसुदेवहिण्डी’ ‘बृहत्कथा’ नहीं है, किन्तु ‘बृहत्कथा’ की परम्परा में एक युग-परिवर्तक जैन नव्योद्भावन अवश्य है, जो ‘बृहत्कथा’ के प्राचीनतम रूपान्तर के साथ आधाराधेयभाव से जुड़ा हुआ है। इस ग्रन्थ में ‘बृहत्कथा’ की वस्तु को श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा के आधार पर गुम्फित किया गया है। प्रथम-कौशल से ही इस कथाकाव्य में नव्यता आ गई है। जैन वाङ्मय के सुपरिचित जर्मन अधीती श्रीयाकोबी के मतानुसार, जैनों में कृष्ण की कथा ईसवी-सन् से ३०० वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुकी थी। श्रीयाकोबी मानते हैं कि ई. सन् के प्रारम्भ तक जैनपुराण-कथा सम्पूर्णता की स्थिति में आ गई थी। जैनों ने जिस समय ‘बृहत्कथा’ को अपनी पुराण-कथा के कलेवर में सम्मिलित किया, उस समय वह एक सुप्रसिद्ध कवि की कृति होने के अतिरिक्त देवकथा की भव्यता से प्रभास्वर प्राचीनतर युग की रचना मानी जाने लगी थी, जिसकी महत्ता पुराणों एवं महाकाव्यों की कथा के समान हो गई थी। इसीलिए, ‘बृहत्कथा’ के जैन नव्योद्भावन से मूल ‘बृहत्कथा’ के रचनाकाल की शक्तियों प्राचीनता को लक्ष्य कर बूलर ने गुणाढ्य का समय ईसवी-सन् की पहली या दूसरी शती और लाकोत ने तीसरी शती में माना है। इस सन्दर्भ में, ऑल्सडोर्फ का यह मत कि गुणाढ्य को यदि बहुत प्राचीन समय में नहीं, तो उसे ईसवी-सन् की पहली या दूसरी शती के पूर्वार्द्ध में मानना चाहिए, अमान्य नहीं है।

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का यह कथन सर्वथा यथार्थ है कि गुणाढ्य की ‘बृहत्कथा’ अपने युग में व्यास-कृत ‘महाभारत’ के समान अपने देश के काव्य और कथा-साहित्य पर छाई हुई थी, जो आज, काल के विशाल अन्तराल में जाने कहाँ विलीन हो गई है! इसलिए, उसके उत्तरकालीन रूपान्तरों, वाचनाओं या नव्योद्भावनों से ही अनुमान की कुछ कड़ियाँ जोड़नी पड़ती हैं।

प्रो. लाकोत ने विलुप्त ‘बृहत्कथा’ की आयोजना का अनुमान सम्भवतः ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ के आधार पर इस प्रकार किया है : प्रास्ताविक भाग में उदयन और उसकी रानी वासवदत्ता एवं

१. ड. ‘हिस्ट्री ऑफ तमिल लिटरेचर’ : एस. वी. पिल्लई, मद्रास, सन् १९५६ ई.

२. ‘कन्नड़-साहित्य का इतिहास’ : आर. नरसी बांचा, बेल्लूर

पद्मावती की सुविदित कथा थी। वासवदत्ता का पुत्र नरवाहनदत्त जब युवा राजकुमार की अवस्था को प्राप्त हुआ, तब उसका गणिकापुत्री मदनमंचुका ('बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में 'मदनमंचुका') से प्रेम हो गया। उस राजकुमार ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह कर लिया। एक विद्याधर राजा मदनमंचुका को हर ले गया। मदनमंचुका को खोजते हुए नरवाहनदत्त ने विद्याधर-लोक और मनुष्य-लोक में नये-नये पराक्रम किये। दीर्घ पराक्रम के बाद मदनमंचुका से उसका मिलन हुआ। राजकुमार नरवाहनदत्त स्वयं विद्याधर-चक्रवर्ती बना और मदनमंचुका उसकी प्रधानमहिषी (पटरानी) बनी। नरवाहनदत्त अपने प्रत्येक पराक्रम के बाद अन्त में एक सुन्दरी से विवाह करता है। इस प्रकार के प्रत्येक पराक्रम की कथा के अन्त को गुणाढ्य ने 'लम्भ' की संज्ञा दी और इसी पद्धति पर नरवाहनदत्त की कथा वेगवती-लम्भ, अजिनवती-लम्भ, प्रियदर्शना-लम्भ इत्यादि प्रकरणों में विभक्त हुई।

जैन परम्परा के अनुसार, 'वसुदेवहिण्डी' में श्रीकृष्ण की प्राचीन कथा की आयोजना इस प्रकार हुई: रूपवान् एवं प्रचण्ड पराक्रमी वसुदेव ने, अपने बड़े भाई से रुष्ट होकर घर छोड़ दिया और वह देश-देशान्तर का परिभ्रमण (हिण्डन) करने लगे। इसी क्रम में, उन्होंने नरवाहनदत्त की भाँति विविध पराक्रम प्रदर्शित किये और अनेक पत्नियाँ प्राप्त कीं। अन्तिम पत्नी के रूप में उन्होंने देवकी को प्राप्त किया। इसके पूर्व रोहिणी पत्नी की प्राप्ति के क्रम में स्वयंवर में ही अकस्मात् वसुदेव का अपने बड़े भाई समुद्रविजय से मिलन हो गया और वह अपने कुटुम्ब के साथ मिलकर पूर्ववत् रहने लगे। मदनमंचुका का प्रसंग इस कथा में छोड़ दिया गया है; क्योंकि स्वभावतः कृष्ण की कथा के प्रसंग में उसकी संगति न थी। कथा की मूलभूत पात्री मदनमंचुका के प्रसंग को परिवर्तित कर उसके स्थान पर गणिकापुत्री सुहिरण्या और राजकन्या सोमश्री का प्रणय-प्रसंग श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब के साथ जोड़ दिया गया है। इस प्रकार, 'बृहत्कथा' के इस प्राकृत जैन रूपान्तर की प्राप्ति से मूल 'बृहत्कथा' की वस्तु और उसकी आयोजना की कई एक अप्रत्याशित घटनाओं तथा विलुप्त मूल ग्रन्थ के स्वरूप के विषय में कई महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्भावन होता है।

'वसुदेवहिण्डी' और 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में विलक्षण कथासाम्य :

बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के रूप में 'बृहत्कथा' का जो नेपाली नव्योद्भावन उपलब्ध हुआ है, उसके अनेक कथाप्रसंगों का 'वसुदेवहिण्डी' से साम्य है। निश्चय ही, कश्मीरी नव्योद्भावनों की अपेक्षा नेपाली नव्योद्भावन मूलकथा के यथार्थ चित्र को प्रतीकित करता है। उदाहरणार्थ, 'वसुदेवहिण्डी' की गणिकापुत्री सुहिरण्या की भाँति 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की मदनमंचुका भी एक वारांगना की पुत्री है, किन्तु, कश्मीरी नव्योद्भावनों में मदनमंचुका को एक बौद्धराजा की दौहित्री के रूप में दर्शाया गया है। 'कथासरित्सागर' तथा 'बृहत्कथामंजरी' में मदनमंचुका के नाना कलिंगदत्त को भगवान् बुद्ध का भक्त कहा गया है, जिसकी सारी प्रजा जैन (जिनभक्त) थी।^१ सोमदेव की दार्शनिक आर्हत भावना स्पष्ट ही 'कथासरित्सागर' पर 'वसुदेवहिण्डी' के प्रभाव

१. तस्यां कलिङ्गदत्ताख्यो राजा परमसौम्यतः ।

अभूत्सारावरस्फीतजिनभक्ताखिलप्रजाः ॥

तदहिंसाप्रधानेऽस्मिन्वत्स मोक्षप्रदायिनि ।

दर्शनेऽतिरतिबेन्ने तदधर्मो ममात्र कः ॥ —कथासरित्सागर, ६.१.१२ और २५

को संकेतित करती है। 'वसुदेवहिण्डी' के वसुदेव की पत्नी गन्धर्वदत्ता चम्पानगरी^१ के चारुदत्त सेठ की पुत्री है, परन्तु बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की मदनमंजुका वणिक्पति सानुदास की त्रैलोक्यसुन्दरी पुत्री है। कश्मीरी नव्योद्गावनों में दोनों के पिता गन्धर्वनरेश हैं। बुधस्वामी ने मदनमंजुका के पालक पिता सानुदास की आत्मकथा को समुद्री यात्रा में पराक्रम करने की रसपूर्ण कथा के रूप में उपन्यस्त किया है। इस अंश की तुलना आश्चर्य से अभिभूत करनेवाली अलिफ लैला की कहानियों के साथ की जा सकती है। किन्तु, कश्मीरी नव्योद्गावनों में यह पूरी कथा छोड़ दी गई है। 'वसुदेवहिण्डी' की कथावस्तु इस अंश में बुधस्वामी से मिलती है, कुछ अंश तो इससे भी अधिक रसघनिष्ठ हैं।

बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' और संघदासगणी की 'वसुदेवहिण्डी' में न केवल कथासाम्य है, अपितु शब्दों और वाक्यों के प्रयोग में भी विस्मयकारी समानता है। 'वसुदेवहिण्डी' में, विद्याधरों का मुख्य आवास 'वेयडू' (सं. वैताढ्य) पर्वत की उत्तर और दक्षिण श्रेणियों में प्रतिष्ठित दिखलाया गया है और 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में उसे ही 'वैतर्द्ध'-क्षेत्र के रूप में संज्ञित किया गया है। दोनों कथाकारों ने 'बृहत्कथा' से पैशाची भाषा के इस शब्द का अपने-अपने ढंग से प्राकृत और संस्कृत के भाषिक परिवेश में परिग्रहण किया है। 'वसुदेवहिण्डी' के चौथे नीलय-शालम्भ की ललितांग-कथा के स्वयम्बुद्ध की इस उक्ति—“न जुद्धे संपलगे कुंजर-तुरगदमर्ण कज्जसाहगं ।” (पृ. १६८ : पूरे ग्रन्थ में 'वसुदेवहिण्डी' के भावनगर-संस्करण के आधार पर पृष्ठ-संख्याएँ सन्दर्भित हैं) का शब्दभावसाम्य 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के निम्नांकित श्लोक में देखा जा सकता है :

तेनोक्तं युद्धवेलायां दम्यन्ते तुरगा इति ।

यदेतद् घुष्यते लोके तदेतत्तथ्यतां गतम् ॥ (१०.६७)

'वसुदेवहिण्डी' के गन्धर्वदत्तालम्भ की, चारुदत्त की आत्मकथा में शल्योपचार के लिए तीन प्रकार की ओषधियों की चर्चा है : विसल्लकरणी, संजीवणी और संरोहिणी। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में इसके पाँच रूप हैं :

विशल्यकरणी काचित्काचिन्मांसविवर्द्धनी ।

व्रणसंरोहणी काचित्काचिर्द्वर्णप्रसादनी ॥

मृतसंजीवनी चासां पञ्चमी परमौषधिः । (९.६४-६५)

'वसुदेवहिण्डी' के तीसरे 'गन्धर्वदत्तालम्भ' की 'चारुदत्त की आत्मकथा' का यथावत् बिम्ब 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के 'पुलिनदर्शन' नामक नवम सर्ग में प्रतिबिम्बित है। इसी सर्ग में तथा 'दोहद-सम्पादन' नामक पंचम सर्ग में अंकित 'पद्मभञ्जिका' या 'पत्रच्छेद' जैसी लोकसमादृत कला (कमलपत्रों पर नाखून से विविध प्रकार के चित्रों की अंकन-कला) 'वसुदेवहिण्डी' के 'धम्मिल्ल-चरित' (पृ. ५८) तथा 'गन्धर्वदत्तालम्भ' (पृ. १३४) में भी अद्भुत समानता के साथ प्रत्यंकित है। जैनकथा-साहित्य में प्रचुरता से प्रयुक्त 'भारुण्ड' पक्षी, जिसे बुधस्वामी ने गरुड़ का ज्येष्ठ पुत्र कहा है, 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के पंचम सर्ग में भी चर्चित हुआ है।

१. तसर के व्यापार के लिए प्रसिद्ध वर्तमान चम्पानगर, भागलपुर (बिहार)

इस प्रकार, इन दोनों कथाग्रन्थों में, जैसा कहा जा चुका है, विलक्षण कथासाम्य अनेकत्र परिलक्षित होता है। जैसे : 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के 'यौवराज्याभिषेक' नामक सप्तम सर्ग की कथा से 'वसुदेवहिण्डी' की पीठिका में उल्लिखित बुद्धिसेन का कथाप्रसंग तुलनीय है। पुनः इसी प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' की पीठिका के अन्तर्गत सुहिरण्या की कथा से 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के 'मृगयाविहार' नामक अष्टम सर्ग की कथा की तुलना की जा सकती है। पुनः जैसा पहले कहा गया है, 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के 'पुलिनदर्शन' नामक नवम सर्ग से 'वसुदेवहिण्डी' के गन्धर्व-दत्तालम्ब की चारुदत्त की आत्मकथा का साम्य द्रष्टव्य है। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के 'रथ्यासंलाप' नामक दशम सर्ग की कायस्थ-कथा के सन्दर्भ से भी 'वसुदेवहिण्डी' के पीठिका-भाग की प्रद्युम्न-कथा के पुरुषभेद-प्रसंग का अपूर्व सादृश्य है। फिर, 'वसुदेवहिण्डी' के पीठिका-भाग की बुद्धिसेन और भोगमालिनी के कथाप्रसंग से 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के उक्त दशम सर्ग की गोमुख और गणिका की कथा की समानता ध्यातव्य है। दशम सर्ग की ही कथा से 'वसुदेवहिण्डी' की पीठिका में उल्लिखित गणिकोत्पत्ति का प्रसंग और सुहिरण्या की कथा का बिम्बानुबिम्ब-भाव स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त, 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के 'वेगवती-दर्शन' नामक चौदहवें सर्ग में अंकित अकामवती स्त्री के साथ बलात्कार करने से सिर के सौ टुकड़े हो जानेवाले अभिशाप से सम्बद्ध मानसवेग की कथा का प्रतिबिम्ब 'वसुदेवहिण्डी' के 'प्रियगुसुन्दरीलम्ब' की ऋषिदत्ता-कथा में परिलक्षित होता है और पुनः 'वेगवती-लाभ' नामक पन्द्रहवें सर्ग की कथा से 'वसुदेवहिण्डी' के 'केतुमतीलम्ब' की वेगवती-कथा से अद्भुत साम्य है। यों, 'वसुदेवहिण्डी' में 'वेगवतीलम्ब' नाम से दो स्वतन्त्रलम्ब (सं. १३ और १५) भी हैं। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के 'गन्धर्वदत्ता-लाभ' और 'गन्धर्वदत्ता-विवाह' नामक १६वें और १७वें सर्गों में प्राप्त कथा का 'वसुदेवहिण्डी' के 'गन्धर्व-दत्तालम्ब' की कथा से विलक्षण साम्य की चर्चा ऊपर प्रकारान्तर से की जा चुकी है।

डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने भी 'वसुदेवहिण्डी' के स्वसम्पादित अँगरेजी-संस्करण ('दि वसुदेवहिण्डी : एन् ऑथेण्टिक जैन वर्सन ऑव दि बृहत्कथा') में 'वसुदेवहिण्डी' और 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' का विशद रूप से तुलनात्मक अध्ययन (पृ. २८—१५५) किया है, साथ ही उन्होंने दोनों के कथानकों की समानता ही नहीं, दोनों की शाब्दिक अभिव्यक्ति की आश्चर्यकारक सदृशता का भी दिग्दर्शन बड़ी विदग्धता के साथ किया है और समस्तलम्ब रूप में 'श्यामलीलम्ब', 'गन्धर्वदत्तालम्ब', 'नीलयशालम्ब', 'सोमश्रीलम्ब', 'पुण्ड्रालम्ब' और 'वेगवतीलम्ब' के कतिपय स्थलों के आश्चर्यकारी साम्यमूलक अंश को पुंखानुपुंख उपस्थित करके शोधश्रम का एक नया प्रतिमान प्रस्तुत किया है।

उक्त दोनों कथाग्रन्थों में इस प्रकार से छोटी-से-छोटी बातों और वर्णन की कलात्मकता में रोचक कथासादृश्य को देखते हुए यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि बुधस्वामी और संघदासगणी के समक्ष गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का मूलरूप न्यूनाधिक अन्तर के साथ विद्यमान था। इस सन्दर्भ में ऑल्सडोर्फ का यह ध्यातव्य निष्कर्ष है कि 'वसुदेवहिण्डी' का अन्तिम कथाभाग प्राचीन 'बृहत्कथा' का विशिष्ट रसपेशल लाक्षणिक निदर्शन प्रस्तुत करता है और सर्वांशतः अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि मूल 'बृहत्कथा' की लाक्षणिकता एवं गुणाढ्य की काव्यशक्ति अपने अधिकांश जीवन्त रूप में 'वसुदेवहिण्डी' में विद्यमान है (डॉ. पूर्ववत् : 'ए न्यू वर्सन ऑव दि लॉस्ट बृहत्कथा ऑव गुणाढ्य')।

इस ऊहापोह से यह स्पष्ट है कि गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के मूलरूप के आनुमानिक दर्शन के निमित्त नेपाली-नव्योद्भावन 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' तथा प्राकृत-नव्योद्भावन 'वसुदेवहिण्डी' अधिक उपयुक्त हैं। फिर भी, 'वसुदेवहिण्डी (जैन आसंगों को छोड़कर), 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', 'बृहत्कथामंजरी' और कथासरित्सागर'—इन चारों के तुलनात्मक अध्ययन से 'बृहत्कथा' के मौलिक स्वरूप की सत्ता आभासित होती है।

'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' और 'वसुदेवहिण्डी' की पूर्वापरवर्तिता के कतिपय विचारणीय पक्ष :

'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के व्याख्याता फ्रेंच-मनीषी प्रो. लाकोत की दृष्टि में 'वसुदेवहिण्डी' नहीं आ सकी थी। सबसे पहले इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की ओर प्राकृत के तलस्पर्श अधीती जर्मन-विद्वान् लुडविग ऑल्सडोर्फ का ध्यान आकृष्ट हुआ। फलस्वरूप, उन्होंने, सन् १९३५ ई. में, रोम की 'अन्तरराष्ट्रीय प्राच्यविद्या-परिषद्' में एक शोधपूर्ण निबन्ध का पाठ किया, जिसमें 'वसुदेवहिण्डी' को गुणाढ्य की बृहत्कथा का जैन रूपान्तर बताते हुए, इस ग्रन्थ को कथा-साहित्य के इतिहास में युगान्तर उपस्थित करनेवाला सिद्ध किया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने 'वसुदेवहिण्डी' के भाषापक्ष पर भी स्वतन्त्र लेख लिखा। (विशेष विवरण इसी ग्रन्थ के भाषाशास्त्रीय अध्ययन के प्रसंग में द्रष्टव्य है।)

ऑल्सडोर्फ के बाद इस भारतीय ग्रन्थरत्न के सन्दर्भ में मनीषियों की चिन्तनधारा एकबारगी अवरुद्ध हो गई। भारत के इस कथारत्न को परखनेवाली विद्वद्दृष्टि का अभाव ही रहा। भारतीय जैन या जैनतर मनीषियों का भी कोई विशिष्ट आकर्षण इस ओर नहीं दृष्टिगत हुआ। सन् १९४६ ई. में प्रो. भोगीलाल जयचन्दभाई साण्डेसरा ने इस ग्रन्थ का गुजराती में अनुवाद प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त भारत में इसपर कहीं कोई चर्चा उपलब्ध नहीं होती। यद्यपि पाश्चात्य मनीषियों में इस ग्रन्थ की कथाओं के अध्ययन के प्रति अभिरुचि बनी रही और स्फुट रूप से दो-एक लेख भी लिखे गये। भारतीय शास्त्र के अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के अधीती विद्वान् स्टेनकोनो ने 'वसुदेवहिण्डी' की कतिपय विशिष्ट कहानियों का सन् १९४६ ई. में ही नॉर्वे की भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया।

तदनन्तर, सन् १९५० ई. में शोधपुरुष श्रीअगरचन्द नाहटाजी ने काशी की 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' (वर्ष ५५, सं. २००७ वि.) में 'वसुदेवहिण्डी' शीर्षक से सामान्य परिचयात्मक लेख लिखकर हिन्दी-जगत् को पहली बार कथा-साहित्य में 'वसुदेवहिण्डी' की अनुल्लसघनीय सत्ता और महत्ता की सूचना दी। फिर, सन् १९५९ ई. में 'चतुर्भाषी' के ख्यातनामा सम्पादकद्वय डॉ. मोतीचन्द्र और डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने उक्त पुस्तक (उपनाम : गुप्तकालीन 'शृंगारहाट') की भूमिका में, प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक जीवन की चर्चा के क्रम में, 'वसुदेवहिण्डी' को बार-बार उद्धृत किया। पुनः सन् १९६० ई. में, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित 'कथासरित्सागर' के प्रथम खण्ड की भूमिका में, डॉ. अग्रवाल ने, यथावर्चित पाश्चात्य विद्वानों के कथनों का उद्धरण प्रस्तुत करते हुए 'वसुदेवहिण्डी' का संक्षिप्त आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। पुनः सन् १९६५ ई. में, नागपुर विश्वविद्यालय के डॉ. ए. पी. जमखेडकर ने प्रो. एम्. वी. देव के निर्देशन में 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित विद्याधरों के सम्बन्ध में शोधकार्य प्रस्तुत किया।

इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' की स्फुट चर्चा किसी-न-किसी रूप में होती रही। सन् १९७० ई. में अहमदाबाद के लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति-विद्यामन्दिर से डॉ. जगदीशचन्द्र जैन की कृति, 'वसुदेवहिण्डी' की कतिपय उत्कृष्ट कथाओं के संग्रह-रूप में, 'प्राकृत जैनकथा-साहित्य' नाम से प्रकाशित हुई और फिर सन् १९७६ ई. में डॉ. जैन द्वारा सम्पादित-अनूदित 'वसुदेवहिण्डी' का अँगरेजी-संस्करण उक्त संस्कृति-मन्दिर से ही प्रकाश में आया। प्रस्तुत अँगरेजी-संस्करण 'वसुदेवहिण्डी' के अनुशीलन की दिशा में सर्वथा अभिनव प्रयास है।

डॉ. जैन ने 'वसुदेवहिण्डी' के अपने उक्त अँगरेजी-संस्करण की भूमिका में सौजन्यवश इन पंक्तियों के लेखक द्वारा किये आनेवाले 'वसुदेवहिण्डी' के शोध-प्रयास की चर्चा तो की ही है, उन्होंने इस कथाग्रन्थ के विभिन्न पक्षों पर कोल, शिकागो, कैनबरा आदि युनिवर्सिटियों में होनेवाले शोध-कार्यों का भी विवरण दिया है।

इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' के अध्ययन का विकास जिस रूप में, विद्वज्जगत् में होता रहा, उस रूप में 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' का नहीं हुआ। संस्कृत-ग्रन्थों के नव्योद्गावन की परम्परा का सातत्य प्रायः परिलक्षित नहीं होता। मूल 'बृहत्कथा' संस्कृत में लिखी गई होती, तो कदाचित् उसके इतने नव्योद्गावनों की सम्भावना नहीं होती। गुणाढ्य की मूल 'बृहत्कथा' के प्रचार के लिए राजा सातवाहन के प्रयास की चर्चा 'कथासरित्सागर' में की गई है। इस क्रम में उस राजा ने 'बृहत्कथा' की कई प्रतियाँ (देशी भाषा में) तैयार कराई होंगी, यह अनुमान भी असत्य नहीं है। 'बृहत्कथा' के चार प्रसिद्ध नव्योद्गावकों— बुधस्वामी, संघदासगणी, क्षेमेन्द्र और सोमदेव के समक्ष 'बृहत्कथा' की एक-न-एक प्रतिलिपि अवश्य विद्यमान रही होगी। इसका संकेत संस्कृत के नव्योद्गावकों ने प्रसंगवश कर दिया है; किन्तु, संघदासगणी इस बारे में बिलकुल मौन हैं। वह इतने पहुँचे हुए कथाकार थे कि उन्होंने 'बृहत्कथा' का जो नव्योद्गावन प्रस्तुत किया, और उसमें अनेक ऐसी मनोरंजक कथाएँ जोड़ी कि वह एक स्वतन्त्र कथाग्रन्थ के रूप में उद्भाविता हुआ। और तब, अश्वघोष और कालिदास के समान ही बुधस्वामी और संघदासगणी की पूर्वापरवर्तिता सहज ही विवादास्पद हो उठी। यहाँतक कि संघदासगणी के बारे में परिचय प्रस्तुत करना या उनके स्थान और काल का निर्धारण करना भी दुष्कर हो गया है। ऐसी स्थिति में प्रो. लाकोत के द्वारा हस्तलेख के आधार पर^१ प्रस्तुत बुधस्वामी के कालनिर्णय (अष्टम-नवम शती) के परिप्रेक्ष्य में जैन विद्वानों के इस आग्रह को सहज ही यह अवसर मिल जाता है कि 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' 'वसुदेवहिण्डी' की परवर्ती रचना है। इस आग्रह का आधार प्राकृत और अपभ्रंश-साहित्य में अभिव्यक्त मानववाद की वह विद्रोही विचारधारा है, जिसने कई बार प्रियमाण संस्कृत-साहित्य को पुनरुज्जीवित किया है। पैशाची-प्राकृत में निबद्ध गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' ने संस्कृत-निबद्ध 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', 'कथासरित्सागर', 'बृहत्कथामंजरी' आदि के रूप में अपने नव्योद्गावनों द्वारा निश्चय ही संस्कृत-साहित्य को पुनरुज्जीवन प्रदान किया है। और फिर, प्राकृत की संस्कृत-पूर्ववर्तितामूलक वैचारिक मतवाद के अनुबन्ध में 'वसुदेवहिण्डी' को पूर्ववर्ती कहना

१. डॉ. कोथ का अनुमान है कि हस्तलेखों की परम्परा से यह संकेत मिलता है कि उपलब्ध हस्तलेखों के लिखे जाने (प्राचीन समय से बारहवीं शती तक) से बहुत पहले ही उक्त (बृहत्कथाश्लोकसंग्रह) ग्रन्थ की रचना हो चुकी होगी। —'सं. सा. का इतिहास', पृ. ३२४

तर्कसंगत होते हुए भी 'वसुदेवहिण्डी' और 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में आधारधेय-सम्बन्ध मानना या इस प्रकार का वक्तव्य देना संगत नहीं है। किन्तु, यह सत्य है कि 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' और 'वसुदेवहिण्डी' के रचयिताओं ने 'बृहत्कथा' की मूल सामग्री का स्वेच्छानुसार उपयोग किया। ब्राह्मण-परम्परा की इतनी चमत्कारपूर्ण विलक्षण कथा को श्रमण-परम्परा में भी उपस्थित करना जैन मनीषियों के लिए परम आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी था। यह विस्मयकारी तथ्य ध्यातव्य है कि सारस्वत समृद्धि की दृष्टि से ब्राह्मण-परम्परा और श्रमण-परम्परा के साहित्यिक रूपों की पारस्परिकता इतनी सघन और समान्तर है कि दोनों के बीच आधारधेयता की विभाजक रेखा खींचना अतिशय कठिन कार्य है।

इस सम्बन्ध में डॉ. जगदीशचन्द्र जैन की, 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में अनुपलब्ध कथावस्तु के 'वसुदेवहिण्डी' में पाये जाने की बात अधिक सबल नहीं प्रतीत होती। यद्यपि, डॉ. कीथ को 'वसुदेवहिण्डी' की प्रति देखने का अवसर नहीं मिला था, फिर भी उन्होंने यथाप्राप्त आधारों से यह सिद्ध कर दिया है कि "कश्मीरी ग्रन्थकारों की अपेक्षा बुधस्वामी ने अपनी रचना के आधार-ग्रन्थ 'बृहत्कथा' का कहीं अधिक सत्यता से अनुसरण किया है।"^१ 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' अपूर्ण रह गया है, किन्तु 'वसुदेवहिण्डी' भी तो पूर्ण नहीं है। संघटासगणी की विलक्षण और विमोहक कथा या प्रबन्ध-कल्पना को केवल 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की अनुपलब्ध कथावस्तु न मानकर उसे उनका विचित्र नव्योद्भावन कहना अधिक उचित या न्यायसंगत होगा।

डॉ. कीथ का अनुमान है कि सम्पूर्ण 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' अपने उपलब्ध अंश के समान ही विस्तार से लिखा गया था, तो उसमें पच्चीस हजार पद्य रहे होंगे। किन्तु, उपलब्ध अंश उक्त ग्रन्थ का एक खण्डमात्र है। किसी समुचित प्रमाण के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रारम्भ में खण्डित है अथवा इसके प्रारम्भ में कश्मीरी रूपान्तरों तथा नैपाल-माहात्म्य में दिये हुए आख्यान^२ के समान प्रकृत-कथा-संग्रह के उद्गम के सम्बन्ध में कोई विवरण भी कभी सम्मिलित था। यह सर्गों में विभक्त है, जिनमें अब केवल अट्ठाईस सर्ग अवशिष्ट हैं, जो सम्भवतया मूल ग्रन्थ का केवल एक अंशमात्र है, फिर भी इसमें लगभग साढ़े चार हजार से अधिक (४५३९) पद्य हैं।

'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की कथा सहसा मध्य से प्रारम्भ होती है : प्रद्योत की मृत्यु हो जाती है और उसका पुत्र गोपाल उसका उत्तराधिकारी होने को है, तभी उसको (गोपाल को) इस बात की सूचना मिलती है कि प्रजा उसे ही अपने पिता की मृत्यु का कारण समझती है। फलतः, वह अपने अनुज पालक से अपने स्थान पर राज्यासीन होने का आग्रह करता है (सर्ग १)। पालक सुयोग्य शासक नहीं था। वह किसी प्रेरणा से, जिसे वह दैवी संकेत समझता है, गोपाल के पुत्र, अवन्तिवर्द्धन के हित में राज्यसिंहासन का परित्याग कर देता है (सर्ग २)। गोपाल का पुत्र एक मातंगपुत्री, सुरसमंजरी के प्रेम में आसक्त हो जाता है। वह (सुरसमंजरी) अपने पिता के समान वस्तुतः विद्याधर-वंश की ही है, जिससे वह विवाह कर लेता है। परन्तु, सुरसमंजरी की कामना

१. द्र. 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास' (वही), अनूदित संस्करण, सन् १९६० ई., पृ. ३२३—३२६

२. 'नैपाल-माहात्म्य' (अ. २७-२९) में शिव-पार्वती-संवाद के रूप में उल्लिखित 'बृहत्कथा' की उद्गम-कथा का, हिन्दी में प्रस्तुत, सारभाग 'कथासरित्सागर' (परिषद्-संस्करण) के प्रथम खण्ड की, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल-लिखित, भूमिका (पृ. २०-२१) में द्रष्टव्य है।

करनेवाला इप्फक^१ (इत्थक) नामक एक ईर्ष्यादग्ध विद्याधर उसकी वधू के साथ उसका भी अपहरण कर लेता है। इन्हीं देवयोनियों में एक दूसरे व्यक्ति दिवाकरदेव द्वारा उनकी रक्षा की जाती है। अन्त में सम्राट् नरवाहनदत्त राजा अवन्तिवर्द्धन के साथ सुरसमंजरी के विवाह के पक्ष में निर्णय देता है और इप्फक को एक वर्ष के लिए वाराणसी के श्मशान में प्रेत का अधिशष्ट जीवन बिताने की सजा भी (सर्ग ३)।

काश्यप आदि ऋषियों के आग्रह पर ही नरवाहनदत्त अपनी साम्राज्य-प्राप्ति और छब्बीस विवाहों की कथा सुनाता है। कथा के क्रम में ही यह बात स्पष्ट होती है कि मदनमंजुका से, जो कलिंगसेना गणिका की पुत्री है, उसका विवाह होता है। एक दिन मदनमंजुका तिरोहित हो जाती है और फिर उसी के अन्वेषण-क्रम में नरवाहनदत्त को अनेक प्रकार के रोमांचक साहस-पूर्ण कार्यों का प्रदर्शन करना पड़ता है, और इसी क्रम में उसे और भी पत्नियाँ हस्तागत होती हैं।

इस प्रकार, नरवाहनदत्त द्वारा संकेतित छब्बीस पत्नियों के विवाह की कथा 'बृहत्कथाश्लोक-संग्रह' में पूरी नहीं हो पाई है, इसलिए 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' अपूर्ण ग्रन्थ है, जिसको आधारार्दश या उपजीव्य बनाकर लिखी गई 'वसुदेवहिण्डी' को भी अपूर्ण ही छोड़ दिया गया है। किन्तु, इतना स्पष्ट है कि 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' और उसके बाद उपलब्ध 'वसुदेवहिण्डी'—इन दोनों महत्त्वपूर्ण नव्योद्भावनों से, जैसा पहले कहा जा चुका है, 'बृहत्कथा' के मूलरूप के निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिली है।

'वसुदेवहिण्डी' के अतिरिक्त परवर्ती कथा-साहित्य पर गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का प्रभाव :

गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' ने न केवल 'वसुदेवहिण्डी' को प्रभावित किया है, अपितु परवर्ती प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत-कथासाहित्य को भी पुनरुज्जीवित किया है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' पर आधृत 'वसुदेवहिण्डी' के अन्तर्गत 'धम्मिल्लचरित' में अगडदत्तमुनि की आत्मकथा उपलब्ध होती है। इस कथा को आचार्य देवेन्द्रगणी (११-१२वीं शती) ने 'अगडदत्तचरियं' नाम से स्वतन्त्र रूप में गाथाबद्ध करके अलंकृत काव्य का रूप दे दिया। संघदासगणिव्याचक की 'वसुदेवहिण्डी' की विशेषता इस मानी में है कि इसके युगान्तरकारी कथालेखक ने अपने प्रस्तुत कथाग्रन्थ में प्राक्कालीन लोक-कथाओं में बिखरे हुए कथाबीजों को समाहित कर उसे ऐसा रससिक्त और व्यवस्थित रूप दिया है कि उसकी प्रभाव-परम्परा का एक असमाप्य पक्ष ही उपन्यस्त हो गया है। यही कारण है कि अगडदत्त जैसा अदम्य साहसी, प्रबल पराक्रमी, महाप्राज्ञ और मितमधुरभाषी पुरुष लोक-परम्परा का अतिशय प्रिय चरितनायक बन गया है। अपने पुरुषार्थ से असम्भव कार्य को भी सम्भव कर देनेवाले किसी व्यक्ति को हम सहज ही 'अगडधत्त' कह देते हैं। लौकिक कहावतों और मुहावरों में भी 'अगडधत्त' नाम प्रचलित-प्रथित हो गया है। वस्तुतः, यह 'अगडधत्त' और कोई नहीं, प्रत्युत 'वसुदेवहिण्डी' की अगडदत्त-कथा का नायक 'अगडदत्त' ही है। प्रथमानुयोग के प्रख्यात अपभ्रंश-कवि पुष्पदन्त द्वारा 'णायकुमारचरित' में चित्रित नागकुमार का चरित्र नरवाहनदत्त या वसुदेव के चारित्र्योत्कर्ष की प्रभा से ही परिदीप्त है।

१. 'वसुदेवहिण्डी' में 'इप्फक' के स्थान पर 'हेप्फक' या 'हेफ्फा' नाम का उल्लेख हुआ है।

इसके अतिरिक्त, प्रथमानुयोग के अन्तर्गत संस्कृत के प्रमुख कवि, जैसे जिनसेन (८-९वीं शती) ने 'हरिवंशपुराण' हेमचन्द्र (१२वीं शती) ने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित', जिनसेन के शिष्य गुणभद्र (८-९वीं शती) ने 'उत्तरपुराण' और पुण्यदत्त (११वीं शती) ने 'महापुराण' में बृहत्कथा की परम्परा का स्वतन्त्र रूप से अनुसरण किया है। 'बृहत्कथा' के अन्तर्गत गन्धर्वदत्ता और चारुदत्त की कथा इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि वह प्रायः परवर्ती सम्पूर्ण कथा-वाङ्मय में अनुचितरित हुई। हरिषेण (८-१०वीं शती) ने 'बृहत्कथाकोश', देवेन्द्रगणी (११-१२वीं शती) ने 'आख्यानमणिकोश', मलधारिहेमचन्द्र (१२वीं शती) ने 'भव-भावना' और रामचन्द्र मुमुक्षु (१६वीं शती) ने 'पुण्यास्रवकथाकोश' में उक्त कथा का समावेश कर अपनी कथा-रचना को विकसित-पल्लवित किया है।

कहना न होगा कि महाकवि गुणाढ्य एक साथ ही कर्मठ और अध्यवसायी, उद्धट प्रत्यालोचक, मनस्वी सत्यसन्ध, सुकुमार शैली के सुललित कवि, निर्भीक और उत्क्रान्तिकारी तथा रसवादी औपन्यासिक थे। साथ ही, उनकी 'बृहत्कथा' हृदय-विमोहक और सार्थक कथाकृति है। पैशाची में गुणाढ्य ने इतनी सफलता के साथ 'रोमांस' को अपने कथाग्रन्थ में समाविष्ट किया है कि उसके प्रभाव का परवर्ती कथा-साहित्य पर पारम्परीय संक्रमण असहज नहीं है। गुणाढ्य के चरित्र-चित्रण में आदर्शवाद के पुट से हम उल्लसित हो जाते हैं, उत्साहित हो जाते हैं, निराश नहीं होते, हँसने लगते हैं, रोने नहीं लगते; भारतीय संस्कृति के विकास पर हम गर्वित हो जाते हैं, उसके दोषों को पढ़कर लज्जित नहीं हो जाना पड़ता है। यह आदर्शवाद अकेले गुणाढ्य को कथाकारों में अग्रगण्य बनाने को पर्याप्त है। 'बृहत्कथा' को चाहे जिस दृष्टिकोण से देखें—मौलिकता, चरित्र-चित्रण, भाषा, वर्णन-शैली, उत्कृष्टता, सफलता—सभी तरह से वह अद्वितीय है और विश्व-साहित्य के योग्य कथाग्रन्थों में पान्तेय है। 'वसुदेवहिण्डी' इसी अद्वितीय कथाग्रन्थ का अनन्य नव्योद्भावन है, जिसकी प्रभावान्विति से सम्पूर्ण भारतीय कथा-वाङ्मय ही नहीं, अपितु विश्व-कथा-वाङ्मय अनुप्राणित है।

(ख) 'वसुदेवहिण्डी' का कथासंक्षेप

'वसुदेवहिण्डी' में कृष्ण के पिता वसुदेव का यात्रा-वृत्तान्त उपन्यस्त है। वह (वसुदेव) जैनों के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के चचेरे भाई थे। वसुदेवजी ने सम्पूर्ण बृहत्तर भारत का हिण्डन, अर्थात् भ्रमण किया था, इसलिए इस कथाकृति का नाम 'वसुदेवहिण्डी' सार्थक है। यह महत्कथा या वसुदेव का यात्रा-वृत्तान्त साहसिक एवं रोमांचकारी, शृंगारी एवं समुत्तेजक आख्यानों और उपाख्यानों से भरा हुआ है। इसके रोमानी आख्यानों में कामकथाओं पर आधृत धर्मकथाओं को बड़ी स्वाभाविकता से समाविष्ट करने का रचना-शिल्प परिलक्षित होता है, जिससे कथा-साहित्य का यह गौरव-ग्रन्थ कामाध्यात्म की महत्कथा के रूप में शीर्षस्थ हो गया है। साथ ही, यह न केवल उत्तरकालीन जैन लेखकों, अपितु जैनैतर कथालेखकों के लिए भी उत्कृष्ट कथादर्श के रूप में प्रतिष्ठित है।

लोकोत्तरचरित वसुदेव का विलक्षण व्यक्तित्व :

द्वारवती नगरी के दस दशार्हों (यादवों) में वसुदेव का स्थान दसवाँ और अन्तिम था। दस दशार्ह इस प्रकार हैं : समुद्रविजय, अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द और ।

वसुदेव । चक्रवर्ती वसुदेव बड़े विलक्षण स्वाभिमानी और अपराजेय वीर योद्धा थे । वह सत्रह सागरोपम काल तक स्वर्ग में रहने के बाद मनुष्य-योनि में ज्युत हुए थे । उन्हें सारा विद्याएँ अधिगत थीं । वह चित्रकारिता, संगीत, नृत्य, पुष्पसज्जा, कामक्रीड़ा आदि विभिन्न ललित कलाओं में आचार्य थे, साथ ही चिकित्साशास्त्र के भी मर्मज्ञ थे । आर्हत धर्म-दर्शन और बार्हत वेद-वेदांग के तो पारगामी विद्वान् थे, अथर्व व्याकरण, छन्द आदि शास्त्रों के भी महापण्डित थे । लोकसेवा और लोकोद्धार ही उनका जीवन-व्रत था ।

शलाकापुरुषों में परिगणनीय वसुदेव का रूप अद्भुत था । उनका अंग-प्रत्यंग अंगलक्षण या अंगविद्या के विशेषज्ञों द्वारा निर्धारित लक्षणों से सम्पन्न था । उनका रूप-वर्णन करते हुए **संघदास-गणिवाचक** ने लिखा है कि वसुदेव की अंगशोभा ऐसी थी कि लोकदृष्टि उसका भोग करने लगती थी; उनके शरीर पर, उनका, मुकुट पहनने योग्य मस्तक छत्र की भाँति विराजता था; उनके काले-काले दक्षिणावर्त (दाई ओर से घुंघराले) केश बड़े चिकने थे । मुँह शरद् ऋतु के पूर्ण चन्द्र को भी शरमा देता था; ललाट का पटल ठीक अर्द्धचन्द्र की तरह लगता था; सूर्य की किरणों से विकसित कमल जैसी उनकी आँखें मन मोह लेती थीं; उनकी नाक तो बेहद सुन्दर थी; दोनों होंठ वीरवधूटी (इन्द्रगोप) और मूँगे के समान बिलकुल लाल थे; नई कोंपल जैसी लपलपाती लाल जीभ साँप की जीभ के समान लगती थी; उनके मुँह में दाँत की पंक्ति कमल के बीच छिपी कुन्दकली की माला (पंक्ति) के समान शोभा बिखेरती थी; कानों में लटकते कुण्डलों की कमनीयता मन को रमाने लगती थी, उनका दाढ़ा बहुत विशाल था; शंख जैसी गरदन में तीन रेखाएँ पड़ी रहती थीं; उनका वक्षःस्थल श्रेष्ठमणि की चट्टान के समान था; हाथ के पहुँचे या कलाई और केहुनी के बीच के हिस्से का रचाव बड़ा प्रशस्त था; नगरद्वार की लौह-अर्गला जैसी लम्बी और सुदृढ़ भुजाएँ देखते ही बनती थीं; उनकी हथेलियाँ बड़ी पुष्ट और शुभलक्षणवाली थीं; उनकी कमर मन को मुग्ध करनेवाली, (नाभि के गिर्द) रोमराजि से रंजित तथा अँगुलियों की पकड़ में आने लायक थी; नाभि खिलते कमल के समान थी; कटिभाग उत्तम घोड़े के कटिभाग के समान वर्तुलाकार था; घुटने और टखने के बीच का भाग (जंघा) हाथी की सूँड़ के समान रमणीय और स्थिर था; घुटने की हड्डी उभरी हुई न होकर मांसलता से आवृत थी, हिरन की जैसी जाँघें थीं; उनके कूर्माकृति पैर चलते समय धरती से चिपके-से लगते थे, जिसके तलवे में शंख, चक्र और छत्र अंकित थे । दर्पदीप्त वृषभ के समान वह बड़ी ललित गति में चलते थे; उनकी, उत्तम अर्थ और स्वर की गूँज या धुलावटवाली वाणी को सुनकर कान को सुख मिलता था । इस प्रकार, उनकी शारीरिक संरचना ही कह देती थी कि इस महापुरुष में सम्पूर्ण महीतल के पालन की क्षमता निहित है (पद्मालम्ब: पृ. २०४) ।

अन्यत्र भी **संघदासगणी** ने वसुदेव के अपूर्व रूप के वर्णन में उनकी महानुभागता को सूचित करनेवाली अलौकिक आंगिक संरचना की ओर संकेत किया है । वहाँ भी उनके मुकुटभाजन मस्तक को छत्राकार और मुख को पूर्णचन्द्र की छवि को हर लेनेवाला कहा गया है । आँखें श्वेत पुण्डरीक के समान थीं; फणधर के फण के समान उनकी भुजाएँ थीं; अतिशय शोभाशाली वक्षःस्थल नगरद्वार के बृहत् कपाट के समान था; शरीर का मध्यभाग वज्र के समान था; नाभि कमलकोष के समान थी; उनकी कटि के समक्ष केसरी की कटि उपहासास्पद लगती थी; दोनों ऊरु (घुटने और टखने के बीच का भाग) हस्तिशावक के मृदुल शुण्डादण्ड की तरह भासित होते थे; जाँघों की संरचना कुरुविन्द (मणि-विशेष) के समान गोल, चिकनी और चमकदार थी; दोनों पैर तो शुभ लक्षणों के आगार ही थे । इस प्रकार की

शलाकापुरुषोपम शारीरिक संघटना वसुदेव के चक्रवर्तित्व की सूचना तो देती ही थी, उनके उत्तमबुद्धि होने की भी परिचायिका थी (भद्रमित्रा-सत्यरक्षिता-लम्भ : पृ. ३५३)।

कथा-संक्षेप :

वस्तुतः, वसुदेव का अतिमानुष मदनमनोहर रूप ही उनके घर से भागने और विशाल भारत के भ्रमण करने का कारण बना। वसुदेव के पूर्वभव के बारे में संघदासगणित्वाचक ने राजा अन्धकवृष्णि और सुप्रतिष्ठ साधु के संवाद के माध्यम से बड़ी मनोरंजक कथा उपन्यस्त की है (द्र. श्यामाविजयालम्भ : पृ. ११४-१२०)। वसुदेव, राजा अन्धकवृष्णि के दसवें पुत्र थे। विन्ध्यपर्वत की तराई में अवस्थित सिंहगुहा नाम की चोरपल्ली के सेनापति अपराजित की पत्नी वनमाला से दस पुत्र उत्पन्न हुए: सुरूप, विरूप, मन्दरूप, साध्य, अवध्य, दाह, विदाह, कुशील एवं करंक। बहुत पाप अर्जित करने के कारण ये सभी सातवीं पृथ्वी पर नारकी हो गये। वहाँ से गत्यन्तर प्राप्त करके उन्होंने जल, स्थल और आकाशचारी चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय तिर्यग्योनियों में जन्म ग्रहण किया और वहाँ के दुःखों को भोगकर साधारण (अनेक जीवोंवाले कन्द आदि) और बादर (स्थूल) वनस्पतियों में उत्पन्न हुए। वनस्पति-योनियों में बहुत दिनों तक वास करने के बाद, अपने कर्मसंचय क्षीण करके वे भद्रिलपुर के राजा मेघरथ, जिसकी रानी का नाम सुभद्रा और पुत्र का नाम दशरथ था, के शासनकाल में, एक को छोड़, शेष नौ वनस्पति-जीव, श्रमणोपासक धनमित्र श्रेष्ठी की पत्नी विजयनन्दा के गर्भ से पुत्र-रूप में उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे : जिनदास, जिनगुप्त, जिनदेव, जिनदत्त, जिनपालित, अर्हदत्त, अर्हदास, अर्हदिव और धर्मरुचि। धनमित्र सेठ के दो पुत्रियाँ भी हुईं: प्रियदर्शना और सुदर्शना। उसी समय मन्दर नाम के साधु गण-सहित, भद्रिलपुर में शीतलनाथ जिनदेव की जन्मभूमि पर पधारे। अपने पिता के साथ उक्त नवों भाइयों ने मन्दर साधु के निकट प्रव्रज्या ले ली। राजा मेघरथ ने भी अपने पुत्र दशरथ को राज्यभार सौंपकर निष्क्रमण किया। गर्भवती विजयनन्दा ने शेष दसवें वनस्पति-जीव को धनदेव नामक पुत्र के रूप में जन्म देकर उसका बारह वर्षों तक लालन-पालन किया और उसे उसके पिता धनमित्र श्रेष्ठी के स्थान पर प्रतिष्ठित कर वह (विजयनन्दा) अपनी दोनों बेटियों के साथ प्रव्रजित हो गई। धनमित्र श्रेष्ठी और राजा मेघरथ तो मोक्षगामी हुए, शेष सभी (धनदेव-सहित दसों भाई) अच्युत नामक स्वर्ग में देवता हुए।

विजयनन्दा अपने पुत्रों और पुत्रियों से पुनः सम्बन्ध की बात सोचकर उनके प्रति स्नेहानुरक्त बनी रही और पुत्रियों के साथ शरीर त्याग करके उसने भी अच्युत कल्प में ही देवत्व प्राप्त किया।

विजयनन्दा अच्युत कल्प से च्युत होकर मथुरा नगरी के राजा अतिबल की रानी सुनेत्रा के गर्भ से भद्रा नाम की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई। यही भद्रा जब बड़ी हुई, तब उसका विवाह अन्धकवृष्णि से हुआ। उक्त अच्युत कल्पवासी देवता (विजयनन्दा के गर्भ से उत्पन्न जिनदास आदि दसों पुत्र) वहाँ से च्युत होकर भद्रा के गर्भ से ही समुद्रविजय आदि (दस दशाही) नामधारक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए और उसकी (पूर्वभव की विजयनन्दा की) दोनों पुत्रियाँ (प्रियदर्शना और सुदर्शना) पुनः उनके गर्भ से कुन्ती और माद्री के नाम से उत्पन्न हुईं। इन दोनों का क्रमशः पाण्डु और दमघोष के साथ विवाह हुआ।

पूर्वोक्त (पूर्वभव में) साधारण और बादर वनस्पति-जीव में उपपन्न विजयनन्दा के दस पुत्रों में शेष एक पुत्र (धनदेव) गत्यन्तर प्राप्त करके मगध-जनपद के पलाशपुर ग्राम में स्कन्दिल नामक ब्राह्मण की सोमिला नाम की पत्नी से नन्दिसेन नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। बचपन में ही उसके माता-पिता मर गये। 'यह पुत्र अशोभन है' यह कहकर लोगों ने भी उसका परित्याग कर दिया। फलतः, वह भिक्षावृत्ति से अपना जीवन बिताता रहा।

एक दिन उसके मामा ने उसे अपने पास बुला लिया। मामा के यथाक्रम उत्पन्न तीन कन्याएँ थीं। मामा ने उस नन्दिसेन से कहा : "तुम यहाँ विश्रुत होकर रहो। तुम्हें मैं अपनी पहली पुत्री दे दूँगा। मेरी गौओं की सेवा-शुश्रूषा करते रहो।" जब मामा की पहली पुत्री जवान हो गई और उसे पता चल गया कि दरिद्र नन्दिसेन को वह दी जायगी, तब उसने साफ़ इनकार कर दिया : "यदि इस दरिद्र से मेरा विवाह होगा, तो मैं आत्महत्या कर लूँगी।" नन्दिसेन ने जब यह सुना, तब उसने इसे मामा से कहा। मामा ने उसे धीरज बाँधाया : "अगर पहली पुत्री तैयार नहीं होगी, तो दूसरी दे दूँगा।" लेकिन, दूसरी और इसी प्रकार तीसरी पुत्री ने भी नन्दिसेन के साथ विवाह करने से इनकार कर दिया। मामा ने उसे फिर आश्वासित किया : "यदि मेरी तीनों पुत्रियाँ तुम्हें नहीं चाहती, तो मैं कहीं अन्यत्र तुम्हारा विशिष्टतर सम्बन्ध करूँगा। तुम निराश मत हो।"

तब, नन्दिसेन ने सोचा : जब मामा की लड़कियों ने मुझे नहीं चाहा, तब पराई लड़कियाँ मुझे क्यों चाहेंगी। इस प्रकार, परम मनःसन्ताप के साथ वह मामा के गाँव से निकल पड़ा और रत्नपुर चला गया। वहाँ वसन्त ऋतु में, उपवनों में इच्छित युवतियों के साथ रमण करते तरुणों को देखकर वह अपने दुर्भाग्यपूर्ण जीवन को कोसने लगा और इसी मनःस्थिति में कुछ निश्चय के साथ वह लता, पेड़ और झाड़ियों से सघन एक उपवन में चला गया। उस उपवन के एक लतागृह में सुस्थित नाम के साधु प्रशस्त ध्यान में बैठे थे। नन्दिसेन ने उन्हें नहीं देखा और उन्हीं के निकट, मरने की इच्छा से अपने गले में लत्तर की फँसरी डालने लगा। दयालु साधु ने उसे रोका : "नन्दिसेन ! दुस्साहस मत करो।" नन्दिसेन के मन में शंका हुई कि गाँव से कोई मेरे पीछे-पीछे आया है और वही रोक रहा है। पर, कहीं किसी को न देखकर फिर गले में फँसरी डालने लगा। उसे फिर साधु ने रोका। नन्दिसेन, जिधर से आवाज आ रही थी, उधर ही गया। मुनि को देखकर उसने अभिवादन किया और उनके निकट बैठ गया।

सुस्थित साधु ने समझाया : "श्रावक ! अकरणीय कार्य से मरनेवाला परलोक में भी सुखी नहीं होता।" नन्दिसेन प्रश्नात्मक स्वर में बोला : "परलोक है, इसका विश्वास कैसे किया जा सकता है ? अथवा, धर्म करने से सुख मिलता है, इसका क्या प्रमाण है ?" तब अवधिज्ञान-सम्पन्न साधु ने उसे परलोक के अस्तित्व और धर्मकार्य से सुखप्राप्ति में विश्वास उत्पन्न करानेवाली कथा सुनाई।

सुस्थित साधु से प्रबोधित नन्दिसेन तपस्या और जनसेवा में लीन रहकर सम्पूर्ण भारतवर्ष में, महातपस्वी के रूप में प्रसिद्ध हो गया। देवराज इन्द्र ने भी देवसभा में अंजलि बाँधकर उसका गुण-कीर्तन किया। देवता बहुत प्रयास करके भी उसे व्यावृत्ति (सेवा)-धर्म से विचलित नहीं कर सके। फिर भी, दो देवों ने इन्द्र के कथन के प्रति अश्रद्धाभाव रखते हुए उसकी (नन्दिसेन की) परीक्षा ली। दोनों ने साधु का रूप धारण किया, जिनमें एक, सन्निवेश के बाहर रोगी होकर पड़

गया और दूसरा नन्दिसेन के आवास में जाकर निष्ठुर शब्दों में उसकी भर्त्सना करने लगा : “बाहर रोगी पड़ा हुआ है और तुम सेवावृत्ति स्वीकार करके भी घर में सो रहे हो !”

नन्दिसेन हड़बड़ाकर उठा और बोला : “सेवाकार्य का आदेश हो।” देवसाधु ने कहा : “बाहर अतिसार से ग्रस्त तृषाकुल रोगी पड़ा है। उसके लिए जो उपाय जानते हो, करो।” व्रतस्थित नन्दिसेन विना पारण किये ही रोगी के लिए पानक (विशिष्ट पेय) खोजने निकल पड़ा। नन्दिसेन की भक्ति के प्रति आस्था रहित देव ने पानक का कृत्रिम अभाव उत्पन्न कर दिया। फिर भी, नन्दिसेन पानक लेकर रोगी के समीप पहुँच ही गया। रोगी उसे गालियाँ देता हुआ बोला : “तुम्हारा ही आसरा लेकर मैं ऐसी हालत में आया हूँ। और, तुम भोजनलम्पट बनकर मेरी उपेक्षा कर रहे हो ? अरे अभाग ! तुम केवल ‘सेवाकारी’ शब्द से ही सन्तोष करते हो !”

नन्दिसेन ने प्रसन्न चित्त से नम्रतापूर्वक निवेदन किया : “अपराध क्षमा करें, मुझे आज्ञा दें, मैं आपकी सेवा करता हूँ।” यह कहकर उसने मल से भरे रोगी के शरीर को धो दिया। और, उसे, नीरोग होने का आश्वासन देकर, उपाश्रय (जैनसाधुओं के आवास) में ले गया। रोगी पग-पग पर उसे कठोर बातें कहता और उसकी भर्त्सना करता, लेकिन वह (नन्दिसेन) यन्त्र की भाँति निर्विकार भाव से यत्न कर रहा था। देवरोगी ने उसपर अत्यन्त दुर्गन्ध-युक्त मल का त्याग कर दिया, फिर भी नन्दिसेन ने दुर्गन्ध की परवाह नहीं की, न ही उसके कठोर वचनों की गिनती की। इसके विपरीत रोगी को भीठी बातों से सान्त्वना देता हुआ, उसकी नाजबरदारी करता हुआ, सेवा में लगा रहा।

नन्दिसेन की सच्ची सेवा-भावना से देवरोगी प्रसन्न हो गया और उसने अपना अशुभ परिवेश समेट लिया। उसी समय आकाश से घ्राणभनोहर फूलों की बरसा हुई। दोनों देवों ने साधु का प्रतिरूप छोड़कर दिव्य रूप धारण किया और नन्दिसेन की तीन बार प्रदक्षिणा करके क्षमा-याचना की। देवों द्वारा वर माँगने का आग्रह करने पर नन्दिसेन ने कहा : “मुझे जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग प्राप्त हो गया है। इसलिए, और किसी दूसरी वस्तु से मेरा प्रयोजन नहीं।” उसके बाद देवों ने उसकी वन्दना की और वे चले गये।

साधुओं की सेवावृत्ति के साथ श्रामण्य का अनुपालन करते हुए नन्दिसेन के पचपन हजार वर्ष बीत गये। मृत्यु के समय, मामा की तीनों कन्याओं द्वारा दुर्भाग्यवश न चाहने की बात उसके ध्यान में आ गई। उसने संकल्प किया : “तप, नियम और ब्रह्मचर्य के फलस्वरूप मैं आगामी मनुष्य-भव में रूपसी स्त्रियों का प्रिय होऊँ।” यह कहकर वह मर गया और महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्रतुल्य देवता हो गया।

यह कथा सुनाकर सुप्रतिष्ठ साधु ने राजा अन्धकवृष्णि से कहा कि “नन्दिसेन महाशुक्र स्वर्ग से च्युत होकर आपके दशम पुत्र (वसुदेव) के रूप में उत्पन्न हुआ है।”

वसुदेव जब युवा हो गये, तब उनके रूप-यौवन की प्रशंसा चारों ओर फैलने लगी। युवतियाँ उनके रूप पर रीझकर उन्हें एकटक देखती रह जातीं। एक दिन ज्येष्ठ भ्राता समुद्रविजय ने उन्हें बुलवाया और समझाया कि “दिन-भर बाहर घूमते रहने से तुम्हारे मुख की कान्ति मलिन पड़ जाती है, इसलिए घर में ही रहो। कला की शिक्षा में ढिलाई नहीं होनी चाहिए।” तब उन्होंने (वसुदेव ने) वैसा ही करने की प्रतिश्रुति दी।

एक दिन वसुदेव ने बड़े भाई की धाई से, अंगराग-द्रव्य (उबटन) पीसती हुई गन्धद्रव्य की प्रभारिणी कुब्जा के बारे में पूछा : “यह किसके लिए विलेपन तैयार कर रही है ?” “राजा (बड़े भाई समुद्रविजय) के लिए ।” धाई ने उत्तर दिया । वसुदेव ने कहा : “मेरे लिए क्यों नहीं ?” वह बोली : “तुमने अपराध किया है, इसलिए तुम्हें विशिष्ट वस्त्राभरण और विलेपन नहीं मिलेगा ।” इसके बाद धाई वसुदेव को रोकती रही, फिर भी उन्होंने जबरदस्ती उबटन ले लिया । तब वह (धाई) रुष्ट होकर बोली : “इन्हीं आचरणों से राजा ने तुम्हारा कहीं बाहर आना-जाना रोक दिया है । फिर भी, तुम अपनी उद्दण्डता से बाज नहीं आते ।”

वसुदेव ने धाई से यह पता लगाने को कहा कि राजा ने किस अपराध से उन्हें रोक रखा है । परन्तु राजा के भय से वह धाई असलियत कह नहीं पाती थी । वसुदेव उसके पीछे पड़ गये । उसे एक अँगूठी देकर अनुनय-विनय किया, तब वह बोली : “राजा को नगरपालों ने गुप्त रूप से सूचित किया है कि कुमार वसुदेव शरच्चन्द्र की भाँति जन-जन की आँखों को सुख देनेवाले शुद्धचरित्र व्यक्ति हैं । किन्तु, वह इतने रूपवान् हैं कि जिधर-जिधर जाते हैं, उधर-उधर तरुणियाँ उनके साथ, उनके कामों का अनुकरण करती हुई, धूमती रहती हैं और वे अपनी खिड़कियों और दरवाजों पर मूरत बनी यक्षिणी की तरह खड़ी-खड़ी दिन बिता देती हैं, इसलिए कि वसुदेव जब लौटेंगे, तब उन्हें वे देख सकेंगी । यहाँतक कि वे स्वप्न में भी वसुदेव का नाम लेकर बड़बड़ाती हैं और बाजार में शाक-भाजी, फल आदि खरीदते समय विक्रेताओं से भ्रमवश पूछ बैठती हैं कि ‘वसुदेव कितने में देते हो ?’ कुमार को एकटक देखती स्त्रियों से जब उनके रोते बच्चों के बारे में कहा जाता है कि ‘वत्स छूट गया है’, तब वे मति-विपर्ययवश अपने बच्चों को ही गाय का बछड़ा समझ रस्सी से बाँधने लगती हैं । इस प्रकार, सब लोग पागल हो उठे हैं । घर के सारे कामकाज छोड़ बैठे हैं । अतिथि और देवपूजा में भी उनका आग्रह शिथिल पड़ गया है । इसलिए नगरपालों ने राजा को तुम्हारी उद्यानयात्रा पर प्रतिबन्ध लगा देने का परामर्श दिया है । राजा ने नगरपालों को तुम्हें रोक रखने का आदेश दिया है और परिजनों को इस बात की गोपनीयता बरतने के निमित्त आगाह किया है । मैंने भी इस परमार्थ को गोपनीय रखने की शपथ खाई है ।”

धाई की यह बात सुनकर वसुदेव ने सोचा : “यदि मैं असावधानी से बाहर निकला होता, तो बन्दी बना लिया गया होता । अथवा, अभी मैं जिस स्थिति में रह रहा हूँ, वह भी तो बन्धन ही है । इसलिए, इस घर में रहना मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है ।” इस प्रकार सोचकर, वसुदेव ने रूप और आवाज को बदल देनेवाली गुटिकाएँ तैयार करके अपने पास रख लीं और ‘वल्लभ’ नामक सेवक के साथ सन्ध्या के समय नगर से बाहर निकल पड़े ।

सुनसान श्मशान के निकट आने पर उन्होंने वल्लभ से कहा : “लकड़ियाँ ले आओ । मैं शरीर-त्याग करूँगा ।” वल्लभ ने लकड़ी चुनकर चिता रच दी । तब वसुदेव ने उससे कहा : “जल्दी जाओ, मेरे बिछावन से रत्नपेटिका उठा लाओ । दान करने के बाद अग्नि में प्रवेश करूँगा ।” इसपर वल्लभ ने उससे कहा : “यदि आपका यही निश्चय है, तो मैं भी आपका अनुसरण करूँगा ।” तब, वसुदेव ने कहा : “तुम्हारी जो इच्छा होगी, वही करना । यह रहस्य प्रकट न होने पाये, इसका खयाल रखते हुए तुम शीघ्र लौटकर आओ ।” ‘यथाज्ञा’ कहकर वल्लभ चला गया ।

इधर वसुदेव ने, एक अनाथ मृतक को चिता पर रखकर उसे (चिता को) प्रज्वलित कर दिया । फिर, श्मशान-भूमि पर पड़े, किसी मृत सधवा स्त्री के अलक्तक रस से एक क्षमापन-पत्र,

अपने बड़े भाइयों और भाभियों के नाम लिखा : “शुद्ध-स्वभाव होते हुए भी नागरिकों ने उसे मलिन कर दिया, इसलिए वसुदेव ने अग्नि-प्रवेश किया।” उस पत्र को श्मशान के एक खम्भे में बाँधकर वसुदेव झटपट वहाँ से खिसक गये और तेजी से, जैसे-तैसे रास्ते से दूर निकल जाने के बाद फिर सही रास्ते से चलने लगे।

इस प्रकार, अनाम और अज्ञात रहकर वसुदेव ने अपना हिण्डन प्रारम्भ किया। सन्ध्या के समय वह सुग्राम पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्नान और भोजन किया। वह जिस घर में ठहरे थे, उसके निकट ही यक्षायतन था। वहाँ अनेक लोग एकत्र थे। वसुदेव के अपने नगर से भी कुछ आदमी वहाँ आये हुए थे। वे नगर का, आज का समाचार सुना रहे थे कि कुमार वसुदेव अग्नि में प्रवेश कर गये। उनका सबसे प्यारा सेवक ‘वल्लभ’ उनकी जलती चिता को देख रोने लगा था। पूछने पर वह बोला : “लोकापवाद से डरकर कुमार वसुदेव ने अग्नि की शरण ली।” इस समाचार से चारों ओर रुलाई और चिल्लाहट शुरू हो गई। रुलाई की आवाज सुनकर राजा समुद्रविजय आदि नवों भाई घर से निकलकर श्मशान में आये। वहाँ कुमार के हाथ का लिखा क्षमापन-पत्र देखा और उसे पढ़कर वे सभी रोने लगे। कुछ देर रोने-धोने के बाद उन्होंने धी और शहद से चिता को सींचा; चन्दन, अगुरु और देवदारु की लकड़ियों से चिता को ढककर उसे फिर से प्रज्वलित किया। पुनः प्रेतकार्य सम्पन्न करके सभी अपने घर लौट गये।”

यह समाचार सुनकर वसुदेव निश्चिन्त हो गये कि उनका रहस्य प्रकट नहीं हुआ था और उनके नवों बड़े भाइयों को उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में कोई शंका नहीं रह गई थी। और इसीलिए, वे उनकी खोज भी नहीं करायेंगे। इस प्रकार, वसुदेव का विचरना स्वच्छन्द और निर्विघ्न हो गया।

अपनी नगरी द्वारवती (द्वारकापुरी) से भागकर वसुदेव सुग्राम पहुँचे थे। वहाँ से वह पश्चिम की ओर से चलकर विजयखेट नगर पहुँचे। वहाँ उन्होंने, विद्याध्ययन के निमित्त कुशाग्रपुर (आधुनिक राजगृह) से आये गौतम ब्राह्मण के रूप में अपना परिचय दिया। वहाँ के राजा जितशत्रु के दो पुत्रियाँ थीं : श्यामा और विजया। दोनों संगीत और नृत्यकला में निपुण थीं। वसुदेव ने उन दोनों के समक्ष अपनी नृत्य-गीतकला का वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया। राजा जितशत्रु ने प्रसन्न होकर उनके साथ अपनी दोनों बेटियों का विवाह कर दिया।

वसुदेव ने जब अपनी इन दोनों पत्नियों को क्षत्रियोचित युद्धविद्या से परिचय कराया, तब उन्होंने उनके ब्राह्मण होने की बात पर आश्चर्य प्रकट की। अन्त में, वसुदेव ने उनपर अपना रहस्य प्रकट करते हुए उन्हें, घर से छलपूर्वक भागने की अपनी कहानी सुना दी। इससे वे सन्तुष्ट हो गईं। कालक्रम से, विजया से उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम ‘अक्रूर’ रखा गया।

वसुदेव एक वर्ष तक विजयखेट में सुखभोग करते रहे। एक दिन दो पथिकों ने उन्हें देखा और वे आपस में बात करने लगे कि कुमार वसुदेव से इस व्यक्ति की अद्भुत समानता है। पथिकों की बातचीत सुनकर वसुदेव के कान खड़े हो गये और उन्होंने अब वहाँ रहना कल्याणकर नहीं समझा। श्यामा और विजया को विश्वास दिलाकर वह वहाँ से चल पड़े (पहला श्यामा-विजया-लम्भ)।

वसुदेव सीधी राह छोड़कर दूर उत्तर दिशा की ओर चलते गये। हिमवन्त पर्वत को देखते हुए पूर्वदिश जाने की इच्छा से वह कुंजरावर्त अटवी में प्रविष्ट हुए। वहाँ एक सरोवर में उन्हें गन्धहस्ती से लड़ना पड़ा। जब हाथी उनका वशंवद हो गया, तब वह उसपर सवार होकर उसे घुमाने लगे। तभी आकाशस्थ दो पुरुषों ने उनकी भुजाओं को एक साथ पकड़कर उठा लिया और उन्हें आकाशमार्ग से ले चले।

आकाशचारी पुरुष वसुदेव को एक पहाड़ पर ले गये और उन्होंने उन्होंने वहाँ उन्हें उद्यान में रख दिया। फिर, उन दोनों ने पवनवेग और अर्चिमाली के रूप में अपना परिचय देते हुए वसुदेव को प्रणाम किया। इसके बाद वे चले गये।

उसी समय विद्याधरों के राजा अशनिवेग की पुत्री श्यामली की बाह्य परिचारिका मत्तकोकिला ने आकर वसुदेव को सूचना दी कि राजा अपनी पुत्री का विवाह उनके साथ करना चाहते हैं। सूचनानुसार राजकन्या श्यामली के साथ वसुदेव का विवाह हो जाता है।

श्यामली के साथ वसुदेव जब गर्भगृह में थे, तभी एकान्त में श्यामली ने उनसे वर माँगा कि आपसे मेरा कभी वियोग न हो। और तब, उसने वसुदेव से वर माँगने का कारण बताते हुए कहा: “मेरे पिता दो भाई हैं—ज्वलनवेग और अशनिवेग। (बड़े चाचा) ज्वलनवेग की पत्नी (बड़ी चाची) का नाम विमलाभा है और मेरे पिता अशनिवेग की पत्नी (अर्थात् मेरी माँ) का नाम सुप्रभा है। ज्वलनवेग साधु के उपदेश सुनकर कामभोग से विरक्त हो गये और मेरे पिता से उन्होंने प्रज्ञप्तिविद्या या राज्य दोनों में कोई एक ग्रहण करने को कहा; किन्तु पिता ने अनिच्छा प्रकट की। तब, ज्वलनवेग ने अपने पुत्र (मेरे चचेरे भाई अंगारक) को, उसकी माँ (विमलाभा) के परामर्शानुसार, प्रज्ञप्तिविद्या दी और मेरे पिता अशनिवेग को, राज्य स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा।

मेरे पिता के राजा होने के बावजूद, मेरी बड़ी चाची प्रजाओं से कर वसूलती रही। मेरे पिता (अशनिवेग) ने जब मना किया, तब बड़ी चाची ने साफ कह दिया कि पुत्र (अंगारक) की माता होने के कारण प्रजाओं से कर लेना मेरे लिए उचित है। अन्त में, अंगारक ने मेरे पिता को पराजित करके स्वयं अपने को राजा घोषित कर दिया और मुझे उसने निर्बाध रूप से भाई के ऐश्वर्य का उपभोग करने की अनुमति दे दी। मैं अंगारक के आश्रय में रहने लगी।

एक दिन अंगारक से आज्ञा लेकर परिजन-सहित मैं अपने पराजित पिता को देखने अष्टापद पर्वत पर गई। वहाँ अंगिरा नामक साधु ने प्रवज्या के लिए उत्सुक मेरे पिता से कहा कि तुम्हारा प्रवज्या-काल अभी नहीं आया है। तुम्हें पुनः राज्यश्री प्राप्त होगी। पिता ने जब पूछा कि राज्यप्राप्ति किस प्रकार होगी, तब श्रमण मुनि ने मेरी ओर संकेत करते हुए पिता से बताया कि तुम्हारी पुत्री श्यामली का जो स्वामी होगा, उसी से तुम्हें राज्यश्री पुनः प्राप्त होगी। इस (पुत्री) का स्वामी अर्द्धभरतेश्वर (कृष्ण) का पिता होगा। पिता ने जब पूछा कि उसकी पहचान कैसे होगी, तब साधु ने बताया कि “कुंजरावर्त अटवी में जो गन्धहस्ती के साथ युद्ध करेगा, उसे ही अर्द्धभरतेश्वर का पिता जानना।”

मेरे पिता के आदेश से पवनवेग और अर्चिमाली नाम के दो आदमी कुंजरावर्त में जाकर निगरानी करते रहे। इसी क्रम में आपके दर्शन हुए और मेरे पिता के दोनों आदमी हाथी की पीठ पर से आपको उठाकर यहाँ ले आये। अंगारक को यह बात मालूम हो गई है। वह बड़ा दुष्ट है, आपको असावधान पाकर कहीं भार न डाले। हम विद्याधरों के लिए नागराज ने सिद्धान्त बना

दिया है कि जो विद्याधर साधु के पास, जिनालय में, भार्या-सहित या सुप्त व्यक्ति को मारेगा, वह विद्याभ्रष्ट हो जायगा। इसीलिए, मैं आपसे वर माँगती हूँ कि आप मुझसे कभी वियुक्त न रहें। आप मेरे साथ रहेंगे, तो वह आप पर आक्रमण नहीं कर सकेगा।

आशंकित श्यामली को वसुदेव ने अंगारक की ओर से होनेवाले अनाचारों के लिए आश्वस्त किया। दोनों सुखपूर्वक रहने लगे। वसुदेव ने श्यामली को संगीत की विशेष रूप से शिक्षा दी। साथ ही, दो विद्याएँ—बन्धविमोक्षणी (बन्धन से छुड़ानेवाली) और पत्रलघुकिका (पत्ते की भाँति हल्का बनानेवाली) भी दीं, जिन्हें उन्होंने शरवन (सरकण्डे के जंगल) में सिद्ध किया था।

एक दिन श्यामली के साथ वसुदेव सोये थे कि अंगारक उन्हें आकाशमार्ग से हर ले चला। श्यामली ने अंगारक से बहुत अनुनय-विनय किया, तो उसने उसे डौंट दिया। अन्त में, श्यामली ने स्पष्ट कह दिया कि “मेरे पति को छोड़ दो, अन्यथा मैं तुम्हें स्वजन-सहित छोड़ दूँगी।” तब अंगारक ने क्रुद्ध होकर वसुदेव को फेंक दिया और वह घास-फूस से भरे पुराने कुएँ में जा गिरे। सुबह होने पर वे कुएँ से बाहर निकले (दूसरा श्यामली-लम्भ)।

कुएँ से बाहर निकलने पर वसुदेव ने अपने को अंग-जनप्रद की चम्पानगरी में पाया। वहाँ उन्होंने अथेड़ उम्र के एक नागरिक से, मगधवासी गौतमगोत्रीय स्कन्दिल ब्राह्मण (वसुदेव का पूर्ववर्ती नन्दिसेन के भव का नाम-गोत्र) के रूप में अपना परिचय दिया और बताया कि उन्हें यक्षिणी से प्रेम हो गया था। वह उन्हें आकाशमार्ग से अपने इच्छित प्रदेश में ले जा रही थी, तभी किसी दूसरी यक्षिणी ने ईर्ष्यावश उनका पीछा किया और जब दोनों यक्षिणियाँ आपस में लड़ने लगीं, तब वह (वसुदेव) यहीं आकाश से गिर पड़े।

चम्पानगरी के एक नागरिक से वसुदेव को सूचना मिली कि कुबेरतुल्य सेठ चारुदत्त की परम रूपसी पुत्री गन्धर्वदत्ता संगीतविद्या में पारंगत है। उसके रूप से मोहित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी संगीतविद्या में अनुरक्त हो उठे हैं। संगीतशिक्षा में जो उसे (कन्या को) पराजित कर देगा, उसी पुण्यात्मा की वह पत्नी बनेगी। उस नागरिक ने उन्हें यह भी बताया कि प्रत्येक महीने संगीतविदों के समक्ष निर्णय-परीक्षा का आयोजन किया जाता है।

सेठ चारुदत्त के दरबार में उपस्थित होने के लिए वसुदेव ने एक बहाना ढूँढ़ निकाला। चम्पा में दो संगीतज्ञ आचार्यों की जोड़ी बड़ी प्रसिद्ध थी। उनके नाम थे—सुग्रीव और जयग्रीव। वसुदेव ने मूर्ख का स्वांग रचकर सुग्रीव की निजी संगीतशाला में प्रवेश किया। उपाध्याय सुग्रीव ने जब उन्हें अपनी शाला में भरती करने से इनकार कर दिया, तब उन्होंने रत्ननिर्मित कंगन ब्राह्मणी (उपाध्यायानी) को लाकर दिया। ज्ञातव्य है कि वसुदेव ने चम्पा में प्रवेश करते समय अपने आभूषणों को एक गुप्त भूमिखण्ड में छिपा दिया था। उपाध्यायानी ने कंगन दिखलाते हुए उपाध्याय सुग्रीव से कहा कि “मेधावी होना कोई आवश्यक नहीं। यह स्कन्दिल अपनी विद्या के लिए प्रयत्न करेगा।” पत्नी के इस अनुरोध पर सुग्रीव ने वसुदेव को संगीत सिखाना स्वीकार कर लिया। ब्राह्मणी का स्नेहाश्रय उनके लिए प्रोत्साहन बन गया।

निर्णय-परीक्षा का जब समय आया, तब सुग्रीव, वसुदेव को संगीत में अनिपुण समझकर, उन्हें सेठ चारुदत्त की सभा में ले जाने को राजी नहीं हुआ। वसुदेव ने रत्नकंगन का जोड़ा लगाते हुए उपाध्यायानी से निवेदन किया। ब्राह्मणी ने वसुदेव को प्रोत्साहित किया : “यदि उपाध्याय

तुम्हें जाने से रोकते हैं, तो उससे तुम्हारा क्या बनता-बिगड़ता है ? तुम स्वयं जाओ और गन्धर्वदत्ता को पराजित करो ।”

वसुदेव, सेठ चारुदत्त की संगीत-सभा में पहुँचे । सुग्रीव ने सभा में वसुदेव को उपस्थित देखा, तो शंकित होकर कहा कि “मेरे पास मत आओ ।” वसुदेव सभा में आगे बढ़ते गये । सभा का सन्निवेश देखकर वसुदेव ने कहा : “विद्याधरलोक में ही इस प्रकार का सभागार दृष्टिगत होता है ।” वसुदेव की इस उक्ति पर, सेठ ने उन्हें गौर से देखते हुए, अपना सन्तोष प्रकट किया और बैठने के लिए आसन दिया । सभा में उन्होंने चित्रकला तथा वीणा-विषयक विशेषज्ञता का प्रदर्शन करके सभासदों को चमत्कृत कर दिया ।

वसुदेव ने उस संगीत-सभा में घोषवती (सप्ततन्त्री) वीणा बजाई और मनुष्यदुर्लभ विष्णुगीत भी गाकर सुनाया । गन्धर्वदत्ता, जो सभा में परदे के पीछे बैठी थी, सामने मंच पर आई । वसुदेव ने उसके साथ संगीत और वाद्य की इतनी दक्षता से संगति की कि सभी ‘वाह ! वाह !’ करने लगे । प्रतिज्ञानुसार गन्धर्वदत्ता ने वसुदेव को पति के रूप में वरण कर लिया । गन्धर्वदत्ता की दो सखियाँ—श्यामा और विजया भी (पूर्वोक्त श्यामा और विजया से भिन्न : सुग्रीव और यशोग्रीव की पुत्रियाँ) अपने-अपने पिता की अनुमति से वसुदेव की अंकशायिनी बनीं । वह अपनी इन तीनों पत्नियों के साथ रतिसुख प्राप्त करने लगे ।

एक दिन सेठ चारुदत्त ने अपनी रोचक और रोमांचक आत्मकथा सुनाते हुए वसुदेव से बताया कि गन्धर्वदत्ता वस्तुतः मेरी औरस पुत्री नहीं, अपितु पालिता विद्याधर-कन्या है । यह अमितगति विद्याधर की पुत्री है । ज्योतिषी ने इसके बारे में इसके पिता से बताया था कि “यह लड़की श्रेष्ठ पुरुष की पत्नी होगी और वह श्रेष्ठ पुरुष विद्याधर-सहित दक्षिण भारत का राज्य करेगा । वही पुरुष चम्पापुरी में चारुदत्त सेठ के घर में स्थित इस लड़की को संगीत के द्वारा पराजित करेगा । भानु (दत्त) सेठ का पुत्र चारुदत्त कारणवश यहाँ आयागा । उससे भेंट होने पर यह लड़की उसे सौंप देना ।” इसलिए, ज्योतिषी के निर्देशानुसार ही गन्धर्वदत्ता आपको समर्पित की गई है ।

ऋतुराज वसन्त का आगमन हुआ । एक दिन वसुदेव गन्धर्वदत्ता के साथ सुरवन (चम्पानगर के पार्श्ववर्ती महासरोवर के निकटस्थ वन) की यात्रा पर निकले । पूरा नगर उनके रथ को घेरकर चल रहा था । वसुदेव रथ से उतरकर महासरोवर के तट पर स्थित भगवान् वासुपूज्य के मन्दिर में गये । वहाँ गन्धर्वदत्ता-सहित उन्होंने भगवान् वासुपूज्य की वन्दना की, फिर पहले से ही सजे-सजाये आसन पर बैठे । विभ्राम के बाद परिजनों के साथ विधिवत् भोजन-पान हुआ । तदनन्तर, वसुदेव वसन्त की शोभा देखने लगे और अपनी पत्नी को भी दिखाने लगे ।

उसी क्रम में वसुदेव को वहाँ एक चण्डालकुल दिखाई पड़ा । वसुदेव के स्वागत में मातंगवृद्धा के आदेश से नीलयशा नाम की मातंगकन्या ने अपना नृत्य प्रस्तुत किया । चण्डालकन्या नृत्य के क्रम में जब आँखों का संचार करती, तब दिशाएँ जैसे कुमुदमय हो जातीं । उसके हाथों की भंगिमा साक्षात् कमलपुष्प की कान्ति बिखेरती और क्रम से जब वह अपने पैरों को उठाकर नाचती, तब उत्तम सारसी की भाँति उसकी शोभा अतिशय मोहक हो उठती । वसुदेव नीलयशा के नृत्य से विस्मय-विमुग्ध हो उठे ।

चम्पापुरी लौटने के बाद गन्धर्वदत्ता वासघर में जाकर बिछावन पर पड़ गई और व्यंग्यमिश्रित स्वर में वसुदेव से बोली : “आपने चण्डालकन्या देख ली और वह बुढ़िया भी ? कमलवन में हंस का मन क्या नहीं रमता ?” वसुदेव ने शपथपूर्वक गन्धर्वदत्ता से कहा : “मैंने तो विशेषकर नृत्य देखा और गीत सुना। मातंगी मैंने नहीं देखी।” इस प्रकार, मान-मनौवल में ही उनकी वह रात बीत गई (तीसरा गन्धर्वदत्ता-लम्भ) ।

सुबह होने पर सभागृह में बैठे वसुदेव के समक्ष उक्त मातंगवृद्धा आई और उसने मातंग-कन्या नीलयशा को उन्हें अर्पित कर देने का प्रस्ताव उनके संमक्ष रखा। वसुदेव ने जब असमान-गोत्रता की चर्चा करते हुए नीलयशा को स्वीकार करने से इनकार किया, तब मातंगवृद्धा ने विस्तार से अपनी वंशकथा सुनाते हुए यह सिद्ध किया कि वह जैनधर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के वंश की है और क्रीड़ावश विद्या के अधीन होकर ही नीलयशा मातंगवेश में रहती है। फिर भी, वसुदेव ने नीलयशा को स्वीकारने में अपनी असमर्थता दिखलाई।

तब, मातंगवृद्धा द्वारा प्रेरित वेताल, रात में, वसुदेव को उठाकर श्मशानगृह में ले आया। वहाँ मातंगवृद्धा बैठी हुई कुछ बुदबुदा रही थी। वह उन्हें वहाँ से वैताढ्य पर्वत पर ले चली। रास्ते में वसुदेव ने एक व्यक्ति को घतूरे का धुआँ पीते हुए देखकर मातंगवृद्धा से जिज्ञासा की, तो उसने कहा कि “यह अंगारक है। विद्याभ्रष्ट हो जाने के कारण फिर से विद्या की साधना कर रहा है। आप जैसे श्रेष्ठ पुरुष के दर्शन से उसकी विद्या सिद्ध होगी।” तब, वसुदेव ने अंगारक से दूर रहने की ही इच्छा प्रकट की; क्योंकि वह उनकी पूर्वपत्नी श्यामली का उत्पीडक था और उसने उन्हें भी कुएँ में फेंक दिया था। वसुदेव की इच्छा के अनुसार, मातंगवृद्धा उससे अलग हटकर चलती हुई उन्हें वैताढ्य पर्वत की प्रमुख श्रेणी नीलगिरि पर ले आई और एक उद्यान में रखकर चली गई। वहाँ उपस्थित लोग वसुदेव के रूपातिशय को देखकर विस्मित हो उठे।

नीलयशा के पिता सिंहदंष्ट्र ने वसुदेव का विपुल स्वागत किया और शुभ मुहूर्त में नीलयशा के साथ उनका विवाह कर दिया। वसुदेव निरुद्धिग्न भाव से प्रिया नीलयशा के साथ पंचविध विषयसुख के समुद्र में अवगाहन करने लगे।

एक दिन वसुदेव, नीलयशा के परामर्श से, विद्याधरो की विद्या सीखने के निमित्त वैताढ्य पर्वत पर अपनी प्रिया के साथ घूमने लगे, तभी एक मयूरशावक ने छल से नीलयशा का अपहरण कर लिया। वस्तुतः, वह मयूरशावक छद्मवेश में नीलकुमार विद्याधर का पुत्र नीलकण्ठ था, जो नीलयशा का पूर्वप्रेमी था। नीलयशा के पिता सिंहदंष्ट्र ने उसे नीलयशा के साथ विवाह का वचन दे रखा था। किन्तु, बृहस्पतिशर्मा नाम के ज्योतिषी ने सिंहदंष्ट्र को बताया था कि नीलयशा अर्द्धभरत के स्वामी (कृष्ण) के पिता की पत्नी होगी, जो अभी चम्पानगरी में चारुदत्त सेठ के घर में हैं। वह वहाँ के विशिष्ट सांस्कृतिक उत्सव महासरोवर की यात्रा के अवसर पर दिखाई पड़ेंगे।

नीलयशा के अपहरण के बाद दुःखी वसुदेव उसी पार्वत्य वनप्रदेश में हिण्डन करने लगे (चौथा नीलयशा-लम्भ)।

जंगल में भटकते हुए वसुदेव एक दिशा की ओर चल पड़े। रास्ते में उनके दमकते रूप को देखकर कुछ ग्वालों ने उन्हें घेर लिया और वे उनसे पूछने लगे : “तुम इन्द्रों में कौन-सा इन्द्र हो ? सच-सच बताओ।” वसुदेव ने अपने परिचय को छिपाकर कहा : “मैं मनुष्य हूँ। तुम डरो

नहीं। दो यक्षिणियाँ मुझे आकाशमार्ग से लिये जा रही थीं। बीच में ही मेरे लिए दोनों आपस में लड़ने लगीं। इसी क्रम में उनसे छूटकर मैं नीचे गिर पड़ा हूँ।” इसके बाद वसुदेव उन ग्वालों के निर्देशानुसार, राजा कपिल द्वारा शासित वेदश्यामपुर नामक नगर के समीपवर्ती गिरिकूट गाँव के निकट पहुँचे। वहाँ उन्होंने पुष्करिणी में स्नान किया और अपने आभूषणों को कपड़े के छोर में बाँधकर गाँव के भीतर प्रवेश किया। वहाँ के मन्दिर में अनेक ब्राह्मण-बालक वेदाभ्यास में निरत थे। वहाँ उन्होंने स्कन्दिल छद्मनाम से अपना परिचय दिया।

ग्रामनायक की पुत्री सोमश्री बड़ी रूपवती थी। ज्योतिषियों ने उसके बारे में भविष्यवाणी की थी कि वह श्रेष्ठ पुरुष की पत्नी बनेगी। मन्दिर में प्रतिष्ठित केवलज्ञानी बुध और विबुध साधुओं की प्रतिमाओं के समक्ष जो श्रेष्ठ पुरुष वेद के प्रश्नों का उत्तर देगा, उसी को कन्या दी जायगी।

एक ब्राह्मण-बालक से पूछकर वसुदेव वहाँ के प्रमुख उपाध्याय ब्रह्मदत्त के घर पहुँचे। उपाध्याय और उपाध्यायानी ने वसुदेव का स्नेहवत्सल भाव से स्वागत किया। वसुदेव ने, दक्षिणा के रूप में, ब्राह्मणी को कंगन प्रदान किया। सन्तुष्ट ब्राह्मणी ने अपने पति ब्राह्मण ब्रह्मदत्त को दक्षिणा में प्राप्त कँगने दिखाये। वसुदेव ने उपाध्याय ब्रह्मदत्त से आर्य और अनार्य दोनों प्रकार के वेदों का ज्ञान प्राप्त किया।

ग्रामप्रधान देवदेव (सुरदेव) की परीक्षा-परिषद् में वसुदेव ने अस्खलित भाव से वेद का सस्वर पाठ किया और उसका अवितथ रूप से परमार्थ भी बताया। वसुदेव के प्रश्नोत्तर से सभी वेदपारग सन्तुष्ट हो गये। सभी उनके देवत्वपूर्ण व्यक्तित्व की प्रशंसा करने लगे। उसके बाद शुभ दिन में सोमश्री के साथ वसुदेव का विवाह हो गया और गिरिकूट ग्राम में रहते हुए वह सुखपूर्वक समय बिताने लगे (पाँचवाँ सोमश्री-लम्भ)।

गिरिकूट ग्राम में रहते हुए वसुदेव ने एक दिन एक ऐन्द्रजालिक विद्याधर को देखा। उन्होंने उससे कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि में ‘शुम्भा’ और ‘निशुम्भा’ नाम की आकाश में उड़ने और वहाँ से नीचे उतरने की दो विद्याएँ प्राप्त कीं। फिर, वह सोमश्री से अनुमत होकर और उसे इस बात को किसी से न कहने की चेतावनी देकर सन्ध्या में निकल पड़े। ऐन्द्रजालिक विद्याधर उन्हें पहले पहाड़ की गुफा में ले गया, फिर वे दोनों खड़ी चोटीवाले पहाड़ों से भरे प्रदेश में पहुँचे। पूजा की विधि समाप्त की गई। उसके बाद विद्याधर ने उनसे कहा: “विद्या की आवृत्ति शुरू करो। एक हजार आठ आवृत्ति पूरी होते ही विमान उतरेगा और तुम निःशंक उसमें चढ़ जाना। विमान जब सात-आठ तल ऊपर पहुँच जायगा, तब निवर्तनी विद्या की, इच्छानुसार, आवृत्ति करना, विमान नीचे उतर आयगा। मैं तुम्हारी रक्षा के निमित्त निकट में ही थोड़ी दूर पर रहूँगा।” यह कहकर विद्याधर चला गया।

जप पूरा होते ही सचमुच एक सुसज्जित विमान उतरा। वसुदेव उस विमान में जा बैठे। विमान एक दिशा की ओर उड़ चला। जब पहाड़ पर विमान खड़खड़ करता हुआ लड़खड़ाने लगा, तब उन्होंने आवर्तनी (निवर्तनी) विद्या का जप प्रारम्भ किया, फिर भी विमान आगे ही बढ़ता चला गया। इसके बाद उन्होंने कुछ आदमियों के परिश्रमजनित उच्छ्वास का शब्द सुना। सुबह हो चुकी थी। वह समझ गये कि किसी की सलाह से किसी पुरुष द्वारा प्रयुक्त इस कृत्रिम विमान को निश्चय ही रस्सी से खींचकर लाया गया है। वसुदेव विमान से नीचे उतरकर चल पड़े। जब लोगों ने उनका पीछा करना शुरू किया, तब वह जल्दी-जल्दी भाग चले। जहाँ पीछा करनेवाले लोग बहुत पीछे छूट जाते थे, वहाँ वह थोड़ा सुस्ता लेते थे। इस प्रकार, बहुत देर तक पीछा करने पर भी लोग उन्हें पकड़ नहीं सके।

बहुत देर घटकने के बाद, अपराह्न में, सूर्यास्त के समय, थके-माँदे वसुदेव तिलवस्तु नाम के सन्निवेश में पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक नरपक्षी राक्षस का विनाश करके ग्रामीणों का त्राण किया। ग्रामवृद्धों ने उनका बड़ा सम्मान किया। तब माला पहने कुछ रूपवती कन्याएँ वहाँ उपस्थित हुईं। ग्रामवृद्धों ने वसुदेव से कहा : “आपने इनका त्राण किया है, इसलिए आज से ये आपकी आज्ञा में रहेंगी। आपकी आज्ञाकारिणी ये बालिकाएँ उच्च कुल में उत्पन्न हुई हैं, इसलिए इन्हें सेविका के रूप में स्वीकार करें।”

तब, वसुदेव ने ग्रामवृद्धों से कहा : “मैं ब्राह्मण हूँ। स्वाध्याय (वेदाध्ययन) के निमित्त बाहर निकला हूँ। इन कन्याओं से मुझे कोई प्रयोजन नहीं। इनके सत्कार से ही मैं अपने को पूजित मानता हूँ। मुझे यही सन्तोष है कि आप सबका कल्याण हुआ।” इसके बाद उन्होंने ‘ये कन्याएँ सुखभागिनी हों’ कहकर उन्हें विदा कर दिया। वसुदेव को देवतुल्य समझकर कन्याओं ने उनपर फूल बिखरे और वे अपने घर चली गईं। बाद में जब वे कन्याएँ दूसरों को दी जाने लगीं, तब उन्होंने (कन्याओं ने) यह कहते हुए साफ़ इनकार कर दिया कि “हमारे पति तो वही (वसुदेव ही) हैं।”

तिलवस्तु से निकलकर वसुदेव अचलग्राम पहुँचे। वहाँ राजमार्ग पर स्थित धनमित्र नामक सार्थवाह की दुकान में गये। धनमित्र ने उन्हें बैठने को आसन दिया। वसुदेव के, दुकान में बैठते ही सार्थवाह को लाखगुना मुनाफा हुआ। ज्योतिषी ने धनमित्र को बताया था कि उसकी पुत्री मित्रश्री पृथ्वीपति की पत्नी होगी। अभिज्ञान के लिए दैवज्ञ ने धनमित्र को यह भी निर्देश किया था : “तुम्हारे पास जिसके बैठने से लाखगुना मुनाफा हो, उसी क्षण जानना कि यही वह पृथ्वीपति है।”

धनमित्र ने वसुदेव को पहचानकर उनका भव्य स्वागत किया और शुभ घड़ी में अपनी पुत्री मित्रश्री के साथ उनका विवाह कर दिया। विवाह-विधि समाप्त होने पर सार्थवाह ने वसुदेव को सोलह करोड़ का धन दिया।

धनमित्र के घर के समीप ही रहनेवाले सोम ब्राह्मण की पुत्री धनश्री बड़ी रूपवती थी। किन्तु, उसके पाँच पुत्रों में एक मेधावी होते हुए भी तोतला था। इसलिए, वह वेद नहीं पढ़ सकता था। इस बात से सभी ब्राह्मण दुःखी थे। अपनी पत्नी मित्रश्री के आग्रह करने पर उस ब्राह्मण-बालक की चिकित्सा के लिए वसुदेव राजी हो गये। उन्होंने कैची लेकर फुरती से उस बालक की काली जिह्वातन्तु काट डाली और उस घाव पर रोहणद्रव्य (घाव भरनेवाली वनौषधि) लगा दिया। तब उस बालक की बोली स्पष्ट हो गई।

ब्राह्मण सन्तुष्ट होकर साक्षात् वसन्तश्री की भाँति अपनी रूपवती पुत्री धनश्री को वसुदेव के लिए प्रस्तुत कर दिया और बोला : “देव ! मेरे बच्चे की चिकित्सा करके आपने मुझे जीवनदान दिया है।” इसके बाद वसुदेव ने उस बालक को वेद पढ़ाना शुरू किया और थोड़े ही दिनों में वह बहुत सीख गया। वसुदेव अचलग्राम में मित्रश्री और धनश्री के साथ सुखभोग करते हुए कुछ दिन वहाँ रहे (छठा मित्रश्री-धनश्री-लम्प)।

एक दिन वसुदेव मित्रश्री और धनश्री को छोड़कर निकल पड़े और वेदश्यामपुर जा पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट उस नगर के राजा कपिल के महाश्वपति वसुपालित की कन्या वनमाला से हुई।

उससे उन्हें सूचना मिली कि राजा कपिल की कन्या कपिला के अर्द्धभरताधिपति के पिता की पत्नी होने के बारे में भृगु ज्योतिषी ने भविष्य-कथन किया है और उस महापुरुष के अभिज्ञान के सम्बन्ध में बताया है कि जो स्फुलिंगमुख घोड़े का दमन करेगा, वही अर्द्धभरताधिपति का पिता होगा। वह सम्प्रति गिरिकूट ग्राम में देवदेव के घर में रहता है। ज्योतिषी की सूचना के आधार पर राजा कपिल ने ऐन्द्रजालिक इन्द्रशर्मा को गिरिकूट भेजा। वह ऐन्द्रजालिक, विद्या की साधना के बहाने उस पुरुष को रात्रि में, रस्सी में बंधे यन्त्र-निर्मित विमान पर बैठकर गिरिकूट ग्राम से बाहर पर्वतशिखर पर ले आया। सुबह होते ही उस पुरुष ने समझ लिया कि उसका अपहरण किया जा रहा है। बस, वह विमान से उतरकर भाग गया, जिसे इन्द्रशर्मा पकड़ नहीं सका और लाचार होकर लौट आया। ऐन्द्रजालिक की विफलता से राजा कपिल चिन्तित हो उठे हैं।

वनमाला को यह सूचना उसके पिता वसुपालित से प्राप्त हुई थी। इस सूचना में अपनी अनुकूलता देखकर वसुदेव ने वेदश्यामपुर में ही रहने का निर्णय किया। एक दिन उन्होंने राजा कपिल के स्फुलिंगमुख घोड़े का दमन करके विपुल लोकादर प्राप्त किया। ऐन्द्रजालिक इन्द्रशर्माने, अपने आयासित करनेवाले व्यवहार के लिए, वसुदेव से क्षमा माँगी। राजा को अपने जामाता की पहचान हो गई। इसके बाद शुभ दिन में, राजा ने अपनी पुत्री कपिला का विवाह वसुदेव से कर दिया और लज्जित भाव से बत्तीस करोड़ का धन दिया।

विवाह के बाद ध्रुवदर्शन से प्रसन्न वसुदेव राजा कपिल के घर में प्रिया कपिला के साथ सुखपूर्वक रहने लगे। उनका साला अंशुमान् (राजा कपिल का पुत्र) बराबर उनकी सेवा में लगा रहता था। उन्होंने अपने साले को विभिन्न कलाओं की विशिष्ट शिक्षा दी। वहीं कालक्रम से वसुदेव के, (पत्नी कपिला से) 'कपिल' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (सातवाँ कपिला-लम्भ)।

एक दिन महावत सुलक्षण हाथी ले आया। वसुदेव उसे वशंवद बनाकर उसपर सवार हो गये और अपनी इच्छा के अनुसार घुमाने लगे। वह विश्वस्त हाथी देखते-ही-देखते आकाश में उड़ गया और वसुदेव को जल्दी-जल्दी ले चला। कुमार अंशुमान् वसुदेव के अनुसरण के निमित्त दौड़ने लगा। लेकिन, हाथी वसुदेव को बहुत दूर उड़ा ले गया। "कोई विद्याधर हाथी का रूप धरकर उनका अपहरण कर रहा है" यह सोचकर वसुदेव ने हाथी के ललाट की हड्डी (कपालास्थि) पर तीव्र प्रहार किया। चोट खाते ही वह हाथी नीलकण्ठ के रूप में प्रकट हुआ और उन्हें छोड़कर अदृश्य हो गया। [ज्ञातव्य है कि नीलकण्ठ वसुदेव की पूर्वपत्नी नीलयशा के मामा नीलकुमार का पुत्र था, जो अपनी अजातदत्ता पत्नी नीलयशा के साथ वसुदेव के विवाह होने के बाद से ही उनका (वसुदेव का) वैरी हो गया था और नीलयशा को, मयूरशावक का छद्मवेश धरकर हर ले गया था।] नीलकण्ठ से मुक्त वसुदेव किसी जंगल के तालाब में जा गिरे और उससे बाहर निकल आये।

भूलते-भटकते वसुदेव शालगुह सन्निवेश में जा पहुँचे। वहाँ वह पूर्णाश उपाध्याय के शिष्यों को आयुधविद्या की शिक्षा देने लगे। वे सभी शिष्य वहाँ के राजा अभग्नसेन के लड़के थे। वसुदेव ने योगाचार्य पूर्णाश उपाध्याय को धनुर्वेद की उत्पत्ति-कथा सुनाई और तद्विषयक शास्त्रार्थ में उसे पराजित किया। राजा को जब इसकी सूचना मिली, तब वह वसुदेव को अपने घर ले गया। प्रसंगवश वसुदेव ने राजा अभग्नसेन के समक्ष अश्व और हस्तिसंचालन-विद्या का अभूतपूर्व

प्रदर्शन किया। राजा विस्मित हो उठा। सन्निवेशवासी प्रजाजन वसुदेव के रूप, बय और बल का वर्णन करते हुए प्रशंसामुखर हो रहे थे। चित्रकला-कुशल व्यक्ति वसुदेव को अपना प्रतिच्छन्द (मॉडेल) बनाने को उत्सुक हो रहे थे। महलों की खिड़कियों में खड़ी युवतियाँ उनपर फूल और मंगलचूर्ण बिखेर रही थीं।

राजभवन में वसुदेव का राजोचित स्वागत-सम्मान किया गया। उसके बाद राजा अभग्नसेन ने अपनी रूपवती पत्नी पद्मा वसुदेव को अर्पित कर दी। विधिवत् विवाह का अनुष्ठान सम्पन्न हुआ। उसके बाद वसुदेव का साला अंशुमान् भी उनको खोजते-ढूँढ़ते वहाँ आ पहुँचा। अंशुमान् की हिण्डन-कथा सुनने के बाद उन्होंने हाथी के उड़ने से प्रारम्भ कर पद्मा से विवाह तक की सारी कथा उससे कह सुनाई। अंशुमान् का, राजा कपिल के पुत्र के रूप में राजा अभग्नसेन के पुरुषों से परिचय कराया गया। राजा अभग्नसेन ने सन्तुष्ट होकर अंशुमान् का सम्मान किया।

जिज्ञासा करने पर वसुदेव ने अपनी पत्नी पद्मा से अपने नगर-निर्गम का वृत्तान्त कारणसहित बता दिया। तदनन्तर, वसुदेव पद्मा के साथ ललितरम्य कलाओं तथा अंशुमान् के साथ व्यायाम-कला को प्रसन्नमन से आयत्त करते हुए सुखपूर्वक दिन बिताने लगे (आठवाँ पद्यालम्भ)।

राजा अभग्नसेन का बड़ा भाई मेघसेन था। वह अभग्नसेन को सतत उत्पीड़ित करता रहता था। इसीलिए, वह जयपुर से भागकर शालगुहा में आकर रहता था। एक दिन उसने वसुदेव से अपनी दुःखगाथा सुनाई। वसुदेव ने अपने साले अंशुमान् के सहयोग से राजा मेघसेन को पराजित कर दिया। और अन्त में, सान्धिविग्रहिक वसुदेव ने दोनों भाइयों में मेल भी करा दिया। अभग्नसेन द्वारा सम्मानित मेघसेन अपना नगर लौट गया।

कुछ दिनों के बाद मेघसेन लौटकर आया और अपराजेय योद्धा वसुदेव से कहने लगा : “देव ! मेरी कन्या अश्वसेना आपकी सेविका बने, इसके लिए कृपा कीजिए।” वसुदेव ने कहा : “पद्मा यदि अनुमति दे, तो वही हो।” पद्मा की अनुमति से मेघसेन ने अश्वसेना का वसुदेव के साथ पाणिग्रहण करा दिया। अश्वसेना सर्वांगसुन्दरी मधुरभाषिणी राजकन्या थी। मेघसेन ने कन्या के साथ ही प्रचुर परिचारक और विपुल धन-वैभव प्रदान किया। वसुदेव पद्मा और अश्वसेना—दोनों राजकुमारियों के साथ सुख से रहने लगे (नवाँ अश्वसेना-लम्भ)।

एक दिन वसुदेव ने अंशुमान् से परामर्श किया कि किसी अपूर्व जनपद का भ्रमण किया जाय। अंशुमान् ने बताया कि यहीं समीप में मलय नाम का देश है। वहाँ ललितकला-प्रेमी जन रहते हैं और वह देश उपवनों और काननों की श्री-सुषमा से सम्पन्न है। बस, विना किसी को सूचना दिये दोनों व्यक्ति माथा ढके हुए, विपरीत मार्ग से चुपचाप निकल गये और कुछ दूर जाने पर फिर सीधे रास्ते से चले। रास्ते की थकान मिटाने के लिए अंशुमान् किस्सा सुनाता चला। बहुत दूर निकल जाने के बाद दोनों ने एक सन्निवेश के बाहर विश्राम किया। वसुदेव ने अपने आभूषणों को छिपाकर रख लिया। उसके बाद दोनों ने विप्ररूप धरकर भद्रिलपुर सन्निवेश में प्रवेश किया। वहाँ दोनों ने अपने नाम आर्यज्येष्ठ और आर्यकनिष्ठ रख लिये। इभ्यपुत्र वीणादत्त दोनों को अपने घर ले गया और बड़े ठाट-बाट से आतिथ्य किया, फिर उसने दोनों के लिए राजमार्ग के समीप ही स्वतन्त्र आवास की व्यवस्था भी कर दी।

अंशुमान् ने वहाँ की द्यूतसभा में इभ्यपुत्रों को हराकर प्रचुर मूल्यवान् धन प्राप्त किया और उसे वीणादत्त के घर में मुहरबन्द करके सुरक्षित रख दिया। वसुदेव ने भी द्यूतक्रीड़ा में विस्मयकारी विजय प्राप्त किया। पराजित इभ्यपुत्र वसुदेव के विषय में यह कहते हुए चले गये कि “विप्रवेश में छिपा हुआ यह अवश्य ही कोई देव, गन्धर्व या नागकुमार है !”

वीणादत्त के नन्द और सुनन्द नाम के रसोइये ने उत्तम भोजन तैयार कर वसुदेव और अंशुमान् दोनों को तृप्त किया। पाकशास्त्रविशारद रसोइयों को वसुदेव ने, परिधान के मूल्यस्वरूप, एक लाख (रुपये) प्रीतिदान में दिये। किन्तु प्रीतिदान अस्वीकार करते हुए उन्होंने वसुदेव से निवेदन किया कि उनके (नन्द-सुनन्द के) पिता भी राजा सुषेण के रसोइया थे। आजीविका-वृत्ति से निवृत्त होने के बाद वे प्रव्रजित हो गये। तब उन दोनों ने पाकशास्त्र के अन्तर्गत चिकित्साशास्त्र का भी अध्ययन किया और पुण्ड्रदेश चले आये। वहाँ के राजा ने उन्हें न केवल आश्रय और वृत्ति दी, अपितु पितृतुल्य स्नेह भी दिया। ज्योतिषी ने उन्हें बताया था कि उनकी सेवा अर्द्धभरत के स्वामी के पिता के निकट सफल होगी। और, तुष्टिदान में जो उन्हें एक लाख देगा, वही अर्द्धभरत के अधिपति का पिता होगा। इस प्रकार कहकर, उन दोनों ने सेवक के रूप में स्वीकार करने का आग्रह करते हुए वसुदेव को प्रणाम किया। अन्त में, वसुदेव ने स्वीकृति दे दी और फिर वसुदेव के अनुरोध पर उन दोनों रसोइयों ने प्रीतिदान भी ले लिया।

भद्रिलपुर में ही अंशुमान् की भेंट उसकी फुआ से हुई, जो अब आर्थिका हो गई थी। वहीं तारकसेठ की पुत्री सुतारा के साथ अंशुमान् का विवाह भी हो गया। इस प्रकार, वहाँ अंशुमान् के सम्बन्धियों का एक पूरा वर्ग बन गया।

एक दिन वसुदेव ने वहाँ जिनोत्सव का आयोजन किया। उस अवसर पर उन्होंने राजा के समक्ष नागराग और किन्नरगीतक प्रस्तुत किया। राजा वस्तुतः राजा नहीं था, अपितु वह पुरुष के प्रच्छन्न वेश में राजकुमारी था। उत्सव समाप्त होते ही वसुदेव बीमार पड़ गये, किन्तु प्रच्छन्न राजकुमारी की परिचर्या से स्वस्थ हो गये। अन्त में, प्रच्छन्न रूप से राजकुमार के वेश में रहनेवाली उस राजकुमारी पुण्ड्रा के साथ वसुदेव का विवाह हो गया। कालक्रम से पुण्ड्रा गर्भवती हुई और उसने ‘महापुण्ड्र’ नामक कुमार को जन्म दिया। भद्रिलपुर की सारी प्रजाएँ परितुष्ट हो गईं। उन्होंने बड़े समारोह के साथ पुत्र-जन्मोत्सव मनाया। पुत्र के दर्शन से आनन्दित वसुदेव का समय सुख से बीतने लगा (दसवाँ पुण्ड्रा-लम्भ)।

एक दिन वसुदेव रतिश्रम से खिन्नशरीर होकर अपनी पत्नी पुण्ड्रा के साथ सोये हुए थे, तभी दीन-करुण भाव से रोने की आवाज सुनकर उनकी नींद खुल गई। सामने ही हाथ में रत्नपेटिका लिये कलहंसी नाम की प्रतिहारी खड़ी थी। वह उन्हें एक ओर ले गई और बोली : “आपकी पत्नी श्यामली (लम्भ २) आपको अपना प्रणाम निवेदित करती हैं। निरन्तर आपका स्मरण करती रहनेवाली देवी श्यामली ने ही मुझे आपके चरणों में भेजा है।”

वसुदेव ने प्रतिहारी से पूछा : “राजा अशनिवेग (श्यामली के पिता) परिवार-सहित कुशलपूर्वक हैं ? देवी श्यामली स्वस्थ हैं ?” प्रतिहारी बोली : “स्वामी ! सुनें। दुरात्मा अंगारक विद्याभ्रष्ट होकर हमसे झगड़ने आया था। आपके प्रताप से राजा अशनिवेग ने युद्ध में उसे पराजित कर दिया और किन्नरगीत नगर भी हथिया लिया। सम्प्रति, राज्यलाभ से हर्षित परिजनों के साथ

देवी श्यामली आपके दर्शन चाहती हैं।" वसुदेव ने सहज प्रसन्न होकर कहा : "कलहंसी ! मुझे प्रिया श्यामली के पास ले चलो; उसका भी दुःख दूर हो जाय।" वह प्रसन्न हुई और वसुदेव को साथ लेकर उड़ गई।

लेकिन, कलहंसी जब वसुदेव को वैताढ्य की ओर न ले जाकर दूसरी दिशा की ओर ले चली, तब उन्होंने समझ लिया कि निश्चय ही यह कोई धोखा देनेवाली दुष्ट स्त्री है। तब, उन्होंने मुट्ठी बाँधकर उस स्त्री की कनपट्टी पर तीव्र प्रहार किया। चोट खाते ही कलहंसी ने अपना छद्मरूप छोड़कर अंगारक का रूप धारण कर लिया और डरकर उसने उन्हें वहीं छोड़ दिया और स्वयं गायब हो गया।

निराधार वसुदेव आकाश से एक झील में गिर पड़े। झील से बाहर निकलकर वसुदेव विश्राम करने लगे, तभी उन्हें शंख की ध्वनि सुनाई पड़ी। उन्होंने अनुमान लगाया कि निकट में ही कोई नगर है। सुबह होने पर वह नगर के निकट गये। पूछने पर पता चला कि वह इलावर्द्धन नगर है। नगर बड़ा समृद्धिशाली था।

वसुदेव एक व्यापारी की दुकान में पहुँचे। व्यापारी ने उन्हें बैठने के लिए आसन दिया। दुकान में उनके बैठते ही व्यापारी को एक लाख का मुनाफा हुआ। परितुष्ट व्यापारी ने उनसे निवेदन किया कि "आप मुझपर कृपा करके आज मेरे यहाँ भोजन लेना स्वीकार करें।" उन्होंने स्वीकृति दे दी। इसके बाद व्यापारी बोला : "किसी कारणवश मैं बाहर जा रहा हूँ, जबतक लौटूँ, तबतक आप यहीं विश्राम करें।" उसके बाद, वह अपनी गद्दी पर एक रूपवती नौकरानी को बैठाकर चला गया।

उस नौकरानी के मुँह से बराबर लहसुन की बदबू आती थी, इसलिए वह पूछे गये प्रश्नों का उत्तर मुँह घुमाकर देती थी। वसुदेव ने उससे कुछ ओषधि-द्रव्य मँगवाये और उन्हें घी में खरल कर नलीयन्त्र में डाल दिया। उसके बाद उनसे गोलियाँ तैयार कीं। उन गोलियों के प्रयोग से नौकरानी बालिका के मुँह की बदबू दूर हो गई और कमल की खुशबू आने लगी।

व्यापारी लौटकर आया और नौकरानी के, जिसका नाम लशुनिका था, मुँह से निकलनेवाली कमल की खुशबू को लखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और वसुदेव को अपने घर ले जाकर ठाटबाट से स्वागत किया। उसके बाद अपनी पुत्री रक्तवती और लशुनिका की पूर्वभव-कथा कहकर वसुदेव को उनका परिचय दिया।

साधु शिवगुप्त ने व्यापारी को बताया था कि रक्तवती अर्द्धभरत के पिता की पत्नी बनेगी और उसकी पहचान के चिह्न के बारे में कहा था कि दुकान में जिसके पैर पड़ते ही एक लाख का मुनाफा होगा और दुर्गन्धमुखी लशुनिका सुगन्धमुखी हो जायगी, वही रक्तवती का पति होगा।

इसके बाद शुभ लग्न में व्यापारी ने अपनी पुत्री रक्तवती का वसुदेव के साथ पाणिग्रहण करा दिया। वसुदेव परमसुन्दरी रक्तवती के साथ विषय-सुख का अनुभव करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे (ग्यारहवाँ रक्तवती-लम्भ)।

एक दिन वर्षाऋतु में, व्यापारी (रक्तवती के पिता) के अनुरोध पर वसुदेव इन्द्र-महोत्सव देखने महापुर नामक नगर पहुँचे। वहाँ के राजा सोमदेव की पुत्री सोमश्री, जम्भक देव द्वारा वाणी के

हर लिये जाने के कारण, गूँगी हो गई थी। साधुओं ने सोमश्री की पूर्वभव-कथा कहते हुए उससे बताया था कि उसका पति सत्रह सागरोपम आयुःस्थिति के क्षीण होने पर च्युत होकर मनुष्य के रूप में उत्पन्न हो चुका है और वह भी पूर्वभव से च्युत होकर महापुर के राजा सोमदेव की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई है। पति की पहचान के बारे में साधुओं ने संकेत किया था कि हाथी के दृष्टिपथ में आने पर जब उसका प्राण संकट में पड़ जायगा और तब उसका जो परित्राण करेगा, वही उसका पति होगा। तभी से सोमश्री गूँगी रहने लगी थी।

महापुर में वसुदेव इन्द्रमहोत्सव देख रहे थे, तभी उन्हें जनकोलाहल सुनाई पड़ा। कारण जानने के लिए वसुदेव ने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई। तभी उन्हें यम का प्रतिरूप विद्युन्मुख नाम का मतवाला हाथी दिखाई पड़ा, जिसने अपने महावत को मार डाला था और मदान्ध होने के कारण वह अपने सामने पड़ जानेवाले आदमियों को रौंदता हुआ रथ पर बैठी युवतियों की ओर आ रहा था। सब लोग जहाँ-तहाँ भाग-दुबक रहे थे। इसी बीच उस हाथी ने अपनी सूँड़ से एक लड़की को रथ से बाहर खींच लिया। लड़की “बचाओ ! बचाओ ! !” चिल्लाने लगी।

हस्तिविद्या में कुशल वसुदेव ने बालिका को आश्वस्त किया और क्षणभर में ही हाथी को अपने वश में कर लिया। सभी लोग वसुदेव की प्रशंसा करने लगे। स्त्रियाँ उनपर फूल और गन्धचूर्ण की बरसा करने लगीं। वह बालिका प्रकृतिस्थ होकर प्रसन्न मुख से वसुदेव के पैरों पर गिर पड़ी और बोली : “स्वामी । आपका मंगल हो। स्वयं अक्षतशरीर रहकर आपने मुझे हाथी के मुँह से बचा लिया।” उसके बाद कुछ सोचकर उसने अपनी चादर वसुदेव को दे दी और वसुदेव द्वारा दी गई अँगूठी उसने ले ली।

सोमश्री के पिता राजा सोमदेव को जब यह ज्ञात हुआ कि सोमश्री को जीवनदान देनेवाला व्यक्ति ही उसका, पूर्वभव का, पति है, तब उसने विमान-सदृश पालकी भेजकर वसुदेव को राजभवन में बुलवाया। भृगुपुरोहित ने अग्नि में हवन किया और प्रसन्नचित्त राजा ने अपनी पुत्री का वसुदेव से विवाह कर दिया। इसके बाद “कोष-सहित मुझपर आपका अधिकार है” यह कहकर राजा ने मंगलसूचक बत्तीस करोड़ का धन वसुदेव को दिया। वसुदेव निरुद्विग्न भाव से सोमश्री के साथ विषय-सुख का भोग करने लगे (बारहवाँ सोमश्री-लम्भ)।

एक दिन वसुदेव सम्भोगजनित परिश्रम से खिन्न होकर सोमश्री के साथ सोये हुए थे। भोजन पच जाने पर उनकी नींद खुली, लेकिन बिछावन पर सोमश्री को न देखकर उदास हो गये। बहुत खोज-दूँढ़ करने पर भी जब वह नहीं मिली, तब वसुदेव ने अनुमान लगाया कि किसी आकाशगामी (विद्याधर) ने उसका अपहरण कर लिया है। सोमश्री को खोजते हुए वसुदेव ‘अशोकवनिका’ में पहुँचे। वहाँ सोमश्री उन्हें दिखाई पड़ी। उन्होंने उसका मनुहार करते हुए पूछा : “सुन्दरी ! क्यों अकारण क्रुद्ध हो गई ? प्रसन्न हो जाओ ।” तब उसने कहा : “आर्यपुत्र ! मैं आपसे क्रुद्ध नहीं हूँ। पूर्वस्वीकृत नियमोपवास के कारण मुझे मौन रहना था। प्रिय से प्रिय व्यक्ति से भी बात नहीं कर सकती थी। वह व्रत आपके चरणों की कृपा से पूरा हो गया। इस व्रत में विवाह-कौतुक का सारा काम करना होगा। इस व्रत का उद्यापन इसी पद्धति से होगा।” इसके बाद वसुदेव के साथ सोमश्री की विवाह-विधि पूरी की गई।

सोमश्री ने प्रसाद-स्वरूप वसुदेव के मुँह में मिठाइयाँ डालीं और मद्यपान कराया। नशे की स्थिति में उन्होंने उसके साथ रतिसुख प्राप्त किया। एक दिन, भोजन पच जाने पर, आधी रात में जब उनकी नींद खुली, तब उन्होंने सोमश्री की जगह किसी दूसरी ही स्त्री को देखा। वसुदेव के आश्चर्यचकित होने पर उस स्त्री ने वेगवती के रूप में अपना परिचय दिया और बताया कि उसका दुष्ट भाई मानसवेग सोमश्री को अपहृत कर प्रमदवन में ले आया और उसे अपने प्रति अनुकूलित कराने के लिए उसने मुझे उसके (सोमश्री के) पास भेजा। परन्तु, सोमश्री आपके प्रति अनन्य अनुराग रखती थी, इसलिए वह तनिक भी विचलित नहीं हुई।

वेगवती से ही वसुदेव को यह जानकारी प्राप्त हुई कि सोमश्री के कहने पर ही वेगवती वसुदेव को सोमश्री के पास ले जाने के लिए अशोकवनिका में आई और अपने को सोमश्री के रूप में उपस्थित किया। किन्तु, अन्त में वेगवती ने इसके लिए वसुदेव से क्षमा माँगी।

सोमश्री के माता-पिता को अपनी दासियों से जब यह सूचना मिली कि वसुदेव के वासगृह में सोमश्री की जगह कोई दूसरी ही स्त्री है, तब वेगवती से पूछताछ की गई। वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर राजा (सोमश्री के पिता) ने वेगवती को पुत्री-तुल्य सम्मान दिया। इस प्रकार, वसुदेव वेगवती के साथ, राजमहल में रहकर विषय-सुख का अनुभव करने लगे (तेरहवाँ वेगवती-लम्ब)।

एक दिन वसुदेव सम्भोग-सुख के आस्वादजन्य श्रान्ति की कारण सोये हुए थे कि एकाएक शरीर में ठण्डी हवा लगने से जग पड़े और उन्होंने अनुभव किया कि उन्हें कोई आकाशमार्ग से हर ले जा रहा है। तभी, उन्हें सामने एक पुरुष दिखाई पड़ा, जिसका मुँह थोड़ा-थोड़ा वेगवती से मिलता था। वसुदेव के मन में यह धारणा बँधी कि दुरात्मा मानसवेग उन्हें मार डालने के लिए कहीं ले जा रहा है। ऐसा खयाल आते ही वसुदेव ने मानसवेग पर मुक्के से प्रहार किया। मानसवेग तो अदृश्य हो गया और वसुदेव निराधार होकर गंगानदी के जल की सतह पर आ गिरे। पानी में परिव्राजक-वेशधारी कोई पुरुष खड़ा था। उसने वसुदेव को गिरते ही धोड़े की भाँति अपनी पीठ पर थाम लिया और परितुष्ट होकर कहा : “आपके दर्शन से मेरी विद्या सिद्ध हो गई।” फिर, उसने वसुदेव से पूछा : “कहिए, आप कहाँ से आ रहे हैं?” वसुदेव ने छद्म उत्तर दिया : “मुझे आकाशमार्ग से दो यक्षिणियाँ ले जा रही थीं। रास्ते में वे मुझको लेकर ‘मेरा-तेरा’ कहकर झगड़ने लगीं और मुझे छोड़ दिया। बस, मैं आसमान से सीधे यहाँ आ गिरा।”

परिव्राजक से ही वसुदेव को ज्ञात हुआ कि वह कनखलद्वार में आ पहुँचे हैं। उन्हें यह भी पता चला कि परिव्राजक कोई विद्याधर है। वसुदेव से उस विद्याधर ने कहा कि वह उन्हें कौन-सा प्रीतिदान दे। तब, वसुदेव ने उससे आकाशगमन की विद्या माँगी। विद्याप्राप्ति के लिए विद्याधर उन्हें किसी दूसरे स्थान में ले गया और बोला : “यहाँ बहुत सारे विघ्न होते हैं। विघ्न करनेवाली देवियाँ स्त्रीरूप धरकर मोह लेती हैं। इसलिए, उनके बीच आप मौनव्रत धारण कर साहसपूर्वक सब सहेंगे।” इसके बाद वसुदेव को दीक्षा देकर वह विद्याधर चला गया और यह कह गया कि एक दिन-रात बीतने पर वह फिर लौटकर आयगा।

सन्ध्या के समय नूपुर और मेखला झनकारती हुई कोई नयनमनोहर युवती वहाँ आई और वसुदेव की प्रदक्षिणा करके उनके सामने खड़ी हो गई। वसुदेव ने सोचा कि साक्षात् विद्या आकर उपस्थित हुई है। तभी वह प्रणाम करती हुई बोली : “आपसे वरदान प्राप्त कर मुक्त होना चाहती हूँ।”

वसुदेव ने सोचा : “मुझे जिससे वर माँगना चाहिए, वह स्वयं मुझसे माँग रही है। इसलिए, अवश्य ही मेरी विद्या सिद्ध हो गई।” वसुदेव ने उस युवती से कहा : “अवश्य वर दूँगा।” युवती प्रसन्न हो गई और वसुदेव को उठाकर आकाशमार्ग से ले चली।

क्षणभर में ही वह उन्हें एक पर्वत-शिखर पर ले गई और वहाँ उसने उन्हें अशोकवृक्ष के नीचे एक समतल चट्टान पर रखा। उसके बाद ‘आप घबरायें नहीं’ कहकर वह चली गई। तभी क्षणभर में दो रूपवान् युवा पुरुष वहाँ आये। उन्होंने ‘दधिमुख’ तथा ‘चण्डवेग’ के नाम से अपना-अपना परिचय देकर वसुदेव को प्रणाम किया। क्षणभर में वह परिव्राजक (विद्याधर) भी आ गया और ‘मैं दण्डवेग हूँ’ कहकर उसने भी वसुदेव को प्रणाम किया।

उन विद्याधरों ने वसुदेव को एक दूसरे पहाड़ के ऊपर पहुँचा दिया। वहाँ सैकड़ों भवनों से युक्त नगर था। वसुदेव ने उस नगर के राजभवन में प्रवेश किया। वहाँ उनकी अर्घ्यपूजा की गई और उन्हें मंगलस्नान कराया गया। उत्तम वस्त्र पहनने को दिये गये और परम स्वादिष्ट भोजन कराया गया। उसके बाद वह रेशम की तरह मुलायम बिछावनवाले पलंग पर बैठे, फिर सुखपूर्वक सो गये।

सुबह होने पर वसुदेव को दूल्हे के वेश में सजाया गया और फिर शुभ मुहूर्त में दधिमुख ने प्रसन्न होकर अपनी बहन मदनवेगा के साथ वसुदेव का विवाह करा दिया और दहेज में अपार सम्पत्ति और परिचारिकाएँ प्रदान कीं। देववधू के साथ देवकुमार के समान वसुदेव मदनवेगा के साथ विविध भोगों का सेवन करने लगे और विद्याधर उनकी सेवा में संलग्न रहने लगे।

दधिमुख ने मदनवेगा के परिचय के क्रम में बताया कि अरिजयपुर के राजा विभीषण के वंश में विद्युद्वेग नाम का राजा हुआ। उसकी रानी विद्युज्जिह्वा थी। उसके दधिमुख, दण्डवेग और चण्डवेग नाम के तीन पुत्र हुए और मदनवेगा उसकी पुत्री हुई। एक बार राजा विद्युद्वेग ने वाक्सिद्ध ज्योतिषी से मदनवेगा के विषय में पूछा, तब ज्योतिषियों ने विचार कर कहा कि यह कन्या अर्द्धभरत के अधिपति के पिता की अतिशय प्रिय पत्नी बनेगी और पुत्ररत्न को जन्म देगी। उनकी पहचान के सम्बन्ध में ज्योतिषी ने राजा से कहा कि विद्या की साधना करते समय आपके पुत्र दण्डवेग की पीठ पर जो आ गिरेगा और जिसकी महानुभावता से दण्डवेग की विद्या तत्क्षण सिद्ध हो जायगी, वही वह महापुरुष होगा।

कालक्रम से मदनवेगा ने गर्भ धारण किया। गर्भ की शोभा से उसके शरीर की लुनाई बढ़ गई। वसन्त में कुसुमित चम्पकलता की भाँति वह मदनवेगा जब वसुदेव के सामने आई, तब उन्होंने उसे भ्रमवश ‘वेगवती’ नाम से सम्बोधित किया। इसपर मदनवेगा रूठकर चली गई और वसुदेव उसके मनाने का उपाय सोचने लगे (चौदहवाँ मदनवेगा-लम्भ)।

क्षणभर में फिर मदनवेगा प्रसन्न मुँह लिये लौट आई। इसी समय महल में हल्ला हुआ। वसुदेव हड़बड़ाकर उठे, देखते हैं कि महल जल रहा है! इसी कोलाहल की घड़ी में वह मदनवेगा (जो वस्तुतः प्रच्छन्न शूर्पणखी थी) वसुदेव को साथ लेकर आकाश में उड़ गई और कुछ दूर ले जाकर उन्हें छोड़ देना चाहा। तभी उन्होंने देखा कि मानसवेग उन्हें पकड़ना चाह रहा है। तब मदनवेगा (शूर्पणखी) ने वसुदेव को छोड़ दिया और वह मानसवेग पर प्रहार करने लगी। मानसवेग भाग गया। आकाश में चक्कर खाते हुए वसुदेव मगध-जनपद के राजगृह नगर में पुआल की

टाल पर आ गिरे। वसुदेव टाल से नीचे उतरे और वहाँ एक पुष्करिणी में हाथ-पाँव धोकर उन्होंने नगर में प्रवेश किया। नगर की विभूति को देखते हुए वह द्यूतशाला में जा पहुँचे। वहाँ अमात्य, सेठ, सारथवाह, पुरोहित, नगर-रक्षक और दण्डनायक आदि धनाढ्य नागरिक मणि, रत्न और सोने का ढेर सामने रखकर जूआ खेल रहे थे। वसुदेव भी द्यूतक्रीड़ा में सम्मिलित हो गये। उन्होंने एक लाख मूल्य की अपनी हीरे की अँगूठी दाँव पर लगाई। अन्त में वह एक करोड़ का धन जीतकर उठे और उस धन को उन्होंने दोन-दुःखियों और अनाथों में बाँट दिया।

इसी समय राजा जरासन्ध के सिपाहियों ने वसुदेव को बन्दी बना लिया; क्योंकि राजा जरासन्ध को प्रजापति शर्मा नामक ज्योतिषी ने बताया था कि जो जूए में एक करोड़ जीतकर गरीबों में बाँट देगा, वही राजा के शत्रु (कृष्ण) का पिता होगा। वसुदेव को राजदरबार में उपस्थित करने के बजाय वे सिपाही उन्हें चमड़े के थैले में डालकर छिन्नकटक पहाड़ पर ले गये और वहाँ से नीचे की ओर लुढ़का दिया। चमड़े के थैले में बन्द वसुदेव ने अनुभव किया कि लुढ़कते हुए उनको सहसा किसी ने थाम लिया है और उन्हें दूर ले जाकर जमीन पर रख दिया है। साँप जिस प्रकार केंचुल से बाहर निकल आता है, उसी प्रकार वसुदेव चमड़े के थैले से बाहर निकल आये।

तभी, वसुदेव ने वेगवती को रोते हुए देखा। वसुदेव ने उसे आश्चस्त किया। तब वेगवती ने पिछली बातों का स्मरण दिलाते हुए वसुदेव से कहा कि बिछावन पर आपको न पाकर मैं जग पड़ी और आपके बारे में किसी प्रकार की सूचना न मिलने से रोने लगी। मुझे आशंका हुई कि भाई मानसवेग ने आपको अपहृत कर लिया है। विद्याबल से मैंने पता लगाया, तो ज्ञात हुआ कि सचमुच मानसवेग आपको हर ले गया है और भवितव्यतावश अभी आप विद्याधरो के बन्दी होकर उनकी बहन मदनवेगा से विवाह कर रहे हैं।

वेगवती ने वसुदेव से आगे बताया कि वह उनको देखने की इच्छा से अपनी माँ की आज्ञा लेकर महापुर (सुवर्णाभपुर) से निकल पड़ी और आकाशमार्ग से भारतवर्ष को देखती हुई अमृतधार पर्वत पर पहुँची और उस पर्वत को पारकर अरिजयपुर चली आई। वहाँ उसने उनको (वसुदेव को) वेगवती के नाम से मदनवेगा को सम्बोधित करते देखा। इसी पर मदनवेगा रूठकर चली गई। तभी, हेम्फग की बहन शूर्पणखी ने राजमहल में आग लगा दी और मदनवेगा का रूप धरकर उन्हें, वध की इच्छा से हर ले चली। वेगवती ने कहा कि प्रतिरोध करने पर मायाविनी शूर्पणखी ने अपने को मानसवेग के रूप में प्रदर्शित किया और उसकी विद्या छीन ली। फलतः, निरुपाय होकर वह जिस ओर शूर्पणखी गई थी, उसी ओर जाकर भटकने लगी। उसी समय उसे आकाशवाणी सुनाई पड़ी कि उसका पति छिन्नकटक पर्वत से नीचे गिर रहा है। आकाशवाणी सुनकर वह (वेगवती) तुरत इस प्रदेश में चली आई और पहाड़ से गिरते हुए, चमड़े के थैले में बन्द उनको (वसुदेव को) उसने थाम लिया।

इस प्रकार, विद्याधरी से मानवी बनी हुई वेगवती को प्राप्त कर वसुदेव बहुत प्रसन्न हुए और उसके मनोविनोद के लिए उसे साथ लेकर वरुणोदिका नदी के सैकत तट पर चले आये। वहाँ उन्होंने वेगवती के साथ पाँच नदियों की धाराओं के संगम में स्नान किया, फिर सिद्धों को प्रणाम कर बाहर आये। वहाँ उन दोनों ने स्वादिष्ट फल खाये और फिर जल का पान और आचमन किया। वसुदेव के पास रहते हुए वेगवती ने प्रत्यक्ष आनन्द का लाभ लिया (पन्द्रहवाँ वेगवती-लम्ब)।

वसुदेव और वेगवती दोनों आपस में बातचीत का सिलसिला बढ़ाते हुए एक दूसरे को प्रसन्न कर रहे थे, तभी उन्हें एक अशोकवृक्ष के नीचे नागपाश से बँधी कन्या दिखाई पड़ी। उसे देखकर वेगवती वसुदेव से बोली : “यह बालिका उत्तरश्रेणी में स्थित गगनवल्लभ नगर के राजा चन्द्राभ की बेटी रानी मेनका की आत्मजा बालचन्द्रा है। यह मेरी बाल्यसखी है। विद्या की साधना से भ्रष्ट हो जाने के कारण यह नागपाश में बँध गई है और इस प्रकार इसका प्राण संकट में पड़ गया है। इसलिए आप इसे जीवनदान देने की कृपा करें।”

वसुदेव ने वेगवती की बात मानकर ज्योंही उस कन्या को पाशमुक्त किया, त्योंही वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। वसुदेव ने जब उसके मुँह पर पानी के छीटे दिये, तब वह प्रकृतिस्थ हुई, और दक्षिण पवन के स्पर्श से खिली वसन्त-नलिनी के समान उसकी शोभा लौट आई। तब उस बालिका बालचन्द्रा ने वसुदेव से निवेदन किया : “आर्यपुत्र ! मेरे कुल में विशेषतः कष्टसाध्य विघ्न करनेवाली महाविद्याएँ हैं। आपकी कृपा से मेरी विद्या सिद्ध हो गई। प्राण-संकट की स्थिति में मुझे जीवनदान मिला।” तब वसुदेव ने उसे आश्वस्त करते हुए उससे विशेष कष्ट से विद्याओं के सिद्ध होने का कारण पूछा। तब उसने अपने निकायवृद्धों से सुनी हुई कथा को दुहराते हुए कहा कि हमारे कुल में नागराज धरण के शापदोष से लड़कियों को महाविद्याएँ कष्ट से सिद्ध होती हैं। बालचन्द्रा ने वसुदेव से पुनः कहा कि उसके वंश में नयनचन्द्र नाम के राजा हुए थे। उनकी रानी मदनवेगा से केतुमती नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। भारत-विजय के क्रम में पुरुषोत्तम वसुदेव (वसुदेवपुत्र कृष्ण) ने दयाद्रवित होकर विद्या के पुरश्चरण से खिन्न मदनवेगा को पाश से मुक्त कर दिया, तब अपने को कृतार्थ मानती हुई वह उन्हीं की चरणसेविका हो गई। उसी प्रकार, वह भी अपने माता-पिता से अनुज्ञात होकर उनकी सेविका होना चाहेगी। इसीलिए उसने वसुदेव से विदा माँगी और उनसे वर माँगने का भी आग्रह किया।

तब वसुदेव ने बालचन्द्रा से, उसकी शरीर-रक्षा के निमित्त कष्ट उठानेवाली वेगवती के लिए विद्यासिद्धि का वर माँगा। बालचन्द्रा ने विनयपूर्वक सिर नवाकर वेगवती को विद्या देना स्वीकार कर लिया। उसके बाद उसने वसुदेव की प्रदक्षिणा की और वेगवती को साथ लेकर आकाश में उड़ गई (सोलहवाँ बालचन्द्रा-लम्भ)।

बालचन्द्रा और वेगवती के चले जाने पर वसुदेव दक्षिण की ओर चल पड़े। बहुत दूर निकल जाने पर उन्हें एक आश्रम दिखाई पड़ा। वहाँ पहुँचते ही ऋषियों ने उनका स्वागत और अभिनन्दन किया। वहाँ उन्होंने ऋषियों से धर्मोपदेश करने का अनुरोध किया। तब उन ऋषियों ने शैवाली (गौतमस्वामी द्वारा प्रतिबोधित एक तापस) द्वारा कथित धर्म का प्रवचन किया। तदनन्तर, उन्होंने वसुदेव को श्रावस्ती नगरी के राजा एणीपुत्र की कथा सुनाई।

एणीपुत्र की राजधानी का वासी कामदेव सेठ की पुत्री बन्धुमती थी। वह सर्वांगसुन्दरी और सभी कलाओं में निपुण थी। उसके रूप से विस्मित अनेक महाधनी पुरुष उसकी याचना करते थे, किन्तु सेठ किसी को भी अपनी लड़की नहीं देता था। सेठ का कहना था कि मन्दिर में प्रतिष्ठित उसके पितामह कामदेव की प्रतिमा जिस वर के लिए लड़की देने का निर्देश करेगी, उसी वर को वह अपनी लड़की देगा।

वसुदेव, यह सुनकर कुतूहल से भर उठे। वह श्रावस्ती के उक्त मन्दिर के प्रांगण में पहुँच। मन्दिर के पुजारी ब्राह्मण ने उनसे कहा कि यदि वह मन्दिर के भीतर जाकर उसमें प्रतिष्ठित सिद्ध-प्रतिमा का दर्शन करना चाहते हैं, तो क्षणभर प्रतीक्षा करें। अपनी पुत्री के वर का इच्छुक सेठ यहाँ आयगा और वह मन्दिर के द्वार पर लगे बत्तीस नोकोवाले ताले को खोलेगा। यह कहकर ब्राह्मण चला गया।

वसुदेव तालोद्घाटिनी विद्या के बल से ताला खोलकर मन्दिर के अन्दर चले गये। मन्दिर का द्वार पूर्ववत् बन्द हो गया। मन्दिर का अन्तर्भाग सुगन्धित धूप से सुवासित और मणिदीप से प्रकाशित था। वसुदेव ने सिद्ध-प्रतिमा को प्रणाम किया। तभी, सेठ के परिवार की आवाज सुनाई पड़ी। वसुदेव, सेठ के पितामह कामदेव की प्रतिमा के पीछे खम्भे की ओट में जा खड़े हुए।

सेठ ने दरवाजे का किवाड़ खोला। उसने मणि-कुट्टिम पर प्रतिष्ठित अपने पितामह कामदेव की प्रतिमा की उजले फूलों से अर्चना की, धूप निवेदित किया। फिर, प्रतिमा के पैरों पर गिरकर कहने लगा : “पितामह ! बन्धुजनों की प्रिय, बन्धुश्री (सेठ की गृहिणी) की पुत्री बन्धुमती के लिए वर दीजिए या वर की प्राप्ति का उपाय बताइए।” यह कहकर सेठ उठ खड़ा हुआ। तभी, खम्भे की ओट से वसुदेव ने अपना कमल-कोमल दाहिना हाथ बाहर निकालकर फैला दिया। सेठ वसुदेव का हाथ पकड़कर उन्हें अपनी ओर ले आया और ‘देव ने बन्धुमती के लिए वर दिया है’ ऐसा कहता हुआ मन्दिर का द्वार बन्द करके, बाहर निकला और उनके (वसुदेव के) साथ रथ पर सवार होकर घर की ओर चल पड़ा। नगर के लोग वसुदेव का रूप देखकर विस्मयविमुग्ध हो गये।

शुभ मुहूर्त में सेठ ने अपनी कलावती अपूर्व सुन्दरी पुत्री बन्धुमती का विवाह वसुदेव के साथ करा दिया। उसके बाद राजा एणीपुत्र ने भी बन्धुमती-सहित वसुदेव को अपने अन्तःपुर में बुलाकर सम्मानित किया। वसुदेव बन्धुमती के साथ सुखभोग करने लगे (सत्रहवाँ बन्धुमती-लम्भ)।

श्रावस्ती में एक दिन वसुदेव बन्धुमती के साथ सुखासन पर बैठे थे, तभी राजा एणीपुत्र की पुत्री प्रियंगुसुन्दरी की समीपवर्तिनी आठ नर्तकियाँ वहाँ आईं। वसुदेव जब बन्धुमती के साथ अन्तःपुर में गये थे, तभी प्रियंगुसुन्दरी ने उन्हें वहाँ देखा था और उसी समय से वह उनके प्रति अनुरक्त हो गई थी। प्रियंगुसुन्दरी ने अपनी नर्तकियों को यह जानने के लिए भेजा था कि बन्धुमती का पति कौन है, कैसा है और कहाँ से यहाँ आया है। नर्तकियों ने वसुदेव से यह सन्दर्भ छिपाते हुए उनका पूरा वृत्तान्त (शौरिपुर से भागने से प्रारम्भ करके अबतक का) उनके ही मुँह से उगलवा लिया।

राजा एणीपुत्र ने जब प्रियंगुसुन्दरी के लिए स्वयंवर का आयोजन किया, तब उसने (प्रियंगुसुन्दरी ने) वसुदेव के प्रति पूर्वानुरागवश स्वयंवर में आये राजाओं में से किसी का वरण नहीं किया; क्योंकि उसके मनोभिलषित पति स्वयंवर में उपस्थित नहीं थे।

नागीदेवी के कहने पर वसुदेव ने राजा एणीपुत्र के अन्तःपुर में प्रवेश किया। और उधर, देवी ने राजा से जाकर कहा कि प्रियंगुसुन्दरी का पति आ गया है, उसे अन्तःपुर में ले आओ। इस प्रकार, नागीदेवी की कृपा से प्रियंगुसुन्दरी को वसुदेव का समागम प्राप्त हुआ। अन्त में, राजा एणीपुत्र ने राजसी ठाटबाट से वसुदेव का विवाहोत्सव किया। वसुदेव वहाँ बन्धुमती और प्रियंगुसुन्दरी के साथ श्रेष्ठ भोग का आनन्द लेने लगे। ‘रूप और यौवन की दृष्टि से उस श्रावस्ती

नगरी में और संसारे में भी प्रियंगुसुन्दरी से बढ़कर कोई नहीं है', इस प्रकार वसुदेव मन-ही-मन गुनते रहे और यह भी सोचते रहे कि अतीत और भविष्य की पत्नियों से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है, अब वह यहीं निवास करेंगे (अङ्गारहवाँ प्रियंगुसुन्दरी-लम्प)।

[उन्नीसवाँ और बीसवाँ लम्प अप्राप्य हैं।]

वसुदेव मन में जैसा सोच रहे थे, वैसा हुआ नहीं। उसी समय उनके प्रति अनुराग रखने वाली पूर्वपत्नी प्रभावती, जो बाद में उनकी पत्नी बनी, वहाँ आई और उन्हें प्रियंगुसुन्दरी के पास से, सुवर्णपुरी में सोमश्री के पास ले गई। यद्यपि सुवर्णपुरी में वह प्रच्छन्न भाव से रहते थे, तथापि उनके प्रतिद्वन्दी मानसवेग ने उन्हें देख लिया और उन्हें बन्दी बना लिया। इसपर वेगवती (वसुदेव की विद्याधरी पत्नी) के आदमियों ने मानसवेग का विरोध किया। तब मानसवेग बोला : “इसने (वसुदेव ने) मेरी बहन को विना मेरी अनुमति के अपनी पत्नी बना लिया है।” वसुदेव ने मानसवेग पर आरोप लगाया : “तुमने मेरी पत्नी सोमश्री का अपहरण कर लिया है।” मानसवेग ने सफाई दी : “वह तो मुझे ही पहले दी गई थी। तुमने तो बलपूर्वक उसे हथिया लिया है। इसके लिए न्यायिक निर्णय हो जाय।”

न्यायिक निर्णय के लिए मानसवेग और उसके पक्षपाती अंगारक, हेम्पफग और नीलकण्ठ के साथ वसुदेव का युद्ध प्रारम्भ हुआ। प्रभावती से प्राप्त प्रज्ञप्तिविद्या द्वारा वसुदेव ने सपरिवार उन चारों प्रतिपक्षियों को पराजित कर दिया। मानसवेग की माता वसुदेव से पुत्र की प्राणरक्षा की भीख माँगने लगी। सोमश्री की, मानसवेग के रुधिर से स्नान की प्रतिज्ञा पूरी करने के निमित्त वसुदेव ने उसे (मानसवेग को) लोहलुहान करके छोड़ दिया। इस प्रकार, पराजित मानसवेग किकर की भाँति विनम्र भाव से वसुदेव की सेवा करने लगा। फिर, एक दिन सोमश्री के कथनानुसार वसुदेव मानसवेग द्वारा विकुर्वित विमान से सोमश्री के साथ महापुर लौट गये।

एक दिन वसुदेव घुड़सवारी कर रहे थे कि हेम्पफग ने उनका अपहरण कर लिया। आकाशमार्ग से कुछ दूर जाने पर वसुदेव ने हेम्पफग की पीठ पर तीव्र आघात किया। फलतः, हेम्पफग ने उन्हें छोड़ दिया और वह बहुत बड़े हृद में आ गिरे। हृद से निकलकर जब वह समतल भूभाग पर आये, तब पार्श्वस्थित छिन्नकटक पर्वत से दो चारणश्रमण तीव्रगति से पक्षी की भाँति उड़ते हुए नीचे उतरे। वसुदेव उनके साथ एक आश्रम में पहुँचे। वहाँ उन्होंने श्रमणों से शान्तिनाथ, कुन्धुनाथ, अरनाथ आदि तीर्थंकरों के चरित सुने।

उसी क्रम में वसुदेव ने वसन्तपुर के राजा जितशत्रु की रानी और जरासन्ध की पुत्री इन्द्रसेना की चिकित्सा करके उसे पिशाच के आवेश से मुक्त किया। तब, राजा जितशत्रु ने प्रसन्न होकर वसुदेव के साथ अपनी बहन केतुमती का शुभ मुहूर्त में विवाह करा दिया। केतुमती के जिज्ञासा करने पर वसुदेव ने उसे शौरिपुर से अपने निष्क्रमण की कहानी सुना दी। फिर, एक दिन जरासन्ध के आमन्त्रण पर उसके द्वारा प्रेषित दूत के साथ वसुदेव राजगृह के लिए प्रस्थित हुए (इक्कीसवाँ केतुमती-लम्प)।

अपने कार्यसाधन में तत्पर दूत हृदयहारी वचनों से वसुदेव को यात्रा के लिए प्रेरित करता रहा। राजा जितशत्रु के द्वारा दिये गये योद्धाओं, भृत्यों और सैन्यों से घिरे हुए वसुदेव दूत के

साथ गाय, भैंस और घन-धान्य से समृद्ध गृहपंतियों से भरे मार्गवर्ती गाँवों और जनपदों को देखते हुए चल रहे थे। रास्ते में दूत उन्हें क्रम से प्राप्त वनखण्डों, आयतनों (मन्दिरों) और तीर्थों से परिचित कराता जा रहा था। सुखपूर्वक पड़ाव डालते और प्रातराश (कलेवा) करते हुए वह सबके साथ मगध-जनपद पहुँचे और वहाँ एक सन्निवेश में ठहर गये। वहाँ से वह राजा जरासन्ध द्वारा भेजे गये रथ पर सवार होकर राजगृह नगर के निकट उपस्थित हुए। नगर के समीप दृढ़ और कठिन शरीर-हाथवाले सोलह आदमी खड़े थे। उन्होंने वसुदेव को प्रणाम किया और फिर आपस में कुछ बातचीत की। दूत ने वसुदेव से कहा : “आप क्षणभर यहाँ विश्राम करें। डिम्पक शर्मा आपके समीप आयगा। उसके साथ ही आप नगर में प्रवेश करेंगे।”

तब वसुदेव रथ से उतरकर पुष्करिणी के निकटवर्ती एक उद्यान में चले गये, जो उजड़ा हुआ था। वसुदेव के पूछने पर दूत ने बताया कि “इस उद्यान का स्वामी बहुत दिनों से प्रवास में है, इसलिए उपेक्षा के कारण इसकी रमणीयता नष्ट हो गई है। लोग अब इसके निकटवर्ती उद्यान में रमने लगे हैं।” वसुदेव और दूत इस प्रकार बातचीत कर रहे थे कि कमर कसे हुए चार आदमी वहाँ आये। वे पुष्करिणी में अपने हाथ-पाँव धोकर वसुदेव के निकट उपस्थित हुए। दो आदमियों ने उनके पैर और दो ने उनके हाथ दबाना शुरू किया। शेष बारह आदमी अपने हाथों में विभिन्न प्रकार के हथियार लिये उनके पीछे खड़े हो गये। बातचीत में वसुदेव का ध्यान बँटा हुआ था कि उन हथियारबन्द लोगों ने उन्हें बन्दी बना लिया। वसुदेव ने उनसे पूछा : “किस अपराध में मुझे बन्दी बनाया गया है?” तब दूत ने उनसे कहा : “हम स्वेच्छाचारी नहीं हैं। ज्योतिषी ने राजा जरासन्ध से कहा है कि ‘जो आपकी पुत्री इन्द्रसेना को पिशाच के आवेश से मुक्त करायगा, वही आपके शत्रु का पिता होगा।’ यही (शत्रु का पिता होना ही) आपका अपराध है।”

उसके बाद वे अस्त्रधारी, वसुदेव को पेड़ों से आच्छादित सघन प्रदेश में ले गये। वहाँ वसुदेव ने उनपर वज्रमुष्टि का प्रहार किया। तब वे म्यान से तलवार निकालकर वसुदेव को मार डालने के लिए उद्यत हो गये। वसुदेव भयत्रस्त होने की अपेक्षा अभयकारक ‘नमस्कार-मन्त्र’ जपने लगे। तभी, उन्हें कोई, जिसका रूप वह नहीं देख सके, ऊपर आसमान में उठा ले गया। बहुत दूर ले जाकर उसने उन्हें धरती पर छोड़ दिया।

वहाँ वसुदेव को एक वृद्धा स्त्री दिखाई पड़ी। वसुदेव ने अनुमान लगाया कि उसी ने उनका उद्धार किया है। पूछने पर उसने अपना परिचय देते हुए उनसे कहा कि वह दक्षिण श्रेणी में स्थित वैजयन्ती नाम की विद्याधरनगरी के राजा नरसिंह की भीगीरथी नाम की पत्नी है। इस समय उसका पुत्र बलसिंह वैजयन्ती का शासक है। उसकी पुत्री अमितप्रभा का पति, अर्थात् उसका जामाता गान्धार है, जो पुष्कलावती में रहता है। उसी की पुत्री (अर्थात् वृद्धा की नातिन) प्रभावती उनका (वसुदेव का) स्मरण करती, दुःख में पड़ी रहती है।

उसके बाद वह वृद्धा वसुदेव को पुष्कलावती ले गई। वहाँ उन्हें मंगलस्नान कराया गया। नया वस्त्र पहनकर वह छत्र-शोभित रथ पर सवार हुए और जयजयकार के बीच नगर में आये। उस अवसर पर नगर की विशेष सजावट की गई थी। खिड़कियों में खड़ी युवतियाँ रूपवान् वसुदेव को देखकर प्रभावती के सौभाग्य पर ईर्ष्या कर रही थीं।

वसुदेव जब मणिरत्न से खचित प्रांगणवाले वासघर में स्वच्छ और सुगन्धित वस्त्र से आवृत बिछावन पर बैठे, तब सुवर्णनिर्मित देवी जैसी रूपवती प्रभावती वहाँ आई और भोतियों की लड़ी की भाँति आँसू गिराती हुई वसुदेव से बोली : आप अक्षत और सम्पूर्ण शरीर के साथ मृत्युमुख से बाहर निकल आये, यह मेरे लिए बड़ी प्रसन्नता की बात है ।” “देवी की उपासना करके तुमने ही तो मुझे जीवनदान दिलाया है ।” वसुदेव ने प्रभावती की श्लाघा करते हुए कहा । उसके बाद धाई ने प्रभावती से कहा : “बेटी ! तुम भी शीघ्र नहा लो । अब भोजन के बाद कुमार को देखोगी ।” धाई की बात मानकर प्रभावती चली गई ।

उसके बाद वसुदेव को दिव्य भोजन कराया गया, फिर ताम्बूल से उनका सत्कार किया गया । उनके मनोरंजन के लिए नाटक प्रदर्शित किया गया और रात्रि में संगीत सुनते-सुनते ही वह प्रेमपूर्वक सो गये । फिर, प्रातःकाल में मंगलगीत के साथ जगे ।

शुभ मुहूर्त में राजा गान्धार ने वसुदेव को प्रभावती सौंप दी । विधिवत् वैवाहिक अनुष्ठान पूरा हुआ । विपुल सम्पत्ति दहेज में दी गई । मानों अलकापुरी में कुबेर के समान रहते हुए वसुदेव प्रभावती के साथ सुखभोग करने लगे (बाईसवाँ प्रभावती-लम्भ) ।

एक दिन वसुदेव संगीतमय सन्ध्या बिताकर रात में सुखपूर्वक सोये हुए थे कि कोई अज्ञात रूप से उन्हें आकाश में उड़ा ले गया । जब उनकी नींद खुली, तब उन्होंने चाँदनी के प्रकाश में किसी क्रूरमुखी स्त्री को देखा । वसुदेव ने उसकी कनपट्टी पर मुक्के से जोरदार प्रहार किया । वह स्त्री चोट खाते ही उनके प्रतिद्वन्द्वी हेष्मण के रूप में बदल गई और उसने उन्हें छोड़ दिया । वह विशाल जलराशि में आ गिरे ।

वसुदेव नदी के उत्तरी तट पर ऊपर हुए और वहीं रात बिताकर सूर्योदय होने पर वहाँ से थोड़ी दूर पर स्थित एक आश्रम में चले गये । आश्रम के महर्षि ने अर्घ्य से उनको सम्मानित किया । महर्षि से उन्हें ज्ञात हुआ कि यह स्थान गोदावरी के तट पर बसा हुआ श्वेत जनपद है । वहाँ उनकी भेंट पोतनपुर के राजमन्त्री सुचित्र से हुई । वह उन्हें राजदरबार में ले गया । वहाँ उन्होंने राजदरबार के समक्ष उपस्थित, सार्धवाह की दो पत्नियों के आपसी झगड़े को सुलझाने में राजा की मदद की । राजा उनपर प्रसन्न हो गया और उसने अपनी पुत्री भद्रमित्रा और सोम पुरोहित की पुत्री सत्यरक्षिता दोनों से उनका पाणिग्रहण करा दिया । दोनों प्रियतमाओं को संगीत और नृत्य की शिक्षा देते हुए वसुदेव सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे (तेईसवाँ भद्रमित्रा और सत्यरक्षिता-लम्भ) ।

एक बार वसुदेव कोल्लकिर नगर देखने को समुत्सुक हो उठे और अपनी उक्त दोनों प्रियाओं को विना सूचना दिये अकेले ही निकल पड़े । दक्षिण-पश्चिम की ओर चलते हुए वह कोल्लकिर नगर पहुँचे गये और वहाँ के मालाकारों के अतिथि बने । उन्होंने (वसुदेव ने) बड़ी कलात्मकता के साथ एक माला (श्रीमाला) तैयार की और एक मालाकार की अप्राप्तयौवना पुत्री के द्वारा उस माला को कोल्लकिर नगर की राजकन्या पद्मावती के पास भेजा । माला गूँथने की कला में निपुण वसुदेव पर राजकन्या रीझ गई ।

इसके बाद वहाँ का राजमन्त्री अपने राजा पदारथ के प्रतिनिधि के रूप में आया और वसुदेव को रथ पर बैठाकर अपने घर ले गया । वहाँ वसुदेव ने मन्त्री से हरिवंश की कथा सुनाई । ज्योतिषी ने राजा से कहा था कि उसकी पुत्री पद्मावती का विवाह ऐसे व्यक्ति से होगा, जिनके चरण-कमलों

को हजारों राजा विनय के साथ पूजते हैं। उस व्यक्ति की पहचान के बारे में ज्योतिषी ने बताया था कि जो श्रीमाला बनाकर भेजेगा और हरिवंश की कथा सुनायगा, वही इसका पति होगा।

ज्योतिषी के इस आदेश को सफल करने के लिए राजा ने अपनी पुत्री पद्मावती का वसुदेव से विवाह करा दिया। एक दिन सरोवर में पद्मावती के साथ जलक्रीड़ा करते हुए वसुदेव को काष्ठकलहंस के छद्मरूप में हेम्पफग पुनः आकाश में ले गया। वसुदेव ने जब उसपर प्रहार किया, तब वह असली रूप में आकर उन्हें छोड़कर भाग निकला। वसुदेव पुनः उसी सरोवर में आ गिरे, जिसमें पद्मावती के साथ जलक्रीड़ा कर रहे थे।

इस प्रकार, पद्मावती के साथ विभिन्न प्रकार से रमण करते हुए वसुदेव सुख से समय बिताने लगे (चौबीसवाँ पद्मावती-लम्प)।

एक दिन वसुदेव मदनमोहित होकर प्रमदवन में चले गये। वहाँ पुष्करिणी के निकट कदली-लताजाल से घिरे मोहन-गृह में वह पद्मावती के पीछे-पीछे चल रहे थे। तभी, सहसा 'आर्यपुत्र ! मैं डूब रही हूँ' बोलती हुई पद्मावती ने वसुदेव को सरोवर में अपनी ओर खींच लिया। वह उन्हें पानी के अन्दर ले गई। वसुदेव को पानी की गहराई का अन्दाज समझ में नहीं आ रहा था। जब वह उन्हें पानी में बहुत दूर तक ले गई, तब उन्हें खयाल आया कि यह पद्मावती नहीं है। उसका रूप धरकर कोई उन्हें छलना चाहता है। उन्होंने उसपर कसकर प्रहार किया। आहत होते ही उसने अपने को हेम्पफग के रूप में बदल लिया और अन्तर्हित हो गया। इसके बाद ही वसुदेव ने अपने को वनलता के बीच पड़ा हुआ पाया।

वसुदेव को विश्वास हो गया कि पद्मावती का अपहरण कर लिया गया है। वह उसके वियोग में प्रलाप करने लगे, तभी उन्हें वनेचरों ने देखा। वनेचरों ने वसुदेव को प्रणाम किया और उनसे कहा : "आइए, हम आपको पद्मावती दिखलाते हैं।" इसके बाद वे उन्हें अपनी पत्नी के राजा के भवन में ले गये। वहाँ उन्होंने परिणत वयवाली स्त्रियों के साथ थोड़ी दूर पर खड़ी एक कन्या की ओर वसुदेव का ध्यान आकृष्ट किया। कन्या को गौर से देखने पर वसुदेव को पता चल गया कि पद्मावती से इस कन्या की समानता तो है, लेकिन वह पद्मावती नहीं। वस्तुतः, वह पल्लीपति की पुत्री पद्मश्री थी। पल्लीपति ने पद्मश्री के साथ वसुदेव का विवाह कर दिया। पद्मश्री वसुदेव की सेवा करने लगी।

वसुदेव ने बड़े स्नेह से उस कन्या से पूछा : "प्रिये ! तुम्हारे पिता ने तुम्हें मेरे जैसे अज्ञातकुलशील को कैसे सौंप दिया ?" तब पद्मश्री ने बताया कि "मेरे पिता पल्लीराज के आदमियों (वनेचरों) ने जंगल में पद्मावती के वियोग में विलाप करते हुए आपको देखकर पहचान लिया था। इसीलिए वनेचरों की सूचना के आधार पर ही पल्लीराज ने मुझे आपको सौंप दिया।"

इस प्रकार, वहाँ पद्मश्री के साथ वसुदेव का समय सुखपूर्वक बीतने लगा। उसके पूछने पर वसुदेव ने उसे अपना वंश-परिचय दिया। कालक्रम से पद्मश्री गर्भवती हुई और यथासमय उसने शत्रुओं को जीर्ण करनेवाला 'जर' नाम के पुत्र को जन्म दिया (पच्चीसवाँ पद्मश्री-लम्प)।

एक दिन वसुदेव, पद्मश्री तथा उसकी पवित्र गोद में किलकते अपने पुत्र को छोड़कर जंगल की ओर निकल गये। चलते-चलते वह कंचनपुर नगर पहुँचे। वहाँ उन्होंने उपवन में आसन

बाँधकर बैठे हुए सुमित्र नामक परिव्राजक को देखा। उन्होंने परिव्राजक की वन्दना की और उसने उनका स्वागत करते हुए उन्हें विश्राम करने का आग्रह किया।

उसके बाद परिव्राजक के साथ वसुदेव का प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क हुआ। परिव्राजक ने सांख्यदृष्टि और वसुदेव ने जैनदृष्टि से परस्पर विचार-विनिमय किया। वसुदेव की वाचोयुक्ति से परिव्राजक जब सन्तुष्ट हो गया, तब उसने पुरुषों से द्वेष रखनेवाली गणिका ललितश्री, जिसका दूसरा नाम सोमयशा था, के पूर्वभव की कथा सुनाई।

तब वसुदेव ने ललितश्री के हृदय को प्रभावित करनेवाला एक चित्र बनाया, जिसमें उन्होंने स्वयं अपने को भी अंकित किया, और उसे दासी के द्वारा ललितश्री गणिका के पास भेज दिया। चित्र में अंकित वसुदेव को देखकर वह रीझ गई और पुरुषों के प्रति बना रहनेवाला उसका द्वेष गल गया। वह वसुदेव के लिए समुत्सुक हो उठी। अन्त में, सुमित्र साधु ने ललितश्री के साथ वसुदेव का विवाह करा दिया। तब वह उस गणिका (ललितश्री) के साथ विहार करते हुए सुखभोग में लीन हो गये (छब्बीसवाँ ललितश्री-लम्प)।

एक दिन वसुदेव ललितश्री को विना सूचित किये अकेले ही निकल पड़े और कुशल जनों से बसाये गये कोशल-जनपद में जा पहुँचे। वहाँ किसी अदृष्ट देवी ने उनसे कहा : “वसुदेव ! मैं रोहिणी कन्या तुम्हें सौंप रही हूँ। तुम उसे स्वयंवर में देखकर ढोल बजा देना।” देवी के आदेशानुसार वह रिष्टपुर जा पहुँचे और वहाँ ढोलकियों के साथ एक ओर खड़े रहे। इसी समय उन्हें यह घोषणा सुनाई पड़ी : “रात बीतने के बाद, कल प्रातःकाल राजा रुधिर की बेटी और मित्रदेवी की आत्मजा कुमारी रोहिणी का सजधज के साथ पधारे हुए राजाओं के साथ स्वयंवर होगा।”

रोहिणी ‘रोहिणी’ नाम की विद्यादेवी की पूजा किया करती थी। विद्यादेवी ने सन्तुष्ट होकर उसे आदेश दिया था कि वह दसवें दशार्ह वसुदेव की पत्नी बनेगी और ढोल बजानेवाले के रूप में वह उसे पहचानेगी। स्वयंवर में, जिसमें वसुदेव के ज्येष्ठ भ्राता समुद्रविजय भी पधारे थे, जब सभी राजा मंचासीन हुए, तब वसुदेव ढोल हाथ में लेकर ढोलकियों के बीच में जाकर बैठ गये। रोहिणी जब स्वयंवर में आई, तब वसुदेव ने ढोल बजाकर रोहिणी को उद्बोधित किया। रोहिणी ने सभी राजाओं को छोड़ ढोलकिया के रूप में बैठे वसुदेव के गले में वरमाला डाल दी।

क्षुब्ध क्षत्रिय राजाओं ने रोहिणी के इस व्यवहार से अपने को अपमानित अनुभव किया। वे राजा रुधिर (रोहिणी के पिता) से युद्ध करने लगे। रुधिर की रक्षा के लिए वसुदेव को विद्याधरों की सहायता उपलब्ध हो गई।

युद्ध के क्रम में जब समुद्रविजय और वसुदेव आमने-सामने हुए, तब दोनों ने एक दूसरे को पहचान लिया। अस्त्र त्याग कर वसुदेव ज्यों ही समुद्रविजय के चरणों में झुके, त्योंही उन्होंने भी अस्त्ररहित होकर उनको अँकवार में भर लिया। लम्बे अन्तराल के बाद अनायासप्राप्त अलभ्यलाभ-स्वरूप इस सुखद भ्रातृमिलन का समाचार सुनकर वसुदेव के शेष-भाई अक्षोभ, स्तिमित, सागर आदि भी वहाँ आ पहुँचे।

समुद्रविजय जब रिष्टपुर से लौटने लगे, तब उन्होंने अनुज वसुदेव को उपदेश दिया : “कुमार ! अब तुम्हारा हिण्डन (परिभ्रमण) करना व्यर्थ है। अब तुम मेरी आँखों से दूर मत रहो।

तुम्हारी जितनी वधुएँ हैं, वे क्यों अपने पीहर में रहें ? यह तुम्हारा धर्म नहीं कि तुम घर न आकर हमें अनाथ बनाये रहो ।”

वसुदेव ने क्षमा माँगते हुए कहा : “आप जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही करूँगा । मैंने जो कपट मरण (कृत्रिम मरण) के द्वारा आपको कष्ट दिया, मेरे उस अपराध को क्षमा कर दें ।”

समुद्रविजय चले गये । वसुदेव रोहिणी के साथ प्रीतिसुख का उपभोग करने लगे । कालक्रम से रोहिणी ने एक सुलक्षण पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम ‘बलराम’ रखा गया । उस रूपवान् पुत्र को देख-देखकर रोहिणी और वसुदेव आनन्द प्राप्त करते हुए दिन बिताने लगे (सत्ताईसवाँ रोहिणी-लम्भ) ।

अट्ठाईसवें देवकी-लम्भ की कथा है कि एक दिन वसुदेव सुखपूर्वक सोये हुए थे कि प्रातःकाल स्तुतिपाठको द्वारा उच्चारित मंगलपाठ के स्वर से उनकी नींद खुल गई । उसी समय उन्होंने देखा कि एक सौम्य देवी उन्हें अंगुलियों के संकेत से बुला रही थी । वह उसके पास चले गये । वस्तुतः, वह देवी वसुदेव की पूर्वपत्नी बालचन्द्रा की नानी धनवती थी । धनवती ने वसुदेव को सूचना दी कि वेगवती (वसुदेव की पूर्वपत्नी) को विद्या सिद्ध हो गई है और बालचन्द्रा उनका स्मरण कर रही है ।

वसुदेव के आग्रह पर धनवती उन्हें वैताढ्य पर्वत पर ले गई । वहाँ बालचन्द्रा और वेगवती ने उन्हें प्रणाम किया । इसके बाद वेगवती के माता-पिता ने वेगवती को उन्हें सौंप दिया और धनवती ने बालचन्द्रा को । शुभ मुहूर्त में दोनों पत्नियों से उनका विवाह हुआ । दहेज में उन्हें विपुल सम्पत्ति प्राप्त हुई ।

एक दिन वसुदेव ने उक्त दोनों प्रियतमाओं से कहा : “देवियो ! मुझे बड़े भाई ने आदेश दिया है कि मैं उनकी आँखों से दूर न रहूँ । हम सब एक साथ रहें । तुम्हारे (वसुदेव के) जीवित रहते हुए मेरी कुलवधुएँ पीहर में न रहें । अगर तुम दोनों को पसन्द हो, तो हम शौरिपुर चले ।” सन्तुष्ट होकर दोनों ने यह विचार रखा कि यहीं विद्याधर-लोक में हमारी जो बहनें (सपत्नियाँ) रहती हैं, वे भी इसी जगह आकर एकत्र भाव से आपका दर्शन करें । वे सभी जब आ जायेंगी, तब हम एक साथ (आपके) बड़े भाई के पास चलेंगी । तब, वसुदेव ने अपने हाथ का लिखा परिचय-पत्र धनवती को दिया । वह, उसे लेकर चली गई और उसी परिचय-पत्र के आधार पर वसुदेव की अन्य विद्याधर-पत्नियों—श्यामली, नीलयशा, मदनवेगा और प्रभावती को ले आई । तब, बालचन्द्रा ने विद्याबल से विमान विकुर्वित किया और वसुदेव अपनी उक्त छहों विद्याधर-पत्नियों के साथ विमान पर सवार होकर शौरिपुर पहुँच गये । वहाँ वसुदेव के अग्रज समुद्रविजय ने सपत्नीक उनके रहने के लिए पहले से ही स्वतन्त्र भवन सजाकर रख दिया था ।

कुछ दिनों के बाद बड़े भाई की अनुमति से वसुदेव अपनी सभी मानुषी पत्नियों को ले आये । वे थीं—श्यामा, विजयसेना (विजया), गन्धर्वदत्ता, सोमश्री (मित्रश्री), धनश्री, कपिला, पद्मा, अश्वसेना, पुण्ड्रा, रक्तवती, प्रियंगुसुन्दरी, सोमश्री, बन्धुमती, प्रियदर्शना, केतुमती, भद्रमित्रा, सत्यरक्षिता, पद्मावती, पद्मश्री, ललितश्री और रोहिणी । ये सभी अपने-अपने परिवारों के सदस्यों तथा अंकूर, जर, कपिल, बलराम आदि कुमारों के साथ आईं । इन सबके साथ वसुदेव परम प्रीति का अनुभव करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे ।

एक दिन कंस की अनुमति से वसुदेव राजा देवकी की पुत्री देवकी को वरण करने के निमित्त मृत्तिकावती नगरी को चले । रास्ते में नेमिनारद से वसुदेव को देवकी के रूप-गुण की सूचना मिली । तब वसुदेव ने नारद से निवेदन किया कि वह उनके रूप-गुण का वर्णन देवकी से करें । नारद आकाशमार्ग से चले गये । वसुदेव अपने आदिमियों के साथ सुखपूर्वक पड़ाव डालते, कलेवा करते हुए मृत्तिकावती नगरी पहुँचे । वहाँ कंस ने अनेक प्रकार से, राजा देवकी से कन्या की माँग की । शुभ दिन देखकर राजा ने अपनी पुत्री देवकी का विवाह वसुदेव के साथ कर दिया । देवकी और देवतुल्य समृद्धि के साथ वसुदेव मृत्तिकावती नगरी से चल पड़े और क्रम से मथुरा पहुँचे । कंस के द्वारा पूर्वकृत आग्रह को मूल्य देते हुए वसुदेव देवकी के साथ मथुरा में रहने लगे ।

इसके बाद कृष्णजन्म की कथा प्रारम्भ होती है और कृष्ण के बालचरित को अधूरा छोड़कर यह महाग्रन्थ समाप्त हो जाता है !

(ग) कथा की ग्रथन-पद्धति :

यथाविवृत कथा-संक्षेप से स्पष्ट है कि प्राकृत-भाषा में निबद्ध 'वसुदेवहिण्डी' में कृष्ण के पिता वसुदेव का हिण्डन (भ्रमण)-विषयक रोचक और रोमांचक वृत्तान्त गुम्फित है । भारतीय प्राच्य कथा-वाङ्मय के अन्तर्गत अद्भुत और अपूर्व यात्रावृत्त-साहित्य के रूप में 'वसुदेवहिण्डी' शिखरस्थ है और ग्रथन-पद्धति की दृष्टि से इसका अपना वैशिष्ट्य है ।

सम्प्रति, 'वसुदेवहिण्डी' का जो एकमात्र संस्करण उपलब्ध है, वह प्राकृत के प्रकाण्ड विद्वान् तथा बृहत्पागच्छीय संविग्न शाखा के आचार्य मुनिश्रेष्ठ श्रीमत्कान्तिविजय के शिष्य और प्रशिष्य मुनि चतुरविजय और मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित है और श्रीआत्मानन्द जैन सभा, भावनगर (गुजरात) से सन् १९३०-३१ ई. में प्रकाशित हुआ है । ग्रन्थ के सम्पादन के क्रम में विविध जैन भाण्डारों से प्राप्त दुर्लभ, लगभग ग्यारह, पाण्डुलिपियों की, जिनमें ताडपत्रीय पाण्डुलिपियाँ भी सम्मिलित हैं, सहायता ली गई है । फिर भी, दुर्भाग्य से ग्रन्थ अपूर्ण है । पूरे ग्रन्थ के कुल अट्ठाईस लम्बों में, मध्य के दो लम्ब (सं. १९ और २०) एवं अन्तिम उपसंहार-अंश अप्राप्य हैं और बीच-बीच में भी कुछ अंश वृत्तित हैं ।

'वसुदेवहिण्डी' के यथाप्राप्त संस्करण की भूमिका से ज्ञात होता है कि सौ लम्बकों में निबद्ध यह ग्रन्थ दो खण्डों में विभक्त था । पूरे ग्रन्थ में अट्ठाईस हजार श्लोकप्रमाण सामग्री थी । प्रथम खण्ड में उनतीस लम्बक थे, जिसकी विषय-वस्तु ग्यारह हजार श्लोकप्रमाण थी । दूसरे खण्ड में इकहत्तर लम्बक थे, जिसकी विषय-सामग्री अट्ठाईस हजार श्लोकप्रमाण थी । ग्रन्थ के उक्त दोनों खण्डों के रचयिता भी अलग-अलग थे । प्रथम खण्ड संघदासगणिवाचक ने लिखा था और द्वितीय खण्ड के रचयिता थे धर्मसेनगणिमहत्तर । खेद है कि इन दोनों महान् ग्रन्थकारों के परिचय के सम्बन्ध में कोई सुनिश्चित जानकारी नहीं मिलती । अनाम और अज्ञात रहकर इन दोनों रचनाकारों ने भारतीय संस्कृति की तात्त्विक उपलब्धिमूलक कर्तृत्व में अपने-अपने व्यक्तित्व को विसर्जित कर दिया ! मुनि चतुरविजय-पुण्यविजयजी ने अपने 'प्रास्ताविक निवेदन' में इतना ही लिखा है कि 'वसुदेवहिण्डी' के यथाप्राप्त प्रथम खण्ड के प्रथम अंश के रचयिता संघदासगणिवाचक सातवीं शती के पूर्वार्द्ध के सुप्रसिद्ध भाष्यकार एवं आचार्य जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण से पूर्ववर्ती (चिरन्तन) हैं । सम्पादक मुनिद्वय ने यह अनुमान भाष्यकार (जिनभद्र) के भाष्यग्रन्थों में 'वसुदेवहिण्डी' के

नामोल्लेख को देखकर लगाया है। सम्पादकद्वय ने द्वितीय अंश में ग्रन्थकार के सविशेष परिचय प्रस्तुत करने का संकेत तो दिया है, किन्तु वे परिचय उपस्थित नहीं कर पाये हैं और उनके द्वारा यथाप्रतिज्ञात तृतीय अंश की तो प्रस्तुति ही नहीं हो पाई है। इस प्रकार, संघदासगणिवाचक का परिचय जिज्ञासा और प्रतीक्षा का ही विषय बना रह गया है।

चतुरविजय-पुण्यविजय ने अपने 'प्रास्ताविक निवेदन' में 'वसुदेवहिण्डी' को 'उनतीस लम्भकोंवाली कृति' कहा है। परन्तु उनके द्वारा सम्पादित मूलभाग में कुल अट्ठाईस लम्भक ही हैं, जिनमें उन्नीसवाँ और बीसवाँ लम्भक लुप्त हैं। इस प्रकार, कुल छब्बीस लम्भक ही मूल ग्रन्थ में प्राप्त हैं। चतुरविजय-पुण्यविजय की भूमिका में उनतीस लम्भकों का उल्लेख भ्रान्तिजनक है। और, इस भ्रान्ति की पुनरावृत्ति भी हुई है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. हीरालाल जैन तथा डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री आदि शोध-अधोतियों ने चतुरविजय-पुण्यविजय की भूमिका के भ्रान्तिपूर्ण उल्लेख को, विना ऊहापोह किये यथावत् स्वीकार कर लिया है।^१ किन्तु, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने इस भ्रान्ति को लक्ष्य कर अपनी सूक्ष्मेक्षिका का प्रशंसनीय परिचय दिया है।^२

'वसुदेवहिण्डी' की ग्रन्थ-पद्धति के सन्दर्भ में उक्त तीनों विद्वानों के अतिरिक्त डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने भी आधिकारिक चर्चा की है। इस सन्दर्भ में विस्तृत विवरण तथा सूचना के लिए उनकी शोधकृति 'दि वसुदेवहिण्डी : एन् ऑथेण्टिक जैन वर्सन ऑव दि बृहत्कथा' (प्र. एल्. डी. इंस्टीच्यूट ऑव इण्डोलॉजी, अहमदाबाद) द्रष्टव्य है। हम यहाँ उक्त विद्वानों के विचारों का अनुध्वनन-अनुसरण करते हुए अपना मन्तव्य व्यक्त करेंगे।

जैन परम्परा में 'वसुदेवहिण्डी' के दो रूप मिलते हैं : पहला ग्रन्थ (जो हमारे आलोचनात्मक अध्ययन का उपजीव्य विषय है) संघदासगणी-रचित है। इसे प्रथम खण्ड कहते हैं। धर्मसेनगणि-महन्तर द्वारा रचित इसी का एक दूसरा खण्ड भी उपलब्ध है, जो मध्यमखण्ड (प्रा. मज्झिम या मज्झिमल्ल खण्ड) के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी पाण्डुलिपि, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन के सूचनानुसार, अहमदाबाद के 'ला. द. भारतीय संस्कृति-विद्यामन्दिर' (एल्. डी. इंस्टीच्यूट ऑव इण्डोलॉजी) में सुरक्षित है और उक्त संस्थान के मनीषी निदेशक पं. दलसुख मालवणिया के तत्त्वावधान में पाण्डुलिपि का सम्पादन डॉ. भायाणी और डॉ. रमणीकलाल ने किया है, जिसका प्रकाशन शीघ्र ही सम्भावित है।^३

१. (क) बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) द्वारा प्रकाशित 'कथासरित्सागर' (समश्लोकी हिन्दी-अनुवाद-सहित) के

प्रथम संस्करण (१९६० ई.) की डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल-लिखित भूमिका, पृ. ब.

(ख) डॉ. हीरालाल जैन : 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', प्रथमानुयोग, प्राकृत-प्रकरण, पृ. १४

(ग) डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री : 'हरिभद्र के प्राकृत-कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन', पृ. ३७

२. द्रष्टव्य : 'दि वसुदेवहिण्डी : एन् ऑथेण्टिक जैन वर्सन ऑव दि बृहत्कथा' ('वसुदेवहिण्डी' का अँगरेजी में अनूदित तुलनात्मक संस्करण) : सं. तथा अनु. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, इण्ट्रोडक्शन : क्रिटिकल एपरेटस, पृ. १५ की पादटिप्पणी

३. सूचना है कि अब यह प्रकाशित हो गया है और इसके प्रकाशित हो जाने से 'वसुदेवहिण्डी' के लुप्त दो लम्भकों में निबद्ध, प्रभावती (लम्भ) की संकेतित कथा का पूरा अंश सुलभ हो गया है, जिससे 'वसुदेवहिण्डी' के शोध तथा अध्ययन की दिशा में एक अभिनव आयाम उद्भावित हुआ है। मेरा यह कथन अनुमानाधृत है; क्योंकि 'मध्यमखण्ड' का अवलोकन मैंने नहीं किया है।—ले.

उक्त मध्यमखण्ड की रचना, धर्मदासगणी ने अपने पूर्ववर्ती संघदासगणी की रचना को आगे बढ़ाते हुए, लगभग दो शती बाद प्रस्तुत की है। उसकी भूमिका में, डॉ. अग्रवाल तथा डॉ. जैन के अनुसार, धर्मदास ने कहा है : “कृष्ण के पिता वसुदेव ने लगातार एक सौ वर्षों तक परिभ्रमण किया और अनेक विद्याधरों एवं राजाओं की कन्याओं से विवाह किया। संघदासगणी ने वसुदेव के केवल उन्तीस^१ विवाहों का वर्णन किया था। शेष इकहतर विवाहों की कथा उन्होंने विस्तार-भय से छोड़ दी थी। उसे मध्यम या बीच के लम्बकों के साथ कथासूत्र मिलाने हुए मैं कह रहा हूँ।”^२

स्पष्ट है कि धर्मसेनगणी-कृत ‘मध्यम वसुदेवहिण्डी’ में इकहतर लम्बक सत्रह हजार श्लोकों में पूर्ण हुए हैं। डॉ. अग्रवाल की धारणा है कि धर्मसेन ने अनुमान के आधार पर वसुदेव के पूर्वकृत विवाहों के ढंग पर ही जितनी और कथाएँ मिल सकीं या गढ़ी जा सकीं, उन्हें जोड़-बटोरकर परिशिष्ट-रूप में एक नये ग्रन्थ का ठाट खड़ा किया। इससे यह अनुमान करना युक्तिसंगत नहीं कि मूल ‘वसुदेवहिण्डी’ में या उससे पहले की ‘बृहत्कथा’ में विवाहों की कहानियों का ऐसा ही विस्तार था।

धर्मसेनगणी की ‘वसुदेवहिण्डी’ के ‘मध्यमखण्ड’ नाम की सार्थकता इस मानी में है कि संघदासगणिवाचक के ग्रन्थ का २८वाँ लम्बक जहाँ समाप्त होता है, उससे आगे धर्मसेन ने अपना कथासूत्र नहीं चलाया, बल्कि उन्होंने ‘वसुदेवहिण्डी’ के अट्ठारहवें कथा प्रियंगुसुन्दरीलम्ब के साथ अपने इकहतर लम्बों का सन्दर्भ जोड़ा है और इस तरह संघदास की ‘वसुदेवहिण्डी’ के आसंग में अपने कथाग्रन्थ को विस्तार दिया है। इसीलिए, इसे ‘वसुदेवहिण्डी’ का मध्यमभाग या ‘मध्यमखण्ड’ कहते हैं।

सम्प्रति, ‘वसुदेवहिण्डी’ के प्राप्य संस्करण में छह प्रकरण हैं : १. कथोत्पत्ति, २. धम्मिल्लहिण्डी, ३. पौठिका, ४. मुख, ५. प्रतिमुख और ६. शरीर। अन्तिम प्रकरण ‘शरीर’ के अन्तर्गत ही २८ लम्बकों की कहानियाँ हैं, जिनमें अन्तिम देवकीलम्ब अपूर्ण है और १९वें-२०वें लम्बकों की कहानियाँ भी लुप्त हैं। अट्ठारहवें प्रियंगुसुन्दरीलम्ब के बाद इक्कीसवें केतुमतीलम्ब की कथा प्रारम्भ होती है। यहाँ १८वें लम्ब की समाप्ति पर धर्मसेनगणी ने अपने मध्यमखण्ड की कथा उपनिबद्ध की है।

ध्यातव्य है कि कुल तीन सौ सत्तर पृष्ठों में निबद्ध ‘वसुदेवहिण्डी’ के यथाप्राप्य संस्करण के, छब्बीस पृष्ठों में परिबद्ध ‘कथोत्पत्ति’ नामक पहले प्रकरण के बाद पचास पृष्ठों में निबद्ध ‘धम्मिल्लहिण्डी’ नाम का एक महत्वपूर्ण प्रकरण है। किन्तु, स्पष्ट है, यह प्रकरण किसी अज्ञात मूलस्थान से छिटककर ‘वसुदेवहिण्डी’ में आ जुड़ा है। इस ‘धम्मिल्लहिण्डी’ प्रकरण में ‘धम्मिल्ल’ नामक सार्थवाह-पुत्र की कथा है, जिसने देश-देशान्तरों में जाकर बत्तीस कन्याओं से विवाह किये। इनमें कुछ विद्याधर-कन्याएँ थीं, कुछ राजकन्याएँ और कुछ सार्थवाह की पुत्रियाँ। मूलग्रन्थ में इसे

१. किन्तु, ‘वसुदेवहिण्डी’ के प्राप्त संस्करण में अट्ठाईस विवाहों का ही उल्लेख है।—ले.

२. “सुव्वइ य किर वसुदेवेण वाससत्तं परिभमतेणं इमम्मि भरहे विज्जाहरिंदणरवतिवाणरकुलवंससंभवाणं कण्णाणं सत्तं परिणीतं, तत्थ य सामाविययमादियाणं रोहिणीपज्जवसाणाणं एगुणतीसं लभिता संघदासवायएणं उवणिबद्धा। एकसत्तरिं च वित्थारभीरुणा क्हामज्जे छड्डिता। ततो हं भो लोइयसिंसारकहापसंसणं असहमाणो आयरियसयासे अवधारेऊणं पवयणानुरागेणं आयरियनियोएणं य तेसिं मज्झिल्ललंभाणं गंधनत्थे अब्बुज्जओ हे। तं सुणह इतो पुब्बकहाणुसारेण चेव।”—‘कथासरित्सागर’ (पूर्ववत्), भूमिका-भाग, पृ. ८

‘धम्मिल्लचरित’ भी कहा गया है और ‘धम्मिल्ल’ शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए संघदासगणी ने लिखा है : “जं से माऊए धम्मे दोहलो जातो तेण होतु ‘धम्मिल्लो’ ति (पृ. २७) ।” अथवा “जम्हा णं अम्हं इमम्मि दारए गम्भगए धम्मदोहलो आसी, तं होउ णं एयस्स दारगस्स नामबेयं ‘धम्मिल्लो’ ति (पृ. ७६) ।” अर्थात् गर्भ की स्थिति में उसकी माता को धर्माचरण के विषय में दोहद उत्पन्न हुआ था, अतएव पुत्र का नाम ‘धम्मिल्ल’ रखा गया ।

गुणाढ्य की ‘बृहत्कथा’ के नैपाली और कश्मीरी नव्योद्भावनों—‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ एवं ‘बृहत्कथामंजरी’ तथा ‘कथासरित्सागर’ में ‘धम्मिल्लचरित’ का उल्लेख नहीं है । वस्तुतः, ‘धम्मिल्ल हिण्डी’ की कथा का कथावरण सार्थवाहों के संसार से लिया गया है । इसे अपने-आपमें एक स्वतन्त्र रचना माना जा सकता है, जिसकी मूल संरचना का आधार नरवाहनदत्त या वसुदेव के कई विवाहों की कथाओं से गृहीत है । डॉ. अग्रवाल ने ‘धम्मिल्ल’ शब्द का अर्थ केशबन्ध मानते हुए, इसकी व्युत्पत्ति के क्रम में अपने अनुमान की बैसाखी के सहारे, इसके ‘द्रमिल’ या ‘तमिल’ शब्द से विकसित होने की सम्भावना की है, जो कष्ट-कल्पना ही है । तत्त्वतः, ‘धर्मिल’ शब्द का ही प्राकृत रूप ‘धम्मिल्ल’ है । ‘धम्मिल्ल’ के अतिरिक्त ‘धम्मिल’ पाठ भी मिलता है, जिसकी ओर ‘वसुदेवहिण्डी’ के सम्पादक चतुरविजय-पुण्यविजय ने संकेत किया है । यद्यपि, उनकी सम्पादकीय पादटिप्पणी (पृ. २७) में मुद्रण-दोष रह गया है ।

‘धम्मिल्लहिण्डी’ या ‘धम्मिल्लचरित’ के अन्तर्गत अगडदत्त मुनि की आत्मकथा मिलती है । इसका भी स्वतन्त्र अस्तित्व है और यह परवर्ती जैनकथाग्रन्थों में पद्यबद्ध या गद्यबद्ध रूप में अनेक बार आवृत्त हुआ है । हिन्दी में प्रचलित ‘अगडधत्त’ शब्द इसी ‘अगडदत्त’ का विकसित रूप है । जीवन की हर दिशा में अप्रतिहत गति रखनेवाला सदाप्रखर और अपराजेय व्यक्ति ही ‘अगडधत्त’ कहलाता है । विद्या के क्षेत्र में भी ‘अगडधत्त’ विद्वान् होते हैं । अगडदत्त मुनि का चरित भी अपनी बौद्धिक सुतीक्ष्णता और प्रतिभा की प्रखरता की दृष्टि से परम साहसिक (एडवेंचरस) है । वस्तुतः, ‘धम्मिल्लहिण्डी’ को ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथा-संरचना-पद्धति की विशिष्टता की अभिज्ञापक पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है ।

‘वसुदेवहिण्डी’ कथाकृति के ग्रन्थन या उसकी संरचना की पद्धति श्वेताम्बर जैन परम्परा के अनुसार है । इसीलिए, श्वेताम्बर जैन विद्वान् इस ग्रन्थ से सुपरिचित रहे हैं और उन्होंने इस ग्रन्थ के नामोल्लेखपूर्वक उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं । इस ग्रन्थ का नाम तो ‘वसुदेवहिण्डी’ है, किन्तु कथाकार संघदासगणी ने इसे ‘वसुदेवचरित’ कहा है और ऋषभनाथ तीर्थंकर की वन्दना करने के बाद पंचनमस्कार मन्त्र-रूप मंगलाचरण का उपन्यास किया है । यद्यपि, ऋषभ-वन्दना के बाद पंचनमस्कार मन्त्र का कोई औचित्य नहीं है, तथापि इसके सम्पादक मुनिद्वय ने अनेक प्रतियों में इसे अंकित देखकर मूलपाठ को ही आदर दिया है ।

पंचनमस्कार के बाद कथाकार ने लिखा है : “अणुजाणंतु मं, गुरुपरंपरागयं वसुदेवचरियं णाम संग्रहं वज्रइस्सं ।”...“तथ्य ताव सुहम्मसामिणा जंबुनामस्स पढमाणुओगे तित्थयर-चक्कवट्टि-दसारवंसपरूवणागयं वसुदेवचरियं कहियं ।” अर्थात् “मैं गुरु-परम्परागत ‘वसुदेवचरित’ नामक संग्रह का वर्णन करूँगा । . . प्रथमनुयोग में तीर्थंकर, चक्रवर्ती और दशार-वंश के राजाओं का

जो वर्णन किया गया है, उसका अनुसरण करके सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य जम्बूस्वामी को 'वसुदेवचरित' का उपदेश किया है। (प्रस्तावना : पृ. १; कथोत्पत्ति : पृ. २)

किन्तु, 'वसुदेवचरित' की अपर संज्ञा 'वसुदेवहिण्डी' की सार्थकता वसुदेव के भ्रमण-वृत्तान्त से सम्बन्ध रहने के कारण स्वतः स्पष्ट है। 'वसुदेवहिण्डी' के 'प्रतिमुख' प्रकरण में प्रद्युम्न और वसुदेव (दादा और पोता) के संवाद के माध्यम से वसुदेव के हिण्डन की अन्वर्थता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। रुक्मिणी से उत्पन्न कृष्णपुत्र प्रद्युम्न ने वसुदेव से कहा : "सौ वर्षों तक परिभ्रमण करते हुए आपने मेरे लिए अनेक आजियाँ (दादियाँ) प्राप्त कीं। पर, परिभोग में लिप्त शाम्ब (रुक्मिणी से उत्पन्न, कृष्ण का ही दूसरा पुत्र) को देखिए। भानु (सुभानु : सत्यभामा से उत्पन्न कृष्णपुत्र) के लिए जो (एक सौ आठ) कन्याएँ एकत्र की गईं, वे ही उसे प्राप्त हो गईं।" इसपर वसुदेव ने गर्वपूर्वक प्रद्युम्न से कहा : "शाम्ब तो कूपमण्डूक की तरह सुख से प्राप्त भोग से ही सन्तुष्ट रहनेवाला है। लेकिन, मैंने पर्यटन करते हुए जो सुख-दुःख अनुभव किये, वह किसी दूसरे पुरुष के लिए दुष्कर है।"

तदनन्तर, प्रद्युम्न ने प्रणतिपूर्वक वसुदेव से निवेदन किया : "पूज्य पितामह ! आपने जिस प्रकार हिण्डन किया, उसे कृपया बतलाइए।" वसुदेव ने कहा : "मेरे लिए तुमसे विशिष्ट पौत्र कौन है ? लेकिन, तुम मेरी हिण्डन-कथा को फिर दूसरों से कहोगे, तो वे मुझे फिर से सुनाने को बाध्य करेंगे। इसलिए, जिस-जिसको सुनने की इच्छा हो, उन सबको इकट्ठा करो, तब तुम्हारे समक्ष (मैं अपना भ्रमण-वृत्तान्त) कहूँगा।" वसुदेव की आज्ञा के अनुसार प्रद्युम्न ने प्रसन्नतापूर्वक कुलकरों, अक्रूर, अनाधृष्टि, सारणक आदि यादवगण तथा राम (बलराम), कृष्ण आदि सबको सादर निमन्त्रित किया। वे सभी प्रहर्षित मन से एकत्र हुए। विद्वानों के बीच बृहस्पति के समान वसुदेव ने प्रद्युम्न-प्रमुख उन (यादवों) के बीच विराजमान होकर धर्म, अर्थ काम का निष्पादक एवं लोक, वेद, काल (समयरूढि) और शास्त्र द्वारा अनुभूत अपना यात्रा-वृत्तान्त सुजनों के लिए श्रवणसुखद स्वर में सुनाना प्रारम्भ किया।^१

'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' (सर्ग ४, श्लोक १-१३) में भी इसी प्रकार का प्रसंग है। नीलगिरि पर, काश्यप ऋषि के आश्रम में काश्यप के अतिरिक्त अन्य मुनि, राजा नरवाहनदत्त के मामा पालक, नरवाहनदत्त के मित्र और पत्नियाँ बैठी हैं। उनके बीच ही काश्यप ने नरवाहनदत्त से अनुरोध किया : "हे आयुष्मन् ! पालक-सहित हम तपस्वी आपकी कथा सुनने की उत्कण्ठा से स्थिरचित्त बैठे हैं। आपने जिस प्रकार यह दुर्लभ ऐश्वर्य प्राप्त किया और जिस रीति से इन वधुओं को

१. "ततो (पञ्जुणो) भणति- अज्जय ! तुब्भेहिं वाससयं परिभमंतेहिं अहं अज्जियाओ लद्धाओ। पस्सह संबस्स परिभोगे, सुभाणुस्स पिडियाओ कण्णाओ ताओ संबस्स उवड्ढियाओ। वसुदेवेण भण्णो पञ्जुणो- संबो कूवददुरो इव सुहागयभोगसंतुड्ढो। मया पुण परिभमंतेण जाणि सुहाणि दुक्खणि वा अणुभूयाणि ताणि अण्णेण पुरिसेण दुक्करं होज्जन्ति चित्तेमि। ततो पणओ पञ्जुणो विण्णवेइ- अज्जय ! कुणह मे पसायं, कहेह जहा हिंडिय त्य। भणइ- कस्स वा कहेयव्वं ? को वा मे तुमाए विसिड्ढो नतुओ ? किं पुण तुमं सि अण्णेसिं साहित्तो, तो मे पुणो बाहिहिंति ते; तो जस्स जस्स अत्थि इच्छा सोउ तं तं मेलावेहि। ततो तुमं पुरओ काऊण कहेहं। ततो तेण तुट्ठेण कुलगरा अकूराऽणाहिड्ढि- सारणगणा य राम- केसवादी य निमंतिता। ते ते समेथा सहाए पहड्ढमणा तेसिं च मज्झगओ वसुदेवो बहस्सती विव कोविदाणं पञ्जुणपमुहाणं धम्म-ऽत्यकाम-लग- वेद-समयदिड्ढ-सुता-ऽणुभूयं पकहिओ सुयणसवणणंदिणा सरेणं। सुणह- ।" - व. हिं., प्रतिमुख, पृ. ११०

अंगीकार किया—वह सब हमें कहिए।” काश्यप के इस अनुरोध से नरवाहनदत्त संकुचित हो उठे कि जो स्त्रियाँ प्रीतिवश उनपर अनुरक्त हुईं और प्रीति के कारण जिन्होंने उनका आहरण किया, उनकी कामकथा की बात गुरुजनों के समक्ष वे कैसे कह पायेंगे। इस संकट की घड़ी में नरवाहनदत्त ने अपनी अभीष्ट देवी पार्वती का स्मरण किया। महागौरी ने प्रत्यक्ष होकर उनसे कहा : “ऋषि, मामा, भार्याएँ, मित्र और राजा अवन्तिवर्द्धन—इनमें जिसके लिए जो बात उचित है, वही सुनें, अन्य नहीं।” पार्वती के ऐसा कहने पर मानों सरस्वती ही नरवाहनदत्त के मुख में प्रखर होकर उनका विचित्र चरित्र सुनाने लगी।

परन्तु, ‘वसुदेवहिण्डी’ में वसुदेव अपनी कामकथाएँ भी अपने बेटों, पोतों और अन्य उपस्थित कुलकर्तों एवं यादवों के समक्ष निस्संकोच कहते चले गये हैं। स्पष्ट है कि ब्राह्मण-परम्परा की उक्त कथा में जिस शील, संकोच और मर्यादा का परिधि-बन्धन उपस्थित किया गया है, वह तद्विषयक भ्रमण-परम्परा की कथा में दृष्टिगत नहीं होता। निश्चय ही, नरवाहनदत्त जहाँ अधिक मर्यादावादी हैं, वहाँ वसुदेव शठता और धृष्टता या उद्वेगता से भी काम लेते हैं। नरवाहनदत्त जहाँ धीरललित नायक हैं, वहाँ वसुदेव धीरोद्धत। नरवाहनदत्त का व्यक्तित्व अधिकांशतः पारम्परिक है, किन्तु वसुदेव अधिकतर परम्परा को नया मोड़ देनेवाले, अतएव प्रगतिशील और विकासवादी मनोवृत्ति से सम्पन्न हैं। वसुदेव अपने हिण्डन की अवधि में प्रायः अज्ञातकुलशील होकर विचरण करते हैं और नरवाहनदत्त स्वचित्कदाचित् ही अज्ञातकुलशीलता से काम लेते हैं। नरवाहनदत्त अपनी प्रधानमहिषी मदनमंचुका के सहसा गायब हो जाने पर उसे खोजने के निमित्त भ्रमण करते हैं और उसी क्रम में उन्हें ऐश्वर्य तथा अनेक वधुएँ उपलब्ध होती हैं। किन्तु, वसुदेव, अपने ज्येष्ठ भाई द्वारा घर से बाहर निकलने पर प्रतिबन्ध लगाये जाने के कारण ऊबकर (घर से) छलपूर्वक भाग निकलते हैं और श्मशान-स्थली में, स्वयं चिता में जल मरने की बात लिखकर दूर देश चले जाते हैं। और इस प्रकार, आत्ममृत्यु की मिथ्याकथा को प्रचारित करनेवाले वसुदेव को परिहिण्डन के लिए मिथ्यात्व का सहारा लेना पड़ता है। सत्ताईसवें रोहिणीलम्भ में रोहिणी-स्वयंवर के प्रसंग में, परस्पर युद्ध करते समय, वसुदेव और उनके ज्येष्ठ भाई समुद्रविजय ने एक दूसरे को देखा और पहचाना। वहीं समुद्रविजय ने वसुदेव को व्यर्थ इधर-उधर न भटककर अपनी यथाप्राप्त वधुओं के साथ घर लौट आने का निर्देश दिया और इस प्रकार ‘कोसला’-जनपद के रिष्टपुर में रोहिणी के पिता राजा रुधिर के राज्य में, वसुदेव के हिण्डन को पूर्ण विराम प्राप्त हुआ।

‘कथोत्पत्ति’ आदि छह अधिकारों (प्रकरणों) में विभक्त ‘वसुदेवहिण्डी’ की मूलकथा ‘प्रतिमुख’ से प्रारम्भ होती है और ‘शरीर’ प्रकरण में समाप्त हो जाती है। मूलतः, ‘शरीर’ ही कथा का मुख्य भाग है। छठा ‘उपसंहार’ तो अप्राप्य है और ‘शरीर’ का अन्तिम भाग भी लुप्त है, इसलिए अट्ठाईसवाँ ‘देवकीलम्भ’ अपूर्ण रह गया है।

प्रथम ‘कथोत्पत्ति’ अधिकार की कथावस्तु :

‘वसुदेवहिण्डी’ या ‘वसुदेवचरित’ की मूलकथा ईसा-पूर्व छठी शती में मगध-जनपद के राजगृह नगर की धरती पर कही गई थी। राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) कथा के श्रद्धालु श्रोता बने थे और भगवान् महावीर प्रवक्ता। परवर्ती काल में, प्रधान गणधर सुधर्मास्वामी ने भगवान्

महावीर द्वारा प्रोक्त वसुदेवचरित का पुनराख्यान अपने शिष्य जम्बूस्वामी के लिए किया। इसी प्राचीन कथा को संघदासगणिवाचक ने अनुमानतः ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती (अर्थात् जैन-सूत्रों के संकलन-काल) में गद्यकाव्य के रूप में उपन्यस्त किया।

संघदासगणी ने जम्बूस्वामी के चरित से ही 'कथोत्पत्ति' अधिकार का प्रारम्भ किया है; क्योंकि सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी को ही वसुदेवचरित सुनाया था। राजा श्रेणिक के राज्यकाल में, राजगृह में, ऋषभदत्त वणिक् की पत्नी धारिणी से जम्बूस्वामी उत्पन्न हुए थे। स्वप्न में धारिणी को जम्बूफल का लाभ हुआ था, इसलिए नवजात पुत्र का नाम 'जम्बू' रखा गया। सुधर्मास्वामी से मोक्षमार्ग की प्राप्ति का उपाय जानकर जम्बू ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का निर्णय किया। माता-पिता के बहुत समझाने-बुझाने पर वह गृहस्थ-धर्म स्वीकार करने को राजी हो गये। आठ सार्थवाह-कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ।

जम्बूस्वामी जब अपनी नववधुओं के साथ वासगृह में विराजमान थे, तभी जयपुर के राजा विन्ध्यराज का ज्येष्ठ पुत्र प्रभव नाम का चोर वहाँ आया। पिता के द्वारा उसके छोटे भाई प्रभु को राज्य मिलने के कारण प्रतिक्रियावश उसने विन्ध्यगिरि की तराई में चोरों का एक सन्निवेश स्थापित किया था। उसे विविध विद्याएँ सिद्ध थीं।

यहीं संघदासगणी ने जम्बूस्वामी और प्रभव के बीच सांसारिक सुखभोग के त्याग और ग्रहण के सन्दर्भ में, अनेक मनोरंजक और शिक्षाप्रद कथाओं और उपकथाओं के माध्यम से, रोचक संवाद उपस्थित किया है। इसी क्रम में जम्बूस्वामी के पूर्वभव की आश्चर्यजनक कथा भी उपन्यस्त की गई है। अन्त में, जम्बूस्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर प्रभव ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और उनसे विदा लेकर वैभारगिरि पर जाकर रहने लगा। श्रामण्य के अनुपालन के कारण प्रभव चोरपति के पर्याय से मुक्त होकर प्रभवस्वामी हो गया।

जम्बूस्वामी की कथा के क्रम में विद्युन्माली देव की तपोविभूति की बात सुनकर राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया : "भगवन् ! तप करके इसी भव में फल प्राप्त करनेवाले कितने जीव हैं और दूसरे भव में पुण्यफल प्राप्त करनेवाले कितने ? भगवान् ने उत्तर दिया : "अपने तप का इसी भव में फल प्राप्त करनेवाले धम्मिल्ल आदि अनेक हो गये हैं और अवसर्पिणी-काल में, परलोक में तप का मूल्यरूप देव-मनुज-सुख पानेवाले वसुदेव आदि हैं।" यह सुनकर राजा को बड़ा कुतूहल हुआ। उनके कुतूहल को शान्त करने के लिए भगवान् ने वसुदेवचरित प्रारम्भ करने के पूर्व, राजा से 'धम्मिल्लचरित' कहा (कथोत्पत्ति : पृ. २६)।

'धम्मिल्लचरित' की कथावस्तु :

इस प्रकार, संघदासगणी ने अपने कथा-नैपुण्य से 'धम्मिल्लचरित' की आनुषंगिकता को वसुदेवचरित की मूलकथा से जोड़ने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। फलस्वरूप, 'धम्मिल्लहिण्डी' अपने-आपमें स्वतन्त्र कथा होते हुए भी 'कथोत्पत्ति' अधिकार का एक अभिन्न अंग बन गया है। साथ ही, जैसा पहले उल्लेख किया गया, धम्मिल्ल का परम साहसिक रोमांचकारी चरित ही वसुदेव के साहसपूर्ण विस्मयकारी चरित की पूर्वपीठिका के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

नारी-मात्र से द्वेष रखनेवाला धम्मिल्ल परिस्थितिवश घोर कामचारी बन जाता है। अन्त में, मुनि के उपदेश से अपने चरित्रिक उत्थान में सफल होकर तपोबल से देवत्व प्राप्त कर लेता है। यही 'धम्मिल्लहिण्डी' का मुख्य विषय है। इसीलिए भगवान् महावीर ने धम्मिल्लचरित की समाप्ति करते हुए कहा है : "एवं खलु धम्मिल्लेणं तवोकम्पेणं सा इड्ढी लब्धा (पृ. ७६) जैसा कहा गया, वसुदेवचरित कहने के पूर्व भगवान् महावीर ने राजा श्रेणिक से 'धम्मिल्लचरित' कहा था। उसी कथा को सुधर्मा ने कृणिक (बिम्बिसार-पुत्र अजातशत्रु) से सावधान होकर सुनने के लिए कहा।

'पीठिका' अधिकार की कथावस्तु :

'वसुदेव ने किस प्रकार परलोक में फल प्राप्त किया?' ऐसा राजा श्रेणिक के पूछने पर भगवान् महावीर ने जो कथापीठिका उपस्थित की, उसे संघदासगणी ने वसुदेव के बृहद् इतिहास के प्रासाद की पीठ (आधारभूमि) कहा है। इसी 'पीठिका' अधिकार में यह स्पष्ट हुआ है कि द्वारवती नगरी के स्वनामधन्य दस दशार्हों में वसुदेव दसवें और अन्तिम थे। द्वारवती नगरी आनर्त, कुशार्थ (कुशावर्त), सुराष्ट्र और शुकराष्ट्र जनपदों की अलंकार-स्वरूप श्रेष्ठ नगरी थी। इसी प्रकरण में प्रद्युम्न और शाम्बकुमार की कथा का मोहक प्रसंग उपन्यस्त है। राम (बलराम) और कृष्ण की अग्रमहिषियों के परिचय की कथा भी विमोहक ढंग से कही गई है। ज्ञातव्य है कि ये सारी कथाएँ ब्राह्मणाम्नाय की पारम्परिक कथापद्धति से पर्याप्त भिन्न रूप में उपस्थित की गई हैं, जिससे इनमें विशिष्ट अभिनवता और मौलिकता का समावेश हुआ है। कथाभूमि में सर्वत्र लोकजीवन की अन्तरंगता अनुस्यूत है। कथा कहने में विचित्रता और विविधता केवल संघदासगणी की ही अपनी विशेषता नहीं है, अपितु यह सम्पूर्ण प्राकृत कथा-वाङ्मय का निजी वैशिष्ट्य है।

इस अधिकार में रुक्मिणी और सत्यभामा के सपत्नीत्व का प्रसंग भी बड़ी रुचिर शैली में अपारम्परिक रीति से चित्रित किया गया है। रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न और शाम्ब ने तो मानों सत्यभामा और उसके पुत्र सुभानु को बराबर छकाते रहने का ही बीड़ा उठा लिया है। यहाँ तक कि सुभानु के लिए एकत्र की गई एक सौ आठ कन्याओं को भी शाम्ब अपने अधीन कर लेता है।

'मुख' अधिकार की कथावस्तु :

'पीठिका' को 'प्रद्युम्नचरित' और 'मुख' को 'शाम्बचरित' कहना अधिक उपयुक्त होगा। अनेक विस्मयजनक कथाओं और अन्तःकथाओं एवं अवान्तर कथाओं से परिगुम्फित प्रद्युम्न और शाम्ब के अद्भुत-अपूर्व चरित को उपन्यस्त करने में कथाकार का अभिप्राय वसुदेव के वंशजों के साहसिक चरित्र की ओर संकेत करना है। वसुदेव के इन वंशजों की वीरगाथाएँ या प्रेमकथाएँ लोकजीवन की युगीन प्रवृत्तियों की परिचायिका हैं। अतः, समाज की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक गतिविधि के अध्ययनार्थ इन कथाओं की बड़ी उपयोगिता है। देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक और सामाजिक आदर्श की विविधता और विचित्रता इन कथाओं में सुरक्षित है।

'मुख' अधिकार में मुख्यतः शाम्ब और सुभानु के पारस्परिक क्रीड़ा-विनोद की कथा है। इसमें शाम्ब और सुभानु की द्यूतक्रीड़ा का प्रसंग तो सर्वाधिक रुचिकर है। एक बार द्यूतक्रीड़ा में

सुभानु शाम्ब से हार गया। शाम्ब ने सुभानु को पकड़ लिया। सत्यभामा ने जब सुभानु की हार की बात सुनी, तब रोती हुई वह उपालम्ब के स्वर में कृष्ण से बोली : “शाम्ब आपके दुलार के कारण मेरे बेटे को जीने नहीं देगा। इसलिए, उसे मना कीजिए।” सत्यभामा के ऐसा कहने पर कृष्ण ने शाम्ब के पास अपना सन्देश भेजा, ताकि वह सुभानु को छोड़ दे। इसपर भी जब उसने अस्वीकार कर दिया, तब कृष्ण स्वयं शाम्ब के पास गये और उसकी उद्दण्डता के लिए उसे बहुत तरह से समझाया और डाँटा भी। फिर भी, चार करोड़ लेने के बाद ही शाम्ब ने सुभानु को छोड़ा।

इस प्रकार, इस प्रकरण में, रुक्मिणी तथा उसके पुत्र प्रद्युम्न और शाम्ब के द्वारा सत्यभामा और उसके पुत्र सुभानु के अपमानित-पराजित किये जाने का पूरा-का-पूरा प्रसंग कथा के प्रधान गुणों—रुचिरता और रोचकता से ओतप्रोत है।

‘प्रतिमुख’ अधिकार की कथावस्तु :

वस्तुतः, इसी अधिकार से ‘वसुदेवहिण्डी’ या ‘वसुदेवचरित’ की कथावस्तु का प्रारम्भ होता है। संघदासगणी ने वसुदेवचरित का प्रारम्भ बड़े नाटकीय ढंग से उपन्यस्त किया है। एक दिन प्रद्युम्न वसुदेव का रूप धरकर उनके घर में गया। वसुदेव की पत्नियों ने, वसुदेव के भ्रम में, प्रद्युम्न को प्रणाम किया और उसकी अर्चना की। उसके बाद उन्होंने प्रद्युम्न से पूछा : “देव कहाँ से आ रहे हैं?” तब उसने कहा कि ज्येष्ठ भाई के घर से आ रहा हूँ। फिर, उसने बताया कि ज्येष्ठ भाई के घर आकाशचारी श्रमण आये थे और उन्होंने भरतक्षेत्र के धातकीखण्डद्वीप का वर्णन किया। इसके बाद प्रद्युम्न, वसुदेव की पत्नियों (अर्थात् अपनी दादियों) के समक्ष धातकीखण्ड का भौगोलिक वर्णन करने लगा। तभी वसुदेव ने अपने आगमन की सूचना दी। किन्तु, प्रतिहारियों ने उन्हें रोक दिया और उनसे पूछा : “मेरे राजा तो अन्तःपुर में विराज रहे हैं। तुम उनकी तरह रूप धारण करनेवाले कौन हो?” “क्या बकते हो?” कहकर प्रतिहारियों को डाँटते हुए वसुदेव अन्तःपुर के भीतर चले गये। वहाँ उन्होंने अपना ही गम्भीर स्वर सुना। स्पष्ट है कि प्रद्युम्न ने न केवल उनके रूप का, अपितु उनकी स्वरभंगी का भी बड़ी सफलता से अनुकरण किया था।

प्रद्युम्न ने जब वसुदेव को देखा, तब अपने स्वाभाविक रूप में आकर उसने उनकी चरण-वन्दना की। आशीर्वाद देते हुए उन्होंने प्रद्युम्न से पूछा : “देवियों से कौन बातचीत कर रहा था?” प्रद्युम्न ने उत्तर दिया : “आपकी प्रतीक्षा करते हुए मैंने आपका रूप धरकर क्षणभर के लिए देवियों (अपनी दादियों) को मोहित किया।” तब हँसते हुए वसुदेव ने कहा : “पोते ! देवता की भाँति इच्छानुकूल रूप धारण करनेवाले तुम अनेक हजार वर्ष जियो।”

इसके बाद प्रद्युम्न ने वसुदेव से उनके हिण्डन के वृत्तान्त जानने का कौतूहल व्यक्त किया। और, प्रद्युम्न द्वारा सबको इकट्ठा किये जाने पर वसुदेव ने अपना यात्रा-वृत्तान्त सुनाना प्रारम्भ किया। इसी क्रम में वसुदेव ने पहले अन्धकवृष्णि-कुल का सांगोपांग परिचय प्रस्तुत किया।

‘शरीर’ अधिकार की कथावस्तु :

इस पाँचवें अधिकार के कुल अट्ठाईस लम्बों में यथाप्राप्त छब्बीस लम्बों के अन्तर्गत वसुदेव ने अपनी आत्मकथा का विस्तार किया है। पूरी कथा उत्तमपुरुष (फर्स्ट पर्सन) में कही गई है। यही

‘वसुदेवहिण्डी’ का मूल भाग या मुख्य कथाभाग है, जो कुल २५७ पृष्ठों में निबद्ध है। और उपर्युक्त शेष-चारों अधिकार नातिदीर्घता से कुल ११३ पृष्ठों में गुम्फित हुए हैं। इस प्रकार, ‘वसुदेवहिण्डी’ (भावनगर-संस्करण) के कुल ३७० पृष्ठ उपलब्ध हैं। जैसा कहा गया, छठा अधिकार ‘उपसंहार’ अनुपलब्ध है और अन्तिम अट्ठाईसवाँ लम्ब भी अधूरा ही रह गया है।

‘वसुदेवहिण्डी’ का ‘कथोत्पत्ति’ अधिकार विशुद्ध जैनकथा के प्रारम्भ करने की प्राचीन शैली का निदर्शन प्रस्तुत करता है। इस अधिकार से स्पष्ट है कि मूलतः इस कथा (वसुदेवचरित) को भगवान् महावीर ने श्रेणिक से कहा था और फिर इसे सुधर्मास्वामी ने जम्बूस्वामी से और यत्र-तत्र कूणिक (अजातशत्रु) से भी कहा। इस प्रकार, ‘वसुदेवहिण्डी’ की मूल कथा, अनेक आनुषंगिक संवादों के माध्यम से उपकथाओं और अन्तःकथाओं से एक-दूसरे में अनुस्यूत होती हुई बृहत्कथाजाल में परिणत हो गई है, फलतः कहीं-कहीं तो मूलकथा का सूत्र ही कथाकार के हाथ से छूट गया-सा प्रतीत होता है। कभी-कभी तो पाठक ‘वसुदेवचरित’ से फिसलकर किसी अवान्तर कथा के आस्वाद में तन्मय हो जाता है और मूलकथा को प्रायः भूल बैठता है। लेकिन, कथानिपुण आचार्य **संघदासगणी** कथासूत्र के संचालन में इतने सतर्क हैं कि अवान्तर कथाओं में खोये हुए पाठक को पुनः मूलकथा की घटनाओं से बड़ी सहजता के साथ ला जोड़ते हैं। इस प्रकार, पाठक कथा के आस्वाद की रमणीयता, विविधता और विचित्रता में तरंगित होता चलता है।

वसुदेव के भौगोलिक परिभ्रमण के रूपों का सूचीबद्ध उपन्यसन ‘वसुदेवहिण्डी’ की ग्रन्थन-पद्धति की अपनी उल्लेखनीय विशिष्टता है, जिसमें कथासूत्रों के ऐतिहासिक क्रम की सहज व्यवस्था विद्यमान है, साथ ही लोकमानस के विविध रूपों का प्रतिबिम्बन भी। इसके अतिरिक्त, लोक-संस्कृति के समस्त उपकरण भी तीव्रता के साथ मुखरित हुए हैं। मौखिक या लिखित परम्परा द्वारा क्रमशः एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथा अपने सम्पूर्ण आभिजात्य के बावजूद लोकप्रचलित कथानकों से प्रसूत लोककथा ही है। ‘वसुदेवहिण्डी’ में ग्रथित कथाएँ मूलतः कामकथाएँ हैं, किन्तु उनकी परिणति या पर्यवसान धर्मकथाओं में हुआ है।

निष्कर्ष :

कृष्ण के पिता वसुदेव के हिण्डन की कथा से सम्बन्ध होने के कारण, अपनी ‘वसुदेवहिण्डी’ संज्ञा की अन्वर्थता से युक्त इस महत्कथाकृति की मूलकथा का उद्देश्य वसुदेव के चरित को उद्भाविता करना है। यह ‘वसुदेवहिण्डी’ गुणाढ्य की पैशाची ‘बृहत्कथा’ का प्राकृत-नव्योद्भावन है, जो जैनाम्नाय की, विशेषतः श्वेताम्बर-सम्प्रदाय की सामाजिक-धार्मिक अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में लिपिबद्ध हुआ है। इसमें श्रमण-परम्परा के कथाकार ने ब्राह्मण-परम्परा में ग्रथित ‘बृहत्कथा’ के चरित्रनायक नरवाहनदत्त की अद्वितीयता को वसुदेव के समान्तर चरित्र-चित्रण द्वारा द्वितीयता प्रदान की है। नरवाहनदत्त की भाँति वसुदेव विद्याधर तो नहीं थे, किन्तु उन्होंने विद्याधरियों से विवाह अवश्य किया। विद्याधरियों या विद्याधरों की सहायता से ही उन्हें विद्याओं की सिद्धि प्राप्त हुई और विद्याधर-लोक (वैताल्य पर्वत की उत्तर और दक्षिण श्रेणी) से उनका सम्पर्क स्थापित हुआ। ब्राह्मण-परम्परा की ‘बृहत्कथा’ और उसकी उत्तरकालीन वाचनाओं (‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’, ‘कथासरित्सागर’ तथा ‘बृहत्कथामंजरी’) में कथाभूमि को अधिकांशतः देवत्व के परिवेश में उपस्थित

किया गया है, किन्तु जैनाचार्य संघदासगणी द्वारा किया गया देवत्व का मानवीकरण विशेषतः उल्लेख्य है।

शलाकापुरुष वसुदेव असाधारण मानव हैं। उन्हें सारी विद्याएँ और कलाएँ अधिगत हैं। उनका मुख्य लक्ष्य छद्म रूप से हिण्डन करना है। इसी क्रम में वह अपनी कलाओं और विद्याओं द्वारा आत्मरक्षा तो करते ही हैं, परोपकार या लोकोपकार भी करते चलते हैं। उनकी असाधारणता से प्रभावित विद्याधरनरेश या बड़े-बड़े भूपति अपनी-अपनी कन्याएँ उन्हें अर्पित करते हैं। इस सन्दर्भ में कथाकार संघदासगणी ने कथा की बुनावट में कहीं-कहीं ततोऽधिक नन्दितकता से काम लिया है, तो कहीं-कहीं रहस्य और रोमांच का चमत्कारी चित्र भी उपस्थित किया है।

कथाकार संघदासगणी ने वसुदेव के कतिपय प्रतिनायकों की भी सृष्टि की है, जिनमें अंगारक, हेम्पग, नीलकण्ठ और मानसवेग प्रमुख हैं। फिर भी, प्रेम की त्रिकोणात्मक स्थिति कहीं भी नहीं उत्पन्न होने पाई है। यथाप्राप्त नायिकाएँ एकमात्र उनके (वसुदेव के) प्रति ही समर्पित दिखाई गई हैं। उनकी सभी पत्नियाँ काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्रायः स्वकीया और अनुकूल नायिकाएँ हैं। नायिका-प्राप्ति में अधिक संघर्ष का अवसर कदाचित् ही वसुदेव को प्राप्त हुआ है। संघर्ष अधिकतर कला-प्रतियोगिता के रूप में उपस्थित किया गया है। उनके प्रतिनायक, जो प्रायः छद्मवेषधारी विद्याधर या विद्याधरियाँ भी हैं, उन्हें सोई हुई स्थिति में आकाश में उड़ा ले जाते हैं और जब उनकी नींद खुलती है, तब उन्हें वस्तुस्थिति का आभास होता है। वह अपने प्रतिनायक की कनपट्टी पर प्रहार करते हैं और प्रतिनायक असली रूप में आकर अधर में ही उन्हें छोड़ देता है। ऐसी स्थिति में अक्सर उन्हें किसी सरोवर या झील में गिरते हुए दिखाया गया है, या कहीं वह पुआल की टाल पर भी गिरते हैं या विद्याधर या विद्याधरियाँ उन्हें कहीं पर्वतशिखर पर या किसी अज्ञात स्थान में ले जाकर छोड़ देती हैं।

महान् पर्यटक तथा वैचारिक प्रज्ञा के धनी वसुदेव न केवल कामिनी-प्रसादनोपाय में चतुर हैं, अपितु अपराजेय योद्धा, अप्रतिम कथाकोविद और कुशल चिकित्सक भी हैं। वह बराबर अपने साथ अंगूठी, कंगन आदि आभूषण तथा रूप और स्वर बदल देनेवाली अंजन-गुटिकाएँ भी रखते हैं, जिनका प्रयोग वह देश, काल और पात्र के अनुसार करते हैं। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' के कथाकार ने वसुदेव के चरित को कहीं-कहीं तो नरवाहनदत्त के चरित से भी उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया है।

'वसुदेवहिण्डी' में विशाल भारत का वैभवशाली चित्रण उपस्थित किया गया है। राजगृह और चम्पानगरी अथवा मगध-जनपद और अंग-जनपद का गौरवशाली चित्रण उपस्थित करने के क्रम में बिहार का हृदयावर्जक चित्र अंकित किया गया है। हिण्डन के क्रम में वसुदेव पदयात्रा तो करते ही हैं, विद्याधरों या विद्याधरियों द्वारा भी एक देश से दूसरे देश में पहुँचा दिये जाते हैं। इस प्रकार, वह अबाधगति से दक्षिण और उत्तर भारत का हिण्डन (परिभ्रमण) करते रहते हैं।

'धम्मिल्लहिण्डी' के अलावा 'वसुदेवहिण्डी' में छह विभाग थे : कथोत्पत्ति, पीठिका, मुख, प्रतिमुख, शरीर और उपसंहार (लुप्त)। कथोत्पत्ति, पीठिका और मुख अधिकारों में कथा का प्रस्ताव हुआ है। प्रतिमुख में वसुदेव आत्मकथा का आरम्भ करते हैं। सत्यभामा के पुत्र सुभानु या भानु के लिए १०८ कन्याएँ इकट्ठी की गई थीं। किन्तु, उनका विवाह रुक्मिणी के पुत्र शाम्ब से कर

दिया गया। इसपर प्रद्युम्न ने वसुदेव से कहा : “देखिए, शाम्ब ने अन्तःपुर में बैठे-बैठे १०८ वधुएँ प्राप्त कर लीं, जबकि आप सौ वर्ष तक हिण्डन करते रहे।” इसके उत्तर में वसुदेव ने कहा : “शाम्ब तो कुएँ का मेढक है, जो सरलता से प्राप्त भोग से सन्तुष्ट हो गया। मैंने तो पर्यटन करते हुए अनेक प्रकार के सुख और दुःखों का अनुभव किया। मैं मानता हूँ कि दूसरे किसी पुरुष के भाग्य में इस तरह का उतार-चढ़ाव न आया होगा (पृ. ११०)।”

वस्तुतः, वसुदेव के इस छोटे-से सटीक वाक्य में उस महान् युग की हलचल का बीज समाहित है, जिस युग में व्यापारोद्यत सार्थवाह विकल हृदय से पश्चिम के यवन देश से पूर्व के यवद्वीप और सुवर्णभूमि तथा श्रीलंका के विशाल क्षेत्र को दिन-रात रौंदते रहते थे। बाणभट्ट के शब्दों में कहा जाय, तो उनके पैरों में मानों कोई द्वीपान्तरसंचारी सिद्ध लेप लगा हुआ था। ये यह मानते थे कि द्वीपान्तरों की यात्रा से ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है : ‘अभ्रमणेन श्रीसमाकर्षणं भवति।’

‘मत्स्यपुराण’ के लेखक ने समुद्र को ललकारते हुए कहा है : हे उत्ताल तरंगोंवाले महार्णव, आजकल लंका आदि द्वीपों में निवास करनेवाले राक्षस ही तुम्हारे जल में आते-जाते रहे हैं, जिसके कारण उसमें कीचड़ उत्पन्न हो गया है। अब अपने उस जल को शिलाओं से जड़े हुए प्रागण में बदल डालो; क्योंकि देवाधिदेव शिव अपने परिवार के साथ सन्तरण करना चाहते हैं। (मत्स्यपुराण : १५४. ४५५)।

‘महाभारत’ के सभापर्व (४९. १६) में लिखा है कि उस समय पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्वसमुद्र तक सार्थवाहों (यात्रियों) का ताँता लगा रहता था। ‘दिव्यावदान’ में तो यहाँतक कहा गया है कि महासमुद्र की यात्रा किये बिना अर्थोपार्जन की आशा ऐसी है, जैसे ओस की बूँदों से घड़ा भरने की।

वसुदेव ने प्रद्युम्न को जो उत्तर दिया, वह मानव-हृदय के इन भावों के सर्वथा अनुकूल था। निरन्तर पर्यटन और दूर-दूर देशों का परिभ्रमण यही भारत के स्वर्णयुग का जीवनोद्देश्य बन गया था। एक बार नहीं, कई-कई बार लोग जोखिम उठाकर समुद्रों की यात्रा करते थे। अवश्य ही, सातवाहन-युग की सामुद्रिक यात्राओं के वातावरण में जिन कहानियों की संरचना हुई और ‘बृहत्कथा’ के रूप में गुणाढ्य ने जिनका विशद संग्रह किया, उनकी मूलभावना इसी प्रकार की जल-स्थल-सम्बन्धी हलचलों से परिपोषित थी। कहना न होगा कि उनका भरपूर प्रभाव ‘वसुदेवहिण्डी’ तथा ‘बृहत्कथा’ की दूसरी उत्तरकालीन वाचनाओं पर पड़ा।

उपर्युक्त प्राचीन पौराणिक कथा के मन्तव्यों का विवेचन करते हुए इस सन्दर्भ में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल^१ ने बड़ी विशदता से प्रकाश डाला है। निश्चय ही, गुणाढ्य से सोमदेव तक भारतीय कथाओं के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज के उल्लेख का प्राथमिक महत्त्व तो है ही, ततोऽधिक सांस्कृतिक मूल्य भी है। यथावर्णित विस्तृत भौगोलिक क्षितिज में ‘चतुर्दिक् परिभ्रमण’ की अर्थ-व्यंजना के लिए लोकभाषा में ‘हिण्डी’ इस छोटे सार्थक शब्द का निर्माण किया गया। तदनुसार, संघदासगणिवाचक ने गुणाढ्य-कृत ‘बृहत्कथा’ की शैली को तो अपनाया, किन्तु अपने ग्रन्थ का नाम बदलकर ‘वसुदेवहिण्डी’ कर दिया।

१. द्रष्टव्य : ‘कथासरित्सागर’ (पूर्ववत्), भूमिका, पृ. १०-१२

प्रद्युम्न ने अपने वृद्ध पितामह वसुदेव को जिस प्रकार अनजाने ही छोड़ दिया था, उससे उनके (वसुदेव के) मन में आपबीती सुनाने के लिए उदग्र उत्सुकता उत्पन्न हो गई और २८ (प्राप्य २६) लम्बों के रूप में उन्होंने अपनी २८ पत्नियों की प्राप्ति की कथाएँ सुना दीं, जिनसे 'वसुदेवहिण्डी' ग्रन्थ का शरीर बना है। जैसा कहा गया, ग्रन्थान्त में 'उपसंहार' नाम का अन्तिम भाग भी था, जो इस समय प्राप्य नहीं है।

'वसुदेवहिण्डी' ग्रन्थ, वसुदेव और उनके वंश-विस्तार की दृष्टि से भले ही अपूर्ण हो, किन्तु इसमें यथानिबद्ध वसुदेव का हिण्डन-वृत्तान्त, बीच के उन्नीसवें और बीसवें लम्बों की अनुपस्थिति के बावजूद, पूर्ण प्रतीत होता है। 'वसुदेवहिण्डी' के यथाप्राप्य अंश से यह स्पष्ट है कि आचार्य संघदासगणी महान् औपन्यासिक होने के अतिरिक्त बहुत अर्थों में क्रान्तिकारी एवं कलाचेता कथाकार थे। संघदासगणी भारत के सच्चे प्रतिनिधि तथा समकालीन भारतीय संस्कृति से प्रभावित कलाकार थे। उन्होंने अपने देश की तद्युगीन जनजीवन को चित्रित कर सार्वभौम और सर्वजनीन चित्र उपस्थित किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने संकीर्ण राष्ट्रीयता की भावना पर विजय प्राप्त कर समस्त भारत की बृहत्तर मानवता की उद्भावन की है।

किसी महापुरुष के चरित्र-चित्रण के लिए इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन के साथ ही कवि की शक्ति और उपन्यासकार की स्थापत्य-कुशलता भी आवश्यक है। लेखक और उसके चरितनायक के व्यक्तित्व की समानता तो जीवनी-लेखन के लिए अनिवार्य है। कहना न होगा कि तपोविहारी चारणश्रमण कोटि के कथाकार आचार्य संघदासगणी द्वारा लिखी गई, हिण्डनशील महापुरुष वसुदेव की जीवनी वसुदेव की आत्मकथा ही हो गई है। आत्मकथा लिखना सबके वश की बात नहीं, परन्तु संघदासगणी को वसुदेव की जीवनी लिखने या वर्ण्य व्यक्ति से अभिन्न होकर उसके व्यक्तित्व का संश्लेषण करने में ऐसी सफलता मिली है कि एक शलाकापुरुष का अन्तर्दर्शन करानेवाली इस सफल और अद्भुत जीवनी ने लोकोत्तर आत्मकथा का रूप धारण कर लिया है।



‘वसुदेवहिण्डी’ की पौराणिक कथाएँ

‘वसुदेवहिण्डी’ की कथा ‘बृहत्कथा’ की ही परम्परा का आवर्तन है। परम्परागत आख्यान या निजन्धरी होने के कारण ही ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथा को ‘लोककथा’ या ‘आख्यान’ की संज्ञा से परिभाषित किया जायगा। यद्यपि, विद्वानों ने लोककथा की स्पष्ट परिभाषा उपस्थित करने की अपेक्षा अधिकांशतः उसकी विशेषताओं को ही संकेतित किया है। ‘हिन्दी-साहित्यकोश’ (भाग १) के अनुसार, लोक में प्रचलित तथा परम्परा से मौखिक रूप में प्राप्त कथा ही लोककथा है। फंक और वागनल्स द्वारा सम्पादित ‘स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑफ फोकलोर’ में कहा गया है कि लोककथा की सुनिश्चित परिभाषा देने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। सामान्यतः, इस शब्द के अन्तर्गत समस्त परम्परागत आख्यानों और उनके विभेदों को स्वीकृत किया गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि ‘लोककथा’ शब्द मोटे तौर पर लोक-प्रचलित उन कथानकों के लिए व्यवहृत होता रहा है, जो मौखिक या लिखित परम्परा से क्रमशः एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होती है।

लोककथाओं के सम्बन्ध में एक मत यह भी है कि वे मूलतः धर्मगाथाएँ ही हैं। काल के प्रभाव से लोककथाओं ने अपने ‘धर्मगाथा’ नाम का परित्याग कर दिया। लोककथा शब्द का प्रयोग कभी-कभी अँगरेजी-शब्द ‘फोकटेल’ के पर्यायवाची के रूप में भी होता है। अँगरेजी में यह शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है और इसमें अवदान-लोककथा, धर्मगाथा, पशु-पक्षीकथा, नीतिकथाएँ आदि लोक-प्रचलित वार्ताएँ सम्मिलित की जा सकती हैं।

लोककथा, चूँकि परम्परा-प्राप्त होती है, इसलिए इसमें मौलिकता प्रायः नहीं होती। इसकी मौलिकता कथाकार की कथन-पद्धति में निहित रहती है। यह परम्परा या अनुश्रुति विशुद्ध रूप में मौखिक भी हो सकती है। कभी-कभी मुखस्थ निजन्धरी या लोककथा में नये-नये कथाकारों द्वारा कुछ परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी कर दिया जाता है। ‘बृहत्कथा’ की परम्परागत कथा को उपन्यस्त करने के क्रम में वसुदेवहिण्डीकार ने यही किया है, साथ ही उसे जैनाचार से सम्बद्ध करके ‘बृहत्कथा’ के मूल संस्कार को भी सर्वथा बदल दिया है।

‘कथा’ के विभिन्न पर्याय :

संघदासगणी ने ‘वसुदेवहिण्डी’ में कामकथा बनाम धर्मकथा, उपाख्यान, अनुश्रुति एवं आख्यायिका आदि को सरसा-वृत्ति या मधुसंक्षय-व्यापार का आश्रय लेते हुए इस प्रकार सम्मिश्रित रूप से उपस्थित किया है कि उसे अलग-अलग करके विचारना सम्भव नहीं। बात ठीक भी है कि इन कथाभेदों का परस्पर इतना सघन सम्बन्ध है कि इनके बीच स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है। इसीलिए, संघदासगणी ने ‘वसुदेवहिण्डी’ में यथोपन्यस्त समानधर्मा लोककथाओं को विभिन्न संज्ञाएँ दी हैं। मुख्यकथा या विशिष्ट पुरुष की कथा को तो उन्होंने ‘चरित’ कहा है, जैसे ‘वसुदेवचरित’, ‘जम्बूस्वामी-चरित’, ‘धम्मिल्लचरित’, ‘ऋषभस्वामी-चरित’ आदि। किन्तु, उपकथाओं, अन्तःकथाओं या अवान्तरकथाओं आदि की संज्ञाओं का कोई विशिष्ट वर्गीकरण नहीं है।

‘कथोत्पत्ति’ अधिकार के अन्तर्गत जो कथाएँ आई हैं, उन्हें इन पर्यायों में उपस्थित किया गया है : कथानक (कहाणय), कथा (कहा), दृष्टान्त (दिट्ठन्त), ज्ञात (णाय), उदन्त और आख्यानक (अक्खाणय)। ‘णाय’ का अर्थ ‘उदाहरण’ या ‘दृष्टान्त’ भी है। प्रसिद्ध जैनागम ‘णायधम्मकहाओ’ का नामकरण उसकी दृष्टान्तबहुलता के कारण ही हुआ, ऐसी सम्भावना है। णायधम्मकहाओ, अर्थात् दृष्टान्तबहुल धर्मकथाएँ। बुधस्वामी ने ‘णाय’ या दृष्टान्त के लिए ‘ज्ञापक’ शब्द का प्रयोग किया है : ‘ज्ञापकं चास्य पक्षस्य श्रूयतां यन्मया श्रुतम्।’ (सर्ग २१, श्लो. ५५)

इस अधिकार के आगे ‘धम्मिल्लचरित’ में कथा का एक अन्य पर्याय ‘आहरण’ भी मिलता है। ‘शरीर’ अधिकार में सगर-कथा को ‘सगर-सम्बन्ध’ कहा गया है। इसलिए, संघदास-गणी ने ‘सम्बन्ध’ शब्द का प्रयोग कथा के एक पर्याय के रूप में ही किया है। पूर्वोक्त ‘कथोत्पत्ति’ अधिकार में भी प्रसन्नचन्द्र और वल्कलचरी का सम्बन्ध (कथा) है। पाँचवें ‘सोमश्रीलम्भ’ में भी नारद, पर्वतक और वसु की कथा को ‘सम्बन्ध’ शब्द से संज्ञित किया गया है। सोलहवें ‘बालचन्द्रालम्भ’ में विद्युदंष्ट्र विद्याधर की ‘कथा’ की संज्ञा ‘सम्बन्ध’ ही है। इस प्रकार, अन्यत्र भी संघदासगणी ने ‘कथा’ के पर्याय के रूप में ‘सम्बन्ध’ शब्द का भूयशः प्रयोग किया है। साथ ही, उनके द्वारा प्रयुक्त ‘परिचय’ और ‘उदाहरण’ शब्द भी कथा के ही समानार्थी हैं। इस प्रकार, ‘शरीर’ अधिकार में ‘कथा’ के उपर्युक्त सभी पर्यायवाची शब्द कथाकार द्वारा बार-बार प्रयुक्त हुए हैं।

‘कथाओं’ के अतिरिक्त ‘आत्मकथाएँ’ भी इस कथाकृति में हैं। यों तो ‘वसुदेवहिण्डी’ में चित्रित सम्पूर्ण ‘वसुदेवचरित’ ही आत्मकथा-शैली में उपन्यस्त है। किन्तु, इस बृहत् आत्मकथा में अनेक लघु आत्मकथाएँ भी समाहित हैं। जैसे : ‘अगडदत्तमुणिणो अप्पकहा’, ‘उप्पन्नोहिणाणिणो मुणिणो अप्पकहा’, ‘चारुदत्तस्स अप्पकहा’, ‘मिहुणित्थियाऽऽवेइया पुव्वभविया अत्तकहा’, ‘लल्लियंगयदेवकहिया पुव्वभविया अत्तकहा’, ‘सिरिमइनिवेइया निण्णामियाभवसंबद्धा अत्तकहा’, ‘चित्तवेगाअत्तकहा’, ‘वेगवतीअप्पकहा’ और ‘विमलाभा-सुप्पभाणं अज्जाणं अत्तकहा’। इस प्रकार, ये नौ आत्मकथाएँ भी अन्यान्य उपकथाओं की भाँति मूल आत्मकथा के पल्लवन में सहायक हुई हैं।

संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त कथा के सभी पर्यायवाची शब्द प्रायः समानार्थी हैं। यद्यपि, सूक्ष्मता से अनुशीलन करने पर इनमें विशेष अन्तर परिलक्षित होता है। ‘प्राकृतशब्दमहार्णव’ से भी कथा की विभिन्न संज्ञाओं में पार्थक्य का संकेत मिलता है। ‘महार्णव’ के अनुसार, ‘कथानक’ यदि ‘कथा’ या ‘वार्ता’ है, तो ‘दृष्टान्त’ उदाहरण-रूप में कही गई कथा है। ‘ज्ञात’ (णाय) को यदि उदाहरण या दृष्टान्त कहा गया है, तो ‘उदन्त’ को समाचार या वृत्तान्त। ‘आख्यानक’ यदि कहानी या वार्ता है, तो ‘सम्बन्ध’ कथाप्रसंग है। इस प्रकार, संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त ‘कथा’ की सभी संज्ञाएँ स्वरूपतः एक दूसरे का पर्याय-सामान्य होते हुए भी अर्थतः विशिष्ट हैं।^१

सम्पूर्ण ‘वसुदेवहिण्डी’ मूलतः आख्यानक-ग्रन्थ या कथाग्रन्थ या उपाख्यान-ग्रन्थ ही है। विश्वनाथ कविराज ने कथा उसे माना है, जिसमें सरस वस्तु को गद्य में गुम्फित किया गया हो : ‘कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। (साहित्यदर्पण, ६.३३२) विश्वनाथ ने आख्यान आदि को कथा और आख्यायिका में ही अन्तर्भुक्त (‘आख्यायिका कथावत्स्यात्’) माना है, इसलिए उनकी

१. कथापर्याय-विषयक विशेष विवरण के लिए पाँचवें अध्ययन का ‘साहित्यिक सौन्दर्य के तत्त्व’ शीर्षक प्रकरण द्रष्टव्य।

अलग से परिभाषा उन्होंने नहीं दी है : 'आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः ।' (तत्रैव)

आचार्य नलिनजी के शब्दों में, विशद गल्पात्मक गद्यमय आख्यान ही 'उपन्यास' की संज्ञा प्राप्त करता है और जिसका अनगढ़ पूर्वरूप अत्यन्त प्राचीन साहित्य में मिल जाता है ।^१ इस दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' को यदि प्राचीन उपन्यास भी कहा जायगा, तो अत्युक्ति नहीं होगी । फिर भी, इतना निश्चित है कि न केवल भारतीय कथा-साहित्य, अपितु विश्वकथा-साहित्य में पाँतेय 'वसुदेवहिण्डी' हिन्दी में औपन्यासिक शिल्प की संरचना के प्रारम्भिक रूप का प्रतिनिधित्व तो अवश्य ही करती है । इसलिए, यह प्राचीन उपन्यास का पहला महत्त्वपूर्ण उदाहरण है । इसमें प्राकृत-भाषा ने नया जन्म ग्रहण किया है । इसमें न केवल जीवन और ज्ञान के एक नवीन प्रवाह की बहुलता है, अपितु मानव-स्वभाव के परिपुष्ट तथ्यों से उपलब्ध उल्लास का भी प्राचुर्य है । संघदासगणी बौद्धिक दृष्टि से अतिशय समृद्ध गल्पकार थे । इसलिए, ऐकान्तिक बौद्धिकता और जीवन की विषमता के प्रति जागरूक तत्कालीन गल्पकारों में उनकी द्वितीयता नहीं है । 'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं में वस्तुवादिता और अध्यात्मचिन्तन का अद्भुत समन्वय हुआ है । इसलिए, संघदासगणी एक ओर कामकथा या यौनकथा के द्वारा वस्तुवाद का प्रबल समर्थन करते हैं, तो दूसरी ओर उनके द्वारा उपन्यस्त धर्मकथाओं में स्थूल वस्तुवाद के प्रति उनका विद्रोह भी स्पष्ट है । कहना न होगा कि संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' द्वारा कथा-जगत् में एक क्रान्तिकारी प्रयोग किया है, जिसका बहुत सारा श्रेय गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' को है, जो भारतीय गल्प-साहित्य की समृद्धतम परम्परा से जुड़ी हुई है । संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' की रचना करके कथा और आख्यायिका की प्राकृत गद्य-शैली को अपने चरम उत्कर्ष पर ले जाकर प्रतिष्ठित कर दिया, जिसका परवर्ती वैभवशाली विकास आचार्य हरिभद्र की 'समराइच्चकहा' या बाणभट्ट की 'कादम्बरी' या 'हर्षचरित' या फिर वादीभरिसिंह सूरि की 'गद्यचिन्तामणि' की संस्कृत-गद्यशैली में दृष्टिगत होता है ।

'वसुदेवहिण्डी' विभिन्न प्रकार की लोककथाओं का विशाल भाण्डार है । किन्तु, वसुदेव की मूलकथा तो प्रत्यक्ष ही पौराणिक वीरगाथा है । इसलिए, इसे ऐतिहासिक लोककथा या उपाख्यान की संज्ञा दी जा सकती है । 'चैम्बर्स इनसाइक्लोपीडिया' (खण्ड ६, पृ. ५८८) के अनुसार, ऐतिहासिक लोककथा अथवा उपाख्यान नाम से एक ओर अंशतः पौराणिक कथाओं का बोध होता है, तो दूसरी ओर यह शब्द ऐतिहासिक वीरों की ओर संकेत करता है, जिनके शौर्य से परिपूर्ण कार्यों से जन-जीवन या लोक-कल्पना सदा प्रभावित रही है । पौराणिक लोककथा का सम्बन्ध यद्यपि इतिहास से रहता है, तथापि वह सच्चा इतिहास न होकर विकृत इतिहास होता है । पुराणकार ऐतिहासिक तथ्यों को अपनी काव्यात्मक कल्पना और सौन्दर्यात्मक अभिरुचि के अनुसार परिवर्तित करने में प्रायः स्वतन्त्रता या स्वच्छन्दता से काम लेता है । या फिर, वह मुख्य ऐतिहासिक कथा के समर्थन में अवान्तर कथाओं, विशेषतः धर्मकथाओं को उपस्थित करता है, जिससे मुख्यकथा की ऐतिहासिकता विडम्बित हो जाती है ।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य को ही ध्यान में रखकर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि इस देश में इतिहास को ठीक आधुनिक अर्थ में कभी नहीं लिया गया । बराबर ही ऐतिहासिक व्यक्ति

को पौराणिक या काल्पनिक कथानायक बनाने की प्रवृत्ति रही है। कुछ में दैवी शक्ति का आरोप करके पौराणिक बना दिया गया है और कुछ में काल्पनिक रोमांस का आरोप करके निजन्थरी कथाओं (लीजेण्ड) का आश्रय बना दिया गया है।^१ 'वसुदेवहिण्डी' की राम और कृष्ण की कथा में चित्रित राम और कृष्ण दैवी शक्ति से सम्पन्न होते हुए भी उनका जीवन काल्पनिक रोमांस से परिपूर्ण है। फलतः, 'वसुदेवहिण्डी' की कथा इतिहास न होकर गद्यकाव्य की मधुरिमा से मोहित कर लेनेवाली महाकथा बन गई है।

डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय^२ के अनुसार, 'लीजेण्ड' या निजन्थरियाँ लोककथाओं के वह प्रकार हैं, जिनके कथानक में (ऐतिहासिक) तथ्य तथा घटना-परम्परा दोनों का समन्वय पाया जाता है। इसी प्रकार, 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में 'लीजेण्ड' के बारे में बताया गया है कि ऐतिहासिक लोककथा को विकृत इतिहास कहा जा सकता है। इसमें ऐतिहासिक तथ्य का मुख्यांश रहता है, जो धर्मगाथाओं अथवा तृतीय श्रेणी की कथाओं से समर्थित अथवा विकृत होता रहता है।

'दि स्टैंडर्ड डिक्शनरी ऑफ फोकलोर' (खण्ड २, पृ. ६१२) ने 'लीजेण्ड' को उपाख्यान की संज्ञा दी है और बताया है कि उपाख्यान किसी सन्त अथवा बलिदान की जीवनी का विशिष्ट कथांश माना जाता था, जिसे धार्मिक अनुष्ठानों या प्रीतिपूर्ण उत्सवों के सुखद क्षणों में पढ़ा जाता था। अब इस शब्द का प्रयोग किसी प्राचीन महापुरुष, स्थान अथवा घटना से सम्बद्ध कथा के लिए किया जाता है, जिसमें कल्पित एवं परम्परागत तत्वों का सन्निवेश रहता है। इसलिए, धर्मगाथा तथा पौराणिक कथा या उपाख्यान की भेदक रेखा अस्पष्ट ही है। धर्मगाथा में प्रधान पात्र देवी-देवता रहते हैं तथा इसका मुख्य उद्देश्य किसी धार्मिक तत्व का स्पष्टीकरण माना गया है। उपाख्यान में सचाई रहती है, जबकि धर्मगाथा की सत्यनिष्ठा देवी-देवताओं या ऋषि-महर्षियों या साधु-सन्तों के प्रति श्रद्धालु श्रोता के विश्वासों पर आधारित रहती है। 'वसुदेवहिण्डी' की पौराणिक कथाओं का विवेचन इसी परिप्रेक्ष्य में अपेक्षित है।

(क) कृष्णकथा

ब्राह्मण एवं श्रमण दोनों परम्पराओं में कृष्णकथा के चित्रण के प्रति समान आग्रह है। ब्राह्मण-परम्परा का सम्पूर्ण वैष्णव-साहित्य राम और कृष्ण की कथा का ही पर्याय-प्रतीक बन गया है, जो सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से अपना पार्यान्तिक महत्त्व रखता है। किन्तु, श्रमण-परम्परा के राम और कृष्ण लोकसंग्रही व्यक्तित्व से उद्दीप्त हैं। वैष्णवों की तरह श्रमणों की कृष्णभक्ति-परम्परा में श्रीकृष्ण की केवल प्रेममयी मूर्ति को आधार बनाकर प्रेमतत्त्व की सविस्तर व्यंजना करने की अपेक्षा उनके लोकपक्ष को उद्घाटित किया गया है। श्रमणों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं की भुजाओं से वलित गोकुल के श्रीकृष्ण नहीं हैं, अपितु बड़े-बड़े भूपालों और सामन्तों के बीच रहकर लोकमर्यादा और विधि-व्यवस्था की रक्षा करनेवाले दुष्टदलनकारी द्वारकावासी कृष्ण हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल^३ के शब्दों में, 'लोकसंग्रह की भावना से विमुख, अपने रंग में मस्त रहनेवाले जीव, वैष्णव भक्तों ने जिस कृष्ण के रूप को लेकर काव्य-रचना की है, वह होस-विलास के

१. 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' (पूर्वपत्र), व्याख्यान ४, पृ. ७७

२. 'लोकसाहित्य की भूमिका', पृ. २८१

३. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (सत्रहवाँ पुनर्मुद्रण), नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, पृ. ११२

तरंगों से परिपूर्ण अनन्त सौन्दर्य का समुद्र है।' किन्तु, इसके विपरीत, सामाजिक स्थिति के प्रति सतत सतर्क रहनेवाले श्रमण आचार्यों ने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए कृष्ण की शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से जनता को रसोन्मत्त करने की अपेक्षा, लौकिक स्थूल दृष्टि से युक्त विषयवासनापूर्ण जीवों पर पड़नेवाले उन्मादकारी शृंगार के प्रतिकूल प्रभावों पर बराबर ध्यान रखा है। श्रमण-परम्परा के कृष्ण की यौवनलीला या कामलीला मूलतः उनके पुरुषार्थ या कला-वैचक्षण्य को ही द्योतित करती है, जिसमें उनके मानव-जीवन की अनेकरूपता प्रतिबिम्बित है, जो एक अच्छे प्रबन्धकाव्य के लिए आवश्यक तत्त्व मानी जाती है। देश की अन्तर्वाहिनी मूल भावधारा के स्वरूप के ठीक-ठीक परिचय के लिए श्रमण-परम्परा के कृष्णचरित का अनुशीलन इसलिए आवश्यक है कि वह अपना निजी मौलिक वैशिष्ट्य रखता है।

‘श्रीमद्भागवतपुराण’ के अनुसार, कृष्ण स्वयं भगवान् है : ‘कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्।’ (१.३.२८) श्रमण-परम्परा में भी जैनाचार्यों द्वारा कृष्ण-विषयक धार्मिक लोकमान्यताओं की उपेक्षा नहीं की गई है, अपितु उनका सम्मान करते हुए उन्हें विधिवत् अपनी परम्परा में यथास्थान सम्मिलित किया गया है और उन्हें ‘अर्द्धभरताधिपति’ माना गया है। राम और लक्ष्मण तथा कृष्ण और बलदेव के प्रति जनता का पूज्यभाव रहा है और उन्हें अवतारपुरुष माना गया है। जैनो ने भी चौबीस तीर्थंकरों के साथ-साथ कृष्ण (नवम वासुदेव) को भी तिरसठ शलाकापुरुषों (कर्मभूमि की सभ्यता के आदियुग में अपने धर्मोपदेश तथा चरित्र द्वारा सत्-असत् मार्गों के प्रदर्शक महापुरुषों) में आदरणीय स्थान देकर अपने पुराणों [‘हरिवंशपुराण’, ‘पाण्डवपुराण’ (जैन महाभारत), ‘महापुराण’, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित’ आदि] में उनके जीवन-चरित्र का सविस्तर वर्णन किया है।

श्रमण-परम्परा के कृष्ण जैनों के बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के कुल से सम्बद्ध है। नेमिनाथ महाभारत-काल में उत्पन्न हुए। ‘वसुदेवहिण्डी’ के अनुसार, शौरिपुर के यादववंशी राजा अन्धकवृष्णि के ज्येष्ठ पुत्र हुए समुद्रविजय, जो दस दगाहों में प्रथम थे। राजा समुद्रविजय से नेमिनाथ, दृढ़नेमि प्रभृति पुत्र उत्पन्न हुए। वसुदेव अन्धकवृष्णि के सबसे छोटे पुत्र (दस दशाहों में अन्तिम) थे, जिनसे वासुदेव कृष्ण उत्पन्न हुए। इस प्रकार, नेमिनाथ और कृष्ण आपस में चचेरे भाई थे। जैसी कि प्रसिद्धि है, जरासन्ध के आतंक से त्रस्त होकर यादव शौरिपुर छोड़कर द्वारका में जा बसे थे। प्रसंगवश ज्ञातव्य है कि ‘वसुदेवहिण्डी’ की कृष्णकथा के आधार पर ही देवेन्द्रसूरी (१३वीं शती) ने ११६३ गाथाओं में ‘कृष्णचरित्र’ ग्रन्थ की रचना की। इसमें वसुदेव के जन्म और भ्रमण के वृत्तान्त की भी आवृत्ति है।^१

‘वसुदेवहिण्डी’ के ‘पीठिका’, ‘मुख’ और ‘प्रतिमुख’ नामक तीन अधिकारों में कृष्ण और उनके पूर्वजों-वंशजों की कथा परिगुम्फित है। ‘वसुदेव ने किस प्रकार परलोक में फल प्राप्त किया?’ राजा श्रेणिक के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने उनसे कहा कि ‘आप पहले पीठिका सुनें; क्योंकि यह वसुदेव के बहुत बड़े (महान्) इतिहास के प्रासाद की पीठ (आधारभूमि) है।’^२ और, इसी क्रम में लगातार भगवान् महावीर ने ‘मुख’ और ‘प्रतिमुख’ नामक नातिदीर्घ अधिकारों द्वारा कृष्णकथा

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : ‘भा. संस्कृति में जैनधर्म का योगदान’, पृ. १४२

२. “इयार्णि वसुदेवेण कंह परलोगे फलं पतं ति पुच्छिओ रण्णा भगवं परिकहेइ। इयार्णि पेडिया, एवमहांतो (महतो) इतिहासपासाइस्स पेडभूया।” (पेडिया, पृ. ७७)

से सम्बद्ध पक्षों को भी उद्भावित कर दिया। कथाकार द्वारा प्रस्तुत महावीर-प्रोक्त कृष्णकथा का सार इस प्रकार है :

उस समय के आनर्त, कुशार्थ (कुशावर्त), सुराष्ट्र और शुकराष्ट्र (शुक्रराष्ट्र) ये चारों जनपद पश्चिम समुद्र से संश्रित थे। इन जनपदों की अलंकार-स्वरूप द्वारवती की गणना सर्वश्रेष्ठ नगरी के रूप में होती थी। इस नगरी के बाहर, 'नन्दन' वन से परिवृत 'रैवत' नाम का पर्वत था, जो नन्दनवन से घिरे मेरुपर्वत के समान प्रतीत होता था। द्वारवती नगरी का वैभवपूर्ण वर्णन करते हुए संघदासगणी ने लिखा है कि लवणसमुद्र के अधिपति सुस्थित नामक देव इस नगरी के मार्गदर्शक थे। कुबेर की बुद्धि से इस नगरी का निर्माण हुआ था। चारदीवारी सोने की बनी हुई थी। यह नगरी नौ योजन क्षेत्र की चौड़ाई में फैली हुई थी। इसकी लम्बाई बारह योजन थी। वहाँ रत्नों की वर्षा होती थी, इसलिए कोई दरिद्र नहीं था। रत्न की कान्ति से वहाँ निरन्तर प्रकाश फैला रहता था। चक्राकार भूमि में अवस्थित वहाँ के हजारों-हजार प्रासाद देव-भवन के समान सुशोभित थे। वहाँ के निवासी विनीत, अतिशय ज्ञानी, मधुरभाषी (या मधुर नामोंवाले), दानशील, दयालु, सुन्दर वेशभूषावाले और शीलवान् थे (पृ. ७७)।

इस प्रकार की द्वारवती नगरी में दस धर्म^१ की तरह दस दशार्ह (यादव) रहते थे। उनके नाम थे : समुद्रविजय, अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिवन्द्य और वसुदेव। इन दशार्हों के सम्मत राजा उग्रसेन देवों के बीच इन्द्र की तरह विराजते थे। प्रथम दशार्ह राजा समुद्रविजय के नेमि, दृढनेमि आदि पुत्र थे।^२ शेष दशार्हों के पुत्र उद्धव आदि थे। अन्तिम दशार्ह वसुदेव के अक्रूर, सारणक, शुभदारक आदि पुत्र थे, जिनमें राम (बलराम) और कृष्ण प्रमुख थे।

राम या बलदेव की अग्रमहिषी रेवती थी, जो बलदेव के मामा रैवत की पुत्री थी। कृष्ण की अग्रमहिषी सत्यभामा थी, जो उग्रसेन की पुत्री थी।

सत्यभामा के अतिरिक्त, बलशाली कृष्ण ने द्वीप-द्वीपान्तरों से और भी अनेक पत्नियाँ प्राप्त कीं। रिष्टपुर (अरिष्टपुर) के राजा रुधिर की एक पुत्री रोहिणी से कृष्ण के पिता वसुदेव ने भी विवाह किया था (द्र. सत्ताईसवाँ रोहिणीलम्भ)। पुनः सिन्धुदेश के वीतिभय नगर के राजा मेरु ने स्वेच्छा से अपनी पुत्री गौरी कृष्ण को अर्पित की। वृद्ध कुलकरो (दशार्हों) से अनुमत वसुदेव ने कृष्ण के साथ गौरी का पाणिग्रहण करा दिया और उसके रहने के लिए रत्ननिर्मित भवन प्रदान किया।

गन्धार-जनपद की पुष्कलीवती नगरी के राजा नग्नजित् के पुत्र का नाम विष्वक्सेन और पुत्री का नाम गन्धारी था। विष्वक्सेन की अनुमति से बलराम-सहित कृष्ण पुष्कलावती गये और गन्धारी को साथ लेकर द्वारवती लौट आये। यादवों ने गन्धारी का भी बहुत स्वागत किया और उसे आवास के निमित्त देव-विमान के समान भवन दिया गया।

सिंहलद्वीप के राजा हिरण्यलोम की रानी सुकुमारी से दो सन्तानें हुई थीं : पुत्री लक्ष्मणा और पुत्र युवराज द्रुमसेन (द्रुमत्सेन)। दूत से कृष्ण को सूचना मिली कि दिव्य सुन्दरी लक्ष्मणा उनके

१. उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

२. तुलनीय : 'उत्तराध्ययन', अध्ययन २२।

योग्य है। सम्प्रति, वह अपने भाई द्रुमसेन के संरक्षण में दक्षिण में समुद्रतट पर समुद्रस्नान और देवार्चन के व्याज से दिन बिता रही है। सूचनानुसार, राम और कृष्ण समुद्रतट पर गये और द्रुमसेन का वध करके लक्ष्मणा को साथ लेकर अपनी नगरी में लौट आये। राजा हिरण्यलोम ने, बाद में, कृष्ण के पास विपुल धन भिजवाया और विनम्र निवेदन किया कि उसका पूर्वचिन्तित मनोरथ पूरा हो गया।

अराक्षरी नगरी के राजा राष्ट्रवर्द्धन की रानी विनयवती थी। उनकी दो सन्तानें थीं : पुत्र युवराज नमुचि और पुत्री सुसीमा। एक दिन सुसीमा सुराष्ट्र देश के प्रभासद्वीप में नमुचि के साथ स्नान करने को गई, तो उसकी सूचना गुप्तचरों ने कृष्ण को दी। कृष्ण बलराम-सहित वहाँ गये और नमुचि का वध करके दूसरी लक्ष्मी जैसी सुसीमा को साथ लेकर यादवपुरी लौट आये। कुलकरो ने सुसीमा का भी सत्कार किया और रहने के लिए भव्य भवन प्रदान किया।

गगननन्दन नगर के विद्याधरराज जाम्बवान् की रानी श्रीमती से उत्पन्न दो सन्तानों में पुत्र का नाम था युवराज दुष्यसह और पुत्री का नाम जाम्बवती था। आकाशचारी जैन मुनि ने घोषणा की थी कि जाम्बवती अर्द्धभरताधिपति की भार्या होगी। विद्याधरनरेश जाम्बवान् ने तदनुकूल पति की खोज में गंगातटवर्ती नगर के बाहरी प्रदेश में षड़ाव डाला। कुमारी जाम्बवती भी गंगास्नान करने वहाँ अपने परिवार के साथ बगबर आती थी, जिसकी सूचना एक विद्याधर ने कृष्ण को दी। कृष्ण अनाधृष्टि (एक अन्तकृत = उसी जन्म में मोक्ष पानेवाले मुनि) के साथ वहाँ पहुँचे। गंगा के तालुका-तट पर क्रीड़ा करती हुई जाम्बवती कृष्ण के रूप को देखकर मूर्च्छित हो गई। तभी कृष्ण ने उसका अपहरण कर लिया। राजा जाम्बवान् को सूचना मिलने पर वह रुष्ट हो उठा और स्वयं आकर अनाधृष्टि से युद्ध करने को तैयार हो गया। अनाधृष्टि ने राजा को समझाया : “तुम कृष्ण का अभाव को नहीं जानते। तुम्हें तो स्वयं अपनी पुत्री को ले जाकर उन्हें अपित करना चाहिए। यदि उन्होंने स्वयं हरण कर लिया, तो इससे बढ़कर और उत्तम बात क्या हो सकती है?” राजा ने कृष्ण से कहा : “मेरा अभिप्राय तो केवल आकाशचारी मुनि के आदेश को प्रमाणित करना था। अब मैं तपोवन जाता हूँ। आप दुष्यसह का अनुपालन करेंगे। मेरे अज्ञातजनित अतिक्रमण को क्षमा करें।” कृष्ण जाम्बवती को लेकर द्वारवती लौट आये।

यादवों ने सपत्नीक कृष्ण का स्वागत किया। कुमार दुष्यसह जाम्बवती के लिए विपुल धन और परिचारिकाएँ लेकर आया और राम (बलदेव) तथा कृष्ण को अपनी प्रणति निवेदित की। उन्होंने दुष्यसह का बन्धु-व्यवहार से सत्कार किया। उसके बाद वह अपने नगर गगननन्दन लौट गया। आवास के निमित्त प्रदत्त भव्य भवन में जाम्बवती कृष्ण के साथ विहार करने लगी।

वैष्णवपुराणों में प्राप्त कृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण की कथा बहुविधित है। किन्तु ‘वसुदेव-हिण्डी’ में वर्णित रुक्मिणी-हरण की कथा में पुरुषार्थप्रिय कृष्ण की युद्धवीरता का एक नया स्वरूप उभरकर सामने आया है। कथोपकथन के माध्यम से कथासन्दर्भ या विषयवस्तु की सूचना देने में निपुण संघदासगणी ने अतिशय लोकप्रिय रुक्मिणीहरण-विषयक कृष्णकथा को जैनाम्नाय के साँचे में ढालकर पुनर्नवीकृत किया है। जैनदृष्टि की लोकवादी परम्परा में रुक्मिणी-हरण की कथा का संरचना-शिल्प कृष्णकथा की प्रचलित विषयवस्तु के सन्दर्भ में, पुराणेतिहास के अधीतियों के लिए चिन्तन का अभिनव आयाम प्रस्तुत करता है।

विदर्भ-जनपद के कुण्डिनपुर नगर के राजा भीष्मक की रानी विद्युद्वती से उत्पन्न दो सन्तानें थीं—पुत्र रुक्मी और पुत्री रुक्मिणी। कृष्ण के निकट नारद ने रुक्मिणी के रूप-गुण की अद्वितीयता की बर्चा की और फिर रुक्मिणी से भी कृष्ण के गुण का बखान किया।

इसी बीच दमघोष के पुत्र शिशुपाल के साथ रुक्मिणी के विवाह की बात स्थिर हुई। इस समाचार को सुनकर रुक्मिणी की फुआ ने उससे एकान्त में कहा : “रुक्मिणी बेटा ! तुम्हें स्मरण है न, बचपन में अतिमुक्तक (उसी जन्म में मोक्ष पानेवाला) आकाशचारी कुमार श्रमण ने कहा था कि ‘तुम वासुदेव कृष्ण की अग्रमहिषी बनोगी’।” “स्मरण है”, रुक्मिणी ने कहा।

फुआ ने आश्चस्त करते हुए रुक्मिणी से कहा : “मुनि का वचन अन्यथा नहीं हो सकता। बलदेव और वासुदेव अन्त में अवश्य सुनते हैं। वे इतने प्रभावशाली हैं कि समुद्र ने उन्हें रास्ता दिया था, कुबेर ने उनके लिए द्वारवती नगरी का निर्माण किया था और रत्न की वर्षा भी की थी। वासुदेव कृष्ण शिशुपाल और जरासन्ध का वध करेंगे, ऐसी लोकश्रुति है। तुम्हें चेदिपति शिशुपाल के लिए दे दिया गया है, इसलिए शिशुपाल का भी वध करके कृष्ण तुम्हारा पाणिग्रहण करेंगे। तुम अपने को निन्दनीय या दयनीय मत समझो। कहो तो, कृष्ण के पास तुम्हारा सन्देश भिजवाऊँ।”

“पिता के बाद तुम्हारा ही तो मुझपर अधिकार है। मेरे कल्याण के लिए तुम्हीं प्रमाण हो।” रुक्मिणी ने कहा। इसके बाद रुक्मिणी की फुआ ने एक पुरुष (लेखवाहक) के द्वारा कृष्ण के पास प्रच्छन्न लेख भेजा, जिसमें विवाह की निश्चित तिथि की सूचना थी और शिशुपाल को धोखा देने का गुप्त संकेत भी अंकित था। लेखवाहक ने कृष्ण से यह भी संकेत कर दिया कि वरदा नदी-तटवर्ती नागमन्दिर में पूजा के व्याज से रुक्मिणी पहुँचेगी, वहीं वह उससे मिले।

लेखवाहक कुण्डिनपुर लौट आया और उसने रुक्मिणी एवं उसकी फुआ से कृष्ण के निश्चित आगमन की बात कही और उनके वर्ण, चिह्न आदि भी बतला दिये। विवाह के निमित्त शिशुपाल भी वरदा नदी के पूर्वी तट पर ससम्मान आकर ठहरा। रुक्मिणी सजधज कर भद्रक नामक अन्तःपुर-रक्षक के साथ नागमन्दिर में पहुँची। पूजा के बहाने वह बार-बार मन्दिर से बाहर आ जाती थी। कुछ क्षण बाद दूत के निर्देशानुसार रुक्मिणी ने ऊँचाई में लहराती ताल और गरुड़ से अंकित बलदेव तथा कृष्ण की ध्वजा देखी। रुक्मिणी की फुआ ने कहा : “देवता प्रसन्न हैं। आओ, धीरे-धीरे मन्दिर की प्रदक्षिणा करो।”

वासुदेव कृष्ण ने रुक्मिणी को देखकर सारथि से जल्दी-जल्दी रथ हाँकने को कहा। सारथि नागमन्दिर के पास रथ ले आया। और, कृष्ण ने अपना परिचय देते हुए रुक्मिणी को उठाकर अपने रथ पर बैठा लिया। भद्रक ने कृष्ण को ललकारा और धनुष तान दिया। कृष्ण ने उससे कहा : “जान मत दो। रुक्मी को जाकर समाचार दो कि राम और कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण कर लिया।”

इधर भय से चिल्लाता हुआ भद्रक रुक्मी के पास पहुँचा और उधर दोनों भाई परिजन-समेत दूर निकल गये। रुक्मी ने प्रतिज्ञा की कि बहन को बिना मुक्त कराये नगर नहीं लौटूँगा। और फिर, बहुत बड़ी सेना के साथ वह रथ पर सवार होकर चल पड़ा।

रुक्मिणी को उदास देखकर कृष्ण ने पूछा : “क्यों देवी ! मेरे साथ जाना तुम्हें पसन्द नहीं ?” रुक्मिणी बोली : “मेरा भाई धनुर्वेद का ज्ञाता है, सेना के साथ आया है। आप तो दो ही आदमी हैं।

इसलिए, आपकी पीड़ा की आशंका से उदास हूँ।" कृष्ण ने कहा : "देवी ! स्त्री के समीप आत्मश्लाघा ठीक नहीं। फिर भी मेरी शक्ति देखो।" यह कहकर कृष्ण ने निकटवर्ती विशाल वृक्षों की पंक्ति को एक बाण में छेद दिया। छिटपुट रूप में भी जितने पेड़ रुक्मिणी ने देखे थे, उन्हें भी उन्होंने चीर दिया और अँगूठी के हीरे को अँगूठे के दबाव से चूर-चूर कर दिया।

रुक्मी की सेना जब आ पहुँची, तब कृष्ण ने बलदेव से कहा : "भैया ! आप बहू को लेकर घर जायें। मैं इन्हें (शत्रुओं को) रोकता हूँ।" बलदेव ने कहा : "कृष्ण ! तुम्हीं बहू-सहित विश्वस्त होकर जाओ। मैं इन्हें काकबलि बनाता हूँ।" तब भय खाती रुक्मिणी ने कृष्ण से कहा : "देव ! 'भाई' को मरवाकर चली गई', इस प्रकार मेरी निन्दा न हो, इसलिए वैसी ही कृपा कीजिए। आप दोनों तो इन्द्र को भी जीत सकते हैं।" तब कृष्ण ने बलदेव से कहा : "भैया ! आपकी बहू अपने भाई के लिए अभय माँगती है, इसलिए आप कृपा करें।" बलदेव ने 'तथास्तु' कहा।

रुक्मी की सेना ने बलदेव पर आक्रमण कर दिया। बलदेव ने देवप्राप्त शंख बजाया। शंख के निष्ठुर गर्जन से शत्रुसेना के हाथों से हथियार गिर पड़े। इसके बाद रुक्मी ने बलदेव के रथ पर शर की वर्षा कर दी। लेकिन, बलदेव ने अपने बाणों से रुक्मी के सारे बाण विफल कर दिये, घोड़ों और सारथी को भी बेध दिया। रथ को विनष्ट कर उसके धनुष को भी छिन्न-भिन्न कर दिया और दायें अँगूठे को भी छेद दिया। तब, सेना के समझदारों ने रुक्मी को रोकते हुए कहा : "स्वामी ! यह बलराम समर्थ होते हुए भी आपका विनाश नहीं करेगा, इसलिए युद्ध करना ही व्यर्थ है।"

युद्ध से विरत रुक्मी विजयी हुए विना नगर न लौटने की अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के निमित्त कुण्डिनपुर न जाकर एक स्वतंत्र 'भोजकट' नगर बसाकर रहने लगा। युद्धविराम से दूसरे लोग भी प्रसन्न हुए और अनुद्विग्न भाव से लौट चले। रुक्मिणी को भी सूचना दे दी गई कि उसका भाई अक्षतशरीर अपने जनपद को लौट गया।

द्वारवती की ओर उन्मुख रुक्मिणी नगर, पर्वत और देश देखती हुई द्वारवती नगरी के बहिःप्रदेश में पहुँची। वहाँ रमणीय उपवन को देख कृष्ण, बलदेव की आज्ञा से ठहर गये। बलदेव ने सारथी सिद्धार्थ को आज्ञा दी : "नगरवासियों से जाकर कहो कि वे विवाह के उत्सव की तैयारी करें।" सारथी चला गया।

इधर यक्षों ने वर-वधू का वैवाहिक सत्कार किया। नागरक लोग वहाँ पहुँचे, तो चकित रह गये। वह स्थल देवनगर जैसा हो गया। रात बीती। प्रातः वर-वधू द्वारवती पहुँचे। रुक्मिणी को राजभवन के उत्तर-पश्चिम का खण्ड आवास के लिए दिया गया।

इस प्रकार, कृष्ण ने अपने शौर्य-वीर्य के प्रताप से सत्यभामा के अतिरिक्त पद्मावती, गन्धारी, लक्षणा, सुसीमा, जाम्बवती और रुक्मिणी ये छह पत्नियाँ उपलब्ध कीं, जिनमें मानवी और विद्याधरी दोनों प्रकार की सुन्दरियाँ हैं। श्रमण-परम्परा के कृष्ण भागवत-सम्प्रदाय की तरह रासलीला-मग्न 'सहस्र गोपी एक नारायण' नहीं, अपितु बहुपत्नीक वीर क्षत्रिय-युवराज हैं। बलराम और कृष्ण की जोड़ी तो भागवत में भी है, किन्तु 'वसुदेवहिण्डी' में चित्रित यह जोड़ी ततोऽधिक विलक्षण है।

पारिजातहरण के प्रसंग में रुक्मिणी और सत्यभामा का सपत्नीत्व वैष्णव-सम्प्रदाय के कवियों ने भी चित्रित किया है। किन्तु, संघर्षासगणी ने इस प्रकरण को जिस ढंग से उपन्यस्त

किया है, वह अपने-आपमें अतिशय अद्भुत और अद्वितीय है, यहाँतक कि जैन साहित्य की कृष्णकथाओं में भी इस कथाप्रसंग का जोड़ नहीं है।

वसुदेव की पत्नी रोहिणी और देवकी ने वस्त्र, आभरण और परिचारिकाएँ प्रदान कर रुक्मिणी का सत्कार किया। किन्तु, देवी सत्यभामा और उनके परिजनों के लिए रुक्मिणी के आवास में प्रवेश वर्जित कर दिया गया था। सत्यभामा ने कृष्ण से कहा कि आप जो कुमारी ले आये हैं, उसे दिखलाइए। पहले तो कृष्ण ने टालने की कोशिश की, लेकिन जब सत्यभामा ने बहुत आग्रह किया, तब कृष्ण ने कहा : “रैवत पर्वत के निकट नन्दनवन में उसे (रुक्मिणी को) देखना।”

कृष्ण ने मूर्तिकार को आज्ञा दी कि वह नन्दनोद्यान के श्रीगृह में स्थित श्री की प्रतिमा को जल्द हटा दे और उस प्रतिमा की पीठिका को सजाये। मूर्तिकार ने आज्ञा का पालन किया। कृष्ण ने उद्यान-यात्रा के लिए अपनी देवियों को आज्ञा दी और स्वयं वह भी प्रातःकाल रुक्मिणी के साथ सारथी दारुक द्वारा चालित रथ पर सवार होकर नन्दनवन में गये और श्रीगृह में रुक्मिणी को ठहराते हुए उससे कहा : “जब देवियों के आने का समय हो जाय, तब तुम श्रीपीठ पर मूर्तिवत् निश्चल भाव से खड़ी हो जाना।” यह कहकर कृष्ण वहाँ से निकले और रथ के समीप आकर खड़े हो गये।

सभी देवियाँ वहाँ आईं। सत्यभामा ने जब कुमारी (रुक्मिणी) के बारे में पूछा, तब कृष्ण ने उससे श्रीगृह में जाकर उस कुमारी को देखने को कहा। देवियाँ वहाँ गईं और ‘ओह ! शिल्पी ने तो साक्षात् भगवती की मूर्ति बनाई है’ कहकर उन्होंने उसे (रुक्मिणी को) प्रणाम किया। सत्यभामा ने उस प्रतिमा से प्रार्थना की : “यदि आगन्तुक कुमारी ही-श्री से परिवर्जित होगी, तो मैं तुम्हारी पूजा करूँगी।” यह कहकर वह बाहर निकली और उस कुमारी को चारों ओर खोजने लगी। दासियों ने उससे कहा : “स्वामिनी ! वह किसी जंगल के राजा की लड़की होगी। आपके सामने खड़ी होने की शक्ति भी उसमें नहीं है। किसी झाड़ी में छिपी खड़ी होगी।”

सत्यभामा कृष्ण के पास जाकर बोली : “आपकी प्रिया तो नहीं दिखाई पड़ रही है।” कृष्ण ने कहा : “अवश्य वह वहीं श्रीगृह में होगी, जाओ, देखो।” इसके बाद स्वयं कृष्ण देवी सत्यभामा के साथ श्रीगृह गये। कृष्ण को देखते ही रुक्मिणी मूर्तिपीठ से उतर खड़ी हुई और कृष्ण के संकेतानुसार उसने सत्यभामा को प्रणाम किया। सत्यभामा ने रुक्मिणी से कहा कि “तुम्हें मैंने पहले ही प्रणाम किया है।” कृष्ण ने बनते हुए कहा : “कैसे ?” सत्यभामा ने कहा : “यदि मैंने बहन को प्रणाम किया, तो इसमें आप क्यों बोलते हैं ?” इस प्रकार, कलुषित भाव की स्थिति में भी सत्यभामा ने रुक्मिणी को वस्त्र और आभूषणों से सम्मानित किया।

सत्यभामा और रुक्मिणी दोनों गर्भवती हुईं। एक दिन उद्यान में दोनों ने आकाशचारी श्रमण को ध्यान में लीन देखा। रुक्मिणी ने उनकी घन्दना करते हुए पूछा : “भगवन् ! बताइए, मेरे पेट से पुत्र उत्पन्न होगा या पुत्री ?” उसके बाद सत्यभामा ने भी पूछा। ध्यानबाधा के भय से ‘पुत्र उत्पन्न होगा’ कहते हुए वह अन्तर्हित हो गये।

अब रुक्मिणी और सत्यभामा आपस में झगड़ने लगीं कि मुनि ने मुझे ही पुत्र उत्पन्न होने का आदेश किया है। रुक्मिणी बोली कि “पहले मैंने पूछा है।” सत्यभामा ने प्रतिवाद किया : “तुमने पहले पूछा सही, लेकिन मुनि ने कुछ कहा तो नहीं। मेरे पूछने पर ही कहा है, इसलिए

पहले मुझे ही पुत्र होगा, तुम्हें नहीं।” झगड़ने के क्रम में ही सत्यभामा ने शर्त रखी : “जिसको पहले पुत्र होगा, उसके पुत्र के विवाह में दूसरी को अपने केशों से कुशकण्डिका की विधि पूरी करनी होगी।” रुक्मिणी प्रच्छन्नगर्भा थी, इसलिए सत्यभामा उसे पीड़ा देना चाहती थी। अन्त में, दोनों ने शर्त को स्वीकार कर लिया।

इसके बाद दोनों कृष्ण के पास पहुँचीं और उन्होंने श्रमण के आदेश और शर्त की बात कही। कृष्ण ने कहा : “तुम दोनों को पुत्र होंगे। झगड़ना व्यर्थ है।” उसके बाद वे दोनों चली गईं।

वैष्णव-परम्परा में भगवान् कृष्ण को दुर्योधन के विपक्षी पाण्डवों के पक्षधर के रूप में उपस्थित किया गया है, किन्तु श्रमणाचार्य संघदासगणी ने कृष्ण और दुर्योधन में परस्पर मैत्रीभाव रहने की चर्चा की है।

रुक्मिणी और सत्यभामा के चले जाने के बाद उत्तरापथ के राजा दुर्योधन कृष्ण की सेवा में उपस्थित हुए। कृष्ण ने सभास्थल में पधारे सभी राजाओं को देवियों के विवाद के बारे में बताया। दुर्योधन ने कहा : “जिसे पहले पुत्र होगा, समझिए, उसके पुत्र के लिए मैंने अपनी पुत्री दे दी।” इस प्रकार, हास-परिहास का आनन्द लेने के बाद यदुनाथ कृष्ण नन्दनवन से परिवार-सहित द्वारवती लौट गये।

समय पूरा होने पर, रुक्मिणी ने, रात्रि में, पुत्र प्रद्युम्न को जन्म दिया। जातकर्म संस्कार के बाद शिशु को ‘वासुदेव’ नाम से अंकित मुद्रा बाँध दी गई। परिचारिकाओं ने कृष्ण को कुमारजन्म की सूचना दी। कृष्ण रत्नदीपिका से आलोकित मार्ग को पारकर रुक्मिणी-भवन में आये। किन्तु, कृष्ण की दृष्टि पड़ते ही कुमार को किसी देव ने चुरा लिया। रुक्मिणी पहले तो कृष्ण को देखकर मूर्च्छित हो गई, फिर प्रकृतिस्थ होने पर पुत्रशोक में विलाप करने लगी। कृष्ण ने सान्त्वना दी : “देवी ! विषाद मत करो। तुम्हारे पुत्र को खोजता हूँ। जिसने मेरे देखते ही, मेरा अनादर करके बालक को चुरा लिया, उस दुष्ट को मैं शिक्षा दूँगा।” यह कहकर वह (कृष्ण) अपने भवन में चले गये।

कृष्ण अपने कुलकरों (वृद्धों) के साथ सोच-विचार कर रहे थे कि उसी समय नारद वहाँ आये। कृष्ण ने नारद का स्वागत किया। नारद ने कृष्ण को चिन्तित देखा, तो वह अपनी सहज परिहासपूर्ण वचोभंगी में बोले : “कृष्ण ! आपकी तो यही चिन्ता होगी कि किस राजा की पुत्री रूपवती है; अथवा कौन जरासन्ध के पक्ष का है ?” कृष्ण ने प्रतिवाद किया : “ऐसी बात नहीं है। रुक्मिणी के सद्योजात पुत्र को किसी ने चुरा लिया है, उसी की खोज में चिन्तित हूँ।”

नारद ने हँसते हुए कहा : “अच्छा संयोग है। सत्यभामा आसन्नप्रसवा है। चारणश्रमण के आदेशानुसार निश्चय ही उसे भी पुत्र होगा। रुक्मिणी केश मुड़वाने से बच गई।” कृष्ण ने कहा : “नारदजी ! परिहास व्यर्थ है। जाइए, देवी रुक्मिणी को धीरज बँधाइए।” नारद हँसते हुए रुक्मिणी के पास गये। उसने नारद से पुत्र-समाचार ले आने का आग्रह किया। नारद करुणार्द्र होकर बोले : “रुक्मिणी ! शोक मत करो। मेरा निश्चय है, जबतक तुम्हारे पुत्र की खोज न कर लूँगा, तुम्हें देखूँगा नहीं।” इसके बाद वह आकाश में उड़ गये।

दूसरे ही क्षण नारदजी सीमन्धरस्वामी के पास थे। उन्होंने उनकी वन्दना करके रुक्मिणी के पुत्र चुरानेवाले के बारे में पूछा। सीमन्धरस्वामी ने विस्तारपूर्वक नारद से रुक्मिणी के पुत्र

प्रद्युम्न और जाम्बवती के पुत्र शाम्ब के पूर्वभव की अद्भुत और रोचक कथा सुनाई और बताया कि सम्प्रति शिशु प्रद्युम्न वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी के पश्चिम दिग्भाग में स्थित मेघकूट नगर के विद्याधर-दम्पति कालसंवर और कनकमाला के आश्रम में पल रहा है। साथ ही, यह भी निर्देश किया कि घूमकेतु देव पूर्वजन्म के वर का स्मरण करके ही अपने प्रतिद्वन्द्वी मधु (रुक्मिणी की कोख से उत्पन्न कृष्णपुत्र प्रद्युम्न) को उत्पन्न होते ही चुरा लिया और भूतारमण अटवी की शिला पर सूखने के लिए छोड़ दिया, जिसे विद्याधर-मिथुन (यथोक्त) अपने घर ले गये।

सीमन्धरस्वामी से कृष्णपुत्र के पूर्वभव की कथा सुनकर नारद का संशय मिट गया। वह रुक्मिणी के समीप लौट आये और उन्होंने उससे कहा कि “सीमन्धरस्वामी के निर्देशानुसार, तुम्हारा पुत्र जीवित है और विद्याधर के घर में संवर्द्धित हो रहा है। यथासमय पुत्र से तुम्हारा मिलन होगा।” यह कहकर नारदजी आकाशमार्ग से चले गये।

रुक्मिणी के बाद सत्यभामा ने जिस पुत्र का प्रसव किया, उसका नाम भानु रखा गया। भानु जब युवा हो गया, तब अपने वचन के अनुसार राजा दुर्योधन ने अपनी पुत्री के साथ उसके विवाह का आयोजन किया। शिशु-अवस्था में ही पुत्र के अपहरण के कारणवश रुक्मिणी अपने को पुत्रवती प्रमाणित नहीं कर पा रही थी, इसलिए सत्यभामा ने ही अपने को पहले पुत्रवती होने का अधिकार प्रस्तुत किया था। फलतः, दुर्योधन उसी के पुत्र भानु के साथ अपनी पुत्री का विवाह रचा रहा था। ऐसी स्थिति में रुक्मिणी ने व्याकुल होकर नारद से शीघ्र ही पुत्र प्रद्युम्न को लाकर दिखलाने का आग्रह किया।

नारद आकाशमार्ग से उड़कर विद्याधरलोक-स्थित मेघकूट पहुँचे। वहाँ उन्होंने प्रद्युम्न से बताया कि जब तुम गर्भ में थे, तब तुम्हारी माता रुक्मिणी के साथ सपत्नीत्व के कारण सत्यभामा ने शर्त रखी कि जो पहले पुत्र पैदा करेगी, उसके पुत्र के विवाह में दूसरे को केश मुड़वाना पड़ेगा। जन्म लेते ही तुम्हारा अपहरण कर लिया गया, इस बात पर सत्यभामा विश्वास नहीं करती। वह समझती है कि रुक्मिणी को पुत्र पैदा ही नहीं हुआ। इसलिए, तुम्हें आज ही चलकर अपनी माँ की प्रतिष्ठा रखनी चाहिए।

इसके बाद नारद ने दिव्य सामर्थ्य से विमान उत्पन्न किया और उसी विमान पर चढ़कर दोनों वहाँ से चुपके चल पड़े। विमान-यात्रा के क्रम में नारद ने प्रद्युम्न को सम्पूर्ण भारत के नगर, भवन, आश्रम, जनपद आदि का परिदर्शन कराया। रास्ते में, खदिराटवी में, सैन्य-शिविर देखकर प्रद्युम्न ने जिज्ञासा की। नारद ने बताया कि सत्यभामा के पुत्र भानु के विवाह में तुम्हारी माँ का केश मुड़वाया जायगा, उसी के लिए यह शिविर आयोजित है। तब क्रुद्ध होकर प्रद्युम्न ने कहा : “देखिए, मैं इनकी पूजा करता हूँ।”

तदनन्तर, प्रद्युम्न ने, जिसे विद्याधरलोक में रहते समय अपनी पालिका माता कनकमाला विद्याधरी से प्रज्ञप्ति विद्या प्राप्त हुई थी, अपने विद्याबल से उक्त विवाह-शिविर में अनेक प्रकार की भयावह और लोमहर्षक विकृतियाँ उत्पन्न कीं। विवाहोत्सव ध्वस्त हो गया। इसी क्रम में प्रद्युम्न ने भानु को भी अनेक प्रकार से तंग-तबाह किया। यहाँतक कि कृष्ण भी प्रद्युम्न की चपेट में आ गये।

प्रज्ञप्तिविद्या-सम्पन्न प्रद्युम्न द्वारवती पहुँचा और एक भेड़ के साथ कृष्ण के घर में प्रवेश किया। उसके प्रणाम करने के बाद कृष्ण ने पूछा : “बालक ! किसलिए आये हो ?” “आप भेड़ का लक्षण जानते हैं। यदि सुलक्षण भेड़ है, तो इसे स्वीकार कीजिए।” प्रद्युम्न ने कहा। सत्त्वपरीक्षा के खयाल से कृष्ण ने अंगुली के संकेत से भेड़ को अपनी ओर बुलाया। प्रद्युम्न के इंगित पर भेड़ ने कृष्ण के पास जाकर उन्हें अपने आसन से नीचे गिरा दिया और उनके जानुप्रदेश में पीड़ा पहुँचाई। उसके बाद प्रद्युम्न बोला : “महाराज ! और कुछ जानना चाहते हैं, तो कहिए।” और फिर हँसता हुआ घर के भीतर चला गया।

इसी प्रकार, प्रद्युम्न ने ब्राह्मण-बालक का छद्मरूप धरकर सत्यभामा को भी परेशान किया। फिर, छोटा साधु का रूप धरकर रुक्मिणी को भी तंग किया।

ब्राह्मण-बालक के रूप में प्रद्युम्न जब सत्यभामा के घर के द्वार पर उपस्थित हुआ, तब वहाँ मालाकार ने उसे फूल का मुकुट पहनाया और कुब्जा ने अंगराग का लेपन किया। दाइयों ने सत्यभामा से निवेदन किया : “कोई तेजस्वी रूपवान् ब्राह्मण-बालक भोजन माँग रहा है।” सत्यभामा ने दासियों को आदेश दिया, “भरपूर भोजन कराओ।” ब्राह्मण-बालक आसन पर बैठा। सोने के पात्र में भोजन परोसा गया। भोजन परोसते ही वह उसे चट कर जाता और सत्यभामा से शिकायत भी करता कि दासियाँ स्वयं खा जाती हैं, मुझे नहीं देतीं। सत्यभामा ने पुनः आदेश दिया : “जितना चाहता है, उतना दो।” दासियाँ कहने लगीं : “स्वामिनी ! ब्राह्मण-रूप में यह वडवानल इस पूरे घर को निगल जायगा !”

इसी बीच सत्यभामा ने सुना कि पुलिन्दों ने विवाहोत्सव को ध्वस्त कर दिया। उधर प्रद्युम्न ने कहा : “यदि मुझे भरपूर भोजन नहीं मिलेगा, तो मैं रुक्मिणी के घर चला जाऊँगा।” सत्यभामा झुँझला उठी : “मैं दूसरे काम में लगी हूँ, तुम चाहे रूपा के घर जाओ या सोना के घर।” ब्राह्मण बालक-रूपधारी प्रद्युम्न आचमन करके वहाँ से निकलकर चला गया और छोटा साधु का रूप धरकर रुक्मिणी के पास पहुँचा। रुक्मिणी ने उसकी वन्दना की और आमन्त्रित भी किया। क्षुद्ररूपधारी प्रद्युम्न ने कहा : “मैंने बहुत बड़ा उपवास किया है। सोचता हूँ, मैंने माँ का दूध पहले नहीं पिया है। इसलिए, पारण के निमित्त मुझे जल्दी खीर दो।” रुक्मिणी ने छद्मरूपधारी प्रद्युम्न से क्षण भर रुकने को कहा। इसी बीच वह कृष्ण के सिंहासन पर जाकर बैठ गया। रुक्मिणी ने कहा : “यह देवता के द्वारा स्वीकृत आसन है। तुम्हारा कोई अनिष्ट न हो, इसलिए दूसरे आसन पर बैठो।” प्रद्युम्न बोला : “मुझ जैसे तपस्वी पर देवता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।” इसके बाद रुक्मिणी ने दासियों से जल्दी खीर तैयार करने को कहा। प्रद्युम्न ने प्रज्ञप्ति-बल से अग्नि स्तम्भित कर दी। खीर पकती ही नहीं थी।

इसी बीच सत्यभामा ने नाई भेजकर रुक्मिणी से कहलवाया कि केश मुड़वाकर भेजो। लघुतापसरूपधारी प्रद्युम्न ने नाई से कहा : “मुण्डन करना जानते हो ?” नाई के ‘हाँ’ कहने पर प्रद्युम्न ने फिर पूछा : “बदरमुण्डन जानते हो ?” नाई के ‘नहीं’ कहने पर प्रद्युम्न ने उससे कहा : “आओ, तुम्हें बदरमुण्डन बताता हूँ।” उसके बाद प्रद्युम्न ने नाई के, चमड़ा-सहित सिर के बाल को छीलकर उसके हाथ में रख दिया और कहा : “इसी को ‘बदरमुण्डन’ कहते हैं।” नाई अपना, लोहू-लुहान सिर लिये लौट गया।

इसके बाद सत्यभामा द्वारा प्रेरित नाइयों के साथ यादववृद्ध, रुक्मिणी के केशों को मुड़वाने आये। जब प्रद्युम्न ने उनके अनुचित कुलाचार की भर्त्सना की, तब उन्होंने सत्यभामा की शर्त की बात कही। तभी, यादववृद्ध जिन आसनों पर बैठे थे, वे उनके कपड़ों से चिपक गये। प्रज्ञप्तिसम्पन्न लघुतापस ने व्यंग्य किया : “आप सभी ने आसन चुराने के लिए अपने वस्त्रों में क्या लगा रखा है?” सभी यादववृद्ध बड़े लज्जित हुए और वहाँ से चले गये। तब प्रद्युम्न ने नाइयों से कहा : “अरे ! देवी ने जिसके मुण्डन की आज्ञा दी है, उसका शीघ्र मुण्डन करो।” प्रद्युम्न की बात से वे सभी मोहग्रस्त होकर एक दूसरे का मुण्डन करने लगे। किसी का एक हिस्सा माथा मुड़ा हुआ था, तो किसी का आधा। किसी की थोड़ी-सी दाढ़ी मुड़ी हुई थी, तो किसी के केश ऐसे कपचे हुए थे, जिससे उसके माथे पर फटिंगे बैठे हुए-से लगते थे। इस प्रकार, सभी नाई अपना-अपना केश हाथ में लिये, दासियों का उपहास-पात्र बनते हुए वहाँ से चले गये।

लघुतापस से बातचीत करती तथा दासियों को जल्दी खीर तैयार करने का आदेश देती हुई देवी रुक्मिणी की आँखें प्रफुल्लित हो गईं और उसके स्तनों से दूध झरने लगा। स्नेहवत्सला माता को देखकर प्रद्युम्न का चेहरा खिल उठा। तभी, वहाँ नारद आ उपस्थित हुए। नारद ने अभी तक रुक्मिणी को पुत्र का दर्शन नहीं कराया था, इसलिए उसने उन्हें मिथ्याभाषी होने का उलाहना दिया। तब नारद ने कहा : “यदि देवी पास में ही अवस्थित अपने पुत्र को नहीं पहचानती, तो मैं क्या करूँ?” तब प्रद्युम्न ने अपना असली रूप दिखलाया और अश्रुपूर्ण आँखों से माँ के चरणों में झुक गया। माता रुक्मिणी के भी बहुत दिनों से रुके आँसू प्रवाहित हो उठे। उसने बेटे के हजार वर्षों तक जीने की कामना करते हुए प्रद्युम्न को अँकवार में भर लिया और फिर गोद में बैठाकर उसके मुँह में अपना स्तन डाल दिया।^१ देवी के परिजन भी अश्रुविह्वल हो उठे।

इसके बाद नारद ने प्रद्युम्न से कहा कि “अपने पिता कृष्ण से सामान्य ढंग से मिलना तुम्हारे लिए ठीक नहीं होगा। इसलिए, तुम देवी रुक्मिणी का हरण कर लो। इसी क्रम में यादवचन्द्र कृष्ण को पराजित करके तुम प्रकट रूप से अपने कुलकरों की वन्दना करना।” नारद ने अपनी दिव्यशक्ति से एक रथ बनाया। रुक्मिणी परिचारिकाओं के साथ उसपर बैठी। उसके बाद नारद ने ऊँची आवाज से घोषणा की : “रुक्मिणी का हरण किया जा रहा है। अब जो भी चाहे, अपने बल का प्रदर्शन करे।”

कृष्ण और यादववृद्धों के साथ प्रद्युम्न ने घमासान लड़ाई की। अन्त में, कृष्ण ने प्रद्युम्न के प्रति सुदर्शन चक्र का प्रयोग किया। किन्तु, सुदर्शन चक्र विना किसी प्रकार का अहित किये वापस चला गया। और, चक्राधिष्ठित यक्ष ने रहस्योद्घाटन करते हुए कृष्ण से कहा : “आयुध-रत्न का यह धर्म है कि शत्रु को मारना चाहिए और स्वामी के बन्धु की रक्षा करनी चाहिए। यह (प्रद्युम्न) रुक्मिणी से उत्पन्न तुम्हारा पुत्र है। नारद ऋषि इसे यहाँ ले आये हैं। उन्हीं की राय से देवी का हरण किया गया है।”

यह सुनकर कृष्ण शान्त हो गये और चक्र के प्रति पूजाभाव के साथ प्रद्युम्न को प्रीतिपूर्ण नेत्रों से निहारने लगे। तब नारद ने प्रद्युम्न से कहा : “सुदर्शन चक्र ने रहस्योद्घाटन कर दिया। अब तुम पिता के निकट जाओ।” प्रद्युम्न नारद के साथ पिता कृष्ण के समीप गया और उन्हें

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अ. ११, श्लो. १४-१५ तथा अ. ८५, श्लो. ५३-५४ में समान्तर रूप से वर्णित कथा से तुलनीय।

प्रणाम किया। कृष्ण ने आनन्दाश्रुपूर्ण आँखों से प्रद्युम्न को अँकवार में भर लिया और उसका माथा सूँघते हुए उसे आशीर्वाद दिया।

उसके बाद कृष्ण ने प्रद्युम्न को बड़े उत्सव के साथ नगर में प्रवेश कराया। कुलकरो और यादवराजाओं द्वारा मुग्ध भाव से देखे गये प्रद्युम्न ने रुक्मिणी के भवन में प्रवेश किया। प्रद्युम्न को युवराज का पद दिया गया। इस प्रकार, विजयी प्रद्युम्न ने दुर्योधन की पुत्री को भानु के लिए दे दिया। सत्यभामा ने भी प्रद्युम्न का सम्मान किया।

तदनन्तर, द्वारवती की जनता ने प्रद्युम्न के अलौकिक गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। कृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक विद्याधर और मनुष्ययोनि के राजाओं की अनुकूल गुण-यौवनवाली कन्याओं के साथ प्रद्युम्न का विवाह कराया। अब प्रद्युम्न दौगुन्दुक देव (उत्तम जाति के देवविशेष) की तरह विविध भोगों का आस्वाद लेता हुआ निरुद्धिग्न विहार करने लगा।

आचार्य संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' के पीठिका-भाग में ही 'कृष्णकथा' के प्रसंग में सत्यभामा और जाम्बवती के बीच कृष्ण द्वारा विस्तार की गई एक अतिशय अद्भुत लीला का चित्रण किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

एक दिन जब कृष्ण सत्यभामा के घर आये, तब उसने उनसे निवेदन किया कि वह उसे भी प्रद्युम्न के समान तेजस्वी पुत्र प्रदान करें। क्योंकि, जो स्त्री अपने पति की जितनी अधिक प्रिय होती है, उसका पुत्र उतना ही अधिक तेजस्वी होता है। कृष्ण ने सत्यभामा को यह कहते हुए आश्वासन दिया कि चूँकि तुम मेरी सभी रानियों में ज्येष्ठा हो, इसलिए अतिशय प्रेमपात्री हो। सत्यभामा ने अवसर का लाभ उठाते हुए कहा : "यदि यह बात है, तो प्रद्युम्न के समान पुत्र मुझे भी दीजिए।" सत्यभामा की इच्छापूर्ति के लिए कृष्ण ने हरिनैगमेषी (इन्द्र के पदाति-सैन्य का अधिपति सन्तानदाता देवता) की आराधना की। देवता जब प्रसन्न हुए, तब कृष्ण ने उनसे सत्यभामा के लिए प्रद्युम्न के समान पुत्र की प्राप्ति का वर माँगा। देव ने कहा : "जिस देवी के साथ आपका पहले समागम होगा, उसे ही प्रद्युम्न के समान पुत्र होगा।" फिर, एक हार देते हुए देव ने कहा : "यह प्रथम समागम देवी को दे दीजिएगा।" इसके बाद देवता चले गये।

प्रज्ञप्तिविद्या के द्वारा प्रद्युम्न को, नैगमेषी से कृष्ण के वर प्राप्त करने की सूचना मिली, तो उसने सोचा, "सत्यभामा मेरे प्रति ईर्ष्याभाव रखती है। अगर उसके मेरे समान पुत्र होगा, तो फिर मुझसे और भी स्नेह नहीं रखेगी।" वह अपनी दूसरी विमाता जाम्बवती के घर चला गया और उसने उसे अपने समान ही एक तेजस्वी पुत्र प्राप्त करने का रहस्य बताया। उसके बाद उसने प्रज्ञप्तिविद्या के बल से जाम्बवती को सत्यभामा की आकृति में बदल दिया। सत्यभामा जबतक प्रसाधन और देवार्चन में लगी रही, तबतक जाम्बवती अपने पति कृष्ण के समीप चली गई और उनसे समागम-सुख प्राप्त करके हार से सुशोभित हुई और शीघ्र ही वहाँ से वापस चली आई। सत्यभामा भी कुछ देर के बाद कृष्ण के पास पहुँची और केवल संगम-सुख प्राप्त कर अपने घर लौट आई। अन्त में, कृष्ण को प्रद्युम्न के छल का पता चल गया।

जाम्बवती के गर्भ से यथासमय रूपवान् शुभलक्षण-सम्पन्न तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम शाम्ब रखा गया। शाम्ब जब युवा हुआ, तब उसकी सहायता से प्रद्युम्न ने अपने पिता कृष्ण के प्रतिपक्षी साले भोजकटवासी रुक्मी की पुत्री वैदर्भी से विवाह किया। फलतः, रुक्मी को पुनः

एक बार अपने बहनोई के पुत्र (भगिने) से भी अपमानित होना पड़ा। बाद में शाम्ब ने भी एक गणिकापुत्री सुहिरण्या से विवाह किया। ज्ञातव्य है कि रुक्मी ने प्रतिज्ञा की थी कि वह अपनी पुत्री वैदर्भी को चाण्डाल के हाथ भले ही सौंप देगा, किन्तु प्रद्युम्न के साथ उसका विवाह नहीं करेगा। प्रद्युम्न ने चाण्डालवेश धारण करके रुक्मी को भरमाया और वैदर्भी को अधिगत कर लिया।

सत्यभामा से जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम सुभानु (भानु) रखा गया। प्रद्युम्न और शाम्ब मिलकर भानु को बराबर परेशान करते रहते थे। भानु को वे विभिन्न प्रतियोगिताओं (जैसे : द्यूत-प्रतियोगिता, आभूषण-प्रतियोगिता, गन्ध-प्रतियोगिता आदि) में बराबर पराजित करते रहे, उससे करोड़ों की बाजी जीतते रहे।

एक बार आभूषण-प्रतियोगिता में भानु की पराजय की बात सुनकर रोती हुई सत्यभामा ने कृष्ण को उलाहना दिया कि शाम्ब आपके दुलार के कारण मेरे बेटे भानु को जीने नहीं देगा। इस बात से कृष्ण भी उत्तेजित हुए और स्वयं शाम्ब के पास जाकर उन्होंने उसकी उद्दण्डता के लिए उसे बहुत तरह से समझाया और डाँटा भी। फिर भी, शाम्ब ने चार करोड़ लेने के बाद ही भानु को छोड़ा।

शाम्ब इतना अधिक उद्दण्ड हो गया था कि उसने अपने पिता कृष्ण को भी परेशान कर दिया। एक दिन नक्षत्रमाला से विभूषित केशव की रूपश्री धारण करके शाम्बकुमार सत्यभामा के महल में गया। चकित सत्यभामा ने अंगुलि के संकेत से कुब्जा को बुलाया। वेश, बोली, रंग, रूप, सबमें शाम्ब की कृष्ण से बहुत अधिक समानता थी, इसलिए भ्रम में पड़ी कुब्जा भी कुछ निर्णय नहीं कर पाई। शाम्ब ने कुब्जा से कहा : “मैंने दुष्ट स्वप्न देखा है, उसका प्रतिघात अपेक्षित है। इसलिए, देवी से कहो कि ‘मैं चाहे कितना भी अधिक मना करूँ, फिर भी वह मुझे पंचगव्य से स्नान करवा देगी।” यह कहकर शाम्ब चला गया।

इसी बीच कृष्ण वहाँ आये। दासी ने शाम्ब के बदले, आकृतिसाम्य से उत्पन्न भ्रम के कारण, कृष्ण को ही पंचगव्य से नहलाना शुरू किया। कृष्ण झल्लाये : “यह क्या कर रही हो ? भागो।” इसके बाद उन्हें मंगलकलश से स्नान कराया गया। परिजनों के समक्ष ही कृष्ण ने सत्यभामा से कहा : “मैंने तुम्हें सभी रानियों में ज्येष्ठा (अतिशय प्रिया) का पद दिया। क्या तुम अपने इस ऐश्वर्य को उलटना चाहती हो, जो मेरे साथ खिलवाड़ करती हो ?” सत्यभामा बोली : “मुझे क्यों उलाहना देते हैं ? मैं तो आपकी ही आज्ञा का पालन किया है।” इसपर कृष्ण बोले : “मैंने कब कहा ? तुम झूठ बोलती हो।” जब सत्यभामा ने सारी स्थिति बताई, तब कृष्ण ने हँसकर कहा : “शाम्ब होगा ! कल मैंने उसे डाँटा था न ?” यह सुनकर सत्यभामा रूठ गई और बोली : “मैं तो अपने बेटों का खिलौना हो गई हूँ। अब मेरा जीना व्यर्थ है।” यह कहकर वह आत्मघात के लिए अपनी जीभ खींचने लगी। कृष्ण ने बड़ी कठिनाई से उसे रोका और कहा : “कल मैं उस अविनीत को दण्ड दूँगा, तुम विश्वास करो।”

जाम्बवती को बुलवाकर कृष्ण ने उससे कहा : “तुम्हारे पुत्र ने मेरा भी तिरस्कार किया है।” “आप तो अपने पुत्र का चरित्र जानते हैं।” जाम्बवती बोली। “तुम भी जानोगी।” कृष्ण बोले। दूसरे दिन ग्वाला-ग्वालिन के वेश में कृष्ण-जाम्बवती को शाम्ब ने देखा। रूपवती ग्वालिन से

शाम्ब ने पूछा : “छाँछ मिलेगी ?” “हाँ”, ग्वालिन बोली। इसके बाद ‘छाँछ लूँगा’ कहकर शाम्ब ने उसका हाथ पकड़ लिया। तभी कृष्ण ने अपना रूप दिखलाया। शाम्ब भागा। फिर, उस दिन कृष्ण के समीप नहीं आया।

दूसरे दिन कृष्ण ने कुलकरों के समक्ष शाम्ब को बुलवाया। वह खैर की कील को नहरनी से छीलते हुए सभा में आया। “शाम्ब ! यह क्या ?” कृष्ण ने पूछा। शाम्ब के स्वर में उद्दण्डता थी : “जो बीती हुई बात छेड़ेगा, उसके मुँह में यह कील डाल दी जायगी।” वासुदेव कृष्ण ने कुलकरों से कहा : “आपलोगों ने सुन लिया न ? कल इसने मुझे पंचगव्य से स्नान करवा दिया, इसी बात को आपसे कहना चाहता हूँ, तो यह मेरे मुँह में कील डालने की धमकी देता है। इसलिए, अब द्वारवती में इसका रहना ठीक नहीं। यहाँ से यह निकल जाय।”

इसपर कृष्ण के पिता वसुदेव ने कहा : “कृष्ण, इसे क्षमा कर दो। यह विनोदी बालक हमारे कुल का अलंकार है, जैसे ऋषियों में नारद।” इसपर कृष्ण ने उपालम्भ के स्वर में कहा : “इसे आपने ही उद्दण्ड बनाया है, जो मेरे (पिता के) साथ भी खिलवाड़ करता है।” कृष्ण की बात सुनकर कुलकरों ने भी शाम्ब को द्वारवती से निकल जाने का आदेश दिया। और फिर, कृष्ण ने शाम्ब से कहा : “जब मैं और सत्यभामा निहोरा करके तुम्हें बुलायें, तभी द्वारवती आना।”

कृष्ण की आज्ञा मानकर शाम्ब ने वसुदेव आदि पितामहों को प्रणाम किया और प्रद्युम्न से प्रज्ञप्तिविद्या प्राप्त कर सौराष्ट्र देश चला गया। एक दिन प्रज्ञप्ति ने शाम्ब को सूचना दी कि भानु का विवाह एक सौ आठ कन्याओं के साथ हो रहा है। वह द्वारवती लौट आया और अपने छल-बल से, भानु को दी जानेवाली एक सौ आठ कन्याओं को स्वयं उसने हथिया लिया। इस उपलक्ष्य में कृष्ण ने उसे पचास करोड़ का सोना, वस्त्राभरण, शयन, आसन, यान, वाहन, बरतन तथा परिचारिकाएँ दीं। उसके बाद शाम्ब महल में बैठा, नाट्यसंगीत का आनन्द लेता हुआ दौगुन्दुक देव की भाँति निरुद्विग्न भाव से मानुष्य भोगों का उपभोग करने लगा।

इस प्रकार ‘वसुदेवहिण्डी’ के ‘पीठिका’ और ‘मुख’ प्रकरण सम्पूर्णतया कृष्णकथा से अनुबद्ध हैं। ‘प्रतिमुख’ प्रकरण में भी कृष्ण के दर्शन होते हैं। वसुदेव जिस समय अपना भ्रमण-वृत्तान्त सुना रहे हैं, उस समय कृष्ण को भी आमन्त्रित किया गया है, और वह भ्रमण-वृत्तान्त के श्रोताओं में सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त असमाप्त ‘वसुदेवहिण्डी’ की समाप्ति में, अन्तिम २८वें देवकीलम्भ में कृष्णकथा का लघ्वंश मिलता है, जिसमें कृष्ण के जन्म लेने और गोकुल में बचपन बिताने की कथा तथा कंस की पुत्री सत्यभामा के साथ विवाह करने के क्रम में धनुष तोड़ने की बात बहुत ही संक्षिप्त रूप में लिखी गई है।

संघदासगणी ने कृष्णजन्म की कथा को, वैष्णव-परम्परा का अन्धानुकरण न करके बिलकुल नये परिवेश में उपन्यस्त किया है। कृष्ण का जन्म, वर्षाकाल में, उस समय हुआ, जिस समय चन्द्रमा श्रवण नक्षत्र से युक्त था। कंस उनका शत्रु अवश्य था, किन्तु उन्होंने उसे मार डालने की अपेक्षा उसकी पुत्री सत्यभामा से विवाह कर लिया। कंस ने पूर्वभवजनि विद्वेष के कारण अपने पिता उग्रसेन को बन्दी बना लिया था।

कंस की पूर्वभव-कथा के संयोजन में कथाकार के रचनाकौशल की विचित्रता विस्मित कर देती है। पूर्वभव में कंस बालतपस्वी (अज्ञानपूर्वक तप करनेवाला) था। वह एक महीने का उपवास (मास-क्षण) करके पारण के निमित्त मथुरापुरी में आया। उग्रसेन ने उसे पारण के लिए अपने घर

में आमंत्रित किया; किन्तु जब पारण का समय आया, उग्रसेन, किसी अन्य कार्य में आसक्त हो जाने के कारण, अपनी वह बात भूल गया। कंस ने कहीं अन्यत्र पारण कर लिया। इस प्रकार का प्रमाद उग्रसेन से दो-तीन बार हो गया। फलतः, कंस के मन में विद्वेष हो आया और 'उग्रसेन के वध के लिए मैं जन्म लूँगा' ऐसा निदान करके वह कालधर्म को प्राप्त हुआ और राजा उग्रसेन की पत्नी के गर्भ में आया। रानी को त्रिबलि-प्रदेश का मांस खाने का दोहद हुआ। इससे राजा ने निश्चय किया कि यह बालक उत्पन्न होकर, निस्सन्देह, कुल का विनाश करेगा। अतः जब बालक का जन्म हुआ, तब उस नवजात को कांस्य-मंजूषा में रखकर यमुना में प्रवाहित कर दिया गया। उस मंजूषा को शौरिपुर के रसवणिक् (तैल आदि तरल पदार्थों का व्यापारी) ने प्राप्त किया। वह बालक शौरिपुर में ही वसुदेव के पास क्रमशः बढ़ने लगा। समय बीतता चला गया।

कंस ने राजा देवक की पुत्री देवकी के साथ वसुदेव का विवाह करा दिया। देवकी के विवाह के समय कंस की पत्नी जीवयशा ने मदमत्त होकर कंस के अनुज कुमारश्रमण अतिमुक्तक को, देवर होने के नाते, बड़ी देर तक परेशान किया। इससे क्षुब्ध होकर कुमारश्रमण ने जीवयशा को अभिशाप दे दिया : "अरी चंचले ! जिसके लिए प्रमुदित होकर नाच रही हो, उसका सातवाँ पुत्र तुम्हारे प्रिय पति का वध करेगा।" यह कहकर कुमारश्रमण अन्तर्हित हो गये।

इसी शाप से भयाकुल होकर कंस ने वसुदेव से देवकी के सात गर्भ माँग लिये। वसुदेव वचनबद्ध हो गये। दुरात्मा कंस ने देवकी के छह पुत्र मार डाले। कुमारश्रमण की भविष्यवाणी की सिद्धि के लिए वसुदेव ने प्रतिज्ञाभंग करके अपने सातवें पुत्र कृष्ण को बचा लिया। रात्रि में जिस समय बालक कृष्ण का जन्म हुआ, घोर वर्षा हो रही थी। कंस के द्वारा नियुक्त पहरेदार दिव्य प्रभाव से प्रगाढ़ निद्रा में सो गये। उसी समय वसुदेव बालक का जातकर्म करके उसे व्रज ले चले। अदृष्ट देवी बालक-सहित वसुदेव पर छत्र तानकर चल रही थी। उनके दोनों ओर दीपिकाएँ जल रही थीं और श्वेत वृषभ सामने चल रहा था। यमुना नदी ने थाह दे दी। वसुदेव, यमुना पार कर व्रज पहुँच गये। वहाँ नन्दगोप की पत्नी यशोदा ने कुछ समय पहले बालिका प्रसव की थी। वसुदेव ने यशोदा को कुमार सौंप दिया और उससे बालिका लेकर तुरत यथावत् अपने भवन में लौट आये। बालिका को उन्होंने देवकी के समीप रख दिया और वह वहाँ से बाहर चले गये। कंस की परिचारिकाएँ उसी समय जग गईं और उन्होंने कंस को बालिका उत्पन्न होने की सूचना दी। 'यह कुलक्षणा हो जाय' कहकर कंस ने उस बालिका की नाक काट डाली।

कंस ने ज्योतिषियों से अतिमुक्तक कुमारश्रमण के आदेश के विपरीत हो जाने का कारण पूछा, तो उन्होंने बताया कि भगवान् कुमारश्रमण का वचन प्रतिकूल नहीं हो सकता। सातवाँ बालक व्रज में बड़ा हो रहा है। तब, कृष्णजन्म की आशंका करते हुए कंस ने उसके विनाश के लिए कृष्णयक्ष को आदेश दिया। कृष्णयक्ष नन्दगोप के गोकुल में पहुँचा। फिर कंस ने गधे, घोड़े और बैल को भेजा। वे गोकुल के लोगों को पीड़ा पहुँचाने लगे। लेकिन, कृष्ण ने उनका विनाश कर दिया।

वसुदेव ने गुप्त रूप से कृष्ण की रक्षा के निमित्त बलदेव को उपाध्याय के रूप में व्रज में भेजा। उसने कृष्ण को समस्त कलाओं की शिक्षा दी। कंस ने ज्योतिषी के वचन को प्रमाणित करने के लिए अपनी पुत्री सत्यभामा के घर में धनुष रखकर घोषणा की : "जो इस धनुष पर डोरी

चढ़ा देगा, उसे कन्या सत्यभामा दे दी जायगी"— "जो एयं आरुहेइ तस्स कण्णा सच्चभामा दिज्जई (पृ. ३७०)।"

कृष्ण ने धनुष पर डोरी चढ़ा दी और उन्होंने जाकर वसुदेव से कहा : तात ! मैंने सत्यभामा के घर में धनुष पर डोरी चढ़ाई है।" ("तात ! मया सच्चहामाधरे धणुं विलइयं ति।"—तत्रैव) तब वसुदेव ने कहा : "बेटे ! धनुष पर डोरी चढ़ाकर तुमने बहुत अच्छा काम किया है। यह पहले से ही निश्चित है कि जो धनुष पर डोरी चढ़ायगा, उसी को यह कन्या (सत्यभामा) दी जायगी।" ("पुत्त ! सुट्ठु कयं ते धणुं सजीवयं करेतेण, एवं पुव्वविस्थियं—जो एयं धणुं सजीव करेइ तस्स एसा दारिया दायव्वन्ति।"—तत्रैव) वसुदेव के इसी कथन के साथ संध्यासगणी-प्रोक्त कृष्णकथा पूरी हो जाती है और 'वसुदेवहिण्डी' का यथाप्राप्त प्रथम खण्ड भी इसी वाक्य के साथ समाप्त होता है।

इस प्रकार, कृष्णकथा के सार-संक्षेप के अवलोकन से कृष्ण की मानसिक ऊर्जा और शारीरिक ईर्या की अतिशयता बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। शारीरिक दृष्टि से भी कृष्ण का व्यक्तित्व बड़ा ही दिव्य और विराट् है। वह अंगविद्या में उल्लिखित सभी शारीरिक लक्षणों से सम्पन्न थे। संध्यासगणी ने बलराम और कृष्ण की शारीरिक संरचना का चित्रण करते हुए लिखा है : दोनों भाइयों में बलराम का शरीर निर्जल (उज्ज्वल) मेघ और कृष्ण का शरीर सजल (श्यामल) मेघ की छवि को पराजित करनेवाला था; उनकी आँखें सूर्य की किरणों के संस्पर्श से खिले हुए कमलों के समान थीं; उनके मुख पूर्णचन्द्र की भाँति मनोरम और कान्तिमान् थे; उनके अंगों की विस्फूर्जित सन्धियाँ साँप के फन की तरह प्रतीत होती थीं; उनकी बाँहें धनुष की तरह लम्बी और रथ के जुए की भाँति सुदृढ़ थीं; श्रीवत्स के लांछन से आच्छादित उनके विशाल वक्षःस्थल शोभा के आगार थे; उनके शरीरों के मध्यभाग इन्द्रायुध (वज्र) के समान और नाभिकोष दक्षिणावर्त थे। उनके कटिभाग सिंह के समान पतले और मजबूत थे; उनके पैर हाथी की सूँड़ के समान गोल और स्थिर थे; उनके घुटने सम्पुटाकार और मांसपेशी से आवृत थे; हरिण की जैसी जंघाओं की शिराएँ, मांसलता के कारण, ढकी हुई थीं; उनके चरणतल सम, सुन्दर, मृदुल, सुप्रतिष्ठित और लाल-लाल नखों से विभूषित थे और कानों को सुख पहुँचानेवाली उनकी वाणी की गूँज सजल मेघ के स्वर के समान गम्भीर थी।^१ इस प्रकार, कृष्ण और बलराम की शारीरिक सुषमा नितरां निरवद्य थी।

रसमधुर, कलारुचिर एवं सौन्दर्योदीप्त कृष्णचरित के प्रतिपादक वैष्णव-सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थों में श्रीमद्भागवत अग्रगण्य है। इसमें दार्शनिक विवेचन और धार्मिक चिन्तन, रूपकों और प्रतीकों के आधार पर किया गया है। परन्तु, धर्म-दर्शन की बौद्धिक चेतना के उत्कर्ष के साथ इसमें कवित्व या काव्य का प्रौढ़प्रकर्ष भी है। उसी प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' श्रीमद्भागवत की भाँति

१. "तेसिं च पहाणा राम-कण्हा निज्जल-सजलजलदच्छविहरा, दिवसयरकिरणसंगमावबुद्ध-पुंडरीयनयणा, गहवइसंपुण्णसोमतरवयणचंदा, भुयंगभोगोवमाणसुसिलिद्वसंधी, दीहघणु-रहजुगबाहू, पसत्थलक्खणकिय-पल्लवसुकुमालपाणिकमला, सिरिवच्छुत्थइय-विउलसिरिणिलयवच्छेसा, सुरेसरायुधसरिच्छम्भज्जा, पयाहिणावत्तनाहिकोसा, मयपत्थिवत्थिमिय-संठियकडी, करिकरसरिसिधिर-वट्ठितोरू, सामुग्ग-णिभुग्गजाणुदेशा, गुहसिर-हरिणजंघा, समाहिय-सम-सुपइट्ठिय-तणु-तंबनखचलणा, ससलिलजलदरवगहिर-सव-णसुहरिभित्तवाणी। (पृ. ७७)

धर्मकथा होते हुए भी काव्यत्व की गरिमा से ओतप्रोत है। किन्तु, इस महत्कथा के रचयिता आचार्य संघदासगणी भागवतकार के समान कृष्ण के चरित्र की उद्भावना की दृष्टि से नितान्त रूढ़िवादी नहीं हैं। संस्कृत-साहित्य के धार्मिक युग में भावों और चरित्रों या आचारगत संस्कारों में जहाँ अतिलौकिकता और रूढ़िजन्य परतन्त्रता परिलक्षित होती है, वहाँ प्राकृत-साहित्य का धार्मिक युग अधिकांशतः लौकिक है और चारित्रिक उद्भावना के क्षेत्र में सर्वथा रूढ़िमुक्त और सातिशय स्वतन्त्र भी है।

भागवतकार के नन्द श्रीकृष्ण की परम शक्ति से विस्मित हैं और यशोदा उनके अलौकिक चरित्र से चकित। किन्तु, 'वसुदेवहिण्डी' के कृष्ण इतने अधिक पुरुषार्थी और प्रभावशाली महामानव हैं कि द्वारवती जाने के लिए, समुद्र ने उन्हें रास्ता दिया था और कुबेर ने उनके लिए द्वारवती नगरी का निर्माण किया था, साथ ही रत्न की वर्षा भी की थी।^१ अर्थात्, कृष्ण की मानवी शक्ति के समक्ष दैवी शक्ति नतमस्तक थी। 'श्रीमद्भागवत' की तरह अतिरंजित अलौकिक पारमेश्वरी शक्ति की सर्वोपरिता के सिद्धान्त से 'वसुदेवहिण्डी' के कृष्ण आक्रान्त नहीं हैं, इसीलिए संघदासगणी कृष्ण के मानवी भावों के विकास को अधिक दूर तक दिखाने में सफल हुए हैं। ब्राह्मण-परम्परा स्वभावतः ब्रह्मवादी है, इसलिए उसमें मानवीय पुरुषार्थ की अपेक्षा ईश्वरीय शक्ति के चमत्कार या भाग्यवाद को अधिक प्राश्रय दिया गया है और श्रमण-परम्परा स्वभावतः श्रम (पुरुषार्थ)-वादी है, इसलिए वह मानवी शक्ति या पुरुषार्थ की अवधारणा के प्रति अत्यधिक आस्थावान् है। अतएव, 'वसुदेवहिण्डी' के कृष्ण परात्पर परब्रह्म न होकर मानवीय जीवन और समाज की साधारण मान्यताओं के अनुयायी हैं। फलतः, कृष्ण के प्रति हम अलौकिक आतंक से ग्रस्त होने की अपेक्षा सामाजिक पुरुषार्थ की प्रेरणा से स्फूर्त हो उठते हैं।

'वसुदेवहिण्डी' के कृष्ण में दिव्य और मानुष भाव का अद्भुत समन्वय हुआ है। इसलिए, वह अवतारी या दिव्यपुरुष न होते हुए भी असाधारण कर्मशक्ति से सम्पन्न उत्तम प्रकृति के पुरुष हैं। वह अलग से ईश्वरत्व की प्राप्ति के लिए आग्रहशील नहीं हैं, अपितु उनमें स्वतः ईश्वरीय गुण विकसित हैं। वैष्णव-साधना के क्षेत्र में कृष्ण के भाव और चरित्र दोनों ही अलौकिक हैं, इसलिए वैष्णव भक्ति-काव्यों में कृष्ण महान् नायक के रूप में ब्रह्म हैं और गोपियाँ उनकी नायिकाओं के रूप में जीवात्माएँ हैं। किन्तु, श्रमण-परम्परा की महार्थ कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' के कृष्ण केवल महान् नायक हैं और वह अपनी पत्नियों और पुत्रों एवं वृद्ध कुलकरों और मित्र राजाओं के प्रति बराबर दाक्षिण्य भाव से काम लेते हैं। वह हिंसा या युद्ध को भी व्यर्थ समझते हैं। प्रतिरक्षात्मक आक्रमण भी तभी करते हैं, जब उसके लिए उन्हें विवश होना पड़ता है। पद्मावती, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती और रुक्मिणी को पत्नी के रूप में अधिगत करते समय विवशतावश ही उन्हें युद्ध और हत्या का सहारा लेना पड़ा है। अपने पुत्र शाम्ब की धृष्टता और उद्वेगता पर खीझकर ही उन्होंने उसे निर्वासन-दण्ड दिया। इतना ही नहीं, उनका यक्षाधिष्ठित आयुधरत्न सुदर्शन चक्र भी शत्रु का ही संहार करता है, किन्तु अपने स्वामी के बन्धुओं का तो वह रक्षक है : "आउहरेयणाणं एस धम्मो—'सत्तू विवाडेयव्वो, बंधू रक्खियव्वो सामिणोत्ति (पीठिका : पृ. ९६)।"

१. "समुद्देण किर से मग्गो दिण्णो, धणदेण णयरी णिमिमा बारवती, रयणवरिसं च वुड्ढं।" (पृ. ८०)

‘वसुदेवहिण्डी’ में कृष्णचरित्र के साथ न तो धार्मिक अलौकिक भावना का सामंजस्य हो सका है, न ही कृष्ण को साधारण नायक के रूप में स्वीकारा जा सका है। ऐसी स्थिति में, ‘वसुदेवहिण्डी’ के कृष्ण पुरुषोत्तम युद्धवीर दक्षिणनायक^१ हैं। इस आदर्श-भावना के परिणामस्वरूप ही संघदासगणी ने कृष्ण के चरित्र में रूप-परिवर्तन आदि अलौकिक शक्ति की सम्भावना के साथ ही उनकी सामन्तवादी प्रवृत्ति को स्वीकृति दी और उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व में लोक-कल्याण की भावना का भी विनियोग किया। इस प्रकार, ‘वसुदेवहिण्डी’ का कृष्णकथा-प्रसंग प्रायः सभी प्रकार से औचित्य की सीमा में ही परिबद्ध है।

संघदासगणी हृदय से तीर्थकरों या शलाकापुरुषों का भक्त होते हुए भी वैचारिक दृष्टि से समकालीन सामाजिक प्रवृत्ति और प्रगति से पूर्ण परिचित हैं। उनका कथाकार भक्ति-भावना के आवेश में कभी नहीं आता। इसीलिए, उन्होंने कृष्ण की कथा को राधा^२ के प्रेमाश्रु के अतिरेचन से सर्वथा मुक्त रखा है। वह यथार्थवादी कथाकार हैं। वह न तो भक्ति और ज्ञान के तर्कों में उलझे हैं, न ही उन्होंने प्रेम-ग्रन्थि को सुलझाने में अपनी प्रतिभा का व्यय करना उचित समझा है। वह कभी-कभी रतिचतुर कृष्ण की कामकथा में इतने अधिक तल्लीन हो गये हैं कि उस सीमा पर उन्होंने धार्मिक भावना को भी विस्मृत कर दिया है। फलतः, कृष्ण रीतिकालीन साधारण नायक हो गये हैं और उनकी मानुषी और विद्याधरी पत्नियाँ साधारण नायिकाएँ। इस सन्दर्भ में पुत्रप्राप्ति के लिए कृष्ण के साथ समागम-सुख को चाहनेवाली सत्यभामा और जाम्बवती की अहमहमिका या प्रतिस्पर्धा का पूरा-का-पूरा प्रसंग कृष्ण के लीला-वैचित्र्य की दृष्टि से पर्याप्त रुचिकर है। यद्यपि, ‘वसुदेवहिण्डी’ के कृष्ण लीलापुरुष नहीं हैं, अपितु वह सत्यभामा, रुक्मिणी और जाम्बवती—इन तीनों पत्नियों (शेष पद्मावती आदि पत्नियाँ गौण हैं, गिनती के लिए हैं, कृष्ण के जीवन में उनकी कोई भी विशिष्ट भूमिका नहीं है) के सपत्नीत्व की पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष तथा उपालम्भजनित क्रोध एवं एक-दूसरे को नीचा दिखाने की अप्रीतिकर भावनाओं की द्वन्द्वल स्थिति के सातत्य को झेलते हैं, साथ ही प्रद्युम्न (रुक्मिणी-प्रसूत), शाम्ब (जाम्बवती-प्रसूत) और भानु (सत्यभामा-प्रसूत)—इन तीनों पुत्रों के बीच पारस्परिक क्रीड़ाविनोद के क्रम में उत्पन्न अवांछित कटुता, उद्वण्डता और धृष्टता का धर्षण भी स्वयं उठाते हैं।

सबसे बड़ी चिन्ता की बात तो उनके लिए यह है कि ये तीनों पुत्र अपनी माताओं के हृदय में प्रतिक्षण प्रज्वलित सपत्नीत्व का प्रतिशोध भी परस्पर एक-दूसरे की माताओं से लेने में नहीं हिचकते। प्रद्युम्न और शाम्ब तो सत्यभामा और उसके पुत्र भानु के पीछे हाथ धोकर पड़े रहते हैं। और, सत्यभामा को ऊबकर कृष्ण से कहना पड़ता है कि “शाम्ब आपके दुलार के कारण मेरे बेटे को जीने नहीं देगा, इसलिए उसे मना कीजिए। मैं तो अपने बेटों का खिलौना हो गई हूँ। अब मेरा जीना व्यर्थ है।” यह कहकर वह अपनी जीभ खींचकर आत्महत्या के लिए उद्यत हो जाती है। तब, कृष्ण उसे बड़ी कठिनाई से रोकते हैं और आश्चस्त करते हैं : “कल मैं उस अविनीत को दण्ड दूँगा, तुम विश्वास करो।”^३

१. एष त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः। (‘साहित्यदर्पण’, ३.३५)

२. सुन्यं च सच्चभामाए, विष्णुविओ कण्ठो रोवंतीए—“संबो तुज्जन्वएण वल्लाभवाएण ण देइ मे दारयस्स जीविउं, निवारिज्जउ जइ तीरइ।... अहं पुत्तंभंडाण खेल्लावणिया संवुत्ता, किं मे जीविणं ?” ति जीहं पक्कड्डिया। कर्हिच निवारिया य, भणिया यं कण्ठेण—“देवि ! अविणीयस्स कल्लं काहं निग्गहं, वीसत्था भवसुत्ति।” (पीठिका : पृ. १०७-८)

एक बार स्वयं कृष्ण ने ही सत्यभामा को बुरी तरह छकाया। प्रतिमा जैसी सुन्दरी रुक्मिणी को श्रीदेवी की प्रतिमा-पीठिका पर मूर्तिवत् निश्चल खड़ी कराके उसके प्रति सत्यभामा से, धोखे में डालकर, प्रणाम निवेदित करवाया। कृष्ण के ही छल-छद्म के कारण, एक बार शाम्ब ने अपनी माता जाम्बवती को सामान्य शालिन समझकर रिरसावश उसका हाथ पकड़ लिया। फलतः जाम्बवती और शाम्ब बुरी तरह छके! एक बार प्रद्युम्न ने तो अपने दादा वसुदेव का रूप बदलकर अपनी दादियों को छकाया। यहाँतक कि वह अपने पिता और माता कृष्ण एवं रुक्मिणी को भी छकाने से बाज नहीं आया है। सत्यभामा के द्वारा प्रेषित नाइयों और यादववृद्धों की तो उसने दुर्दशा ही कर दी। इस प्रकार, संघदासगणी ने कृष्ण को अपने परिवार के बीच ही एक अजीब गोरखधन्य में उलझा हुआ प्रदर्शित किया है। कहना न होगा कि संघदासगणी द्वारा चित्रित कृष्णचरित्र लोकजीवन की मनोरंजकता और रुचिवैचित्र्य की दृष्टि से अन्यत्र दुर्लभ है। यह कृष्णचरित्र कृष्ण की दैवी सबलता और मानुषी दुर्बलता के अद्भुत सामंजस्य का अनोखा उदाहरण प्रस्तुत करता है।

‘वसुदेवहिण्डी’ के कृष्ण न तो अर्जुनमोहविनाशिनी गीता के वक्ता श्रीकृष्ण हैं, न ही पाण्डवों के सखा तथा सलाहकार महाराज कृष्ण। वह तो, डॉ. याकोबी के शब्दों में “अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए चाहे जिस किसी उपाय का अवलम्बन कर लेते थे।” इसके अतिरिक्त, वह ‘गोपीवल्लभ’ या ‘गोपगोपीजनप्रिय’ भी नहीं हैं, जिनकी बाललीला और गोपीक्रीड़ा के वर्णनों से महाभारत के साथ ही विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, हरिवंश, पद्मपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण एवं ब्रह्म, वायु, अग्नि, लिंग और देवीभागवतपुराण मुखरित हैं। किन्तु, संघदासगणी के कृष्ण का व्यक्तित्व ही कुछ दूसरा है। कृष्ण के व्यक्तित्व की विभिन्नता और विचित्रता के सम्बन्ध में डॉ. विण्टरनिज ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि “पाण्डवों के सखा और सलाहकार, भगवद्गीता के सिद्धान्त के प्रचारक, बाल्यकाल में दैत्यों का वध करनेवाले वीर, गोपियों के वल्लभ तथा भगवान् विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण एक ही व्यक्ति थे, इस बात पर विश्वास होना बहुत ही कठिन है।”^१ संघदासगणी ने भी कृष्ण के, वैष्णव-परम्परा में चित्रित व्यक्तित्व की विपुलता पर विश्वास न करके उन्हें एक स्वतन्त्र लोकविश्वसनीय व्यक्तित्व प्रदान किया है। कृष्ण की बाललीला का जहाँतक प्रश्न है, संघदासगणी ने भी अपने ग्रन्थ के अन्त में उसका आभास-मात्र दिया है। उन्होंने केवल इतना ही लिखा है कि कृष्ण के विनाश के लिए कंस ने कृष्णयक्ष के अतिरिक्त, गधे, घोड़े और बैल को भेजा। वे गोकुलवासियों को पीड़ा पहुँचाने लगे। लेकिन, कृष्ण ने उनका विनाश कर दिया।^२ हालाँकि कृष्ण ने ऐसा साहस और शौर्य तब दिखलाया है, जब वह प्रायः युवा हो गये हैं। इससे स्पष्ट है कि महाभारत या विभिन्न पुराणों या फिर जैनवाङ्मय के ग्रन्थों में वर्णित श्रीकृष्णचरित्र में, तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से न्यूनाधिक अन्तर कहीं-कहीं भले हो, परन्तु कथा का मुख्य विषय और केन्द्रीय भाव सर्वत्र एक ही है।

संघदासगणी के कृष्णचरित्र पर महाभारत के कृष्णचरित्र का प्रभाव परिलक्षित होता है। महाभारत में कृष्ण का राजनीतिज्ञ के रूप में बहुत ही सम्मानपूर्वक वर्णन किया गया है। वास्तविक

१. विशेष द्रष्टव्य : ‘भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा’ : पं. बलदेव उपाध्याय, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ. ३२

२. “परिवर्द्ध वयं। ततो कंसेण विनासकए कण्हं आसंकमाणेण य कसिणयक्खा आदिद्धा पत्ता नंदगोवगोडे। विसज्जिया खर-तुरय-वसहा। ते य जणं पीलेति। कण्हेण य विणासिया।” (देवकीलम्प : पृ. ३६९-७०)

स्थिति यह थी कि कृष्ण के वंश में, यादवों में भिन्न-भिन्न कुल थे, जिनमें अन्धकवृष्णि प्रधान थे। अन्धकवृष्णि-कुल में गणतान्त्रिक शासन-प्रणाली प्रचलित थी, जिसके प्रधान पद पर राजा उग्रसेन प्रतिष्ठित थे। इस गणसंघ के सदस्य समय-समय आपस में लड़ा करते थे और उनके बीच सौहार्द स्थापित कर राज्य चलाना निश्चय ही गुरुतर कार्य था। कृष्ण ने अपनी विषम राजनीतिक स्थिति का वर्णन करते हुए नारद से कहा है : "नाम तो मेरा ईश्वर है, किन्तु अपने जाति-भाइयों की नौकरी करता हूँ। भोग तो आधा ही मिलता है, परन्तु गालियाँ खूब मिलती हैं। जैसे आग जलाने की इच्छा से लोग अरणिष्ठा का मन्थन करते हैं, वैसे ही ये सम्बन्धी गालियों से मेरा हृदय मथा करते हैं। मेरे जेठे भाई बलराम अपने बल के अभिमान में चूर रहते हैं। मेरे ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न को रूप के मद की बेहोशी रहती है। फलतः, मैं एकदम असहाय हूँ। मेरे भक्त आहुक और अकूर सदा लड़ा करते हैं। इनके मारे मेरी नाकों में दम है। मेरी दशा दो जुआड़ी पुत्रों की उस माता के समान है, जो चाहती है कि मेरे दोनों जुआड़ी पुत्रों में एक तो जीते, परन्तु दूसरा हारे नहीं।"^१

कहने का तात्पर्य है कि कृष्ण अहर्निश अपने ज्ञातियों के परस्पर कलह के सुलझाने में ही व्यस्त दिखाई पड़ते हैं। संघदासगणी ने इसी आधार पर कृष्ण के जीवन के केवल प्रौढ़काल का ही चित्र उपस्थित किया है। फिर भी, कृष्ण के उत्तम व्यक्तित्व का महान् उत्कर्ष यही है कि वह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में यशस्वी तथा प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। इसलिए, कृष्णकथा के विकास और विस्तार की परम्परा में महाभारत और पुराणों के साथ-साथ 'वसुदेवहिण्डी' का समानान्तर अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

ज्ञातव्य है कि 'वसुदेवहिण्डी' की कृष्णकथा का व्यापक प्रभाव परवर्ती जैन कृष्णकथाओं पर भी विविध रूपों में पड़ा है, जिसकी विकास-सीमा अपभ्रंश-कवि पुष्पदन्त (१०वीं शती) के 'महापुराण' तक फैली हुई दिखाई पड़ती है।

(ख) रामकथा

कृष्णकथा की भाँति रामकथा भी भारतीय कथा-साहित्य की रत्नमाला का मणिमेरु है। रामकथा की व्यापकता न केवल समग्र भारतीय गरिमा को आयत करती है, अपितु वह विश्वजनीन प्रतिष्ठा की अर्जन-क्षमता से भी सम्पन्न है। कृष्णकथा, अपनी व्यापक ख्याति के बावजूद, रामकथा की भाँति लोकजीवन का अन्तरंग नहीं हो पाई। रामकथा की ततोऽधिक व्यापकता का कारण उसकी प्रबन्धात्मकता है, जबकि कृष्णकथा प्रायः आख्यान-शैली में ही निबद्ध हुई। इसीलिए, लोकजीवन में कृष्णलीला से अधिक रामलीला ही अत्यसात् हुई। कृष्णकथा को स्थानीय महत्त्व अधिक मिला, जबकि रामकथा सीमान्तभेदिनी बन गई। गुजराती-साहित्य में रामकथा की अपेक्षा कृष्णकथा अधिक समादृत हुई। कृष्णकथा से सम्बद्ध महाभारत का अंश गुजरात के व्यावहारिक और कौतूहलप्रिय जनजीवन की आत्मा को जितना आकृष्ट कर सका है, उतना रामायण नहीं। कृष्णकाव्य में प्रबन्धात्मकता के अभाव के कारण ही कृष्णप्रेमी गुजराती साहित्यकारों ने रामकथा-सम्बन्धी साहित्य भी आख्यान-शैली में लिखा।^२ जैनों ने यदि रामकथा को प्रबन्धात्मक रूप दिया, तो बौद्धों ने उसे जातक या आख्यान-शैली में उपस्थित किया।

१. द्रष्टव्य : 'महाभारत', शान्तिपर्व, अ. ८१, श्लोक ५-११

२. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास' : रेबरेण्ड डॉ. फादर कामिल बुल्के, पृ. २२६

‘वसुदेवहिण्डी’ के लेखक आचार्य संघदासगणी रामकथा की महत्ता से परिचित थे और वसुदेव के पर्यटन का वृत्तान्त लिख रहे थे, ऐसी स्थिति में राम जैसे महान् पर्यटनकारी की कथा ‘रामायण’ (राम + अयन = राम का परिभ्रमण) का अपने युगान्तरकारी कथाग्रन्थ में समावेश कैसे नहीं करते ? बाह्य-परम्परा के, रामायण, महाभारत और बृहत्कथाश्लोकसंग्रह—इन तीनों भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि महाकाव्यों की कथासामग्री को आत्मसात् करके संघदासगणी ने अपनी कथाकृति को भारतीय सांस्कृतिक गरिमा का संवहन करनेवाला बृहद् ग्रन्थ बना दिया है।

प्रचलित रामकथा को आत्मसात् करके संघदासगणी ने अपने कथाग्रन्थ में जिस रूप में रखा है, वह सामान्य पाठकों के लिए नातिपरिचित होते हुए भी मूल कथातत्त्व की दृष्टि से सुपरिचित ही है। रामकथा की व्यापकता के बावजूद, संघदासगणी कृष्णकथा के प्रति जितना अधिक रीझे हैं, रामकथा में उतना अधिक नहीं रमे हैं। उनके द्वारा उपन्यस्त रामायण (रामकथा) का सार यहाँ प्रस्तुत है :

राजा मेघनाद के तंशज राजा बली के वंश में सहस्रग्रीव राजा हुआ। उसकी वंश-परम्परा में क्रमशः पंचशतग्रीव, शतग्रीव, पंचाशद्ग्रीव, विंशतिग्रीव और दशग्रीव राजा हुए। दशग्रीव ही रामण (रावण) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजा विंशतिग्रीव के चार पत्नियाँ थीं : देववर्णनी, वक्रा, कैकेयी और पुष्पकूटा। देववर्णनी के चार पुत्र थे : सोम, यम, वरुण और वैश्रवण। कैकेयी के तीन पुत्र थे : रामण, कुम्भकर्ण और विभीषण तथा दो पुत्रियाँ थीं : त्रिजटा और शूर्पणखी। वक्रा के महोदर, महार्थ, महापाश और खर ये चार पुत्र थे और आशालिका नाम की पुत्री थी। इसी प्रकार, पुष्पकूटा के तीन पुत्र थे : त्रिसार, द्विसार और विद्युज्जिह्व और एक पुत्री थी कुम्भिनासा।

देववर्णनी के पुत्र सोम, यम आदि के विरोध के कारण, रामण अपने परिवार के साथ लंकाद्वीप में जाकर बस गया। उसने वहाँ रहकर प्रज्ञप्तिविद्या सिद्ध की। फलतः, विद्याधर-सामन्त उसके वशवर्ती हो गये। रामण के प्रशासनिक प्रभाव से लंकापुरी में स्थिरता आ गई। स्वयं विद्याधर लंकावासियों की सेवा करते थे।

एक दिन मय नाम का विद्याधर अपनी पुत्री मन्दोदरी को साथ लेकर रामण की सेवा में उपस्थित हुआ। मन्दोदरी के विषय में लक्षणवेत्ताओं ने बताया था कि इसकी पहली सन्तान कुलक्षय का कारण बनेगी। फिर भी, अतिशय रूपवती होने के कारण मन्दोदरी का परित्याग रामण ने नहीं किया और उससे विवाह करके उसे अपनी पटरानी बना लिया।

इधर, अयोध्यानगरी में राजा दशरथ रहते थे। उनके तीन रानियाँ थीं : कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा। कौशल्या के पुत्र राम हुए, सुमित्रा के लक्ष्मण और कैकेयी के भरत और शत्रुघ्न। ये चारों पुत्र देवता के समान रूपवान् थे।

रामण की प्रधान महिषी मन्दोदरी ने जब प्रथम पुत्री का प्रसव किया, तब कुलक्षय की आशंका से, उसने उसे रत्न से भरी मंजूषा में रखकर मन्त्रियों से कहीं छोड़ आने का आदेश दिया। उस समय मिथिला के राजा जनक की उद्यानभूमि को जोत-कोड़कर उसकी सजावट की जा रही थी। मन्दोदरी के मन्त्रियों ने जनक की उद्यानभूमि में पहुँचकर तिरस्करिणी विद्या द्वारा अपने को प्रच्छन्न रखकर रत्नमंजूषा को हल की नौक के आगे रख दिया। उद्यानभूमि की जुताई के समय हल की नौक के आगे कन्या मिलने की सूचना राजा जनक को दी गई। जनक ने समझा,

धारिणी देवी ने कृपा करके उन्हें यह पुत्री प्रदान की है। वह बालिका (सीता) अपने रूप से देवताओं को भी मुग्ध कर लेती थी। जनक ने सीता के स्वयंवर का आदेश दिया। स्वयंवर में आये अनेक राजकुमारों में सीता ने राम का वरण किया। दशरथ के शेष तीनों पुत्रों के लिए भी जनक ने लड़कियाँ दीं और विपुल धन-सम्पत्ति भी प्रदान की। सबको लेकर राजा दशरथ अपने नगर लौट गये।

स्वजनोपचार में विचक्षण कैकेयी की सेवा से सन्तुष्ट होकर राजा दशरथ ने उससे वर माँगने को कहा। “वरदान सुरक्षित रहे। काम पड़ने पर माँग लूँगी।” कैकेयी बोली। राजा दशरथ का सीमावर्ती राजा के साथ विरोध चल रहा था। उसने युद्ध में राजा दशरथ को बन्दी बना लिया। दशरथ के मन्त्रियों ने प्राणरक्षा के निमित्त जब कैकेयी से भाग जाने को कहा, तब उस क्षत्रियाणी का स्वाभिमान उत्तेजित हो उठा। वह अस्त्र-शस्त्र से सज्जित हुई, तने हुए छत्रवाले रथ पर सवार होकर प्रतिपक्षी राजा से भयंकर युद्ध करने लगी और पीठ दिखातेवाले अपने सैनिकों को मृत्युदण्ड देने का आदेश उसने प्रचारित किया। अन्त में, उसने शत्रु राजा को परास्त कर राजा दशरथ को बन्धन से मुक्त करा लिया। तब दशरथ ने कैकेयी से कहा : “देवी ! तुमने श्रेष्ठ पुरुष की भाँति काम कर दिखाया है, वर माँगो।” कैकेयी बोली : “मेरे लिए यह दूसरा वरदान भी सुरक्षित रहे। काम पड़ने पर माँग लूँगी।”

अनेक वर्ष बीत गये। राजा दशरथ के सभी पुत्र पूर्णतः युवा हो गये और वह स्वयं वृद्धावस्था को प्राप्त हुए। फलतः, उन्होंने राम के अभिषेक का आदेश दिया। अभिषेक की तैयारी पूरी हो गई। इधर, कुबड़ी मन्थरा के बहकाने पर रानी कैकेयी कुपित होकर कोषघर में चली गई। राजाने जब बहुत अनुनय-विनय किया, और वर माँगने की बात कही, तब कैकेयी परितोष से प्रफुल्ल होकर बोली : “एक वर से भरत राजा बने और दूसरे वर से राम बारह वर्षों तक वन में रहे।” इसपर दशरथ ने कैकेयी को अनेक प्रकार से मीठा-कड़वा सुनाया और राम को बुलवाकर अश्रुपूरित कण्ठ से कहा : “पूर्वप्रदत्त वर के अनुसार कैकेयी भरत के लिए राज्य और तुम्हारे लिए वनवास माँगती है। मेरा वरदान झूठा न हो, वैसा ही करो।” राम वीरवेश धारण कर लक्ष्मण और सीता के साथ, जंगल चले गये और दशरथ उनके वियोग में विलाप करते हुए मर गये।

अपने मामा के देश से वापस आने पर भरत को जब वस्तुस्थिति का पता चला, तब उन्होंने अपनी माँ को बहुत कोसा और बन्धु-बान्धव-सहित राम के पास गये। भरत से पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर राम ने दिवंगत पिता के लिए प्रेतकृत्य सम्पन्न किया। उसके बाद अश्रुपूर्णमुखी भरत की माँ कैकेयी ने राम से कहा : “तुमने पिता की बात पूरी कर दी। अब मुझे कलंक के पंक से उद्धार करने के लिए कुलक्रमागत राज्यलक्ष्मी और भाइयों का परिपालन करो।” किन्तु, राम ने कैकेयी से इस प्रकार के अनुबन्धन में न डालने का आग्रह किया। अन्त में, राम की खड़ाऊँ लेकर सपरिवार भरत अयोध्या लौट आये।

सीता और लक्ष्मण के साथ राम तपस्वियों के आश्रम देखते और दक्षिण दिशा का अवलोकन करते हुए विजन स्थान में पहुँचे। राम के रूप को देखकर काममोहित हो रामण की बहन शूर्पणखी वहाँ आई। राम ने उसका तिरस्कार किया और सीता ने भर्त्सना के स्वर में कहा : “न चाहनेवाले परपुरुष की बलात् प्रार्थना करके मर्यादा का अतिक्रमण करती हो !”

सीता की बात पर रुष्ट होकर शूर्पणखी अपने भयंकर रूप में आकर सीता को डराने लगी। तब, राम ने स्त्री को अवध्य मानकर केवल उसके नाक-कान काट लिये। इसपर शूर्पणखी ने अपने बेटे खर और दूषण को राम-लक्ष्मण के विरुद्ध भड़काया। शस्त्रबल और बाहुबल से लड़ते हुए राम-लक्ष्मण ने खर-दूषण को मार डाला। पुत्रवध से क्रुद्ध शूर्पणखी रामण के पास पहुँची। शूर्पणखी से सीता के रूप की चर्चा सुनकर रामण कामोन्मथित हो उठा। उसके निर्देशानुसार उसका मन्त्री मारीच रत्नमय मृग बनकर राम के आश्रम के इर्दगिर्द घूमने लगा। सीता ने उस मृग को अपना खिलौना बनाना चाहा। सीता के आग्रह पर राम धनुष-बाण हाथ में लेकर मृग के पीछे चल पड़े। बहुत दूर निकल जाने पर राम ने मृग के मायावी रूप को पहचान लिया और उसपर बाण फेंका। मारीच मरते समय कर्कश स्वर में चिल्ला उठा : "लक्ष्मण, मुझे बचाओ!" वह आवाज सुनकर सीता ने राम को बचाने के लिए लक्ष्मण को भेजा। लक्ष्मण राम के रास्ते से दौड़ चले।

इसी बीच मौका देखकर रामण, विना किसी विघ्न-बाधा की परवाह किये, सीता को चुरा ले गया। रास्ते में विद्याधर जटायु से रामण की जोरदार टक्कर हुई। लेकिन, उसे पराजित करके रामण किष्किन्धिपर्वत के ऊपर से होते हुए लंका पहुँच गया। जटायु से प्राप्त सूचना के अनुसार, राम-लक्ष्मण किष्किन्धिपर्वत पर पहुँचे। वहाँ वाली और सुग्रीव दो विद्याधर भाई परिवार-सहित रहते थे। उनमें स्त्री के निमित्त आपसी विरोध था। बाली से पराजित सुग्रीव ने अपने मन्त्री हनुक (हनुमान्) और जाम्बवान् के साथ जिनमन्दिर में शरण ली थी।

राम-लक्ष्मण को देखकर सुग्रीव डर गया और भागने को उद्यत हुआ। तब हनुमान् ने उसे समझा-बुझाकर स्थिर किया और वह सौम्य रूप धारण कर राम-लक्ष्मण के पास गया। हनुमान् के पूछने पर लक्ष्मण ने अपना परिचय देते हुए कहा : "हम इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न राजा दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण हैं। पिता की आज्ञा से जंगल आये हैं। मृग से मोहित हम जब अपने आश्रम से बाहर थे, तभी मेरी भाभी सीता का अपहरण हो गया। उनको ही ढूँढ़ने के लिए हम दोनों भाई घूम रहे हैं।" इसके बाद हनुमान् ने बाली और सुग्रीव का परिचय दिया। अन्त में राम की स्वीकृति से अग्नि का साक्ष्य लेकर, सुग्रीव के साथ रामकी मैत्री स्थापित हुई।

राम के बल की परीक्षा लेकर सुग्रीव ने उन्हें बाली के वध के निमित्त नियुक्त किया। बाली और सुग्रीव दोनों भाई समान रूपवाले और स्वर्णमालाओं से विभूषित थे। दोनों में फर्क न जानते हुए राम ने बाण फेंका, इसलिए उसका कोई प्रभाव न पड़ा। बाली ने सुग्रीव को पुनः पराजित कर दिया। तब सुग्रीव की विशिष्ट पहचान के लिए राम ने उसे वनमाला पहना दी। उसके बाद राम ने एक ही बाण से बाली को मार डाला और सुग्रीव को राजा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

उसके बाद, हनुमान् ने सीता का समाचार प्राप्त करने के लिए प्रस्थान किया। उन्होंने लौटकर राम के लिए सीता की प्रियवस्तु (शिरोभूषण) अर्पित की। राम के आदेश से सुग्रीव ने भरत के पास विद्याधरों को भेजा। भरत ने चतुरंग सेना भेजी। राम सुग्रीव के साथ विद्याधरों से सुरक्षित समुद्रतट पर पहुँचे। इस पार और उस पार स्थित पर्वत के बीच समुद्र में पुल बाँधा गया। राम की सेना लंका के पास उतरी और समुद्रतट पर सेना ने पड़ाव डाला। अपने सैन्य-शिविर के साथ युद्धोद्यत रामण ने राम के सैन्य-शिविर की कोई परवाह नहीं की।

विभीषण ने विनम्रतापूर्वक रामण से निवेदन किया : “जो कौर निगला जा सकता है, निगलने के बाद पच जाता है और पच जाने पर हितकर होता है, वही कौर ग्रहण करना चाहिए। हितबुद्धि भाव से आप इस विषय पर विचार करके राम की पत्नी को लौटा दें। ताकि, परिजन का कल्याण हो।” विभीषण के इस प्रकार समझाने पर भी रामण ने जब नहीं सुना, तब विभीषण चार मन्त्रियों के साथ राम से जा मिला। सुग्रीव की अनुमति से ‘विनीत’ समझकर राम ने विभीषण का सम्मान किया। विभीषण के परिवार में जो विद्याधर थे, वे भी राम की सेना में आ मिले।

इसके बाद राम और रामण के पक्ष के विद्याधर और मानव-सैनिकों में युद्ध प्रारम्भ हुआ। विद्याधरों के आ मिलने से राम की सेना दिनानुदिन बढ़ती गई और रामण की सेना के प्रधान सैनिकों की संख्या क्षीण होती चली गई। फिर भी, युद्ध-विजय की आकांक्षा रखनेवाला रामण (राम की) समस्त विद्याओं को नष्ट करनेवाली ज्वालवती विद्या की साधना करने लगा।

राम के योद्धाओं को जब यह सूचना मिली कि रामण विद्या की साधना कर रहा है, तब वे लंका में घुसकर नगर को रौंदने लगे। इसपर रामण क्रुद्ध हो उठा और जिरह-बख्तर से लैस होकर सैन्य-परिवार-सहित रथ पर निकला और राम के साथ घोर युद्ध करने के बाद लक्ष्मण से भिड़ गया। जब रामण के सारे अस्त्र-शस्त्र छिन्न-भिन्न हो गये, तब लक्ष्मण के वध के लिए उसने अपना चक्र फेंका। किन्तु, लक्ष्मण की महानुभावता के कारण वह चक्र लक्ष्मण के वक्षःस्थल पर सीधे न गिरकर आड़े गिरा। लक्ष्मण ने उसी चक्र को बड़ी निपुणता से रामण के वध के लिए वापस छोड़ा। देवता द्वारा अधिष्ठित वह चक्र रामण के कुण्डल-मुकुट-सहित सिर को काटकर लक्ष्मण के पास लौट आया। आकाश में उपस्थित ऋषिवादी (व्यन्तर देवजाति) तथा भूतवादी (विशिष्ट देवजाति) देवों ने पुष्पवृष्टि की, साथ ही आकाश में घोषणा की : “भारतवर्ष में लक्ष्मण आठवें वासुदेव के रूप में उपस्थित हुए हैं।”

युद्ध समाप्त होने पर, विभीषण सीता को ले आया और विद्याधरवृद्धों से परिवृत उनकी विदाई की तैयारी की। विभीषण की स्वीकृति से रामण के शव का संस्कार कर दिया गया। उसके बाद राम और लक्ष्मण ने अरिजयनगर में विभीषण का तथा विद्याधर-श्रेणी के नगर में सुग्रीव का राज्याभिषेक किया। तत्पश्चात्, परिवार-सहित विभीषण और सुग्रीव सीता-सहित राम को विमान से अयोध्यानगरी ले आये। वहाँ भरत और शत्रुघ्न एवं अयोध्या के नागरिकों और मन्त्रियों ने मिलकर राम की पूजा की और उन्हें राजा के पद पर अभिषिक्त किया। विभीषण और सुग्रीव के साथ मिलकर राम ने अपने महाप्रभाव से अर्द्धभरत क्षेत्र का विजय किया।

इस प्रकार, संधदासराणी ने रामायण को बहुत ही संक्षिप्त रूप में उपन्यस्त किया है, जिसमें अनेक सारे पूर्वापर-प्रसंग जिज्ञासित और असमाहित रह गये हैं। थोड़ा-बहुत पार्थक्य के साथ मूलकथा ब्राह्मण-परम्परा की रामकथा का अनुसरण करती है। संधदासराणी की यथोक्त रामायण में रावण की प्रसिद्ध संज्ञा ‘रामण’ है, जिसका अपर पर्याय ‘दशग्रीव’ भी है। यह विद्याधर-कुल के राजा सहस्रग्रीव के वंशज राजा विंशतिग्रीव का पुत्र है। इसकी माता का नाम कैकेयी है। राजा सहस्रग्रीव राजा मेघनाद की वंश-परम्परा में उत्पन्न राजा बली का वंशज है। मेघनाद को वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित अरिजयपुर नगर का राजा बताया गया है। कुम्भकर्ण और विभीषण इसके दो भाई और त्रिजटा तथा शूर्पणखी नाम की दो बहनें हैं। विंशतिग्रीव की चार

पत्नियों—देववर्णनी, वक्रा, कैकेयी और पुष्पकूटा—में प्रथम देववर्णनी के पुत्रों—सोम, यम, वरुण और वैश्रवण नाम के सौतेले भाइयों—से विरोध के कारण रामण परिवार-सहित लंकाद्वीप में जाकर बस गया है। इसे प्रज्ञप्तिविद्या की सिद्धि प्राप्त है।

सीता को रामण की पत्नी, मय विद्याधर की पुत्री मन्दोदरी की प्रथम पुत्री के रूप में उपस्थित किया गया है। लक्ष्मणवेत्ताओं ने मन्दोदरी की प्रथम पुत्री को कुलक्षय का कारण बताया था, इसलिए उसने अपने मन्त्रियों को, अपनी प्रथम पुत्री को, जन्म लेते ही, रत्नमंजूषा में रखकर कहीं छोड़ आने का आदेश दिया। मन्त्रियों ने तिरस्करिणी विद्या से अपने को प्रच्छन्न रखकर मिथिला के राजा जनक की उद्यानभूमि की सजावट के समय, हल की नोक के आगे डाल दिया था। जमीन जोतते समय जब वह कन्या प्राप्त हुई, तब राजा जनक ने उसे धरती की अधिष्ठात्री देवी धारणी से प्राप्त प्रसाद के रूप में ग्रहण किया। उसी बालिका का नाम 'सीता' रखा गया। यद्यपि, संघदासगणी ने यहाँ 'सीता' शब्द की व्युत्पत्ति पर कोई विचार नहीं किया है। रामण अपनी इसी पुत्री सीता के रूप से काममोहित होकर इसका अपहरण करता है।

ब्राह्मण-परम्परा की रामकथा में लक्ष्मण और शत्रुघ्न को राजा दशरथ की तीसरी रानी सुमित्रा से उत्पन्न बताया गया है, किन्तु संघदासगणी ने भरत और शत्रुघ्न को कैकेयी के पुत्र कहा है। बाली और सुग्रीव विद्याधरकुल के सदस्य हैं और हनुमान् तथा जाम्बवान् सुग्रीव के मन्त्री बताये गये हैं। लंका-विजय तथा रावण के शव-संस्कार के बाद राम ने विभीषण को अरिजयपुर में राज्याभिषिक्त किया है और सुग्रीव को विद्याधर-श्रेणी के नगर में। राम की अपेक्षा लक्ष्मण के हाथों रावण का वध दिखाया गया है। रावण शिव की उपासना की जगह ज्वालवती विद्या की साधना करता है। रावण से युद्ध के समय भरत ने राम की सहायता के लिए चतुरंग सेना भेजी थी। इस प्रकार के थोड़े-बहुत अन्तर के साथ शेष कथा ब्राह्मण-परम्परावत् ही है।

बौद्ध रामकथा से जैन रामकथा सर्वथा भिन्न है। प्राचीन बौद्ध साहित्य में रामकथा-सम्बन्धी तीन जातक ('दशरथजातक', 'अनामकजातक' और 'दशरथकथानम्') सुरक्षित हैं, जिनमें बुद्ध राम का रूप धारण करते हैं। इन तीनों जातकों में 'दशरथजातक' सर्वाधिक प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण है। जातक ऐसी कथा है, जिसमें भगवान् बुद्ध अपने असंख्य पूर्वजन्मों में मनुष्य अथवा पशु के रूप में आते हैं। बुद्ध ने जैतवन में 'दशरथजातक' की कथा कही थी। किसी गृहस्थ का पिता मर गया था। फलतः, वह शोकाभिभूत होकर अपना सारा लौकिक कर्तव्य छोड़ बैठा। यह जानकर बुद्ध ने उससे कहा कि प्राचीन काल के पण्डित अपने पिता की मृत्यु पर तनिक भी शोक नहीं करते थे। इसके बाद दशरथ की मृत्यु पर राम के धैर्य का उदाहरण देने के लिए बुद्ध ने उस गृहस्थ को दशरथजातक सुनाया।^१ संक्षिप्त रूप में कथा इस प्रकार है :

राजा दशरथ वाराणसी में धर्मपूर्वक राज्य करते थे। इनकी ज्येष्ठा महिषी के तीन सन्तानें थीं : दो पुत्र (रामपण्डित और लक्ष्मण) और एक पुत्री (सीता देवी)। इस महिषी के मरने

१. महाभारत के रामोपाख्यान से यह प्रसंग तुलनीय है। द्रौपदी के हरण तथा उसको पुनः प्राप्त करने के बाद युधिष्ठिर अपने दुर्भाग्य पर शोक प्रकट करते हैं। इसपर मार्कण्डेयजी राम का उदाहरण देकर युधिष्ठिर को धैर्य बंधाने का प्रयत्न करते हैं। युधिष्ठिर के रामचरित सुनने की इच्छा प्रकट करने पर मार्कण्डेयजी रामोपाख्यान सुनाते हैं। यह रामोपाख्यान वाल्मीकि-कृत रामायण का स्वतन्त्र संक्षिप्त रूप है।

के बाद राजा ने एक दूसरी पत्नी को ज्येष्ठा महिषी के पद पर अभिषिक्त किया। उसके भी एक पुत्र (भरतकुमार) उत्पन्न हुआ। राजा ने उसी अवसर पर उस दूसरी रानी को एक वर दिया। जब भरत की अवस्था सात वर्ष की थी, रानी ने अपने पुत्र के लिए राज्य माँगा। राजा ने स्पष्ट इनकार कर दिया, लेकिन जब रानी बार-बार आग्रह-अनुरोध करने लगी, तब राजा ने उसके षड्यन्त्रों के भय से अपने पूर्वमहिषी से उत्पन्न दोनों पुत्रों (राम और लक्ष्मण) को बुलाकर कहा : “यहाँ रहने से तुम्हारे अनर्थ होने की सम्भावना है। इसलिए किसी अन्य राज्य या वन में जाकर रहो और मेरे मरने के बाद लौटकर राज्य पर अधिकार प्राप्त करो।”

ज्योतिषियों ने राजा की मृत्यु की अवधि बारह वर्ष के बाद बताई। तब दशरथ ने अपने दोनों पुत्रों से कहा : “हे पुत्रों ! बारह वर्ष के बाद आकर राजच्छत्र को उठाना।” पिता की वन्दना करके दोनों भाई चल पड़े, तो सीता देवी भी पिता से विदा लेकर उनके साथ हो ली। तीनों के साथ बहुत-से अन्य लोग भी चल दिये। किन्तु, उनको लौटाकर दोनों हिमालय पहुँच गये और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगे।

नौ वर्ष के बाद दशरथ पुत्रशोक के कारण मर जाते हैं। दूसरी रानी अपने पुत्र भरत को राजा बनाने में असफल होती है, क्योंकि अमात्य और स्वयं भरत भी इसका विरोध करते रहे। भरत चतुरंगिणी सेना लेकर राम को लौटा लाने के उद्देश्य से वन को चले जाते हैं।

भरत के बहुत अनुरोध करने पर भी रामपण्डित यह कहकर वन में रहने का निश्चय प्रकट करते हैं : “मेरे पिता ने मुझे बारह वर्ष की अवधि के अन्त में राज्य करने का आदेश दिया है। इस समय लौटकर मैं उनकी आज्ञा का पालन न कर सकूँगा। मैं तीन वर्ष के बाद लौट आऊँगा।”

जब भरत भी शासनाधिकार अस्वीकार करते हैं, तब रामपण्डित अपनी तृण की पादुकाएँ देकर कहते हैं : “मेरे वापस आने तक ये पादुकाएँ ही शासन करेंगी।” पादुकाओं को लेकर भरत लक्ष्मण, सीता और अन्य लोगों के साथ वाराणसी लौट आते हैं। अमात्य, राम की पादुकाओं के समक्ष राजकाज का संचालन करते हैं। अन्याय होते ही पादुकाएँ एक दूसरे पर आघात करती हैं और ठीक निर्णय होने पर शान्त रहती हैं।

तीन वर्ष व्यतीत होने पर रामपण्डित लौटकर अपनी बहन सीता से विवाह करते हैं और सोलह हजार वर्ष तक धर्मपूर्वक राज्य करने के बाद वह स्वर्ग चले जाते हैं।

अन्त में, बुद्ध ने कथा का सामंजस्य बैठते हुए कहा : उस समय महाराज शुद्धोदन महाराज दशरथ थे। महामाया (बुद्ध की माता) राम की माता, यशोधरा (राहुल की माता) सीता, आनन्द भरत थे और मैं रामपण्डित था।

श्रमण-धर्म्यरा के अन्तर्गत, परवर्ती काल में, बौद्धों में रामकथा की लोकप्रियता दिनानुदिन क्षीण होती चली गई। परन्तु, जैनों में रामकथा की प्रियता अपभ्रंश-काल तक लौकिक और साहित्यिक स्तर पर, समान भाव से समादृत बनी रही। इसीलिए, जैन कथा-वाङ्मय में रामकथा-साहित्य अत्यन्त विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है। बौद्ध, भगवान् बुद्ध को राम का पुनरवतार मानते हैं। जैनधर्म में भी रामकथा के पात्रों को अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। राम या पद्म, लक्ष्मण और रावण न केवल जैनमार्गानुयायी हैं, अपितु ये त्रिषष्टिशलाकापुरुषों में परिगणित हैं। ये शलाकापुरुष हैं : २४ तीर्थंकर (अपने-अपने समय के जैनधर्म के प्रवर्तक एवं उपदेशक),

१२ चक्रवर्ती (भारत के छह खण्डों के सम्राट), ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव। उनकी जीवनियाँ जैनसाहित्य में महाभारत, रामायण तथा पुराणों का स्थान ग्रहण करती हैं। राम, लक्ष्मण और रावण क्रमशः आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के रूप में मान्य हैं। वासुदेव अपने अग्रज बलदेव के साथ मिलकर प्रतिवासुदेव से युद्ध करते हैं और अन्त में प्रतिवासुदेव का वध करते हैं। इसके बाद वह दिग्विजय करके भारत के तीन खण्डों के अधिकारी होते हैं और इस प्रकार अर्द्धभरतेश्वर या अर्द्धचक्रवर्ती बन जाते हैं। यद्यपि वासुदेव मृत्यु के बाद, प्रतिवासुदेव-वध के कारण, नरकगामी होते हैं। नौ वासुदेवों में लक्ष्मण और कृष्ण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'वसुदेवहिण्डी' में अष्टम वासुदेव लक्ष्मण के द्वारा ही रामण (रावण) का वध दरसाया गया है। प्रतिवासुदेव स्वभावतः वासुदेव के विरोधी के रूप में प्रदर्शित हुए हैं।

जैन रामकथा की अन्यतम उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें वानर और राक्षस दोनों विद्याधर-वंश की भिन्न-भिन्न शाखाएँ हैं। प्राचीन बौद्धगाथाओं (द्र. जातक : ४३६ तथा ५१०) तथा महाभारत के भी कई स्थलों पर विद्याधर का अर्थ है : आकाशचारी कामरूप ऐन्द्रजालिक। रामायण, महाभारत तथा बृहत्कथामूलक ग्रन्थों, जैसे 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', 'वसुदेव-हिण्डी', 'बृहत्कथामंजरी' तथा 'कथासरित्सागर' में विद्याधर अलौकिक शक्तियों से विभूषित होने के कारण देवयोनियों के अन्तर्गत रखे गये हैं। 'वसुदेवहिण्डी' ही नहीं, अपितु समग्र जैनकथा-साहित्य में विद्याधरों की भूयशः और भूरिशः चर्चा हुई है। हालाँकि, रामायण और महाभारत में विद्याधर किसी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते नहीं दिखाई पड़ते। विभिन्न चमत्कारी विद्याओं के धारण करने के कारण ही इनकी संज्ञा 'विद्याधर' हुई। वानरवंशी विद्याधरों की ध्वजाओं, महलों तथा छतों के शिखर पर वानरों के चिह्न विद्यमान थे, इसीलिए वे वानर कहलाये।

'बृहत्कथा' में, पात्र-पात्रियों के रूप में विद्याधरों के चित्रण का रहस्य 'कथासरित्सागर' (१.१.४७-४८) में उद्घाटित हुआ है। पार्वती की जिज्ञासा के क्रम में शिव ने कहा कि 'देवि ! देवता सदा सुखी रहते हैं और मनुष्य नित्य दुःखी। इसलिए, उनके चरित्र उत्कृष्ट रूप से मनोहर नहीं होते, इसलिए मैं दिव्य और मानुष दोनों प्रकृतियों से मिश्रित विद्याधरों का चरित्र तुम्हें सुनाता हूँ।' इस प्रकार, मूल प्रवक्ता शिव के निर्देशानुसार, गुणाढ्य ने अपनी 'बृहत्कथा' में कथारस के परिपाक की दृष्टि से सुख-दुःखमिश्रित प्रकृतिवाले विद्याधरों को ही पात्र-पात्री के रूप में चित्रित किया है। 'वसुदेवहिण्डी' के पात्रों के विद्याधरीकरण में, निश्चय ही, 'बृहत्कथा' की परम्परा का प्रभाव अनुवर्तित हुआ है; क्योंकि संघदासगणी के पात्र-पात्रियों की प्रकृति सुख-दुःखमिश्रित है। फिर भी, लक्ष्य करने की बात यह है कि संघदासगणी ने न केवल मिश्रित प्रकृति के विद्याधरों का चित्रण किया है, अपितु मनुष्य और विद्याधरों (अर्द्धदेवों) के जीवन का समीकरण उपन्यस्त किया है।

जैन रामकथा प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में उपनिबद्ध हुई है। कालक्रमानुसार, प्राकृत में विमलसूरि (ई. के प्रथम शतक से तृतीय-चतुर्थ शतक) का 'पउमचरिय', संस्कृत में रविषेण (सप्तम शतक) का 'पद्यचरित' तथा अपभ्रंश में स्वयम्भू कवि (अष्टम शतक) का 'पउमचरिउ' या 'स्वयम्भूरामायण' जैन रामकथा के विशाल धार्मिक काव्यग्रन्थ हैं। सम्प्रदाय-भेद की दृष्टि से जैनो के श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में केवल विमलसूरि की रामकथा का समादर है, परन्तु

दिगम्बर-सम्प्रदाय में विमलसूरि के साथ ही गुणभद्र (नवम शतक से पूर्व) की रामकथा (उत्तरपुराण : महापुराण का उत्तरार्द्ध) भी प्रचलित है, फिर भी विमलसूरि की परम्परा अधिक आदृत है। कहना न होगा कि जैनों में इसवी प्रथम शती से आधुनिककाल तक रामकथा की अविच्छिन्न धारा प्रवहमाण रही है।^१ आधुनिक काल में आचार्यश्री तुलसी ने 'सीता की अग्निपरीक्षा' लिखकर रामकथा की प्रासंगिकता को अद्यतनता प्रदान की; किन्तु साम्प्रदायिक दिग्भ्रम के कारण वह पठनीय कृति अपेक्षित लोकप्रियता से वंचित हो रह गई !

विमलसूरि की रामकथा 'पउमचरिय' को यदि द्वितीय-चतुर्थ शती की कृति माना जाय, तब तो यह 'वसुदेवहिण्डी' की समकालीन सिद्ध होगी और यदि इसे इसवी प्रथम शती का माना जाय, तो कथावस्तु की तुलनात्मकता के आधार पर उन दोनों के परस्पर पूर्वापर प्रभाव को विवेचना का विषय बनाया जा सकता है। यद्यपि, 'वसुदेवहिण्डी' की रामकथा (रामायण) अत्यन्त संक्षिप्त है और ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार महाभारत में, कृष्ण की अतिशय विस्तृत कथा के बीच रामकथा को क्षेपक के रूप में प्रासंगिकता-मात्र के लिए जोड़ दिया गया है, उसी प्रकार कथाचतुर संघदासगणी ने विद्याधरवंशीय मेघनाद और बली राजाओं के वर्णन के क्रम में, बड़ी कुशलता से, भारतीय वाङ्मय में आर्यसंस्कृति की प्रथम कथा के रूप में व्यापक प्रतिष्ठा-प्राप्त रामकथा को, समास-शैली में सही, प्रासंगिकता के लिए जोड़ दिया है।

'पउमचरिय' में स्वयं उसके कर्ता के कथनानुसार सात अधिकार^२ हैं : स्थिति, वंशोत्पत्ति, प्रस्थान, रण, लवङ्कुश (लवणाङ्कुश)-उत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव। ये सातों अधिकार ११८ उद्देश्यों या समुद्देश्यों में विभक्त हैं। इस प्रकार, जैनसाहित्य में महापुरुषों के चरित्र-लेखन में नवीन काव्यशैली के उपन्यासक विमलसूरि ने जहाँ विशाल रामकथा लिखी है, वहाँ संघदासगणी ने लगभग दो सौ पंक्तियों में ही रामकथा को समाहित कर दिया है। यद्यपि, 'वसुदेवहिण्डी' की रामकथा पर विमलसूरि का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। संघदासगणी ने इसे सर्वथा स्वतन्त्र रूप से उपन्यस्त किया है, इसलिए इसकी अपनी मौलिकता है। 'वसुदेवहिण्डी' की पूरी मूलकथा मगध (राजगृह) के राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) की पृच्छा के उत्तर में स्वयं भगवान् महावीर द्वारा कही गई है, जबकि 'पउमचरिय' की रामकथा, विपुलाचल के मनोरम शिखर पर भगवान् महावीर के सान्निध्य में, उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर द्वारा राजा श्रेणिक के लिए कही गई है।^३

'पउमचरिय' के अनुसार, राक्षसराज रत्नश्रवा तथा उसकी पत्नी केकसी के चार सन्तानें हैं : रावण, कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण। किन्तु, 'वसुदेवहिण्डी' के अनुसार, राजा विशतिग्रीव की चार पत्नियों में तीसरी कैकेयी से रामण (रावण) कुम्भकर्ण और विभीषण—ये तीन पुत्र तथा

१. जैन रामकथा के उद्भव और विकास-विस्तार के सांगोपांग विवेचनात्मक अध्ययन के लिए रेबेरेण्ड डॉ. फादर कामिल बुल्के-लिखित एकमात्र आधिकारिक एवं पार्यान्तिक कृति 'रामकथा (उत्पत्ति और विकास)' द्रष्टव्य; पृ. ६०-७१।

२. ठिइवंससमुप्पत्ती पत्थण्णरणं लवङ्कुसुप्पत्ती।

निव्वाणमणेयमवा सत्त पुराणेत्य अहिगारा ॥ (१. ३२)

३. वीरस्स पवरठाणं विउल्लगिरीमत्थए मणभिरामे।

तह इंदभूइकहियं सेणियरणस्स नीसेसं ॥—पउमचरिय : १. ३४

त्रिजटा एवं शूर्पणखी या शूर्पणखा—ये दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। 'पउमचरिय' में 'दशानन' नाम की सार्थकता के सन्दर्भ में कहा गया है कि जब रत्नश्रवा ने पहले-पहल अपने पुत्र रावण को देखा, तब शिशु अलौकिक माला पहने हुए था। रत्नों की किरणों से जगमगाती इस माला में पिता को शिशु रावण के और नौ मुख प्रतिबिम्बित दिखाई पड़े, इसीलिए इसका नाम दशमुख (दशानन या दशग्रीव) रख दिया गया, किन्तु 'वसुदेवहिण्डी' में वंशक्रमागत रूप में विंशतिग्रीव का पुत्र दशग्रीव है। 'पउमचरिय' में वर्णन है कि अपने मौसरे भाई का वैभव देखकर रावण आदि भाई तप करने जाते हैं और विद्याएँ प्राप्त करते हैं; किन्तु 'वसुदेवहिण्डी' में अपने सौतेले भाइयों—सोम, यम आदि के विरोध के कारण रामण के सपरिवार लंकाद्वीप में जा बसने की कथा चित्रित है।

'पउमचरिय' में रावण मन्दोदरी तथा अन्य छह हजार कन्याओं से विवाह करता है, किन्तु 'वसुदेवहिण्डी' के रामण की सेवा में मय नाम का विद्याधर अपनी पुत्री मन्दोदरी को स्वयं लाकर अर्पित कर देता है। 'पउमचरिय' में, खरदूषण रावण का भाई न होकर किसी अन्य विद्याधर-वंश का राजकुमार है और रावण की बहन चन्द्रनखा से विवाह करता है। किन्तु, 'वसुदेवहिण्डी' में खरदूषण शूर्पणखा का पुत्र है, राम ने स्त्री को अवध्य मानकर शूर्पणखा के केवल नाक-कान काटकर उसे छोड़ दिया है और युद्ध के लिए आये खरदूषण का, राम और लक्ष्मण मिलकर वध कर देते हैं। अन्त में, राम के स्थान पर अष्टम वासुदेव लक्ष्मण ने रामण के द्वारा प्रक्षिप्त चक्र को ही बड़ी निपुणता से वापस भेजकर कुण्डल मुकुट-सहित रामण के सिर को छिन्न-भिन्न कर देते हैं और रामण का वह चक्र पुनः लक्ष्मण के पास लौट आता है। 'पउमचरिय' में भी लक्ष्मण ही रावण का वध करते हैं। इस स्थल पर विमलसूरि और संघदासगणी—दोनों ने जैन परम्परा के अनुसार ही अपना वर्णनाग्रह व्यक्त किया है। परम्परा की बाध्यता दोनों के लिए मान्य हुई है।

विमलसूरि ने सीता को जनक की पुत्री के रूप में चित्रित किया है, किन्तु संघदासगणी ने उसे मय विद्याधर की पुत्री मन्दोदरी की परित्याज्य पुत्री के रूप में उपस्थित किया है। विमलसूरि ने दशरथ की क्रमशः चार रानियों—कौशल्या या अपराजिता, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा की चर्चा की है, जबकि संघदासगणी ने ब्राह्मण-परम्परा के अनुसार कौशल्या, कैकेयी और सुमित्रा इन तीन रानियों की। 'पउमचरिय' के अनुसार, शत्रुघ्न सुमित्रा के पुत्र हैं और 'वसुदेवहिण्डी' के अनुसार, भरत और शत्रुघ्न कैकेयी के पुत्र हैं। 'पउमचरिय' में सीता की अग्निपरीक्षा का वर्णन किया गया है। अग्निपरीक्षा में सीता सफल हुई है और एक आर्यिका के निकट जैनदीक्षा लेकर स्वर्ग की अधिकारिणी बनी है। किन्तु, 'वसुदेवहिण्डी' में इस प्रसंग की कोई चर्चा नहीं है। इस प्रकार के अनेक प्रसंग 'पउमचरिय' में उपलब्ध हैं, जिनका संघदासगणी की रामकथा से कोई तारतम्य नहीं मिलता। उपर्युक्त कतिपय प्रसंगों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि 'पउमचरिय' के कर्ता विमलसूरि ने रामकथा का जो चित्रण किया है, उसके बहुत सारे अंश 'वाल्मीकिरामायण' से नितान्त भिन्न हैं, किन्तु संघदासगणी द्वारा चित्रित रामकथा विमलसूरि की रामकथा से सर्वथा भिन्न है। इसलिए, 'पउमचरिय' को यदि 'वसुदेवहिण्डी' का पूर्ववर्ती माना जाय, तो भी उसका इसपर कोई भी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता।

यों, 'पउमचरिय' का रचनाकाल निर्विवाद नहीं है। विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टिकोणों से इसका काल^१ ईसापूर्व द्वितीय शतक से ईसा के चतुर्थ-पंचम शतक तक निर्धारित किया गया है। इसलिए, 'पउमचरिय' 'वसुदेवहिण्डी' का पूर्ववर्ती, समकालीन तथा परवर्ती भी सिद्ध होता है। जो भी हो, किन्तु इतना निश्चित है कि संघदासगणी 'पउमचरिय' की कथा से अवगत नहीं थे, इसलिए उनकी 'रामायण' पूर्व की परम्परा से जुड़ी रहने पर भी उसपर 'पउमचरिय' का कोई प्रभाव नहीं है।

निष्कर्ष:

वस्तुतः, संघदासगणी की रामकथा अधिकांशतः ब्राह्मण-परम्परा की कथा से साम्य रखती है। कथाकार ने चौदहवें मदनवेगालम्ब के कथाप्रसंग में वैताह्य की दक्षिण श्रेणी के विद्याधर मेघनाद की पुत्री पद्मश्री की कथा के विस्तार के क्रम में अपनी रामकथा ('रामायण') को एक अवान्तर कथा के रूप में प्रस्तुत किया है, जिसका पूर्वापरप्रसंग मूलकथा (पद्मश्री की कथा) से जुड़ी हुई है और जो लोकाख्यान से अधिक मूल्य-महत्त्व नहीं रखती।

ऐसी स्थिति में, यह बात स्पष्टतः उभरकर सामने आती है कि 'वसुदेवहिण्डी' 'पउमचरिय' से पूर्ववर्ती रचना है। 'वसुदेवहिण्डी' के रचनाकाल के पूर्व बौद्ध जातकों और 'वाल्मीकिरामायण' तथा 'महाभारत' की रामकथा की परम्परा अवश्य विद्यमान थी और संघदासगणी ने इसी परम्परा की रामकथा को आत्मसात् करके इसे अपनी कतिपय मौलिक और नवीन उद्भावनाओं के साथ, श्रमणवादी दृष्टि से, पुरुषार्थवादी सामाजिक अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में, उपस्थापित किया है।

'पउमचरिय' उस समय रचा गया, जिस समय जैन श्रमणों में ईश्वरवाद या अवतारवाद के खण्डन का आग्रह पर्याप्त बद्धमूल हो चुका था। इसलिए, रामावतार की अलौकिकता को लौकिक पृष्ठभूमि देने के निमित्त विमलसूरि ने बौद्धों और ब्राह्मणों की रामकथा को, साथ ही उसके सम्पूर्ण मिथकों और लोकविश्वासों को भी नवकल्पता प्रदान की और पूर्ववर्ती सभी रामायणों को झूठ, तर्क एवं विश्वास के विरुद्ध तथा पण्डितों के लिए अश्रद्धेय घोषित कर दिया।^२

संघदासगणी के समय जैन श्रमणों में साम्प्रदायिक कदाग्रह कदाचित् ततोऽधिक बद्धमूल नहीं हुआ था, इसीलिए उन्होंने अपनी महत्कृति 'वसुदेवहिण्डी' में ब्राह्मण-परम्परा को अनेकान्तवादी दृष्टि के अनुकूल नीर-क्षीरन्याय से आत्मसात् किया है। इसीलिए, उसमें परवर्ती काल के आक्रमणात्मक संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की अपेक्षा बहुलांशतः सहानुभूतिपूर्ण समता-मूलक उदार भावना के दिव्य दर्शन होते हैं।

१. 'पउमचरिय' के काल-निर्धारण के प्रसंग के लिए प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद्, वाराणसी-५ (सन् १९६२ ई.) द्वारा प्रकाशित संस्करण का भूमिका-भाग (पृ. ८-१५) द्रष्टव्य है।

२. तह विवरीयपयत्थं कहीहि रामायणं रइयं।

अलियं पि सव्वमेयं उववत्तिविरुद्धपच्चयमुणेहिं ॥

न य सदहन्ति पुरिसा हवन्ति जे पण्डिया लोए ।—पउमचरिय : २. ११६-१७

(ग) रूढ या मिथक कथाएँ

संस्कृत के विभिन्न साहित्यशास्त्रियों ने कथा की संरचना का आदर्श अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है, जिनमें दण्डी, रुद्रट, व्यास, हेमचन्द्र और विश्वनाथ के आदर्शों का समन्वय करने पर संघदासगणी की 'वसुदेवहिण्डी', विद्या की दृष्टि से 'कथा' की संज्ञा आयत्त करती है। दण्डी के अनुसार, कथा कविकल्पित होती है। इसमें वक्ता स्वयं नायक अथवा अन्य रहता है। कथा में आर्या छन्दों की उपस्थिति रहती है। इसमें कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ आदि का वर्णन होता है।^१ रुद्रट का कथन है कि कथा की रचना गद्य में होती है। कथा के आरम्भ में देवों तथा गुरुजनों की छन्दोबद्ध स्तुति होती है। कथा की रचना का सामान्य उद्देश्य कन्या की प्राप्ति होता है।^२ व्यासकृत 'अग्निपुराण' के मत से, मुख्य कथा की अवतारणा के लिए भूमिका-रूप में दूसरी कथा की योजना की जाती है और परिच्छेद का विभाग नहीं होता, किन्तु कहीं-कहीं पर लम्बक होते हैं।^३ आचार्य हेमचन्द्र के आदर्शानुसार, सभी भाषाओं में गद्य अथवा पद्य में धीरप्रशान्त नायकवाली रचना कथा होती है।^४ विश्वनाथ का कथादर्श है कि कथा में सरस वस्तु गद्य में वर्णित होती है। कहीं-कहीं आर्या छन्द और कहीं वक्त्र तथा अपवक्त्र छन्द होते हैं। प्रारम्भ में, पद्यमय नमस्कार एवं खल आदि का वृत्त-कीर्तन रहता है।^५

उक्त कथादर्शों का समन्वय 'वसुदेवहिण्डी' में स्पष्टतया समाविष्ट है। प्रागैतिहासिक पृष्ठभूमि पर कवि-कल्पित एवं प्राकृत-गद्य में रचित इस महत्कथाकृति के प्रारम्भ में आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ तथा पंचपरमेष्ठी का पद्यमय नमस्कार है। बीच-बीच में प्राकृत की गाथाएँ (संस्कृत आर्या के स्थान में) भी हैं। इसके, मूलतः धीरप्रशान्त नायक वसुदेव ने स्वयं आत्मकथा प्रस्तुत की है। लम्बक (लम्भ)-बद्ध प्रस्तुत कथा का उद्देश्य कन्याप्राप्ति भी स्पष्ट ही है, जिसके लिए कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ आदि के प्रसंग भी सहज ही और अनिवार्यतः आ गये हैं। 'कथा' में कन्याहरण, विप्रलम्भ तथा अभ्युदय जैसे विषयों के समावेश का समर्थन भामह ने भी किया है।^६ कथा के आदर्श में यह भी बताया गया है कि कथा नायक या अन्य व्यक्ति द्वारा भी कही जा सकती है। 'वसुदेवहिण्डी' में वसुदेव ने अपनी हिण्डन-कथा स्वयं कही है और उसके पूर्व के अधिकारों—कथोत्पत्ति (धम्मिल्लहिण्डी), पीठिका, मुख आदि की कथाएँ स्वयं कवि ने

१. 'काव्यादर्श', १. २३

२. रुद्रट : 'काव्यालंकार' (पण्डित नमिसाधु की टिप्पणी-सहित), १६. २०

३. मुख्यार्थस्यावताराय भवेद्यत्र कथान्तरम् ।

परिच्छेदो न यत्र स्याद् भवेद्वा लम्बकः क्वचित् ॥ —अग्निपुराण, ३३६. १५-१६

४. धीरशान्तनायका गद्येन पद्येन वा सर्वभाषा कथा । . . यावत् सर्वभाषा काचित् संस्कृतेन काचित् प्राकृतेन काचिन्मागध्या काचिच्छूरसेन्या काचित् पैशाच्या काचिदपभ्रंशेन बध्यते सा कथा ।

—काव्यानुशासन (सन् १९३४ई.), पृ. ४०६

५. कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ।

क्वचिदत्र भवेदार्था क्वचिद् अपवक्त्रके ।

आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेवृत्तकीर्तनम् ॥ —साहित्यदर्पण, ६. ३३२-३३३

६. कन्याहरणसङ्ग्रामविप्रलम्भोदयान्विता । —काव्यालंकार

या अन्य व्यक्ति ने कही है। इस महत्कथा में मुख्यकथा के साथ अवान्तर कथाओं की अन्विति का भी बड़ा निपुण निर्वह हुआ है। इस प्रकार, साहित्यशास्त्रियों द्वारा निर्धारित कथादर्श की प्रतिज्ञा (थीसिस) पूरी करनेवाली कथाकृतियों में 'वसुदेवहिण्डी' स्वतः एक सन्दर्भ-ग्रन्थ है।

क्रमबद्ध कथा या आत्मकथा होने के कारण 'वसुदेवहिण्डी' कथा की विशिष्ट विधा की दृष्टि से आख्यायिका-कोटि में परिगणनीय है। क्योंकि, दण्डी और विश्वनाथ ने 'आख्यायिका' एवं 'कथा' में कोई मौलिक भेद नहीं माना है। कथा की ही दूसरी संज्ञा आख्यायिका है। इसलिए, आख्यायिका कथावत् ही होती है।^१ आख्यायिका में ही आख्यान और उपाख्यान भी सिमट आते हैं। अतएव, आख्यान या उपाख्यान भी कथा के ही समान्तर पर्याय के बोधक हैं। (शेषाष्टादशखण्डप्रत्ययः— काव्यादर्श, १.२८) इस प्रकार, प्राक्तन काल में कथा के भाषा-माध्यम, शैली, वर्ण्य विषय आदि में कतिपय आदर्श और मान्यताएँ रूढ़ हो गई थीं, इसीलिए प्राचीन कथा को 'रूढ़कथा' की संज्ञा प्राप्त हुई।

जिस प्रकार सुसंस्कृत प्राचीन कवियों द्वारा ग्रहण की गई परम्परागत मान्यताएँ या रूढ़ियाँ, 'कविसमय'^२ या 'काव्यरूढि' के नाम से चर्चित होती हैं, उसी प्रकार कथाकारों द्वारा स्वीकृत परम्परागत वर्णन की मान्यताएँ 'कथारूढि' या 'कथानक-रूढि' के नाम से घोषित हैं। रूढ़ कथाओं में कथानक-रूढ़ियों की सहज स्थिति होती है। कथानक-रूढ़ियाँ लोककथा के अभिन्न-अनिवार्य अंग हैं और चूँकि रूढ़कथाएँ समग्र रूप से लोककथा या लोकाख्यान ही होती हैं, इसलिए लोककथा की सम्पूर्ण विशेषताएँ इनमें विद्यमान रहती हैं। लोकाख्यान होने के कारण ही 'कथा' में प्रेम, रोमांस और मिथक के सहज संगम की स्थिति निरन्तर बनी रहती है। इसलिए, लोकाख्यान प्रेमाख्यान के पर्याय होते हैं। और इस प्रकार, लोककथा, अपने उक्त विशिष्ट गुण-धर्म के कारण प्रेमकथा या प्रेमाख्यान, रोमांस-कथा, रूढ़कथा, मिथक कथा आदि विभिन्न कथाविधाओं का मनोहर समाहार हुआ करती है। कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' से न केवल प्राकृत में गद्यबद्ध कथा की रचना-परम्परा का सूत्रपात हुआ, अपितु कथा की उक्त समस्त विधाओं का एकत्र निदर्शन भी सम्भव हुआ।

संघटसगणी की 'वसुदेवहिण्डी' अभिजात कथाओं के गुणधर्म की प्रचुरता के कारण उत्तम लोकाख्यानों में मूर्द्धन्य है। 'वसुदेवहिण्डी' की कथा मूलतः कामकथा है, जो अन्त में धर्मकथा के रूप में परिणत होती है। प्राचीन रूढ़कथा होने के बावजूद इसकी अद्यतनता या चिरनवीनता इस अर्थ में है कि इसमें आधुनिक युगवेतना या युगीन बोध का प्रतिनिधित्व करनेवाले विश्वासों, प्रथाओं, परम्पराओं तथा सामाजिक अवधारणाओं का सम्पूर्ण विनियोग विद्यमान है, जो समाज के शिक्षित, अल्पशिक्षित और अशिक्षित जनों के बीच आज भी प्रचलित हैं। मनोरंजन, अनिश्चयता (सस्पेन्स) और रोमांस को एक साथ उपस्थित करनेवाली 'वसुदेवहिण्डी' की रूढ़कथा की परिधि में बौद्धिक चमत्कार, लोकानुश्रुतियाँ, पुराणगाथाएँ, अन्धविश्वास, लोकविश्वास, उत्सव, रीतियाँ,

१. (क) तत् कथाख्यायिकेत्येव जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता ।—काव्यादर्श, १. २३

(ख) आख्यायिका कथावत् स्यात् ।—साहित्यदर्पण, ६. ३३४

अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायात् यथार्थमुपनिबध्नान्ति कवयः स कविसमयः ।

—राजशेखर : 'काव्यमीमांसा', (बि. रा. परिषद्-संस्करण, द्वितीय), पृ. १९६

कला-कौशल, लोकनृत्य-नाट्य आदि समस्त तत्त्व सम्मिलित हैं। डॉ. सत्येन्द्र ने इसी प्रकार की कथा को लोकवार्ता कहा है।^१ रूढकथा में लोककथा के तत्त्वों का अन्तर्मिश्रण सहजभाव से रहता है, इसलिए 'वसुदेवहिण्डी' की मूलकथा और उपकथाओं में लोकमानस की सहज अभिव्यक्ति हुई है, जिसमें लोकसंस्कृति के वास्तविक प्रतिबिम्ब का बड़ा ही तीव्र उद्भावन हुआ है। 'वसुदेवहिण्डी' की रूढकथाओं की सर्वोपरि विशेषता यह है कि इनमें लोकचेतना की अन्तरंगता लोकमानस से गृहीत होकर भी इनका ऊपरी ढाँचा साहित्य की शास्त्रीय मार्मिकताओं पर आश्रित है। इनमें सार्वभौम स्तर पर समान रूढ़ियों और अभिप्रायों का उपयोग हुआ है, फलतः लौकिक सौन्दर्यबोध, लोकचिन्ता की एकरूपता और सर्वसाधारण अभिव्यञ्जना-प्रणाली की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' की कथाएँ विश्व की लोककथाओं से भावसाम्य रखती हैं।

रूढकथा और कथारूढ़ियाँ :

रूढकथाओं में बार-बार व्यवहृत होनेवाली एक जैसी घटनाओं अथवा एक जैसे विचारों को कथारूढ़ि या कथानक-रूढ़ि की संज्ञा दी जाती है। कथानक के निर्माण और विकास में योग देनेवाली, भूयोभूयता के साथ आवृत्त, उक्त प्रकार की घटनाओं या विचारों की सुदीर्घ परम्परा होती है। उदाहरणार्थ, 'वसुदेवहिण्डी' के कथानायक वसुदेव को विद्याधरियों द्वारा आकाश में उड़ा ले जाना, अन्तरिक्ष में ही वसुदेव को पति बनाने के लिए विद्याधरियों को आपस में लड़ना और वसुदेव का उनके चंगुल से छूटकर कभी किसी बड़ी झील में या कभी किसी पुआल की टाल पर आ गिरना एक घटना है। किन्तु, इस प्रकार की, कथानायक को या किसी राजकुमार को परियों द्वारा आकाश में उड़ा ले जाने की घटना 'वसुदेवहिण्डी' की ही नहीं है, अपितु, यह 'बृहत्कथा' की परम्परा से गृहीत है और यही घटना परम्परा-क्रम से अनेक कथाओं में, विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त, एकाधिक बार प्रयुक्त होकर लोकप्रिय कथानक-रूढ़ि में परिणत हो जाती है।

'वसुदेवहिण्डी' ऐतिहासिक-पौराणिक व्यक्ति के नाम से सम्बद्ध गद्यमय कथाकृति है। परन्तु, अन्यान्य ऐतिहासिक-पौराणिक कथाओं की भाँति मूलतः इसमें भी ऐतिहासिक, पौराणिक और निजन्धरी कथाओं का मिश्रण हो गया है। कथानक-रूढ़ि का विवेचन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि "ऐतिहासिक चरित का लेखक सम्भावनाओं पर अधिक बल देता है। सम्भावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देश के साहित्य में कथानक की गति और घुमाव देने के लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकाल से व्यवहृत होते आये हैं, जो बहुत थोड़ी दूर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक-रूढ़ि में बदल गये हैं।"^२

इस सन्दर्भ में, संघदासगणी द्वारा भी ऐतिहासिक-पौराणिक और निजन्धरी कथाओं में विशेष पार्थक्य न दिखलाकर केवल सम्भावनाओं पर बल दिया गया है। द्वारवती के दशार्ह वसुदेव का विवाह अंगदेश की श्रेष्ठिपालिता कलावती कन्या गन्धर्वदत्ता से हुआ था या नहीं, इसकी ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्यात्मकता के प्रति कथाकार आग्रह नहीं रखता, वह तो वैसा होने की सम्भावना को मूल्य देता है। वसुदेव जैसे भ्रमणशील अभिजात शलाकापुरुष से, या फिर 'बृहत्कथाश्लोक-

१. 'वज्रलोक-साहित्य का अध्ययन', पृ. ४

२. 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' (द्वितीय संस्करण), चतुर्थ व्याख्यान, पृ. ८०

संग्रह' के अनुसार, विद्याधरनरेश नरवाहनदत्त से गन्धर्वदत्ता का विवाह नहीं होगा, तो किससे होगा ? इसी प्रकार, नीलयशालम्भ में, नीलकण्ठ विद्याधर के, विद्या के बल से मयूरशावक का रूप धारण करने और अपनी पीठ पर नीलयशा को बैठाकर उड़ा ले जाने की सम्भावना भी अस्वाभाविक नहीं है। पुनः इक्कीसवें केतुमतीलम्भ में, सुरूप यक्ष के, राजा मेघरथ को धर्म से विचलित कराने के लिए, कबूतर और बाज पक्षियों के शरीर में मनुष्यभाषी के रूप में अनुप्रविष्ट होने की सम्भावना भी निराधार नहीं है।

इस प्रकार, सम्भावना-पक्ष पर जोर देने के कारण, बहुत-सी कथानक-रूढ़ियाँ भारतीय साहित्य में प्रचलित हुईं, जिनका स्वीकरण 'बृहत्कथा' के जैन नव्योद्भावक संघदासगणी के लिए भी, अपनी अद्भुत कथा के प्रपंच-विस्तार के क्रम में अनिवार्य हो उठा। इस प्रकार की रूढ़ियाँ न केवल काव्य और कथाक्षेत्र में, अपितु सम्पूर्ण कला-जगत्—मूर्ति, चित्र, संगीत और स्थापत्य—में भी स्वीकृत हुई हैं। इस प्रकार, ये रूढ़ियाँ मूलतः कला-रूढ़ियाँ ही हैं। लोककलाओं—लोककाव्य, लोककथा, लोकनृत्य, लोकसंगीत, लोकचित्र आदि—में भी स्वतन्त्र रूप से अनेक रूढ़ियाँ अथवा परम्परागत विशिष्ट प्रणालियाँ होती हैं, जिनकी पुनरावृत्ति में शैलियों का नूतन विकास अन्तर्निहित रहता है।

पाश्चात्य दृष्टि के आलोचकों ने कथानक-रूढ़ि को 'फिक्सन मोटिव' का पर्याय माना है। पाश्चात्य समीक्षक टी. शिल्ले ने रूढ़ि या अभिप्राय (मोटिव) का तात्पर्य बतलाते हुए लिखा है कि 'मोटिव' शब्द से तात्पर्य उस शब्द या विचार से है, जो एक ही साँचे में ढले जान पड़ते हैं और किसी कृति या एक ही व्यक्ति की भिन्न-भिन्न कृतियों में एक जैसी परिस्थिति या मनःस्थिति और प्रभाव उत्पन्न करने के लिए एकाधिक बार प्रयुक्त होते हैं।^१ डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने, आचार्य द्विवेदी के विचारों के परिप्रेक्ष्य में कथानक-रूढ़ि का विश्लेषण करते हुए, कहा है कि कथानक-रूढ़ि का अर्थ है—कथा में बार-बार प्रयुक्त होनेवाले ऐसे अभिप्राय, जो किसी छोटी घटना (इन्सिडेण्ट) या विचार (आइडिया) के रूप में कथा के निर्माण और विकास में योग देते हैं। जनसामान्य के विचार या लोकविश्वास पर आधृत इन रूढ़ियों का वैज्ञानिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं होता।^२

ज्ञातव्य है कि सभी कथारूढ़ियाँ निरर्थक नहीं होतीं। कुछ ऐसी भी रूढ़ियाँ हैं, जिन्हें बिल्कुल असत्य नहीं कहा जा सकता, इनमें कुछ तथ्यांश भी अवश्य रहता है, अर्थात् ये यथार्थ से भी सम्बद्ध रहती हैं। कथारूढ़ियों के विश्लेषण से कथाओं के उपकरणों और तत्त्वों पर भी प्रकाश पड़ता है। किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए सात समुद्र पार जानेवाला राजकुमार सामान्य दृष्टि से भले ही असत्य हो सकता है, किन्तु कथातत्त्व की दृष्टि से वह अयथार्थ नहीं है। 'वसुदेवहिण्डी' जैसे शिष्ट या अभिजात कोटि के कथा-साहित्य में उपलब्ध कथानक-रूढ़ियाँ मूलतः लोकसाहित्य या लोककथाओं की देन हैं। परम्परा-ग्रथित लोककथाओं से असम्बद्ध रूढ़ियाँ प्रायोविरल हैं। कथानक-रूढ़ियों के मूल उत्स के रूप में अनेक प्रकार के लोकाचारों, लोकविश्वासों और लोकचिन्ताओं द्वारा उत्पन्न आश्चर्य से अभिभूत करनेवाली कल्पनाओं को भी स्वीकार किया जा सकता है। इन सबका उपयोग लौकिक एवं निजन्धरी कथाओं में निरन्तर होता रहा है।

१. 'डिक्शनरी ऑफ़ वर्ल्ड लिटरेचर टर्म्स', पृ. २७४

२. 'हरिभद्र के प्राकृत-कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन', पृ. २६१

इसीलिए, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री की यह धारणा अयुक्तियुक्त नहीं कि लोक-साहित्य में कई बार प्रयुक्त एवं रूढ़ होकर ये रूढ़ियाँ आचार, विश्वास एवं कल्पनाओं द्वारा अभिजात साहित्य तक पहुँची हैं और यहाँ आकर इन्हें एक निश्चित रूप प्राप्त हुआ है।^१

पाश्चात्य पण्डितों ने परम्परागत स्वीकृत भारतीय कथानक-रूढ़ियों का बहुकोणीय दृष्टि से अध्ययन किया है, जिनमें ब्लूमफील्ड का नाम शिखरस्थ है। इनके अतिरिक्त पैंगर, ड्रूयू, नार्मन ब्राउन आदि यूरोपियन विद्वानों ने इस दिशा में विशेष परिश्रम किया है। जर्मन-पण्डित बेनिफी की कृतियाँ भी निजन्धरी कहानियों के अभिप्रायों के अध्ययन में विशेष उपयोगी हैं।

विषय की दृष्टि से कथानक-रूढ़ियाँ दो प्रकार की होती हैं : घटनाप्रधान और विचार-विश्वास-प्रधान। 'वसुदेवहिण्डी' की रूढ़कथाओं में इन दोनों प्रकार की कथानक-रूढ़ियों का प्राचुर्य है। 'वसुदेवहिण्डी' की रूढ़कथाओं में प्रायः इन दोनों प्रकार की कथानक-रूढ़ियों की तीन शाखाएँ स्पष्ट हैं : धार्मिक रूढ़ियाँ, प्रेम-सम्बन्धी रूढ़ियाँ और युद्ध-सम्बन्धी रूढ़ियाँ। यद्यपि, 'वसुदेवहिण्डी' की समस्त कथारूढ़ियों का समाहार मुख्यतः लौकिक और अलौकिक इन दो वर्गों में हो जाता है। और, इस दृष्टि से, 'वसुदेवहिण्डी' में लौकिक और अलौकिक कथारूढ़ियों का अद्भुत समन्वय उपस्थित हुआ है। रूढ़ियों के संघट्ट से कथा में चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति संघदासगणी की निजी विशेषता है।

'वसुदेवहिण्डी' में परम्परा से प्रचलित प्रमुख ध्यातव्य लौकिक-अलौकिक कथारूढ़ियाँ इस प्रकार हैं :

१. विभिन्न विद्याओं द्वारा मनोभिलषित कार्य सम्पन्न करना अथवा असम्भव कार्य को भी सम्भव करना। योगमद्य और योगवर्तिका का प्रयोग।
२. गुप्त रूप से या छल से नायिका का परनायक से अवैध प्रणय या यौन-व्यापार।
३. गणिका द्वारा कामी नायक से प्रेमविवाह और गणिका-माता द्वारा नायक का तिरस्कार।
४. पुत्री, बहन और माँ का पिता, भाई और पुत्र से यौन-सम्बन्ध।
५. माँ का अपने पालित पुत्र से काम-प्रार्थना।
६. वेश्या द्वारा अपनी अवैध सन्तान का परित्याग।
७. माता या पिता द्वारा सन्तान के अनिष्टकारी होने की सम्भावना से उसे किसी अभिज्ञान (निशानी या पहचान-चिह्न) के साथ या बिना अभिज्ञान के रत्नमंजूषा में रखकर जल में प्रवाहित करना।
८. मनुष्य की वाणी में पशु-पक्षियों का सम्भाषण।
९. पूर्वभव के सम्बन्ध की स्मृति से उत्पन्न राग-द्वेष की परभव में प्रतिक्रिया।
१०. ज्योतिषी की भविष्यवाणी और शुभाशुभ शकुन।
११. आकाशवाणी।

१२. वेश्या द्वारा बहकाकर भोले-भाले मुनि का विवाह करा देना ।
१३. स्वर्ग से च्युत होने के समय देवता का द्युतिहीन हो जाना ।
१४. तीर्थंकर की ज्ञान या निर्वाण-प्राप्ति के समय चौदहों भुवनों या तीनों लोकों का प्रकाशित होना ।
१५. भिक्षु के लिए दान करते समय दाता गृहस्थ के घर में पंचदिव्य की उत्पत्ति
१६. रूप-परिवर्तन ।
१७. लिंग-परिवर्तन ।
१८. परकाय-प्रवेश ।
१९. मुनि का शाप ।
२०. देव द्वारा व्रतनिष्ठ तपस्वियों की परीक्षा ।
२१. अनाहार से शरीर-त्याग अथवा आत्महत्या की विफल चेष्टा ।
२२. समाधि द्वारा मृत्यु का वरण ।
२३. रानी के दोहद (गर्भकाल की इच्छा) की पूर्ति के लिए राजा द्वारा असाध्य-भाधन का संकल्प और उसका कार्यान्वयन ।
२४. वेश्या के फन्दे में पड़े हुए पुत्र के लिए माता-पिता का शोक ।
२५. नायक या नायिका द्वारा आत्महत्या का प्रयास और आकाशवाणी या मुनि के आदेश से उस प्रयास से विरत होना ।
२६. मित्र की कृतघ्नता ।
२७. समर्थनों का झगड़ा ।
२८. सास की बात न मानने से पतोहू का दुर्गजन ।
२९. सास द्वारा पतोहू का अपमान ।
३०. युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से सुन्दरी स्त्री का उद्धार ।
३१. पुरुषद्वेषी नायिका को नायक द्वारा अनुकूलित करना ।
३२. विद्याधरियों द्वारा नायक का अपहरण ।
३३. विद्याधरों द्वारा नायिका का अपहरण अथवा पति का मिथ्या शव दिखलाकर स्त्री को वश में करना ।
३४. नायक के साथ प्रतिनायक या खलनायक की शत्रुता या वैर ।
३५. नायक द्वारा नायिका की सतीत्व-परीक्षा ।
३६. भारुण्ड, गरुड आदि के द्वारा नायक का स्थानान्तरण ।
३७. नायिका की खोज में नायक का अपार कष्ट झेलना एवं अलभ्य-लाभ ।

३८. विद्याध्ययन करते समय छात्र को किसी सुन्दरी द्वारा अपनी ओर आकृष्ट करना और छात्र द्वारा उसका अपहरण ।
३९. बलपूर्वक सुन्दरियों का अपहरण ।
४०. माँ, पिता और दादा से पुत्र और पोते का हास-परिहास और उन्हें छकाना ।
४१. भाई-भाई में शर्तबन्दी और बाजी जीतना ।
४२. सुहागरात में पत्नी को चकमा देना ।
४३. निर्जन वन में सुन्दरियों से साक्षात्कार तथा सुन्दरियों के नख-शिख का वर्णन ।
४४. आकाशचारी यन्त्र द्वारा आकाशमार्ग से यात्रा ।
४५. मुनियों का आकाश में उड़ना ।
४६. तपस्या द्वारा मोक्ष की प्राप्ति ।
४७. भोजन और गुटका की सिद्धि ।
४८. नौचक द्वारा अभिभावकों को धोखा देकर उनकी पुत्रियाँ प्राप्त करना ।
४९. नायक के गुणों पर नायिकाओं का समर्पित होना ।
५०. ओषधि-प्रयोग ।
५१. स्त्री का प्रेम-निवेदन और इच्छा पूर्ण न होने पर षडयन्त्र ।
५२. स्वप्नदर्शक, चित्रदर्शन या कीर्तिवर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना ।
५३. दृष्टान्तों द्वारा कथावस्तु का विस्तार और स्वीकृत विषयवस्तु का समर्थन ।
५४. समुद्र-यात्रा और जलयान का ध्वस्त होकर डूब जाना ।
५५. राजा या युवराज के साथ उसके मन्त्रियों की दुरभिसन्धि ।
५६. परलोक और धर्मक्षेत्र में विश्वास ।

‘वसुदेवहिण्डी’ की उपर्युक्त विभिन्न कथानक-रूढ़ियाँ दिग्दर्शन-मात्र के लिए यहाँ प्रस्तुत की गई हैं। ‘वसुदेवहिण्डी’ में इस प्रकार की कथानक-रूढ़ियों का महाजाल बिछा हुआ है। फलतः, कथानक-रूढ़ियों से समृद्ध ‘वसुदेवहिण्डी’ की रूढ़िकथाओं में इतिहास-पुराण और कल्पना (फैक्ट और फिक्शन) का अद्भुत मिश्रण है। इस प्रकार, ‘वसुदेवहिण्डी’ में संघदासराणी ने कथानक-रूढ़ियों से अनुरजित रूढ़िकथाओं द्वारा रससृष्टि के लिए सम्भावनाओं और कल्पनाओं के महत्त्व को स्वीकार करने का ततोऽधिक आग्रह प्रदर्शित किया है।

प्राचीन महाकथा ‘वसुदेवहिण्डी’ की मूल ध्वनि प्रेमाख्यान की ही है। विश्व में प्रेमाख्यानों की सुविकसित एवं सुदीर्घ परम्परा मिलती है। विश्व की प्रमुख भाषाओं के कतिपय प्रतिनिधि प्रेमाख्यानों के अध्ययन और विश्लेषण से विद्वान् आलोचकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि विश्व-भर में प्राप्य प्रेमाख्यान-परम्परा का आदिस्त्रोत भारत है, यूनान अथवा कोई अन्य देश नहीं। इस दृष्टि से गुणादय की ‘बृहत्कथा’ भारतीय प्रेमाख्यान की आदिजननी है और जिसका परवर्ती विकास

बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' और संघदासगणी की 'वसुदेवहिण्डी' और तदुत्तरवर्ती अनेक संस्कृत-हिन्दी-प्रेमाख्यानों में प्राप्त होता है। इसलिए, हिन्दी के प्रेमाख्यानों को फारसी-प्रेमाख्यानों पर आधृत मानना तर्कसंगत नहीं। डॉ. सुशीलकुमार फुल्ल ठीक ही लिखते हैं कि वास्तव में हेरोदोतस एवं हिकेतियस नामक ग्रीक-लेखकों की रचनाओं में इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि ई.पू. छठी शती तक भारतीय कथाएँ मध्य एशिया से होती हुई यूनान तक पहुँच चुकी थीं तथा वहाँ से होती हुई ये कथाएँ क्रमशः समस्त यूरोप में व्याप्त हो गईं।^१

प्रेमाख्यान या प्रेमकथा ही रूढ़िकथाओं की जन्मभूमि है। इसलिए, रूढ़िकथाओं का सम्बन्ध स्वभावतः 'रोमांस' से जुड़ जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने 'रोमांस' पर बड़ी सघनता और सुशिलष्टता से विचार किया है जिनमें जॉर्ज बेटमैन सेण्ट्सबरी ('इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका', सन् १९६५ ई., खण्ड १९, पृ. ४३८-४४०); डब्ल्यू. पी. केर ('एपिक ऐण्ड रोमांस', सन् १९५७ ई., पृ. ४); आर. एस्. लूमिस तथा एल्. एच्. लूमिस ('मेडिएवल रोमांसेज', सन् १९५७ ई., प्रस्तावना, पृ. १०); ए. सी. गिब्स ('मिडल इंगलिश रोमांस', सन् १९६६ ई., पृ. ७); डब्ल्यू. एच्. हडसन ('एन् इण्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑव लिट्रेचर', सन् १९६७ ई., पृ. १०८); जोजैफ टी. शिल्ले ('इन्साइक्लोपीडिया ऑव लिट्रेचर', सन् १९४६ ई., खण्ड १, पृ. २११); एल्. मेरी बार्कर ('पीयर्स साइक्लोपीडिया', सन् १९६८, ६९ ई., पृ. एम्-१५); अर्नेस्ट ए. बेकर ('दि हिस्ट्री ऑव इंगलिश नावल', खण्ड १, पृ. ५५); आथनवाट ('इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका', खण्ड १६, पृ. ६७६) आदि के नाम उल्लेख्य हैं।^२

'रोमांस' की यथाप्राप्य परिभाषाओं या आदर्शों के अनुसार, निष्कर्ष रूप में, उसके विषय और शिल्पगत सामान्य लक्षणों के बारे में कहा जा सकता है कि 'रोमांस' का कथानक विदेशज, अर्थात् दूरस्थ देश या स्थान अथवा दूरस्थ विगत या अतीत की पृष्ठभूमि पर आधृत होता है। इसमें खोज का अभिप्राय या रूढ़ियाँ निश्चित रूप से रहती हैं। यह खोज प्रेमिका या किसी अन्य वस्तु की हो सकती है। 'रोमांस' का नायक शूरवीर रहता है और उसके साहसिक पराक्रमों तथा भावुक प्रेम का चित्रण किया जाता है। इसमें काल्पनिक तथा पराप्राकृतिक तत्वों का समावेश रहता है। कथा के विकास की अपेक्षा उसके प्रवर्द्धन या लम्बा करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसमें रहस्यात्मकता, कुतूहल तथा स्वैर कल्पना के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। चरित्र-चित्रण की अपेक्षा घटनाओं पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। इसमें प्रेम, धर्म और शौर्य का प्रायः मिला-जुला रूप रहता है। इसमें विशुद्ध रोमांसप्रधान स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण रहता है।

'रोमांस' का वर्णन-माध्यम गद्य हो सकता है। शृंगारिक प्रेम-व्यापार की प्रमुखता, दुःखद एवं हास्यास्पद घटनाओं का सन्निवेश एवं साहसिक कृत्यों का परिदृश्य के रूप में चित्रण रोमांस के अनिवार्य उपादान हैं। रत्यात्मक प्रेम-सम्बन्धी घटनाओं को अभूतपूर्व स्थान एवं महत्त्व देने का आग्रह, नारी-वर्ग के प्रति रोमाण्टिक श्रद्धा, दरबारी सामाजिक वातावरण, अतीत के साथ ही नैतिक गुणों, क्षात्रधर्मों व्यवहार एवं वीरता का आदर्शोक्ति आदि 'रोमांस' के प्रथम प्रतिपाद्य विषय हैं। कथा की भाँति रोमांस एवं मसनवी में भी उपकथाओं, अवान्तर कथाओं और अन्तःकथाओं की योजना रहती है।

उपर्युक्त समस्त लक्षणों के निकष पर रखकर 'वसुदेवहिण्डी' की रूढ़िकथाओं को परखा जाय, तो स्पष्ट होगा कि संघदासगणी की इस बृहत्कथाकृति में, परस्पर बहुशः साम्य रखनेवाले कथाप्रकारों, जैसे प्रेमाख्यान, प्रेमकथा, मसनवी और रोमांस के ललित तत्त्वों का एक साथ अद्भुत समाकलन उपन्यस्त हुआ है।

अब यहाँ स्वतन्त्र रूप से, निदर्शन-मात्र के लिए 'वसुदेवहिण्डी' की कतिपय रूढ़िकथाओं का विवेचन प्रसंगोपेत होगा।

१. विद्या या जादू जाननेवाले कलावन्त चोर और गृहस्वामी की कथा (कथोत्पत्ति : पृ. ७)

जयपुरवासी राजा विन्ध्यराज का ज्येष्ठ पुत्र प्रभव बड़ा अभिमानी और कलावन्त था। अपने छोटे भाई प्रभु को राज्य मिल जाने से उसका अभिमान आहत हो उठा। उसने विन्ध्यगिरि की तराई में जाकर अपना पड़ाव डाला और चौर्यवृत्ति से वह अपना जीवन-निर्वाह करने लगा। प्रभव ने राजगृहनिवासी जम्बू के नाम और वैभव तथा उसके विवाहोत्सव में सम्मिलित लोगों के बारे में जानकारी प्राप्त की और चोरभटों के साथ तालोद्घाटिनी विद्या से किवाड़ी खोलकर जम्बू के घर में घुस गया। वहाँ के लोगों को 'अवस्वापिनी' विद्या से सुलाकर चोरों ने वस्त्र और आभूषण चुराना शुरू किया।

गृहस्वामी जम्बू 'स्तम्भिनी' और 'मोचनी' ये दो विद्याएँ जानता था। उसने बिना किसी घबराहट के चोरों से कहा : "आमन्त्रित आगतों को मत छुओ।" जम्बू के बोलते ही वे चित्रलिखित यक्ष की भाँति स्तम्भित होकर निश्चेष्ट रह गये। बाद में, जम्बू ने 'मोचनी' विद्या द्वारा चोरों को मुक्त कर दिया और प्रभव ने श्रामण्य-दीक्षा ग्रहण कर ली।

चोरों द्वारा 'अवस्वापिनी' विद्या के प्रयोग की कथारूढ़ि भारत में दीर्घकाल से प्रचलित है। इस प्रकार की कथा भारतीय कथा-साहित्य में भूयशः आवृत्त हुई है। लोक-विश्वास होने के कारण यह लोकरूढ़ि भी है।

२. गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका-माता द्वारा तिरस्कार (धम्मिल्लचरित : पृ. २८)

कुशाग्रपुर के सार्धवाह सुरेन्द्रदत्त का पुत्र धम्मिल्ल अपनी पत्नी की ओर से विमुख रहकर केवल शास्त्र के अनुशीलन में ही समय बिताता था। इससे धम्मिल्ल के माता-पिता बहुत चिन्तित रहते थे। इस बात पर धम्मिल्ल की माँ सुभद्रा और धम्मिल्ल की सास धनदत्ता, अर्थात् दोनों समधिनों में खूब कसकर झड़प भी हो गई। अन्त में सुभद्रा ने अपने बेटे को, 'उपभोगरतिविचक्षण' बनाने के निमित्त, उसे वसन्तसेना नाम की वेश्या की पुत्री वसन्ततिलका की 'ललित गोष्ठी' में भरती करा दिया और प्रशिक्षण-शुल्कस्वरूप आधा सहस्र स्वर्णमुद्रा प्रतिदिन वह भिजवाने लगी। धम्मिल्ल वसन्ततिलका के अनुराग में पूर्णतः लिप्त हो गया। धम्मिल्ल के भविष्य-निर्माण में उसके माता-पिता की सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई, फिर भी धम्मिल्ल वसन्ततिलका के प्रेमपाश से अपने को मुक्त नहीं कर सका। धम्मिल्ल के माता-पिता वेश्यासक्त पुत्र के सन्ताप में धूल-धुलकर मर गये और धम्मिल्ल की पत्नी यशोमती भी अपना घर बेचकर पिता के घर चली गई। एक दिन,

वसन्ततिलका गणिका की माता वसन्तसेना ने धम्मिल्ल को योगमद्य पिलाकर अचेत कर दिया और फिर उसे अधनंगी हालत में नगर से बाहर दूर ले जाकर छोड़ दिया गया। किन्तु, वसन्ततिलका दरिद्र धम्मिल्ल को पति के रूप में स्वीकार कर चुकी थी, इसलिए उसने प्रतिज्ञा की : “अपने स्वामी के प्रति सत्प्रतिज्ञा मैं अपनी वेणी बाँधती हूँ, यह मानकर कि मेरा वह प्रियतम ही आकर इसे खोलेगा।”

इस कथा में गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका-माता द्वारा उसका तिरस्कार तो हुआ ही है, साथ ही वेश्या के फन्दे में पड़े हुए पुत्र के लिए माता-पिता का स्वयं अर्जित शोक तथा समर्थनों के झगड़े की कथारूढ़ियाँ भी चित्रित हुई हैं।

३. दुःख के कारण आत्महत्या की विफल चेष्टा (धम्मिल्लचरित : पृ. ३३-३४)

वेश्या की माता द्वारा तिरस्कृत धम्मिल्ल रात-भर नगर के बाहर पड़ा रहा। होश में आने पर जब वह अपने घर पहुँचा, तब उसे सारी वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ। वेश्याओं की क्षणिक प्रीति, पुत्र-वियोग से माता-पिता की मृत्यु, पत्नी का घर-द्वार बेचकर नहर चला जाना आदि बातें उसके मन-मस्ताष्क को मथने लगीं। अन्त में प्राणत्याग करने के विचार से वह एक जौर्ण उद्यान में पहुँचा। वहाँ उसे एक तलवार मिल गई और उसी से वह आत्मवध के लिए तैयार हो गया। किन्तु, उसी समय किसी देव ने झटककर तलवार को उसके हाथ से नीचे गिरा दिया। तब, उसने लकड़ी एकत्र करके आग लगा दी और उसी में प्रवेश कर गया। किन्तु, वह अग्निपुंज महाहृद के समान शीतल हो गया। उसके बाद उसने विष खा लिया, लेकिन वह भी, सूखी घास की तरह, उसकी जठराग्नि में जल गया। तब, वह प्राणत्याग के लिए पेड़ की फुनगी से कूद पड़ा, किन्तु कठोर धरती भी उसके लिए रूई का ढेर साबित हुई। इसी समय उसे आकाशवाणी सुनाई पड़ी : “साहस मत करो, साहस मत करो।” तब उसने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा कि “लगता है, मेरा मरण नहीं लिखा है”, और फिर सोचता-विचारता हुआ बैठा रहा।

इस रूढ़कथा में दुःख के कारण आत्महत्या की विफल चेष्टा का चित्रण तो हुआ ही है, किसी अज्ञात-अरूप देव के द्वारा तलवार को हाथ से झटक देना, आग का जल की तरह शीतल हो जाना, विष का भी पेट में पच जाना, धरती की कठोरता का रूई की कोमलता में परिणत हो जाना और आकाशवाणी द्वारा मृत्यु से विमुख होने की चेतावनी मिलना आदि कई चमत्कारी कथानक-रूढ़ियों का युगपत् समाहार हुआ है।

४. विद्याभ्यासी छात्र द्वारा सुन्दरी का अपहरण (अगडदत्त मुनि की आत्मकथा :

पृ. ३५-३६ और ४१-४२)

‘वसुदेवहिण्डी’ में धम्मिल्लहिण्डी के अन्तर्गत चित्रित अगडदत्त की आत्मकथा भी मनोरंजक और चमत्कारी रूढ़िकथाओं से व्याप्त है। अगडदत्त, अवन्ती के राजा जितशत्रु के नीतिनिपुण सारथी अमोघरथ का पुत्र था। अगडदत्त जब छोटा बालक था, तभी भवितव्यतावश उसका पिता मर गया। अमोघरथ की जगह राजा ने अमोघप्रहारी नाम का दूसरा सारथी नियुक्त किया। अगडदत्त की माँ को यह सहन नहीं हुआ और उसने पुत्र से कहा, यदि तुम योग्य होते, तो अपने पिता की

जगह नियुक्त होते। अन्त में, अगडदत्त की माँ ने उसे उसके पिता के मित्र कौशाम्बीवासी दृढप्रहारी के पास अस्त्र-शस्त्र की कला सीखने को भेज दिया।

छात्र के रूप में अगडदत्त, जिस समय एकान्त में, अस्त्र-शस्त्र का अभ्यास करता, उसी समय पड़ोस के ही यक्षदत्त की लड़की श्यामदत्ता उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के निमित्त फूल आदि फेंककर भारती। अन्त में, दोनों में प्रगाढ़ प्रेम हो गया। और, अगडदत्त जब अस्त्र-शस्त्र की विद्या में निपुण हो गया, तब एक दिन उज्जयिनी लौटते समय उसने श्यामदत्ता को भी अपने रथ पर बैठा लिया। उज्जयिनी पहुँचकर उसने राजा जितशत्रु से भेंट की और अपना परिचय दिया। राजा ने उसे उसके पिता के पद पर नियुक्त कर लिया।

इस रूढ़कथा में विद्याभ्यासी छात्र द्वारा, उसकी ओर आकृष्ट सुन्दरी के अपहरण की रूढ़ि के अतिरिक्त, पति के मर जाने के बाद उसके पद पर दूसरे पुरुष की नियुक्ति को विधवा द्वारा सहन न कर पाने और प्रतिस्पर्धावश इसके प्रतिकार के लिए पुत्र को पिता के तुल्य योग्य बनाने की उसकी सहज चिन्ता का उद्भावन, कामुक युवती का युवक को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास एवं बलपूर्वक सुन्दरी के अपहरण की परम्परागत कथारूढ़ियों का भी आवर्जक निदर्शन प्रस्तुत हुआ है।

५. सतीत्व-रक्षा के लिए शीलवती स्त्री द्वारा कामुक पुरुष का वध (धम्मिल्लहिण्डी : धनश्रीकथा : पृ. ४९)

उज्जयिनी के व्यापारी सागरचन्द्र का विद्याभ्यासी पुत्र समुद्रदत्त एक दिन स्लेट रखने घर के भीतर गया। वहाँ उसने अपनी माँ को किसी परिव्राजक के साथ रमण करते देख लिया। उसी समय से उसे स्त्रीजाति के प्रति विराग हो आया और उसने विवाह न करने का निश्चय कर लिया। किन्तु, पिता सागरचन्द्र ने छलपूर्वक सौराष्ट्र देश के गिरिनगर के निवासी सार्थवाह धन की पुत्री धनश्री से उसका विवाह करा दिया। परन्तु, सागरदत्त सोहागरात में धनश्री को चकमा देकर घर से भाग निकला। बहुत दिनों तक वह इधर-उधर भटकता रहा और अन्त में एक दिन नख, केश और दाढ़ी बढ़ाये भिखमंगे के वेश में गिरिनगर लौट आया और धन सार्थवाह के उद्यान में माली का काम करने लगा। माली के रूप में उसने उद्यान को सजा-सँवारकर फूल-फल से समृद्ध बना दिया। इससे प्रसन्न होकर धन सार्थवाह ने उसे स्नान कराया और कपड़े पहनने को दिये। इसके बाद उसे माली के काम से मुक्त कर दुकान की देखभाल करने का काम दिया। वह (समुद्रदत्त) आय-व्यय में तथा इत्र तैयार करने में कुशल था। धीरे-धीरे वह नगर का एक विश्वसनीय व्यक्ति हो गया। इसके बाद वह धन सार्थवाह के भाण्डार का प्रभारी बन गया और 'विनीतक' नाम से अपने को प्रसिद्ध किया।

गिरिनगर का एक आरक्षी-पदाधिकारी (डिण्डी) धनश्री के रूप-यौवन से कामाहत हो उठा और विनीतक के जरिये उसे प्राप्त करने की चेष्टा की। धनश्री ने विनीतक द्वारा आरक्षी-पदाधिकारी को अपने 'अशोकवन' उद्यान में बुलवाया और उसे योगमद्य पिलाकर बेहोश कर दिया। उसके बाद उसने उसीकी तलवार से उसका सिर काट डाला। धनश्री के निर्देश से विनीतक ने कुआँ खोदकर आरक्षी-पदाधिकारी के शव को उसमें डाल दिया।

अन्त में धनश्री को विनीतक का सही परिचय प्राप्त हुआ और फिर दोनों सुखपूर्वक दाम्पत्य-जीवन बिताने लगे ।

इस कथा में सती और असती दोनों प्रकार की स्त्रियों की चारित्रिक लोकरूढ़ि पर प्रकाश डाला गया है । साथ ही, आरक्षी-पदाधिकारियों की कामुकता और उसके दुःखद परिणाम को भी उजागर किया गया है ।

६. पालित पुत्र के प्रति माता की कामभावना (पीठिका : पृ. ९१-९२)

विद्याधर कालसंवर की पत्नी कनकमाला द्वारा पालित रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्न जब पूर्ण युवा हो गया, तब कनकमाला उसपर रीझ गई और काम-मनोभावों को व्यक्त न कर पाने की स्थिति में वह कामपीड़ा से अस्वस्थ हो गई । प्रद्युम्न ने पूछा : “माँ, तुम्हें कैसी शरीरपीड़ा है ?” तब वह बोली : “स्वामी ! मुझे ‘माँ’ मत कहो । तुम जिसके पुत्र हो, वही तुम्हारी माँ है ।” प्रद्युम्न ने कहा : “क्यों उल्टी-सीधी बातें करती हो ? मैं किसका पुत्र हूँ, जो इस प्रकार कह रही हो ?” कनकमाला ने वस्तुस्थिति स्पष्ट की : “हमदोनों पति-पत्नी ने तुम्हें भूतरमण अटवी की शिला पर पड़ा देखा था । वहाँ से उठाकर तुम्हें अपने घर ले आये थे । मैंने सुना था कि कृष्ण की अग्रमहिषी रुक्मिणी के पुत्र को, पैदा होते ही किसी ने चुरा लिया है । कृष्ण के नाम से अंकित मुद्रा से मैं जानती हूँ कि तुम उन्हीं के पुत्र हो । तुम्हें कामभाव से चाहने के कारण मेरी यह दशा हो गई है ।” प्रद्युम्न ने कनकमाला के इस काम-प्रस्ताव को ठुकरा दिया । तब, कनकमाला ने उसे निर्भय बनाने के लिए प्रज्ञप्ति-विद्या सिखा दी । प्रद्युम्न ने प्रज्ञप्ति-विद्या के सिद्ध होने पर भी, कनकमाला की अदम्य कामेच्छा पूर्ण नहीं की । तब, कनकमाला ने उसके वध का षड्यन्त्र रचा, किन्तु वह प्रज्ञप्ति-विद्या के बल से वहाँ से बच निकला ।

इस रूढ़िकथा या रूढ़कथा द्वारा ‘भ्रमति च भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनम्’ जैसी कथारूढ़ि-प्रधान कहावत को चरितार्थता प्रदान की गई है । साथ ही, नीतिकार शुक्रचार्य की इस रूढ़नीति को भी सार्थकता प्राप्त हुई है :

सुवेषं पुरुषं दृष्ट्वा भ्रातरं पितरं सुतम् ।

योनिः क्लृप्तमिति नारीणां सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

इसके अतिरिक्त, इस रूढ़कथा में स्त्री का नायक से प्रेम-निवेदन और इच्छा पूर्ण न होने पर उसके द्वारा नायक के वध का षड्यन्त्र रचे जाने और फिर नायक के अपने विद्याबल से बच निकलने की कथानक-रूढ़ियाँ भी अद्भुत रस की सृष्टि करती हैं । इस प्रकार की कथारूढ़ि बौद्धों के ‘महापद्यजातक’ में भी उपलब्ध होती है । राजा ब्रह्मदत्त के युवराज पद्मकुमार (पूर्वभव का बोधिसत्त्व) के रूप-सौन्दर्य पर आसक्त होकर उसकी विमाता ने उसके समक्ष रमण करने का अनुचित प्रस्ताव रखा था । कामेच्छा की पूर्ति न होने पर विमाता ने कुमार पर बलात्कार का मिथ्या दोषारोपण कर उसका सिर कटवा देने का षड्यन्त्र किया ।

७. पूर्वभव की स्मृति की परभव में प्रतिक्रिया (प्रतिमुख : पृ. १११)

कंचनपुर के दो वणिक् रत्न अर्जित करने के निमित्त एक साथ लंकाद्वीप गये। रत्न अर्जित करके वे दोनों प्रच्छन्न भाव से सन्ध्या में कंचनपुर लौटे। कुवेला में कहीं कोई रत्न छीन न ले, इसलिए उन्होंने उसे कटरेगनी के झाड़ के नीचे गाड़ दिया और रात में वे दोनों अपने-अपने घर चले गये। सुबह होने पर उन दोनों में एक वणिक् कटरेगनी के नीचे पड़े हुए रत्न को चुपके-से निकाल ले गया। उसके बाद यथानिश्चित समय पर दोनों साथ आये और रत्न को न देखकर एक दूसरे पर शंका करते हुए आपस में हाथापाई करने लगे। फिर, गुस्से में आकर दाँतों से एक दूसरे को काटने लगे और पत्थर फेक-फेककर आपस में लड़ते हुए मर गये। मरने के बाद दोनों दुःखबहुल एक गति से दूसरी गति में जाकर जंगली भैंसे हो गये और फिर परस्पर सींगों से प्रहार करते हुए मरकर बैल के रूप में उत्पन्न हुए। फिर दोनों आपस में लड़ते हुए मरे और कालंजर पहाड़ पर वानरों के यूथपति के रूप में पैदा हुए। वहाँ भी जन्मान्तर के वैर का स्मरण करते हुए दोनों लड़ने लगे और खून से लथपथ होकर जमीन पर गिर पड़े।

सहसा विद्युत्सम्पात की तरह चारणश्रमण वहाँ अवतीर्ण हुए। उन्होंने दोनों वानर-यूथपतियों को वैसी अवस्था में देख उन्हें समझाया कि तुम दोनों ने क्रोध के अधीन होकर व्यर्थ ही तिर्यग्योनियों का भोग करते हुए बार-बार मृत्यु को प्राप्त किया। इसलिए, वैर का अनुबन्ध छोड़ो। नारकी, तिर्यग्योनि और कुमनुष्यों के भव में क्लेश पाने की अपेक्षा शान्त हो जाओ और जिनवचन के ग्रहण के साथ प्रव्रज्या धारण करो, तभी सुगति प्राप्त होगी। अन्त में मुनिव्रत स्वीकर कर व्रत का पालन करते हुए दोनों ने सौधर्म स्वर्ग में देवत्व को प्राप्त किया। पुनः उनमें से एक देवलोक से च्युत होकर, मनुष्य-शरीर प्राप्त करके, गुरु के समीप जिनवचन सुनकर श्रमण हो गया और दूसरा वानरपति, कर्मनाश की अनिच्छा से, बुभुक्षा आदि परिषहों को सहता हुआ ज्योतिष्क देवता हो गया।

कर्मनाश की अनिच्छा की स्थिति में भवान्तर-प्राप्ति और कर्मनाश की इच्छा से भवमुक्ति इस दार्शनिक रूढ़ि का प्रतिफलन इस रूढ़कथा में हुआ है और पूर्वभव के वैरानुबन्ध की स्मृति से परभव में होनेवाली दुष्परिणति तो स्पष्ट ही है।

८. परलोक और धर्मफल में विश्वास (श्यामा-विजया-लम्भ : पृ. ११५)

वाराणसी के राजा हतशत्रु की अल्पवयस्का पुत्री सुमित्रा एक दिन सोई हुई थी कि सहसा 'णमो अरिहंताणं' कहती हुई जाग उठी। तब भिक्षुणियों ने उसे बताया कि उसने पूर्वभव के संस्कारवश अर्हत् को नमस्कार किया है। सुमित्रा जब सयानी हुई, तब उसे परलोक और धर्मफल के विषय में शंका उत्पन्न हुई। तब सुप्रभ पण्डित ने उसे परलोक में विश्वास उत्पन्न करनेवाली दो वणिक्पुत्रों की कथा सुनाते हुए कहा कि शरीर नष्ट होने पर भी देवलोक में तपस्या का फल प्राप्त होता है। यह सुनकर कुमारी सुमित्रा को विश्वास हो गया कि परलोक है और धर्म का फल भी है।

इस रूढ़कथा में परलोक और धर्मफल के प्रति परम्परागत जन-विश्वास की सामान्य अवधारणा को समुद्भाविता किया गया है।

९. देव द्वारा व्रतनिष्ठ तपस्वियों की परीक्षा (श्यामा-विजया-लम्भ : पृ. ११७-१८)

अतिसार का छद्मरोगी बनकर एक देव व्रतनिष्ठ नन्दिसेन के पास आया और उसे गालियाँ देता हुआ बोला : “तुम्हारा ही आसरा लेकर मैं ऐसी हालत में आया हूँ और तुम भोजनलम्पट बनकर मेरी उपेक्षा कर रहे हो ? अरे अभाग ! तुम ‘सेवाकारी’ शब्दमात्र से ही सन्तोष करते हो !”

नन्दिसेन ने प्रसन्नचित्त रहकर देवरोगी से नम्रतापूर्वक निवेदन किया : “अपराध क्षमा करें। मुझे आज्ञा दें, मैं आपकी सेवा करता हूँ।” यह कहकर उसने मल से भरे रोगी के शरीर को धो दिया। और, उसे नीरोग होने का आश्वासन देकर उपाश्रय (जैनसाधुओं के आवास) में ले गया। रोगी पदे-पदे उसे कठोर बातें कहता और उसकी भर्त्सना करता, लेकिन नन्दिसेन यन्त्र की भाँति निर्विकार भाव से थल कर रहा था। इसके बाद देवरोगी ने उसपर अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त मल का त्याग कर दिया। फिर भी, उसने दुर्गन्ध की परवाह नहीं की, न ही उसके कठोर वचनों की कोई गिनती की। वरन् वह रोगी को मीठी बातों से सान्त्वना देता हुआ, उसका नाज उठाता हुआ, सेवा में लगा रहा।

नन्दिसेन की सच्ची सेवा-भावना से देवरोगी प्रसन्न हो गया और उसने अपना अशुभ परिवेश समेट लिया। उसी समय प्राण और मन को सुख देनेवाले फूलों की बरसा हुई। देव ने रोगी का प्रतिरूप छोड़कर दिव्य रूप धारण किया और नन्दिसेन की तीन बार प्रदक्षिणा करके क्षमा-याचना की। देव द्वारा वर माँगने का आग्रह करने पर नन्दिसेन ने जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग की प्राप्ति का वर माँगा। वरदान देकर देव चला गया।

इस रूढ़कथा में देवों द्वारा ली जानेवाली परीक्षा में व्रतनिष्ठ व्यक्ति का सफल होना, वर प्राप्त करना, पुष्पवृष्टि होना तथा देवत्व से मनुष्यत्व की श्रेष्ठता सिद्ध होना आदि कई परम्परागत कथानक-रूढ़ियों का विस्मयकारी विनियोग हुआ है। साथ ही, राजा हरिश्चन्द्र तथा राजा शिवि आदि की वैदिक कथाओं की रूढ़ियों से भिन्न श्रमण-परम्परा की प्रस्तुत कथारूढ़ि, ततोऽधिक लौकिक जन-जीवन के धरातल पर उपस्थापित हुई है।

ज्ञातव्य है कि नन्दिसेन ही, रूपसी स्त्रियों के प्रिय होने के संकल्प के साथ मरकर महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्रकल्प देवता हुआ और वहाँ से च्युत होकर अन्धकवृष्णि के दशम पुत्र वसुदेव के रूप में उत्पन्न हुआ, जिसके चरित-चित्रण के निमित्त संघदासगणी ने ‘वसुदेवहिण्डी’ की रचना की।

१०. अशुभ शकुन की भविष्यवाणी (श्यामा-विजया-लम्भ : पृ. ११९)

वसुदेव आठ वर्ष की उम्र में जब कलाचार्य के निकट कला की शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, तभी किसी रसवणिक (द्रवपदार्थ : मधु, इत्र, तैल आदि का व्यापारी) ने उनकी सेवा में बालक कंस को सौंप दिया और वह बालक भी उनके साथ कला सीखने लगा। एक दिन जरासन्ध ने वसुदेव के बड़े भाई के पास दूत भेजकर कहलवाया कि ‘सिंहपुर के राजा सिंहरथ को यदि आप बन्दी बना लेंगे, तो आपको जीवयशा नाम की पुत्री और प्रधान नगर प्रदान किया जायगा।’ वसुदेव के मन में इच्छा हुई कि सिंहरथ का विजय स्वयं वही करें, इसलिए उन्होंने बड़े भाई से आग्रहपूर्वक

आज्ञा लेकर, कंस के साथ सिंहपुर के लिए प्रस्थान किया। सिंहरथ और वसुदेव में घोर युद्ध हुआ। अन्त में, वह सिंहरथ को बन्दी बनाकर अपने नगर में ले आये।

बड़े भाई समुद्रविजय ने वसुदेव का बड़ा आदर किया और फिर एकान्त में ले जाकर कहा : “सुनो कुमार ! क्रौष्टिक नैमित्तिक (सियार की आवाज सुनकर उसपर विचार करनेवाला ज्योतिषी) ने पूछने पर बताया है कि कुमारी जीवयशा दोनों कुलों का नाश करनेवाली है, इसलिए वह तुम्हारे योग्य नहीं।” इसके बाद विमर्शानुसार, युद्ध में वसुदेव की सहायता करने के पुरस्कार-स्वरूप, वह लड़की कंस को दे देने का निर्णय किया गया। फिर, रसवणिक को बुलवाकर उससे कंस की प्राप्ति की कथा सुनाने का आग्रह किया गया। रसवणिक ने बताया : “यह बालक काँसे की पिटारी में यमुना में बहता हुआ मिला था। इसके साथ उग्रसेन नाम से अंकित मुद्रा थी।” जब यह बात सिद्ध हो गई कि कंस उग्रसेन का ही पुत्र है, तब उसे कुमारी जीवयशा दे दी गई।

कंस ने जब सुना कि जन्म लेते ही उसे पिता ने प्रवाहित कर दिया था, तब वह बड़ा रुष्ट हुआ और जरासन्ध से वरदान में मथुरा नगरी माँग ली। फिर, द्वेषवश उसने अपने पिता को बन्दी बना लिया और स्वयं राज्यभार सँभालने लगा।

इस रूढकथा में ज्योतिषी द्वारा अशुभ शकुन के आधार पर भविष्यवाणी करने की चर्चा तो हुई ही है, साथ ही पिता द्वारा सन्तान के अनिष्टकारी होने की सम्भावना से उसे पहचान-चिह्न के साथ मंजूषा में रखकर जल में प्रवाहित करने की भी कथारूढ़ि का समावेश हुआ है। इसके अतिरिक्त, राजपरिवार के बड़े और छोटे भाइयों के बीच गुप्त राजनीतिक परामर्श की परम्परागत कथारूढ़ि का भी विनियोग हुआ है। इस प्रकार की घटनाएँ ऐतिहासिक हों या न हों, पर ‘वसुदेवहिण्डी’ के कविहृदय लेखक की कल्पना में इनका आविर्भाव अवश्य हुआ था।

११. ओषधि-प्रयोग (गन्धर्वदत्ता-लम्भ : पृ. १३८)

चारुदत्त की आत्मकथा में अमितगति विद्याधर के ललाट पर टुकी कील को ओषधि के प्रयोग से निकालने की रूढकथा पर्याप्त मनोरंजक है। चारुदत्त ने साधु से सुनी हुई कथा को दुहराते हुए कहा कि विद्याधरों के पास रहनेवाले चमड़े के रत्नकोष (बटुए) में आत्मरक्षा के निमित्त चार ओषधियाँ रहती हैं। तब उसके गोमुख, हरिसिंह आदि मित्रों ने अमितगति विद्याधर का चर्मरत्नकोष खोला, तो चार उसमें ओषधियाँ दिखाई पड़ीं। ओषधियों को सिल पर पीसा गया, फिर शल्यवृक्ष में कील चुभोकर उसपर प्रत्येक ओषधि का लेप लगाकर अलग-अलग उसकी परीक्षा की गई। परीक्षा के क्रम में पता चला कि उन ओषधियों में कोई शल्य निकालनेवाली है, तो कोई संजीवनी है, तो कोई घाव भरनेवाली।

चारुदत्त के मित्रों ने दोने में औषधि लेकर उसे विद्याधर के ललाट में टुकी कील पर चुपड़ दिया। धूप में तप्त कमल की तरह कील निकलकर धरती पर गिर पड़ी। इसी प्रकार, विद्याधर के हाथों को भी कीलभुक्त कर दिया गया, फिर उसके पैरों को भी कील से मुक्ति मिली। उसके घाव पर संरोहणी (भरनेवाली) दवा लगा दी गई। उसके बाद जल के छींटे और केले के पत्ते की हवा से उसे होश में ले आया गया। होश में आते ही विद्याधर उठ खड़ा हुआ।

इस रूढकथा में ओषधि के परीक्षण के बाद उसके प्रयोग की चर्चा की गई है। इसी प्रकार, संघदासगणी ने ओषधि-प्रयोग द्वारा घोड़े के शरीर से शल्य निकालने की कथा (धम्मिल्लचरित : पृ. ५३) कही है। ओषधि-प्रयोग की यह विधि आयुर्वेद के शास्त्रीय ग्रन्थों में भी मिले, यह आवश्यक नहीं है। यह कवि की कल्पना और ग्रामीण वैद्यों की परम्परागत चिकित्सा-प्रणाली का विचित्र मिश्रण है।

संघदासगणी ने ओषधि के प्रभाव से लड़की के लिंग-परिवर्तन की भी कथा (पुण्डालम्भ : पृ. २१५) लिखी है। चमरचंचा नगरी के राजा पवनवेग की पुत्री चित्रवेगा थी। बचपन में ही उसकी जाँघ को चीरकर उसमें ओषधि भर दी गई। लड़की क्रमशः बड़ी होने लगी। उस ओषधि के प्रभाव से लोग उसे लड़का समझते थे। जब वह जवान हुई, तब धाई ने उसे इस रहस्य को बता दिया। उसे लड़के के रूप में तबतक प्रच्छन्न रखने का विचार किया गया था, जबतक विवाह के निमित्त किसी श्रेष्ठ पुरुष की उपलब्धि नहीं होती। लड़के के रूप में भी वह पर्याप्त आकर्षक थी। एक बार, जिनोत्सव के समय, मन्दर-शिखर पर विद्याधर गरुडवेग ने उसे देख लिया और लड़की समझकर विवाह-सम्बन्ध के निमित्त संवाद-पर-संवाद भेजना शुरू किया। जब उस लड़की का वाग्दान हो गया, तब उसकी जाँघ से ओषधि निकाल दी गई और फिर संरोहणी ओषधि के प्रभाव से उसका चीरे का घाव भर गया और वह यथावत् पूर्ण युवा लड़की के रूप में परिवर्तित हो गई। इसके बाद उसका बड़े ठाट-बाट से विवाह हुआ।

प्राचीन कथा-साहित्य में, वैज्ञानिक शल्यचिकित्सा-पद्धति से ओषधि-प्रयोग की इस कथारूढ़ि की द्वितीयता कदाचित् नहीं है। संघदासगणी ने जगह-जगह शल्यचिकित्सा-पद्धति का उल्लेख करके वैज्ञानिक कथारूढ़ि की नवीन परम्परा का सूत्रपात किया है। ब्राह्मणों के पुराणों में जहु ऋषि द्वारा अपनी जाँघ चीरकर उसमें गंगा (जाह्नवी) को रख लेने की मिथक कथा अवश्य आई है, किन्तु संघदासगणी के युग में इतने अधिक विकसित और विशद रूप से प्रस्तुत की गई शल्य-चिकित्सा-विज्ञान की चमत्कारी वार्ता या जाँघ चीरकर और उसमें ओषधि भरकर लड़की के लिंग को परिवर्तित करने की घटना की कल्पना सर्वथा विस्मयजनक है और आधुनिक शल्यचिकित्सा के ततोऽधिक विकास के युग में भी इस तरह की घटना बहुत कम हुआ करती है, और होने पर अखबारों की सुखियों का विषय बनती है !

बुधस्वामी ने भी अपनी महत्कथाकृति 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की प्रियदर्शना-कथा (सर्ग २७) में ओषधियुक्त सोने के तावीज के प्रभाव से लड़की प्रियदर्शना के लिंग-परिवर्तन की कथारूढ़ि का प्रयोग किया है।

१२. मत हाथी के आक्रमण से बालिका का उद्धार (सोमश्री-लम्भ : पृ. २२१)

वसुदेव जब महापुर नगर में भ्रमण कर रहे थे, तभी नगर को रौदता हुआ एक मतवाला हाथी (विद्युन्मुख) आया और उसने, इन्द्रध्वज की पूजा देखकर रथ पर लौटती हुई युवतियों में से एक युवती बालिका को अपनी सूँड़ से रथ से बाहर खींच लिया। वसुदेव ने बालिका को आश्वस्त करते हुए पीछे से हाथी पर धावा बोल दिया और उसे वह सिंहावलि, दन्तावलि, गात्रलीन, शार्दूललघन, पुच्छग्रहण आदि हाथी खेलाने की विभिन्न प्रक्रियाओं से जल्दी-जल्दी घुमाने-फिराने

लगे। अन्त में, हाथी वशंवद होकर आलसी बैल की भाँति मन्दगामी बन गया। परिजन और पुरजन वसुदेव को धन्यवाद देने लगे। कुछ स्त्रियाँ फूल और गन्धचूर्ण बिखेरने लगीं।

बालिका प्रकृतिस्थ होकर प्रसन्न मुख से वसुदेव के पैरों पर गिर पड़ी और बोली : “स्वामी आपका मंगल हो। स्वयं अक्षतशरीर रहकर आपने मुझे हाथी के मुँह से बचा लिया।” उसके बाद कुछ सोचकर बालिका ने अपनी चादर वसुदेव को दे दी और वसुदेव की दी हुई अँगूठी स्वयं उसने ले ली।

संघदासगणी की कथारूढ़ियों की विशेषता यह है कि ये केवल कथारूढ़ि के उपादानों का हो संकेत नहीं करतीं, अपितु उनके विवरण की विशदता में गहरे पैठती हैं, साथ ही कथा में भावी घटनाओं के प्रति उत्सुकता भी जगा देती हैं। जैसे : प्रस्तुत रूढ़कथा में कथाकार ने मत्त हाथी के आक्रमण से बालिका को बचाने की बात तो लिखी ही है, साथ ही हाथी को वश करने की विद्या के कई सूत्रों की भी चर्चा की है और चादर तथा अँगूठी की अदला-बदली से भावी रोमांस की घटना की सूचना भी दी है। इस प्रकार, संश्लिष्ट कथारूढ़ियों के कुशल प्रयोक्ता संघदासगणी ने हस्तिविद्या के विशेषज्ञों के लिए जहाँ शास्त्रीय अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत की है, वहाँ रोमांस की प्रमुख वस्तु रत्यात्मक प्रेमभावना के साथ ही वीरता के आदर्शिकरण के पक्ष को भी उजागर किया है। इसके अतिरिक्त, इस रूढ़कथा में प्रयुक्त नायक के गुणों से आकृष्ट होकर उसपर नायिका के सहज समर्पित हो जाने की पारम्परिक कथारूढ़ि या अभिप्राय की सहज सुन्दरता मन को सहसा अभिभूत कर लेती है।

१३. पुत्री के साथ पिता का यौन सम्बन्ध (बन्धुमती-लम्घ : पृ. २७५)

पोतनपुर में दक्ष नाम का राजा था। उसकी भद्रा नाम की रानी से मृगावती नाम की पुत्री उत्पन्न हुई। मृगावती जब युवती हो गई, तब उसकी मदविह्वल आँखों को देखकर उसका पिता दक्ष कामातुर हो उठा और उसने अपनी उस पुत्री से पत्नी बनकर सम्पूर्ण राजकोष की अधिकारिणी होने का आग्रह किया। लेकिन, पुत्री ने पिता के काम-प्रस्ताव को पाप कहकर ठुकरा दिया। तब, दक्ष ने महापण्डित हरिश्मश्रु के मत को उद्धृत करते हुए कहा कि देह से भिन्न कोई जीव नहीं है। तुम राज्यलक्ष्मी की अवमानना मत करो। इसके बाद वह बालिका अपने पिता की शृंगारपूर्ण भीठी बातों से फुसलावे में आ गई और राजा दक्ष अपनी पुत्री के साथ विषय-सुख का अनुभव करता हुआ विहार करने लगा। राजा दक्ष ने प्रजा (बेटों) को (पत्नी के रूप में) स्वीकार कर लिया, इसलिए वह ‘दक्ष प्रजापति’ कहलाने लगा।

प्रस्तुत रूढ़कथा में पुराण की प्रसिद्ध कथा को नया मूल्य तो दिया ही गया है, पाप-पुण्य की भावना का भी निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त, पुत्री के साथ पिता के यौन सम्बन्ध की सामाजिक अस्वीकृति के बावजूद कामलिप्सा की स्वार्थसिद्धि के लिए शास्त्र की अपने मनोनुकूल भूतचैतन्यवादी व्याख्या करने की वक्रजड़ता तथा राजा की निरंकुशता की ओर भी कथाकार ने संकेत किया है। अथच, इस कथा से, स्त्री के, धन के लोभ से पुरुष के बहकावे में आकर उसके साथ यौन सम्बन्ध स्थापित कर लेने की मानसिक दुर्बलता भी अपनी पूरी तीव्रता के साथ उद्भावित हुई है।

१४. गुप्त रूप से नायिका का नायक के साथ अवैध यौन व्यापार (प्रियंगुसुन्दरी - लम्ब : पृ. २९२)

इन्द्रकेतु नामक विद्याधरनरेश के पुरुहूत और वासव नाम के दो पुत्र थे। वासव अपनी विशिष्ट शक्ति से निर्मित ऐरावत पर सवार होकर आकाशमार्ग से सम्पूर्ण भारतवर्ष का परिभ्रमण करता हुआ गौतम ऋषि के रमणीय आश्रम में उतरा। गौतम का पूर्वनाम काश्यप था। गोमेध यज्ञ करने के कारण उनसे अन्य सभी तपस्वी रुष्ट हो गये और उन्होंने उन्हें अन्धकूप में डाल दिया। कान्दर्पिक देव महर्षि गौतम के पुराने मित्र थे। उन्हें जब इस बात की सूचना मिली, तब वह वृषभ का रूप धारण कर कुएँ के पास आये और उन्होंने अपनी पूँछ अन्धकूप में लटका दी। महर्षि गौतम उस पूँछ को पकड़कर बाहर निकल आये और तभी से 'अन्धगौतम' कहलाने लगे। महर्षि गौतम से उनके देवमित्र कान्दर्पिक ने कहा : "देव अमोघदर्शी होते हैं। तुम्हें जो इच्छा हो, वर माँगो।" तब महर्षि ने तपस्वी विद्याधर की पत्नी मेनका की पुत्री अहल्या को पत्नी के रूप में माँगा। देवों ने महर्षि को अहल्या दिलवा दी। तपस्वी गौतम ने अपने आश्रम से हटकर राजा अयोधन की राज्यसीमा में अवस्थित रमणीय जंगल में अपना आश्रम बनाया। राजा अयोधन देवाज्ञा से प्रेरित होकर भारं में अनाज (चावल) भरवाकर गौतम ऋषि की सेवा में पहुँचवाने लगे।

इन्द्रकेतु का पुत्र वासव स्त्रीलोलुप था। वह गौतम ऋषि के परोक्ष में उनकी पत्नी अहल्या के साथ सम्भोग करने लगा। एक बार जब वह सम्भोगरत था, तभी महर्षि गौतम फल, फूल और समिधा लेकर वापस आये। महर्षि को देखकर वासव डर गया और उसने बैल का रूप धारण किया। किन्तु, गौतम ऋषि सही वस्तुस्थिति को जान गये और परस्त्रीगमन के दोष के कारण उन्होंने वासव को मार डाला।

प्रस्तुत रूढकथा में अपने पति के परोक्ष में पत्नी का परपुरुष से यौन सम्बन्ध और पति द्वारा जार (परपुरुष) का वध के अतिरिक्त, रूप-परिवर्तन, विद्याबल से ऐरावत पर चढ़कर आकाश में विचरण, गोमेधयज्ञ का सार्वजनिक विरोध आदि कथारूढ़ियों का भी एकत्र समाहार हुआ है, साथ ही इस प्रसिद्ध पौराणिक कथा का जैन दृष्टि से लौकिक कथाभूमि पर पुनर्मूल्यांकन भी अपनी अभिनव रुचिरता और रोचकता के कारण विशेष महत्त्व रखता है।

१५. विद्याबल से नायिका का वशीकरण (केतुमती-लम्ब : पृ. ३४८)

परिव्राजक-भक्त राजा जितशत्रु की रानी का नाम इन्द्रसेना था। वह मगधराज जरासन्ध की पुत्री थी। राजा के अन्तःपुर में परिव्राजकों का अबाध प्रवेश था। एक बार ऐसा हुआ कि राजा का अतिशय आदरपात्र शूरसेन नामक परिव्राजक रानी के प्रति आसक्त हो उठा। उसने अपने विद्याबल से रानी को अपने वश में कर लिया। राजा को जब इस बात की सूचना मिली, तब उसने शूरसेन परिव्राजक को मरवा डाला। परिव्राजक के प्रति आसक्त इन्द्रसेना वियोगातुर रहने लगी और उसी स्थिति में वह पिशाच से आविष्ट हो गई। 'भदन्त को देखूँगी', इस प्रकार चकती हुई वह दिन-रात विलाप करती रहती। बन्धन, रुन्धन, यज्ञ, धूनी द्वारा अवपीडन, षोषधि-पान आदि क्रियाओं से भी विकित्सक उसे प्रकृतिस्थ नहीं कर सके।

ससुर ज़रासन्ध के निर्देशानुसार, राजा जितशत्रु ने इन्द्रसेना को बन्धन, रुन्धन आदि से मुक्त कर दिया। इसके बाद राजा ने इन्द्रसेना को मृत परिवाजक की हड्डियाँ दिखलाकर उससे कहा कि 'यही तुम्हारा प्रियतम है।' तब इन्द्रसेना ने हड्डियों को चुनकर और उन्हें कपड़े से बाँधकर माला बनाई और उसे अपने गले में लटका लिया। उसके बाद राजा के कंचुकियों ने परिचारिकाओं के साथ उसे आश्रम में ले जाकर छोड़ दिया। अन्त में वसुदेव धूमते-धामते उस आश्रम में पहुँचे और तापसों के आग्रह करने पर उन्होंने अपनी विशिष्ट शक्ति से इन्द्रसेना को पिशाच के आवेश से मुक्त कर दिया और वह फिर रानी बनकर जितशत्रु के अन्तःपुर में रहने लगी।

प्रस्तुत रूढकथा में नायिका के परिवाजक की विद्या से वशीभूत होने की चिराचरित कथारूढ़ि के अतिरिक्त, नायिका के पिशाचाविष्ट होने और उसके लिए लौकिक भूत-चिकित्सा किये जाने तथा विशिष्ट शक्ति से उसके प्रकृतिस्थ होने आदि कई लोकरूढ़ियों का एक साथ चित्रण हुआ है।

जैसा पहले कहा गया है, 'वसुदेवहिण्डी' में परिगुम्फित उपरिप्रस्तुत लौकिक एवं अलौकिक रूढकथाएँ निदर्शन-मात्र हैं। इस महत्कथा की पारम्परिक एवं कवि-कल्पित कथारूढ़ियाँ एक स्वतन्त्र शोध-अध्ययन का विषय हैं। 'वसुदेवहिण्डी' की रोमांसबहुल कथानक-रूढ़ियाँ तो अनुल्लंघनीय क्रोशशिला के समान हैं, जिनको मार्गदर्शक मानकर परवर्ती प्राकृत-गद्यसाहित्य की अबाध यात्राएँ हुई हैं। इन कथा-यात्राओं में आचार्य हरिभद्रसूरि (अष्टम-नवम ख्रिष्टशतक) की 'समराइच्चकहा' ('समरादित्यकथा') अपनी पांक्तेयता की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'वसुदेवहिण्डी' की रूढकथाओं या अभिप्रायों में लोकरूढ़ियों और पूर्वभव की स्मृतियों को आधार बनाकर सम्भावनाओं को पृथुल विस्तार दिया गया है, जो भावग्रहण कथाकार संघदासगणी की राटीक कल्पना से मूर्तित होकर विभिन्न बिम्बों और विचार-चित्रों में परिणत हो गई हैं। अतएव, अर्थग्रहण और भावग्रहण की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' की संवेगों की सघनता से अवगुण्ठित रूढकथाएँ लोकजीवन का सामान्य-विशेषात्मक साधारणीकरण उपस्थित करती हैं। साथ ही, ये अपनी चित्रात्मकता और बिम्बधर्मिता की ऐन्द्रिय अनुभूति की अभिव्यक्ति से इस प्रकार सम्पन्न हैं कि हमारी दृष्टि, श्रवण, घ्राण, स्पर्श और रसना को एक साथ अनुरंजित कर देती हैं। कहना न होगा कि संघदासगणी ने अपनी रूढकथाओं में, उत्कृष्ट कल्पना-शक्ति द्वारा भाव और वस्तुशिल्प को एक नवीन सन्दर्भ या अनुक्रम देकर अनेक मार्मिक छवियों का आधान किया है।

मिथक-कथा :

रूढकथा के पर्यवेक्षण के क्रम में कथारूढ़ि की विवेचना के बाद प्रत्यासत्त्या मिथक-कथा का पर्यालोचन अपेक्षित है। कथारूढ़ि और मिथक ये दोनों ही रूढकथा से अन्तरंगता के साथ सम्बद्ध हैं। कथारूढ़ि यदि लौकिक विश्वासों पर आधृत होती है, तो मिथक का आधार होता है धार्मिक विश्वास। 'मिथ' या 'मिथक' का विश्लेषण करते हुए डॉ. कुमार विमल ने कहा है कि " 'मिथ' में धर्म की तरह विश्वास की व्यवस्था प्रधान रहती है। 'मिथ' की मुख्य विशेषता

यह है कि वह नन्दतिक मूल्यों से सम्पृक्त अनेक आद्य प्रतीकों का गुच्छ हुआ करता है। अनेक धार्मिक और पारम्परिक अनुसरणशील बिम्बों के गुच्छ को ही हम 'मिथ' कहते हैं।^१

कॉलरिज, जॉर्ज वैंले, हेनरिच जिम्मेर आदि पाश्चात्य पण्डितों के मिथ-विषयक मन्तव्यों के अनुशीलन के परिप्रेक्ष्य में डॉ. कुमार विमल ने अपनी धारणा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'मिथ' में प्रायः मानवेतर कथाएँ—विशेषकर देवताओं के चरित्र और कार्यकलाप—प्रधान रहती हैं।^२ 'मिथ' में मिथ्यातत्त्व की अधिकता और समाज की मौखिक परम्पराओं से सम्बद्ध रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके अतिरिक्त, मिथ में कोई-न-कोई 'मोटिफ' (विचार-वैशिष्ट्य) अन्तर्निहित रहता है, साथ ही सांगोपांग कथारूढि भी समाहित रहती है। इसीलिए, 'मिथ' और कथारूढि में कोई स्पष्ट या स्थूल विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। कथारूढि की भाँति मिथ भी लोकजीवन की सामूहिक चेतना की ही उपज है। इस दृष्टि से पुराणकथा, कल्पित कथा या दन्तकथा आदि को 'मिथ' का या 'मिथक' कथा का पर्याय मान सकते हैं। मिथ की दन्तकथात्मकता को ध्यान में रखकर ही डॉ. कुमार विमल कहते हैं कि मिथ की प्रारम्भिक अवस्था में कपोल-कल्पना का तत्त्व अधिक रहता है। इसी प्रसंग में मिथ की व्युत्पत्ति की सार्थकता दिखलाते हुए उन्होंने लिखा है कि 'मिथ' ग्रीक शब्द 'माइथोस' से बना है, जिसका अर्थ होता है मुँह से निकला हुआ।^३ इसीलिए, 'मिथ' कथा या गल्प से भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार, 'मिथ' एक ऐसी जातीय कल्पना है, जिसे बाद में चलकर धार्मिक विश्वासों ने स्वायत्त कर लिया।^४

परम्परा से सम्बद्ध रहने के कारण मिथक और प्रतीक में ध्यातव्य साम्य है। प्रतीक अधिकांशतः धर्मभावना और मिथ से सम्बद्ध रहते हैं। मिथक-प्रतीक की पृष्ठभूमि में व्यक्ति-विशेष की नहीं, अपितु समुदाय-विशेष की धार्मिक और जातिगत या सम्प्रदायगत धारणाएँ तथा अन्धविश्वास क्रियाशील रहते हैं। जैसे, पुस्तक या वीणा सरस्वती के लिए, कमल या कलश लक्ष्मी के लिए, बिल्वपत्र या त्रिशूल शिव के लिए तथा तुलसीपत्र या चक्र विष्णु के लिए मिथक-प्रतीक की भूमिका का निर्वहण करते हैं। जैन पुराणों में चौबीस तीर्थंकरों के भी अपने-अपने मिथक-प्रतीक निर्दिष्ट हुए हैं। संध्यासगणी ने भी बलदेव और वासुदेव के सम्बन्ध में पौराणिक श्रुति का सहारा लेते हुए कहा है कि परवर्ती काल में दोनों राजा प्रजापति के पुत्र अचल और त्रिपुष्ट के रूप में उत्पन्न हुए थे : "इयार्णि बलदेव-वासुदेवा पयावइस्स रण्णो पुत्ता अयल-तिविट्ठुत्ति, एस ताव पोराणा सुत्ती (पृ. ३११)।" इस प्रकार, धर्म-भावना और पौराणिक दृष्टि पर निर्भर होने के कारण मिथक-कथाएँ स्वभावतः प्रागैतिहासिक हुआ करती हैं।

डॉ. रमेश कुन्तलमेघ^५ परीकथा (फेयरी टेल), पशुकथा (फेबल), लोककथा (फोकटेल) और निजन्धरियों (लीजेण्ड्स) जैसे कथारूपों की बीज-चेतना तथा मूल उत्स मिथक-कथा को मानते हैं।

१. 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्व', पृ. २५२

२. उपरिवत्, पृ. २५२-५३

३. लेविस स्पेन्स : 'दि आउटलाइन ऑव माइथोलॉजी', पृ. १

४. (क) 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्व', पृ. २५३

(ख) एडविन होमिंग : 'डार्क कॉन्सियेट', लन्दन, सन् १९५९ ई. पृ. २४

५. 'परिषद्-पत्रिका', जनवरी, १९७८ ई. (वर्ष १७ : अंक ४), पृ. ९३

उनके अनुसार मिथक मानव-जाति के सामूहिक स्वप्न एवं सामूहिक अनुभव हैं। ये अवचेतन की उपज और तर्कपूर्व (प्रि-लॉजिकल) चिन्तन के रूप हैं। मिथक की यथार्थता पुनीत होती है और यह पुनीत यथार्थता सत्य भी होती है। इस दृष्टि से मिथक आस्था पर आश्रित एक हठात् विश्वास (मेक-बिलीफ) है। मिथक के पात्र और घटनाएँ, काल और देश सभी पुनीत होते हैं। अतएव, मिथकीय चेतना ऐतिहासिक चेतना को तो विस्मृत कराती है, लेकिन अपने स्वभाव एवं सौन्दर्यबोधात्मक कारणों से हमारी आत्मचेतना को जगाती है। मिथक-कथा मनुष्य में आदिम सरलीकृत प्रतिबोध जागरित करती है, अर्थात् स्वप्न के सीमान्तों में ले जाकर मनुष्य की आदिम जागरूकता को उन्मिषित करती है। फ्रॉयड का सन्दर्भ उपस्थित करते हुए डॉ. रमेश कुन्तलमेघ ने कहा है कि फ्रॉयड के मत से मिथक-निर्मिति और स्वप्न-निर्मिति एक जैसी है। मिथकों के बहिर्वृत्त में प्रतीकार्थ का रहस्यात्मक अवगुण्ठन पड़ा होता है, जिसको मनोवैज्ञानिक सघनीकरण, स्थानान्तरण, विपरीतों में रूपान्तरण आदि की विधियों द्वारा खोला जा सकता है। कुल मिलाकर, मिथक-कथाएँ 'पुनीत संस्कृति' की आधारभूमि हैं।^१

मिथकों में सबसे अधिक प्रचलित परियों या विद्याधरियों की कथाएँ हैं। फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषक रिक्लिन् ने मिथक एवं परीकथा के अभिप्रायों का विशिष्ट अध्ययन किया है। इनकी आधारभूमि यथार्थ दुनिया नहीं होती, बल्कि ये शैशव फान्तासियों को जादू की डोरों से बुनती हैं। डॉ. रमेश कुन्तलमेघ^२ ने कहा है कि परीकथाओं में मिथकीय काल एवं देश की निर्विकल्प चेतना उपस्थित रहती है। अर्थात्, इनमें एक समय, एक स्थान और एक राजकुमार या कोई सुन्दर राजकुमारी या कहीं की परी केन्द्र में होती है। इनमें अतिप्राकृतिक जादुई सम्मोहन और मानवीय भोलेपन की कान्त मैत्री होती है। इनमें कम-से-कम एक पात्र परी अवश्य होती है और बहुधा एक राक्षस या खलनायक या प्रतिनायक या प्रतिद्वन्द्वी भी होता है, जो क्रमशः मानवीय स्वप्नों एवं आकांक्षाओं तथा भयों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें मानवीय पात्र पशु या पक्षी में रूपान्तरित होकर 'इदम्' की दमित इच्छाओं का उदात्तीकरण करते हैं। इनका केन्द्रीय भावबोध कुतूहल है, तथा इनका अन्त बराबर सुखान्त होता है।

संघदासगणी ने मिथक-कथा के रूप में परी या अप्सरा की जगह विद्याधरियों की कथाओं का आकलन बड़े रोमाण्टिक ढंग से किया है। चौदहवें मदनवेगालम्भ (पृ. २२९) की कथा है : एक दिन वसुदेव सम्भोग-सुख के आस्वाद की थकावट के कारण सोये हुए थे कि एकाएक शरीर में ठण्डी हवा लगने से जग पड़े और अनुभव किया कि उन्हें कोई हरकर आकाशमार्ग से ले जा रहा है। वह कुछ चिन्तित हो रहे थे कि तभी सामने एक पुरुष दिखाई पड़ा। गौर से देखने पर पता चला कि वह उनका प्रतिद्वन्द्वी, उनकी ही प्रेयसी वेगवती का भाई, मानसवेग है। उनके मन में धारणा बँधी कि दुरात्मा मानसवेग उन्हें मार डालने के लिए कहीं ले जा रहा है। बस, मरने और मारने की भावना में आकर उन्होंने उसपर मुक्के से जोरदार प्रहार किया। उसके बाद वह मानसवेग अदृश्य हो गया। वह भी निराधार होकर गंगा नदी के जल की सतह पर गिर पड़े। इस मिथक-कथा के केन्द्र में वेगवती नाम की विद्याधरी है। चूँकि, वसुदेव ने मानसवेग की इच्छा के विरुद्ध वेगवती को स्वायत्त कर लिया था, इसलिए वह उनका प्रतिद्वन्द्वी बन गया था।

१. 'परिषद्-पत्रिका', जनवरी, १९७८ ई. (वर्ष १७ : अंक ४), पृ. ९५

२. उपरिवत्, पृ. ९५

मिथक-कथाओं की काल एवं देश की निर्विकल्प चेतना का उदाहरण वेगवतीलम्भ के प्रारम्भ (पृ. २४७) में प्राप्त होता है। विद्याधर-लोक के अरिजयपुर के प्रवासकाल में एक बार वसुदेव से उनकी मदनवेगा नाम की प्रेयसी रूठ गई। वह, उसे मनाने के उपायों पर सोच रहे थे कि तभी शूर्पणखी विद्याधरी मदनवेगा का छद्मरूप धारण कर वसुदेव के पास आई और उसने महल में कृत्रिम अग्निकाण्ड का भयंकर दृश्य उपस्थित कर दिया और उसी हलचल की स्थिति में वसुदेव को साथ लेकर आकाश में उड़ गई। उस विद्याधरी ने कुछ दूर आकाश में ले जाकर वसुदेव को छोड़ देना चाहा, तभी उन्होंने देखा कि उनका प्रतिद्वन्द्वी मानसवेग उन्हें पकड़ने को अपना हाथ बढ़ा रहा है। ऐसी स्थिति में, छद्म मदनवेगा उन्हें छोड़कर मानसवेग पर प्रहार करने लगी। मानसवेग भाग गया और वसुदेव भी चक्कर खाते हुए राजगृह में जाकर पुआल की टाल पर गिरे। प्रस्तुत मिथक-कथा में विद्याधर-लोक से मर्त्यलोक आने में देश और काल की निर्विकल्प चेतना तो स्पष्ट ही है; केन्द्रीय भावबोध कुतूहल भी पर्याप्त उद्दीप्त है।

मानवीय पात्र का पशु या पक्षी में रूपान्तरित होकर 'इदम्' की दमित इच्छाओं के उदात्तीकरण का उदात्त रूप चौथे नीलयशालम्भ (पृ. १८१) में प्रतिबिम्बित मिलता है। नीलयशा विद्याधरी शैशव में ही नीलकण्ठ विद्याधर की वाग्दत्ता बन चुकी थी, किन्तु युवती होने पर वह वसुदेव की परिणीता हो गई। तभी से नीलकण्ठ प्रतिक्रिया में रहने लगा।

नीलयशा के साथ सुखभोग करते हुए वसुदेव वैताढ्य पर्वत पर दिन बिता रहे थे। उसी समय नीलयशा ने वसुदेव को सलाह दी कि वह विद्याधरों की विद्या सीख लें, अन्यथा विद्याधर उन्हें पराजित कर देंगे। अपनी प्रिया नीलयशा से अनुमत होकर, वसुदेव विद्या सीखने के निमित्त प्रिया के साथ ही वैताढ्य पर्वत पर उतरे और वहाँ के रमणीय प्रदेशों में घूमने लगे। तभी नीलयशा ने मयूरशावक को विचरते हुए देखा। उसके चन्द्रकयुक्त पंख बड़े चिकने चित्र-विचित्र और मनोहर थे। यह वसुदेव के निकट आकर विचरने लगा। उसे देखकर नीलयशा बोली : "आर्यपुत्र ! इस मयूरशावक को पकड़ लीजिए। यह मेरे लिए खिलौना होगा।"

वसुदेव मयूरशावक के पीछे लग गये। मयूरशावक कभी घने पेड़ों के बीच से और कभी जंगल-झाड़ से भरी कन्दराओं से होकर बड़ी तेजी से चल रहा था। तब, वसुदेव ने नीलयशा से कहा : "मैं मयूरशावक को पकड़ने से असमर्थ हूँ। यह बड़ी फुरती से अदृश्य हो जाता है। तुम इसे अपने विद्याबल से पकड़ो।" नीलयशा दौड़ी और विद्या के प्रभाव से मयूरशावक की पीठ पर जा बैठी। मयूरशावक उसे अपनी पीठ पर लिये दूर निकल गया और फिर आकाश में उड़ गया। वसुदेव सोचने लगे : "राम मृग के द्वारा छले गये थे और मैं मयूर के द्वारा। निश्चय ही, नीलकण्ठ ने मेरी प्रिया का अपहरण कर लिया !"

अन्त में, देश-देशान्तरों का हिण्डन करते हुए वसुदेव को नीलयशा मिल जाती है और इस मिथकीय चेतनावाली कथा का अन्त सुखान्त होता है। इस प्रकार, संघदासगणी की मिथकीय चेतनावाली विद्याधरियों की कथाओं में सद्गुणों का विजय प्रदर्शित किया गया है।

वस्तुतः, मिथकीय परीकथाएँ शिशुओं के सहज सुखबोध तथा न्यायबोध की धात्री के समान होती हैं। मिथकीय चेतनावाली परीकथाओं में रत्यात्मक रोमांस के बावजूद नैतिकता का मधुर झीना अवगुण्ठन रहता है, साथ ही उनमें आदिम निर्बाधित साहस और शिष्ट छल-कपट का मिश्रण

भी पाया जाता है। 'वसुदेवहिण्डी' के चरितनायक वसुदेव स्वयं निर्बाध साहस के प्रतिरूप हैं और उन्हें अंगारक, हेम्फग, मानसवेग आदि विद्याधरों और मातंगवृद्धा, शूर्पणखी आदि विद्याधरियों के शिष्ट छल-कपट का बार-बार सामना करना पड़ता है।

मिथक-कथा में मिथकीय चेतना से अनुबद्ध पशुकथाएँ भी परिगणित होती हैं। डॉ. रमेश कुन्तलमेघ की धारणा है कि पशुकथाओं का मूलरूप टोटम (बन्धुता-विरोध) में अन्तर्निहित है। अतएव, ये कबीलों के आपसी सम्बन्धों को मित्र एवं शत्रुपक्ष के पशुओं के माध्यम से प्रकट करने के लिए व्यवहृत हुई होंगी। कालान्तर में कृषि-संस्कृति के विकास ने इनमें कबीलाई अनुभवों के स्थान पर विकसनशील अन्तःसामाजिक अनुभवों का समावेश कर दिया होगा।^१ पशुकथाओं के प्रमुख पात्र पशु-पक्षी-वृक्ष-नदी-पर्वत आदि होते हैं, जो अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करते हैं और मानुषी भाषा का व्यवहार करते हैं। पशुकथाओं में सामाजिक यथार्थता की कठोर मीमांसा हुई है और व्यवहारवादी दृष्टान्तों के आधार पर नैतिक उपदेश भी दिये गये हैं। इस सन्दर्भ में, हाथी के भव में स्थित सिंहसेन की कथा (पृ. २५६ : बालचन्द्रालम्भ) उदाहर्तव्य है : साधु सिंहचन्द्र की उपदेश-वाणी सुनकर हाथी के भव में स्थित सिंहसेन ने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत लिया और पंचनमस्कार-धारणपूर्वक अणुव्रत को स्वीकार किया। एक बार वह दलदल में फँसकर बाहर निकलने से असमर्थ हो गया। ऐसी स्थिति में उसने आमरण अनशन का निश्चय किया।

इधर, चमरी मृग के भव में स्थित पुरोहित श्रीभूति का शरीर जंगली आग से झुलस जाने के कारण, वह मरकर वैरानुबन्धजनित जन्म-परम्परा में कुक्कुट सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। बीच जंगल में पहुँचने पर उस सर्प की नजर हाथी पर पड़ी। रुष्ट होकर साँप ने हाथी को काट खाया। जब विष पूरा चढ़ आया, तब हाथी नमस्कार-मन्त्र जपने लगा और सोचने लगा : "यही उत्तम समय है; मेरा शरीर मुझसे भिन्न है और मैं शरीर से भिन्न हूँ।" इस प्रकार प्रशस्त ध्यान में अवस्थित हाथी मृत्यु को प्राप्त कर महाशुक्र कल्प के श्रीतिलक विमान में सत्रह सागरोपम कालावधि के लिए देव हो गया।

इस मिथक-कथा में पशुओं की मनुष्यवत् चिन्तन-शक्ति और उनका धर्माचरण (मन्त्रजप, अणुव्रत के उपदेश का ग्रहण आदि) मिथकीय बोध के मिथ्यातत्त्व और धर्मभावन की ओर संकेत करते हैं; किन्तु संघदासगणी ने इस मिथकीय बोध को पूर्वभव के संस्कार की बौद्धिक चेतना पर आधृत करके उसमें विश्वास्यता उत्पन्न की है। फलतः धार्मिक आस्था पर विश्वास हठात् आश्रित हो जाता है।

इसी सन्दर्भ में 'वसुदेवहिण्डी' की 'गोपदारक-कथा' (कथोत्पत्ति : पृ. १३) का भी उल्लेखनीय महत्त्व है : अंग-जनपद में प्रचुर गाय-भैंसवाले ग्वाले रहते थे। एक बार चं. ने गोशाला पर आक्रमण कर दिया। वे चोर एक प्रथमप्रसूता रूपवती युवती को भी, उसे उसके नवजात बच्चे से अलग कर, हर ले गये। उन्होंने उसे शहर (चम्पानगर) ले जाकर वेश्या के बाजार में बेच दिया। युवती का नवजात पुत्र वयःक्रम से जवान हुआ और चम्पानगर जाकर घी का व्यापार करने लगा। वहाँ उस गोपदारक ने वेश्यागृह में तरुण पुरुषों को स्वच्छन्द क्रीड़ा करते देखा। उसने इच्छित युवती के साथ विहार के विना अपने धन को व्यर्थ समझा। वेश्यागृह में वेश्याओं को

निरखने-परखने के क्रम में उसे अपनी माता ही पसन्द आ गई। उसके लिए उसने इच्छित शुल्क भी दिया।

सन्ध्या में नहा-धोकर ज्योंही वह अपनी वेश्या-माता के पास चला, त्यों ही एक देवी बछड़े के साथ गाय का रूप धरकर उस गोपदारक के समक्ष आ खड़ी हुई। गोपदारक ने अपने अशुचि-लिप्त गन्दे पैर को बछड़े पर रखकर पोंछने लगा। उस बछड़े ने मनुष्यवाणी में गाय से पूछा : “माँ, यह कौन आदमी अपने अशुचि-लिप्त गन्दे पैर को मुझपर रखकर पोंछ रहा है?” गाय ने कहा : “बेटे ! गुस्सा मत करो। यह अभाग्य अपनी माँ के पास अकृत्य करने जा रहा है।” यह कहकर देवी अदृश्य हो गई और प्रतिबोधित गोपदारक उस नीच कृत्य से विरत हो गया।

प्रस्तुत मिथक-कथा की मिथकीय चेतना के अनुसार, इसके पात्र गाय-बछड़े अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करते हैं और मानुषी भाषा का व्यवहार करते हैं। अतएव, यह पशुकथा नैतिक उपदेश देने के साथ-साथ व्यंग्याभास (आयरनी) द्वारा सामाजिक आलोचना भी करती है। साथ ही, इसमें धर्म के मिथकीकरण (माइथोलाइजेशन) का भी सूत्र खुलता है। इस कथा में मिथकों का नैतिकीकरण (एथिकलाइजेशन) भी हुआ है, इसलिए समगोत्ररति का निषेध भी किया गया है।

इसी प्रसंग में नीतिश्लोकों का पाठ करनेवाले भानु के सुग्गे और शाम्ब की मैना की मिथकीय बोधवाली कथा (मुख : पृ. १०५) को भी उदाहृत किया जा सकता है। या फिर, गन्धर्वदत्तालम्भ की, उस बकरे की कथा (पृ. १४९) को निदर्शित किया जा सकता है, जिसे वसुदेव ने नमस्कार-मन्त्र को हृदयंगम करने का उपदेश दिया था और बकरे ने अपने अश्रुपूर्ण मुख को उनके प्रति प्रणाम की मुद्रा में झुकाकर उपदेश को स्वीकृत करने का भाव प्रदर्शित किया था। ‘वसुदेवहिण्डी’ में इस प्रकार की अनेक पशुकथाएँ हैं, जिनमें मिथकीय परीकथा तथा निजन्धरी लोककथा की सन्धि उपस्थित हुई है।

निजन्धरियाँ भी मिथकीय बोधवाली कथाओं के प्रतिरूप हैं। लोक-साहित्य एवं आभिजात्य-साहित्य की सन्धिभूमि पर अवस्थित निजन्धरियों में इतिहास एवं लोकतत्त्व का समन्वय होता है। ऐतिहासिक एवं सौन्दर्यबोधधात्मक सामग्री को लोकतत्त्वों के तानों-बानों में बुनकर निजन्धरियों का निर्माण होता है। मिथकीय चेतना से युक्त निजन्धरियाँ देश और काल के अक्ष से विमुक्त नहीं होतीं, अपितु इनकी ऐतिहासिक चेतना देश एवं काल के अक्षों को थोड़ा अदल-बदल देती हैं। डॉ. रमेश कुन्तलमेघ ने कहा है : “निजन्धरी में खुद इतिहास ही रोमांस की ओर पुरागमन करता है तथा निजन्धरी अभिप्राय (लीजेण्डरी मोटिव्ज) इतिहास के समय, पात्र, घटना, अनुभव, देश, समस्या आदि का सामान्यीकरण कर देते हैं। ये सामान्यीकृत अभिप्राय मानवीय वृत्तियों के रूपक एवं वाहक भी हो जाया करते हैं।”^१ इसलिए, कुल मिलाकर निजन्धरियाँ ग्राम्य-संस्कृति का संश्लेषण हुआ करती हैं। मिथक और निजन्धरी में सूक्ष्म अन्तर यह है कि एक यदि प्रागैतिहासिक होता है, तो दूसरी ऐतिहासिक रोमांस का सूत्रपात करती है।

आचार्य संघदासगणी-रचित ‘वसुदेवहिण्डी’ की ऐतिहासिक या पौराणिक-धार्मिक कथाओं में लोकतत्त्व का अद्भुत समन्वय पाया जाता है। इस सन्दर्भ में आदि तीर्थंकर ऋषभस्वामी के

१. ‘परिषद्-पत्रिका’ (वही), पृ. ९७।

जन्मोत्सव की कथा (नीलयशालम्भ : पृ. १५८) उद्धरणीय है : एक दिन नाभिकुमार की पत्नी मरुदेवी बहुमूल्य शय्या पर सुख से सोई हुई थी। स्वप्न में उसने आकाश के आँगन से वृषभ को उतरते देखा। स्वप्न में ही वह सोचने लगी कि क्या यह चलने-फिरनेवाला रजतपर्वत है या उज्ज्वल मेघ ? जब वह निकट आया, तब उसके प्रशस्त मनोहर मुँह, आँख, कान, खुर, सींग, ककुद् और पूँछ को देखकर मरुदेवी चकित रह गई और ज्योंही वह जँभाई लेने लगी, वृषभ उसके मुँह में प्रवेश कर गया। उसे तब और आश्चर्य हुआ कि उसके मुँह में वृषभ के प्रवेश कर जाने पर भी, तनिक भी शरीर-पीड़ा नहीं हुई, वरन् परम सुख प्राप्त हुआ। इसके बाद वह जग पड़ी।

फिर, नींद आ जाने पर स्वप्न में मरुदेवी ने और तेरह दिव्य दृश्य देखे। इस प्रकार, कुल चौदह स्वप्न देखने के बाद वह जगी। नाभिकुमार ने स्वप्नफल बताते हुए कहा : “तुमने उत्तम स्वप्न देखा है, तुम धन्य हो। नौ महीने बीतने पर तुम हमारे कुलकर पुरुषों में प्रधान, त्रैलोक्यप्रकाशक, भारतवर्ष के तिलक-स्वरूप पुत्र को जन्म दोगी।” भगवान् ऋषभस्वामी पूर्वभव में वज्रनाभ थे। उन्होंने तीर्थंकर नाम-गोत्र आयत्त किया था। सर्वार्थसिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम काल तक उत्तम विषयसुख का अनुभव कर वह, चन्द्रमा जब उत्तराषाढ नक्षत्र में था, मरुदेवी की कोख में अवतीर्ण हुए। नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवी देव-देवियों से समादृत होकर सुखपूर्वक तीर्थंकर का गर्भ वहन करने लगी। समय पूरा होने पर उसने चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन उत्तराषाढ नक्षत्र में तप्तकांचनवर्णाभि सर्वमंगलालय पुरुषश्रेष्ठ पुत्र को जन्म दिया।

उसके बाद अधोलोकवासिनी आठ दिक्कुमारियाँ अपने-अपने अवधिज्ञान से तीर्थंकर के जन्म की बात जानकर दिव्यगति से मरुदेवी के घर पहुँची। उन्होंने तीर्थंकर और मरुदेवी की वन्दना करके जन्मोत्सव के निमित्त ‘संवर्तक’ नामक वायुविशेष से पवित्र किये गये एक योजन परिमण्डल में औत्सविक प्रदेश का निर्माण किया और वे गीत गाती हुई खड़ी रहीं। फिर, ऊर्ध्व लोकवासिनी आठ दिक्कुमारियों ने आकर गन्धोदक की वर्षा की। पुनः रुचक (देव-विमान) से आठ दिक्कुमारियाँ आईं और हाथ में झारी लिये नम्रतापूर्वक खड़ी रहीं। फिर, पश्चिम देव-विमान से आठ दिक्कुमारियाँ तालवृन्त हाथ में लिये आईं। उसी प्रकार उत्तर देव-विमान से आठ दिक्कुमारियाँ चामर हाथ में लिये आईं।

इसके बाद रुचक देव-विमान की उपदिशा से चार विद्युत्कुमारियाँ आईं और चारों विदिशाओं में दीपिका हाथों में लिये खड़ी रहीं। तदनन्तर, देव-विमान के मध्य में रहनेवाली चार दिक्कुमारियाँ सपरिवार श्रेष्ठ विमान से आईं। उन्होंने जिनमाता मरुदेवी की वन्दना करके उसे अपने आने का प्रयोजन बताया। फिर, उन्होंने तीर्थंकर का जातकर्म-संस्कार प्रारम्भ किया : नवजात के नाभिनाल को चार अंगुल छोड़कर काट डाला और उस कटी हुई नाभि को धरती में गाड़ दिया, फिर उस गड्ढे को रत्न और दूर्वा से भरकर उसपर वेदी बना दी। उसके बाद उन्होंने अपनी वैक्रियिक शक्ति से दक्षिण, पूर्व और उत्तर—इन तीनों दिशाओं में मरकतमणि की भाँति श्यामल आभूषणों से मण्डित कदलीघर का निर्माण किया। और फिर, कदलीघर के मध्यभाग में कल्पवृक्ष की, स्वर्णजाल से अलंकृत चतुश्शाला बनाई। उसमें उन्होंने पुत्रसहित जिनमाता को मणिमय सिंहासन पर बैठकर क्रम से तेल-उबटन लगाया। फिर, दक्षिण-पूर्व दिशा में ले जाकर उन्हें त्रिविध (शीत, उष्ण और द्रव्यमिश्रित) जल से स्नान कराया और फिर उत्तरी चतुश्शाला में गोशीर्ष चन्दन और अरणी की

लकड़ी से आविर्भूत अग्नि में हवनकार्य सम्पन्न किया। इस प्रकार, दिक्कुमारियाँ रक्षाकार्य पूरा करने के बाद माता-पुत्र को जन्मभवन में लिवा लाई और मंगलगीत गाती हुई खड़ी रहीं।

उसी समय देवराज इन्द्र परिवार-सहित ज्योतिर्मय 'पालक' विमान से तीर्थकर की जन्मभूमि में पधारे और उन्होंने जिनमाता मरुदेवी की वन्दना करके, उसे अवस्थापिनी विद्या से सुला दिया और उसके पार्श्व में कुमार का प्रतिरूप विकुर्वित कर रख दिया, ताकि मरुदेवी विश्वस्त भाव से सोई रहे। उसके बाद इन्द्र जिन भगवान् को आदर-सहित अपने पंचरंगे कर-कमल के बीच अच्छी तरह रखकर, मन्दराचल के शिखर की भाँति, दक्षिण दिग्भाग में प्रतिष्ठित पर्वतविशेष के शिखर की 'अतिपाण्डुकम्बलशिला' पर क्षणभर में ही ले गये। वहाँ उन्होंने जिनदेव को शाश्वत सिंहासन पर बैठाया और स्वयं खड़े रहे। चतुर्विध देव (वैमानिक, ज्योतिष्क, भवनपति और व्यन्तर) जिन भगवान् के निकट जाकर वन्दना करने लगे।

तदनन्तर, अच्युतेन्द्र (११वें-१२वें देवलोक के स्वामी इन्द्रविशेष) ने परितुष्ट होकर विधिपूर्वक क्षीरोदसागर के जल से पूर्ण साठ हजार स्वर्णकलशों से जिनेन्द्र को स्नान कराया। उसके बाद क्रम से सर्वौषधिमिश्रित जल और तीर्थों के जल से भी अभिषेक कराया। लोकनाथ तीर्थकर के अभिषेक के समय देव प्रसन्न मन से रत्न, मणि और फूलों की वर्षा करने लगे। अच्युतेन्द्र ने स्नान कराने के बाद तीर्थकर को वस्त्र एवं आभूषणों से अलंकृत किया। फिर उसने स्वस्तिक लिखे और अतिशय सुगन्धियुक्त धूप जलाया, फिर श्रुतिमधुर स्वरों में स्तुति करके पर्युपासना में लग गया। इसके बाद अनेक इन्द्रों ने भी तीर्थकर की सादर पूजा-वन्दना की। तदनन्तर देवराज इन्द्र पूर्वविधि से क्षणभर में तीर्थकर को उनकी माता मरुदेवी के समीप ले आये। प्रतिरूप पुत्र के हटते ही मरुदेवी की नींद खुल गई और इन्द्र ने 'जय' शब्द का उच्चारण किया।

उसके बाद सुरपति ने एक जोड़ा रेशमी वस्त्र और कुण्डल सिरहाने में रख दिया और सर्वविघ्नशमनकारी श्रीसम्पन्न फूल की मालाएँ भवन की छत से लटका दीं। फिर, विपुल रत्नराशि देकर तथा भविष्य में रक्षा के निमित्त अपनी सेवा अर्पित करने की घोषणा करके इन्द्र अपने लोक में चले गये। शेष देव भी जिनेन्द्र के प्रणाम से पुण्य-संचय अर्जित करके अपने-अपने स्थान के लिए विदा हो गये।

अनेक कथारूढ़ियों से संकुल प्रस्तुत मिथक-कथा एक ओर लौकिक विश्वासों से व्याप्त है, तो दूसरी ओर इसमें धार्मिक विश्वास का विपुल विनियोग भी हुआ है। अनेक धार्मिक और पारम्परिक अनुसरणशील बिम्बों के गुच्छ से आच्छादित इस मिथक-कथा में मानवेतर—विशेषतया देवताओं के चरित्र और कार्यकलाप चित्रित हुए हैं। इसके अतिरिक्त, इसमें मिथ्यातत्त्व की अधिकता और समाज की मौखिक परम्पराओं से सम्बद्ध रहने की प्रवृत्ति भी स्पष्ट है, साथ ही कपोल-कल्पना के तत्त्वों का भी प्राचुर्य है। धर्म-भावना और पौराणिक दृष्टि पर निर्भर होने के कारण इस मिथक-कथा में प्रागैतिहासिकता के तत्त्व भी समाविष्ट हैं, साथ ही मिथ के, पुनीत संस्कृति की आधारभूमि होने के कारण इस कथा के पात्र, घटनाएँ, देश और काल सभी पुनीत हैं। इस कथा में जादुई सम्मोहन और मानवीय भोलेपन की कान्त मैत्री की मनोरमता का भी अपना माधुर्य है। इसके अतिरिक्त ऋषभस्वामी के नाभिनाल को काटने और उसे गाड़ने आदि जातकर्म के संस्कारों में लोकतत्त्वों का विनियोग भी द्रष्टव्य है।

ऋषभस्वामी के जन्मोत्सव की कथा के क्रम में ही इक्ष्वाकु-वंश और अकालमृत्यु की उत्पत्ति की जो मिथक-कथा कही गई है, उसकी अपनी रोचकता है : जिनमाता मरुदेवी को स्वप्न में वृषभ के दर्शन हुए थे, इसलिए माता-पिता ने तीर्थंकर का नाम 'ऋषभ' रखा। भगवान् जब साल-भर के हुए, तब इन्द्र वामन रूप धरकर ईश का बोझ लिये नाभिकुमार के समीप आये। भगवान् ने त्रिविध ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि) के प्रभाव से देवेन्द्र का अभिप्राय जान लिया और उन्होंने प्रशस्त लक्षणोंवाला अपना दायीं हाथ फैला दिया। सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने पूछा : "क्या इक्षु (ईश) खायेंगे?" चूँकि भगवान् ने ईश की अभिलाषा प्रदर्शित की, इसलिए उनके वंश का नाम 'इक्ष्वाकु-वंश' हो गया।

मिथुनधर्म के अनुसार, मरुदेवी की सहजात कन्या सुमंगला के साथ ऋषभस्वामी बढ़ने लगे। उसी अवधि में, ऋषभस्वामी के नगर में एक और मिथुन उत्पन्न हुआ। जन्म लेते ही मिथुन को तालवृक्ष के नीचे रख दिया गया था। तालफल के गिरने से शिशुयुग्म का लड़का मर गया और लड़की को पालन-पोषण के निमित्त नाभिकुमार (ऋषभस्वामी के पिता) के संरक्षण में दे दिया गया। इस बालिका का नाम सुनन्दा था और शारीरिक सौन्दर्य से यह देवकन्या की भाँति दिपती थी, इसलिए नाभिकुमार ने इसका यत्नपूर्वक पालन-पोषण किया। उसी समय से अकालमृत्यु प्रारम्भ हुई।

मिथकीय चेतना से युक्त उक्त दोनों कथाप्रसंगों में इतिहास और लोकतत्त्व का अद्भुत समन्वय है। संध्यासगणी ने अपनी उदात्त कल्पना द्वारा ऐतिहासिक एवं सौन्दर्यबोधात्मक सामग्री को लोकतत्त्वों के तानों-बानों में बुनकर निजन्धरी का निर्माण किया है, जिसमें ऐतिहासिक चेतना तथा देश एवं काल के अक्षों को परिवर्तित कर दिया गया है। इसीलिए, कहा जाता है कि इतिहास मिथों को जन्म देता है।

'वसुदेवहिण्डी' में इस प्रकार की मिथक-कथाओं का बाहुल्य है। विशेषकर तीर्थंकरों के चरित-चित्रण में विन्यस्त मिथकीय बोध अपनी चरम सीमा का भी अतिक्रमण करता है। मिथकीय चेतना से संवलित 'वसुदेवहिण्डी' की यथानिर्दिष्ट कथाएँ द्रष्टव्य हैं : अथर्वेद (अथर्ववेद) की उत्पत्ति (गन्धर्वतालम्भ : पृ. १५१), अनार्य वेदों की उत्पत्ति (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८५), अष्टापद तीर्थ की उत्पत्ति (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३०१), आर्यवेदों की उत्पत्ति (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८३), कोटिशिला की उत्पत्ति (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४८), गणिका की उत्पत्ति (पीठिका : पृ. १०३), धनुर्वेद की उत्पत्ति (पद्मालम्भ : पृ. २०२), नरक का स्वरूप (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७०), परलोक के अस्तित्व की सिद्धि (श्यामाविजयालम्भ : पृ. ११५), पिप्पलाद की उत्पत्ति (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५१), ब्राह्मणों की उत्पत्ति (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८२), विष्णुगीत की उत्पत्ति (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १२८), हरिवंश की उत्पत्ति (पद्मावतीलम्भ : पृ. ३५६) आदि। इन कथाओं में मिथकीय बोध के समस्त तत्त्व, जैसे पुराण, इतिहास, कविकल्पना, दन्तकथा, कथा, रोमांस, प्रेमाख्यान, रत्यात्मक प्रेम, निजन्धरी, धर्मभावना, कपोल-कल्पना, लोकतत्त्व आदि के विराट् दर्शन होते हैं। इन कथाओं में मिथ की जातीय कल्पना को धार्मिक विश्वसों ने स्वायत्त कर लिया है।

'वसुदेवहिण्डी' की पौराणिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की मिथक-कथाओं में पराप्राकृतिक या अतिप्राकृतिक पात्रों को प्राकृत पात्रों की भूमिका में उतारा गया है, जो जैनकथा की, अलौकिकता से लौकिकता और पुनः अलौकिकता की ओर प्रस्थान की, सहज प्रवृत्ति का द्योतक है। इस प्रकार,

‘वसुदेवहिण्डी’ की मिथक-कथाएँ न केवल लौकिक हैं और न ही अलौकिक, अपितु वे लौकिकालौकिक हैं। संघदासगणी ने मिथक-कथाओं की असामान्यता को सामान्यीकृत करके उन्हें फिर असामान्य बना दिया है, इसलिए वे कथाएँ केवल सामान्य या असामान्य न होकर सामान्यासामान्य बन गई हैं और इस प्रकार वे मूल इतिहास की विकृति से उत्पन्न अतिप्राकृत पात्रों और चमत्कारपूर्ण घटनाओं के रूप में परिणत हो गई हैं। जातीय जीवन को प्रभावित करनेवाली असाधारण महत्त्व की ये घटनाएँ और इनके पात्र स्वभावतः मिथिक अभिप्रायों से युक्त हो गये हैं। क्योंकि, प्राकृतिक या अतिप्राकृतिक घटनाओं की रूपकात्मक या कथात्मक अभिव्यक्ति ही मिथकीय चेतना की आधारभूमि है।

मिथक-कथा की कल्पनाएँ या घटनाएँ सत्यास्थित होते हुए भी सत्य नहीं होतीं। उनकी स्थिति सत्यासत्य की होती है। डॉ. दिनेश्वर प्रसाद ने पौरस्त्य और पाश्चात्य धारणाओं के परिप्रेक्ष्य में ‘मिथ’ की गम्भीर विवेचना करते हुए लिखा है कि “मिथ और सत्य एक दूसरे के विपरीत हैं; क्योंकि यदि मिथ द्वारा प्राप्त समाधान सत्य प्रमाणित हो जाय, तो वह मिथ नहीं रह जाता। यह सत्य एक ओर विज्ञान के सत्य से भिन्न है, तो दूसरी ओर इतिहास के सत्य से। इसमें जिन घटनाओं का विवरण मिलता है, यह आवश्यक नहीं कि उन घटनाओं की किसी सुदूर या निकटवर्ती अतीत की वास्तविक घटनाओं से पूर्ण या आंशिक अनुरूपता हो और इस प्रकार जिनका मूल, इतिहास में प्रमाणित किया जा सके। दैनन्दिन जीवन के आनुभविक यथार्थ से भी उनकी संगति का अन्वेषण कठिन है।”^१ और, यह कठिनाई इसलिए उपस्थित होती है कि मिथक-कथा में लौकिक पात्रों के जीवन की कहानी अतिलौकिक पात्रों द्वारा प्रभावित होती है। मानव की बुद्धि अतिलौकिक भावों और वस्तुओं की कल्पना और अनुभूति में जब पराजित या असमर्थ हो जाती है, उसी स्थिति में ‘मिथ’ का जन्म होता है।

संघदासगणी द्वारा ऋषभस्वामी-चरित के चित्रण के क्रम में विश्व की सृष्टि और उसके विकास की जो कथा (नीलयशालम्भ : पृ. १५७) उपन्यस्त की गई है, वह मिथकीय मूलचेतना का विषय है। इसलिए फ्रांज बोआज ने कहा है कि मिथिक धारणाएँ विश्व के संघटन और उत्पत्तिविषयक मूलभूत विचार हैं।^२ कहना न होगा कि मानव-अस्तित्व का मूल स्वभाव ही मिथक-बोध से संवलित है। ज्ञातव्य है कि विश्व आरम्भ से ही मिथिक और वैज्ञानिक, इन दो भिन्न, किन्तु परस्पर पूरक स्तरों पर अवगम्य रहा है। वस्तुओं का भावात्मक या कल्पनात्मक साक्षात्कार मिथिक स्तर है, तो विविक्तीकरण और सिद्धान्त-निरूपण वैज्ञानिक स्तर। मिथिक प्रक्रिया अहन्ता-प्रधान है और वैज्ञानिक प्रक्रिया इदन्ता-प्रधान। मिथ और विज्ञान, ये दोनों वस्तुसत्ता के अवबोध की समान्तर, स्मरूप और संगत विधियाँ हैं। संघदासगणी ने अपनी कतिपय मिथक-कथाओं में वैज्ञानिक तत्त्वों की ओर भी संकेत किया है, जिससे स्पष्ट है कि वह अपनी मिथकीय चेतना में वैज्ञानिक बोध को भी संवेगों से अनुरजित करके उपन्यस्त करने में निपुण थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वह

१. डॉ. ‘काव्यरचना-प्रक्रिया’ नामक संकलन-ग्रन्थ (डॉ. कुमार विमल द्वारा सम्पादित) में डॉ. दिनेश्वर प्रसाद का ‘काव्य-रचना-प्रक्रिया और मिथ’ शीर्षक लेख, पृ. १०१

मानवीय बोध की पूर्ण व्याख्या के लिए दोनों विधियों को समान रूप से संगत मानते थे। इस सन्दर्भ में विष्णुकुमार की कथा (गन्धर्वदत्ता-लम्प : पृ. १२९) उदाहर्तव्य है :

हस्तिनापुर के राजा पद्मरथ के दो पुत्र थे : विष्णु और महापद्म। पद्मरथ अपने ज्येष्ठ पुत्र विष्णुकुमार के साथ प्रव्रजित हो गया और महापद्म राज्य करने लगा। विष्णुकुमार अनगार धर्म का पालन करते हुए साठ हजार वर्ष तक परम दुश्चर तप करता रहा। फलतः, उसे सूक्ष्म-स्थूल आदि विविध प्रकार के रूप धारण करने, अन्तर्हित होने तथा आकाश में गमन करने का विशिष्ट सामर्थ्य प्राप्त हो गया।

एक बार राजा महापद्म का पुरोहित नमुचि शास्त्रार्थ में साधुओं से पराजित हो गया। फलतः, वह साधुओं के प्रति विद्वेष रखने लगा। एक दिन उसने अपनी चाटुकारिता से राजा को सन्तुष्ट करके राज्य करने का वरदान माँग लिया। सारी प्रजा उसे ही राजा मानने लगी।

एक दिन नमुचि ने वर्षावास करते हुए साधुओं को राज्य से बाहर निकल जाने की आज्ञा जारी की, कि सात रात के बाद जो भी साधु यहाँ रहेगा, वह वध्य माना जायगा। इसपर सभी साधु सम्मिलित रूप से विचार करने बैठे। संघ-स्थविर की आज्ञा से एक आकाशगामी साधु क्षण-भर में ही अंगदेश-स्थित मन्दराचल पर विष्णुकुमार के निकट उपस्थित हुए। विष्णुकुमार ने उनसे कहा : “भन्ते, आज आप विश्राम करें। कल चलेंगे।” जब साधु सो गये, तब सोई हुई हालत में ही उन्हें साथ लेकर विष्णुकुमार आकाशमार्ग से हस्तिनापुर पहुँच गया। साधुओं ने उसे नमुचि के अनाचार की बात बताई।

विष्णुकुमार ने नमुचि से कहा कि वर्षाकाल में धरती अनेक जीवों से भर गई है, इसलिए साधुओं के संचरण के विरुद्ध पड़ती है। वर्षाकाल के बाद ये साधु आपके राज्य का त्याग कर देंगे। नमुचि ने विष्णुकुमार के निवेदन पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। तब, विष्णुकुमार ने नमुचि से कहा कि यदि आपने साधुओं को भगाने की ही ठान ली है, तो मेरी एक बात मानिए, निर्जन स्थान में मुझे तीन पग भूमि दीजिए। वहीं रहकर साधु अपना प्राण-विसर्जन करेंगे। नमुचि राजी हो गया।

सहसा विष्णुकुमार रोष से प्रज्वलित हो उठा। धरती नापने के लिए अपने शरीर को विराट् आकार में परिणत करके उसने अपना पैर उठाया। नमुचि डरकर विष्णु के पैरों पर गिर पड़ा और बोला : “भगवन् ! मेरा अपराध क्षमा करें।” उसके बाद विष्णुकुमार ने ‘ध्रुवागीति’ पढ़ी और क्षणभर में दिव्य रूप धारण कर लिया।

विष्णु का दिव्य शरीर बढ़ता ही चला गया। भयविह्वल लोग विराट् शरीर के अन्तराल में शिलाखण्ड, पर्वतशिखर, बड़े-बड़े पेड़ और विविध आयुध फेंकने लगे। लेकिन, ये सभी वस्तुएँ विष्णु के हुंकार की हवा से छितराकर चारों ओर गिरने लगते थे। विष्णु के अदृष्टपूर्व महाशरीर को देखकर किन्नर, किम्पुरुष, भूत, यक्ष, राक्षस, ज्योतिष्क देव, महोरग आदि भय से भाग चले और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर कातर भाव से आर्तनाद करते हुए हड़बड़ी में एक-दूसरे पर गिरने लगे। सभी खेचर प्राणी भय से काँपने लगे। अतिशय विस्मित होते हुए उन्होंने देखा कि संचरणशील मन्दराचल की तरह विष्णु का दिव्य शरीर क्षणभर में एक लाख योजन विस्तृत हो गया। ऋद्धि की बहुलता के कारण विष्णु का शरीर प्रज्वलित अग्निपुंज की तरह और मुख

शरत्कालीन चन्द्र की भाँति प्रतीत होता था। शरीर बढ़ते-बढ़ते इतना ऊँचा उठ गया कि ज्योतिष्यथ (ग्रह-नक्षत्र का मार्ग) क्रमशः उसके वक्षःस्थल, नाभि, कटि और जानुप्रदेश के पास आ गया। धरती हिलने लगी। विष्णु ने अपना दायाँ पैर मन्दराचल के शिखर पर रखा और दूसरे (बाँये) पैर को जब आगे रखा, तब समुद्र का जल उद्वेलित हो उठा। तब उसने दोनों तलहथियों को एक साथ आहत किया, जिसके (ताली के) शब्द से महर्द्धिक देवों के अंगरक्षक अतिशय त्रस्त हो उठे !

इसी समय विपुल अवधिज्ञानी इन्द्र को वस्तुस्थिति का आभास हुआ और उनका आसन विचलित हो उठा। उन्होंने देवों के समक्ष संगीत और नृत्य की मण्डली के अधिपति से कहा : “भगवान् अनगर विष्णु नमुचि पुरोहित की अवमानना से अतिशय कुपित होकर तीनों लोकों को निगलने के लिए तैयार हैं। इसलिए, उन्हें गीत और नृत्योपहार से अनुनयपूर्वक शान्त करो।” इन्द्र की आज्ञा से तिलोत्तमा, रम्भा, मेनका और उर्वशी ने विष्णु की आँखों के समक्ष नृत्य किया; बाजे बजाये गये; तुम्बुरु, नारद, हाहा, हूहू और विश्वावसु ने गीत गाये। फिर, विष्णु के कान के समीप स्तुति की : “भगवन्, शान्त हों।” इसके बाद जिनेन्द्र के नाम और गुणों का कीर्तन किया। महर्द्धिक देव और वैताढ्य-श्रेणी के निवासी विद्याधर, देवसमूह-सहित इन्द्र को, भगवान् विष्णुकुमार की प्रसन्नता के निमित्त उपस्थित जानकर, शीघ्र ही देवों के पास चले आये। वे भी तथावत् स्तुति करने एवं शास्त्रानुरूप गीत गाने लगे। फिर, भौरै जिस प्रकार कमलों में रसलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार वे विष्णु के उठे हुए चरणकमलों पर लोटने लगे।

तुम्बुरु और नारद ने सन्तुष्ट होकर विद्याधरों से कहा : “आश्चर्य, आप मनुष्य होकर भी देवों के साथ स्तुति करने की क्षमता रखते हैं !” फिर, उन्होंने विद्याधरों से कहा : “हम आपपर प्रसन्न हैं। संगीत में आपकी अतिशय अनुरक्ति होगी। सम्प्रति, आप सप्त स्वरतन्त्री से निस्सृत, गान्धार-स्वरसमूहयुक्त, मनुष्यलोकदुर्लभ यथानिबद्ध विष्णुगीत धारण करें।” “आपका हमारे प्रति परम अनुग्रह है”, ऐसा कहते हुए विद्याधरों ने विष्णुगीत धारण (ग्रहण) किया।

राजा महापद्म ने भी नमुचि पुरोहित के दुर्नय की बात सुनी और विष्णु के वैक्रियिक दिव्य महाशरीर को आकाश में आपूर्ण देखा, तो भयाकुल हो उठा। उसके प्राण कण्ठ में आ गये। नगर-जनपद-सहित वह संघ की शरण में गया। संघ ने शास्ति के स्वर में राजा से कहा : “तुमने अपात्र को राजगद्दी पर बिठा दिया और इस प्रकार प्रमत्त हो गये कि फिर कभी खोज-खबर नहीं ली।” यह कहकर श्रमणसंघ ने राजा से विष्णुकुमार को शान्त करने का अनुरोध किया।

फिर सभी करबद्ध होकर प्रार्थना करने लगे : “भगवन् विष्णुकुमार ! शान्त हों। संघ ने राजा महापद्म को क्षमा कर दिया है। आप अपने विशाल रूप को समेटिए। अपने पैरों का प्रस्पन्दन रोक दीजिए। आपके तेज के प्रभाव से धरती डोलने लगती है और रसातल को जाने लगती है। आपके चरणों के निकट ही श्रमणसंघ उपस्थित है।” विष्णुकुमार साधुओं की प्रार्थना के स्वर को सुन नहीं रहा था। क्योंकि, अन्तरिक्ष में स्थित उसका विशाल शरीर स्वर की गति की सीमा से भी ऊपर उठ गया था।

तब, वहाँ उपस्थित श्रेष्ठ श्रुतधरों ने कहा : “निश्चय ही, बारह योजन से ऊपर अन्तरिक्ष में शब्द नहीं सुनाई पड़ता है। विष्णुकुमार की श्रवणेन्द्रिय किसी ऐसे ही भाग में है, इसीलिए वह हमारे शब्द सुन नहीं पा रहे हैं। उनका शरीर तो बढ़ते-बढ़ते एक लाख योजन ऊपर उठ गया है। उतने ऊपर उठे होने पर भी वह रूप के विषय बने हुए हैं, इसलिए उनके पैरों पर आघात दीजिए।

निश्चय ही, वह ऊपर से हमें देखेंगे और श्रमणसंघ को उपासना करते देखकर शान्त हो जायेंगे।” सभी साधु एक साथ विष्णु के पैरों पर आघात देने लगे। स्पर्शेन्द्रिय से संज्ञा पाकर महर्षि विष्णु ने धरती की ओर दृष्टि डाली। परिजन और अन्तःपुर-सहित राजा महापद्म को संघ की शरण में उपस्थित तथा मुनियों को कृताञ्जलि होकर शान्त होने की प्रार्थना करते देखकर विष्णुकुमार ने सोचा : “निश्चय ही श्रमणसंघ ने सपरिवार राजा महापद्म को क्षमा कर दिया है। इसलिए, अब संघ की आज्ञा का उल्लंघन उचित नहीं है।”

इसके बाद विष्णुकुमार अपने वैक्रिय शरीर को समेटकर शरच्चन्द्र के समान शुभदर्शन रूप के साथ धरती पर अवस्थित हुआ। विद्याधर-सहित देव-दानव विष्णु के प्रति प्रणत हुए और पुष्पवृष्टि करके अपने-अपने स्थान में चले गये।

अतिप्राकृत पात्रों तथा चामत्कारिक घटनाओं से अतिशय गड़गड़ाने वाली मिथक-कथा में वस्तुओं का भावात्मक या कल्पनात्मक साक्षात्कार मिथिक स्तर पर तो होता ही है, वैज्ञानिक स्तर पर वस्तुओं का विविक्षीकरण और सिद्धान्त-निरूपण भी किया गया है। इस सन्दर्भ में, प्रस्तुत कथा में प्रतिपादित प्रकाश और ध्वनि की वैज्ञानिक गति-प्रक्रिया का भी उल्लेखनीय महत्त्व है। सामान्य वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार, प्रकाश में यह विशेषता है कि उसके संचारण (प्रोपेगेशन ऑफ लाइट) के लिए किसी पार्थिव माध्यम (मैटेरियल मीडियम) की आवश्यकता नहीं होती। प्रकाश की अदृश्य किरणें सरल रेखाओं में चलती हैं। उसकी किरणें निर्वात स्थानों से होकर भी गुजर सकती हैं। परन्तु, ध्वनि के साथ यह बात नहीं है। यह शून्य स्थानों से होकर नहीं गुजर सकती। इसके गमन के लिए पार्थिव माध्यम की आवश्यकता होती है। इसे ध्वनि-गमन (प्रोपेगेशन ऑफ साउण्ड) का सिद्धान्त कहते हैं। हवा में ध्वनि का वेग (वेलोसिटी ऑफ साउण्ड) 0°C तापमान पर १०८० फुट या ३२२ मीटर प्रति सेकेण्ड होता है; किन्तु प्रकाश की किरणों का वेग (वेलोसिटी ऑफ लाइट) प्रति सेकेण्ड १,८६,३२५ मील (२,९८,१२० कि.मी.) होता है। इससे स्पष्ट है कि प्रकाश तीव्रगामी और दूरगामी होता है, किन्तु ध्वनि मन्दगामी और नातिदूरगामी।

आलोच्य कथा में, उक्त सामान्य वैज्ञानिक सिद्धान्त का मूल रूप सुरक्षित है। यद्यपि, उसे मिथकीय बोध की चामत्कारिकता के साथ अतिरंजित ढंग से उपस्थित किया गया है। विष्णुकुमार का दिव्य शरीर क्षण भर में एक लाख योजन विस्तृत हो गया और बढ़ते-बढ़ते इतना ऊँचा उठ गया कि ग्रहपथ उसके घुटने के पास था और शरीर का शेष भाग उस (ग्रहपथ) के भी ऊपर अन्तरिक्ष में चला गया था। प्रज्वलित अग्निपुंज के समान उसके शरीर का तेज और शरत्कालीन चन्द्रमा की भाँति उसका मुख अन्तरिक्ष में दिखाई तो पड़ता था; किन्तु शरीर के एक लाख योजन (एक अरब कोस^१ = तीन अरब बीस करोड़ कि.मी.) ऊपर उठ जाने से धरती पर प्रार्थना करते हुए मुनियों की ध्वनि उसे नहीं सुनाई पड़ती थी। क्योंकि, श्रेष्ठ श्रुतधर मुनि के अनुसार, बारह योजन से ऊपर अन्तरिक्ष में शब्द नहीं सुनाई पड़ता है। जिस प्रकार प्रकाश-वर्षों (लाइट ईयर्स) में परिमाप्य दूरी में स्थित ग्रहों या नक्षत्रों का प्रकाश धरती से दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार एक लाख योजन की ऊँचाई में स्थित विष्णुकुमार के शरीर का प्रखर तेज धरती से दिखाई पड़ता था। कहना न होगा कि ‘संघदासगणी’ ने इस मिथक-कथा के द्वारा सूर्यलोक (अधिकतम दूरी ९ करोड़

१. ‘जेनरल एन्थ्रोपोलॉजी’, पृ. ६०९

४५ लाख मील) से ऊपर के अन्तरिक्ष [जहाँ आकाशगंगा (मिल्की वे) के प्रवाह में तारक-मण्डल अवस्थित है] तक को विस्मयकारी कल्पना की है ।

प्रस्तुत कथा वैदिक-पौराणिक परम्परा की बलि और वामन की कथा का जैन रूपान्तर है, जिसमें 'विष्णुगीत' की उत्पत्ति का मिथकीय आयाम उपस्थित किया गया है । इस कथा का नायक निश्चय ही मिथिक व्यक्तित्व का प्रतीक है, जो जातीय जीवन को प्रभावित करनेवाली असाधारण महत्त्व की घटनाओं और उनके स्वरूप का घटक होने के कारण मिथिक अभिप्रायों से युक्त है । इसके अतिरिक्त प्रेम, धर्म और शौर्य या साहसिक कृत्यों का परिदृश्य के रूप में चित्रण आदि रोमांस के अनिवार्य उपादान भी इस मिथिक-कथा में विद्यमान हैं । रोमांस के अन्य उपादान काल्पनिक तथा पराप्रकृतिक तत्वों का समावेश भी इसमें है । रहस्यात्मकता, कुतूहल तथा स्वैर कल्पना के तानों-बानों से बुनी गई यह कथा मिथकीय चेतनापरक कथाओं में अपनी द्वितीयता नहीं रखती । अथवा, ऐसा भी कहा जा सकता है कि 'वसुदेवहिण्डी' की सभी मिथिक-कथाएँ बेजोड़ हैं । सबकी अपनी-अपनी जातीय विशेषता है और उनकी अलग-अलग पहचान भी ।

विष्णुकुमार की भाँति मिथिक व्यक्तित्व से सम्पन्न अनेकानेक पात्र 'वसुदेवहिण्डी' में हैं, जिनमें विद्याधर अमितगति (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४०), ललितांगदेव (नीलयशालम्भ : पृ. १६६), चक्रवर्ती सुभूम (मदनवेगालम्भ : पृ. २३८), नारद (पीठिका : पृ. ८०) और स्वयं इस महत्कथा के नायक वसुदेव आदि तो कूटस्थ हैं । वसुदेव तो बड़े-बड़े प्राणघाती संकटों में घिर जाते हैं, किन्तु मिथकीय उपादानों के बल से तुरत संकटमुक्त भी हो जाते हैं । कहना तो यह चाहिए कि बृहत्तर भारत के पर्यटनकारी वसुदेव अपने युग के फाहियान या ह्वेनसांग से भी बढ़कर थे और यह वैशिष्ट्य उन्हें मिथकीय उपादानों के पर्यावरण के कारण ही प्राप्त था ।

'वसुदेवहिण्डी' के कथारूढिपरक मिथकीय उपादानों में विद्याधर के स्पर्श से विष का नाश होना (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४७); आकाशवाणी (धम्मिल्ल : पृ. ३४ ; वेगवतीलम्भ : पृ. २५०); पुष्पवृष्टि (श्यामाविजयालम्भ : पृ. ११८ ; गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३१ ; तत्रैव : पृ. १४५), हाथी का आकाश में उड़ना (पद्मालम्भ : पृ. २०१); अप्सराओं का आकाश में विचरण करना तथा उनका अदृश्य होना (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४३); चक्ररत्न की कल्पना (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३०); मुनियों का आकाश में चलना, महिषी की कोख से मानव-शिशु का जन्म लेना (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७८) आदि मिथकों का अपनी मनोरंजकता, कुतूहल-सृष्टि, विस्मय और रोमांस की दृष्टि से महार्थ महत्त्व है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'वसुदेवहिण्डी' की कथावस्तु का केन्द्रीय अभिप्राय 'रोमांस' है । लेकिन, यह नहीं कहा जा सकता कि इस अभिप्राय की जान लेने से रचना की अवगति पूरी हो जाती है । भारत के महान् कथाकार आचार्य संघदासगणिवाचक ने अपने मिथकीय अभिप्राय या अभिप्रायों की अभिव्यक्ति के लिए रहस्य और रोमांस का जो अतिलौकिक और ऐन्द्रजालिक वातावरण खड़ा किया है, वह इस कथाग्रन्थ के स्रोतों, निर्देशों, बिम्बों या प्रतीकों, पुरानी कथा-परम्परा के शब्दों, भावों या अर्थशक्तियों, अथक कथारूढियों और मिथों के विशद अध्ययन के बावजूद विश्लेषण से परे रह जाता है । विश्वदर्शन की पूर्णतम अभिव्यक्ति के लिए संघदासगणी द्वारा की गई मिथों की रचना कथाजगत् के लिए एक उत्तलेखनीय प्रयत्न है । मिथों के आधार पर कथाकार ने मानव-सभ्यता और मानव-मनोविज्ञान, दोनों की युगपत् व्याख्या की है ।

‘वसुदेवहिण्डी’ की विशेषता यह है कि अमूर्त धारणाओं की अभिव्यक्ति के लिए मूर्त प्रतीकों के व्यवहार द्वारा इसके रचयिता ने अपनी विचार-पद्धति को अपनी अनुभव-संकुल संवेदना की अन्विति का माध्यम बना दिया है, फलतः यह कथा-रचना शुष्क विचारों से निर्मित शास्त्र नहीं, अपितु महत्तर रसमय कलाकृति बन गई है।

सच पूछिए तो, ‘वसुदेवहिण्डी’ की मिथक-कथाओं की चर्चा एक स्वतन्त्र शोध-अध्ययन का विषय है।

(घ) प्रकीर्ण कथाएँ

‘वसुदेवहिण्डी’ की कथा रोमांस-कथा होने के कारण, उसमें कथा या घटना के विकास-नैरन्तर्य की अपेक्षा उसकी सहज प्रवृत्ति प्रवर्द्धन या लम्बा होने की है। दूसरे शब्दों में कहें तो, रोमांस-कथा में, घटनाओं के विकास में क्षिप्रता या परिवर्तन की अपेक्षा घोलन या विवर्तन की स्थिति पाई जाती है। जिस प्रकार कपोत-कपोती आपस में मिलने पर घण्टों एक ही मनःस्थिति में गुटरते रहते हैं, उसी प्रकार रोमांस-कथा एक समान भावकेन्द्रित दशा में विवर्तित होती हुई क्रमशः लम्बी बनती चली जाती है। और इस प्रकार, रोमांस की नन्दतिकता से आपूर्ण कोई भी कथा बृहत्कथा में बदल जाती है या कथा की सरिता सागर बन जाती है। कथा को लम्बा बनाने में प्रकीर्ण कथाओं का सहयोग, महत्त्वपूर्ण होने के कारण, उल्लेखनीय है।

प्रसिद्ध जैनागम ‘दशवैकालिकनिर्युक्ति’ में प्रकीर्णक कथा की निरुक्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि ‘प्रकीर्णक’ नाम से जो प्रकीर्ण (अनेक प्रकार की कथाओं का मिश्रण) कथा कही जाती है, उसे ही ‘प्रकीर्णक कथा कहते हैं।^१ प्रकीर्ण कथा की गणना ‘नो-मातृका-पद’ के दो भेदों (ग्रथित-रचनाबद्ध तथा प्रकीर्णक-मुक्तक) में की गई है। नो-मातृका-पद नो-अपराध-पद के दो भेदों (मातृका-पद, नो-मातृका-पद) में द्वितीयस्थानीय है।^२ प्रकीर्ण कथा अपने-आपमें मुक्त या स्वच्छन्द होती है। इसमें दशवैकालिक-प्रोक्त (गाथा-सं. २०८—२११) अकथा, विकथा और कथा, इन तीनों प्रकार की कथाओं का समाहार सम्भव है। इन कथाओं को धर्मकथा, कामकथा, अर्थकथा और मिश्रित कथा, इन चार स्वरूपों में वर्गीकृत किया गया है। ‘वसुदेवहिण्डी’ में प्रकीर्ण कथाओं का जाल-सा बिछा हुआ है। यह कथाकृति प्रकीर्ण कथाओं से परिगुम्फित होकर महाकथा में परिणत हो गई है। ये प्रकीर्ण कथाएँ ‘वसुदेवहिण्डी’ की मूल रोमांस-कथा को प्रवर्द्धित या लम्बा करने में सहायक हुई हैं। ‘वसुदेवहिण्डी’ के अनुसार कथा के मुख्य दो भेद हैं: चरित और कल्पित। चरितकथा के पुनः दो भेद किये गये हैं: स्त्री और पुरुष की कथा एवं धर्म-अर्थ-काम के प्रयोजन से सम्बद्ध कथा। चरितकथा विपर्यय-युक्त, कुशल व्यक्तियों द्वारा कथितपूर्व तथा अपनी मति से जोड़ी गई रहती है।^३ प्रकीर्ण कथा में इन सारे कथाभेदों का मिश्रण उपलब्ध है, अतएव प्रकीर्ण कथा को यदि संकीर्ण या मिश्रित कथा कहा जाय, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

१. पतिष्णगं नाम जो पइष्णा कहा कीरइ तं पइष्णगं भण्णइ।

— दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १७५

२. उपरिवत्

३. द. दसवां पुण्डालम्भ, पृ. २०८-२०९

संघदासगणी ने संकीर्ण या मिश्रकथा में प्राप्य अनुभूतियों की पूर्ण अभिव्यक्ति की क्षमता को लक्ष्य किया था; क्योंकि मिश्रकथा या संकीर्ण कथा में धर्म, अर्थ और काम, इन तीनों पुरुषार्थों का एक साथ निरूपण सम्भव है।^१ दशवैकालिक की हरिभद्रवृत्ति में संकीर्ण कथा को ही मिश्रकथा कहा गया है।^२ जिस कथा में किसी एक पुरुषार्थ की प्रमुखता नहीं हो, वरन् तीनों ही पुरुषार्थों तथा सभी रसों और भावों का मिश्रित रूप पाया जाय, वह कथाविधा मिश्रा या संकीर्णा है।^३ कथातत्त्वों के मिश्रण एवं संकीर्णता से संवलित प्रकीर्णकथाओं में मूलकथा के केवल सूत्र ही नहीं रहते, अपितु कथ्यवस्तु, कथानक, पात्र, देश, काल, परिस्थिति आदि प्रमुख कथातत्त्वों के बीज या संकेत भी वर्तमान रहते हैं। 'मिश्रकथा' अपने-आपमें इतना व्यापक शब्द है कि इसमें सभी प्रकार की कथा-विधाओं या तदनुरूप कथातत्त्वों का मिश्रण उपलब्ध होता है। इसीलिए, इसमें मूलकथा से अनुबद्ध मनोरंजन और कुतूहल के साथ-साथ जन्म-जन्मान्तों के कथानकों, कथारूढियों और मिथकों की जटिलता बड़े आकर्षक और मोहक ढंग से अनुस्यूत रहती है। फलतः, राजाओं या वीरों के शौर्य, प्रेम, न्याय, ज्ञान, दान, शील, वैराग्य और समुद्री यात्राएँ; मुनियों या विद्याधरों के आकाशगमन; अगम्य पार्वत्य या जांगल प्रदेशों के प्राणियों के अस्तित्व; विभिन्न विस्मयकारी द्वीप-द्वीपान्तरो, संगीतशास्त्र-द्युतसभाओं आदि की विशिष्टताओं एवं स्वर्ग-नरक, देव-दानव के विस्तृत वर्णन, साथ ही क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि कषायों के दुष्परिणाम एवं इन मनोविकारों के सामाजिक धरातल पर मनोवैज्ञानिक चित्रण प्रभृति सभी कथावस्तुएँ मिश्रकथा में अन्तर्निहित रहती हैं। विविध तत्त्वों की मिश्रता के कारण ही कथानक में संकीर्णता आती है और कथानक की यह संकीर्णता प्रकीर्ण कथाओं के माध्यम से मूलकथा को आच्छादित किये रहती है। प्रकीर्ण कथाओं में मूलकथा की प्रासंगिकता और विशुद्ध कथातत्त्व के अतिरिक्त पुरुषार्थचतुष्टय, नीति, प्रेम, राजनीति, समाजनीति, लोकतत्त्व एवं विभिन्न मनोव्यापारों आदि का भी मनोरम वर्णन रहता है। इसीलिए, प्रकीर्ण कथाएँ प्रायः दृष्टान्तप्रधान होती हैं।

महाकथा के रचयिता अपनी महाकथा से पार पाने के लिए प्रकीर्ण कथाओं से सेतु का काम लेते हैं। साथ ही, उन्हें अपने मत की अभिव्यक्ति या परमत से उसके समन्वय, सम्यक्त्व की पुष्टि के लिए मिथ्यात्व का निदर्शन या मिथ्यात्व की सम्पुष्टि के लिए सम्यक्त्व की अवहेलना या विखण्डन, दृष्टान्त-प्रदर्शन आदि रचना की प्रक्रियाओं में प्रकीर्ण कथाएँ बड़ी सहायता करती हैं, साथ ही अपने मत की स्थापना का उपयुक्त अवकाश भी वह प्राप्त कर लेते हैं। अतएव, शास्त्रीय दृष्टि से प्रकीर्ण कथा को उद्योतनसूरि और जिनसेन द्वारा प्रोक्त आक्षेपिणी कथा के साँचे में रखा जा सकता है।^४ प्रकीर्ण कथाओं के आक्षेप या प्रक्षेप से ही मूलकथा के महदनुष्ठान की पूर्णाहुति होती है। यद्यपि, प्रकीर्ण कथाओं में दशवैकालिक-प्रोक्त धर्मकथा की आक्षेपिणी,

१. घम्मो अत्थो कामो उवइस्सइ जत्त सुत्तकज्जेसुं।

लोगे वेए समये सा उ कहा मीसिया णाम ॥

—दशवैकालिक, गाथा २६६

२. सा पुनः कथा मिश्रा नाम सङ्कीर्णपुरुषाभिधानात् ।—दश. हरि, पृ. २२८

३. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य 'हरिभद्र के प्राकृत-कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन' : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ. ११३

४. (क) तस्य अक्खेवणी मनोनुकूला ।— उद्योतनसूरि : 'कुवलयमाला', अ. १, पृ. ४

(ख) आक्षेपिणी-कथां कुर्यात्प्राज्ञः स्वमतसङ्ग्रहे ।—जिनसेन : महापुराण, प्र. प, श्लो. १३५

विक्षेपणी, संवेगिनी और निर्वेदिनी, इन चारों कथाविधाओं के तत्त्व पाये जाते हैं और 'आक्षेपिणी' कथा की व्यापक और सूक्ष्म व्याख्या करने पर उसके साँचे में प्रकीर्ण कथा फिट नहीं बैठती है, फिर भी उसके एकदेशीय लक्षण से प्रकीर्ण को आक्षेप के समानान्तर लिया जा सकता है।

'वसुदेवहिण्डी' की प्रकीर्ण कथाएँ मुख्यतः दो रूपों में परिगुम्फित हैं। ये प्रकीर्ण कथाएँ दो व्यक्तियों के वार्तालाप के क्रम में, कथ्यमान कथावस्तु के समर्थन, निदर्शन या दृष्टान्त के रूप में आई हैं, जिनमें कुछ तो ऐसी हैं, जो बिलकुल स्वतन्त्र एवं केवल दृष्टान्तप्रदीपक हैं और जिस स्थल या प्रसंगबिन्दु पर वे प्रारम्भ होती हैं, उसी बिन्दु पर समाप्त हो जाती हैं और कुछ ऐसी हैं, जो मूलकथा के किसी विशिष्ट पात्र के पूर्वभव-चरित या उसके पूर्वजन्म की स्थिति का वर्तमान जन्म पर व्यापक प्रभाव के प्रदर्शन के लिए गुँथी गई हैं और कथाक्रम को आगे बढ़ाने में भी अपनी पूरी रोचकता और रोमांस के साथ सहायक हुई हैं। कहना न होगा कि संघदासगणी ने प्रकीर्ण कथाओं के माध्यम से भारतीय संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान के उत्कर्ष-प्रदर्शन में ततोऽधिक सफलता आयत्त की है, साथ ही कथाशिल्प की दृष्टि से भी वह सौन्दर्यबोध को चरम परिणति पर पहुँचाने में समर्थ हुए हैं।

संघदासगणी ने अपने महाकाव्यात्मक उपन्यास 'वसुदेवहिण्डी' में प्रकीर्ण कथाओं के माध्यम से कथा के कई स्थापत्यों (तकनीकी विशेषताओं) की स्थापना की है, जिसका लक्ष्य सम्पूर्ण भावाभिव्यक्ति है। भावाभिव्यक्ति की समस्त प्रक्रिया ही स्थापत्य या तकनीक है। स्थापत्य ही कथा की आधारशिला होती है, जिसपर कथाकार अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करता है—कथा का दिव्य सौध खड़ा करता है। भाव के प्रकाशन की भाषिक प्रक्रिया ही शैली है। स्थापत्य में शैली का सन्निवेश तो होता ही है, किन्तु स्थापत्य, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के शब्दों में, वह सर्वांगीण प्रक्रिया है, जिसमें अनुभूति और लक्ष्य के साथ कथावस्तु की योजना, चरित्र की अवतारणा, परिवेश की कल्पना एवं भाव की सघनता का यथोचित प्रकाशन किया जाता है।^१

पाश्चात्य विद्वानों ने कला के क्षेत्र में जिसे स्थापत्य या तकनीक कहा है, उसे भारतीय कलाशास्त्रियों, जैसे भरत, उद्भट, रुद्रट, मम्मट आदि की 'वृत्ति' और 'रीति' के समानान्तर रख सकते हैं या उसे वृत्तियों की रीति कह सकते हैं। 'वसुदेवहिण्डी' की प्रकीर्ण कथाओं के स्थापत्यों की कतिपय विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं।

'वसुदेवहिण्डी' की प्रकीर्ण कथाओं की पहली विशेषता उनका प्रश्नोत्तर के रूप में उपस्थापन है। कथा का प्रारम्भ वक्ता-श्रोता के रूप में होता है। 'वसुदेवहिण्डी' चूँकि चरित-कथा है, इसलिए प्राकृत-कथाकारों द्वारा स्वीकृत स्थापत्य-सिद्धान्त के अनुसार, श्रेणिक और महावीर या श्रेणिक और गौतम गणधर में प्रश्नोत्तर होता है, अथवा किसी राजा या रानी या किसी सामान्य पात्रों के प्रश्नों का कथात्मक उत्तर श्रमण मुनि या भिक्षुणियाँ देती हैं, और इस प्रकार मूलकथा विकसित होती चलती है। 'वसुदेवहिण्डी' में स्वयं वसुदेव भी प्रश्नकर्ता और उत्तरकर्ता के रूप में प्रदर्शित हुए हैं। इसके अतिरिक्त, श्रेष्ठी या विद्याधरियाँ या वसुदेव की पत्नियाँ भी प्रश्नों के उत्तर पूर्वकथा या आत्मकथा के रूप में देती हैं। इन सबके अलावा उदाहरण और दृष्टान्त के रूप में भी अनेक प्रकीर्ण कथाएँ कही गई हैं। इस प्रकार, पूरी कथाकृति में प्रश्नोत्तर का जाल बिछा

हुआ है। प्रश्नोत्तर-स्थापत्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है : “कल्पनामूलक कथाओं का दो व्यक्तियों की बातचीत के रूप में कहना कुछ अप्रत्यक्ष-सा होता है, और कवि (या कथाकार) का उत्तरदायित्व कम हो जाता है।...यह जो दो व्यक्तियों के बीच बातचीत के रूप में कथा कहने की पद्धति है, वह इस देश की पुरानी प्रथा है। महाभारत में इसी प्रकार पूर्वकथा कहकर श्रोता-वक्ता की योजना की गई है।”^१

आचार्य संघदासगणी ने प्रश्नोत्तर की प्रथा का व्यवहार इसलिए किया है कि कथा में असम्भव समझा जाने योग्य विषय पर-प्रत्यक्ष बना रहे और उसकी असम्भाव्यता की मात्रा कम हो जाय। कहना न होगा कि ‘वसुदेवहिण्डी’ मनोरंजक कथान्तरो या पूर्वकथाओं से आपाततः आकीर्ण है। इस सन्दर्भ में कथोपकथन या मूलकथा के समर्थन के रूप में या प्रश्नोत्तर-शैली में प्रस्तुत निम्नांकित प्रमुख प्रकीर्ण कथाएँ उदाहर्तव्य हैं :

कथोत्पत्ति :

१. इन्द्रियविषय में प्रसक्ति के कारण मृत्यु को प्राप्त वानर की कथा (पृ. ६); २. विषयसुख की उपमा के लिए मधुबिन्दु का दृष्टान्त (पृ. ८); ३. गर्भवास के दुःख के सम्बन्ध में ललितांगद की कथा (पृ. ९); ४. एक भव में ही सम्बन्ध की विचित्रता के प्रदर्शन के लिए कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता की कथा (पृ. १०); ५. अर्थविनियोग की विरूपता के सम्बन्ध में गोपदारक का वृत्तान्त (पृ. १३); ६. लोकधर्म की असंगति के सम्बन्ध में महेश्वरदत्त की कथा (पृ. १४); ७. सुख-दुःख की कल्पना में विलुप्त भाण्डवाले वणिक् की कथा (पृ. १५)।

धम्मिल्लचरित :

८. वसन्ततिलका गणिका का प्रसंग (पृ. २८); ९. कोंकण ब्राह्मण की कथा (पृ. २९); १०. कृतघ्न कौए की कथा (पृ. ३३); ११. अगडदत्त मुनि की आत्मकथा (पृ. ५४); १४. नागरिकों द्वारा छले गये गाड़ीवान की कथा (पृ. ५७); १५. स्वच्छन्दचरिणी वसुदत्ता की कथा (पृ. ५९); १६. स्वच्छन्दचारी राजा रिपुदमन की कथा (पृ. ६१)।

पीठिका :

१७. महिष की कथा (पृ. ८५); १८. गणिकाओं की उत्पत्ति-कथा (पृ. १०३)।

प्रतिमुख :

१९. अवधिज्ञानप्राप्त मुनि की आत्मकथा (पृ. १११)।

श्यामाविजयालम्भ :

२०. दो इध्यपुत्रों की कथा (पृ. ११६)।

गन्धर्वदत्तालम्भ :

२१. पिप्पलाद और अथर्ववेद की उत्पत्ति की कथा (पृ. १५१)।

१. ‘हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, तृतीय व्याख्यान’, पृ. ६२

नीलयशालम्भ :

२२. कौए और हाथी की कथा (पृ. १६८); २३. तुच्छ सुख की कल्पना करनेवाले सियार की कथा (पृ. १६८) ।

सोमश्रीलम्भ :

२४. आर्यवेद और अनार्यवेद की उत्पत्ति की कथा (पृ. १८३) ।

धनश्रीलम्भ :

२५. नरमांसभक्षी सौदास की उत्पत्ति-कथा (पृ. १९७) ।

पद्मालम्भ :

२६. धनुर्वेद की उत्पत्ति-कथा (पृ. २०२) ।

पुण्ड्रालम्भ :

२७. चित्तवेगा की आत्मकथा (पृ. २१४) ।

मदनवेगालम्भ :

२८. रामायण की कथा (पृ. २४०) ।

प्रियंगुसुन्दरीलम्भ :

२९. गंगरक्षित की कथा (पृ. २८९); ३०. परदार-दोष के सम्बन्ध में कौए की कथा (पृ. २९२); ३१. प्राणातिपात के गुण-दोष के विषय में यमपाश की कथा (पृ. २९४); ३२. मिथ्यावचन के गुण-दोष के विषय में धारण और रेवती की कथा (पृ. २९५); ३३. अदत्तादान के दोष के विषय में जिनदास की कथा (पृ. २९५); ३४. मैथुन के दोष के सम्बन्ध में जिनपालित की कथा (पृ. २९६); ३५. परिग्रह के गुण-दोष के बारे में चारुनन्दी और फल्गुनन्दी की कथा (पृ. २९७); ३६. राजकुमारी सुमति की कथा (पृ. ३२७); ३७. कबूतर और बाज की कथा (पृ. ३३७); ३८. कुन्धुस्वामी का चरित (पृ. ३४४); ३९. अरजिन का चरित (पृ. ३४६) ।

केतुमतीलम्भ :

४०. इन्द्रसेना की कथा (पृ. ३४८) ।

पद्मावतीलम्भ :

४१. हरिवंश की उत्पत्ति-कथा (पृ. ३५६) आदि ।

‘वसुदेवहिण्डी’ के स्थापत्य की दूसरी विशेषता पूर्वदीप्ति-प्रणाली या प्रत्यक्-दर्शन-शैली (‘फलैशबैक’ की पद्धति) है । इस पद्धति द्वारा संधदासगणी ने पूर्वजन्म की विविध-विचित्र घटनाओं का जातिस्मृति द्वारा स्मरण कराकर कथाओं में रसवत्ता, कुतूहल और सौन्दर्य का समावेश किया है । इस विशेषता द्वारा कथाकार ने वर्तमान कथाप्रसंग को सहसा किसी विगत के घटनासूत्र से जोड़कर कथा को विकसित करने का महनीय कौशल प्रदर्शित किया है । इस सन्दर्भ में अप्राकृत पूर्वभव-कथाएँ भी प्रमुख प्रकीर्ण या संकीर्ण कथाओं में निदर्शनीय हैं :

कथोत्पत्ति : १. जम्बूस्वामी की पूर्वभवकथा (पृ. २०); २. सागरदत्त-शिवकुमार-भव की कथा (पृ. २३); **धम्मिलहिण्डी** : ३. राजा जितशत्रु के पूर्वभव की कथा (पृ. ३८); ४. धम्मिल्ल के पूर्वभव की कथा (पृ. ७४); **पीठिका** : ५. प्रद्युम्न और शाम्ब की पूर्वभव-कथा (पृ. ८५); ६. राहुक के पूर्वभव की कथा (पृ. ८६); **प्रतिमुख** : ७. अन्धकवृष्णि के पूर्वभव की कथा (पृ. ११२); **शरीर** : ८. वसुदेव के पूर्वभव की कथा (पृ. ११४); **नीलयशालम्भ** : ९. ललितांगदेव के पूर्वभव की कथा (पृ. १६६); **रक्तवतीलम्भ** : १०. रक्तवती और लशुनिका के पूर्वभव की कथा (पृ. २१९); **सोमश्रीलम्भ** : ११. सोमश्री के पूर्वभव की कथा (पृ. २२२); **बालचन्द्रालम्भ** : १२. सिंहचन्द्र-पूर्णचन्द्र की पूर्वभवकथा (पृ. २५४); **बन्धुमतीलम्भ** : १३. मृगध्वज और भद्रक के पूर्वभव की कथा (पृ. २७५); **केतुमतीलम्भ** : १४. शान्तिजिन की पूर्वभव-कथा (पृ. ३१३); १५. मणिकुण्डली, इन्दुसेना और बिन्दुसेना के पूर्वभव की कथा (पृ. ३२९); १६. अजितसेन के पूर्वभव की कथा (पृ. ३३०); १७. कुक्कुट-युगल के पूर्वभव की कथा (पृ. ३३३); २०. चन्दनतिलक और विदिततिलक विद्याधर की पूर्वभव-कथा (पृ. ३३४); २१. सिंहस्थ विद्याधर के पूर्वभव की कथा (पृ. ३३६); २२. कबूतर और बाज के पूर्वभव की कथा (पृ. ३३८); २३. सुरूप यक्ष के पूर्वभव की कथा (पृ. ३३८); **ललितश्रीलम्भ** : २४. ललितश्री का पूर्वभव (पृ. २६२); **देवकीलम्भ** : २५. कंस का पूर्वभव (पृ. ३६८) आदि ।

पूर्वभव से सम्बद्ध उक्त समस्त प्रकीर्ण कथाएँ पूर्वदीप्ति-प्रणाली में निबद्ध हुई हैं। पूर्वभव की इन कथाओं में कुछ तो पूर्णकथा हैं और कुछ अंशकथा। पूर्णकथा का वैशिष्ट्य है कि इसे **संघदासगणी** ने कथा के आरम्भ में उपस्थित करके अन्त तक मूलकथा के साथ इसका निर्वाह किया है और अंशकथा को प्रस्तुति कथा के आरम्भ या मध्य में सहसा किसी पात्र की स्मृति को जगाने और कुछ समय के लिए अपने अतीत में उसके खो जाने के उद्देश्य से की गई है।

‘वसुदेवहिण्डी’ की प्रकीर्ण कथाएँ अपने स्थापत्य की दृष्टि से कथोत्थप्ररोह-शिल्प के रूप में भी उपस्थित होती हैं। प्याज के छिलके या केले के स्तम्भ की परत के समान जहाँ एक कथा से दूसरी-तीसरी कथा निकलती जाय या वट के प्ररोह की भाँति शाखा-पर-शाखा फूटती जाय, वहाँ ही इस शिल्प की स्थिति मानी जाती है। इसलिए, ‘वसुदेवहिण्डी’ में केवल वसुदेव का ही भ्रमण-वृत्तान्त नहीं है, अपितु इसमें अनेक प्रकीर्ण कथाओं का संघट्ट है, जो अपने पाठकों का मनोरंजन तो करती ही हैं, उन्हें लोक-संस्कृति की महनीयता से भी विमोहित करती हैं। **संघदासगणी** की कथाबुद्धि निश्चय ही असाधारण है, तभी तो उन्होंने अपनी वर्णन-शैली को सहजग्राह्य और प्रभावशाली बनाकर कल्पनाशीलता और संवेदनप्रवणता के साथ अपनी स्मृति और रचनाशक्ति का उपयोग करते हुए कथासूत्र को जोड़ने का अद्भुत प्रयास किया है। यद्यपि, इस शिल्प के कारण **संघदासगणी** की यह बृहत्कथा एक दोष से भी आक्रान्त हो गई है। घटनाजाल की सघनता के कारण कथाएँ एकरस सपाटबयानी-मात्र होकर रह गई हैं। कथाओं के पात्रों का चारित्रिक उत्कर्ष या विकास का सूत्र कथाकार के हाथ से छूट-छूट-सा गया है। फिर भी, एकरसता दूर करने के लिए सुबुद्ध कथाकार ने सूक्ष्मतम कलाचेतना के साथ व्यापक और उदात्त जीवन का दृष्टिकोण रोमांस और प्रेम के पर्यावरण में उपन्यस्त कर अपनी रसग्राही मनीषा का विलक्षण परिचय दिया है। इस प्रकार, कथोत्थप्ररोह-शिल्प ‘वसुदेवहिण्डी’ की तीसरी विशेषता है।

‘वसुदेवहिण्डी’ में प्रकीर्ण कथाओं के माध्यम से मूलकथा में स्थापत्य की अनेक विधाएँ समाविष्ट हो गई हैं। कालमिश्रण, सोद्देश्यता, अन्यापदेशिकता, राजप्रासाद-स्थापत्य, रूपरेखा की मुक्तता, वर्णन-वैचित्र्य, मण्डनशिल्प, भोगायतन-स्थापत्य, प्ररोचन-शिल्प, उपचारवक्रता, विशेषण-वक्रता, विरेचन-सिद्धान्त, रोमांस की योजना, सिद्ध प्रतीकों का प्रयोग, नये प्रतीकों का निर्माण, कुतूहल की योजना, औपन्यासिकता, वृत्ति-विवेचन, पात्रबहुलता, चरित्र का उदात्तीकरण, अलौकिक तत्त्वों की योजना, पराप्राकृतिक एवं परामनोवैज्ञानिक शिल्प, भाग्य और संयोग का नियोजन आदि ‘वसुदेवहिण्डी’ के ऐसे कथा-स्थापत्य हैं, जो प्राकृत-कथाओं, विशेषकर चरित-कथाओं के सम्पूर्ण वैशिष्ट्य का उद्भावन करते हैं। ‘वसुदेवहिण्डी’ की प्रकीर्ण कथाएँ शरीर में बिखरे शिराजाल की तरह हैं; जिनका चेतना-प्रवाह अन्ततः मूलकथा के सुषुम्णा-शीर्ष में जाकर केन्द्रित हो गया है।

प्रकीर्ण कथाओं में पौराणिक कथाओं का महत्त्व :

‘वसुदेवहिण्डी’ की प्रकीर्ण कथाओं में पौराणिक कथाओं के महत्त्व-निर्धारण के सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि ‘वसुदेवहिण्डी’ की पूरी मूलकथा, अर्थात् वसुदेवचरित पौराणिक कथा ही है। डॉ. ए. एन्. उपाध्ये ने प्राकृत-कथाओं के गुण-वैशिष्ट्य को निरूपित करते हुए उनके पाँच स्वरूप^१ निर्धारित किये हैं। जैसे : १. प्रबन्ध-पद्धति में शलाकापुरुषों के चरित; २. तीर्थकरों या शलाकापुरुषों में किसी एक व्यक्ति का विस्तृत चरित; ३. रोमाण्टिक धर्मकथाएँ; ४. अर्द्ध-ऐतिहासिक प्रबन्ध-कथाएँ तथा ५. उपदेशप्रद कथाओं के संग्रह (कथाकोष आदि)। ‘वसुदेवहिण्डी’ में यद्यपि उक्त पाँचों स्वरूपों का समाहार पाया जाता है, तथापि स्वरूप-निर्धारण की दृष्टि से इसे दूसरे प्रकार की कथाशैली में परिगणित किया जायगा। क्योंकि, इसमें शलाकापुरुष या महापुरुष वसुदेव के कथासूत्र का आश्रय लेकर उनकी पूर्वभवावली तथा अन्य सम्बद्ध साधारण और असाधारण पात्रों के चरितों को मिलाकर कथाओं की रचना की गई है। फलतः, यह पौराणिक शैली का कथाग्रन्थ है।

जैनाम्नाय में तिरसठ शलाकापुरुष प्रसिद्ध हैं। शलाकापुरुष का चरित्र अतिशय उदात्त और अनुकरणीय होता है। उनका समग्र जीवन समाजोद्धार या लोकोपकार के कार्य के प्रति समर्पित होता है। उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व में साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा विशिष्टता और चमत्कार प्राप्त होता है। वसुदेव, चूँकि शलाकापुरुष हैं और उनकी जीवनगाथा को पौराणिक शैली में वर्णित किया गया है, इसीलिए इस कथाग्रन्थ में पौराणिक तत्त्वों की भरमार है, जिनमें इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश एवं गौतम, दशार्ह और काश्यपवंश आदि राजवंशीय राजाओं अथवा धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थकरों; भरत, सगर, सनत्कुमार, सुभौम, महापद्म, रत्नध्वज, वज्रदत्त, वज्रनाभ, वज्रसेन आदि चक्रवर्तियों; सैकड़ों विद्याधरों और विद्याधरियों; राजाओं और राजपुत्रों; रानियों और राजकुमारियों, दिक्कुमारियों और देव-देवियों; तापस-तापसियों और परिव्राजक-परिव्राजिकाओं; आकाशगामी चारणश्रमणों और श्रमणाओं; आश्रमों और चैत्यों एवं उद्यानों और वनों; देवलोक और स्वर्गलोकों; नरकों और पातालभूमियों; परमेष्ठियों और प्रतिवासुदेवों; नारदों और ब्राह्मणों और उनके पुत्र-पुत्रियों; अधार्मिक राक्षसों और मातंगों; जनपदों, पर्वतों और सरोवरों; विद्याओं और विमानों आदि के विपुल-विस्तृत वर्णन उपलब्ध हैं।

१. हरिषेण-कृत ‘बृहत्कथाकोष’, अंगरेजी-भूमिका, पृ. ३५।

‘वसुदेवहिण्डी’ की प्रकीर्ण कथाओं में अनेक पौराणिक-धार्मिक कथाएँ भी हैं। समग्र ‘वसुदेवहिण्डी’ रोमानी ढंग से प्रस्तुत की गई धर्मकथा है, इसलिए इसकी प्रकीर्ण कथाओं में धार्मिक-पौराणिक कथाओं की संकीर्णता या मिश्रण स्वाभाविक है। यद्यपि, इस महत्कथा में कतिपय ऐसी भी प्रकीर्ण कथाएँ हैं, जिनमें कुछ अर्द्ध-ऐतिहासिक महत्व के हैं और कुछ का उपदेशात्मक महत्व है। अर्द्ध-ऐतिहासिक कथाओं में भगवान् महावीर के समकालीन राजकीय व्यक्ति, व्यापारी, श्रेष्ठी, धर्मप्रचारक एवं कलाविदों के चरित अंकित हैं। उपदेशात्मक कथाओं में असत् से सत् की ओर जाने की प्रेरणा को विभिन्न धार्मिक रूपों के माध्यम से सम्प्रेषित किया गया है और प्रत्यासत्त्या उनमें सदाचार, नैतिक प्रोत्साहन और लोकरंजन के उपादान सहज ही विनियुक्त हो गये हैं।

‘वसुदेवहिण्डी’ की प्रकीर्ण कथाओं में पौराणिक कथाओं का महत्व इस दृष्टि से अधिक है कि इनमें वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा के अलौकिक विश्वासों को लौकिक धरातल प्रदान किया गया है और देवी-देवताओं में भी मानव-सामान्य दुर्बलताओं की स्थिति-सम्भाव्यता की ओर संकेत किया गया है। क्योंकि, श्रमण-परम्परा का मूल उद्घोष है कि सब कुछ मानवायत्त या पौरुषायत्त है। ‘दैवाधीनं जगत्सर्वम्’ को वह मान्यता नहीं प्रदान करती। उदाहरण के लिए, वैदिक परम्परा की ऋष्यशृंग की कथा को वल्कलचोरी की कथा में, बलि-वामन की कथा को विष्णुकुमार की कथा में, राजा शिबि की कथा को कबूतर और बाज की कथा में, दक्षप्रजापति की कथा को पोतनपुर के राजा दक्ष की कथा में, गौतम और अहल्या की कथा को अन्धगौतम और अहल्या की कथा में, वाल्मीकिरामायण की कथा को रामायण की कथा में, देवकी और वसुदेव की प्रसिद्ध महाभारतीय कथा को देवकी और वसुदेव की आर्हतीय कथा में अन्तर्भावित करके देखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त निम्नांकित पौराणिक कथाएँ भी अपना विशिष्ट मूल्य रखती हैं :

१. अन्धकवृष्णि की कथा (प्रतिमुख : पृ. ११२); २. अरजिन की कथा (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४६); ३. ऋषभजिन की कथा (नीलयशालम्भ : पृ. १५७); ४. कुन्धुजिन की कथा (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४४); ५. जमदग्नि, परशुराम और कार्तवीर्य की कथा (मदनवेगालम्भ : पृ. २३५); ६. त्रिपृष्ठ वसुदेव की कथा (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७५ तथा केतुमतीलम्भ : ३११); ७. दशार्ह राजाओं की कथा (श्यामाविजयालम्भ : पृ. ११४); ८. नारद, पर्वतक और वसुराज की कथा (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८९); ९. प्रद्युम्नकुमार की कथा (पीठिका : पृ. ७७); १०. बाहुबलि की कथा (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८६); ११. भरत चक्रवर्ती की कथा (तत्रैव : पृ. १८६); १२. मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत और नमिजिन की कथा (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४८); १३. शान्तिजिन की कथा (तत्रैव : पृ. ३१०); १४. शाम्बकुमार की कथा (पीठिका : पृ. ७७); १५. चक्रवर्ती राजा सगर की कथा (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३००); १६. सनत्कुमार चक्रवर्ती की कथा (मदनवेगालम्भ : पृ. २३५); १७. हरिवंश की उत्पत्ति की कथा (पद्मावतीलम्भ : पृ. ३५६); १८. श्रेयांसकुमार की कथा (नीलयशालम्भ : पृ. १६४) आदि।

निष्कर्ष :

‘वसुदेवहिण्डी’ में संधदासगणी द्वारा परिगुम्फित पौराणिक कथाएँ अनेक कथारूढियों और मिथक-प्रतीकों से समाकीर्ण हैं तथा तीर्थकरों के अतिरिक्त जैनान्धाय में परिदीक्षित राम और

कृष्ण के भी समुज्ज्वल रसपेशल चरित्रों से समुद्भासित हैं। संघदासगणी द्वारा विकल्पित पौराणिक कथाओं की मौलिकता इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि ये पारम्परिक हैं; किन्तु मौलिकता इस अर्थ में स्वीकार्य है कि ये नये ढंग से गूँथी गई हैं, ग्रथन-कौशल से ही उसमें नव्यता आई है। इसीलिए, कलावादियों ने विन्यास की नवीनता को महत्व दिया है। संघदासगणी की कथा-रचना की प्रक्रिया में वस्तु की अपेक्षा उसकी विन्यास-भंगी या प्रकाशन-पद्धति को मूल्य देना अधिक न्यायसंगत होगा। क्योंकि, उन्होंने सर्वजनीन और सार्वकालिक भावों और विचारों का नवीनता के साथ कल्पना-कुशल नियोजन किया है और इसी अर्थ में उनकी पौराणिक कथाओं की मौलिकता या अभिनवता है।

श्रमण-परम्परा के प्राकृत-पुराण, बारहवें श्रुतांग 'दृष्टिवाद' के पाँच भेदों (दिगम्बर-मत) में अन्यतम, प्रथमानुयोग के अन्तर्भूत हैं। 'वसुदेवहिण्डी' भी प्रथमानुयोग का ही कथाग्रन्थ है। इसलिए, 'वसुदेवहिण्डी' को गद्यनिबद्ध कथा-साहित्य का आदिस्त्रोत मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। 'वसुदेवहिण्डी' की पौराणिक कथाओं को दिव्य-मानुषी कथाओं या धर्मकथा-परिणामी कामकथाओं के रूप में उपन्यस्त किया गया है। इसलिए कि दिव्यमानुषी कथा या कामकथा सरस-और आकर्षक होती है। कहना न होगा कि संघदासगणी ने पौराणिक कथाओं में नूतन शिल्प-सन्धान और अभिनव रूप-विन्यास के माध्यम से मनोरम मार्मिकता और रमणीय भावरुचिरता के साथ ही कामाध्यात्म का समावेश करके अपनी अद्भुत कथाकोविदता प्रदर्शित की है।

इस प्रसंग में ज्ञातव्य है कि जैन लेखकों ने ब्राह्मणों की पौराणिक कथाओं को नये आसंग में उपस्थित करके अपने नूतन दृष्टिकोण का परिचय दिया है; क्योंकि उनकी धारणा थी कि पौराणिक कथाओं के बार-बार श्रवण करने से पण्डितों का चित्त तृप्त नहीं होता।^१ इसीलिए, विमलसूरि ने 'वाल्मीकिरामायण' के अनेक अंशों को कल्पित और अविश्वसनीय मानकर जैन रामायण के रूप में 'पउमचरिय' की रचना की। इसी प्रकार, हरिभद्रसूरि ने अपने 'धूर्ताख्यान' (प्र. धुतक्खण) में ब्राह्मणों की पौराणिक कथाओं पर अभिनव शैली में तीव्र व्यंग्य किया। किन्तु, प्रश्न यह था कि निवृत्तिमार्गी जैनधर्म के उपदेशों को कौन-सी प्रभावोत्पादक शैली में प्रस्तुत किया जाय कि लोकरुचि धर्मप्रधान जैन आख्यानों की ओर आकृष्ट हो। जैन मुनियों के लिए शृंगारिक कामकथाओं के सुनने और सुनाने का निषेध था, किन्तु सामान्य जन को साधारणतया कामकथाओं में ही रसोपलब्धि होती थी। आचार्य संघदासगणी ने इस प्रकार की विधि-निषेधात्मक स्थिति में एक मध्यम मार्ग निकाला। इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि "सोऊण लोइयाणं णरवाहनदत्तादीणं कहाओ कामियाओ लोगो एणंतेण कामकहासु रज्जंति। सोगइण्हदेसियं पुण धम्मं सोउं, पि नेच्छति य जरपित्तवसकडुयमुहो इव गुलसक्करखंडमच्छंडियाइसु विपरीतपरिणामो। धम्मत्थकाम - कलियाणि य सुहाणि धम्मत्थकामाण य मूलं धम्मो, तम्मि य मंदतरो जणो, तं जह णाम कोई वेज्जो आउरं

१. भू शं श्रुतत्वात्र कथाः पुराणाः प्रीणन्ति चेतांसि तथा, बुधानाम्।

अमयउसहपाणपरंमुहं ओसढमिति उव्विलयं मणोभिलसियपाणववसेण उसहं तं पज्जेति । कामकहारतहितयस्स जणस्स सिंगारकहावसेण धम्मं चेव परिकहेमि ।”^१ अर्थात्, “नरवाहनदत्त आदि की लौकिक कामकथाओं को सुनकर लोग एकबारगी कामकथा के प्रति अनुरक्त हो जाते हैं । पित्तज्वर से यदि किसी रोगी का मुँह कड़ुआ हो जाता है, तो उसे जिस प्रकार गुड़, शक्कर, खाँड़, बूरा आदि मीठी वस्तुएँ भी कड़वी लगती हैं, उसी प्रकार कामकथा में अनुरक्त लोग विपरीतपरिणामी सुगति-पथ की ओर ले जानेवाले धर्म को सुनना नहीं चाहते । समस्त सुख, धर्म, अर्थ और काम से प्राप्त होते हैं और धर्म स्वयं धर्म, अर्थ और काम का मूल है । धर्म के अर्जन में लोग प्रायः शिथिल रहते हैं । जिस प्रकार कोई वैद्य अमृत की भाँति गुणकारी (कड़वा) औषध पीने से कतरानेवाले खिन्न रोगी को उसके मनोनुकूल (मधुर) पान के व्याज से उस औषध को पिला देता है, उसी प्रकार कामकथा में अनुरक्त हृदयवाले लोगों के लिए शृंगारकथा के व्याज से मैं धर्म (कथा) कहता हूँ ।”

इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि आचार्य कथाकार संघदासगणी ने धर्मकथाओं को शृंगारिक और रोमांचक प्रेमाख्याओं के परिवेश में उपन्यस्त कर उन्हें लोकोपयोगी या जनास्वाद्य बनाया है । इस प्रकार, ‘वसुदेवहिण्डी’ की पौराणिक कथाओं के लक्षण भले ही कामाकुलित हों, किन्तु उनका लक्ष्य धर्माभिनिबद्ध है । दूसरे शब्दों में कहें, तो ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथाओं के शरीर कामप्रधान हैं सही, किन्तु उनकी आत्माएँ धर्मप्रधान हैं ।

‘वसुदेवहिण्डी’ पुराणेतिहास का समसामयिक परिकल्पन भी है । इसलिए, संघदासगणी ने पौराणिक कथाओं के माध्यम से तद्भुगीन समस्याओं को विशिष्ट सन्दर्भ देने की चेष्टा की है । इस क्रम में उन्होंने जहाँ समाज की प्रगल्भ यौन नग्नता का रोचक विन्यास किया है, वहीं सांस्कृतिक चेतना को अभिनव आयाम भी दिया है । इसके अतिरिक्त, लोकजीवन को धार्मिक एवं साम्प्रदायिक आवेश से मण्डित करने की भावना से अभिभूत होकर उन्होंने धर्मसाधना को प्रतिष्ठित करनेवाली पौराणिक महापुरुषों की चरितात्मक कथाओं का सफल संकलन और संश्लिष्ट संयोजन करके मानव को आत्मिक उत्थान का सारस्वत सन्देश दिया है । सूत्रवाक्य में कहें तो, ‘वसुदेवहिण्डी’ आकार-प्रकार से पुराण है, और कथा-कौतुहल की दृष्टि से इतिहास की गरिमा आयत्त करती है ।



१. प्रस्तुत अवतरण इस शोधग्रन्थ के आधारभूत, यथाप्राप्य ‘वसुदेवहिण्डी’-संस्करण, प्रथम खण्ड (आत्मानन्द जैनसभा, भावनगर, गुजरात) में नहीं है । इसे डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने अपनी प्रसिद्ध कृति ‘प्राकृत-साहित्य का इतिहास’ (पृ. ३६३-६४) में (‘वसुदेवहिण्डी’, भाग २, मुनि जिनविजयजी के वसन्त-महोत्सव, संवत् १९८४ में प्रकाशित ‘कुवलयमाला’ लेख से) उद्धृत किया है ।

‘वसुदेवहिण्डी’ की पारम्परिक विद्याएँ

भारतीय प्राचीन वाङ्मय में विद्याओं और उपविद्याओं की अनेकशः चर्चा आई है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य की गणना विद्या में और कलाओं की गणना उपविद्या में की गई है। इसीलिए, आचार्य भरत ने नाटकों में सभी कलाओं के समुच्चय की स्थिति की चर्चा करते हुए विद्या और कला की अलग-अलग गणना की है।^१ ऐसी गणना इसलिए की गई है कि विद्या ज्ञानात्मक है और कला या उपविद्या क्रियात्मक। शैवतन्त्र और वात्स्यायन के ‘कामसूत्र’ में चौंसठ कलाओं की सूची प्राप्त होती है, जबकि जैनतन्त्र में बहतर कलाएँ स्वीकृत हैं। ‘समवायांगसूत्र’ के अनुसार, ‘लेख’ से प्रारम्भ करके ‘शकुनरुत’-पर्यन्त बहतर कलाओं की गणना की गई है। इनमें अड़तालीसवीं कला का नाम ‘विद्यागत’ है। डॉ. हीरालाल जैन ने इस विद्या को मन्त्र-तन्त्र से सम्बद्ध बताया है और कहा है कि इस विद्या द्वारा अपना और अपने इष्ट जनों का इष्टसाधन और शत्रु का अनिष्ट-साधन किया जा सकता है।^२ ‘ललितविस्तर’ में छियासी कलाओं की चर्चा है। इनमें भी अड़तालीसवीं कला का नाम ‘मायाकृत’ (इन्द्रजाल) है।^३ वात्स्यायन ने ‘कामसूत्र’ में जिन चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है, उनमें बीसवीं कला ‘इन्द्रजाल’ है, जो जादू के अद्भुत खेलों से सम्बन्ध रखती है। ‘वसुदेवहिण्डी’ में अनेक प्रकार की पारम्परिक विद्याओं की चर्चा के क्रम में इन्द्रजाल-विद्या का भी भूरिशः वर्णन किया गया है। यथावर्णित विद्याओं में इन्द्रजाल या मायाकृत विद्या के विभिन्न प्रकार की विवृति इस प्रकार है :

स्तम्भिनी (कथोत्पत्ति : पृ. ७) : जड़ीकृत या स्थावर बना देनेवाली प्रस्तुत इन्द्रजाल-विद्या को जम्बूस्वामी ने जयपुरवासी विन्ध्यराज के ज्येष्ठ पुत्र, चौर्यवृत्तिजीवी प्रभव के चोर साथियों के लिए प्रयुक्त किया था। फलतः, जम्बूस्वामी के घर में चोरी करते हुए चोरों का स्तम्भन (मूर्तिवत् गतिहीन स्थिति) हो गया था।

अंगारक और श्यामली (वसुदेव की पत्नी) दोनों भाई-बहन थे। श्यामली के वसुदेव से विवाह कर लेने पर अंगारक को बड़ा नागवार गुजरा। वह वसुदेव का प्रतिद्वन्द्वी हो गया। एक दिन श्यामली के साथ वसुदेव सोये थे कि अंगारक उन्हें हर ले चला। मुखाकृति से उन्होंने पहचान लिया कि यह श्यामली का भाई अंगारक है। उसपर ज्योंही उन्होंने प्रहार करना चाहा, त्योंही अंगारक ने स्तम्भिनी विद्या का प्रयोग कर दिया। वसुदेव का सारा शरीर स्तम्भित हो गया और अंगारक ने उन्हें ऐसा फेंका कि वे घास-फूस से भरे पुराने कुएँ में जा गिरे। पति के विनाश के भय से श्यामली अपने भाई अंगारक से भिड़ गई। वसुदेव कुएँ में पड़े-पड़े भाई-बहन का युद्ध देखते रहे। अन्त में, वसुदेव निरुपसर्ग होने के लिए कायोत्सर्ग कर ही रहे थे कि स्तम्भिनी विद्यादेवी हँसकर अदृश्य हो गई और वसुदेव कुएँ से बाहर निकल आये (श्यामली-लम्भ : पृ. १२५-१२६)।

१. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

न संयोगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन् दृश्यते ॥ —नाट्यशास्त्र, १.११६

२. ‘भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान’ (संस्करण, सन् १९६२ ई.), पृ. २४९

३. विभिन्न कलासूचियों के विशिष्ट विवरण के लिए द्रष्टव्य : ‘कला-विवेचन’ : डॉ. कुमार विमल, पृ. २९-४०

भोचनी (तत्रैव : पृ. ७) : गतिहीनता या अचलता से मुक्त करनेवाली इस विद्या से प्रभव के साथी स्तम्भन-मुक्त हो गये थे और प्रभव ने जम्बूस्वामी से मैत्री स्थापित की थी ।

तालोद्घाटिनी (तत्रैव : पृ. ७) : ताला खोलनेवाली इस विद्या से प्रभव ने जम्बूस्वामी के घर के किवाड़ को खोलकर चोरभटों के साथ भीतर प्रवेश किया था ।

अवस्वापिनी (तत्रैव : पृ. ७) : (क) इस विद्या में सुला देने की शक्ति निहित थी । इस विद्या द्वारा प्रभव ने जम्बूस्वामी के परिजनों को गहरी नींद में सुलाकर उनके शरीर से वस्त्राभूषणों को उतारने का प्रयास किया था ।^१ (ख) ऋषभस्वामी का जब जन्म हुआ था, तब नवजात शिशु के जातकर्म संस्कार और अभिषेक के लिए स्वयं देवराज इन्द्र पधारे थे । वह जिनमाता मरुदेवी को अवस्वापिनी विद्या से सुलाकर उनकी बगल में लेटे ऋषभकुमार को उठाकर पाण्डुकम्बलशिला पर ले गये और उनकी जगह नकली कुमार को विकुर्वित कर रख गये थे । विशेष शक्ति द्वारा किसी वस्तु के प्रतिरूप की रचना को 'संघदासगणी' ने 'विकुर्वित करने की क्रिया' ('विउच्चिय') कहा है । यह भी अपने-आपमें एक इन्द्रजाल-विद्या ही है (नीलयशालम्भ : पृ. १६१) । (ग) नीलयश-परिचय के प्रसंग (तत्रैव : पृ. १७८) में उल्लेख है कि क्रुद्ध गन्धर्वदत्ता को मनाने के उपायों को सोचते हुए वसुदेव, सन्ध्या समय, बिछावन पर बैठे थे, तभी हाथ के स्पर्श से चौक्रे हो उठे । उन्हें एक वेताल जबरदस्ती खींचकर ले जाने लगा । गर्भगृह से उन्हें वेताल जब बाहर ले जा रहा था, तब उन्होंने देखा कि सभी दासियाँ सोई पड़ी हैं । उन्हें निश्चय हो गया कि वेताल ने अवस्वापिनी विद्या से दासियों को गम्भीर निद्रा में सुला दिया है । यहाँतक कि वसुदेव के पैर के स्पर्श होने पर भी उन दासियों की नींद नहीं टूटी ।

इस क्रम में यह भी उल्लेख है कि वेताल जब घर से बाहर निकलने लगा, तब किवाड़ स्वयं खुल गये और जब वह बाहर निकल गया, तब किवाड़ पुनः यथावत् अपने-आप बन्द हो गये (तुल. : कृष्णजन्म के समय का प्रसंग) ।

उत्सारणी (धम्मिल्लचरित : पृ. ५५) : किसी अनिष्टकर्ता को सामने से हटाने के लिए इस विद्या या जादू का प्रयोग किया जाता था । धम्मिल्लचरित में उल्लेख है कि धम्मिल्ल जब विमलसेना के साथ रथ पर जा रहा था, तब रास्ते में एक भयानक सर्प आ खड़ा हुआ । धम्मिल्ल ने साधुजनों की परम्परा से प्राप्त उत्सारिणी विद्या द्वारा उस विषधर को रास्ते से हटा दिया ।

इसी कथा-प्रसंग में मन्त्र-प्रयोग की भी चर्चा हुई है । भयानक सर्प के भाग जाने के बाद जीभ से ओठ चाटता, तीक्ष्ण दाढ़ोंवाला एक बाघ मुँह फाड़े हुए वहाँ आ पहुँचा, जिसे धम्मिल्ल ने मन्त्रप्रयोग से दूर हटा दिया ।^२

१. कहते हैं, आज भी कुछ चोर ऐसे हैं, जो चोरी करने के लिए घर में घुसते हैं, तो इस विद्या का प्रयोग करके घर के लोगों को सुला देते हैं । इसके लिए वे चिताभस्म आदि को भी प्रयोग में लाते हैं । कौटिल्य के अर्थशास्त्र (अधिकरण १४, अ. ३) में भी प्रस्वापन, तालोद्घाटन और द्वारापवारण मन्त्रों का उल्लेख हुआ है, साथ ही उक्त मन्त्रों की व्यावहारिक प्रयोग-विधि भी दी गई है ।

२. आज भी वैदिक परम्परा या श्रमण-परम्परा में मन्त्र द्वारा ही विघ्नों या भूतों का अपसारण किया जाता है । वैदिक परम्परा का मन्त्र है :

अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः ।

ये भूता विघ्नकर्तारिस्ते नश्यन्तु शिवाज्ञया ॥

‘वसुदेवहिण्डी’ में पिप्पलाद और अथर्ववेद की उत्पत्ति की कथा (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५२) के प्रसंग में बताया गया है कि पिप्पलाद ने अथर्ववेद की रचना की, जिसमें उसने मातृमेध, पितृमेध और अभिचार-मन्त्रों का प्रावधान किया। ज्ञातव्य है कि झाड़-फूँक करने, किसी को मन्त्रमुग्ध बनाने, जादू के मन्त्रों का बुरे काम के लिए प्रयोग करने आदि के लिए अभिचार-मन्त्रों की उपयोगिता मानी गई है। जादू करने के लिए मन्त्र फूँकने के काम को ‘अभिचार’ कहा जाता है।

माया का प्रयोग (धम्मिल्लचरित : पृ. ५६) : विभिन्न विघ्नों को पार करते हुए धम्मिल्ल का रथ जब आगे बढ़ा, तब अस्त्र-शस्त्र से सज्जित कुछ चोर रास्ते में खड़े मिले। धम्मिल्ल ने एक ही लाठी के प्रहार से एक चोर को मार डाला। फिर, सहसा ढाल और भाला लिये युद्धकुशल अनेक चोर आकर लड़ने लगे। किन्तु, धम्मिल्ल ने सबको खदेड़ दिया। चोरों के भागते ही उनका सेनापति गरजता हुआ आया। जितेन्द्रिय धम्मिल्ल ने उसे मायाबल से यन्त्र (मशीन) की भाँति घुमाया और मौका देखकर एक ही भाले के प्रहार से मार डाला।

महल बनाने की विद्या (तत्रैव : पृ. ६८) : यह विद्या भी विकुर्वण की क्रिया से ही सम्बद्ध है। धम्मिल्ल को जंगली क्षेत्र में अचानक मिली एक सुन्दरी बालिका ने अपना परिचय देने के क्रम में बताया कि वह जिस कामोन्मत्त नामक विद्याधर की रति चाहती है, उसने स्वर्णबालुका द्वारा अपनी विद्या से एक महल बनाया है। वह विद्याधर वंशगुल्म में बैठकर विद्या सिद्ध करता था। धम्मिल्ल ने तलवार की परीक्षा के कुतूहल से वंशगुल्म काटने के क्रम में उस विद्याधर का सिर भी काट डाला, जिससे वह मर गया।

प्रज्ञप्ति (पीठिका : पृ. ९२-९४; तत्रैव : पृ. ९६-१०८; श्यामलीलम्भ : पृ. १२४; नीलयशालम्भ : पृ. १६४; मदनवेगालम्भ : पृ. २४०; केतुमतीलम्भ : ३०८; तत्रैव : पृ. ३२९-३३०) : इस इन्द्रजाल-विद्या के सिद्ध या प्राप्त हो जाने से मनुष्य सर्वातिशायी शक्ति से सम्पन्न हो जाता था। स्वयं वसुदेव प्रज्ञप्ति-विद्या से बलशाली बने हुए थे। उनके पौत्र, कृष्णपुत्र प्रद्युम्न को भी प्रज्ञप्ति-विद्या सिद्ध थी। प्रद्युम्न को कनकमाला विद्याधरी से प्रज्ञप्ति-विद्या प्राप्त हुई थी। एक बार कनकमाला के पुत्र ने प्रद्युम्न को विशाल बावली में फेंक दिया था। वहाँ वह पानी के भीतर गड़े हुए शूल में गुँथ गया; किन्तु प्रज्ञप्ति-विद्या सिद्ध रहने से उसकी किसी प्रकार की प्राणहानि नहीं हुई। प्रज्ञप्ति-विद्या, अपने साधकों को विपक्ष की सारी बातों की सूचना भी देती थी, ताकि प्रज्ञप्ति-विद्या-सम्पन्न व्यक्ति आनेवाले अनिष्ट की ओर से सावधान हो जाता या उसके प्रतिकार का उपाय कर लेता था। विमान उत्पन्न करना, मकान-महल बनाना, भोजन-वस्त्र एकत्र कर लेना, शत्रु के विनाश के लिए सहसा सेना खड़ी कर देना, रूप बदल देना, उजाड़ देना, बसा देना, यानी हर असम्भव को छू-मन्त्र से सम्भव कर दिखाना प्रज्ञप्ति-विद्या के वैशिष्ट्य थे। ‘वसुदेवहिण्डी’ में सर्वाधिक समर्थ पात्र की विशेषता है—उसका

जैन परम्परा में भूतापसारण या विघ्नविनाश का काम ‘णमोकार मन्त्र’ से लिया जाता है :

वाहि-जल-जलण-तक्कर-हरि-करि-संगाम-विसहर-भयाई ।

नासंति तक्खणेणं नक्कारपहाण-मंतेणं ॥

न य तस्स किंचि पहवइ डाइणि-वेयाल-क्ख-मारि-भयं ।

नक्कारपहावेणं नासंति य सयलदुरिताई ॥

(करकण्डु-कथानक : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री-कृत ‘श्राकृत-प्रबोध’ से उद्धृत)

‘वसुदेवहिण्डी’ में भी ‘णमोकारमन्त्र’ के जप द्वारा संकट से उबरने का उल्लेख (प्रभावतीलम्भ : पृ. ३५०) हुआ है। ‘णमो अरहन्ताणं’ के जप करने से राजा श्रीविजय की वज्रपात से रक्षा हुई थी। (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१६)

प्रज्ञप्ति-विद्या से सम्पन्न होना। इन्द्रजाल-विद्याओं में प्रज्ञप्तिविद्या अपने अतिलौकिक चमत्कारों के कारण सर्वश्रेष्ठ थी।

रामण (रावण) ने भी प्रज्ञप्ति-विद्या की साधना की थी। इसीलिए विद्याधरों के सामन्त उसकी सेवा में विनम्रतापूर्वक तत्पर रहते थे। प्रज्ञप्ति-विद्या सिद्ध हो जाने से विद्याधर भी वशंवद हो जाते थे। वसुदेव को अंजन-गुटिका की सिद्धि पहले से थी, किन्तु प्रज्ञप्ति-विद्या उन्हें अपनी विद्याधर-पत्नी से ही प्राप्त हुई थी। विद्याओं के धारण करने के कारण ही 'विद्याधर' संज्ञा सार्थक थी। विद्याओं के अधिपति विद्याधर ही होते थे। 'वसुदेवहिण्डी' में प्रज्ञप्ति-विद्या का प्रमुख प्रसंग यथोक्त आठ स्थलों पर उपस्थित हुआ है।

१. ऊपर रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न के प्रसंग में प्रज्ञप्ति-विद्या की ध्वंस और निर्माण करने की शक्ति की चर्चा की गई है। यहाँ एक और प्रसंग उल्लेख्य है कि युद्धोपकरणों से सज्जित होकर यादवयोद्धा जब प्रद्युम्न से लड़ने निकल पड़े, तब प्रद्युम्न ने प्रज्ञप्ति के प्रभाव से यादवयोद्धा के आयुध व्यर्थ कर दिये, घोड़े-हाथी नष्ट कर दिये। प्रद्युम्न के आक्रमण करते ही यादवयोद्धा विरथ हो गये और मूक दर्शक की भाँति खड़े रह गये। इसके बाद युद्ध के लिए स्वयं कृष्ण आये और उन्होंने ज्योंही अपना शंख बजाने के लिए उसे हाथ में लिया, त्योंही प्रद्युम्न के आदेश से प्रज्ञप्ति ने उसमें बालू भर दी। शंख निःशब्द हो गया। कृष्ण ने जब सुदर्शन चक्र छोड़ा, तब वह भी प्रज्ञप्ति-विद्या के प्रभाव से प्रद्युम्न के रथ की प्रदक्षिणा करके लौट गया। वैदिक परम्परा में सुदर्शन चक्र को अमोघ कहा गया है, किन्तु श्रमण-परम्परा की प्रज्ञप्ति-विद्या उससे भी अतिशायी हो गई है।

२. जाम्बवती-पुत्र शाम्ब ने भी प्रज्ञप्तिविद्या के बल से ही सत्यभामा के पुत्र भानु को बार-बार परेशानी में डाला था और उसके साथ विवाह के लिए निश्चित की गई आठ सौ राजकन्याओं से स्वयं विवाह कर लिया था।

३. श्यामलीलम्भ में अंगारक विद्याधर के परिचय-प्रसंग में भी प्रज्ञप्ति-विद्या की चर्चा आई है। राज्य-प्राप्ति और प्रज्ञप्ति-प्राप्ति दोनों का समान मूल्य था। इसीलिए, अंगारक ने अपनी माँ विमलाभा के परामर्शानुसार राज्य के बदले प्रज्ञप्ति-विद्या ही ग्रहण की थी। राज्य उसके छोटे भाई अशनिवेग ने स्वीकार किया। प्रज्ञप्ति-विद्या के बल से ही अंगारक माया के प्रदर्शन में कुशल था। तलवार से श्यामली को दो टुकड़े करके दो श्यामली बना देना और लड़ते-लड़ते अदृश्य हो जाना आदि प्रज्ञप्ति की ही माया के खेल के रूप में प्रदर्शित हैं।

४. चौथे नीलयशालम्भ में उल्लेख है कि भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्धी नमि और विनमि नाम के विद्याधर हाथ में खड्ग लेकर अविश्रान्त भाव से सभास्थल में ध्यान के समय भगवान् की सेवा करते थे। उनकी भगवत्सेवा पर प्रसन्न होकर नागराज धरण ने उन दोनों के लिए वैताद्वय पर्वत के दोनों पार्श्वों में स्थित दो विद्याधर-श्रेणियाँ प्रदान कीं। चूँकि वहाँ पैदल जाना सम्भव नहीं था, इसलिए आकाशगामिनी विद्या भी दी। इसके अतिरिक्त, नागराज ने उन्हें गन्धर्व और नागजाति की महारोहिणी, प्रज्ञप्ति, गौरी, विद्युन्मुखी, महाजाला, तिरष्कर्मिणी (तिरस्करिणी), बहुरूपा आदि अड़तालीस हजार विद्याएँ भी प्रदान कीं।

५. रामण द्वारा प्रज्ञप्ति-विद्या की सिद्धि का उल्लेख पहले हो चुका है।

६. वसुदेव ने अपनी विद्याधरी पत्नी प्रभावती से प्रज्ञप्ति-विद्या प्राप्त कर अपने विद्याधर प्रतिद्वन्द्वी मानसवेग, अंगारक, हेफफग और नीलकण्ठ—इन चारों को परिवार-सहित पराजित किया था।

७. इक्कीसवें केतुमतीलम्भ की कथा है कि प्रशस्त परिणामवाला अनन्तवीर्य भी नरक से उद्धर्तित होकर जम्बूद्वीपस्थित भरतक्षेत्र में, वैताढ्यपर्वत की उत्तरश्रेणी में अवस्थित गगनवल्लभ नगर में, राजा मेघवाहन की रानी मेघमालिनी के गर्भ से मेघनाद नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। क्रम से वह बड़ा हुआ और एक सौ दस नगरों के राज्यों में अपने पुत्रों को स्थापित कर स्वयं विद्याधर-चक्रवर्ती के भोगों का उपभोग करने लगा। किसी एक दिन वह मन्दार पर्वत पर गया। वहाँ उसने नन्दनवन-स्थित सिद्धायतन में प्रज्ञप्ति की सिद्धि के लिए भक्तिभावपूर्वक जिनपूजा की।

८. विद्याधरों की भाँति विद्याधरियों को भी प्रज्ञप्ति-विद्या सिद्ध थी। उक्त केतुमतीलम्भ में ही कथा आई है कि वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी में स्थित किन्नरगीत नामक नगर के राजा दीप्तचूड़ की पुत्री सुकान्ता थी। उसी की पुत्री शान्तिमती मणिसागर पर्वत पर प्रज्ञप्ति-विद्या की साधना कर रही थी। उसी समय एक पापी विद्याधर उसे खींच ले गया। किन्तु, उसी क्षण उसकी प्रज्ञप्ति-विद्या सिद्ध हो गई और वह पापी विद्याधर उस विद्या के भय से भाग खड़ा हुआ।

प्रज्ञप्ति-विद्या परचित्तज्ञान (टेलिपैथी) और दूरदर्शक यन्त्र (टेलिस्कोप) का भी काम करती थी। तभी रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न ने द्वारवती से दूर रहकर भी प्रज्ञप्तिविद्या के द्वारा स्वजन-परिजन से घिरे भानुकुमार (सत्यभामा-पुत्र) को द्वारवती में खेलते हुए देखा था और उसके चित्त के भावों को पढ़ लिया था (पीठिका : पृ. ९४)।

उक्त विद्याओं की कल्पना केवल ऐन्द्रजालिक कुशलता के रूप में ही नहीं, अपितु देवी के रूप में भी की गई। इसीलिए, प्रज्ञप्ति-विद्या को 'भगवती' कहा गया है। वैदिक तन्त्र में भी दस महाविद्याओं की कल्पना देवियों के रूप में ही की गई है।^१

बन्धविमोक्षणी (श्यामलीलम्भ : पृ. १२५) : इस इन्द्रजाल-विद्या के द्वारा बन्धन से मुक्त हो जाने की क्षमता प्राप्त होती थी। वसुदेव ने अपनी तीसरी विद्याधरी पत्नी श्यामली को बन्धविमोक्षणी-विद्या सिखलाई थी, जिसे उन्होंने शर (सरकण्डे) के वन में सिद्ध किया था। श्यामली को वसुदेव के प्रतिनायक अंगारक से बराबर पकड़े जाने का डर बना रहता था, इसीलिए उसे यह विद्या वसुदेव ने दी थी।

बन्धविमोक्षनी और प्रहरणावरणी (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१८) : युद्ध में लड़ते समय बन्दी होने पर मुक्ति दिलानेवाली तथा अस्त्रप्रहार को रोक लेनेवाली इन दोनों विद्याओं से सम्पन्न योद्धा अपराजेय होता था। चमरचंचा नगर के राजा अशनिघोष ने जब पोतनपुर के राजा श्रीविजय की अपहृता रानी

१. (क) वैदिक तन्त्रोक्त दस महाविद्याएँ इस प्रकार हैं :

काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी ।

पैरवी छिन्नमस्ता च मातङ्गी विजया ज्ञया ॥

(ख) मतान्तर में दस महाविद्याएँ हैं : काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, पैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी और कमलात्मिका। नेपाल महाराज प्रतापसिंह-कृत 'पुरश्चर्यार्णव' ('शक्तिसंगम' के पृ. १३ पर उद्धृत) में दस महाविद्याएँ इस प्रकार हैं :

काली तारा छिन्नमस्ता सुन्दरी बगला रमा ।

मातङ्गी भुवनेशानी सिद्धविद्या च पैरवी ॥

धूमावती च दशमी महाविद्या दश स्मृताः ।

सुतारा को वापस करने से इनकार कर दिया, तब राजा अर्ककीर्ति के पुत्र अमिततेज ने अपने बहनों श्रीविजय की ओर से युद्ध की तैयारी शुरू कर दी। इसी क्रम में अमिततेज ने श्रीविजय को उक्त दोनों विद्याएँ दीं। श्रीविजय ने प्रत्येक विद्या को सात रात तक जप करके सिद्ध किया।

पत्रलघुकिंका (श्यामलीलम्भ : पृ. १२५) : (क) इस जादू-विद्या से शरीर को पत्ते की भाँति हल्का कर लेने की शक्ति प्राप्त होती थी। वसुदेव ने इस विद्या को भी सरकण्डे के जंगल में ही सिद्ध किया था और उसे अपनी पत्नी श्यामली को सिखाया था।

(ख) केतुमतीलम्भ (पृ. ३२८) में भी पत्रलघु-विद्या की चर्चा आई है। एक दिन त्रिपुराधिपति विद्याधर वीरांगद ने अशोकवाटिका से पूर्वभारतवर्ष के नन्दनपुर के राजा महेन्द्र की दो पुत्रियों—कनकश्री और धनश्री को अपहृत कर लिया। वीरांगद की पत्नी वज्रश्यामलिनी ने भीमाटकी में उन बेचारी दोनों बहनों को मुक्त करा दिया। फिर, उसने दोनों बहनों में पत्रलघु-विद्या संक्रान्त कर दी, जिससे वे, पत्ते की तरह शरीर के हल्का हो जाने के कारण, उड़ती हुई वेणुवन में बाँस की झाड़ी पर जा गिरी और वहाँ अनशन करके कालगत हुई। उसके बाद कनकश्री इन्द्र की नवमिका नाम की अग्रमहिषी हुई और धनश्री कुबेर की पत्नी बनी।

आकाशगामिनी : इस विद्या के चमत्कार से पूरी 'वसुदेवहिण्डी' की कथावस्तु ओतप्रोत है। विभिन्न प्रकार से रूपों का परिवर्तन विद्याधारियों के लिए सहज साध्य था। ये अपनी इच्छा के अनुसार रूप धारण करनेवाली, सुर-सुन्दरियों को भी विस्मित करनेवाली और चिरकालवर्णनीय लक्षण-गुणों से सम्पन्न शरीरवाली थीं। ये स्वयं आकाश में तो उड़ती ही थीं, दूसरों को भी उड़ा ले जाती थीं और आकाशमार्ग से जाकर, पलभर में कार्य करके वापस चली आती थीं। ये अन्तरिक्ष में ही खड़ी होकर मर्त्यवासियों से बात करने में समर्थ थीं। श्रमणों को भी आकाशगमन की विद्या सिद्ध थी। विद्याधर आकाशगमन आदि सभी विद्याएँ जानते थे और जब वे किसी को विद्याएँ प्रदान करते थे, तब उनकी साधन-विधि भी बतला देते थे। आकाशगमन की शक्ति से सम्पन्न विद्याधर अपराजेय होते थे, इसीलिए उनसे सभी डरते थे। विद्याधर प्रायः 'सर्वविद्य' होते थे और मनुष्य 'अविद्य'। 'अविद्य' मनुष्य जब 'सर्वविद्य' हो जाते थे, तब विद्याधर संकटकाल में बराबर उनकी सहायता के लिए तैयार रहते थे। आकाशगमन की विद्या से युक्त दमित्तरी विद्याधर से पराजित होने का भय राजा अनन्तकीर्त्य और अपराजित को बराबर सतृप्त करता था। इसलिए, उन्होंने पूर्वगृहीत विद्याओं को, जिनमें आकाशविद्या भी सम्मिलित थी, सिद्ध करने का निश्चय किया, तभी संयोगवश पूर्वभव की विद्याएँ वहाँ उपस्थित हो गई (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२५)।^१

१. कौटिल्य के अर्थशास्त्र (१४. ३) में भी आकाशगामी मन्त्र और उसकी रोचक प्रयोग-विधि का उल्लेख है। आकाशगामी मन्त्र प्रस्थापन आदि (यद्यपि, केवल प्रस्थापन के और भी कई मन्त्र और उनकी विविध प्रयोग-विधियाँ हैं) मन्त्रों के समान हैं। मन्त्र है :

‘उपैमि शरणं चार्मि देवतानि दिशो दश ।

अपयान्तु च सर्वाणि वशतां यान्तु मे सदा ॥ स्वाहा ।’

इस मन्त्र की प्रयोग-विधि इस प्रकार है : चार रात तक उपवास करने के बाद कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को किसी भग्नपुरुष की हड्डी से बैल की मूर्ति बनाये और उसे उक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित करें। ऐसा करने से दो बैलों से जुती हुई गाड़ी वहाँ उपस्थित हो जाती है। उसके द्वारा (वह साधक) आकाश में चक्रमण करता है।

वेतालविद्या (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५०; केतुमतीलम्भ : ३१७-३१९) : (क) इस जादूविद्या से किसी के भी शरीर को मृत दिखलाया जा सकता था। विद्याधर इस विद्या का प्रयोग विशेषतः उस स्थिति में करते थे, जब वे किसी विवाहिता स्त्री को अपने काम के अधीन बनाना चाहते थे। गन्धर्वदत्तालम्भ में कथा है कि अमितगति विद्याधर का प्रतिनायक धूमसिंह विद्याधर ने वेतालविद्या द्वारा उसकी (अमितगति की) विद्याधरी पत्नी सुकुमारिका को अपहृत कर अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उसे (सुकुमारिका को) उसके पति (अमितगति) का मृत शरीर दिखलाया था और कहा था : “यही तुम्हारा स्वामी है। मेरी हो जाओ या जलती आग (चिता) में प्रवेश करो।”

(ख)केतुमतीलम्भ (पृ. ३१७) में भी वेतालविद्या से सम्बद्ध एक कथा है : राजा श्रीविजय और रानी सुतारा के अपहरण के बाद पोतनपुर के सभी पुरजन किर्कतव्यविमूढ़ थे। तभी, कुण्डल धारण किये चंचलगति दीपशिख विद्युत् के समान आकाशमार्ग से नीचे उतरा और वह, सबको जयाशीर्वाद देकर कहने लगा : मैं सम्भिन्नश्रोत्र ज्योतिषी का पुत्र हूँ। हम पिता-पुत्र वैताड्य-शिखर पर रथनूपुरचक्रवाल नगर के अधिपति की उद्यान-श्री का स्वच्छन्द अनुभव करके ज्योतिर्वन-प्रदेश की ओर प्रस्थित हुए। तभी, हमने चमरचंचानगर के अधिपति अशनिघोष को किसी स्त्री को चुराकर ले जाते देखा। वह स्त्री चिल्ला रही थी : “हा श्रीविजय ! अमिततेज ! मुझे बचाइए। मुझ अनाथ और बेबस का अपहरण किया जा रहा है !” उस स्त्री का क्रन्दन सुनकर हमने अपहरण करनेवाले अशनिघोष का पीछा किया। तभी हमें विपत्ति में पड़ी, ग्रह से अभिभूत सशरीर चिन्ता के समान रानी सुतारा दिखाई पड़ी। जब हम दोनों पिता-पुत्र अशनिघोष को ललकार कर उससे जूझने के लिए आमने-सामने खड़े हुए, तभी रानी सुतारा ने हमें आदेश दिया : “जूझना व्यर्थ है। शीघ्र ज्योतिर्वन जाओ। वहाँ मेरे स्वामी वेतालविद्या से पीड़ित हो रहे हैं।” रानी के आदेशानुसार हम शीघ्र ही ज्योतिर्वन पहुँचे। वहाँ हमने राजा को चिता पर आग की लपटों के बीच रानी के प्रतिरूप (नकली रानी) के साथ स्वर्णकान्ति के समान सुलगते देखा। मेरे पिता (सम्भिन्नश्रोत्र) ने विद्या के बल से पानी उत्पन्न कर चिता बुझा दी। तब, वेतालविद्या धोर अट्टहास करके लुप्त हो गई।

(ग) वेतालविद्या से मोहन (हिप्नोटिज्म) का भी काम लिया जाता था। अशनिघोष जब शरणापन्न हुआ, तब उसने स्पष्टीकरण किया कि वह भ्रामरी-विद्या^१ सिद्ध करने के उद्देश्य से भगवान् संजयन्त के आयतन में एक सप्ताह का उपवास करके लौट रहा था, तभी ज्योतिर्वन के निकट उसे प्रभामयी रानी सुतारा दिखाई पड़ीं। उनको देखते ही उसके मन में परम स्नेहानुराग उत्पन्न हो आया। अब वह वहाँ से आगे नहीं बढ़ पा रहा था। तब, उसने मृगशावक का रूप

१. संघदासगणी ने इसका विशेष विवरण नहीं दिया है। शाक्ततन्त्र के अनुसार, भ्रामरी दुर्गा का पर्याय है। भार्कण्डेयपुराणान्तर्गत दुर्गासप्तशती (११.५२-५४) में अपनी भ्रामरी संज्ञा की निरुक्ति करते हुए देवी ने स्वयं कहा है :

यदारुणाख्यसैलोक्ये महाबाधां करिष्यति ॥

तदाहं भ्रामरं रूपं कृत्वासंख्येषट्पदम् ।

त्रैलोक्यस्य हितार्थाय वधिष्यामि महासुरम् ॥

भ्रामरीति च मां लोकास्तदा स्तोष्यन्ति सर्वतः ॥

अर्थात्, जब अरुण नामक दैत्य तीनों लोकों में भारी उपद्रव मचाया, तब मैं तीनों लोकों का हित करने के लिए छह पैरोंवाले असंख्य भ्रमरों का रूप धारण करके उस महादैत्य का वध करूँगी। उस समय सब लोग ‘भ्रामरी’ के नाम से चारों ओर मेरी स्तुति करेंगे।

धरकर श्रीविजय (रानी सुतारा का पति) को मोहने के निमित्त वेतालविद्या का प्रयोग करके उसे व्याकुल कर दिया और रानी सुतारा को लेकर चल पड़ा।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि वेतालविद्या को विभिन्न प्रकार की कार्यसिद्धि के लिए विभिन्न रूपों में प्रयुक्त किया जाता था। किन्तु, परकीया को धर्षण द्वारा स्वानुकूल बनाना ही इस विद्या का केन्द्रीय उद्देश्य था।

तिरस्करिणी (तिरस्कर्मणी) : इस इन्द्रजाल-विद्या द्वारा अपने को या किसी वस्तु को छिपा देने की क्षमता प्राप्त होती थी। विद्याधर इस विद्या को उस स्थिति में प्रयुक्त करते थे, जब उन्हें कोई समाजविरोधी या लोकविद्विष्ट कार्य करने (अथवा उसपर परदा डालने) की आवश्यकता होती थी।

प्रद्युम्न का जब जन्म हुआ, तब धूमकेतु पूर्वभव के वैरानुबन्धवश शिशु का अपहरण करके उसे भूतरमण अटवी की शिला पर छोड़ आया। शिशु अपने नाम से अंकित मुद्रा के रत्न से दिप रहा था। कालसंवर विद्याधर उसी समय अपनी पत्नी कनकमाला के साथ उस ओर आया। शिशु को देख कनकमाला मुग्ध हो गई और उसे उठाकर वैतालध्व पर्वत की दक्षिण श्रेणी के पश्चिम दिग्भाग में बसे मेघकूट नामक नगर में स्थित अपने घर में ले आई और वहाँ उसने उत्सव मनाया। लोगों की जिज्ञासा की शान्ति के लिए यह घोषणा करा दी गई कि कनकमाला का गर्भ तिरस्करिणी विद्या द्वारा प्रच्छन्न था। आज ही प्रद्युम्न नाम से कुमार का जन्म हुआ है (पृ. ८४ : पीठिका)।

इसी प्रकार, विद्याधरी मन्दोदरी को जब सीता नाम की पहली पुत्री पैदा हुई थी, तब उसे, लक्षणशास्त्रियों (ज्योतिषी) के कथनानुसार, कुलक्षय के भय से, मन्दोदरी के संकेत पर उसके अमात्य ने रत्न से भरी मंजूषा में बन्द कर दिया था और वे तिरस्करिणी विद्या से अपने को प्रच्छन्न (अदृश्य) करके मिथिला के राजा जनक की उद्यानभूमि में चलते हुए हल की नोक के नीचे उसे रख आये थे। नवजात शिशु का परित्याग सामाजिक दृष्टि से बहुत ही अनुचित है, इसलिए मन्दोदरी के अमात्यों ने तिरस्करिणी विद्या का प्रयोग किया (मदनवेगालम्भः रामायणः पृ. २४१)।^१

शुम्भा-निशुम्भा (मित्रश्री-धनश्रीलम्भ) : पृ. १९५) : शुम्भा विद्या से ऊपर उड़ने और निशुम्भा से नीचे उतरने की क्षमता प्राप्त होती थी। इसीलिए, इन दोनों को संयुक्त रूप में 'उत्पत-निपतनी'

इससे इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि भ्रामरी विद्या, भौर उत्पन्न करके उनसे शत्रु को आच्छादित कर संकटग्रस्त करने की कोई विद्या रही होगी। संघदासगणी ने अपनी महत्कथाकृति के पीठिका-प्रकरण (पृ. ९९) में प्रज्ञप्ति-विद्या के बल से भौर की जगह मच्छर उत्पन्न करने का उल्लेख किया है। प्रद्युम्न ने विद्याबल से शाम्ब का रूप बुद्धिया (मातंगवृद्धा) की तरह बना दिया। उसके बाद वे दोनों राजा रुक्मी के पास पहुँचे। मातंगवृद्धा की आँखों से मच्छरों की झड़ी निकल रही थी। उन मच्छरों से रुक्मी के सभासदों की आँखें ढक गई थीं और उन (मच्छरों) के दंश से वे सभी गूँगे-से हो गये थे।

१. कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र (१४. ३) में अन्तर्धान होने के आठ प्रकार के योगों का निरूपण किया है। एक अद्भुत योग इस प्रकार है :

तीन रात तक उपवास किया हुआ व्यक्ति पुष्यमक्षत्र में कुत्ता, बिल्ली, उल्लू और बागुली—इन चारों जानवरों की दोनों आँखों का अलग-अलग चूर्ण बनाये। तदनन्तर, दाईं आँखों के बने चूर्ण को दाईं आँख पर और बाईं आँखों के बने चूर्ण को बाईं आँख पर लगाये। इससे उस व्यक्ति की छाया और काया, दोनों अदृश्य हो जाती हैं।

(प्रा. उष्य-निष्यणीओ) कहा गया है। छठे, मित्रश्री-धनश्रीलम्भ का प्रारम्भ ही इस विद्या की चर्चा से हुआ है। वसुदेव के ही मुख से इस प्रसंग का आस्वाद लें :

“एक दिन गिरिकूट ग्राम के बाहर मैंने ऐन्द्रजालिक को देखा। उसने बरगद पर रहनेवाले नागकुमारों को दिखलाया। मैंने सोचा : यह विद्याधर किसी कारण से ही यहाँ आया है। इसके साथ मेल करना चाहिए। फिर, वह ऐन्द्रजालिक मुझे बुध और विबुध के मन्दिर में दिखाई पड़ा। वह मुझे बड़े आदर से निहार रहा था। मैंने पहचान लिया कि यह विद्याधर ही है। मैंने उससे पूछा : ‘कहो, किसलिए आये हो ? क्या कर रहे हो ?’ मेरी बात सुनकर वह मुझे एकान्त में ले जाकर कहने लगा : ‘सचमुच, मैं विद्याधर ही हूँ। मेरे पास शुम्भा और निशुम्भा नाम की ऊपर उड़ने और नीचे उतरने की दो सुखसाध्य विद्याएँ हैं। उन्हें मैं तुम्हें देता हूँ। तुम उसके पात्र हो। पूजा के विधान की सारी वस्तुएँ मैं जुटा लूँगा। तुम काल (कृष्ण) चतुर्दशी के दिन अकेले मुझसे मिलो। एक हजार आठ बार आवृत्ति करने से विद्या सिद्ध हो जायगी।’ मैंने विद्याधर की बात मान ली और चतुर्दशी के दिन उपवास करके विद्याएँ ग्रहण कीं।”

संघदासगणी ने इस इन्द्रजाल-विद्या की दूसरी संज्ञा ‘आवर्तनी’ और ‘निवर्तनी’ भी दी है, साथ ही इसके सिद्ध करने की विधि की ओर भी संकेत किया है। वसुदेव ने अपनी आत्मकथा को आगे बढ़ाते हुए कहा :

“इसके बाद मैंने (पत्नी) सोमश्री से कहा : ‘मैंने एक नियम ले रखा है, इसलिए मन्दिर में वास करूँगा।’ फिर, सोमश्री से अनुमत होकर और इस बात को किसी से न कहने की चेतावनी देकर मैं सन्ध्या में निकल गया। विद्याधर मुझे पहले पहाड़ की गुफा में ले गया, फिर वहाँ से हम खड़ी चोटीवाले पहाड़ों से भरे प्रदेश में पहुँचे। पूजा की विधि समाप्त की गई। उसके बाद विद्याधर ने मुझसे कहा : ‘विद्या की आवृत्ति करो। एक हजार आठ आवृत्ति पूरी होते ही विमान उतरेगा और तुम उसमें निःशंक चढ़ जाना। विमान जब सात-आठ तल ऊपर पहुँच जायगा, तब तुम निवर्तनी (निपतनी) विद्या की, इच्छा के अनुसार, आवृत्ति करना। विमान नीचे उतर आयगा। मैं तुम्हारी रक्षा के निमित्त निकट में ही थोड़ी दूर पर रहूँगा।’ यह कहकर विद्याधर चला गया।”

विद्या का चमत्कार भी वसुदेव को प्रत्यक्ष दिखाई पड़ा, किन्तु वह तो सही मानी में ऐन्द्रजालिक के इन्द्रजाल का चमत्कार या छलावा था। अतिशय साहसी पुरुष वसुदेव की कटु अनुभूति का आस्वाद उनके ही मुख से लें :

“मैं एकचित्त होकर विद्या का जप करने लगा। जप पूरा होते ही विमान उतरा। उसमें घण्टे लगे हुए थे, जिनसे रंरनाहट हो रही थी और विमान में विविध फूलों की सुरभिपूर्ण मालाएँ लटक रही थीं। उसके बीच में आसन था। मैंने सोचा : ‘मेरी विद्या सिद्ध हो गई। मुझे विमान पर चढ़ जाना चाहिए।’ मैं विमान में जा बैठा। विमान धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा। थोड़ा ऊपर उठने पर मैंने अनुमान किया, विमान पर्वत-शिखर की बराबरी में उड़ रहा है। इसके बाद एक दिशा की ओर विमान उड़ चला। फिर, मुझे ऐसा लगा, जैसे विमान ऊबड़-खाबड़ प्रदेश में स्खलित होता हुआ चल रहा है। मेरे मन में चिन्ता हुई : ‘विमान कहीं पर्वत की दीवार पर तो नहीं चल रहा है; क्योंकि यह ऊपर-नीचे लड़खड़ाता चल रहा है। सम्भव है, विद्याधर का कोई प्रयोग हो।’ यह सोचकर मैं आवर्तनी (निपतनी) विद्या का जप करने लगा। फिर भी, विमान आगे ही बढ़ता चला

गया। इसके बाद मैंने कुछ आदमियों के परिश्रमजनित उच्छ्वास का शब्द सुना। सुबह हो चुकी थी। मैंने देखा, वहाँ कुछ आदमी बिना अटके-भटके मुझे कहीं ले जा रहे हैं। मैं सोचने लगा : 'किसी की सलाह से किसी पुरुष द्वारा प्रयुक्त इस कृत्रिम विमान को निश्चय ही रस्सी से खींचकर लाया गया है।' मैं विमान से नीचे उतरकर भाग चला।"

अप्रतिहता (मदनवेगालम्भ : पृ. २३८) : यह विद्या, अपनी संज्ञा के अनुसार, साधक को अमोघ शक्ति से सम्पन्न कर देती थी। दुस्साध्य कार्यों को भी विस्मयकारी ढंग से सुखसाध्य बना देती थी। यह विद्या परशुराम को एक नवदीक्षित साधु से प्राप्त हुई थी। इस सम्बन्ध में एक रोचक कथा चौदहवें मदनवेगालम्भ में प्राप्य है :

एक दिन इन्द्रपुर के राजा जितंशु की पटरानी पुत्रप्राप्ति की इच्छा से राजा के साथ जमदग्नि ऋषि के आश्रम में पहुँची। वहाँ रानी ने ऋषिपत्नी रेणुका से कहा : "ऋषि से कहो कि वे मन्त्रसिद्ध चरु (चावल से बनी देवाहुति) मुझे दें, जिससे मुझे पुत्र उत्पन्न हो।" रेणुका के आग्रह पर जमदग्नि ने दो चरु मन्त्रसिद्ध किये, जिनमें एक रेणुका को दिया और दूसरा रानी को। रानी ने रेणुका से कहा : "तुम अपना चरु मुझे दे दो। क्योंकि, ऋषि ने अवश्य ही अपने पुत्र की प्राप्ति के निमित्त तुम्हारे चरु को विशिष्ट रूप से मन्त्रसिद्ध किया होगा। मेरे पास जो चरु है, उसे तुम ले लो।" रेणुका ने रानी से अपना चरु बदल लिया। यथासमय रेणुका ने राम (परशुराम) को जन्म दिया।

एक बार व्यापारियों के साथ कुछ साधु चल रहे थे। जब वे सभी जंगल में प्रवेश कर गये, तब जमदग्नि ने व्यापारियों से बिछुड़े हुए, रोग से अभिभूत एक नवदीक्षित साधु को देखा। वह उसे अपने आश्रम में ले आया और उसकी प्रयत्नपूर्वक सेवा करके उसे स्वस्थ बना दिया। इससे साधु ने प्रसन्न होकर जमदग्नि को 'अप्रतिहता-विद्या' प्रदान की। जमदग्नि ने उस विद्या की साधना की और उसकी सिद्धि की परीक्षा के लिए, अपने फरसे को उस विद्या से अभिमन्त्रित कर पक्षसर में छोड़ दिया। परिणामतः, सरोवर का सारा पानी सूख गया। इस प्रकार, विद्या की सिद्धि के प्रति विश्वस्त होकर जमदग्नि सुखपूर्वक जंगल में घूमने लगा।

ज्वालवती (प्रा. 'जालवती') : चौदहवें मदनवेगालम्भ की रामायण-कथा में इस विद्या का उल्लेख हुआ है। राम की सेना ने जब रामण के प्रधान योद्धाओं का विनाश कर दिया, तब रामण ने ज्वालवती विद्या की साधना प्रारम्भ की। इस विद्या की साधना का उद्देश्य राम की सेना का विनाश था। किन्तु राम और लक्ष्मण रामण से अधिक शक्तिशाली थे। विद्यासिद्धि के बावजूद रामण, लक्ष्मण के द्वारा प्रतिनिक्षिप्त, अपने चक्र से ही मारा गया (पृ. २४४)।

आभोगिनी (पृ. ३३०) : इस विद्या में परोक्ष की घटना का समाचार प्राप्त करने की शक्ति निहित थी। केतुमतीलम्भ की कथा है कि किन्नरगीत नगर के राजा दीप्तचूड की नातिन शान्तिमती को एक पापी विद्याधर खींच ले गया था। शान्तिमती मणिसागर पर्वत पर भगवती प्रज्ञप्ति-विद्या की साधना कर रही थी। जब वह मणिसागर पर्वत पर नहीं दिखाई पड़ी, तब 'आभोगिनी' (समाचार देनेवाली) विद्या के बल से उसकी वास्तविक स्थिति की सूचना प्राप्त की गई।

पन्द्रहवें वेगवतीलम्भ (पृ. २४९) में भी समाचार देनेवाली विद्या की चर्चा आई है। एक बार वसुदेव को, उनकी पत्नी मदनवेगा का छद्मरूप धरकर दुष्ट विद्याधरी शूर्पणखी आकाशमार्ग से उड़ा ले गई। इधर उनकी एक दूसरी विद्याधरी पत्नी वेगवती रोते-रोते बेहाल हो गई। तब

उसके माता-पिता ने यह कहकर आश्वस्त किया: “बेटी ! सन्ताप छोड़ो ! तुम्हारे पास तो विद्याएँ हैं । उनकी आवृत्ति (जप) करके अपने स्वामी का समाचार प्राप्त करो ।” यहाँ अवश्य ही पूर्वोक्त ‘आभोगिनी’ विद्या की ओर संकेत है ।

सर्पविद्या (पृ. २५४) : इस विद्या में विषैले साँपों का विष उतारने की शक्ति थी । गारुडिक (सर्पवैद्य) इसका प्रयोग बड़ी सफलता से करते थे । सोलहवें बालचन्द्रालम्भ की कथा है कि महादानी राजा सिंहसेन एक दिन भवितव्यता से प्रेरित होकर भाण्डार में घुसा और ज्योंही रत्नों पर दृष्टि डाली, त्योंही रत्न पर बैठे ‘अगन्धन’ नामक भयंकर सर्प ने उसे डँस लिया । साँप भाग गया । राजा के शरीर में विष फैलने लगा । सर्पवैद्य उपचार करने में जुट गये । गरुडतुण्ड नामक गारुडिक ने साँपों को बुलाया । जो साँप अपराधी नहीं थे, उन्हें तो विदा कर दिया, किन्तु ‘अगन्धन’ सर्प खड़ा रहा । गारुडिक ने विद्याबल से ‘अगन्धन’ सर्प को राजा के शरीर से विष चूसने को प्रेरित किया । परन्तु अतिशय मान के कारण वह सर्प विष चूसने को तैयार नहीं हुआ । तब, गारुडिक ने उसे जलती हुई आग में डाल दिया ।

महाजालविद्या (महाजालिनी विद्या) : इस विद्या में सभी प्रकार की विद्याओं के छेदन की शक्ति होती थी । इक्कीसवें केतुमतीलम्भ (पृ. ३१८) में उल्लेख है कि राजा अशनिघोष को विद्या में अधिक प्रौढ़ जानकर उसका प्रतिद्वन्दी राजा अमिततेज सभी विद्याओं का छेदन करनेवालों महाजालविद्या की साधना के लिए तैयारी करने लगा । उसी क्रम में वह अपने ज्येष्ठ पुत्र सहस्ररश्मि के साथ ह्रीमन्त पर्वत पर गया । वहाँ भगवान् संजयन्त और नागराज धरण की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं । उन्हीं के चरणप्रान्त में वह मासिक भक्त (उपवास) और साप्ताहिक प्रतिमा (व्रत) द्वारा विद्या की आराधना करने लगा और सहस्ररश्मि उसकी देखरेख में तत्पर रहने लगा । इस प्रकार, अमिततेज का विद्या के लिए साधना का योग चलने लगा ।

इधर अशनिघोष ने अपने युद्धजयी पुत्रों के साथ मिलकर श्रीविजय (अमिततेज का बहोई, रानी सुतारा का पति, जिसे अशनिघोष ने हर लिया था) पर आक्रमण कर दिया । अशनिघोष को अनेक विद्याएँ सिद्ध थीं ; श्रीविजय ने जब अशनिघोष के दो टुकड़े कर डाले, तब दो अशनिघोष हो गये । उनके दो-दो टुकड़े करने पर चार अशनिघोष हो गये । इस प्रकार अशनिघोषों की संख्या बढ़ती चली गई और श्रीविजय विस्मित होकर प्रहार करते-करते थक गया । इसी बीच अमिततेज की महाजालिनी विद्या सिद्ध हो गई । महाप्रभावशाली सिद्धविद्य अमिततेज को देखकर अशनिघोष के मन में डर पैदा हो गया । इसलिए, वह अपनी सेना को छोड़कर भाग गया और उसके पक्षधर प्रायः सभी विद्याधर भी चारों ओर भाग चले । कथाकार द्वारा वर्णित इस अशनिघोष की प्रतिरूपता ‘दुर्गासप्तशती’ में वर्णित रक्तबीजासुर से परिलक्षित होती है । कथा है कि रक्तबीज के जितने ही रक्तबिन्दु गिरते थे, उतनी ही संख्या में रक्तबीज उत्पन्न हो जाते थे ।

तब, अमिततेज ने, जो विद्याधर नहीं भाग रहे थे, उनपर भीषण आक्रमण करने का आदेश देकर महाजालविद्या को भेजा । महाजालविद्या से मोहित (वशीभूत) सभी विद्याधर-शत्रु निरुपाय होकर अमिततेज की शरण में आ गिरे ।

विद्यामुखी : यह विद्या शत्रु का पीछा करने के लिए प्रेरित की जाती थी । जब अशनिघोष भाग गया, तब अमिततेज ने उसे न छोड़ने की आज्ञा देकर विद्यामुखी विद्या को भेजा । विद्यामुखी

विद्या उसका उसी प्रकार पीछा करने लगी, जिस प्रकार राम के तृणबाण ने जयन्त का पीछा किया था। विद्यामुखी विद्या द्वारा वापस आने को विवश किया गया अशनिघोष कहीं भी शरणस्थल न पाकर भागता रहा। अन्त में जब बलभद्र की शरण में उपस्थित हुआ, तभी विद्यामुखी ने उसे छोड़ा और यह समाचार अमिततेज को दिया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१९)।

विद्यादेवी रोहिणी : वसुदेव को अनुकूल पत्नी की प्राप्ति के उपाय की सूचना विद्यादेवी से भी उपलब्ध हुआ करती थी। रोहिणी नाम की जिस पत्नी से वसुदेव का विवाह हुआ था, उसकी प्राप्ति के उपाय की सूचना रोहिणी नाम की विद्यादेवी ने ही दी थी। हिण्डन के क्रम में वसुदेव जब कोशल-जनपद में थे, तभी वहाँ किसी अदृष्ट देवी ने उनसे कहा : “पुत्र वसुदेव ! मैं रोहिणी कन्या तुम्हें सौंप रही हूँ उसे स्वयंवर में देखकर ढोल बजा देना।”

उसी समय रोहिणी के पिता राजा रुधिर की ओर से स्वयंवर की घोषणा प्रसारित हुई। स्वयंवर में जब सभी राजा मंच पर आसीन हुए, तब वसुदेव ढोल बजानेवालों के साथ, ढोल हाथ में लिये, ढोलकियों के निमित्त अलग से बने हुए मंच पर जा बैठे। रोहिणी जब स्वयंवर में पधारी, तब वसुदेव ने ढोल बजा दिया। रोहिणी सभी राजाओं की उपेक्षा करती हुई वसुदेव के पास पहुँची और उनके गले में पुष्पमाला (वरमाला) डाल दी।

वसुदेव जब रोहिणी के साथ सुखपूर्वक विहार कर रहे थे, तभी उन्होंने रोहिणी से पूछा : “देवी ! तुमने पूरी क्षत्रिय-सभा की उपेक्षा कर मेरा ही वरण क्यों किया ?” तब, वह बोली : “आर्यपुत्र ! मैं ‘रोहिणी’ नाम की विद्यादेवी की बराबर पूजा करती थी। जिस समय मेरे लिए स्वयंवर आयोजित हुआ, उस समय भी मैंने देवी की आराधना करते हुए अनुकूल वर की प्रार्थना की थी। तभी, देवी ने आदेश दिया : ‘तुम दसवें दशार्ह वसुदेव की पत्नी बनोगी। ढोल बजानेवाले के रूप में उसे तुम पहचानोगी।’ इस प्रकार, देवी के आदेश से मैंने आपको पहचान लिया (रोहिणीलम्भ : पृ. ३६६)।”

सर्वौषधिलब्धि-विद्या : इस विद्या के प्रभाव से शरीर की सभी मल-धातुएँ (कफ आदि) ओषधि का काम करती थीं। तार्थकर के चिन्ताभस्म को या भस्मावशेष को सर्वव्याधिहर माना गया है। यह विद्या विशेष लब्धि मानी जाती थी। इस विद्या से सभी प्रकार की बीमारियों से मुक्ति मिल जाती थी। इसी को ‘जल्लौषधि-लब्धि’ भी कहा गया है। यह एक तरह की आध्यात्मिक शक्ति थी, जिसके प्रभाव से शरीर के मैल से रोग का नाश होता था (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८६)।^१

अट्टारहवें प्रियंगुसुन्दरीलम्भ की कथा (पृ. २९५) है कि हस्तिशीर्ष नगर में द्रुमदत्त (प्रा. दमदत्त) नाम का बनिया था। एक दिन उसने साधु अनन्तजिन के निकट प्रव्रज्या ले ली। तप के प्रभाव से वह सर्वौषधिलब्धि की विद्या से सम्पन्न हो गया। वह श्मशान के निकट व्रतपूर्वक रहता था। यमपाश मातंग का पुत्र अतिमुख बराबर बीमार रहता था। एक बार वह द्रुमदत्त अनगर के चरणों में उपस्थित हुआ। उस साधु की कृपा से वह नीरोग हो गया। पुत्र ने साधु के चमत्कार की बात मातंग से कही। मातंग भी अपने सम्पूर्ण रुग्ण परिवार के साथ उस साधु के पास गया और उनकी ऋद्धि की कृपा से रोगमुक्त होकर श्रावकधर्म और पंचाणुवत स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार, ‘वसुदेवहिण्डी’ विद्याओं के चमत्कार की कथाओं से भरी हुई है। ये इन्द्रजाल-विद्याएँ एक नहीं, हजारों की संख्या में थीं। प्रज्ञप्ति-विद्या के प्रकरण (नीलयशालम्भ : पृ. १६४)

में, जैसा पहले कहा गया है, नागराज धरण ने प्रसन्न होकर नमि-विनमि को गन्धर्व और नागजाति की अड़तालीस हजार विद्याएँ प्रदान की थीं। नागराज की कृपा से विनमि ने वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी में गगनवल्तभ प्रभृति साठ नगर बसाये थे और नमि ने दक्षिण श्रेणी में रथनूपुरचक्रवाल प्रभृति पचास नगर बसाये। वैताढ्य पर्वत पर विद्या के प्रलोभन से जिन-जिन जनपदों से जो-जो मनुष्य आये, उनके जनपद उन्हीं के नामों से प्रसिद्ध हुए। विद्याओं की संज्ञाओं के आधार पर विद्याधरों के निकायों की रचना नमि और विनमि ने की। ये सभी विद्याधर गन्धर्व और नागकुल के थे। निकायों की रचना इस प्रकार की गई थी :

गौरी विद्या की संज्ञा से गौरिक, मनुविद्या से मनुपूर्वक, गान्धारी विद्या से गान्धार, मानवी से मानव, केशिका से केशिकपूर्वक, भूमितुण्डक विद्याधिपति की संज्ञा से भूमितुण्डक, मूलवीर्या विद्या से मूलवीर्य, शंकुका से शंकुक, पाण्डुकी से पाण्डुक, कालकी से कालकेय, मातंगी विद्या से मातंग, पार्वती से पार्वतिय, वंशलता से वंशलता, पांशुमूलिका से पांशुमूलक, वृक्षमूलिका से वृक्षमूलक तथा कालकी से कालकेश। नमि और विनमि ने इन सोलह विद्याओं के आठ-आठ निकाय आपस में बाँट लिये। इसके बाद ये दोनों कुमार विद्याओं के बल से देव के समान प्रभावशाली होकर स्वजन-परिजन-सहित एक साथ मनुष्य और देव का भोग-विलास प्राप्त करने लगे। उन्होंने नगरों और सभामण्डपों में ऋषभस्वामी की प्रतिमा को देवता की भाँति स्थापित कराया और प्रत्येक विद्याधर-निकाय में विद्या के अधिपति देवता की प्रतिष्ठा कराई। दोनों ही कुमारों ने अपने-अपने पुत्रों और क्षत्रियों से सम्बद्ध नगरों का नवनिर्माण और ततोऽधिक विस्तार किया। इस प्रकार, विद्या से सम्पन्न विद्याधर अपने को देवतुल्य मानते थे, तो विद्याधरियाँ अपने को देवी के समान समझती थीं।

मुनिवृत्तिधारी राजकुमार भी विद्यासम्पन्न होने पर सर्वविशिष्ट हो जाते थे। हस्तिनापुर के राजा महापद्म के कनिष्ठ पुत्र विष्णुकुमार ने जब अनगर धर्म स्वीकार किया, तब उसने स्वीकृत धर्म के प्रति अविचलित श्रद्धा रखकर, मन्दार पर्वत पर साठ हजार वर्षों तक परम दुश्चर तप कटके विकुर्व्ण-ऋद्धि, सूक्ष्म-स्थूल-विविधरूपकारिणी, अन्तर्धानी, गगनगामिनी आदि अनेक लब्धियाँ (विद्याएँ) प्राप्त की थीं। अर्थात्, वह ऐसी विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न हो गया था, जिससे अभीप्सित वस्तु के तत्क्षण निर्माण में समर्थ था; उसका शरीर सूक्ष्म-स्थूल आदि अनेक स्वरूपों में छूमन्तर से बदल सकता था, साथ ही वह अनेक क्रियाओं को करने में समर्थ था। वह जब चाहता, अन्तर्हित—अदृश्य हो सकता था और आकाशगमन की भी क्षमता उसमें थी। इसीलिए, उसे जब नमुचि ने तीन पग भूमि दी, तब विकुर्वित विराट् शरीरवाले उस (विष्णु) का एक पग हस्तिनापुर (दिल्ली) में था और दूसरा पग मन्दारपर्वत (भागलपुर : बिहार) पर। क्रुद्ध होने पर वह तीनों लोकों को निगलने में समर्थ था। एक आकाशचारी मुनि को साथ लेकर वह आकाशमार्ग से उड़ता हुआ क्षणभर में मन्दार पर्वत से हस्तिनापुर पहुँच गया था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १२८-१२९)।

विद्या के द्वारा प्राणहत्या तक की जा सकती थी, अर्थात् विद्याओं से मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन आदि समस्त आधिचारिक क्रियाएँ सम्भव थीं। इसलिए, विद्याओं द्वारा हित और अहित, इष्ट और अनिष्ट, दोनों प्रकार के कार्यों की सिद्धि अनायास की जा सकती थी। शाण्डिल्यरूप-धारी महाकाल हिंसा का समर्थक था। उसने चेदिराज उपरिचर वसु द्वारा घोर हिंसा (पशुवध) कराकर

उसे रसातल भिजवा दिया था। उसके बाद वह राजा सगर को उसी हिंसाकर्म से नरक भेजने का उपक्रम करने लगा। इसी क्रम में उसने राजा सगर को पशुवध के प्रति विश्वास दिलाने के लिए अपने विद्याबल से वसु को विमान द्वारा स्वर्ग जाते हुए दिखाया। महाकाल को राजा सगर से पूर्वभ्रव का वैर था, इसलिए उसे सशरीर स्वर्ग ले चलने का प्रलोभन देकर उससे घोर हिंसा करवाई (तुल. : बाह्य पुराणों की प्रसिद्ध त्रिशंकु-कथा)। इसके बाद उसपर प्राणघातक अंकमुखी, श्येनमुखी, महाचुल्ली और किरातरूपिणी विद्याओं का प्रयोग किया (सोमश्रीलम्भ : पृ. १९३)। इस प्रकार, प्राणघातक और प्राणरक्षक, दोनों विद्याओं का विकास हुआ था।

विद्या से भ्रष्ट हो जाने पर साधक या साधिका को नागपाश में बँधना पड़ता था और इस प्रकार उसका प्राण संकट में पड़ जाता था। गगनवल्लभ नगर के राजा चन्द्राभ और रानी मेनका की पुत्री तथा वसुदेव की विद्याधरी पत्नी वेगवती की बाल्यसखी बालचन्द्रा (वसुदेव की अन्य पत्नी) विद्याभ्रष्ट हो जाने के कारण नागपाश में बँध गई थी, जिसे वेगवती के आग्रह पर वसुदेव ने उस बन्धन से मुक्त किया था (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५१)। अंगारक भी जब विद्याभ्रष्ट हो गया था, तब उसने धतूरे का धुआँ पीते हुए बड़े कष्ट से विद्या की पुनः साधना की थी (नीलयशालम्भ : पृ. १७९)।

विद्याएँ या महाविद्याएँ कुलक्रमागत होती थीं। किसी-किसी कुल की महाविद्याएँ तो विशेष कष्टसाध्य और विघ्न करनेवाली होती थीं। इसीलिए, बालचन्द्रा ने बन्धनमुक्त होने के बाद वसुदेव से कृतज्ञता के स्वरों में कहा था : “आर्यपुत्र ! मेरे कुल में विशेषतः कष्टसाध्य और विघ्न करनेवाली महाविद्याएँ हैं। आपकी कृपा से मेरी विद्या सिद्ध हो गई।” नागराज धरण विद्याओं के अधिपति थे। सभी विद्याएँ उनकी वंशवदा थीं। विद्या-साधना के नियमों का नियन्त्रण वही करते थे। बालचन्द्रा के कुल में नागराज धरण के अभिशाप-दोष से ही लड़कियों को महाविद्याएँ कष्ट से सिद्ध होती थीं (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २६४)। कभी-कभी दो विद्याधरियाँ आपस में लड़ते समय एक दूसरे की विद्या छीन लेती थीं। शूर्पणखी ने वेगवती से लड़ते समय उसकी विद्या छीन ली थी।

ऋषियों को आघात पहुँचानेवाले और अनिच्छुक या सपतिक स्त्रियों के साथ बलप्रयोग करनेवाले सविद्य विद्याधर की विद्याओं को नागराज धरण छीन लेते थे। और फिर, क्षमा-प्रार्थना करने पर विद्याएँ लौटा भी देते थे। एक बार गगनवल्लभ नगर के राजा विद्युद्दंष्ट्र ने विद्याधरों को अपने वश में कर लिया और उनसे, अपने प्रताप के बल से वैताद्व्य पर्वत पर बलपूर्वक लाये गये व्रतनिष्ठ साधुओं को मार डालने को कहा। विद्युद्दंष्ट्र के अधीनस्थ विद्याधरों ने अपनी-अपनी विद्या का आवाहन किया और वे अस्त्र उठाकर उन मुनियों को मारने की इच्छा से खड़े हो गये। उसी समय नागराज धरण अधिष्ठापक (ऊर्ध्वलोकवर्ती) देवों से विदा लेकर अष्टापद पर्वत की ओर जा रहे थे। रास्ते में विद्याधरों को ऋषिघात के लिए खड़े देखकर वह रुष्ट हो गये और ‘गुण-दोष का विचार न करनेवाले आपका कल्याण नहीं है’ यह कहकर उन्होंने विद्याधरों की विद्याएँ छीन लीं (तत्रैव : पृ. २५०-२५१)। लेकिन, जब विद्याधरों ने नागराज धरण के पैरों पर गिरकर निवेदन किया कि ‘स्वामी ! आपका कोप हमने देखा है। अब आप हमारी विद्याएँ लौटाने की कृपा करें,’ तब उन्होंने इस शर्त पर विद्याएँ लौटा दीं कि “आप जिन विद्याओं की साधना करेंगे, वे आपकी वंशवद होंगी। सिद्धविद्य होकर भी आप यदि जिनायतन में या साधु या किसी

दम्पति के प्रति अपराध करेंगे, तो पुनः विद्याभ्रष्ट हो जावेंगे। और तब, विद्युद्वृष्ट के वंशजों को कभी महाविद्याएँ सिद्ध नहीं होंगी। स्त्रियों को भी बहुत विघ्न के साथ, दुःखपूर्ण साधना द्वारा या देव, साधु और महापुरुष के दर्शन से सुखपूर्वक भी विद्याएँ सिद्ध होंगी।" इस प्रकार, देवों के समक्ष विद्याधरों की विद्याप्राप्ति-विषयक स्थिति की स्थापना करके नागराज धरण विदा हो गये (तत्रैव : पृ. २६४)। इसी नियम के अनुसार, बालचन्द्रा को, वसुदेव जैसे महापुरुष के दर्शन-मात्र से ही विद्या की सिद्धि अनायास प्राप्त हो गई।

जैसा पहले कहा गया, उपरिविवेचित एवं यथाविवृत समस्त मायाकृत विद्याओं की परिकल्पना देवियों के रूप में की गई है। ये विद्याएँ मन्त्ररूपात्मक होती थीं। क्योंकि, तन्त्रशास्त्र में मान्त्रिक उपासना अपनी रहस्यात्मकता एवं परोक्षभाव से फल देने की शक्तिविशिष्टता के कारण अतिशय महत्त्वपूर्ण मानी गई है। इसीलिए, ये विद्याएँ गुह्यातिगुह्य या परम गोपनीय समझी जाती थीं। इन विद्याओं को ग्रहण करने तथा इन्हें सिद्ध करने की अपनी विशिष्ट विधि या पुरश्चरण की पद्धति होती थी। ये विद्याएँ विशेषकर कृष्ण चतुर्दशी के दिन ग्रहण की जाती थीं। इनकी सिद्धि के लिए साधक-साधिकाएँ प्रायः श्मशान, पर्वत-शिखर, जंगल, तीर्थभूमि, शून्य देवालय आदि स्थानों में साधना किया करते थे। इस साधना-क्रम में विद्याओं का विधिवत् आवाहन और विसर्जन किया जाता था। विद्याओं के सिद्ध होने पर उनकी सिद्धि का परीक्षण भी किया जाता था। विद्याधर के स्पर्श से मृत व्यक्ति जीवित हो उठता था। विद्यासिद्ध व्यक्ति अपराजेय होता था। विद्यासम्पन्न पुरुष पर किसी अन्य की विद्याओं का कोई असर नहीं होता था। इसीलिए, जम्बूस्वामी द्वारा प्रयुक्त 'स्तम्भनी' विद्या से विद्यासिद्ध प्रभव किसी प्रकार प्रभावित नहीं हुआ (कथोत्पत्ति : पृ. ७)।

विद्याएँ पूर्वभव की परम्परा से भी प्राप्त होती थीं, अर्थात् पूर्वजन्माजित विद्याएँ वर्तमान जन्म में भी साथ देती थीं। ये विद्याएँ बड़े प्रलोभन की वस्तु मानी जाती थीं। इसीलिए, इनकी सिद्धि के निमित्त साधक-साधिकाएँ अपनी जान की बाजी लगा देने को भी तैयार रहते थे। विद्या सिद्ध करते समय विघ्नकारिणी देवियाँ स्त्रीरूप धारण कर अपने शृंगारयुक्त स्वरो और अनेक प्रकार के हाव-भावों से साधकों को मोह लेने का प्रयास करती थीं। ये विद्याएँ ज्ञानात्मक होने की अपेक्षा क्रियात्मक अधिक होती थीं। इसीलिए, ज्ञानजगत् में तान्त्रिक क्रियाएँ अधिक मूल्य नहीं आयत्त कर सकीं। फलतः, ऋद्धियों और चमत्कारों में, उनके ज्ञाता भी अधिक अभिरुचि नहीं प्रदर्शित करते थे।

आधुनिक वैज्ञानिक युग में भी अनेक चमत्कारी योगी पुरुष हुए हैं और हैं भी, जिनमें परमहंस स्वामी विशुद्धानन्द और उनके मनीषी शिष्य पुण्यश्लोक महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज आदि के महनीय नाम उल्लेख्य हैं। कविराजजी तो वर्तमान साई बाबा के यौगिक चमत्कारों के प्रति अतिशय आस्थावान् थे। वह स्वयं इसे 'अभ्यास-योग' मानते थे और कहते थे, "विज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति की चकाचौंध से चकित होने की आवश्यकता नहीं है। विज्ञान जिसकी सृष्टि कर रहा है, वह योगी की इच्छा से भी सम्पन्न हो सकता है।" उन्होंने योगी की चितिशक्ति का स्वरूप बतलाते हुए अपने गुरु स्वामी परमहंस विशुद्धानन्द के 'सूर्यविज्ञान' का उल्लेखपूर्वक कहा है : "योगसृष्टि इच्छाशक्ति से होती है। इस सृष्टि में पृथक् उपादान की आवश्यकता नहीं रहती। उपादान वस्तुतः स्रष्टा की अपनी आत्मा को ही जानना चाहिए, अर्थात् इच्छाशक्तिमूलक सृष्टि में उपादान और निमित्त दोनों अभिन्न रहते हैं। आत्मा, अर्थात् योगी स्वयं अपने स्वरूप से बाहर किसी उपादान की अपेक्षा न रखकर इच्छाशक्ति के प्रभाव से अन्दर स्थित अभिलषित पदार्थ को

बाहर करते हैं। यह योगसृष्टि है। तान्त्रिक भाषा में, यही बिन्दु की विसर्गलीला है। अद्वैतभूमि में स्थित योगी इच्छाशक्ति द्वारा सृष्टि किया करते हैं। 'शक्तिसूत्र' में कहा है : 'स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति।' इसीलिए, उत्पलाचार्य ने भी कहा है :

चिदात्मा तु हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।

योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥

शंकराचार्य ने भी कहा है : समग्र विश्व आत्मा के निज स्वरूप के अन्तर्भूत है। दर्पण में प्रतिबिम्बित रूप जैसे दर्पण के अन्तर्गत है, दर्पण से पृथक् नहीं, वैसे ही प्रकाशमान आत्मा में प्रतिभासमान पृथक् दृश्य आत्मा के अन्तर्गत है, आत्मा से पृथक् नहीं।^१

कविराजजी ने प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तु के सत्त्वांश को मानकर, प्रत्येक वस्तु से अन्य वस्तु के पैदा होने की यौगिक क्रिया का भी वर्णन किया है : "प्रत्येक वस्तु की पृष्ठभूमि में अव्यक्त और सूक्ष्म रूप से मूलप्रकृति रहती है। आवरण के तारतम्य के अनुसार, विभिन्न प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति होती रहती है। योगी इस सत्य का आश्रय करके ही अभ्यास-योग में प्रवृत्त होता है, क्योंकि मानव की निज सत्ता में भी सूक्ष्म रूप से पूर्ण भगवत्सत्ता अथवा दिव्यसत्ता विद्यमान रहती है, उसको अभिव्यक्त कर प्रकाश में लाना ही अभ्यासयोग का उद्देश्य है। अच्छी-बुरी सब सत्ताएँ सभी में रहती हैं, जो जिसे अभिव्यक्त कर सके, वही उसके निकट अभिव्यक्त होती है। इस सन्दर्भ में योगसूत्रकार पतंजलि ने भी कहा है : 'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्' (४.२)। अर्थात् प्रकृति अथवा उपादान का आपूरण होने से एक जाति की वस्तु अन्य जाति में परिणत हो जाती है।"^२

माननीय कविराजजी ने इस सिद्धान्त का परीक्षण अपने गुरु परमहंस स्वामी विशुद्धानन्द के द्वारा अपने शंकरालु मित्र तत्कालीन क्वींस कॉलेज के भौतिकी के प्रधान प्राध्यापक श्रीअभयचरण सान्याल की उपस्थिति में कराया था। अभय बाबू ने जब सूर्यविज्ञान के आधार पर ग्रेनाइड का टुकड़ा बनाने के लिए स्वामीजी से कहा, तब स्वामीजी ने एक लेंस निकाला तथा उसके आधार पर सूर्यरश्मियों से रूई में उस ग्रेनाइड को उतार दिया और अपूर्व सुन्दर लाल रंग का 'ग्रेनाइड स्टोन' स्वामीजी ने अभय बाबू को सौंप दिया। अभय बाबू आश्चर्यचकित रह गये।^३

संकल्प-शक्ति द्वारा वस्तु-उत्पादन के एक नमूने के रूप में एक विकुर्वित अंगूठी साई बाबा ने साप्ताहिक 'ब्लिट्ज' के ऋद्धि के प्रति आस्थाविहीन सम्पादक श्री आर्. के. करंजिया को दी थी, जो 'ओम्' शब्द से युक्त तथा साई बाबा की आकृति से अलंकृत थी।^४

इस प्रकार, यौगिक विभूतियों में विद्या की ततोऽधिक महत्ता स्वीकृत है। किन्तु, यौगिक विद्याओं का मूल्य मायिक या चामत्कारिक प्रदर्शन तक ही सीमित नहीं है, अपितु वे माया से मुक्ति के आध्यात्मिक माध्यम हैं। इसीलिए, तान्त्रिक वाङ्मय के आचार्यों की मान्यता है कि संख्या की दृष्टि से मन्त्र और विद्याएँ सात करोड़ हैं और ये सभी विद्येश्वर (शिव) की आज्ञा के अधीन

१. सूर्यविज्ञान-प्रकरण, 'भारतीय संस्कृति और साधना' (भाग २), प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ. १६०-१६१

२. उपरिवत्, पृ. १६४

३. 'परिषद्-पत्रिका' वर्ष १८ : अंक २ (म. म. गोपीनाथ कविराज-स्मृतितीर्थ), जुलाई, १९७८ ई., पृ. ८१

४. 'परिषद्-पत्रिका' (वही)

रहते हैं। इनका वासस्थान या भुवन विद्यातत्त्व में हैं। विद्येश्वर, 'सकल' जीवों के उद्धार के समय मन्त्रों और विद्याओं का, अपने अनुग्रह-कार्य के करण या माध्यम रूप से व्यवहार करते हैं। किन्तु आज के साधनादुर्बल युग में मायाकृत विद्याओं के विस्मयकारी चमत्कार केवल मिथक और रूढ़ कल्पना के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं। परन्तु, इतना मानना पड़ेगा कि अवचेतन को चेतन में और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष उपस्थित करनेवाले ऐन्द्रजालिक और यौगिक चमत्कारों का पारम्परिक भारतीय प्राच्य-विद्याओं में अर्हणीय स्थान है।

'वसुदेवहिण्डी' में यथोक्त मायाकृत या इन्द्रजाल-विद्याओं के अतिरिक्त ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, वास्तुविद्या और विविध ललितकलाओं के रूप में पारम्परिक भारतीय विद्याओं का उल्लेख हुआ है, जिनका विवरण-विवेचन यहाँ अपना प्रासंगिक महत्त्व रखता है।

(क) ज्योतिष-विद्या

'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित ज्योतिषियों की ज्योतिर्विद्या शुद्ध गणितप्रधान नहीं दिखाई पड़ती। ये प्रायः फलित ज्योतिष के प्रवक्ता थे। ये ग्रहदशा, ग्रहचक्र, ग्रहों की स्थिति, अयनांश, गति आदि से ग्रहों के चलन-कलन का लेखा-जोखा प्रस्तुत नहीं करते थे, अपितु, समय-समय शुभाशुभ निमित्त की सूचनाएँ विभिन्न प्राकृतिक लक्षणों के आधार पर देते थे। इसीलिए, इन्हें प्रायः सर्वत्र 'नैमित्तिक' कहा गया है। ये अवधिज्ञानी भी हुआ करते थे। ये प्रायः राजाश्रित होते थे, फिर भी, अपने भविष्य-भाषण या आदेश-कथन में निर्भीक रहते थे। ज्योतिषी होकर भी ये अपने आश्रयदाता राजा के साथ युद्ध में भाग लेते थे। राजा और रानी अपने ज्योतिषियों को अतिशय आदर प्रदान करते थे, इसीलिए समाज में उनका विशिष्ट स्थान था। सामान्य जनता का जीवन चूँकि राजा के भाग्य से जुड़ा हुआ था, इसीलिए राजा के इष्टानिष्ट को वह अपना भी इष्टानिष्ट समझती थी। फलतः, ज्योतिषी से जनजीवन का प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं रहता था।

ज्ञातव्य है कि भारत के प्रसिद्ध छह वेदांगों (शिक्षा, कल्प निरुक्त, छन्द, व्याकरण और ज्योतिष) में ज्योतिष की गणना होती है और उसका महत्त्व अपरम्पार है। इसके अतिरिक्त भारतीय ज्योतिस्तत्त्वों की परिधि इतनी विशाल, बारीक, गहन और गम्भीर है कि उसकी सीमा में सम्पूर्ण पौरस्त्य और पाश्चात्य जगत् के ज्योतिष-विषयक सामान्य अभिप्राय और सिद्धान्त समाहित हैं। साथ ही, भारतीय कलाओं में ज्योतिष का विशिष्ट स्थान निर्धारित है। यह समस्त मानव-जीवन के प्रत्यक्ष और परोक्ष रहस्यों का विवेचन करता है और प्रतीकों द्वारा उनका स्पष्टीकरण भी।

संघदासगणी के पूर्ववर्ती आचार्यकोटि के ऐतिहासिक ज्योतिषियों तथा ज्योतिष-ग्रन्थों में सूर्य (ईसवी-प्रथम शती) ऋषि-प्रणीत, 'सूर्यसिद्धान्त' तथा तत्समकालीन आचार्य गर्ग के पुत्र ऋषिपुत्र-कृत 'ज्योतिष-संहिता' एवं विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में अन्यतम आचार्य वराहमिहिर (ई. पू. प्रथम शती) का 'बृहज्जातक' आदि उल्लेख्य हैं। भारत के स्वर्णकाल (ई. प्रथम शती से षष्ठ शती) के प्रसिद्ध ज्योतिषी आर्यभट्ट प्रथम, निमित्त और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् कालकाचार्य आदि के समय से भी ज्योतिष का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त नारदसंहिता, गर्गसंहिता, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि से भी संघदासगणी का ज्योतिष-सिद्धान्त प्रभावित हुआ होगा। या फिर, जैनागम, जैसे प्रश्नव्याकरणसूत्र, स्थानांग आदि भी उनके लिए ऐतद्विषयक आधारभूत या उपजीव्य रहे होंगे।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से इस बात का भी पता चलता है कि आदिकाल के ज्योतिषी भी हर तरह के ज्योतिषिक और अन्य गणितों से पूर्ण परिचित थे। उस समय शरीर के फड़कने का क्या अर्थ है, स्वप्न का फल कैसा होता है, विभिन्न प्रकार के शुभ कर्मों के करने का शुभ मुहूर्त कौन-सा है, युद्ध किस दिन करना चाहिए, सेनापति कौन हो, जिससे युद्ध में सफलता मिले, आदि बातों पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया जाता था। इस युग के ज्योतिषी केवल शुभाशुभ समय से ही परिचित नहीं थे, अपितु वे प्राकृतिक ज्योतिष के आधार पर हाथी, घोड़ा, खड्ग आदि के इंगितों से भी भावी शुभाशुभ फल का निर्देश करते थे। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार ई. पू. १०० से ई. ३०० तक के ज्योतिषविषयक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि उस काल में ज्योतिष-शास्त्र के अध्ययन में आलोचनात्मक दृष्टि विकसित नहीं हुई थी।^१

‘वसुदेवहिण्डी’ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उस काल में पंचरूपात्मक (होरा, गणित, संहिता, प्रश्न और निमित्त) ज्योतिष में फलित ज्योतिष में सम्बद्ध संहिता, प्रश्न और निमित्त का ततोऽधिक विकास हो चुका था। संहिता में भूशोधन, दिक्शोधन, शल्योद्धार, मेलापक, गृहारम्भ, गृहप्रवेश, जलाशय-निर्माण, मांगलिक कार्यों के मुहूर्त, उल्कापात, वज्रपात, वृष्टि, ग्रहण-फल आदि बातों का विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। प्रश्नशास्त्र तत्काल फल बतानेवाला शास्त्र है और शकुनशास्त्र में, जिसका अपर पर्याय निमित्तशास्त्र भी है, अरिष्ट-विषय का प्रतिपादन मिलता है।

संघदासगणी के काल में चूँकि फलित ज्योतिष पर्याप्त विकसित हो चुका था, इसलिए उन्होंने अंगलक्षण, शकुनकौतुक, पुरुषभेद, जन्म-नक्षत्र, सामुद्रिकशास्त्र, अरिष्ट-विचार, भूकम्प, वज्र-पात, स्त्रीपुरुष-लक्षण, शुभ तिथि, करण, मुहूर्त, इष्टानिष्टसूचना, दीर्घायु-अल्पायु होने के लक्षण, स्वप्नलक्षण आदि साधारण एवं असाधारण सभी प्रकार के शुभाशुभों के विवेचन को अपनी महत्कथा ‘वसुदेवहिण्डी’ में समाविष्ट किया है।

सिद्ध-अर्हंतों, मुनियों या श्रमण-चारणों द्वारा किसी पात्र के पूर्वभव, वर्तमान भव और भावी भव के बारे में उसकी यथार्थ स्थिति के यथावत् आदेश (जैसे, पूर्वभव में कौन था, वर्तमान भव में क्या है और भविष्य में कहाँ, कब और कैसा होगा ?) का अंकन संघदासगणी पर ‘भृंगुसंहिता’ की आदेश-कथन-शैली के प्रभाव को द्योतित करता है। ज्योतिष-सम्बन्धी सामान्य लोकप्रसिद्धि है कि विवाह, जन्म और मरण कहाँ कब होगा, कोई नहीं बता सकता : ‘विवाहो जन्म मरणं कदा कुत्र भविष्यति?’ किन्तु, ‘वसुदेवहिण्डी’ के नैमित्तिक इन तीनों के विषय में निश्चित तिथि और समय तथा घटना घटने के ढंग पर सुनिश्चित अकाट्य भविष्यवाणी करते हैं। इस तरह की भविष्यवाणी का कथन वे ही मुनि करते हैं, जो ‘अवधिज्ञान’ से सम्पन्न हैं। ये अवधिज्ञानी मुनि प्रायः ज्योतिषियों या नैमित्तिकों की ही प्रतिनिधि भूमिका में उपन्यस्त हुए हैं।

संघदासगणी ने ज्योतिषी के लिए अधिकांशतः ‘नैमित्तिक’ शब्द का प्रयोग किया है, कहीं-कहीं ‘सांवत्सरिक’ का भी। दोनों ही ज्योतिष-तत्त्व के विशिष्ट पक्ष (निमित्त और वर्ष) के वाचक हैं। ‘वसुदेवहिण्डी’ में लगभग दस ज्योतिषी-पात्रों के नामों की कल्पना कथाकार ने की है। जैसे: केशव (पीठिका : पृ. ८२); अश्वबिन्दु (केतुमतीलम्भ : पृ. ३११); क्रौट्टुकि (श्यामाविजयालम्भ : पृ. ११९); दीपशिख (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१७); देविल (मदनवेगालम्भ : पृ. २३१); प्रजापति शर्मा

(वेगवतीलम्भ : पृ. २४८); बृहस्पतिशर्मा (नीलयशालम्भ : पृ. १८०); भृगु (कपिलालम्भ : पृ. १९९); सम्भिन्नश्रोत्र (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७६-२७७); केतुमतीलम्भ : पृ. ३११-३१७); ज्योतिर्विद्या का पारगामी ब्राह्मण शाण्डिल्यायन (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१७) और शशबिन्दु (तत्रैव : पृ. ३१७) । कथाकार ने इन नामों को भी ज्योतिस्तत्त्व के संकेतक अर्थगर्भ शब्दों को समासित कर निर्मित किया है । इनके अतिरिक्त भी अनेक अज्ञातनामा नैमित्तिकों के भविष्य-भाषण का उल्लेख है । यहाँ मूलकथा में वर्णित ज्योतिस्तत्त्व के संकेतक कतिपय प्रसंग उद्धरणीय हैं ।

स्वप्नफल :

‘वसुदेवहिण्डी’ के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों, विशेषकर तीर्थकरों के साथ जन्म-विषयक भविष्य-फल (स्वप्नफल) जुड़ा हुआ है । प्रारम्भ के ‘कथोत्पत्ति’ अधिकार में ही उल्लेख है कि राजगृह के निवासी जम्बूस्वामी की माता धारिणी ने सुप्तावस्था में पाँच स्वप्न देखे थे : निर्धूम अग्नि, विकसित कमलों से भरा पद्मसरोवर, फल के भार से झुका शालिवन, निर्जल मेघ के रंग का चार दाँतोंवाला हाथी और रूप, रस तथा मनोरम गन्ध से युक्त जामुन के फल । अर्हंतों के कथनानुसार, जम्बूस्वामी के पिता ऋषभदत्त ने स्वप्नफल बताते हुए अपनी पत्नी धारिणी को आश्चस्त किया कि “तुम्हें उत्तमपुत्र प्राप्त होगा । बह्यलोक से च्युत होकर देवता तुम्हारे गर्भ में आये हैं ।” इसके बाद धारिणी को जिनसाधु की पूजा का दोहद उत्पन्न हुआ । नौ महीने बीतने पर धारिणी को सुलक्षण और वर्चस्वी पुत्र प्राप्त हुआ । स्वप्न में धारिणी ने जामुन के फल देखे थे, इसलिए पुत्र का नाम ‘जम्बू’ रखा गया (पृ. २-३) ।

रुक्मिणी के गर्भ में प्रद्युम्न के आने के प्रसंग में कहा गया है कि रुक्मिणी ने एक स्वप्न में, अपने मुँह में सिंह को प्रवेश करते हुए देखा । स्वप्नफल बताते हुए केशव ने ‘उत्तम पुत्र प्राप्त होगा’, ऐसा कहकर रुक्मिणी को आश्चस्त किया (पृ. ८२ : पीठिका) ।

ऋषभस्वामी के जन्म के समय भी उनकी माता मरुदेवी ने चौदह शुभ स्वप्न देखे थे, जिनमें पहला स्वप्न था, सुप्तावस्था में मरुदेवी के मुँह में वृषभ का प्रवेश होना । उक्त चौदहों स्वप्नों का फल बताते हुए ऋषभस्वामी के पिता नाभिकुमार ने भविष्यवाणी की : “आर्ये ! तुमने उत्तम स्वप्न देखा है, तुम धन्य हो । नौ महीने बीतने पर तुम हमारे कुलकर पुरुषों में प्रधान, त्रैलोक्यप्रकाशक, भारतवर्ष के तिलक-स्वरूप पुत्र को जन्म दोगी (नीलयशालम्भ : पृ. १५८-१५९) ।”

दक्षप्रजापति ने अपनी पत्नी (पहले पुत्री, बाद में पत्नी) मृगावती के सात महास्वप्न देखने पर उनका फल बताते हुए कहा था कि तुमने जिस प्रकार के स्वप्न देखे हैं, तदनुसार तुम्हारा पुत्र भारत के आधे भाग का स्वामी होगा (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७६) ।

स्वामी शान्तिनाथ की माता अचिरा ने भी सुप्तावस्था में चौदह स्वप्न देखे थे । उसके बाद ही अचिरा के गर्भ में शान्तिनाथ आये थे । शुभ स्वप्नों के उत्तम फल के रूप में अचिरा ने शान्तिनाथ जैसे तीर्थकर को पुत्र के रूप में प्राप्त किया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४०) ।

इसी प्रकार, कुन्धुस्वामी की माता ने कुन्धुस्वामी के गर्भ में आने के पूर्व (चौदह) महास्वप्न देखे थे : ज्ञातव्य है कि परम्परया तीर्थकर की माताएँ प्रायः चौदह महास्वप्न, गर्भधारण के पूर्व, देखती थीं । (मतान्तर है कि भगवान् महावीर की माता त्रिशला ने सोलह महास्वप्न देखे थे ।) अरजिन की माता ने भी महापुरुष की उत्पत्ति की सूचना देनेवाले स्वप्न देखे थे (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४४, ३४६) ।

गर्भ में कृष्ण के अवतीर्ण होने के पूर्व उनकी माता देवकी ने सात महास्वप्न देखे थे। वसुदेव ने अतिमुक्तक चारणश्रमण के आदेशानुसार, स्वप्नफल बताते हुए कहा था कि तुम्हारा यह सातवाँ पुत्र कंस और जरासन्ध को मारनेवाला होगा; क्योंकि चारणश्रमण का वचन विफल नहीं होता (देवकीलम्भ : पृ. ३६९)।

ज्योतिषियों, मुनियों और तीर्थंकरों की भविष्यवाणियाँ :

तपोनिरत प्रसन्नचन्द्र के बारे में राजा श्रेणिक ने जब भगवान् महावीर से उसके अगले जन्म के बारे में पूछा, तब पहले उन्होंने बताया कि वह सातवाँ पृथ्वी (नरक) में जायगा। पुनः थोड़ी देर बाद उक्त प्रश्न के दुहराने पर भगवान् महावीर ने कहा कि इस समय मृत्यु को प्राप्त होने पर वह सर्वार्थसिद्ध लोक (अनुत्तर देवलोक का पाँचवाँ निवास-भवन) में जायगा। इस द्विविध कथन का रहस्य तपोध्यानी प्रसन्नचन्द्र के मन की क्षण-क्षण परिवर्तित स्थिति में निहित है। प्रथम प्रश्न के समय प्रसन्नचन्द्र रौद्रध्यान में था और द्वितीय प्रश्न के समय वह पुनः प्रशस्त ध्यान की स्थिति में लौट आया था (कथोत्पत्ति : पृ. १७)।

दाक्षिणात्य विद्याधर-श्रेणी के शंखपुर नगर के राजा पुरुषानन्द और उसकी पत्नी श्यामलता ने जब धर्मघोष नामक चारणश्रमण से अपनी पुत्रियों—विद्युद्वती और विद्युल्लता के भावी पति के बारे में पूछा, तब उन्होंने भविष्यवाणी करते हुए बताया कि “कामोन्मत्त नामक विद्याधर का जो वध करेगा, वही (अर्थात् धम्मिल्ल) तुम्हारी पुत्रियों का पति होगा।” साधु की बात सुनकर राजदम्पति हर्ष और विस्मय से भर उठे (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ६८)। इसी प्रकार, गगननन्दन नगर के निवासी विद्याधरनरेश जाम्बवान् की पुत्री जाम्बवती के बारे में आकाशचारी जैनमुनि ने भविष्यवाणी की थी कि वह अर्द्धभरताधिपति (अर्थात् कृष्ण) की पत्नी होगी (पीठिका : पृ. ७९)। सत्यभामा जब आसन्नप्रसवा थी, तब नारद ने चारणश्रमण के आदेशानुसार, उनके भविष्य-कथन का समर्थन किया था कि उसे (सत्यभामा को) निश्चय ही पुत्र होगा (पीठिका, पृ. ८४)। सत्यभामा के लिए, उसके आग्रह पर, प्रद्युम्न के समान ही पुत्र की प्राप्ति की इच्छा से कृष्ण जब हरिनैगमेषी देव की आराधना कर रहे थे, तब उस देव ने कृष्ण के लिए भविष्यवाणी की थी कि जिस देवी के साथ आपका पहले समागम होगा, उसे ही प्रद्युम्न के समान पुत्र होगा (पीठिका, पृ. ९७)।

अदृष्ट देवता ने अदृष्टवाणी द्वारा राजा अर्चिमाली को सचेत किया था कि तुमने लतागृह में प्रशस्त ध्यान में लीन नन्द और सुनन्द चारणश्रमणों के निकट रहकर मृगपर बाण फेंका है, इसलिए जीवरक्षक साधु तुमपर कुपित हो जायेंगे, तो देवता भी नहीं बचा सकेगा, तुम्हारा विनाश हो जायगा (श्यामलीलम्भ : पृ. १२४)। अदृष्ट देवी ने ही वसुदेव को बताया था कि रोहिणी उनकी पत्नी होनेवाली है और ढोलकिये के रूप में उनका वह वरण करेगी (रोहिणीलम्भ : पृ. ३६४)। गन्धर्वदत्ता के पालक पिता चारुदत्त की माता, चम्पापुरी की सेठानी भद्रा को पुत्र नहीं होता था। चारु नाम के गगनचारी मुनि से सेठानी ने अपनी विपुल सम्पत्ति को भोगनेवाले पुत्र की प्राप्ति के विषय में जिज्ञासा की, तो अमोघदर्शी मुनि ने बताया कि ‘तुम्हें थोड़े ही दिनों में पुत्र प्राप्त होगा।’ यह कहकर मुनि अदृश्य हो गये। चारु मुनि ने पुत्र होने की भविष्यवाणी की थी, इसीलिए

सेठानी ने अपने पुत्र का नाम 'चारुदत्त' रखा (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३३)। अमितगति विद्याधर ने एक बार विजयसेना देवी से उत्पन्न अपनी लड़की गन्धर्वदत्ता के सम्बन्ध में नैमित्तिक से पूछा था, तो उसने भविष्यवाणी की थी : "लड़की श्रेष्ठ पुरुष की पत्नी होगी। वह श्रेष्ठ पुरुष विद्याधर-सहित दक्षिण भरत का राज्य करेगा और वही पुरुष चम्पापुरी में चारुदत्त के घर में स्थित लड़की को संगीत के द्वारा पराजित करेगा (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५३)।"

एक बार राम (परशुराम) ने ज्योतिषियों से पूछा : "मेरी वंश-परम्परा चालू रहेगी?" ज्योतिषी ने कहा : "जिसके सामने तुम्हारा फरसा शिथिल पड़ जायगा और जो दाँतों का भोजन करेगा, उसी से तुम्हारा विनाश होगा (मदनवेगालम्भ : पृ. २३८-२३९)।"

एक बार नागराज धरण ने शान्त और प्रशान्त नामक साधुओं से प्रश्न किया कि "मैं वर्तमान भव से उद्धर्तित होकर कहाँ जन्म लूँगा?" साधुओं ने भविष्य-भाषण किया : "आप यहाँ के इन्द्रत्व से उद्धर्तित होकर ऐरवतवर्ष में, अवसर्पिणी काल में चौबीसवें तीर्थकर होंगे। आपकी छह (अल्ला, अक्का, शतेरा, सौत्रामणि, इन्द्रा और घनविद्युता) पटरानियों में अल्ला को छोड़कर शेष पाँचों आपके गणधर होगी और अल्ला देवी आज से सातवें दिन उद्धर्तित होकर इसी भारतवर्ष में राजा एणिक-पुत्र की पुत्री (प्रियंगुसुन्दरी) होकर जन्म लेगी, जो अर्द्धभरत के स्वामी (कृष्ण) के पिता (वसुदेव) के साथ (पत्नी के रूप में) विभिन्न भोगों का उपभोग करके, संयम का पालन करते हुए सिद्धि की अधिकारिणी होगी (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३०५)।"

ऐन्द्रजालिक भी ज्योतिषी के निर्देश का पालन करते थे। 'वसुदेवहिण्डी' में इन्द्रशर्मा नाम के ऐन्द्रजालिक का साग्रह उल्लेख है। एक बार भृगु ज्योतिषी ने राजा कपिल से कहा कि आपकी कन्या कपिला शास्त्रकारों द्वारा अनुमत लक्षणों से युक्त है, इसलिए यह अर्द्धभरत के अधिपति के पिता की पत्नी होगी। राजा ने ज्योतिषी से पूछा : वह कहाँ होंगे? कैसे उन्हें जानेंगे? ज्योतिषी ने कहा : "मैं ज्योतिष के बल से कहता हूँ, जो स्फुलिंगमुख घोड़े का दमन करेगा, उसे ही अर्द्धभरताधिप का पिता समझना। वह सम्प्रति, गिरितट (गिरकूट) ग्राम में देवदेव (सुरदेव) के घर में रहता है।" "ज्योतिषी की बात पर राजा कपिल ने जिज्ञासा की दृष्टि अपने सभासदों पर डाली : "कौन व्यक्ति अनजान गिरितट में जाकर उस पुरुष को ला सकता है?" वहाँ उपस्थित ऐन्द्रजालिक इन्द्रशर्मा ने राजा की बात स्वीकार कर ली : "ज्योतिषी द्वारा निर्दिष्ट आपके जामाता (वसुदेव) को मैं ले आऊँगा।" यह कहकर ऐन्द्रजालिक इन्द्रशर्मा परिवार-सहित अपने स्वीकृत के परिपालन के निमित्त चला गया (कपिलालम्भ : पृ. १९९)।

एक बार, वसुदेव का साला (वसुदेव की पत्नी कपिला का भाई) अंशुमान् वसुदेव के लिए दोरसोइया (नन्द और सुनन्द) खोज लाया। उनके द्वारा बनाये गये भोजन से सन्तुष्ट होकर वसुदेव ने अंशुमान् से उन्हें एक लाख स्वर्णमुद्राएँ प्रीतिदान के रूप में देने का निर्देश किया। किन्तु, उन दोनों ने रुपये लेने की अपेक्षा बराबर वसुदेव की सेवा में रहने की इच्छा व्यक्त की। कारण पूछने पर उन्होंने ज्योतिषी की भविष्यवाणी की ओर संकेत किया : राजा सुषेण के यहाँ पितृपरम्परागत रूप से सेवा करते हुए उन्होंने एक मित्र से ज्योतिषी का पता लगाया और उसके पास जाकर अपने भविष्य के बारे में पूछा। ज्योतिषी ने सोचकर बताया कि 'तुम्हारी सेवा अर्द्धभरत के स्वामी

के पिता के निकट सफल होगी।' उन्होंने ज्योतिषी से पूछा : 'वे कैसे हैं और हम उन्हें कैसे जानेंगे?' तब, उत्तर मिला : 'तुम उन्हें यहीं देखोगे। तुम्हें जो एक लाख मुद्राएँ तुष्टिदान के रूप में देंगे, उन्हें ही अपना अभीष्ट पुरुष समझोगे।' यह कहकर उन दोनों ने वसुदेव के पैरों पर सिर रखकर प्रणाम किया। (पुण्ड्रालम्भ : पृ. २११)

वैताह्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित अरिजयपुर नगर के राजा मेघनाद की पुत्री पद्मश्री के बारे में देविल नामक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की थी कि "यह राजकुमारी किसी चक्रवर्ती राजा की प्रधान महिषी होगी (मदनवेगालम्भ : पृ. २३१)।"

लक्षणवेत्ताओं ने मय विद्याधर की पुत्री मन्दोदरी के विषय में भविष्य-भाषण किया था कि इसकी पहली सन्तान कुलक्षय का कारण बनेगी (तत्रैव : पृ. २४०)। राजा पद्मरथ ने अपनी पुत्री पद्मावती के पति के विषय में विश्वसनीय शास्त्रज्ञान से सम्पन्न सिद्धवचन ज्योतिषी से पूछा, तो ज्योतिषी ने ज्योतिष की गणना करके बताया कि आपकी पुत्री पद्मावती तो ऐसा राजा दूल्हा प्राप्त करेगी, जिसके कमल जैसे पैरों को हजारों राजा विनय के साथ पूजते हैं। राजा ने जब प्रश्न किया कि 'वह वर कहाँ मिलेगा, और हम उसे कैसे जानेंगे', तब ज्योतिषी बोला : "शीघ्र ही वह यहाँ आयागा और (पद्मावती के पास) श्रीमाला बनाकर भेजेगा और फिर वह हरिवंश की यथार्थ उत्पत्ति की कथा कहेगा।" यह कहकर ज्योतिषी चला गया।

कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' में इस प्रकार की रोचक और रोमांचक, मनोरंजक और विस्मयकारक भविष्यवाणियों की भरमार है।

बृहस्पतिशर्मा नाम के ज्योतिषी ने सिंहदंष्ट्र की पुत्री नीलयशा का विवाह अर्द्धभरत के स्वामी के पिता वसुदेव के साथ होने की भविष्यवाणी की थी (नीलयशालम्भ : पृ. १८०)। एक बार वसुदेव को राजगृह में जरासन्ध के सिपाहियों ने द्यूतशाला में पकड़ लिया। जूए में वसुदेव ने एक करोड़ जीतकर दीनों-दरिद्रों में बाँट दिया था। उन्होंने सिपाहियों से जब अपने अपराध का कारण पूछा, तब उन्होंने बताया कि प्रजापति शर्मा नाम के ज्योतिषी ने राजा जरासन्ध से कहा है: "राजन्! कल आपके शत्रु का पिता यहाँ आयागा।" राजा ने जब ज्योतिषी से पूछा कि उसे कैसे जानेंगे, तब उसने कहा : "जूए में जो एक करोड़ जीतकर दीनों में उसे बाँट देगा, वही आपके शत्रु का पिता होगा।" इस प्रकार, वसुदेव के बन्दी बनाये जाने का कारण ज्योतिषी की भविष्यवाणी ही थी।

रथनूपुरचक्रवालपुर के विद्याधर-राजा ज्वलनजटी के दरबार में रहने-वाला सम्भिन्नश्रोत्र ज्योतिषी साक्षात् ज्योतिषपुरुष था। उसे विशेष लब्धियाँ—ऋद्धियाँ उपलब्ध थीं; वह शरीर के किसी भी अंग से शब्द को सुन लेने की शक्ति से सम्पन्न था। एक दिन ज्वलनजटी ने सम्भिन्नश्रोत्र से पूछा : "मैं अपनी पुत्री स्वयम्भवा को किसके हाथ सौंपूँ, राजा अश्वग्रीव को या किसी अन्य विद्याधरनरेश को?" सम्भिन्नश्रोत्र ने ज्योतिर्बल से विचार कर कहा : "राजा अश्वग्रीव अल्पायु है। यह कन्या तो वसुदेव (कृष्ण) की अग्रमहिषी होगी। वह (वासुदेव) राजा दक्षप्रजापति के पुत्र त्रिपुष्ट के रूप में उत्पन्न हुए हैं। उन्हें ही इसे दे दीजिए। मैंने ज्ञानदृष्टि से देख-सुनकर कहा है।" ज्वलनजटी ने स्वीकृतिपूर्वक ज्योतिषी से कहा "वैसा ही होगा, जैसा आपने कहा है (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७६)।"

स्वयम्भभा जब युवती हो गई, तब राजा ज्वलनजटी ने पुनः अपना प्रश्न दुहराया कि इसे किसके हाथ सौंपा जाय। तब, सम्भिन्नश्रोत्र ने विचार कर विस्तारपूर्वक कहा : “महाराज ! सुनें। जैसा कि साधु कहते हैं, एक बार जब प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभस्वामी अष्टापद पर्वत पर पधारे, तब उनसे उनके पुत्र राजा भरत ने भावी तीर्थकर चक्रवर्ती बलदेव और वासुदेव के सम्बन्ध में प्रश्न किया। ऋषभस्वामी ने उत्तर में बताया कि जो तीर्थकर जिस काल में होंगे, उनका उस काल में प्रभाव अवश्य पड़ेगा। अतीत में, जैसा जैन साधु ने कहा है, इस प्रकार के दस तीर्थकर हुए हैं और चार चक्रवर्ती भी हो चुके हैं, जिनमें बलदेव और वासुदेव, सम्प्रति, राजा प्रजापति के पुत्र अचल और त्रिपृष्ठ हैं, ऐसी पौराणिक श्रुति है। मैं पुनः भविष्य की गति के आधार पर कहता हूँ कि त्रिपृष्ठ अश्वघ्रीव को युद्ध में पराजित करके विद्याधर-सहित अर्द्धभरत का भोग करेगा और आपको विद्याधरों का स्वामित्व सौंपेगा। आपकी यह पुत्री (स्वयम्भभा) उस त्रिपृष्ठ की पुत्रवती प्रधानमहिषी होगी, इसमें सन्देह नहीं है। ज्योतिषी के ऐसा कहने पर राजा सन्तुष्ट हुआ और उसने उसे विपुल वस्तु, गन्ध और माल्य से सम्मानित कर विदा किया और कहा : “आपने जो कहा है, वह सत्य हो (केतुमतीलम्भ : पृ. ३११)।”

राजा अश्वघ्रीव ने जब अपने ज्योतिषी अश्वबिन्दु से अपने प्रतिशत्रु के बारे में पूछा, तब उसने कहा : “जो आपके दूत चण्डसिंह का अपमान करेगा और पश्चिम में दुर्द्धर्ष सिंह का विनाश करेगा, वही आपका प्रतिशत्रु होगा।” ज्योतिषी के आदेशानुसार, अचल और त्रिपृष्ठ ने दूत को पोतनपुर में बहुत अपमानित किया और त्रिपृष्ठ ने, निरायुध रहकर, केवल भुजाओं के प्रहार से ही, पश्चिम प्रदेश में, सिंह को मार डाला। प्रतिशत्रु की इस अपूर्व वीरता पर अश्वघ्रीव भी भौचक रह गया और बोला : “ओह ! मनुष्य का यह काम अद्भुत है (तत्रैव : पृ. ३११) !”

सम्भिन्नश्रोत्र का पुत्र दीपशिख भी बहुत बड़ा नैमित्तिक था। उसने अपहृता रानी सुतारा के विषय में वस्तुस्थिति की सूचना दी थी। और, शाण्डिल्यायन ने राजा श्रीविजय के आरोग्य तथा कुशलता का समाचार कहा था। इसके लिए स्वयं राजमाता स्वयम्भभा ने दोनों ज्योतिषियों (शाण्डिल्यायन और दीपशिख) को सम्मानित किया था (तत्रैव : पृ. ३१७)।

अष्टांगमहानिमित्त का अभ्यासी शाण्डिल्यायन ज्योतिषी ने तो बड़ी रोमांचकारी भविष्यवाणी की थी। कथा है : एक दिन देवों के बीच इन्द्र की तरह, हजारों राजाओं से घिरा पोतनपुर का राजा श्रीविजय अपनी सभा में बैठा था। तभी, सौम्यरूप एक ब्राह्मण आया और राजा को जयाशीर्वाद देकर बोला : “मैं ज्योतिष-विद्या में पारंगत हूँ। मैंने ज्ञानचक्षु से जो देखा है, उसे आपको अवश्य ही सुनना चाहिए। आज से सातवें दिन पोतनपुर के राजा के माथे पर वज्र गिरेगा, इसमें सन्देह नहीं है।” यह कहकर ब्राह्मण खड़ा रहा। महादोषयुक्त ब्राह्मण-वचन को सुनकर सारी सभा और सभी राजे क्रुद्ध हो उठे। रोषपूर्ण नेत्रों से ब्राह्मण को लक्ष्य कर युवराज बलभद्र ने कहा : “जब पोतनपुर के अधिपति के माथे पर वज्र गिरेगा, तब तुम्हारे माथे पर क्या गिरेगा ?” ब्राह्मण ज्योतिषी ने निर्भीकता से उत्तर दिया : “महाराज ! क्रुद्ध न हों, तब मुझपर आभरणों की वर्षा होगी।”

सभी मन्त्री मिलकर राजा श्रीविजय के भय-निवारण का उपाय सोचने-विचारने लगे। एक मन्त्री बोला : “कहा जाता है, समुद्र में वज्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिए स्वामी को शीघ्र

ही वहाँ ले जाओ।" दूसरा मन्त्री बोला : "कहते हैं कि दुष्माकाल में वैताढ्य पर्वत पर विद्या या वज्र का प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए, वैताढ्य पर्वत पर किसी गुप्त प्रदेश में राजा अपना दिन बितायें।" तीसरा मन्त्री बोला : "भावी (होनी) का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। सुनें, एक ब्राह्मण था। बहुत उपाय करने पर उसके एक पुत्र हुआ। उस गाँव में एक राक्षस रहता था, जिसके भोजन के निमित्त कुलक्रमागत रूप से प्रत्येक घर से एक पुरुष अपने को निवेदित करता था। जब उस ब्राह्मणपुत्र की बारी आई, तब ब्राह्मणी भूतघर के पास जाकर रोने लगी। भूत को उसपर दया हो आई। उसने ब्राह्मणी से कहा : "मत रोओ, मैं तुम्हारे पुत्र की रक्षा करूँगा।" जब ब्राह्मणपुत्र ने राक्षस के लिए अपने को निवेदित किया, तब भूतों ने उसे वहाँ से अपहृत कर पहाड़ की गुफा में रख दिया और 'अमुक स्थान में तुम्हारे पुत्र को रख दिया है', ऐसा ब्राह्मणी से कहकर भूत चले गये। किन्तु, गुफा में स्थित अजगर ब्राह्मणपुत्र को निगल गया। इस प्रकार, भवितव्यता की अनुल्लंघनीयता की कथा सुनकर मन्त्री ने कहा : "घोर उत्पातों का प्रतिकार तप के द्वारा ही सम्भव है। अतएव, स्वामी की शान्ति के निमित्त हम सभी तप शुरू करें।"

चौथा मन्त्री बोला : "ज्योतिषी ने तो पोतनपुर के राजा के लिए भविष्यवाणी की है, राजा श्रीविजय के लिए नहीं। इसलिए श्रेयस्कर तो यह होगा कि राजा श्रीविजय को सात रात के लिए किसी दूसरे राज्य में रखा जाय।" तब ब्राह्मण ज्योतिषी ने कहा : "हे महामन्त्री ! आप साधुवाद के पात्र हैं। मैं भी राजा की जीवन-रक्षा के निमित्त ही आया हूँ। नियम में रहकर ही राजा विघ्न से निस्तार पायेंगे।"

ज्योतिषी की बात को स्वीकार कर राजा श्रीविजय अन्तःपुर-सहित जिनायतन में चले आये। प्रजासहित मन्त्रियों ने उस जगह वैश्रमण की प्रतिमा का अभिषेक किया और वे राज्योपचार से उसकी सेवा-पूजा करने लगे। कुशासन पर बैठे श्रीविजय ने भी सात रात तक आरम्भ और परिग्रह का त्याग कर ब्रह्मचर्यपूर्वक वैराग्य भाव से पोषध (निराहार व्रत) का पालन किया। सातवें दिन चारों ओर से विपुल सजल मेघ घिर आये। पवनवेग से मेघों का विस्तार होने लगा। बिजली चमकने लगी। भयजनक निष्ठुर गर्जनस्वर गूँजने लगा। तभी, दोपहर के समय भयंकर आवाज के साथ प्रासाद और वैश्रमण की प्रतिमा को चूर-चूर करता हुआ वज्र आ गिरा। राजा के प्राण बच जाने से सबने उसका अभिनन्दन किया और पोषधशाला में 'नमो अरिहंताणं' की ध्वनि गूँज उठी (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१५-३१६)।

इस कथा से स्पष्ट है कि ज्योतिषी द्वारा संकेतित दुर्निर्मित से तप और नियम के आचरण द्वारा ही बचा जा सकता है, किन्तु भवितव्यता को कोई टाल नहीं सकता है। होनी होकर रहती है। साथ ही, ज्योतिषी अपनी भविष्यवाणी व्यक्त करने में या भावी अनिष्ट के बारे में चेतावनी देने में पर्याप्त निर्भीकता से काम लेता है। इससे ज्योतिष-विद्या की गरिमापूर्ण निजता भी सूचित होती है।

एक बार पोतनपुर के राजा श्रीविजय और रानी सुतारा दोनों ज्योतिर्वन (ज्योतिर्वण) में घोर संकट में पड़ गये। फलतः, पोतनपुर में घोर उत्पात शुरू हुआ। हठात् धरती डोलने लगी। उल्काएँ गिरने लगीं। मध्याह्नकाल में ही सूर्य मन्द पड़ गया। विना किसी पर्व-दिवस (ग्रहण-दिवस) के राहु सूर्य को निगल गया। दिशाएँ धूल से ढक गईं। प्रखर हवा बहने लगी। प्रजाएँ उद्दिग्ग्न हो

उठीं। राजा और युवराज-सहित अन्तःपुर के लोग क्षुब्ध हो उठे। राजमाता स्वयम्भवा भी घबरा उठीं।

उसी समय, उत्पात को देखकर शशबिन्दु नामक ज्योतिषी ने कहा : “ये जो उत्पात हो रहे हैं, वे राजा के भावी तीव्र भय की सूचना दे रहे हैं। सम्प्रति, श्रीविजय का जीवन संकट में पड़ गया है। शीघ्र ही उनकी खोज की जाय।”

ज्योतिषी की चेतावनी सुनकर राजाओं का हृदय भयकम्पित हो उठा। वे किर्कटव्यविमूढ-से रह गये। तभी ज्योतिस्तत्त्व का पारंगत शाण्डिल्यायन रथ पर चढ़कर आया और उसने सबको निर्भय होने का आश्वासन देते हुए श्रीविजय के संकटमुक्त रहने का समाचार दिया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१६-३१७)।

वसुदेव द्वारा कथित हरिवंश-कुल की उत्पत्ति की कथा के प्रसंग में भी बिजली गिरने के दुर्निमित्त की चर्चा आई है। कौशाम्बी के राजा सम्मुख ने एक बार अपने आश्रित वीरक नामक बुनकर (जुलाहा) की पत्नी वनमाला का अपहरण कर लिया। वीरक अपनी पत्नी वनमाला के वियोग में विलाप करने लगा। एक दिन राजा, वीरक की रूपवती पत्नी वनमाला के साथ झरोखे में बैठा वीरक को दयनीय अवस्था में देखकर सोचने लगा : ओह ! मैंने बड़ा अनर्थ किया ! तभी, उन दोनों पर बिजली आ गिरी, जिससे दोनों ही मर गये (पद्मावतीलम्भ : पृ. ३५७)।

‘वसुदेवहिण्डी’ में भविष्यवाणी करनेवाले ज्योतिषियों में क्रौष्टिक नैमित्तिक का भी नाम आया है। ऐसा प्रतीत होता है, यह सियार की आवाज सुनकर शकुन विचारनेवाला ज्योतिषी था। उसने जरासन्ध की पुत्री जीवयशा (जीवद्यशा) के विषय में बताया था कि यह बालिका दोनों कुलों का नाश करनेवाली है। इसीलिए, वसुदेव के बड़े भाई ने वह लड़की वसुदेव को न देकर कंस को दे दी। यद्यपि, जरासन्ध की सूचना के अनुसार, सिंहपुर के राजा सिंहरथ को बन्दी बनानेवाले वसुदेव को ही वह कन्या मिलनी चाहिए थी। किन्तु, ज्योतिषी की चेतावनी के कारण, वह कन्या वसुदेव के सहयोद्धा कंस की परिणीता बना दी गई।

उपरिविवृत भविष्यवाणियों से सम्बद्ध समस्त ज्योतिस्तत्त्व ज्योतिषशास्त्र के ‘प्रश्नविचार’ प्रकरण के अन्तर्भूत हैं। प्रश्नविचार के विषयों में आयुर्ज्ञान, मृत्यु-प्रश्न, जय-पराजय का प्रश्न, विवाह से सम्बद्ध प्रश्न, कार्यसिद्धि का प्रश्न, इष्टानिष्ट का प्रश्न आदि परिगणित हैं। इस प्रकार, संध्यासगणी ने भारतीय ज्योतिष के व्यावहारिक सिद्धान्तों का, जो वैदिक परम्परा के संहिता-ग्रन्थों से श्रमण-परम्परा के आगम-ग्रन्थों तक में बहुशः चर्चित हैं, अतिशय रुचिरता के साथ नियोजन किया है।

शुभ तिथि, नक्षत्र, वार, योग, करण और मुहूर्त :

‘वसुदेवहिण्डी’ में संध्यासगणी ने ज्योतिस्तत्त्व के शुभ तिथि, करण और मुहूर्त की चर्चा बार-बार की है, यद्यपि उन्होंने उनका कोई सैद्धान्तिक गणित नहीं प्रस्तुत किया है। ज्ञातव्य है कि आत्मकल्याण के साथ ही लोक-व्यवहार के निर्वाह के लिए ज्योतिष के दो क्रियात्मक सिद्धान्त हैं : गणित और फलित। गणित ज्योतिष के, शुद्ध गणित के अतिरिक्त करण, तन्त्र और सिद्धान्त ये तीन उपभेद हैं और फलित ज्योतिष के जातक, ताजिक, मुहूर्त, प्रश्न एवं शकुन ये पाँच उपभेद

मिलते हैं। 'करण' की चर्चा करके संघदासगणी ने, गणित ज्योतिष के प्रति आग्रही न होते हुए भी, महत्त्वपूर्ण भारतीय गणित ज्योतिष की ओर संकेत तो अवश्य ही कर दिया है। किन्तु, फलित ज्योतिष के ज्ञान के लिए तिथि, नक्षत्र, वार योग और मुहूर्त के अतिरिक्त करण की जानकारी आवश्यक है, इसलिए फलित ज्योतिष के सिद्धान्तों के विवरण के क्रम में संघदासगणी ने करण की चर्चा करके फलित ज्योतिष के सैद्धान्तिक सन्दर्भों को ही प्रासंगिकता प्रदान की है।

तिथि: 'बह्वचब्राह्मण' में तिथि का लक्षण इस प्रकार है : 'यां पर्यस्तमियादभ्युदयादिति सा तिथिः।' अर्थात्, जिसमें चन्द्रमा उगता है और अस्त होता है, उसे तिथि कहते हैं। इस लक्षण के अनुसार, चान्द्र मास में तीस तिथियाँ न होकर कमी-बेशी होती रहती है। मतान्तर में, सूर्य के उदयास्त के आधार पर भी तिथियों का निर्धारण होता है, जिससे सौर मास में सूर्योदयव्यापिनी तिथियों की गणना होती है। इसमें प्रायः तीस तिथियाँ होती हैं। सौर मास में क्रमशः बारह महीनों में मेष, वृष आदि बारह राशियों में सूर्य संक्रान्त होते हैं। विवाह आदि में सौर मास और यज्ञ आदि में सावन या चान्द्रमास की गणना होती है। 'मुहूर्तचिन्तामणि' के रचयिता राम दैवज्ञ ने लिखा भी है : "विवाहादौ स्मृतः सौरो यज्ञादौ सावनः स्मृतः।" ज्योतिषशास्त्र के अनुसार, चन्द्र और सूर्य के अन्तरांशों पर से तिथि का मान निकाला जाता है। प्रतिदिन बारह अंशों का अन्तर सूर्य और चन्द्रमा के भ्रमण में होता है, यही अन्तरांश का मध्यम मान है। अमावस्या के बाद प्रतिपदा से पूर्णिमा तक की तिथियाँ शुक्लपक्ष की और पूर्णिमा के बाद प्रतिपदा से अमावस्या तक की तिथियाँ कृष्णपक्ष की होती हैं। ज्योतिषशास्त्र में तिथियों की गणना शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होती है। वर्षारम्भ भी चैत्र शुक्ल की प्रतिपदा से ही होता है। ये तिथियाँ नन्दा (प्रतिपदा, षष्ठी, एकादशी), भद्रा (द्वितीया, सप्तमी, द्वादशी), जया (तृतीया, अष्टमी, त्रयोदशी), रिक्ता (चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी) और पूर्णा (पंचमी, दशमी और पूर्णिमा) इन पाँच नामों से संज्ञित और वर्गीकृत हैं।

नक्षत्र : कई ताराओं के समुदाय को नक्षत्र कहते हैं। 'अथर्वसंहिता'^१ में कहा गया है कि "विश्वदशीं सूर्य के आते ही नक्षत्र और रात्रि चोर की तरह भाग जाते हैं।" इस वाक्य में तारों को नक्षत्र कहा गया है। आकाशमण्डल की दूरी नक्षत्रों से ज्ञात होती है। समस्त आकाशमण्डल को ज्योतिर्विज्ञान ने सत्ताईस विभागों में व्यवस्थित करके प्रत्येक भाग का नाम नक्षत्र रखा है। अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद और रेवती ये सत्ताईस नक्षत्र हैं। अभिजित् को अट्ठाईसवाँ नक्षत्र माना गया है। ज्योतिर्विदों की गणना के अनुसार, उत्तराषाढा की अन्तिम पन्द्रह घटियाँ और श्रवणा की प्रारम्भिक चार घटियाँ, इस प्रकार उन्नीस घटियों का मानवाला अभिजित् नक्षत्र होता है। सूक्ष्मता से समझने के लिए ये नक्षत्र सात-सात के समूहों ($7 \times 4 = 28$) में चार चरणों में विभक्त हैं।

वार : 'ऋक्संहिता'^२ में वारों को सामान्यतः 'वासर' कहा गया है। सायणाचार्य ने 'वासर' का अर्थ 'दिवस' किया है। जिस दिन की प्रथम होरा (घण्टा) का जो ग्रहस्वामी होता है, उस दिन

१. अप त्वे तावयो यथानक्षत्रा यन्त्युक्तिभिः। सूर्यायविश्वचक्षसे। अथर्वसंहिता, १३।२।१७।

२. आदिप्रलस्य रेतसो ज्योतिषमयन्ति वासरम्। परोयदिष्यते दिवा। ऋक्संहिता : ८.६.३०

उसी ग्रह के नाम का वार होता है। सृष्टि के आरम्भ में सबसे पहले सूर्य दिखलाई पड़ता है, इसलिए वह पहली होरा का स्वामी होता है। अतएव, प्रथम वार का नाम रविवार है। इस प्रकार, इसी क्रम से सोमवार, मंगलवार, बुधवार, बृहस्पतिवार, शुक्रवार और शनिवार ये कुल सात वार होते हैं। बृहस्पति, चन्द्र, बुध, और शुक्र ये सौम्यसंज्ञक एवं मंगल, रवि और शनि ये क्रूरसंज्ञक वार माने गये हैं। रविवार स्थिर, सोमवार चर, मंगलवार उग्र, बुधवार सम, गुरुवार लघु, शुक्रवार मृदु और शनिवार तीक्ष्णसंज्ञक है।

योग : ज्योतिष की गणना के अनुसार, सूर्य और चन्द्रमा के स्पष्ट स्थानों को जोड़कर तथा कलाएँ बनाकर ८०० का भाग देने पर योगों की संख्या निकल आती है। योगों की कुल संख्या सत्ताईस है : विष्णु, प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति, शूल, गण्ड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, सिद्धि, व्यतीपात, वरीयान्, परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्म, ऐन्द्र और वैधृति। जिस प्रकार नक्षत्रों के अलग-अलग देवता या स्वामी हैं, उसी प्रकार योगों के भी अलग-अलग स्वामी होते हैं।

करण : तिथि के आधे भाग को करण कहते हैं, अर्थात् एक तिथि में दो करण होते हैं। कुल ग्यारह करण होते हैं। इनके नाम और स्वामी इस प्रकार हैं: वव (इन्द्र), बालव (ब्रह्मा), कौलव (सूर्य), तैतिल (सूर्य), गर (पृथ्वी), वणिज (लक्ष्मी), विष्टि (यम), शकुनि (कलियुग), चतुष्पाद (रुद्र), नाग (सर्प) और किस्तुघ्न (वायु)। विष्टि का ही अपर नाम भद्रा है, जो अशुभ मानी जाती है, यात्राकाल में तो यह विशेष रूप से त्याज्य है।

मुहूर्त : 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'^१ में दिन और रात्रि, दोनों के मुहूर्त-संज्ञक पन्द्रह विभाग बताये गये हैं। दोनों पक्षों (शुक्ल और कृष्ण) के पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त मिलाकर महीने में तीस दिनों की भाँति तीस मुहूर्त माने गये हैं। एक मुहूर्त में पन्द्रह सूक्ष्म मुहूर्त होते हैं।^२

संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में ज्योतिषशास्त्र के उक्त समस्त तत्त्वों का नामतः यथाप्रसंग उल्लेख किया है। कतिपय प्रसंग ध्यातव्य हैं :

भगवान् ऋषभस्वामी जिस समय अपनी माता मरुदेवी की कोख में अवतीर्ण हुए थे, उस समय चन्द्रमा उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में था। समय पूरा होने पर मरुदेवी ने चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन उत्तराषाढा नक्षत्र में ही पुरुषश्रेष्ठ पुत्र को जन्म दिया था। (नीलयशालम्भ : पृ. १५९)। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार उत्तराषाढा का नक्षत्र धनु और मकर राशि का होता है। इस राशि में चन्द्रमा के रहने पर जातक वक्ता, सुन्दर, शिल्पज्ञ, प्रसिद्ध, धार्मिक और शत्रुविनाशक होता है, इसीलिए तीर्थंकर के जन्म के निमित्त इस शुभयोग की कल्पना की गई है।

भगवान् जगद्गुरु ऋषभस्वामी ने निन्यानब्धे हजार 'पूर्व' तक केवली अवस्था में विहार करके चौदह भक्त (उपवास-विशेष)-पूर्वक माघ महीने के कृष्ण पक्ष की त्रयोदशी तिथि को अभिजित्

१. अथ यदाह। चित्रः केतुर्दाता प्रदाता सविता प्रसविताविशास्तानुमन्तेति। एष एव तत्। एषश्चैव तेऽहो मुहूर्ताः।

एष रात्रेः— तेज्जा, ३।१०।१।

२. यथोक्त समस्त ज्योतिस्तत्त्वों के विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : (क) भारतीय ज्योतिष : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; (ख) भारतीय ज्योतिष : शंकर बालकृष्णदीक्षित, अनु. : श्रीशिवनाथ झारखण्डी, प्रकाशन व्यूरो, सूचना-विभाग, लखनऊ; (हिन्दी-समिति, लखनऊ)।

नक्षत्र में अष्टादशपर्वत पर दस हजार साधुओं, नित्यानम्बे पुत्रों तथा आठ पौत्रों के साथ एक ही समय में निर्वाण प्राप्त किया था (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८५) । मृत्यु या जन्म के समय अभिजित नक्षत्र का योग किसी महापुरुष को ही प्राप्त होता है । भारतीय ज्योतिष-परम्परा जन्म के समय जिस प्रकार शुभ मुहूर्त को अनुकूल मानती है, उसी प्रकार मृत्यु के समय भी । शुभ घड़ी में मृत्यु होने से मृतक के परिवार में, भविष्य में जल्दी कोई अनिष्ट नहीं होता । अन्यथा, किसी घातक योग में मृत्यु होने से मृतक के परिवार के अन्य कई सदस्य भी लगातार मृत्युयोग में पड़ जाते हैं । अतएव, भगवान् ऋषभस्वामी की मृत्यु की घटना शुभयोग में कल्पित की गई है । इसके अतिरिक्त, शुभयोग में मृत्यु होने से स्वर्गप्राप्ति या मोक्षलाभ होता है । इसीलिए, भगवान् ऋषभस्वामी की निर्वाण-तिथि एक शुभतिथि मानी जाती है ।

वसुदेव के साथ नीलयशा का पाणिग्रहण शुभ निमित्त और सुन्दर मुहूर्त में हुआ था (नीलयशालम्भ : पृ. १८०) । ज्योतिषशास्त्र के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार, विवाह के लिए मूल, अनुराधा, मृगशिरा, रेवती, हस्त, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपद, स्वाती, मघा और रोहिणी, ये नक्षत्र तथा ज्येष्ठ, माघ, फाल्गुन, वैशाख, मार्गशीर्ष और आषाढ़, ये महीने शुभ माने गये हैं । संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त ज्योतिषी के इस वाक्य 'पसत्यं निमित्तं, मुहुतो य सोहणो' से विवाह के उक्त शुभ मुहूर्तों में ही किसी एक की ओर संकेत किया गया है । मातंगवृद्धा ने नीलयशा के साथ विवाह के निमित्त वसुदेव को जिस समय वेताल से पकड़ मँगवाया था, उस समय रास्ते में उन्हें माला की लड़ियाँ, उज्जला बैल, हाथी, चैत्यगृह, साधु आदि अनेक शुभ शकुन भी दिखाई पड़े थे, इसलिए वह सब 'प्रशस्त निमित्त' का ही सूचक था । वसुदेव का सोमश्री के साथ पाणिग्रहण भी शुभ दिन और शुभ विवाह-लग्न में ही हुआ था । इसी प्रकार, अमिततेज और ज्योतिष्मन् एवं श्रीविजय और सुतारा का विवाह शुभ तिथि, करण और मुहूर्त में हुआ था ।

विवाह के बाद ध्रुवदर्शन वैदिक परम्परा-स्वीकृत मांगलिक प्रथा है । सामवेदीय गृह्यसूत्रों में विधान है कि ध्रुवनक्षत्र या ध्रुवतारे के दर्शन के पूर्व घर को छह मन्त्रों के साथ छह आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिए । गृह्यसूत्रों में ध्रुवदर्शन के अनेक मन्त्र हैं । इन मन्त्रों में दम्पति के मंगल की भावना निहित है । दो-एक मन्त्र द्रष्टव्य हैं :

ध्रुवैधि पोष्या मयि मह्यं त्वद्वाद बृहस्पतिः ।

मया पत्या प्रजावती सं जीवः शरदः शतम् ॥

(शांखायन गृह्यसूत्र, १.१७.३ ; पारस्करगृह्यसूत्र, १.८.१९)

अर्थात्, मुझे तुम्हें बृहस्पति ने दिया है, मेरे द्वारा पोषण-योग्य तुम मेरे प्रति स्थिर हो जाओ । मुझ पति के साथ सन्तान-सहित तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो ।

'आपस्तम्बगृह्यसूत्र' (२.६.१२) का एक मन्त्र है:

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवमसि ध्रुवतः स्थितम् ।

त्वं नक्षत्राणां मेध्यसि स मा पाहि पृतन्यतः ॥

अर्थात्, स्थिर निवासवाले, स्थिर जन्मस्थानवाले, तुम ध्रुव (स्थिर) हो । तुम स्थिरता से स्थित हो । तुम नक्षत्रों के स्तम्भ हो । ऐसे तुम शत्रु से मेरी रक्षा करो ।

‘आग्निवेश्य गृह्यसूत्र’ (१.५.४, ६.३) में ध्रुवदर्शन के निम्नांकित मन्त्र का विनियोग है :

ध्रुवं नमस्यामि मनसा ध्रुवेण ध्रुवं नौ सख्यं दीर्घमायुश्च भूयात् ।

अद्भुद्यावस्मिंश्च परे च लोके ध्रुवं प्रविष्टौ स्याम शरणं सुखातौ ॥

अर्थात् स्थिर चित्त से मैं ध्रुव को नमस्कार करता हूँ, हमारी मित्रता स्थिर हो और आयु दीर्घ हो ।
इहलोक और परलोक में अविद्युक्त भाव से हम ध्रुव की शरण में प्रविष्ट होकर सुखी हो जायें ।

‘मानवगृह्यसूत्र’ (१.१४.१०) और ‘वाराहगृह्यसूत्र’ (१.५.२१) में ध्रुव, अरुन्धती, जीवन्ती और सप्तर्षि नक्षत्रों को दिखाने की क्रिया में निम्नांकित मन्त्र का विनियोग है :

अच्युता ध्रुवा ध्रुवपत्नी ध्रुवं पश्येम सर्वतः ।

ध्रुवास् पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुलेयम् ॥

अर्थात्, तुम अविचल स्थिर ध्रुवपत्नी हो, हम सभी ओर ध्रुव को देखें । ये पर्वत, ध्रुव, अर्थात् स्थिर हैं, पति के कुल में यह स्त्री स्थिर हो जाय ।

इस प्रकार वैदिक गृह्यसूत्रों में ध्रुवदर्शन^१ का अतिशय अनिवार्य महत्त्व है । विवाह-संस्कार के लिए विहित यह वैदिक कर्म चूँकि नक्षत्र-दर्शन से सम्बद्ध है, इसलिए ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत परिगणनीय है ।

इसी ज्योतिषमूलक वैदिक प्रथा के परिपालन के सन्दर्भ में, वसुदेव के कपिला के साथ विवाह होने के बाद, ध्रुवदर्शन से उन (वर-वधू) के प्रसन्न (‘ध्रुवदंसणसुमणसो’) होने के प्रसंग (कपिलालम्भ : पृ. २००) का उल्लेख संघदासगणी ने किया है । इससे स्पष्ट ही उनपर वैदिक प्रभाव का संकेत प्राप्त होता है ।

तीर्थंकर शान्तिनाथ के, अपनी माता अचिरा के गर्भ में आने पर कुरु-जनपद के सारे प्राकृतिक उपद्रव शान्त हो गये थे और नौ मास, साढ़े सात रात-दिन बीतने पर ज्येष्ठ कृष्णपक्ष की त्रयोदशी तिथि को भरणी नक्षत्र के योग में तीर्थंकर ने जन्म लिया था । भगवान् शान्तिनाथ का कद चालीस धनुष्य (चार हाथ) ऊँचा था । सोलह महीने कम पच्चीस हजार वर्ष तक संसार में प्रकाश फैलाकर उन्होंने विद्याधर-चारणों द्वारा सेवित सम्पेदपर्वत-शिखर पर एक मास का उपवास करके ज्येष्ठ कृष्णपक्ष की त्रयोदशी तिथि को भरणी नक्षत्र में चन्द्रमा के योग होने पर निर्वाण प्राप्त किया था । जन्म और मृत्यु की एक ही तिथि शायद ही किसी भाग्यवान् को प्राप्त होती है । ज्योतिष का यह शुभ योग भगवान् शान्तिनाथ जैसे महापुरुष को सुलभ हुआ था (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४० तथा ३४३) । इसी प्रकार, चन्द्रमा के अनेक उत्तम योगों में पहुँचने पर तथा प्रसवकाल पूरा होने पर तीर्थंकर कुन्धुनाथ का जन्म हुआ था । फिर, कृत्तिका नक्षत्र में चन्द्रमा के चले जाने पर, उसी शुभ मुहूर्त में कुन्धुनाथ ने महाभिनिष्क्रमण करके सिद्धत्व प्राप्त किया (तत्रैव : पृ. ३४५-३४६) ।

अरनाथ की माता, देवी ने भी जब महापुरुष की उत्पत्ति के सूचक शुभ स्वप्नों को देखा, तब उनके गर्भ में अरनाथ आये । नौ महीने के बाद, दसवें महीने के प्रारम्भ में उनका जन्म हुआ । ज्योतिष की गणना के अनुसार, उस समय चन्द्रमा रेवती नक्षत्र के योग में था और पूर्वदिशामुख

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : ‘गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग’ : डॉ. कृष्ण लाल, प्र. नेशनल पब्लिशिंग हाउस; पृ. १६०-१६५ ।

के अलंकार-स्वरूप बृहस्पति का उदय था। फिर जिस समय उन्होंने प्रव्रज्या ली, उस समय भी चन्द्रमा रेवती नक्षत्र में ही था (तत्रैव : पृ. ३४६-३४७)।

चौदहवें मदनवेगालम्भ में, जमदग्नि के नामकरण के सम्बन्ध में, जन्मनक्षत्र की विवेचना का प्रसंग भी प्राप्त होता है। दक्षिण अर्द्धभरत-क्षेत्र में वाराणसी नाम की नगरी है। अग्निशिखर और संघवती वहाँ के राजा-रानी थे। उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसी समय दो ज्योतिषियों से साग्रह प्रश्न किया गया : “बालक का जन्मनक्षत्र बतायें।” उन ज्योतिषियों में एक ने कहा : “सम्प्रति भरणी नक्षत्र समाप्त हो रहा है।” दूसरे ने कहा : “कृतिका नक्षत्र प्रारम्भ हो रहा है।” तब दोनों ज्योतिषियों ने विचार करके और दोनों नक्षत्रों के अधिष्ठाता देवों के आधार पर उस बालक का नाम ‘जमदग्नि’ रख दिया। क्योंकि, भरणी का देवता यम है और कृतिका का देवता अग्नि (पृ. २३५)।

कौशाम्बी के दृढप्रहारी ने अगडदत्त को शुभ तिथि, करण, नक्षत्र, दिन और मुहूर्त में अस्त्र-शास्त्र और रथ-संचालन की विद्या का प्रशिक्षण देना आरम्भ किया था। (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ३६)

“ज्योतिषां सूर्यचन्द्रादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रं ज्योतिषशास्त्रम्”, अर्थात् सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों और कालों का बोध करानेवाले शास्त्र को ज्योतिषशास्त्र कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार, संघदासगणी ने ‘वसुदेवहिण्डी’ में नभोमण्डल-स्थित ज्योतिःसम्बन्धी विविध विषयों का संकेतो-ल्लेख किया है। प्राचीन जैनागम ‘समवायांग’ और ‘स्थानांग’ के अतिरिक्त ‘सूर्यप्रज्ञप्ति’, ‘गर्ग-संहिता’, ‘ज्योतिष्करण्डक’ आदि में भी ज्योतिषशास्त्र की अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन किया गया है और संघदासगणी के लिए ये ही प्राचीन ज्योतिष-ग्रन्थ आधार रहे होंगे। इसीलिए, ज्योतिष-विषयक जैन मान्यताओं का भी उल्लेख संघदासगणी ने किया है।

जैन मान्यता में बीस कोटाकोटि अर्द्धा^१ सागर का एक कल्पकाल बताया गया है। इस कल्पकाल के दो भेद हैं—एक अवसर्पिणी और दूसरा उत्सर्पिणी। अवसर्पिणी-काल के सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छह भेद तथा उत्सर्पिणी के दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमा-सुषमा, सुषमा-दुषमा, सुषमा और सुषमा-सुषमा ये छह भेद माने गये हैं। सुषमा-सुषमा का प्रमाण चार कोटाकोटि सागर, सुषमा का तीन कोटाकोटि सागर, सुषमा-दुषमा का दो कोटाकोटि सागर, दुषमा-सुषमा का बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागर, दुषमा का इक्कीस हजार वर्ष एवं दुषमा-दुषमा का भी इक्कीस हजार वर्ष होता है। प्रथम और द्वितीय काल में भोगभूमि^२ की रचना, तृतीय काल में आदि में भोगभूमि और अन्त में कर्मभूमि की रचना होती है। इस तृतीय काल के अन्त में चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं, जो प्राणियों को विभिन्न प्रकार की शिक्षाएँ देते हैं।

प्रथम कुलकर, प्रतिश्रुति के समय में, जब मनुष्य को सूर्य और चन्द्रमा दिखाई पड़े, तब वे इनसे शंकित हुए और अपनी शंका दूर करने के लिए इनके पास गये। इन्होंने सूर्य और चन्द्र-सम्बन्धी ज्योतिष-विषयक ज्ञान की शिक्षा दी, जिससे इनके समय के मनुष्य इन ग्रहों के ज्ञान

१. यह अरब-खरब की संख्या से भी कई गुना अधिक होता है।

२. जैनविश्वास के अनुसार, भोगभूमि में भोजन, वस्तु आदि समस्त आवश्यकताओं की वस्तुएँ कल्पवृक्षों से प्राप्त होती हैं। इस काल में बालक ४९ दिनों में युवावस्था को प्राप्त होता है और आयु अपरिमित काल की होती है। इस युग में मनुष्य को योगक्षेम के लिए किसी प्रकार का श्रम नहीं करना पड़ता है।

से युक्त होकर अपने कार्यों का संचालन करने लगे। इसके बाद द्वितीय कुलकर ने नक्षत्रविषयक शंकाओं का निराकरण कर अपने युग के व्यक्तियों को आकाशमण्डल की समस्त बातें बताईं। कहना न होगा कि संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में ज्योतिष की सृष्टि-प्रक्रिया के प्रायः समस्त तत्वों को समाहित करने की चेष्टा की है ५ -

शकुनकौतुकः

ज्योतिष का एक प्रमुख अंग शकुन भी है। ज्योतिष में इस शास्त्र का भी स्वतन्त्र विकास हुआ है। इसमें कार्य के पूर्व होनेवाले शुभाशुभ शकुनों का प्रतिपादन आकर्षक ढंग से किया गया है। धम्मिल्लहिण्डी की अगडदत्त-कथा में उल्लेख है कि कौशाम्बी के दृढप्रहारी ने अगडदत्त को जब अस्त्रविद्या की शिक्षा देना शुरू किया था, तब उसके पहले शकुनकौतुक की क्रिया पूरी की गई थी। शकुन में आँखों या भुजाओं का फड़कना, सवत्सा गाय को देखना आदि बातें आती हैं और कौतुक में स्नान, रक्षाबन्धन, हवन आदि क्रियाएँ की जाती हैं। वसुदेव के साथ जितनी पत्नियों का विवाह हुआ है, प्रायः सबमें विवाह-पूर्व कौतुक के सम्पन्न होने का उल्लेख संघदासगणी ने किया है।

मातंगवृद्ध ने वसुदेव को जिस समय वेताल से श्मशान-गृह में पकड़ मँगवाया था, उस समय वसुदेव को कई शुभ शकुन दृष्टिगोचर हुए थे। जैसे, कुछ दूर निकलने पर वसुदेव के पैरों से शोभासम्पन्न माला की लड़ियाँ आ लगीं। फिर, थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर अनुकूल उजला बैल दिखाई पड़ा, फिर थोड़ी दूर पर बैठा हुआ हाथी दिखाई पड़ा। कुछ दूर आगे जाने पर चैत्यगृह मिला और वहाँ साधुओं का स्वर सुनाई पड़ा। इन सबको वसुदेव ने शुभ शकुन के रूप में स्वीकार किया। दसवें पुण्डालम्भ में, वसुदेव 'प्रशस्त शकुन' देखकर ही द्यूतसभा में गये थे (पृ. २१०)।

पाँचवें सोमश्रीलम्भ के प्रारम्भ में भ्रमण करते हुए वसुदेव को वातमृग दिखाई पड़े थे। वे पक्षी की तरह उड़कर चले गये। तब वसुदेव ने सोचा : "वातमृगों का दर्शन तो बड़ा शुभ होता है। यह तो लाभ का सूचक है।"

इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' में अनेक शकुनकौतुकों का यथाप्रसंग वर्णन जैनागमों के आधार पर हुआ है। यद्यपि, परवर्ती काल में जैन सम्प्रदाय के अनेक ज्योतिषियों ने शकुनशास्त्र पर विशदता से विचार किया है। शकुन के प्रसंग में ही अष्टांगमहानिमित्त (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१५) की नामतः चर्चा संघदासगणी ने की है, जो निश्चय ही स्थानांग^१ पर आधृत है। स्थानांग में आठ प्रकार के, अर्थात् आठ अंगोंवाले महानिमित्त का उल्लेख हुआ है। जैसे : भूमि-सम्बन्धी, उत्पातों से सम्बद्ध, स्वप्न-विषयक, अन्तरिक्ष-सम्बन्धी, अंग-सम्बन्धी, स्वर, लक्षण और व्यंजन-सम्बन्धी, ये आठ महानिमित्त हैं। भूमिकम्प आदि शुभाशुभ महानिमित्तों को 'भौम' कहा गया है; आकस्मिक उपद्रव के सूचक महानिमित्तों को 'उत्पात' की संज्ञा दी गई है; शुभाशुभ स्वप्न-विषयक महानिमित्त 'स्वप्न' शब्द से संज्ञित हैं; नक्षत्र, ग्रह आदि से सम्बद्ध शुभाशुभ महानिमित्त को 'अन्तरिक्ष'

१. महाणिमित्तपदं। अङ्गुलिहो महानिमित्तं पण्णते, तं ज्झा भौमे, उप्पाते, सुविणे अंतल्लिख्खे, अंगे, सरे, लक्खणे, वंजने। - ठाणाग (स्थानांग), ८।२३।

कहते हैं, अंगों के आकार-प्रकार, स्फुरण आदि महानिमित्तों को 'अंग' कहा जाता है और स्वर के अनुरूप फलाफल के सूचक महानिमित्त 'स्वर' कहे गये हैं; अंगों के संस्थान या संरचना (रूप, रंग, बनावट आदि) की शुभता और अशुभता के सूचक महानिमित्तों को 'लक्षण' कहा गया है और अंगों के मस्सा, तिल आदि चिह्नों के फलाफल की सूचना देनेवाले महानिमित्तों को 'व्यंजन' की संज्ञा दी गई है। इन आठों महानिमित्तों पर अलग-अलग आठ निमित्तशास्त्रों की रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं। 'वसुदेवहिण्डी' में कहीं कथागत घटनाओं के माध्यम से और कहीं सिर्फ नाम लेकर आठों महानिमित्तों का उल्लेख हुआ है। आयुर्वेद के आठ अंगों की तरह यह अष्टांगमहानिमित्त ही ज्योतिषशास्त्र का मेरुदण्ड है। ऊपर, 'वसुदेवहिण्डी' में प्राप्त अष्टांगमहानिमित्त के कतिपय अंगों पर प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ दो-एक अंगलक्षणों पर, जिसे अंगविद्या या सामुद्रिकशास्त्र भी कहते हैं, प्रकाश-निक्षेप किया जा रहा है। अंगलक्षण के ही अन्तर्गत करलक्षण या हस्तरेखाओं का अध्ययन भी सन्निहित है। यद्यपि, संघदासगणी ने हस्तरेखा की प्रत्यक्ष चर्चा कहीं नहीं की है। किन्तु, कतिपय पात्रों के अंगलक्षणों के निरूपण में उनके हाथ-पैर में अंकित शुभसूचक चिह्नों की चर्चा अवश्य हुई है।

अंगलक्षण या अंगविद्या :

अंगों की चेष्टा या चिह्नों को देखकर शुभाशुभ कहने की विद्या को 'अंगविद्या' कहते हैं। सामुद्रिकशास्त्र इसी का पर्याय है। 'बृहत्संहिता' के इक्यावनवें अध्याय में इस विद्या का पूर्ण विवरण उल्लिखित है। संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' के प्रमुख पात्रों के शुभाशुभ अंगलक्षणों का अंकन किया है। राजगृह के सार्थवाह की पत्नी धारिणी के 'जम्बू' नामक सुलक्षण और वर्चस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ था। चरितनायक वसुदेव स्वयं आकृत्या और प्रकृत्या सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे। उनका अंग-प्रत्यंग प्रशस्त लक्षणों से सम्पन्न था। उनके हाथों में स्थिरतासूचक चिह्न उत्कीर्ण थे और पैरों में शंख, चक्र और आतपत्र का लांछन था।

वसुदेव जब दक्षिण देश में हिण्डन कर रहे थे, तभी एक मध्यम वय के मनुष्य ने, जो बारीक और सफेद कपड़ा पहने हुए था तथा अपने मनोगत भावों को अंगुलियों पर गिन रहा था, कृताञ्जलि होकर उनसे कहा था : "स्वामी ! शास्त्रप्रमाण के आधार पर, शरीराकृति से आपकी महानुभावता की सूचना मिलती है।" उस मनुष्य ने उनके अंगलक्षण इस प्रकार बताये थे :

"सिरं छत्तागारं किरीडभायणं तुज्झं, मुहं सकलससिमंडलच्छविहरं, सेयपुंडरीकोपमाणि लोयणाणि, बाहू भुयगभोगसच्छ्रमा, वच्छ्रयलं लच्छिसन्निधानं पुरवरकवाडसरिच्छं, वज्ज-सण्णिहो मज्झो, कमलकोससरिसा णाही, कडी मिंगपत्थिवावहासिणी, ऊरू गयकलहमुद्दिस-सणसण्णिभयभासा, जंघा कुरुर्विदवत्तसंडियाओ, लवखणालयं च चलणजुयलं। सयलमहिमं-डलपालणारिह उत्तमाणं बुद्धीओ वि उत्तमा चेव भवंति।" (भद्रभिन्ना और सत्यरक्षिता-लम्प : पृ. ३५३)

संघदासगणी ने अन्यत्र भी वसुदेव के शारीरिक लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है :

"जणदिट्ठीपरिभुज्जमाणसोभो, मउडभायणायवत्तसंठित्तमंगो, छच्चलणंजणसवण्णा-कुंचिय-पयाहिणावत्तणिद्धिसिरओ, सारदगहवतिसम्पत्तसोम्पतरवयणचंदो, चंदद्वोवमनिडालपट्टो,

रविकरपरिलीढपुंडरीयकखणो, सुनासो, सुरगोवग-सिल-प्पवालरत्ताधरोदो, पण्णगनिस्त्तास्त्रिय-
गकिसलयसवण्णजीहो, कमलम्भैतरनिवेसियकुंदमुकुलमालासरिच्छदसणो, कुंडलविलिहिज्ज-
रमणिज्जसवणो, महाहणू, तिलेहापरिगयकंबुकंधरो, पवरपणिसिलातलोवमविसालवच्छो,
सुसिलिडुपडुसंधि, पुरफलिहदीहरभुजो, उवचियसातच्चलकखणोविकण्णपाणिकुवलो,
मणहरतररोमराइरजियकरग्गेज्जमज्जेदो, पविकसमाणपउमाहनाभी, आइण्णतुरगवट्टिय-
कडी, करिकरसम्पथिरतरोरु, णिगूढजाणू, एणयजंधो, ससंखचक्काऽऽयवत्त-लंछियकोमल-
कुम्भोवमाणचलणो, दप्पियवरवसहललियगमणो, सुइसुभगमहत्थरिभितवाणी,
सयलमहीतलपालणारिहो ।" (पद्यालम्भ : पृ. २०४)

इस प्रकार के शुभ अंगलक्षणों से युक्त वसुदेव का विवाह पद्यावती से हुआ था । पद्यावती भी प्रशस्त अंगलक्षणों से देदीप्यमान थी । लक्षणशास्त्रियों ने उसके अंग-प्रत्यंग को प्रशस्त बताया था । प्रतिहारी ने वसुदेव से, उसके अंगलक्षणों को बताते हुए, इस प्रकार कहा था :

"देव ! सुणह, अहं सामिणो अभगसेणस्स दुहिया पउमा नाम यउमवणवियरणसमूसिया
सिरीविव रूवस्सिणी, लक्खणपाढगपसंसियमुह-नयण-नासा-होदु-पयोहर-करकिसलय-मज्झ-
देसजहणोरुजुयल-जंघा-चलणकमलारविंदा, सरस्सई विव परममहुरवयणा, गतीय हंसगमण-
हासिणी ।" (तत्रैव)

इस प्रकार, वसुदेवजी की सभी पत्नियाँ और अन्य प्रमुख पात्रियाँ भी प्रशस्त अंगलक्षणों से सम्पन्न थीं । कहना न होगा कि संघदासगणी ने आंगिक शोभा के वर्णन में अंगविद्या के अनुसार सभी लक्षणों का विशद विवरण उपन्यस्त किया है ।

अगडदत्त की प्रेयसी पत्नी श्यामदत्ता 'सव्वंगोवंगपसत्थ-अवितण्हपेच्छणिज्जरूवा' (धम्मिल्लहिण्डी) थी । वसन्ततिलका का मनुहार करते समय धम्मिल्ल को उसने अपने जिस पैर से प्रहार किया था, वह भी प्रशस्त लक्षणों से युक्त था । संघदासगणी ने अपने वर्णन-वैभव के साथ उस सुन्दर पैर का विनियोग इस प्रकार किया है :

"अणुपुव्वसुजायअंगुलीदलेणं, कमलदलकोमलेणं, रत्तासोयथवयसन्निभेणं, चंगालत्तय-
रसोल्लकोववससंजायसेएणं चलणेणं आहओ ।" (तत्रैव)

इसी प्रकार, धम्मिल्ल ने नागधर में नागदत्ता को भी प्रशस्त अंगलक्षणों से विभूषित देखा था (तत्रैव) । रुक्मिणी भी अपने प्रशस्त अंगलक्षणों के कारण गुणों का आलय (पीठिका) मानी जाती थी । प्रद्युम्न के अंगलक्षणों को देखकर विद्याधरी कनकमाला की धारणा बनी थी कि विद्याधर-लोक में प्रद्युम्न के समान दूसरा पुरुष नहीं है (पीठिका : पृ. ९२) । वसुदेव की पत्नी श्यामली भी 'लक्खणपाढगपसंसियमुपइट्टियसभावरत्ततला' थी । (श्यामलीलम्भ)

ऋषभदेवस्वामी का शरीर तो सौभाग्यशाली अंगलक्षणों का प्रतिमान था । संघदासगणी ने उनके अंग की शोभा के वर्णन को इस प्रकार विस्तार दिया है :

"उसभसामी पत्तजोव्णो य छत्तसरिससिरो, पयाहिणावत्तकसिणसिरोओ, सकलगहणायग-
मणोहरवयणो, आयतभुमयाजुयलो, पुंडरियवियसियनयणो, उज्जुयवयणमंडणणासावंसो, सिल-
प्पवालकोमलाऽहरो, धवल-विमलदसणपंती, चउरंगुलप्पमाणकंबुगीवो, पुरफलिहदीहवाहू,
लक्खणजालंकियपाणी, सिरिवच्छंकियविसालवच्छो, गयक्ज्जमज्झो, अकोसपउमनाभी, सुबद्ध-

वद्विषकडिप्पाएसो, तुरगगुज्जदेसो, करिकराकारोरुजुयलो, निगूढजाणुमंडलो, कुरुविदावत्तसंठिय-पसत्थजंघो, कणयकुम्मसरिसपादजुयलो, मधुरगंभीरमणहरिगरो, वसभललियगमणो, पभा-परिविखत्तकंतरूवो ।" (नीलयशालम्भ : पृ. १६२) यहाँ ध्यातव्य है कि सृष्टि के आदिकाल के कुलकरों का अंगलक्षण तो मिथक का विषय है । वे आकृत्या सैकड़ों धनुष-प्रमाण ऊँचे होते थे । एक धनुष का प्रमाण चार हाथ होता था (तत्रैव : पृ. १५७) ।

वज्रजंघ भी लक्षणशास्त्र की दृष्टि से सर्वांगसुन्दर था (तत्रैव) । राजा सगर की भी शरीराकृति लक्षणयुक्त थी (सोमश्रीलम्भ) । सोमश्री के भी मुख, आँख, दाँत, हाथ, पैर, जघन और स्तनकलश बहुत ही प्रशस्त थे । स्नान करते समय उसके इन प्रशस्त अंगों को वसुदेव ने देखा था (तत्रैव) । मनोहरभाषिणी राजकन्या अश्वसेना (अश्वसेनालम्भ) तथा विद्याधरराज नरसिंह की नातिन प्रभावती के भी अंग परम सुन्दर थे (प्रभावतीलम्भ) । कामदेव श्रेष्ठी की पुत्री बन्धुमती को भी 'पसत्थ-पाणि-पाय-जंघोरु-सोणि-मंडल-मज्झ-यण-वयणयंदा-संथाण-गमण-भणिया' कहा गया है (बन्धु-मतीलम्भ) ।

श्रमण-सिद्धान्त के अनुसार, मनुष्य शुभकर्म के उदय से यदि प्रशस्त सुलक्षण अंगों को प्राप्त करता है, तो अशुभ कार्य के उदय से अप्रशस्त कुलक्षण और अनगढ़ शरीर उपलब्ध करता है । रक्तवतीलम्भ की लशुनिका दासी अपने अशुभ कर्म के उदय से ही 'लसुणगंधमुही' हुई थी । क्रोध और क्षमा का भी अंगलक्षण पर व्यापक प्रभाव पड़ता है । संघदासगणी ने इसपर बहुत ही जमकर विचार किया है । सोलहवें बालचन्द्रालम्भ में उनका एतद्विषयक वक्तव्य कथा-माध्यम से मनोवैज्ञानिक अनुबन्ध के साथ इस प्रकार मुखर हुआ है :

मुनि संजयन्त जिज्ञासु विद्याधरों से कहते हैं : "जो जीव दूसरे के प्रति रुष्ट होने के कारण हृदय में अमर्ष धारण करता है, किन्तु उसे कार्यान्वित नहीं करता, वह क्रोधाग्नि से भीतर-ही-भीतर सुलगते रहने से विवर्णमुख और परुषकान्ति होकर व्यर्थ ही सन्ताप झेलता है । क्रुद्ध होकर जो व्यक्ति दूसरे को दुःख पहुँचाना चाहता है, वह पहले अपने ही शरीर को रोषाग्नि की ज्वाला में जलाता है, पीछे कारण के अनुसार दूसरे को दुःख पहुँचे या न पहुँचे । जिस प्रकार कोई व्यक्ति अज्ञतादोषवश दूसरे को जलाने के लिए यदि अपनी उँगली जलाता है, तो पहले वह अपने को ही जलाता है, पीछे दूसरा कोई जले या न जले । और फिर, समर्थ होकर जो व्यक्ति किसी दूसरे निरपराध को आक्रोश, वध और बन्धन द्वारा कष्ट देता है, वह क्रोधदग्ध, निर्धुण, निर्दय, पापाचारी, अदर्शनीय और परित्याज्य माना जाकर निन्दा का पात्र बनता है । और फिर, जो जीव क्षमापक्ष का आश्रय लेता है, वह सन्तापराहित, सौम्य और सुखी जीवन जीता है, सज्जन उसका आदर करते हैं और इस लोक में वह पूजनीय तथा यश का भागी होता है और परलोक में, मनुष्यभय वा देवभय में जन-नयन-मनोहर रूप और मधुर वाणी से युक्त होकर उस भव के योग्य सुख भोगता है और तदनुसार स्थान और मान का अधिकारी होता है (पृ. २६३) ।"

चौदहवें मदनवेगालम्भ में कथा आई है कि पद्मश्री जब पूर्वभव में अंजनसेना ब्राह्मणपुत्री के रूप में उत्पन्न हुई थी, तब वह अशुभ नामकर्म (जारीरिक गुण) के उदय से विकृत अंगलक्षणोंवाली थी । उसके केश रुखड़े और भूरे थे । आँखें थोड़ी पीली थीं । दाँत ऊपर-नीचे

और आकृति बड़ी कर्कश थी। जब वह युवती हुई, तब उसे कोई युवा पसन्द नहीं करता था। उसके स्तन और नितम्ब ढले हुए थे। इसलिए, वह अवांछित वृद्धकुमारी हो गई थी (पृ. २३२)।

संघदासगणी ने न केवल मनुष्यों और विद्याधरों के, अपितु पशुओं और पक्षियों के भी अंगलक्षणों का उल्लेख किया है। अट्टारहवें प्रियंगुसुन्दरीलम्भ की कथा है : वसन्तपुर में राजा जितशत्रु रहता था। उसके दो गोमण्डल थे। उनमें दो गोमाण्डलिक नियुक्त थे : चारुनन्दी और फल्गुनन्दी। गायों में जो खूबसूरत होतीं या वर्ण, रूप, शारीरिक संरचना, सींग, आकृति आदि की दृष्टि से कल्याणकारिणी, मंगलमयी, खोट-रहित और उत्तम धनोवाली होतीं, उन्हें चारुनन्दी राजा की गायों में गिनती करता और इसके विपरीत जो गायें बद्सूरत होतीं या वर्ण आदि की दृष्टि से अकल्याणकारिणी, अमंगलमयी, खोट-युक्त, मरखण्डी, भयंकर तथा थन-विहीन होतीं, उन्हें अपनी गायों में गिनती करता। किन्तु, फल्गुनन्दी खूबसूरत तथा उपर्युक्त शुभ लक्षणों से युक्त गायों को अपनी मानता और बद्सूरत एवं कुलक्षण गायों को राजा की समझता (पृ. २९७)।

बहुविषयज्ञ कथाकार ने जिस प्रकार गायों के अंगलक्षणों को निरूपित किया है, उसी प्रकार घोड़ों और हाथियों के भी अंगलक्षणों को उपन्यस्त किया है। स्फुलिंगमुख घोड़े के अंगलक्षणों को बताते हुए कथाकार ने कहा है कि उसके सारे अंगलक्षण उत्कृष्ट कोटि के थे। उसका रंग खिले कुमुद (कमल) की भाँति लाल था। उसकी ऊँचाई पचहत्तर अंगुल थी। वह एक सौ आठ अंगुल लम्बा था। उसका मुँह बत्तीस अंगुल का था। उसके आवर्त (शरीर के भँवर) शुद्ध थे। खुर, कान, केश, स्वर, आकृति, आँख, जाँघ, ये सारे अंग-प्रत्यंग प्रशस्त लक्षणोंवाले थे। वह घोड़ा इतना तेजस्वी था कि उसपर सवारी करना कठिन था (कपिलालम्भ : पृ. १९९-२००)।

हाथियों में गन्धहस्ती को श्रेष्ठ माना गया है। इसे कथाकार ने 'उत्तम-भङ्गलक्खणोववेओ' (उत्तम और मंगलमय लक्षणों से युक्त) कहा है (श्यामलीलम्भ : पृ. १२२)। ऐरावत के समान श्रेष्ठ विमलवाहन नामक चार दाँतोंवाला हाथी संहनन (काया) और आकृति के उत्तम लक्षणों से युक्त तथा नौ सौ धनुष (छत्तीस सौ हाथ) ऊँचा था (नीलयशालम्भ : पृ. १५७)। मयूरशावक के अंगलक्षण निरूपित करते हुए कथाकार ने बताया है कि वह देखने में स्निग्ध-मनोहर था, पिच्छ से उसका सारा शरीर आच्छादित था और उसपर अनेक चित्र-विविन्न चन्द्रक चमक रहे थे। इसी प्रकार, कथाकार ने मृगों, सर्पों, कुक्कुटों, कबूतरों आदि के अंगों के प्रशस्त लक्षणों को निरूपित करने में अंगविद्या में अपने सूक्ष्म प्रवेश और परिज्ञान का प्रौढ़ परिचय उपस्थित किया है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि संघदासगणी ने ज्योतिष-विद्या के प्रमुख अंगों में उल्लेख्य सामुद्रिकशास्त्र का गहन शास्त्रीय अध्ययन किया था, जिसका सन्दर्भोचित समायोजन अतिशय निपुणता के साथ अपनी इस बृहत्कथा में किया है।

पुरुष-लक्षण और आयु-विचार :

पुरुषों के लक्षण और आयुविषयक विचार, दोनों ज्योतिष-विद्या के फलित पक्ष के महत्वपूर्ण अंग सामुद्रिकशास्त्र के ही अन्तर्गत हैं। इसलिए, इस क्रम में संघदासगणी के एतद्विषयक तथ्यों पर दृष्टिपात अप्रासंगिक नहीं होगा।

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार, जन्मकुण्डली के स्थानविशेष को 'भाव' कहते हैं। यथानिश्चित बारह राशियों के अनुसार ये भाव या स्थान बारह होते हैं। इसी स्थान को लग्न भी कहा जाता है। अष्टम भाव से प्रधानतः आयु का विचार किया जाता है। इन बारहों स्थानों में, मनुष्य के जन्मनक्षत्र, तिथि, समय आदि के अनुसार यथानिर्धारित नौ ग्रहों का निवास होता है। एक स्थान में एक से अधिक ग्रह भी रहते हैं। लग्न में स्थित ग्रह अपने स्वभाव के अनुसार फलाफल को देनेवाला होता है। इसलिए, जन्मकुण्डली की ग्रहस्थिति के अध्ययन से मानव के सम्पूर्ण जीवन के अदृष्ट या भाग्य का ज्ञान किया जाता है। और, इस ज्ञान से भाग्य या अदृष्ट के घटनाचक्र में, पूर्वोपाजित या क्रियमाण कर्मों द्वारा न्यूनाधिकता लाई जा सकती है, फिर इस विधि से अदृष्ट के अशुभ फलों की भोगावधि में भी कमी की जा सकती है। इसलिए, जीवन को उन्नतिशील बनाने एवं क्रियमाण सत्कर्मों द्वारा पूर्वोपाजित अशुभ अदृष्ट के प्रभावों को मन्द करके, अपने भविष्य को सुधारने के निमित्त भी ज्योतिषियों द्वारा किया गया फलादेश मानव के लिए महत्वपूर्ण होता है।

लग्न में ग्रहों की स्थिति के अनुसार ही किसी मनुष्य के दीर्घायु, मध्यमायु और अल्पायु होने का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके अतिरिक्त, प्रतीकों या शकुन-प्रतीकों के माध्यम से भी आयु का विचार होता है। संघदासगणी ने शकुन-प्रतीकों के माध्यम से ही यत्र-तत्र आयु का विचार किया है। चारुदत्त की आत्मकथा के प्रसंग में, अज्ञात विद्याधर को खोजते हुए जब सभी आगे बढ़े, तब उन्हें कपड़े और गहने तो मिले ही, शल्लकीवृक्ष के झाड़ में कुछ केश भी फँसे दिखाई पड़े। गोमुख के कहने पर हरिसिंह ने जब केशों को सूँघा, तब धूप में तपे उन बालों में तीखी खुशबू मालूम पड़ी। इसपर गोमुख ने चारुदत्त से कहा : "इन केशों और वस्त्रों की गन्ध दीर्घायु व्यक्ति की प्रतीत होती है। ये केश चिकने और खुशबूदार हैं और जड़ से उखाड़े हुए नहीं हैं। इसलिए, वह विद्याधर दीर्घायु और श्रेष्ठ व्यक्ति है। इस व्यक्ति को राज्याभिषेक प्राप्त होगा (गन्धर्वदत्तालम्ब : पृ. १३८)।" ज्ञातव्य है, 'वसुदेवहिण्डी' के अतिरिक्त, बृहत्कथामूलक सभी कथाग्रन्थों, जैसे 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', 'कथासरित्सागर' और 'बृहत्कथामंजरी' में गोमुख बहुश्रुत पात्र के रूप में उपस्थित किया गया है, इसलिए उसने यहाँ ज्योतिष-विद्या के सामुद्रिक शास्त्र में अपनी पैठ का बड़ा प्रौढ़ परिचय दिया है।

सृष्टि के आदिकाल में जब मिथुन-परम्परा प्रचलित थी, तब मिथुन-दम्पतियों की स्त्रियाँ अपनी आयु के दसवें भाग में पुत्र प्रसव करती थीं। कुलकरो को तो असंख्य करोड़ वर्ष की आयु प्राप्त थी (नीलयशालम्ब : पृ. १५७)। तीर्थंकरों की आयु भी हजारों-लाखों वर्षों की होती थी। भगवान् ऋषभदेव ने तिरसठ लाख पूर्व तक राज्य किया था। ज्योतिषी, पुरुष की आयु के समाप्त होने की घोषणा भी करते थे। एक ज्योतिषी ने पोतनपुर के राजा श्रीविजय के माथे पर सातवें दिन वज्र गिरने की भविष्यवाणी करके उनकी आयु की समाप्ति की घोषणा की थी।

आयु और बल-वीर्य एवं कार्यक्षमता के अनुसार ही पुरुष के तीन भेद संघदासगणी ने किये हैं: उत्तम, मध्यम और अधम (पीठिका : पृ. १०१)। धर्मैषणा में निरत पुरुष उत्तम होता है, धनैषणा में संलग्न पुरुष मध्यम माना जाता है और कामैषणा को प्रधानता देनेवाला पुरुष अधम कहा गया है। धर्म का आचरण करनेवाला मनुष्य दीर्घायु होता है, यह शास्त्रसम्मत है।

इस प्रकार, संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में, अधिकांशतः जैनागमों के आधार पर, ज्योतिष-विद्या के तत्त्वों का बड़ा व्यापक उपस्थापन किया है। कथारस का विघात किये बिना ज्योतिष के निगूढ़ पक्षों का गम्भीर विवेचन संघदासगणी जैसे रससिद्ध कथाकार से ही सम्भव था। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संघदासगणी ने ज्योतिष के जितने तत्त्व अभिज्ञापित किये हैं, वे सूत्रात्मक हैं। इस सन्दर्भ में, यह उल्लेखनीय है कि एक कथाकार विशुद्ध कथाकार की भूमिका में ही रहता है, इसलिए ज्योतिष के आचार्यत्व को प्रदर्शित करने की गुंजायश वह कथा के माध्यम से ही निकाल सकता है। स्वप्नफल, भविष्यवाणी, सामुद्रिकशास्त्र के अंगलक्षण आदि ऐसे ज्योतिषक आयाम हैं, जो प्राचीन कथा के लौकिकान्तर्लौकिक पात्रों के व्यक्तित्व-उद्भावन या महत्कथा के आवश्यक विस्तारीकरण में बड़े सहायक हैं, इसीलिए संघदासगणी ने अपनी कथावस्तु में इन तत्त्वों का जितना अधिक समावेश किया है, उतना ग्रह, नक्षत्र, योग, करण आदि के सैद्धान्तिक पक्ष का नहीं। संघदासगणी केवल इतना ही प्रदर्शित करना चाहते हैं कि खगोल और भूगोल के बीच में रहनेवाला मानव-जगत् अन्तरिक्ष के ज्योतिषक ग्रहतत्त्व और पृथ्वी के शकुनशास्त्रीय प्राकृतिक तत्त्वों के साथ अविच्छिन्न भाव से जुड़ा हुआ है, इसलिए उसे ज्योतिष-तत्त्वों से अलग रखकर देखा जाना सम्भव नहीं है।

संघदासगणी के इस सूत्र को आचार्य वराहमिहिर के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित किया जाय, तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि मानव का शरीरचक्र ही ग्रहकक्षा-वृत्त है। इस कक्षावृत्त के बारह भाग—मस्तक, मुख, वक्षःस्थल, हृदय, उदर, कटि, वस्ति, लिंग, जाँघ, घुटना, पिंडली, और पैर क्रमशः मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ और मीन ये बारह राशियाँ हैं। इन बारह राशियों में भ्रमण करनेवाले ग्रहों में आत्मा रवि, मन चन्द्रमा, धैर्य मंगल, वाणी बुध, विवेक गुरु, वीर्य शुक्र और संवेदन शनि हैं। इस प्रकार, आचार्य वराहमिहिर ने सात ग्रह और बारह राशियों की स्थिति देहधारी प्राणी के भीतर ही बताई है। शरीर-स्थित इस सौरचक्र का भ्रमण आकाश-स्थित सौरमण्डल के नियमों के आधार पर ही होता है। ज्योतिषशास्त्र व्यक्त सौरजगत् के ग्रहों की गति, स्थिति आदि के अनुसार ही अव्यक्त शरीर-स्थित ग्रहों की गति, स्थिति आदि को प्रकट करता है। इसीलिए इस शास्त्र द्वारा निरूपित फलों का मानव-जीवन से अटूट सम्बन्ध है।

यही रहस्य है कि कल्पान्तरकारी कथाकार संघदासगणी ने मानव-जीवन की भूमिका में परिवर्तमान अपने मानुषातिमानुष पात्रों को ज्योतिषशास्त्र से स्वभावतः सम्बद्ध परिदर्शित किया है और इस क्रम में ज्योतिस्तत्त्वों का जितना उपयोग सहजतया सम्भव था, उन्होंने उनका यथाप्रसंग सम्यक् विनिवेश किया है।

संघदासगणी द्वारा कथा के व्याज से प्रतिपादित ज्योतिषशास्त्र ज्योतिषशास्त्र के रूप में प्रतिफलित हुआ है। अर्थात् वह शास्त्र, जिससे प्रकाश प्राप्त हो या प्रकाश के सम्बन्ध में ज्ञान का उपदेश मिले। इस प्रकार, संघदासगणी के ज्योतिष-विषयक तत्त्वों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जिस शास्त्र से संसार का मर्म, जीवन-मरण का रहस्य और जीवन के सुख-दुःख के सम्बन्ध में पूर्ण प्रकाश मिले, वह ज्योतिषशास्त्र है। ज्योतिषाचार्य डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने कहा है

कि "जीवन के आलोच्य सभी विषयों का, इस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय बनना ही इस बात का साक्षी है कि यह जीवन का विश्लेषण करनेवाला शास्त्र है।"^१

निश्चय ही, 'वसुदेवहिण्डी' की समस्त कथाएँ जीवन का विश्लेषण उपस्थित करती हैं, इसलिए उनमें जीवन-विश्लेषक ज्योतिस्तत्त्वों का समाहार, इस कथाग्रन्थ के महान् स्रष्टा के व्यापक जीवनोद्देश्य का परिचायक है, इसमें सन्देह नहीं।

(ख) आयुर्वेद-विद्या

आयुर्वेदशास्त्र यद्यपि स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है, तथापि ज्योतिषशास्त्र और तन्त्रविद्या से इसकी प्रसक्ति और प्रत्यासक्ति बराबर बनी रही। भेषज का निर्माण, रोगी की परीक्षा, रोगी के शुभाशुभ स्वप्न के आधार पर उसके जीवन-मरण का निश्चय, वैद्य को बुलाकर ले जानेवाले दूत के लक्षण आदि शकुनशास्त्रीय समस्त तत्त्वों का ज्ञान एक कुशल वैद्य के लिए अनिवार्य था। ज्योतिष-ज्ञान के बिना ओषधियों का निर्माण यथासमय सम्पन्न नहीं किया जा सकता। कारण स्पष्ट है कि ग्रहों के तत्त्व और स्वभाव को ज्ञात कर तदनुसार उसी तत्त्व और स्वभाववाली दवा का निर्माण करने से वह (दवा) रामबाण की तरह अमोघ होती है। प्राचीन काल के वैद्य एक अच्छे ज्योतिषी भी होते थे, इसलिए वे ग्रहतत्त्वों के ज्ञान से सम्पन्न थे और सुन्दर तथा अपूर्व गुणकारी दवाओं का निर्माण कर सकते थे और जिस रोगी की चिकित्सा करना स्वीकार करते थे, उसे अवश्य ही रोगमुक्त कर देते थे, पुनः अशुभ शकुन के लक्षणों के आधार पर जिस रोगी के रोग को असाध्य मानते थे, उसकी चिकित्सा करने से साफ़ इनकार कर देते थे। ज्योतिष के अंगलक्षण की भाँति आयुर्वेद में भी अंगलक्षण का विधान सुश्रुत ने किया है। दीर्घायु व्यक्ति की लम्बाई एक सौ अंगुल की मानी गई है (सूत्रस्थान : ३५.१२)।

ज्योतिष की गणना के आधार पर, ज्योतिर्विद् वैद्य रोगियों के मृत्युयोग की भी जानकारी प्राप्त कर लेते थे और तदनुसार ही इनकी (रोगियों की) बीमारी की सुसाध्यता, दुस्साध्यता और असाध्यता का निर्णय करते थे। स्पष्ट है कि ज्योतिषशास्त्र के ज्ञान द्वारा रोगी की चर्चा और चेष्टा को अवगत कर बहुत कुछ अंशों में रोग की मर्यादा जानी जा सकती है। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थ 'चरकसंहिता', 'सुश्रुतसंहिता' (ई. पू. ३०० के लगभग), 'वाग्भटसंहिता' (अष्टांगहृदय : सम्भवतः संचदासगणी के समकालीन) आदि में रोगी की रोग-मर्यादा जानने के अनेक नियम आये हैं।^२ अतएव, जो चिकित्सक आवश्यक ज्योतिस्तत्त्वों को जानकर चिकित्साकर्म को सम्पन्न करता है, वह अपने इस कार्य में अधिक सफल होता है।

ज्योतिषशास्त्र के सम्यक् ज्ञान से साधारण व्यक्ति भी अनेक रोगों से बच सकता है; क्योंकि अधिकांश रोग सूर्य और चन्द्रमा के विशेष प्रभावों से उत्पन्न होते हैं। 'फायलेरिया' रोग चन्द्रमा के प्रभाव के कारण ही एकादशी और अमावास्या को बढ़ता है। कहना न होगा कि ज्योतिषशास्त्र

१. 'भारतीय ज्योतिष' : डॉ. नेमिचन्द्र शस्त्री : संस्करण आदि पूर्ववत्, पृ. २९

२. द्र. (क) 'चरकसंहिता', सूत्रस्थान, खुड्डाकचतुष्पाद अध्याय; (ख) सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, उनतीसवाँ विपरीता-विपरीतस्वप्ननिदर्शनीय अध्याय, तीसवाँ पंचेन्द्रियार्थविप्रतिपत्ति अध्याय, इकतीसवाँ छायाविप्रतिपत्ति अध्याय, बत्तीसवाँ स्वभावविप्रतिपत्ति अध्याय, तैंतीसवाँ आवरणीय अध्याय, चौतीसवाँ युक्तसेनीय अध्याय, पैंतीसवाँ आतुरोपक्रमणीय अध्याय आदि; (ग) 'अष्टांगहृदय', शारीरस्थान, छठा दूतादिविज्ञानीय अध्याय।

मानव-जीवन के प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी रहस्यों का विवेचन करता है, साथ ही प्रतीकों द्वारा जीवन के समस्त आवृत पक्षों को अनावृत करता है, जिससे मनुष्य को अज्ञात से ज्ञात की ओर बढ़ने में अधिक सुविधा होती है। इसलिए, यह कहना अत्युक्ति नहीं कि मानव का कोई भी व्यावहारिक कार्य ज्योतिष-ज्ञान के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता।

आयुर्वेदोक्त रोगचिकित्सा, विशेषकर ज्वरचिकित्सा और बालरोग-चिकित्सा का सम्बन्ध तो प्रत्यक्षतः तन्त्रशास्त्र से ही जुड़ा हुआ है। रोगनिवारण के लिए दुर्गासप्तशती-प्रोक्त इस सिद्ध मान्त्रिक श्लोक का पाठ उपयुक्त माना गया है :

रोगानशेषानपहंसि तुष्टा रुष्टा तु कामान्सकलानभीष्टान् ।

त्वामाश्रितानां न विपन्नराणां त्वामाश्रिता ह्याश्रयतां प्रयान्ति ॥ (११.२९)

‘चरकसंहिता’ के रचयिता महर्षि अग्निवेश के अनुसार, ज्वर महेश्वर के कोप से उत्पन्न हुआ है। इसलिए, ज्वर-विनाश के लिए मन्त्रजप का भी विधान है, विशेषतया महादेव की प्रसन्नता के निमित्त महामृत्युंजय या मृत्युंजय^१ मन्त्र का जप तो सर्वप्रथित है। बालरोग-चिकित्सा आयुर्वेद के अष्टांग के अन्तर्गत ‘कौमारभृत्य’ का विषय है। ग्रह से पीड़ित बच्चों के रोग-निवारण के लिए भी मन्त्रजप का विधान है। नौ बाल-ग्रहों (स्कन्द, स्कन्दापस्मार, शकुनि, रेवती, पूतना, गन्धपूतना, शीतपूतना, मुखमण्डिका, नैगमेय या नैगमेष्) में शकुनि, रेवती, पूतना आदि विशेष पीड़ाकारक हैं। सुश्रुत में तो बालग्रह-चिकित्सा के लिए स्पष्ट ही तान्त्रिक विधान किया गया है। कहा गया है कि वैद्य पवित्र होकर बालक को पुरातन घृत से अभ्यंग करे; पवित्र स्थान पर, बच्चे के चारों ओर सरसों बिखरे और तेल का दिया जलाये। रोगार्त बच्चे के पास सदा अग्नि में एलादिगण में पठित ओषधियों (इलायची, तज, दालचीनी, नागकेसर, तगर, कंकुम आदि) के साथ तिल, गेहूँ, उड़द आदि में सुगन्ध द्रव्य (चन्दन, राल आदि) मिलाकर हवन करे। बालक को गन्ध और माला से अलंकृत करे तथा अग्नि में कृत्तिका के लिए ‘स्वाहा-स्वाहा’ के उच्चारण के साथ आहुतियाँ प्रदान करे।

बालग्रह के निवारण के लिए महर्षि सुश्रुत ने मन्त्र का विधान किया है। मन्त्र इस प्रकार है :

नमः स्कन्दाय देवाय ग्रहाधिपतये नमः ।

शिरसा त्वामभिवन्देऽहं प्रतिगृह्णीष्व मे बलिम् ॥

नीरुजो निर्विकारश्च शिशुर्मे जायतां द्रुतम् ।^२

भूताधिपंग-जन्य ज्वर के नाश तथा शीघ्र प्रसव के उपाय के लिए देवपूजन और मन्त्र का विनियोग किया गया है। इससे आयुर्वेद का तन्त्रशास्त्र से स्पष्ट सम्बन्ध सुविदित है।

१. महामृत्युंजय (शैवतन्त्रोक्त) मन्त्र इस प्रकार है :

ॐ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ।

उर्बारुक्षिम्ब बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

२. सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र, नवग्रहाकृतिविज्ञानीय नामक सैतीसवाँ अध्याय, श्लो. २१ ।

आयुर्वेद की उत्पत्ति वैदिक काल से ही मानी जाती है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार, समुद्र-मन्थन के समय आयुर्वेद के, रुग्जाल से जीर्ण जनता द्वारा प्रशंसित, आदिदेव धन्वन्तरि पीयूषपूर्ण कलश लिये प्रकट हुए थे। धन्वन्तरि के लिए नमस्कार-मन्त्र इस प्रकार है :

आविर्बभूव कलशं दधदर्णवाद्यः पीयूषपूर्णममृतत्वकृते सुराणाम् ।
रुग्जालजीर्णजनताजनितप्रशंसो धन्वन्तरिः स भगवान् भविकाय भूयात् ॥

शरीर, इन्द्रियाँ, मन और चेतन आत्मा, इन चारों के संयोग, अर्थात् जीवन को ही आयु कहते हैं और आयु-सम्बन्धी समस्त ज्ञान को आयुर्वेद। आयु ही शरीर का धारण करती है। इसलिए आयु-कामना ही आयुर्वेद का मूल लक्ष्य है। भावमिश्र ने 'भावप्रकाश' के मुखबन्ध में आयुर्वेद की निरुक्ति बतलाते हुए कहा है :

अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेति च ।
तस्मान्मुनिवरैरेष आयुर्वेद इति स्मृतः ॥

अर्थात्, आयुर्वेदज्ञ व्यक्ति स्वयं आयु को तो प्राप्त करता ही है, आयु के विषय में भी जानकारी प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त, भावमिश्र ने परम्परागत आयुर्वेद का लक्षण निरूपित करते हुए कहा है : आयुर्वेद वह शास्त्र है, जिसमें आयु, हित और अहित (पथ्यापथ्य), रोग का निदान तथा उसके शमन का उपाय निर्दिष्ट रहता है। श्लोक इस प्रकार है :

आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा ।
विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते ॥

आयुर्वेद अथर्ववेद की एक शाखा कही जाती है।^१ पौराणिक कथा के अनुसार, जगत्सृष्टा ब्रह्मा ने प्रजापति दक्ष को आयुर्वेद की प्रणाली का ज्ञान दिया। दक्ष ने दोनों अश्विनीकुमारों को इस कला एवं विज्ञान में पारंगत किया और इन दोनों से इन्द्र ने ज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र ने यह ज्ञान भारद्वाज को दिया और इनके आत्रेय, चरक, सुश्रुत आदि अनेक शिष्यों ने आयुर्वेद के ज्ञान का प्रचार-प्रसार किया। जिस वैद्य ने चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया है, वह यमकिकर कहा जाता है। इस सम्बन्ध में उक्ति प्रसिद्ध है :

सुश्रुतो न श्रुतो येन वाग्भटे न च वाग्भटः ।
चरको नालोकितो येन स वैद्यो यमकिकरः ॥

'वसुदेवहिण्डी' के रचयिता **संघदासगणी** ने अपने पूर्ववर्ती आयुर्वेदाचार्यों—चरक, सुश्रुत, वाग्भट एवं जैनागम के एतद्विषयक सन्दर्भों का विधिवत् अवलोकन किया था। जैनागमों में 'उत्तराध्ययन' तथा 'स्थानांग' में आयुर्वेद का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। 'स्थानांग' में आयुर्वेद के अष्टांग का वर्णन इस प्रकार है : "अष्टविधे आउवेदे पण्णत्ते, तं जहा—कुमारभिच्चे, कायतिगिच्छा, सालाई, सल्लहत्ता, जंगोली, भूतवेज्जा, खारतत्ते, रसायणे (८.२६)।" अर्थात्, कुमारभृत्यः १. बालकों का चिकित्साशास्त्र, २. कायचिकित्सा : ज्वर आदि रोगों का चिकित्साशास्त्र, ३. शालाक्य : कान, मुँह, नाक आदि के रोगों की शल्यचिकित्सा का शास्त्र, ४. शल्यहत्या : शल्यचिकित्सा का शास्त्र,

१. कोशकार आपटे ने आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद कहा है।

५. जंगोली, अगदतन्त्र : विषचिकित्सा का शास्त्र, ६. भूतविद्या : देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि से ग्रस्त व्यक्तियों की चिकित्सा का शास्त्र, ७. क्षारतन्त्र : वाजीकरणतन्त्र : वीर्यपुष्टि का शास्त्र और ८. रसायन : पारद आदि धातुओं द्वारा की जानेवाली चिकित्सा का शास्त्र । चरक, सुश्रुत आदि में इसी चिकित्साशास्त्र के विकास के रूप में अष्टांग आयुर्वेद की चर्चा उपलब्ध होती है । प्रचलित अष्टांग आयुर्वेद इस प्रकार है : शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र और वाजीकरण ।

‘स्थानांग’ में व्याधिचिकित्सा के चार पदों का उल्लेख इस प्रकार है : “चउच्छिहे वाही पण्णत्ते, तं जहा—वातिए, पित्तिए, सिंभिए, सण्णिवातिए।” (४.५१५) । अर्थात्, व्याधि चार प्रकार की होती है : १. वातिक : वायुविकार से होनेवाली, २. पित्तिक : पित्तविकार से होनेवाली, ३. श्लैष्मिक : कफविकार से होनेवाली और ४. सान्निपातिक : तीनों के मिश्रण (सन्निपात) से होनेवाली । इसके अतिरिक्त, ‘स्थानांग’ में चिकित्सा के अंग, चिकित्सकों के प्रकार आदि की भी चर्चा हुई है (४.५१६-५१७) ।

‘उत्तराध्ययनसूत्र’ में भी विद्या और मन्त्र के द्वारा चिकित्सा करनेवाले मन्त्र और ओषधियों के विशारद शास्त्रकुशल प्राणाचार्यों की चर्चा आई है । साथ ही, चतुष्पाद-चिकित्सा (वैद्य, रोगी, ओषधि और परिचारक) का भी उल्लेख हुआ है (२०.२२-२३) ।

इस प्रकार, यह सुनिश्चित है कि संघदासगणी के समय में एवं उनके पूर्व भी आयुर्वेद-विद्या का पूर्णतम विकास हो चुका था । कहना न होगा कि इस कालजयी कथाकार ने प्राचीन काल के उन्नत और विस्तारशील आयुर्वेद-विद्या के विभिन्न तत्त्वों का स्वानुकूल कथा के प्रसंग में जमकर उपयोग किया है । कुल मिलाकर, संघदासगणी ने ‘वसुदेवहिण्डी’ में इतने अधिक आयुर्वेदिक तत्त्वों का विनिवेश किया है कि यह प्रसंग एक स्वतन्त्र शोध का विषय हो गया है । यहाँ ‘वसुदेवहिण्डी’ में प्राप्त आयुर्वेद के कतिपय प्रसंग उपन्यस्त किये जा रहे हैं । ‘वसुदेवहिण्डी’ के एतद्विषयक यथाप्रस्तुत परिमित मूल्यांकन के पाठकों को स्थालीपुलाकन्याय से यह स्पष्ट हो जायगा कि संघदासगणी एक महान् कथाकार ही नहीं थे, अपितु वह भारतीय चिकित्साशास्त्र के भी मर्मज्ञ थे । क्योंकि, वह यह मानते थे कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि स्वस्थ शरीर और दीर्घ आयु से ही सम्भव है, इसलिए दीर्घ आयु और स्वास्थ्य के अभिलाषियों को आयुर्वेद का ज्ञान और उसके उपदेशों का पालन अवश्य करना चाहिए । इसीलिए, चिकित्साशास्त्रज्ञ कथाकार ने कहा है कि ‘बहुकुटुम्बी’ लोग स्वास्थ्य की बातों पर विशेष ध्यान देते हैं (गन्धर्वदत्तालम्ब : पृ. १३४) ।

आयुर्वेदशास्त्र में चिकित्सा-प्रक्रिया की सांगता के लिए मुख्यतः तीन आयामों का उपदेश किया गया है । प्रथम तो रोग का निदान है, द्वितीय है उसकी चिकित्सा और चिकित्सा के क्रम में प्रयुक्त होनेवाली विभिन्न दवाओं के निर्माण में व्यवहृत ओषधियों (जड़ी-बूटियों) के अभिज्ञान तथा उनके रस, गुण, वीर्य, विपाक आदि का परिज्ञान तीसरा आयाम है । ये तीनों आयाम परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं । इसलिए, आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति में वही वैद्य अधिक सफल हो सकता है, जो रोगों की समीचीन पहचान के साथ ही जड़ी-बूटियों के सम्बन्ध में पूर्ण परिज्ञान रखता है । जड़ी-बूटियों के पूर्ण परिज्ञान के बिना उत्तम ओषधि का निर्माण सम्भव नहीं है और उत्तम ओषधि के अभाव में चिकित्सा-कार्य में सफलता असम्भव ही है । रोग का

सही निदान और तदनुकूल ओषधि का प्रयोग एवं ओषधि के निर्माण का ज्ञान ही आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति की अपनी विशेषता है, जो उसे एलोपैथी से विशिष्ट बनाती है।

आयुर्वेद में, रोग के निदान के लिए माधवाचार्य-प्रणीत 'माधवनिदान' सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और द्रव्यों (जड़ी-बूटियों) के रस-गुण-वीर्य-विपाक आदि के अतिरिक्त उनकी उत्पत्ति, नाम, लक्षण, प्रयोग-विधि का वैविध्य, गुण, सेवन के योग्यायोग्य पात्र एवं मनुष्य की सृष्टि और उसकी शारीरिक संरचना (शरीर-संस्थान) आदि अनेक तथ्यों की जानकारी के लिए भावमिश्र-कृत 'भावप्रकाश' का पूर्वखण्ड एकमात्र आधिकारिक ग्रन्थ है, हालाँकि भावमिश्र का यह मूल्यवान् प्रकरण 'चरकसंहिता' और 'सुश्रुतसंहिता' पर आधारित है। चिकित्सा-विधि की दृष्टि से चरक, सुश्रुत और वाग्भट का उल्लेखनीय स्थान तो है ही, तत्परवर्ती 'भावप्रकाश' के उत्तरखण्ड में पूर्वपरम्परागत रोगचिकित्सा की ततोऽधिक विशद और विकसित प्रणाली का सम्यग्दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त, काष्ठौषधियों (जड़ी-बूटियों) से बन्नेवाली दवाओं के नुस्खे के खयाल से 'शार्ङ्गधर-संहिता' और 'भैषज्यरत्नावली' ये दोनों पार्यान्तिक कृतियाँ मानी जाती हैं फिर रस-रसायन के निर्माण की दृष्टि से 'रसेन्द्रसारसंग्रह', 'रसतरंगिणी', 'रसरत्नसमुच्चय', 'रसार्णव' आदि ग्रन्थ पांक्त्य हैं। 'वसुदेवहिण्डी' में यथोपन्यस्त आयुर्वेदिक चिकित्साधिकार के उक्त तीनों आयामों का विनिवेश हुआ है।

चिकित्सा-कर्म में आयु की परीक्षा सर्वोपरि होती है। इसलिए, 'सुश्रुतसंहिता' में वैद्यों को आदेश दिया गया है कि वे प्रयत्नपूर्वक रोगी की आयु की परीक्षा करें। रोगी के दीर्घायु होने पर ही चिकित्सा सफल होती है।^१ इसलिए, चिकित्सा-कर्म में आयु की परीक्षा की परीक्षा चर्चा संधदासगणी ने भी की है। 'वसुदेवहिण्डी' के तृतीय गन्धर्वदत्तालम्ब में उल्लेख है कि वसुदेव जब चारुदत्त की संगीत-सभा में पहुँचे, तब उन्होंने सभा की भित्ति पर अंकित हस्तियुगल को अल्पायु बताया। तब सेठ ने उनसे पूछा : "क्या चित्रकर्म में भी आयु की परीक्षा होती है?" (सामी ! किं चित्तकम्मे वि आउपरिक्ख्वा अत्थि पृ. १२८) ? यहाँ 'अपि' शब्द के प्रयोग से यह व्यंजित होता है कि चिकित्साशास्त्र में आयु की परीक्षा तो है ही, चित्रकर्म में भी आयु की परीक्षा है, यही सेठ चारुदत्त के विस्मय का कारण है।

रोगी के दीर्घायु होने के अनेक प्रकार के लक्षण आयुर्वेद-ग्रन्थों में कहे गये हैं। 'भावप्रकाश' में उल्लेख है कि जो रोगी स्वाद और गन्ध को जानता है, वह दीर्घायु होता है। स्वाद और गन्ध जानने के कारण ही अमितगति विद्याधर ने अपने कपड़े और वस्त्र में गन्ध (इत्र) का प्रयोग किया था और उसी आधार पर चारुदत्त सेठ के साथी गोमुख ने विद्याधर के केश और वस्त्रों को सूँघकर उसके दीर्घायु होने की कल्पना की थी (इमे केसवत्थत्थाइणो गंधा दीहाउणो समुप्पण्णस्स, पृ. १३८)।

भोजन-प्रकरण :

आयुर्वेद में दिनचर्या का बड़ा महत्त्व है। दिनचर्या में भी भोजनविधि सर्वप्रमुख है। इसीलिए, 'अष्टांगहृदय' (वाग्भट) और 'भावप्रकाश' में भोजनविधि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। तदनुसार,

१. "आतुरमुपक्रममाणेन भिषजाऽऽयुरादावेव परीक्षितव्यम्।" - सूत्र, ३५।३।

संघदासगणी ने कथाप्रसंगवश भोजन-विधि को विशेष मूल्य दिया है और बताया है कि पाकशास्त्र चिकित्साशास्त्र के अधीन है। दसवें पुण्डालम्भ की कथा में इस बात का उल्लेख है कि वीणादत्त नन्द और सुनन्द नाम के दो रसोइयों को ले आया। इन दोनों के पिता राजा सुषेण के रसोइया रह चुके थे। इन्होंने वसुदेव के लिए जो भोजन तैयार किया था, वह आयुर्वेदशास्त्र के अनुकूल सुन्दर वर्ण, रस और गन्ध से सम्पन्न; हित, मित और पथ्य था। ये दोनों रसोइये पाकशास्त्री तो थे ही, चिकित्साशास्त्री भी थे। वसुदेव को उन्होंने अपने परिचय के क्रम में बताया था कि चूँकि पाकशास्त्र चिकित्साशास्त्र के अधीन है ("तिगिच्छायत्तं सूयं ति"; पृ. २११), इसलिए, उन्होंने पाकशास्त्र सीखने के सिलसिले में चिकित्साशास्त्र भी सीखा। वाग्भट ने भी भोजन की व्यवस्था में हित, मित और पथ्य आहार की महत्ता को स्वीकार किया है :

काले सात्त्वं शुचि हितं स्निग्धोष्णं लघु तन्मनाः ।

षड्रसं मधुरप्रायं नातिद्रुतविलम्बितम् ॥

(अष्टांगहृदय : सूत्रस्थान : ८.३५)

संघदासगणी द्वारा वर्णित आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त प्राचीन आयुर्वेदशास्त्र का अनुसरण तो करते हैं, लेकिन उसके उपस्थापन में आयुर्वेद के सिद्धान्तकार की अपेक्षा अधिकांशतः उनका कथाकार का रूप ही उभरकर सामने आता है। जैसे, उन्होंने आयुर्वेद के भोजनविषयक सर्वसम्मत दो सिद्धान्त-सूत्रों को उपस्थित किया है : समय पर भोजन आरोग्यवर्द्धक होता है और मन या चित्त के अस्वस्थ रहने पर भोजन में अरुचि हो जाती है ("काले भुक्तं आरोग्यं करेड्"; "वक्त्रिखल्ल-मत्तिस्स न रोयए भोयणं"; पृ. २१३); किन्तु इस विषय को रत्यात्मक और रोमांसप्रधान परिवेश में, भूतचिकित्सक के हाथों सौंप देने से उसका मनोरंजक कथातत्त्व ही प्रधान हो गया है और आयुर्वेद का सिद्धान्त गौण पड़ गया है। वसुदेव की स्वीयोक्ति में ही इस सन्दर्भ को देखें :

"उत्सव समाप्त होते ही मैं बीमार पड़ गया। नन्द-सुनन्द रसोइये ने भोजन तैयार किया और उनके हर तरह से आग्रह करने पर भी मुझे भोजन लेने की इच्छा नहीं हुई। अंशुमान् ने पूछा : 'आपको क्या शारीरिक पीड़ा हो रही है ? आप भोजन नहीं करना चाहते हैं, तो पथ्य आपके लिए ले आया हूँ।' मैंने कहा : 'जिन-जागरोत्सव में जिस (पुरुषवेशधारी) स्त्री के साथ मैं संगीत प्रस्तुत कर रहा था, मेरा हृदय उसी के साथ चला गया। उसके साथ समागम की आतुरता की मनःस्थिति के कारण मुझे भोजन में रुचि नहीं रह गई है।"

मेरी यह बात सुनकर अंशुमान् बोला : "आर्यज्येष्ठ ! वह तो राजा है (स्त्री नहीं), और आप दूसरे के वश में होकर कैसी अयुक्त बात करते हैं ? लगता है, किसी भूत से आप आविष्ट हो गये हैं।" यह कहकर वह बाहर निकल गया। फिर थोड़ी ही देर में अपने साथ कतिपय भूतचिकित्सकों को लेकर आया और रोते हुए उसने उनसे कहा कि 'आर्यज्येष्ठ के शरीर में किसी प्रकार की पीड़ा न हो, ऐसी दयापूर्ण चिकित्सा का उपाय आप सोचें।'

भूतचिकित्सकों ने अंशुमान् से कहा : "राजपुत्र ! अकारण आप दुःखी मत हों। हम जो होम, अंजन, पान आदि की क्रिया करेंगे, उसे आपके आर्यज्येष्ठ, वहाँ रहकर भी, नहीं देख सकेंगे।" मैंने अंशुमान् और भूतचिकित्सकों के बीच चलनेवाली यह बातचीत सुनी, तो अंशुमान् को डौटा,

धमकाया और डराया भी। तब अंशुमान् ने मेरे अस्वस्थ होने की सूचना राजा को दी। राजा तुरन्त मेरे पास पहुँचा। प्रतिहारी ने राजा के आने की सूचना दी। राजा (पुरुष-वेश में स्त्री) मेरे बिछावन के निकट ही अपने आसन पर बैठा। उसने अपने कमल-कोमल परम सुकुमार हाथों से मेरे सिर, ललाट और वक्षःस्थल का स्पर्श किया और फिर वह बोला : “शरीर गरम तो नहीं है। निर्दोष भोजन ले सकते हैं। यह कहकर राजा ने नन्द-सुनन्द को आदेश दिया : ‘भोजन ले आओ, समय पर किया गया भोजन आरोग्यदायक होता है’।”

इस कथांश में आयुर्वेद का एक और सिद्धान्तसूत्र निहित है : “ज्वरी व्यक्ति का शरीर गरम न रहे, तो वह निर्दोष भोजन ले सकता है” (“ण म्हे उद्धा सरीरस्स, निदोसं भोतव्वं भोयणं ति”; पृ. २१३)। ‘सुश्रुतसंहिता’ में भी कहा गया है कि ज्वरी व्यक्ति को, ज्वरवेग के शान्त होने पर अतिशय लघु भोजन मात्रानुसार देना चाहिए, अन्यथा वह ज्वरवेग को बढ़ा देता है :

सर्वज्वरेषु सुलघु मात्रावद्भोजनं हितम्।

वेगापायेऽन्यथा तद्धि ज्वरवेगाभिवर्द्धनम्॥

(उत्तरतन्त्र : ३९.१४५-१४६)

किन्तु, इस कथा-प्रसंग से यह बात भी स्पष्ट होती है कि चरक और सुश्रुत के समय में यथाप्रथित भूतचिकित्सा की विधि का संघदासगणी के समय में, शिक्षित-समुदाय के बीच अवमूल्यन हो चुका था, तभी तो वसुदेव ने भूतचिकित्सकों से बातचीत करते हुए अंशुमान् को न केवल डाँटा, अपितु डराया और धमकाया भी। यद्यपि, राजकुल में भूतचिकित्सा की प्रथा साग्रह प्रचलित थी। केतुमतीलम्ब में कथा है कि वसन्तपुर के राजा जितशत्रु की पत्नी इन्द्रसेना, जो मगधराज जरासन्ध की पुत्री थी, जब शूरसेन नामक परिव्राजक के वशीकरण में पड़ गई, तब राजा ने उस परिव्राजक का वध करवा दिया। रानी परिव्राजक के वियोग में आकुल रहने लगी और उसी स्थिति में पिशाच से आविष्ट हो गई। भूताभिषंग^१ के विशेषज्ञ चिकित्सक बन्धन, रुच्यन, यज्ञ, धूनी द्वारा अवपीडन, ओषधि-पान आदि क्रियाओं से भी प्रकृतिस्थ नहीं कर सके। अन्त में, जरासन्ध के कहने पर जितशत्रु ने रानी इन्द्रसेना को आश्रम में रखवा दिया, जहाँ वह वसुदेव द्वारा की गई चिकित्सा से पिशाचमुक्त हो गई (पृ. ३४८-३४९)।

इस कथा-प्रसंग से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि जो वसुदेव अपने प्रति भूत-चिकित्सा के लिए अंशुमान् द्वारा किये गये आयोजन पर उसे डाँटते, डराते और धमकाते हैं, वही वह स्वयं भूतविद्या के न केवल विशेषज्ञ हैं, अपितु पिशाचाविष्ट रानी को अपनी चिकित्सा से प्रकृतिस्थ भी कर देते हैं। किन्तु, वसुदेव के चरित में दो विरोधी आयामों के विन्यास का गूढार्थ, पूरे कथा-प्रसंग को देखने से, स्पष्ट हो जाता है। वसुदेव भूतविद्या के ज्ञाता होते हुए भी उसे जल्दी प्रयोग में नहीं लाना चाहते थे और वह स्वयं वस्तुतः भूताविष्ट तो हुए नहीं थे, अपितु कामदशा की स्थिति-विशेष (अरति) में पहुँचे हुए थे, इसीलिए उन्होंने गलत निदान करनेवाले अंशुमान् को डाँटा और डराया-धमकाया। और फिर, उन्होंने जो भूतचिकित्सा की, वह उनकी सदाचारमूलक विवशता थी। आश्रम में तापसों ने रानी इन्द्रसेना के कष्ट को देखकर उनसे आग्रह किया था : “आप तो बड़े

१. ‘माधवनिदान’ के अनुसार, भूताभिषंगज्वर से बी मनुष्य आक्रान्त होते हैं। हास्य, रोदन, कम्पन आदि इसके लक्षण हैं। अंगरेजी में इसे ‘फीवर ऑफ़ इविल स्मिट्स’ कहते हैं।

प्रभावशाली दिखाई पड़ते हैं, यदि आपके पास कोई शक्ति-विशेष हो, तो इसे (रानी को) पिशाच से मुक्त कराइए, ताकि वह बेचारी पुनः सुखमय जीवन प्राप्त करे और इस प्रकार आप ऋषियों और राजा के भी प्रियकारी हों।”

स्पष्ट है कि यहाँ वसुदेव का व्यक्तित्व एक महातान्त्रिक चिकित्सक के रूप में उभरता है। आज भी ‘आत्माराम’ कोटि के बड़े-बड़े तान्त्रिक वर्तमान हैं, जो तन्त्रविद्या या भूतविद्या के पारंगत होते हुए भी उसे व्यवहार-जगत् में प्रकट नहीं करते। ऐसे आधुनिक महान् तान्त्रिकों में पुण्यश्लोक महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का नाम सादर उल्लेखनीय है। भारतीय तान्त्रिक साधना में इस बात का उल्लेख है कि तन्त्रविद्या के सिद्ध हो जाने पर वह मातृस्वरूपा विद्या अनन्त प्रकार के ऐश्वर्य एवं विविध विभूतियाँ व्यष्टिगत आत्मस्वरूप को देने के लिए तैयार हो जाती है, किन्तु इन ऐश्वर्यों की कामना करने एवं इनको स्वीकार कर लेने पर महायोगी या महातान्त्रिक समष्टि-रूप में जीवों के साथ सम्बन्ध रखकर उनके समष्टि-प्रेम को नहीं पा सकता।^१ अतएव, इसी महाभावदशा की स्थिति में वसुदेव ऐश्वर्यों का त्याग करके जगत्कल्याण के लिए अखण्ड महायोग-साधना में प्रवृत्त हुए थे। इससे वसुदेव द्वारा आत्मजगत् या सैद्धान्तिक जगत् में भूतविद्या का अधिकाधिक मूल्यन और परजगत् या व्यवहार-जगत् में उसका ततोऽधिक अवमूल्यन स्पष्टतया सूचित होता है। अस्तु;

संघदासगणी ने भोजन के ही प्रसंग में शास्त्रोपदिष्ट भोजन के विविध प्रकारों का भी उल्लेख किया है। आयुर्वेदशास्त्र में भोजन के छह प्रकार निर्दिष्ट हैं : भक्ष्य, भोज्य, चर्व्य, चोष्य या चूष्य, लेह्य और पेय। पूड़ी, लड्डू, मिठाई आदि भक्ष्य हैं; भात, दाल आदि भोज्य कहे गये हैं; चूड़ा, चना आदि चर्व्य हैं, तो ईख, दाडिम आदि चूष्य; पुनः पानक, शर्करोदक आदि पेय हैं, तो रसाला (सिखरन), चटनी, खटमिठ्ठी आदि लेह्य माने गये हैं। रक्तवतीलम्भ (पृ. २१८) की कथा में उल्लेख है कि वसुदेव जब लशुनिका के आश्रयदाता व्यापारी के घर पर गये, तब वहाँ उन्हें षड्विध भोजन से सम्मानित किया गया। भोजन सोने और चाँदी के बरतनों में परोसा गया था। आयुर्वेदिक दृष्टि से सोने के बरतन में भोजन दोषनाशक पथ्य और दृष्टिवर्द्धक माना गया है और चाँदी के बरतन में भोजन नेत्रहितकारक एवं पित्त-कफ-वात-नाशक कहा गया है।^२ वसुदेव के लिए यथानिर्दिष्ट सकुशल उपायों से सिद्ध की गई भोजन-सामग्री परोसी गई थी : जैसे सिंहकेसर मिठाई, मूँग-उड़द के लड्डू आदि भक्ष्य; मुलायम स्वच्छ कलम चावल का भात (आदि भोज्य); राजाओं के लिए आस्वाद्य लेह्य पदार्थ; जिह्वा को प्रसन्न करनेवाले, विविध वस्तुओं से तैयार किये गये पेय आदि। इससे स्पष्ट है कि उस समय के पाकशास्त्री चिकित्साशास्त्र के अनुकूल ही भोजन तैयार करते थे। कलम चावल का भोजन पथ्य और सुपरिणामी माना जाता था (नीलयशालम्भ : पृ. १८०)।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेख है कि घी आदि चिकने पदार्थों से बने भोजन की चिकनई दूर करने के लिए हाथ और मुँह को उड़द के चूर्ण से धोया जाता था और भोजन के बाद मुँह की शुद्धि (मुखशुद्धि) के लिए फल खाने का विधान था। मुखसुगन्धि के लिए ताम्बूल ग्रहण

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : ‘परिषद्-पत्रिका’ : म. म. पं. गोपीनाथ कविराज-स्मृतितीर्थ, वर्ष १८, अंक २, जुलाई, १९७८ ई., पृ. ५९।

२. द्रष्टव्य : भावप्रकाश, दिनचर्यादिप्रकरण, श्लोक १२४।

करने की भी प्रथा थी। पाकशास्त्री द्वारा तैयार किये गये भोजन का वर्णन स्वयं वसुदेव करते हैं: 'भोजन तैयार हो गया है', इस प्रकार कहते हुए पाकशास्त्री उपस्थित हुए। तब धाई ने कन्या से कहा: "बेटी! तुम भी जल्दी नहा लो। अब भोजन करने के बाद कुमार को देखोगी।" धाई की बात मानकर प्रभावती चली गई। मैं भी सोना, रत्न और मणि के पात्रों में लाई गई भोजन-सामग्री का आनन्द (आस्वाद) लेने लगा। भोजन चतुर चित्रकार के चित्रकर्म की भाँति मनोहर था, संगीतशास्त्र के अनुकूल गाये गये गीत के समान उसमें विविध वर्ण थे, बहुश्रुत कवि द्वारा रचित 'प्रकरण' के समान उसमें अनेक रस थे, प्रियजन की सम्मुख-दृष्टि की भाँति वह स्निग्ध था, सर्वोषधि के समान तथा मिलाकर तैयार किये गये सुगन्ध द्रव्य के समान वह सुगन्धपूर्ण था, साथ ही जिनेन्द्र के वचन के समान हितकारी भी था। खाने के बाद जब मैं शान्त हुआ, तब मैंने ताम्बूल ग्रहण किया (प्रभावतीलम्भ : पृ. ३५२)।"

भोजन के बाद ताम्बूल-ग्रहण का उपदेश 'भावप्रकाश' में भी उपलब्ध होता है। रतिकाल में, सोकर उठने पर, स्नान और भोजन के बाद, वमन करने के बाद, युद्ध एवं राजाओं और विद्वानों की सभा में ताम्बूल-चर्वण का आदेश भावमिश्र ने किया है। ताम्बूल को 'सुरपूजित' और 'स्वर्गदुर्लभ' कहा गया है। इसके अनेक गुण और ग्रहण की विधियाँ आयुर्वेद में वर्णित हैं।^१

'भावप्रकाश निघण्टु' में ताम्बूल का गुणवाचक एक मनोरम श्लोक है :

ताम्बूलं कटुतिक्तमुष्णामधुरं क्षारं कषायान्वितं
वातघ्नं कफनाशनं कृमिहरं दौर्गन्ध्यदोषापहम् ।
स्त्रीसम्भाषणभूषणं धृतिकरं कामाग्निसन्दीपनं
ताम्बूलस्य सखे त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽप्यमी दुर्लभाः ॥

सत्यनारायण-पूजा के समय ताम्बूल-अर्पण का जो मन्त्र है, उसमें उसे 'सुरपूजित' कहा गया है :

लवङ्गकर्पूरयुतं ताम्बूलं सुरपूजितम् ।
प्रीत्या गृहाण देवेश मम सौख्यं विवर्द्धय ॥

कहना न होगा कि न केवल भारतीय चिकित्साशास्त्र में, अपितु सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में, ताम्बूल भोजनोत्तर मुखसुगन्धि का ही नहीं, अपितु श्रेष्ठतर सम्मान का भी प्रतीक है। कन्नौज-नरेश से उनकी राजसभा में पान के दो बीड़े एवं बैठने के आसन प्राप्त करना बड़े सम्मान की बात मानी जाती थी: 'ताम्बूलद्वयभासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।'

गर्भप्रकरण :

चिकित्साशास्त्र में शरीरी ही अधिकृत है, इसलिए शरीरी की उत्पत्ति के परिज्ञान के निमित्त आयुर्वेद में 'गर्भप्रकरण' नाम से स्वतन्त्र अध्याय की ही सृष्टि की गई है। महर्षि अग्निवेश-प्रणीत 'चरकसंहिता' तथा वाग्भट-कृत 'अष्टांगहृदय' के शरीरस्थान में इस सन्दर्भ को 'गर्भावक्रान्ति'

नामक अध्याय में उपस्थित किया गया है और भावमिश्र ने 'भावप्रकाश' में इसे 'गर्भप्रकरण' और 'बालप्रकरण' के अन्तर्गत रखा है। 'भावप्रकाश' चूँकि परवर्तीकालीन आयुर्वेद-ग्रन्थ है, इसलिए प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर निर्मित होते हुए भी इसमें तद्विषयक समसामयिक विज्ञान के विकास का भी लेखा-जोखा समाहित है।

गर्भ की उत्पत्ति-भूमि रजस्वला स्त्री होती है और कामपूर्वक मिथुनों का संयोग होने पर स्त्री के गर्भाशय में शुद्ध शोणित और शुक्र के मेल से गर्भ का उपक्रम होता है और वह जब उत्पन्न होता है, तब बालक कहलाता है। जैनों के द्वादश अंगों में तृतीय 'स्थानांग' ('ठाण') के पाँचवें स्थान के सूत्र १०३-१०६ में 'गन्धधरणपद' शीर्षक से गर्भधारण के सम्बन्ध में बड़ी विशदता से विचार किया गया है। 'स्थानांग' के उक्त सन्दर्भ में बताया गया है कि पुरुष के सहवास के बिना भी स्त्री गर्भ धारण कर सकती है। इसके पाँच कारण हैं : १. पुरुष-वीर्य से संसृष्ट स्थान को गुह्य प्रदेश से आक्रान्त कर बैठी हुई स्त्री के योनिदेश में शुक्रपुद्गलों का आकर्षण होने पर; २. शुक्र-पुद्गलों से संसृष्ट वस्त्र के योनिदेश में अनुप्रविष्ट हो जाने पर; ३. पुत्रार्थिनी होकर स्वयं अपने ही हाथों से शुक्र-पुद्गलों को योनिदेश में अनुप्रविष्ट कर देने पर; ४. दूसरों के द्वारा शुक्र-पुद्गलों के योनिदेश में अनुप्रविष्ट किये जाने पर और ५. नदी, तालाब आदि में स्नान करती हुई स्त्री के योनिदेश में शुक्रपुद्गलों के अनुप्रविष्ट हो जाने पर।

उक्त पाँच कारणों में द्वितीय कारण से— शुक्रपुद्गलों से संसृष्ट वस्त्र के योनिदेश में अनुप्रविष्ट हो जाने पर गर्भ की उत्पत्ति की एक कथा 'वसुदेवहिण्डी' के प्रियंगुसुन्दरीलम्भ (पृ. २९८) में आई है। एक बार राजा चारुचन्द्र अपनी रानी कामपताका के साथ चम्पानगरी के एक उद्यान में ठहरा था। रानी के सैनिकों ने फल-फूल के निमित्त पूरे उद्यान को लूट लिया और उसे ध्वस्त कर दिया। इससे उद्यानपति चण्डकौशिक ने रुष्ट होकर राजा को शाप दे दिया : "दुराचारी ! चूँकि तुमने मेरे उद्यान को लूट लिया और उसे ध्वस्त कर दिया, इसलिए मैंथुन-सम्प्राप्ति के समय तुम्हारे माथे के सौ टुकड़े हो जायेंगे, जिससे तुम्हारी मृत्यु हो जायगी।" यह सुनकर राजा को भय हो आया और वह उद्यान से निकलकर नन्दनवन चला गया। वहाँ राज्य का परित्याग करके उसने तपस्वी की रीति से व्रज्या ले ली और रानी एवं मंजुला धाई के साथ रहकर वह तपश्चर्या करने लगा।

एक बार किसी दिन प्रहर्षित राजा के वल्कल-वस्त्र में शुक्रपुद्गल (शुक्रकीट) आ गया। देवी कामपताका ने उसी वल्कलवस्त्र को पहन लिया। फलतः, वे शुक्रपुद्गल रानी की योनि में प्रवेश कर गये। रानी ने यथासमय पुत्री प्रसव की। उसका नाम ऋषिदत्ता रखा गया। इस प्रसंग से स्पष्ट है कि संघदासगणी ने अपनी कथा-कल्पना के सन्दर्भ में 'स्थानांग' को प्रमुख रूप से अपना आधारदर्श बनाया है।

आयुर्वेद एक ओर यदि ज्योतिष और तन्त्रविद्या से जुड़ा हुआ है, तो दूसरी ओर, गर्भावतरण-प्रसंग में, वह दर्शन (सांख्यदर्शन)-शास्त्र का भी अनुगमन करता है, जब वह यह कहता है कि सूर्यकिरण और सूर्यकान्त मणि के संयोग से जिस प्रकार आग पैदा होती है, उसी प्रकार शुक्र और रज के संयोग से जीव उत्पन्न होता है। वह अनादि अनन्त आत्मा जीव रूप में कैसे उत्पन्न

होती है, यह कहा नहीं जा सकता। इस चिदानन्दैकरूप जीव को मन से भी नहीं जाना जा सकता है। भावमिश्र ने कहा है:

आत्माऽनादिरनन्तश्चाव्यक्तो वक्तुं न शक्यते ।

चिदानन्दैकरूपोऽयं मनसाऽपि न गम्यते ॥

(भावप्रकाश : गर्भप्रकरण : श्लो. ३५)

इस सन्दर्भ में महर्षि सुश्रुत कहते हैं कि स्त्री और पुरुष के संयोग के समय वायु शरीर से तेज को उत्पन्न करती है। यह तेज वायु के साथ मिलकर शुक्र को क्षरित करता है। क्षरित शुक्र योनि में पहुँचकर आर्तव के साथ मिल जाता है। इसके बाद अग्नीषोमात्मक सम्बन्ध से बना गर्भ गर्भाशय में पहुँचता है। इसके साथ में क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्रष्टा, धाता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता पुरुष स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादि पर्यायवाचक शब्दों से वाच्य अक्षय, अचिन्त्य, भूतात्मा अव्यय-रूप आत्मा सूक्ष्म इन्द्रियों या लिंगशरीर के साथ, अपने कर्मों के अनुसार सत्त्व, रज, तम तथा दैव, आसुर और पशु भावों से युक्त वायु से प्रेरित होकर, गर्भाशय में प्रविष्ट होकर स्थिति करता है।^१ 'प्रश्नोपनिषद्' में प्रजाकामी प्रजापति द्वारा सृष्टि की बात कही गई है : "तस्मै स होवाच प्रजाकामो यै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयि च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति (१. ४) ।"

जिस प्रकार ऋतुकाल, क्षेत्र (खेत), अम्बु (जल) और बीज के संयोग से अंकुर उत्पन्न होता है, उसी प्रकार विधिपूर्वक ऋतुकाल, क्षेत्र (गर्भाशय), अम्बु (अन्नरस) और बीज (शुक्र-शोणित) के परस्पर मिलने से निश्चित रूप में गर्भ रहता है (सुश्रुत : शरीरस्थान, श्लोक ३३)।

निष्कर्ष यह कि शुक्र सिर से नख तक के सम्पूर्ण अवयवों का सार है। इसमें सम्पूर्ण शरीर के अंग-प्रत्यंग के प्रतिनिधि मिले रहते हैं। इस शुक्र के साथ आत्मा भी अवतरण करती है। आत्मा के साथ पूर्वजन्मकृत कर्म भी शरीर में अवतर्ण होता है। इसीलिए, पूर्वजन्म में निरन्तर शास्त्राभ्यास के कारण अन्तःकरण को पवित्र किये हुए लोग वर्तमान जन्म में सत्त्वबहुल होते हैं और इन पुरुषों को अपने पूर्वजन्म की जाति का स्मरण रहता है। जिन कर्मों की प्रेरणा से मनुष्य यह शरीर धारण करता है तथा पूर्वजन्म में जिन कर्मों का उसे अभ्यास रहता है, वह उन्हीं कर्मों और गुणों को इस जन्म में पाता है।^२ सुश्रुत के इस मत का समर्थन 'श्रीमद्भगवद्गीता' के इस श्लोक से भी होता है :

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ (६. ४४)

१. सुश्रुतसंहिता, शरीरस्थान, ३।४।

१. भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः।

भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरन्तः॥

कर्मण आचोदिता येन तदाप्नोति पुनर्भवे।

अभ्यस्ताः पूर्वदेहेषु तानेव भजते गुणान्॥

कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं या समस्त जैनकथाओं की मूल भावधारा का विस्तार पूर्वजन्म और जातिस्मरण की अवधारणा से हुआ है। इसलिए, गर्भ में अवतरित होनेवाले तीर्थंकर या विशिष्ट विद्याधर या भूपतिविशेष को पूर्वजन्म का स्मरण बना रहता है।

आयुर्वेदज्ञों द्वारा गर्भ में प्रविष्ट जीवात्मा के गर्भवासकाल की अवधि सामान्यतः नौ महीने की मानी जाती है। इस अवधि में जीव सर्वांगसम्पन्न और संप्राण हो जाता है। सुश्रुत ने नौ महीने तक गर्भवासकाल माना है। भावमिश्र ने नवें, दसवें और विकृति की स्थिति में ग्यारहवें और बारहवें महीने में भी स्त्रियों द्वारा गर्भ के प्रसव की बात लिखी है। संधदासगणी ने भी तीर्थंकरों के गर्भवासकाल का उल्लेख किया है। यों सामान्यतया उन्होंने 'समय पूर्ण होने पर' या 'समय प्राप्त होने पर' प्रसव की बात कही है। शान्तिनाथस्वामी ने नौ मास और साढ़े सात रात-दिन बीतने पर जन्म लिया था। (पृ. ३४०)। अरजिन स्वामी ने नौ महीना बीतने के बाद दसवें महीने के प्रारम्भ में जन्म ग्रहण किया था (पृ. ३४६)। ऋषभस्वामी की प्रसवोत्तर उपचार-विधि ने तो एक मिथक का ही रूप ले लिया है।

संधदासगणी ने अनुकूल सन्तान (पुत्र) की प्राप्ति के निमित्त, आराधना के लिए नैगमेषी या हरिनैगमेषी^१ देव की जो कल्पना की है, वह आयुर्वेदोक्त बालग्रह नैगमेष या नैगमेष से तुलनीय है। सत्यभामा ने प्रद्युम्न जैसी वर्चस्वी पुत्र-सन्तति की प्राप्ति के लिए कृष्ण से जब अनुरोध किया, तब कृष्ण ने हरिनैगमेषी (नैगमेषी) की आराधना की थी। देव ने प्रसन्न होकर कृष्ण से कहा था कि जिस देवी के साथ आपका पहले समागम होगा, उसी के प्रद्युम्न जैसा पुत्र होगा। किन्तु, इसमें जाम्बवती ने बाजी मार ली और उसे ही प्रद्युम्न के समान तेजस्वी शाम्ब नामक पुत्र प्राप्त हुआ। (पीठिका, पृ. ९७)

सुश्रु ने बालक की रक्षा के लिए नैगमेष देव की रूप-रचना और उसकी पूजा-प्रार्थना का उपदेश किया है और पूजा-विधान में बताया है कि बच्चे को बरगद के वृक्ष के नीचे स्नान कराये। बरगद के वृक्ष के नीचे षष्ठी तिथि को बलि निवेदित करे और इस प्रकार प्रार्थना करे : "बकरे के समान मुख, चंचल आँख और भौंहोंवाले, कामरूप, महायशस्वी ('महायशः' की जगह 'महाशयाः' पाठान्तर की कल्पना की जाती है, तदनुसार महान् आशयवाले, यानी अतिशय उदारहृदय) बालकों के पिता नैगमेष देव बालक की रक्षा करें।"^२

आसन्नप्रसवा के उपचार की विधि में भावमिश्र ने लिखा है कि आसन्नप्रसवा नारी को, उसके सारे शरीर में तेल चुपड़कर गरम जल से स्नान करा देना चाहिए और फिर मात्रानुसार घी-मिश्रित कुनकुना यवागू उसे पिलाना चाहिए।^३ इसी आयुर्वेदोक्त मत के अनुसार संधदासगणी ने पिप्पलाद की उत्पत्ति की कथा (पृ. १५२) के प्रसंग में लिखा है कि आसन्नप्रसवा सुलसा के प्रसव का समय निकट जानकर नन्दा घी लिये हुए वहाँ पहुँची। एक दूसरे प्रसंग में संधदासगणी ने यवागू-पान

१. हरिनैगमेषी देव ने ही भगवान् महावीर को गर्भावस्था में ब्राह्मणी के गर्भ से क्षत्रिया के गर्भ में अन्तरित किया था, ऐसी जैनश्रुति है। 'स्थानांग' (१०.१६०) ने इसे दस महाद्वयों में परिगणित किया है।

२. अज्ञाननबालाक्षिपू : कामरूपी महायशः।

बालं बालपिता देवो नैगमेषोऽभिरक्षतु ॥ —उत्तरतन्त्र, ३६.११

३. भावप्रकाश, गर्भप्रकरण, श्लो. ३४४

का भी उल्लेख किया है। आयुर्वेद-ग्रन्थों में चावल या जौ के गाढ़े माँड़ को या माँड़ की काँजी को 'यवागू' कहा गया है। सुश्रुत के अनुसार, यवागू अधिक पतला नहीं होना चाहिए। ('यवागू-विरलद्रव्य', सूत्रस्थान, श्लो. ३४५)। यवागू हृदय के लिए प्रिय, तृप्तिकारक और बलवीर्यवर्द्धक होता है (तत्रैव, श्लो. ३४३)। इसीलिए, संघदासगणी ने थकान मिटाने के क्रम में यवागू-पान का उल्लेख किया है। धनार्थी चारुदत्त भटकता हुआ जब त्रिदण्डी के पास पहुँचा है, तब उसके नौकर ने चारुदत्त को स्नान कराकर यवागू पीने के लिए दिया है। (पृ. १४६)।

जिस स्त्री को पुत्र नहीं होता, उसे संघदासगणी ने 'उच्चप्रसवा' कहा है। इसे सुश्रुत के शब्दों में 'निवृत्तप्रसवा' कहा जा सकता है। हालांकि, परिभाषा के अनुसार, दोनों दो प्रकार की वन्ध्याएँ हैं। संघदासगणी ने 'उच्चप्रसवा' का प्रयोग विशुद्ध वन्ध्या के अर्थ में ही किया है। चारुदत्त की माता उच्चप्रसवा, यानी वन्ध्या थी। उसे पुत्र नहीं होता था। अन्त में चारुमुनि के वरदानकल्प आशीर्वाद से उसे पुत्र चारुदत्त प्राप्त हुआ। किन्तु सुश्रुत ने 'निवृत्तप्रसवा' उस स्त्री को कहा है, जो पूर्वसन्तान के बाद लगातार छह वर्षों तक पुत्र प्रसव न करे। छह वर्ष के बाद पुत्र होने पर वह अल्पायु होता है।^१ वन्ध्या के अर्थ में 'उच्चप्रसवा' शब्द संघदासगणी का स्वकल्पित है या चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि प्राचीन आयुर्वेद-ग्रन्थों से इतर किसी प्राचीन आयुर्वेद-संहिता से लिया गया है।

चिकित्सकों ने आपन्नसत्त्वा (गर्भिणी) के लिए मधुरप्राय, स्निग्ध, हृदय के लिए प्रिय, पतला और हल्का, अच्छी तरह से तैयार किया गया एवं अग्निदीपक भोजन का विधान किया है।^२ इसीलिए संघदासगणी ने गर्भवती पुण्ड्रा को चिकित्सकोपदिष्ट भोजन के प्रति तत्पर प्रदर्शित किया है, साथ ही उसके दोहद को सदा 'अविमानित' बताया है। 'सुश्रुतसंहिता' में कहा गया है कि गर्भवती स्त्री इन्द्रियों के जिस-जिस विषय का भोग करना चाहती है, वैद्य को चाहिए कि गर्भ-हानि के भय से उन-उन पदार्थों को लाकर गर्भिणी को दे। गर्भवती स्त्री की इच्छा के पूर्ण होने पर गुणशाली पुत्र उत्पन्न होता है और इसके विपरीत गर्भ या गर्भवती में विकार आ जाता है। गर्भवती स्त्री के जिन-जिन विषयों की पूर्ति नहीं होती, गर्भ को उन्हीं-उन्हीं विषयों में पीड़ा होती है, उसकी वही-वही इन्द्रिय विकृत हो जाती है।^३ गर्भवती की इच्छा (दोहद) के अनुसार ही तद्विषयक स्वभाववाली सन्तान उत्पन्न होती है। इसीलिए, संघदासगणी ने अपनी समस्त गर्भवती कथापात्रियों के लिए उनके दोहद की पूर्ति की इच्छा की बराबर चर्चा की है। और, दोहद के अनुसार ही सन्तान उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। कंस के पिता उग्रसेन की पत्नी, यानी कंस की माता को गर्भ के तीसरे महीने में राजा के उदर की बलि का मांस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ था। (देवकीलम्भ, पृ. ३६८) प्रत्येक गर्भिणी का दोहद भी अपने-आप में प्रायः विचित्र होता है। दोहद भी दैवयोग से (प्राक्तन कर्मों के कारण) ही उत्पन्न होता है।

१. निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानाया नार्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति।

— शारीरस्थान, १०.६६

२. भावप्रकाश, गर्भप्रकरण, श्लो. ३३१

३. शारीरस्थान, अ. ३, श्लो. १९-२१

शल्यचिकित्सा-प्रकरण :

‘चरकसंहिता,’ ‘सुश्रुतसंहिता’ और ‘अष्टांगहृदय’, इन तीनों प्राचीन आयुर्वेद-ग्रन्थों में शल्य-चिकित्सा-विधि, अर्थात् शस्त्र और अस्त्रकर्म का विधिवत् उल्लेख हुआ है, किन्तु शल्यचिकित्सा के सांगोपांग उपदेश की दृष्टि से सुश्रुतसंहिता की पार्यन्तिकता प्रसिद्ध है। वर्तमान समय में जो ‘सुश्रुतसंहिता’ उपलब्ध है, उसपर संस्कृत में केवल **डल्हणाचार्य** की टीका मिलती है। उसमें उन्होंने **जेज्जद**, **गयदास**, **भास्कर** आदि विद्वानों की टीका और पंजिका का नाम-कीर्तन किया है। हालाँकि, इन आयुर्वेदाचार्यों का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। ‘वसुदेवहिण्डी’ में कई ऐसे आयुर्वेदिक प्रसंग भी आये हैं, जिनका समर्थन पूर्ववर्ती चरक और सुश्रुत तथा समकालीन वाग्भट या फिर परवर्ती ‘भावप्रकाश’ आदि से नहीं होता। निश्चय ही, **संघदासगणी** का तद्विषयक आधार-स्रोत कुछ दूसरा रहा होगा, जिसके बारे में कुछ भी अनुमान करना कठिन है।

सुश्रुत, स्पष्ट ही, **चरक** के परवर्ती काल की रचना है। इसलिए, **चरक** में जहाँ प्राचीनता के तत्त्व विद्यमान हैं, वहीं सुश्रुत में युगीन प्रथाओं का समावेश परिलक्षित होता है। सुश्रुत में जैन या बौद्धकालीन शब्दों का भी उल्लेख मिलता है। जैसे : विशिखा, भिक्षुसंघाटी आदि। ‘सुश्रुतसंहिता’ के प्रतिसंस्कर्ता के रूप में **डल्हणाचार्य** ने प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु **नागार्जुन** का नामोल्लेख किया है; किन्तु यह विवादास्पद है। ‘सुश्रुतसंहिता’ के डॉ. **भास्कर गोविन्द घाणेकर** द्वारा मूल-सह अनूदित संस्करण की भूमिका में लिखा है कि चूँकि ‘सुश्रुतसंहिता’ में ब्राह्मणों की प्रधानता है, इसलिए यह, बौद्धों के उदयकाल के पश्चात्, जब **पुष्यमित्र** ने पुनः ब्राह्मणों का राज्य स्थापित किया, निर्मित हुई है। बौद्धकाल में आयुर्वेद की विशेष उन्नति हुई थी। तक्षशिला का विश्वविद्यालय आयुर्वेद के लिए प्रसिद्ध था। बौद्धकालीन प्रसिद्ध चिकित्सक **जीवक** ने यहीं शिक्षा ग्रहण की थी। किन्तु, इस सन्दर्भ में यह भी स्मरणीय है कि अहिंसावादी बौद्धों के कारण ही पूर्ववर्ती काल में भारतीय शल्यशास्त्र (सर्जरी) का पर्याप्त हास हुआ। फिर भी, आधुनिक शल्यशास्त्रज्ञ **आचार्य सुश्रुत** को ही शल्यशास्त्र का पिता मानते हैं।

‘वसुदेवहिण्डी’ में शल्यशास्त्र से सम्बद्ध कई ऐसे प्रसंग आये हैं, जिनका विवेचन और विवरण प्राचीन भारतीय शल्यशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में करना समीचीन होगा। ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथाओं से स्पष्ट है कि चिकित्सा के सन्दर्भ में **संघदासगणी** तथाकथित अहिंसावादी नहीं थे। हालाँकि, **डल्हणाचार्य** ने शरीर-हिंसक कर्म को शस्त्रकर्म (चौर-फाड़) कहा है और शरीर-अहिंसक कर्म को अस्त्रकर्म। फिर भी, चूँकि यह कार्य पर को दुःखहीन करने से सम्बद्ध है, इसलिए हिंसामूलक होते हुए भी परिणामतः अहिंसामूलक है। इस प्रसंग से यह भी संकेतित है कि **संघदासगणी** के काल में भारतीय शल्य-चिकित्सा तातोऽधिक विकसित हो चुकी थी।

संघदासगणी ने एक ओर शल्यचिकित्सा का उपदेश किया है, तो दूसरी ओर विशल्यीकरण की ओषधियों^१ का भी निर्देश किया है। पुण्ड्रालम्भ की कथा (जो ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ की

१. संस्कृत में ‘ओषधि’ का बड़ा व्यापक अर्थ है। ओषधि की परिभाषा है : ‘फलपाकान्ता ओषधयः।’ अर्थात्, फल पक जाने के बाद नष्ट हो जानेवाले सभी प्रकार के पौधे ‘ओषधि’ हैं। ‘ओषधि’ शब्द का ही ‘ओषधि’ के रूप में भी प्रयोग कोशकार आपटे ने स्वीकार किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में, दवा के समष्ट्यात्मक अर्थ (वनस्पति, जड़ी-बूटी और उससे निर्मित औषध) के लिए ‘ओषधि’ का प्रयोग, जो प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों को भी अभिमत है, किया गया है।— ले.

प्रियदर्शना-कथा के प्रसंगविशेष से अनुच्छादित है) में, पुण्ड्रा की उत्पत्ति के क्रम में, चित्रवेगा द्वारा कही गई आत्मकथा में उल्लेख है कि चित्रवेगा, वैताद्व्य पर्वत की उत्तर श्रेणी में स्थित चमरचंचा नाम की नगरी के राजा पवनवेग की रानी पुष्कलवती की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई। वह किसी पुरुषोत्तम की महिला होगी, इस प्रत्याशा में उसे तबतक कुमार के रूप में रखने के लिए, उसकी जाँघ को चीरकर उसमें ओषधि भर दी गई। उसके प्रभाव से वह कुमार के रूप में देखी, सुनी और समझी जाने लगी। एक बार वह जिनोत्सव के अवसर पर मन्दराचल पर गई। वहाँ वैताद्व्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित रत्नसंचयपुर के विद्याधरनरेश गरुडकेतु के पुत्र और उसकी पत्नी लोकसुन्दरी के आत्मज का गरुडवेग ने उसे (चित्रवेगा को) लड़की के रूप में पहचान लिया और वह उसपर अतिशय अनुरक्त हो उठा। गरुडवेग के साथ जब उसका वाग्दान हो गया, तब उसकी जाँघ से वह औषधि निकाल दी गई और संरोहिणी (घाव भरनेवाली दवा) के प्रयोग से वह (चित्रवेगा) यथावत् हो गई। उसके बाद बड़े डाट-बाट से उसका गरुडवेग के साथ विवाह हुआ।

इस प्रकार, आत्मकथा कहने के बाद, विद्याधरी चित्रवेगा ने पुण्ड्रा की फुआ आर्या वसुमती को अपनी जाँघ के चिरे हुए स्थान के गड्ढे को दिखाया और वह औषधि भी उसने उसे दिखाई। औषधि को बहुत प्रभावशाली जानकर आर्या वसुमती ने कौतूहलपूर्वक उसे (औषधि को) अपने पास रख लिया। उसके बाद चित्रवेगा ने वसुमती को संरोहिणी औषधि भी दिखाई, जिसे वसुमती ने वकहद से बड़ी कठिनाई से प्राप्त की कर लिया। कुछ दिन बीतने पर वसुमती की पतोहू (पुण्ड्र की पत्नी) ने पुत्री प्रसव की। तब वसुमती ने विद्याधरी से प्राप्त औषधि को नवजात कन्या की जाँघ में शल्यक्रिया द्वारा स्थापित कर दिया। इस बात को वसुमती, उसकी पतोहू और धाई के सिवा चौथा कोई व्यक्ति नहीं जानता था। उस लड़की का नाम पुण्ड्रा रखा गया था। चूँकि वसुदेव श्रेष्ठ पुरुष थे, इसलिए उन्होंने औषधि के बल से पुरुषभावापन्न युवती पुण्ड्रा को कुमारी के रूप में पहचान लिया। तब वसुमती ने पुण्ड्रा की जाँघ चीर कर वह औषधि निकाल दी और संरोहिणी औषधि लगादी, जिससे चिरे का घाव भर गया इस के बाद अनुकूल श्रेष्ठ वर वसुदेव के साथ पुण्ड्रा का विवाह हो गया।

आधुनिक चिकित्साविज्ञान-जगत् में शल्यक्रिया के द्वारा लिंग-परिवर्तन की कतिपय घटनाएँ देखी-सुनी गई हैं, किन्तु जाँघ चीरकर, उसमें औषधि रखकर लड़की को इच्छित काल तक लड़का बनाये रखने की घटना तो अपने-आपमें अतिशय अद्भुत है और वर्तमान शल्यशास्त्रियों के लिए एक चुनौती भी। यद्यपि, सहज ही यह सम्भावना नहीं की जा सकती कि **संघदासगणी** के काल में भारतीय शल्यक्रिया अपने अपनी वैज्ञानिकता के विकास पर पहुँच गई थी !

चरक ने छह शस्त्रकर्म माने हैं : पाटन, व्यधन, छेदन, लेखन, प्रोक्षण और सीवन। लेकिन, सुश्रुत ने आठ शस्त्रकर्म स्वीकृत किये हैं: छेद्य, भेद्य, लेख्य, वेध्य, ऐष्य, आहार्य, विस्त्राव्य और सीव्य। वाग्भट ने सुश्रुत-प्रोक्त आठ शस्त्रकर्म के अतिरिक्त पाँच और गिनाये हैं: उत्पाटन, कुट्टन, मन्थन, ग्रहण और दाहन। 'वसुदेवहिण्डी' का उपर्युक्त शस्त्रकर्म छेदन या छेद्य के अन्तर्गत है। **संघदासगणी** ने जिसे संरोहिणी कहा है, उसे चरक, सुश्रुत और वाग्भट ने 'रोपण' की संज्ञा दी है। और, सबने, घाव भरने के औषधि-निर्देश के क्रम में रोपणतैल, रोपणचूर्ण, रोपणवर्तिका, रोपणकषाय, रसक्रिया आदि का नुस्खा भी प्रस्तुत किया है। शल्यक्रिया के बाद कुछ त्रणों में गड्ढे

पड़ जाते हैं और कुछ में मांस उभर आता है। सुश्रुत ने दोनों के निवारण के लिए अलग-अलग नुस्खे दिये हैं। चिरचिरी की जड़, असगन्ध, तालपत्री (मुसली), सुवर्चला (सूर्यमुखी या घुरफी) की जड़ एवं काकोल्यादिगण (काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, बला, अतिबला) में पठित ओषधियाँ उत्सादन या मांस भरने के कार्य में प्रशस्त हैं; फिर कासीस, सैन्धवनमक, किण्व, कुरुविन्द (लाल रत्न), मैनसिल, मुरगे के अण्डे के छिलके, चमेली की कली, शिरीष, करंज और धातु (हरिताल, पुष्प-कासीस, रसांजन आदि) के चूर्ण उभरे हुए मांस को काटने के लिए प्रशस्त हैं। संघदासगणी की 'संरोहिणी' सुश्रुत का 'उत्सादन' प्रतीत होती है। संघदासगणी जाँध चीरने से उत्पन्न घाव के गड्ढे को भरने के लिए 'संरोहिणी' का प्रयोग किया गया है और सुश्रुत ने इसे 'उत्सादन' कहा है।^१

संघदासगणी ने विना शस्त्रकर्म के ही ओषधि द्वारा शल्यचिकित्सा का निर्देश किया है। ये ओषधियाँ हैं: विशल्यकरणी, संजीवनी और संरोहिणी (गन्धर्वदत्तालम्बः पृ. १३८)। 'बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह' में मांसविवर्द्धनी और वर्णप्रसादिनी, इन दो अतिरिक्त ओषधियों के नाम परिगणित हैं। चूँकि, संरोहिणी में ही मांसवर्द्धन और चमड़े के रंग के प्रसादन (वर्णप्रसादन) के गुण समाहित हैं, इसलिए संघदासगणी ने तीन ही ओषधियाँ स्वीकृत की हैं। हालाँकि, संघदासगणी को चार ओषधियों की नामावली देनी चाहिए थी। क्योंकि, विद्याधर के चर्मकोष में आत्मरक्षार्थ रहनेवाली चार ओषधियों की चर्चा (चारुदत्त की आत्मकथा में) उन्होंने की है : "विज्जाहराणं किल चम्परयणमंडुक्कीसु ओसहीओ चत्तारि अत्ताणं रक्खिउं। (तत्रैव)।

उक्त शल्यौषधियों की पूर्व-परीक्षा के लिए चारुदत्त ने अपने गोमुख आदि मित्रों से कहा कि सिल पर ओषधि को पीसो, फिर क्षीरवृक्ष में शल्य चुभोकर उसपर ओषधि की परीक्षा करो। फिर विद्याधर को जीवित करो। ज्ञातव्य है कि पाँच लोहे की कीलों से बिंधा हुआ यह विद्याधर कदम्ब के पेड़ से चिपका हुआ पाया गया था। परीक्षा के क्रम में पता चला कि चारों ओषधियों में कोई शल्य निकालनेवाली है, तो कोई संजीवनी है, तो कोई घाव भरनेवाली। यहाँ भी कथाकार ने चार दवाओं की चर्चा करके तीन के ही विवरण दिये हैं। इसे कथाकार का प्रमाद ही माना जायगा, उसके तीन दोन ओषधियों की स्वीकृति के सम्बन्ध में चाहे हम जो तर्क दें।

उक्त ओषधियों के प्रयोग और उसके चमत्कार से चित्त चकित हो जाता है। वे सभी मित्र विद्याधर के पास गये। दोने में ओषधि लेकर उसे पहले ललाट पर ठुकी प्राणघातक कील पर चुपड़ दिया। धूप में तप्त कमल की तरह कील निकलकर धरती पर गिर पड़ी। उसने अपना मुँह थोड़ा ऊपर उठाया। मरुभूति ने उसे सहारा दिया। तदनन्तर, चतुर मित्रों ने उस विद्याधर के दोनों हाथ कील से मुक्त कर दिये। उसके हाथों को हरिसिंह और तमन्तक ने सहारा दिया। विद्याधर के शत्रु ने उसके मर्मस्थलों को छोड़कर कीलें ठोकी थीं, इसलिए उसका मुख विवर्ण नहीं हुआ था। इसके बाद उसके दोनों पैरों को कीलमुक्त कर दिया गया और फिर पीताम्बर-उत्तरीयधारी उस विद्याधर को केले के पत्ते के बिछा वन पर लिटा दिया गया। अन्य मित्रों ने विद्याधरके घावों पर संरोहिणी ओषधि लगा दी। जल के छींटे और केले के पत्ते की हवा से उसे होश आ गया।

इस प्रकार की ओषधि द्वारा शल्य निकालने की विधि सुश्रुत ने भी दी है। 'सुश्रुतसंहिता' के सूत्रस्थान के सत्ताईसवें 'शल्यापनीय' अध्याय में उन्होंने कहा है कि "कुछ शल्य (रज, तिनका

आदि) ऐसे होते हैं, जो आँसू, छींक, उद्गार, खाँसी, मल, मूत्र और वायु के वेग से, आँख आदि अवयवों से अपने-आप बाहर आ जाते हैं। मांस के अन्दर घुसे शल्य, जो कि स्वयं न पकता हो, उसको ओषधियों से पकाकर गला देना चाहिए। गल जाने पर पूरक के वेग से अथवा भारीपन के कारण शल्य स्वयं गिर पड़ता है।”

सुश्रुत की इसी विधि को संघदासगणी ने ‘विशल्यकरणौ’ द्वारा मान्यता प्रदान की है। सुश्रुत के अनुसार, शल्यवर्णी व्यक्ति को मुलायम गद्देदार बिछावन पर सोना चाहिए। चूँकि जंगल में वैसा बिछावन मिलना सम्भव नहीं था, इसलिए विद्याधर को चारुदत्त के मित्रों ने केले के नरम पत्ते के बिछावन पर लिटा दिया था। इस कथाप्रसंग में संजीवनी ओषधि की प्रत्यक्ष चर्चा तो नहीं आई है, किन्तु उस विद्याधर के संजीवन के लिए प्रयुक्त जल के छीटे और केले के पत्ते की हवा को तत्स्थानीय माना जा सकता है। या फिर, विद्याधर तो शल्यपीडा से मूर्च्छित हो गया था, इसलिए शल्य निकलते ही वह होश में आ गया। संजीवनी के प्रयोग की आवश्यकता तो उसके मरने पर ही होती। इसीलिए, संघदासगणी ने संजीवनी का विवरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक समझा होगा।

संजीवनी बूटी, यानी मृतक को जिलानेवाली जड़ी अब मिथक की वस्तु बन गई है। हालाँकि, आज भी बलवीर्यवर्द्धक पेय (आसव) विशेष या ज्वरनाशक वटी के रूप में ‘मृतसंजीवनी’ संज्ञा आयुर्वेद में सुरक्षित है। सुश्रुत ने धन्वन्तरि का वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि अथर्ववेद (आयुर्वेद) के जाननेवाले एक सौ एक मृत्युएँ मानते हैं। उनमें एक कालमृत्यु है, शेष सब मृत्युएँ आगन्तुक हैं।^१ भारतीय आयुर्वेदिक चिन्तन में मृत्यु पर बड़ा गहन विचार किया गया है। कालमृत्यु और अकालमृत्यु के सम्बन्ध में विचारकों के दो वर्ग स्पष्ट हैं। कालमृत्यु के पक्षधरों का कहना है कि अकाल में कोई नहीं मरता, इसलिए अकालमृत्यु होती ही नहीं। जो जिस काल में मरता है, उसके लिए वही कालमृत्यु है। सैकड़ों बाणों से बीधे जाने पर भी कोई अकाल में नहीं मरता और जिसका मृत्युकाल आ जाता है, उसके लिए तिनका भी बाण हो जाता है।

अकालमृत्यु के समर्थकों का तर्क है कि जिस प्रकार असमय में वर्षा होती है, असमय में फूल और फल लगते हैं, असमय में ही (अचानक) दिया बुझ जाता है, उसी प्रकार मृत्यु भी असमय में हो सकती है। जल, अग्नि, विष, शस्त्र, भूख, व्याधि पहाड़ से गिरना, स्त्रियाँ, राजकुल—ये सभी अकालमृत्यु के कारण बनते हैं, इसलिए चतुर व्यक्ति इनसे भय खाता है। जिस प्रकार तेल और बत्ती से युक्त दीपक भी वायु के प्रबल झोंके से बुझ जाता है, उसी प्रकार आगन्तुक मृत्यु के कारण मनुष्य क्षणात् मर जाता है। देवता भी काल को धोखा नहीं दे सकते, इसलिए चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि ने अपमृत्यु के विनाश के उपायों का निर्देश किया है। केवल मृत्यु ही हो, अकालमृत्यु नहीं, तो उक्त सभी आयुर्वेद के प्रवक्ताओं का प्रयत्न व्यर्थ ही हो जायगा।

ऐसी स्थिति में यह सिद्ध है कि अकालमृत्युएँ हैं, और उनसे रक्षा करने के कारण ही वैद्यों को ‘प्राणाचार्य’ कहा जाता है। भावमिश्र ने कहा है:

व्याधेस्तत्त्वपरिज्ञानं वेदनायाश्च निग्रहः।

एतद् वैद्यस्य वैद्यत्वं न वैद्यः प्रभुरायुषः ॥

१. एकोत्तरं मृत्युशतं ह्यथर्वानः प्रवक्षते।

तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषाश्चागन्तवः स्मृताः ॥

कालमृत्यु के पक्षधरों ने इस श्लोक का अर्थ किया है: “व्याधि के तत्त्व का परिज्ञान और वेदना का निग्रह, यही वैद्य का वैद्यत्व है। वैद्य आयुर्बल का प्रभु नहीं होता।” किन्तु, अकाल-मृत्युवादियों ने ‘न’ शब्द को देहली-दीपकन्यायएँ अन्वयित कर इसका अर्थ इस प्रकार लगाया है: “व्याधि का तत्त्व-परिज्ञान और वेदना का निग्रह, यही वैद्य का वैद्यत्व नहीं है, अपितु वैद्य आयु का भी प्रभु है।”

इसीलिए आयुर्वेदशास्त्र के रोगनिदान में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि जो वैद्य सन्निपातज्वर की चिकित्सा करता है, वह मानों मृत्यु से युद्ध करता है: (‘मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता’)

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अकालमृत्यु अथवा आगन्तुक या अपमृत्यु की स्थिति सुनिश्चित है। और, **संघदासगणी** द्वारा चर्चित ‘संजीवनी’ या बुधस्वामी-प्रोक्त ‘मृतसंजीवनी’ ओषधि या ओषधि अकालमृत्यु या अपमृत्यु से बचानेवाली होगी, इसलिए उसकी वह संज्ञा सार्थक है। और, ऐसी स्थिति में यह अनुमान असहज नहीं कि उस समय अपमृत्यु से बचानेवाली प्रत्येक ओषधि ‘संजीवनी’ संज्ञा से उद्घुष्ट होती रही हो। संघदासगणी ने और भी दो-एक प्रसंगों में अकालमृत्यु से बचने की घटना का उल्लेख किया है।

अगडदत्त की प्रेयसी श्यामदत्ता को नगरोद्यान में जब काकोदर सर्प ने काट खाया था, तब वह विष के आवेग से क्षणभर में ही अचेत हो गई थी और रोता-कलपता अगडदत्त ने उसे देवकुल के द्वार पर ले जाकर डाल दिया था। तब आधी रात के समय दो विद्याधर उसके पास आये और उन्होंने श्यामदत्ता की हालत सुनकर उसे अपने हाथों से छू दिया और वह उठकर खड़ी हो गई (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४६)। ज्योतिर्वन में कुक्कुट सर्प के काट खाने से रानी सुतारा की भी अकालमृत्यु हो गई थी, जिससे वह पुनः जीवित हो गई (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१६)। ‘वसुदेवहिण्डी’ की मान्यता के अनुसार, ऋषभस्वामी के समय से अकालमृत्यु होने लगी थी। कथा है कि मिथुन सृष्टि के समय जन्म लेत ही बड़की और बड़के को तालवृक्ष के नीचे रख दिया गया। तालफल के गिरने से बड़का मर गया और तभी से अकालापत्यु प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व कालमृत्यु ही होती थी (नीलयशालम्भ, पृ. १६१)। कहना न होगा कि अकालमृत्यु से रक्षा के लिए ही ‘संजीवनी’ ओषधि का आविष्कार विद्याधरों ने किया होगा। जैनमान्यता के अनुसार, प्रायः विद्याधर और श्रमण मुनि भी उस समय चिकित्सक की भूमिका का निर्वाह किया करते थे। अस्तु,

अमितगति विद्याधर के प्रसंग में, संघदासगणी ने उल्लेख किया है कि विद्याधर के शत्रु ने उसके मर्मस्थलों को छोड़कर कीलें ठोकी थीं, इसलिए उसका मुख विवर्ण नहीं हुआ था। सुश्रुत के अनुसार, सिरा आदि मर्मस्थल के बिंधने पर व्रणी के स्पर्शज्ञान की शक्ति नष्ट हो जाती है और उसका रंग पीला पड़ जाता है।^१ कहना न होगा कि संघदासगणी ने सुश्रुत की आयुर्वेदिक विधि के अनुसार ही अपने शल्यविषयक सिद्धान्त का उल्लेख किया है।

संघदासगणी ने जिह्वातन्तु की शल्यक्रिया करके तोतलेपन की चिकित्सा का उल्लेख किया है। सुनन्दा ब्राह्मणी के पुत्रों में एक, मेधावी तो था, लेकिन तोतला था। इसलिए, वसुदेव की पत्नी मित्रश्री ने उनसे अनुरोध किया कि सुनन्दा ब्राह्मणी का पुत्र वेद पढ़ने में असमर्थ है,

१. लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु

स्पर्श न जानाति विपाण्डुवर्णो। — सूत्रस्थान, अ. २५, श्लो. ४०

इसलिए सभी ब्राह्मण दुःखी हैं। आप कोई चिकित्सा करके उसे अध्ययन के योग्य बना दें। तब शल्यशास्त्र के विशेषज्ञ वसुदेव ने मित्रश्री की प्रसन्नता के लिए तोतले ब्राह्मण बालक की चिकित्सा करना स्वीकार कर लिया। इसके बाद उन्होंने कैची (प्रा. कतरी) लेकर फुरती से उस बालक की काली जिह्वातनु काट डाली और उस घाव पर रोहणद्रव्य (घाव भरनेवाला वन्द्रव्यषधौ) लगा दिया। तब, उस बालक की बोली स्पष्ट हो गई (मित्रश्री-धनश्रीलम्प, पृ. १९८)।

सुश्रुत के अनुसार, यह शल्यक्रिया भी छेद्य अस्त्रकर्म के ही अन्तर्गत है। सुश्रुत ने छेद्य अस्त्रों की संख्या बीस गिनाई है। इनमें 'शरारिमुख' एक है। यह दुहरी चोंचवाले पक्षी के मुख के समान होता है, जिसे लोक में कैची (कतरी < कर्तरी) कहते हैं। 'अष्टांगहृदय' में वाग्भट ने छब्बीस अस्त्रसंख्या दी है, जिनमें 'कर्तरी' का स्पष्ट उल्लेख किया है। अँगरेजी में इसे (पेयर ऑव सीजर्स) कहा जाता है।

संघदासगणी ने मनुष्य के अतिरिक्त, पशुओं में घोड़े की भी शल्यचिकित्सा का उपदेश किया है। धम्मिल्लहिण्डी की कथा है : धम्मिल्ल ने देखा कि गाँव के निकट गाँव का स्वामी एक घोड़ा लिये हुए था। ग्रामस्वामी को कुछ पुरुषों ने घेर रखा था। पूछने पर धम्मिल्ल को पता चला कि घोड़े के शरीर में शूल चुभ गया है। किन्तु, शरीर के भीतर घँसे हुए शूल का कोई पता नहीं चल रहा है। अन्त में ग्रामस्वामी ने धम्मिल्ल से आग्रह किया कि इस गाँव में कोई वैद्य नहीं है, इसलिए वह कृपा करके घोड़े के प्राण बचा लें। धम्मिल्ल ने ध्यान से देखा, फिर भी शरीर के भीतर घँसा हुआ शल्य उसे नहीं दिखाई पड़ा। तब परीक्षण के लिए उसने खेत की गीली मिट्टी लेकर घोड़े के समूचे शरीर पर लेप दिया। क्षणभर में शरीर के लेप का वह हिस्सा, जहाँपर शल्य था, सूख गया। तब उस प्रदेश को चीरकर धम्मिल्ल ने शल्य निकल दिया तथा घी और शहद से घाव का मुँह भर दिया। घाव भर जाने के बाद घोड़ा स्वस्थ हो गया (पृ. ५३)।

सुश्रुत ने त्वचा के भीतर शल्य छिप जाने पर उसके उपचार में बताया है कि त्वचा को लेपन से स्निग्ध एवं स्वेदन से स्विन्न करके मिट्टी, उड़द, जौ, गेहूँ, गोबर, इनको पीसकर लेप कर देना चाहिए। जहाँ सूजन, लाली या वेदना प्रतीत हो, वहाँ शल्य समझना चाहिए। अथवा, जमे हुए घी, मिट्टी या चन्दन घिसकर लेप कर देना चाहिए। जहाँ शल्य की गरमी से घी पिघलने लगता है या चन्दन और मिट्टी का लेप सूखने लगता है, वहाँ शल्य समझना चाहिए।^१

स्पष्ट है कि संघदासगणी की कथा में अंकित शल्यचिकित्सा का यह प्रसंग सुश्रुत द्वारा यथानिर्दिष्ट शल्योपचार-विधि पर आधृत है। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' में उल्लिखित शल्यक्रिया के सारे प्रसंग, आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यों द्वारा उपदिष्ट पद्धति के अनुकूल होने के कारण, संघदासगणी के, अष्टांग आयुर्वेद के अन्तर्भूत, शल्यचिकित्सा के गम्भीर अनुशीलनकर्ता होने की सूचना देते हैं।

१. "तत्र, त्वक्प्रगटे स्निग्धस्विन्नायां मृन्माषयवगोभूमगोमयमृदितायां त्वचि यत्र संरम्भो वेदना वा भवति, तत्र शल्यं विजानीयात्; स्थानवृत्तमृच्चन्दनकल्कैर्वा प्रदिग्धयां शल्योष्णोऽऽशु विसरति घृतमुपशुष्यति चालेपो यत्र, तत्र शल्यं विजानीयात्।" —सूत्रस्थान, २६.१२

विभिन्न रोग और उनकी चिकित्सा :

संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में प्रमुखतया कास, श्वास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल, भगन्दर, कण्डू (खुजली), प्ररोह (रक्तार्श = खूनी बवासीर), अतीसार, विसूचिका, कुष्ठ आदि कई महारोगों का उल्लेख किया है, जिनमें कुष्ठ की चिकित्सा पर विशेष प्रकाश डाला है। जैनागमों में सोलह भयंकर रोगों की चर्चा बार-बार आई है। ये सोलह रोग हैं: श्वास, कास, ज्वर, दाह, कुक्षिशूल (पेटदर्द), भगन्दर, अर्श (बवासीर), अजीर्ण, दृष्टिरोग, मूर्द्धाशूल (सिरदर्द), अकारक (अरोचक), नेत्रपीड़ा, कर्णपीड़ा, कण्डू (खुजली), उदररोग और कोटरोग (आमाशय का रोग)। ये सोलहों रोग बड़े आतंककारी होते हैं, इसलिए इन्हें 'रोगातंक' कहा गया है। 'उपासकदशांग' के चतुर्थ अध्यायन में कहा है कि वाराणसी के गृहपति श्रमणोपासक शूरदेव को व्रतविचलित या धर्मच्युत करने के लिए विघ्नकारी देव ने उसके शरीर में उक्त सोलह रोगातंक एक साथ उत्पन्न कर दिये थे। किन्तु, वह श्रमणोपासक निर्भय और अविचल भाव से धर्मध्यान में लीन रहा।

इसी प्रकार की कथा 'वसुदेवहिण्डी' में भी आई है। चौदहवें मदनवेगालम्भ की कथा का प्रसंग है : चक्रवर्ती राजा सनत्कुमार ने अपने पुत्र को राज्याधिकार सौंप दिया और कपड़े के छोर पर लगे घास की तरह भारतवर्ष के प्रशासन-कार्य से अलग होकर श्रामण्य स्वीकार कर लिया। सूत्र और अर्थ के ज्ञान से सम्पन्न वह महानुभाव राजा एक लाख वर्ष तक तपोविहार करता रहा। तभी उसके शरीर में आठ आतंककारी रोग कास, श्वास, ज्वर, दाह, उदरपीड़ा (कुक्षिशूल), भगन्दर, कण्डू और प्ररोह (रक्तार्श) उत्पन्न हुए। यहाँ संघदासगणी ने सोलह रोगातंकों की संख्या न देकर केवल आठ के नाम दिये हैं।

इसी कथा के क्रम में कथाकार ने इस बात की मीमांसा की है कि रोग पूर्वकर्मानुबन्ध-जनित होते हैं। इसलिए, रोगमुक्त होने के बाद भी मनुष्य कर्मानुबन्ध को प्राप्त कर पुनः रोगग्रस्त हो सकते हैं। इसलिए, तप और संयम की औषधि द्वारा रोगों की चिकित्सा करने से, कर्मानुबन्ध के अभाव की स्थिति में, मनुष्य पुनः कभी रोगग्रस्त नहीं होते। इसीलिए, साक्षात् इन्द्र ने चिकित्सक का रूप धारण कर सनत्कुमार की चिकित्सा की, जिससे वह रोगमुक्त हो गया। किन्तु, कर्मानुबन्धवश पुनः रोगग्रस्त हो जाने की आशंका से तप और संयम-रूप औषधि का सेवन करता रहा (मदनवेगालम्भ : पृ. २३४-२३५)।

चिकित्सक रूपधारी इन्द्र ने श्लेष्मौषधि, यानी थूहर के पत्ते का रस राजा के शरीर के एक अंग में चुपड़कर रगड़ दिया। फलतः, राजा का शरीर रोगमुक्त हो गया। सुश्रुत ने सेहुण्ड, यानी थूहर को मुष्कादिगण में परिगणित किया है और भावमिश्र ने गुडूच्यादिवर्ग में। भावमिश्र के अनुसार, थूहर में एक साथ उक्त आठों रोगों के अतिरिक्त और भी कई रोगों के नाश करने की शक्ति निहित है।^१ इसीलिए, इन्द्र द्वारा प्रयुक्त एकमात्र श्लेष्मौषधि (थूहर) से ही राजा के सारे रोगातंक दूर हो गये।

१. सेहुण्डो रेचनस्तीक्ष्णो दीपनः कटुको गुरुः ।

शूलाभाष्ठीलिकाध्मानकफगुल्मोदरानिलान् ॥

ठन्मादमोहकुष्ठार्शः शोथमेदोऽश्मपाण्डुताः ।

व्रणशोथज्वरप्लीहविषदूषीविषं हरेत् ॥

—गुडूच्यादिवर्ग, श्लो. ७४-७५

जल्लौषधि और सर्वौषधि की भाँति श्लेष्मौषधि को भी लब्धि-विशेष माना गया है, जिसमें शरीर की धातुएँ ओषधि का काम करती हैं। इन्द्र को चूँकि लब्धिविद्या सिद्ध थी, इसलिए उन्होंने राजा के शरीर पर अपना श्लेष्मा चुपड़ दिया था। श्लेष्मौषधि का यह एक पारम्परिक अर्थ भी सम्भव है। निर्वाणप्राप्त तीर्थंकर के शरीर के भस्म से शरीर-पीड़ा के नष्ट होने की बात भी इसी तथ्य की पारम्परिकता को संकेतित करती है (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८५) ।

प्रथम श्यामाविजयालम्भ के दो इभ्यपुत्रों की कथा के प्रसंग में, नन्दिसेन द्वारा की गई असाध्य अतिसार के रोगी की परिचर्या (वैयावृत्य) की, देवों द्वारा भरीक्षा लेने की घटना का उल्लेख हुआ है। इसमें नन्दिसेन अतिसार की शान्ति के लिए 'पानक' की खोज करता है (पृ. ११७) । अतिसार से ग्रस्त वह रोगी तृषा से अभिभूत था। रोग के लक्षण के अनुसार वह रोगी पित्तातिसार से ग्रस्त था; क्योंकि उसे प्यास लग रही थी और उसके मल से दुर्गन्ध आ रही थी। अतएव, पानक (शरबत) का सेवन उसके लिए आवश्यक था। चरक ने पित्तातिसार के उक्त लक्षण बताते हुए उसकी चिकित्सा में पेय, तर्पण आदि के प्रयोग का आदेश किया है। चरक-प्रोक्त पानक (शरबत) का एक नुस्खा इस प्रकार है : इन्द्रजौ के फल और छाल को अतीस के साथ मिलाकर पीस लेना चाहिए और उन्हें चावल के पानी (धोअन) में घोलकर, शहद मिलाकर शरबत बना लेना चाहिए। यह पानक पित्तातिसार को नाश करता है।^१ इस प्रकार, संघदासगणी द्वारा अतिसार के रोगी के लिए किया गया पानक का निर्देश आयुर्वेदशास्त्र के सर्वथा अनुकूल है।

यहाँ नन्दिसेन को रोगी के उत्तम परिचारक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रोगी उसे गालियाँ दे रहा था, यहाँतक कि उसने उसपर दुर्गन्धपूर्ण मल का भी त्याग कर दिया। फिर भी, वह रोगी कि हितभावना के साथ उसकी सेवा में लगा रहा। चरक, सुश्रुत आदि ने आयुर्वेद की चिकित्सा के चार चरणों का उल्लेख किया है : वैद्य, औषध, परिचारक और रोगी। परिचारक के लिए चार गुण अनिवार्य हैं : सेवकर्म को जाननेवाला, कर्मकुशल, रोगी के प्रति प्रीति रखनेवाला तथा पवित्रता का खयाल करनेवाला।^२ यहाँ नन्दिसेन, निश्चय ही, आयुर्वेदोक्त परिचारक के गुणों से विभूषित दिखाया गया है।

अपच्य पदार्थ खाने से विसूचिका (हैजा) रोग उत्पन्न होता है, ऐसा आयुर्वेद के निदानकारों का कथन है। संघदासगणी ने लिखा है कि पूर्वभव में अग्निभूति और वायुभूति शृगाल और शृगाली थे। उन्होंने भूख से व्याकुल होकर चमड़े की बनी जुए की सूखी रस्सी खा ली थी, इसलिए वे दोनों विसूचिका रोग से पीड़ित होकर मर गये (पीठिका)। सुश्रुत ने कहा है कि परिमित (वस्तु और मात्रा के अनुसार) आहार-विधि को न जाननेवाले, दूषित आमाशयवाले, अजितेन्द्रिय और भोजनलम्पट मूर्ख लोग विसूचिका रोग से पीड़ित होते हैं।^३

१. सक्षौद्रातिविषं पिष्ट्वा वत्सकस्य फलत्वचाम् ।

पिबेत् पित्तातिसारञ्च तण्डुलौदकसंयुतम् ॥

— चरकसंहिता, चिकित्सितस्थान, अ. १९, श्लोक ५७

२. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ९ . ८

३. सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र, ५६ . ५

प्रायः वात-पित्त के प्रतिलोम होने से शूलरोग उत्पन्न होता है, इसलिए आयुर्वेदज्ञों ने शूलरोगी के लिए वात-पित्त का अनुलोमन करनेवाली, अर्थात् दीपन-पाचन औषधि देने की अनुशंसा की है। तदनुसार ही धम्मिल्ल ज्योंही 'संवाह' नामक वन्यग्राम में पहुँचा, त्योंही उसे शूलरोग से कौपती हुई एक स्त्री दिखाई पड़ी। धम्मिल्ल को उस रोगिणी पर दया आ गई और उसने वातपित्तानुलोमक अनुकूल औषध उसे दिया, जिससे वह स्वस्थ हो गई (धम्मिल्लचरित : पृ. ६९)।

क्रिमिकुष्ठी रोगी के नाम से ही मन आतंकित हो उठता है। उसके यथार्थ रूप की परीक्षा और उसकी समीचीन चिकित्सा करनेवाले वैद्य का साहस और धैर्य तो निश्चय ही सातिशय प्रशंसनीय है। संघदासगणी ने ऐसे ही एक साहसी और कुशल वैद्य की चर्चा की है, जिसने एक क्रिमिकुष्ठी साधु की चिकित्सा करके उसे कुष्ठमुक्त कर दिया था। यह वैद्य पूर्वभव के स्वयं ऋषभस्वामी थे, जो वत्सावती विजय की प्रभंकरा नगरी में सुविधि नामक वैद्य के पुत्र केशव के रूप में उत्पन्न हुए थे। कथाकार ने कथा के माध्यम से कुष्ठ की सांगोपांग चिकित्सा-विधि को बड़ी रोचकता के साथ इस प्रकार उपन्यस्त किया है :

वर्तमान भव में केशव वैद्य के रूप में उत्पन्न, पूर्वजन्म के ऋषभस्वामी के, पूर्वभव के पोते श्रेयांसनाथ, श्रेष्ठिपुत्र अभयघोष के रूप में वर्तमान भव में उत्पन्न हुए। प्रभंकरा नगरी के राजपुत्र, पुरोहितपुत्र, मन्त्रिपुत्र और सार्धवाहपुत्र के साथ अभयघोष की मैत्री हो गई। एक दिन वे पाँचों मित्र जब एकत्र थे, तब उन्होंने क्रिमिकुष्ठी (क्रिमिपूर्ण कोढ़वाले) व्रतधारी साधु को देखा। पाँचों मित्रों ने परिहासपूर्वक वैद्यपुत्र केशव से कहा : "आपको इस तरह के तपस्वी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए, अपितु जो धनवान् हैं, उनकी ही चिकित्सा आप करें।" वैद्यपुत्र ने कहा : "मैं तो धार्मिक व्यक्ति को नीरोग करूँगा, विशेषकर साधु की परिचर्या तो अवश्य ही करूँगा। इस साधु ने देह की ममता छोड़ दी है, इसलिए औषध पीना नहीं चाहता है, फलतः बाह्योपचार—औषध के अभ्यंग और मर्दन के द्वारा इसकी चिकित्सा की जायगी। मेरे पास 'शतसहस्रपाकतैल' है। गोशीर्षचन्दन और कम्बलरत्न (श्रेष्ठ मुलायम ऊनी कम्बल) की आवश्यकता है।" पाँचों मित्रों ने वैद्य की बात मानते हुए कहा : "इस कोढ़ी की आप चिकित्सा करें, हम सभी वस्तुएँ जुटायेंगे।"

राजपुत्र ने कम्बलरत्न दिया। गोशीर्षचन्दन भी मँगवा लिया गया। उसके बाद व्रत में स्थित साधु से निवेदन किया गया। "भगवन् ! हितबुद्धि से हम आपको जो पीड़ा देंगे, उसके लिए आप हमें क्षमा करेंगे।" इसके बाद साधु के पूरे शरीर में उक्त तैल चुपड़ दिया गया। उससे कोढ़ के कीड़े कुलबुला उठे और भयंकर पीड़ा देते हुए बाहर निकलने लगे। पीड़ा से मूर्च्छित साधु को कम्बल से ढक दिया गया। कम्बल ठण्डा था, इसलिए उसमें कीड़े चिपक गये। इसके बाद ठण्डी जगह में कम्बल को झाड़कर कीड़ों को नष्ट होने के लिए छोड़ दिया गया। कुष्ठी साधु के शरीर पर चन्दन का लेप लगा दिया गया। इससे साधु जब होश में आ गया, तब पुनः उसके कोढ़ पर तैल चुपड़ दिया गया। कीड़े उसी क्रम से बाहर निकलने लगे। फिर, मूर्च्छित साधु को कम्बल से ढक दिया गया। तत्पश्चात्, चन्दन का लेप लगाकर साधु को प्रकृतिस्थ कर दिया गया। जब क्रिमि बिलकुल नष्ट हो गये, तब साधु के शरीर पर चन्दन का लेप करके वे सभी मित्र अपने-अपने घर चले गये (नीलयशालम्भ : पृ. १७७)।

उक्त कथाप्रसंग से कुष्ठ की अद्भुत चिकित्सा-विधि की जानकारी तो प्राप्त होती ही है, आयुर्वेदिक सिद्धान्त के कतिपय महत्वपूर्ण आज्ञात आयाम भी उभरकर सामने आते हैं। प्रथम तो यह कि पुराकाल के वैद्य कुशल मनीषी और सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न होने के साथ ही साधक और तपस्वी भी होते थे। तभी तो, साधु की वैयावृत्ति (सेवा) में लगा हुआ वैद्यपुत्र केशव ने विशेष उग्र शीलव्रत और तपोविधि से अपने को भावित करके समाधिमरण प्राप्त किया और वह अच्युतकल्प में इन्द्र-समान देव हो गया। द्वितीय, यह कि पुराकाल के वैद्य, धनवान् रोगियों की अपेक्षा धार्मिक वृत्ति के लोगों—मुनियों और साधुओं की चिकित्सा के प्रति विशेष, आग्रही होते थे और चिकित्सा-कार्य में होनेवाली पीड़ा के लिए क्षमा-प्रार्थना के बाद ही उनकी (साधुओं की) चिकित्सा में प्रवृत्त होते थे। तृतीय, सबसे बड़ी विशेषता यह कि प्राचीन काल के वैद्य रोगियों को कीमती-से-कीमती दवा, अपनी ओर से निःशुल्क देते थे। इससे यह भी स्पष्ट है कि तत्कालीन वैद्यों में दया और सेवा-भावना कूट-कूटकर भरी रहती थी। अपने इन्हीं उत्कृष्ट गुणों के कारण उस समय के वैद्य राजाओं द्वारा पूजित होते थे।

रोगियों के अभिभावक रोगियों के प्राणों को वैद्यों के हाथों सौंपकर निश्चिन्त हो जाते हैं, इसलिए वैद्य का उत्तरदायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। सुश्रुत ने वैद्यों के लिए प्रसंग और प्रयोजनवश व्याकरण, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, ज्योतिषशास्त्र आदि का ज्ञाता होने का आदेश किया है और कहा है कि एक ही शास्त्र को पढ़नेवाला व्यक्ति शास्त्र के निश्चय को नहीं जान सकता। इसलिए, जिसने बहुत-से शास्त्र पढ़े हों, उसे ही सच्चा चिकित्सक समझना चाहिए। गुरु के मुख से उपदेश किये गये शास्त्र को ग्रहण करके, पाठ एवं अर्थ द्वारा बार-बार अभ्यास करके जो वैद्य चिकित्सा-कार्य करता है, वही सच्चा वैद्य है, शेष सब चोर हैं।^१ चरक ने भी वैद्य के लिए चार गुण आवश्यक माने हैं : शास्त्र का समुचित ज्ञान, चिकित्सा-कर्म का प्रचुर प्रत्यक्ष अनुभव, चिकित्सा-कार्य में कुशलता (सिद्धहस्तता) और पवित्रता।^२ वाग्भट ने भी वैद्य के लिए चरक-प्रोक्त गुणों का ही अनुकीर्तन किया है : 'दक्षस्तीर्थात्तशास्त्रार्थो दृष्टकर्माशुचिभिषक्'।^३ अर्थात्, वैद्य को दक्ष होना चाहिए, साथ ही वह उपाध्याय से शास्त्र के अर्थ को पूर्णरूप से ग्रहण किया हुआ हो, बहुत बार चिकित्सा-कर्म देखा हुआ हो और कायिक, मानसिक और वाचिक दोषों से रहित हो, अर्थात् वह बहिरन्तः पवित्र हो। इसके विपरीत जो वैद्य होते हैं, वे निन्दनीय माने जाते हैं। वैद्य केवल शरीर-चिकित्सक ही नहीं होते, मनश्चिकित्सक भी होते हैं। इसलिए, वाग्भट ने बुद्धि, धैर्य, आत्मा आदि के विशिष्ट ज्ञान को मनोदोष के लिए श्रेष्ठ औषध कहा है : 'धीधैर्यात्मादिविज्ञानं मनोदोषौषधं परम्'।^४

इसीलिए, संघदासगणी ने आर्तध्यानी वैद्यों की निन्दा की है। उज्जयिनी में तापस नाम का श्रेष्ठी था। वह चिकित्सा-कार्य में कुशल था। किन्तु उसमें दुर्गुण यह था कि वह आय-व्यय-विषयक हेरफेर तथा कृषिविषयक हिंसाकर्म में संलग्न रहनेवाला आर्तध्यानी (विभिन्न प्रकार से भविष्य की दुश्चिन्ता में मग्न रहनेवाला) था, इसलिए मरकर वह शूकर-योनि में उत्पन्न हुआ (पीठिका)।

१. सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, ४. ६-८

२. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, ९. ६

३. अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, १. २८

४. उपनिषद्, १. २६

आयुर्वेदशास्त्र में कुष्ठ, महारोगों में परिगणित है। वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, बवासीर, भगन्दर, पथरी, मूढगर्भ और उदररोग, ये आठ महारोग हैं। इसलिए, इनकी चिकित्सा कठिन मानी जाती है। चरक और वाग्भट ने कुष्ठ-चिकित्सा विस्तार से लिखी है और परवर्ती आयुर्वेदविदों ने भी। किन्तु, क्रिमिकुष्ठ की चर्चा एकमात्र सुश्रुत ने ही की है और इसकी चिकित्सा के क्रम में नीम, आक और सप्तपर्ण का क्वाथ पीने तथा कीड़ों से भरे धावों पर लगाने के लिए विभिन्न प्रकार के तैलों (जैसे : वज्रकतैल, महावज्रकतैल आदि) और लेपों का विधान किया है, किन्तु संघदासगणी ने जिस 'शतसहस्रपाकतैल' या 'क्रिमिकुष्ठहरतैल' तथा गोशीर्षचन्दन के लेप का उल्लेख किया है, या फिर कम्बलरत्न द्वारा कोढ़ से कीड़ों को निकालने की जो अद्भुत विधि दी है, वह आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में भी नहीं मिलती। संघदासगणी द्वारा निर्दिष्ट क्रिमिकुष्ठ की चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद-जगत् के लिए, निस्सन्देह, शोध और गवेषणा का विषय है।

इसी प्रकार, कौशाम्बी का राजा जितशत्रु पूर्वभव में अशुभकर्म के उदय से कुष्ठी हो गया था। उसके पिता ने अनेक वैद्यों से दवा कराई, किन्तु कुष्ठ दूर नहीं हुआ। एक बार यवनदेश के राजा द्वारा भेजा गया दूत कौशाम्बी आया। उसने चिकित्सा-विधि में कुष्ठी राजा के पिता से बताया कि अपने इस पुत्र को घोड़े के बछड़े के लहू में डुबाकर रखिए। कुष्ठी राजा के पिता ने पुत्रस्नेहवश कुष्ठ के उपचार के लिए राजकुल के एक घोड़े का वध करवा दिया (धम्मिल्लहिण्डी)। यवनदेश की यह कुष्ठ-चिकित्सा-विधि भी अपने-आपमें पर्याप्त विस्मयकारी और विचारणीय भी है।

विष-प्रकरण :

विष और उससे सम्बद्ध चिकित्सा की चर्चा द्वारा संघदासगणी ने आयुर्वेद के अष्टांग में अन्यतम, 'अगदतन्त्र' में भी अपने गम्भीर प्रवेश की सूचना दी है। आयुर्वेदशास्त्र में विष दो प्रकार के माने गये हैं: स्थावर और जंगम। सुश्रुत के अनुसार, स्थावर विष पचपन प्रकार के हैं और फिर इनके अवान्तर भेद भी अनेक हैं। पेड़-पौधों के मूल, पत्ते, फूल, फल, छाल, दूध, सार, गोद और कन्द तथा हरताल आदि धातु ये दस, स्थावर विष के, अधिष्ठान हैं। स्थावर विष के, चरक के अनुसार, आठवें और सुश्रुत के अनुसार, सातवें वेग में मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। जंगम विष के सोलह अधिष्ठान हैं : जैसे, किसी जीव की दृष्टि, श्वास, दाँत (जबड़ा), नख, मल, मूत्र, शुक्र, लार, आर्तव, मुख-सन्दर्श (मुखौष्ठ), अपानवायु, चोंच, हड्डी, पित्त, शूक (किसी तिनके की नोक) और शव। महर्षि आत्रेय के उपदेशानुसार, उनके शिष्य अग्निवेश या चरक महर्षि ने जहरीले जन्तुओं की दंष्ट्रा से उत्पन्न विष को जंगम विष कहा है। स्थावर विष जंगम विष को और जंगम विष स्थावर विष को नष्ट कर देता है। इसीलिए, कहा जाता है : 'विषस्य विषमौषधम्।' समुद्र-मन्थन के समय, उत्पन्न होते ही इस विष ने लोगों के मन में विषाद उत्पन्न किया, इसीलिए इसे 'विष' कहा जाने लगा। जंगम विष के फैलने की प्रवृत्ति नीचे से ऊपर की ओर होती है और स्थावर विष की गति ऊपर से नीचे की ओर रहती है।

संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के विषों की चर्चा कथाव्याज से की है। जंगम विष में सर्पविष का और स्थावर विष में कमल के फूल में मिश्रित

तालपुट विष का उल्लेख कथाकार ने किया है। सर्प-चिकित्सा के सन्दर्भ में चरक और सुश्रुत ने बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया है। संघदासगणी ने प्रायः दृष्टिविष सर्प, भुजपरिसर्प, कुक्कुट सर्प, काकोदर सर्प, अगन्धन सर्प आदि की चर्चा की है। सुश्रुत ने साँपों के चार वर्गों का उल्लेख किया है : दर्वीकर, मण्डली, राजिमान् और निर्विष। सुश्रुत ने 'परिसर्प' संत्रक सर्प की गणना दर्वीकर-वर्ग में की है; किन्तु कथाकार ने शेष सर्पों के नाम किसी अन्य स्रोत से लिये हैं। माधवीलता के झूले पर क्रीड़ा करते समय श्यामदत्ता को काकोदर सर्प ने डँस लिया था, जिससे वह क्षणभर में ही विष के वेग से अचेत हो गई थी। बाद में विद्याधर के स्पर्श से वह विषमुक्त हुई (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४६-४७)।

रत्नों के ढेर पर सर्प के रहने की कल्पना बड़ी पुरानी है। राजा सिंहसेन एक दिन भवितव्यता से प्रेरित होकर भाण्डार में घुसा और उसने ज्योंही रत्नों पर दृष्टि डाली, त्यों ही रत्नों पर बैठे अगन्धन सर्प ने उसे डँस लिया। गारुडी ने विद्याबल से अगन्धन सर्प को राजा के शरीर से विष चूसने के लिए प्रेरित किया, किन्तु सर्प बड़ा अभिमानी था, वह विष चूसने को तैयार नहीं हुआ, फलतः विष से अभिभूत राजा मर गया (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५४)। सर्प-चिकित्सा के क्रम में चरक और सुश्रुत ने मन्त्र और आचूषण की विधि का उल्लेख किया है, किन्तु जिस साँप ने डँसा हो, उसी साँप को मन्त्रबल से बुलाकर, उसे अपने विष को चूसकर वापस लेने की विद्या की चर्चा उन्होंने नहीं की है। लेकिन, सुश्रुत ने इस बात की चर्चा अवश्य की है कि स्वयं सर्पदष्ट व्यक्ति ही उसी साँप को काटे ('स दष्टव्योऽथवा सर्पों')^१।

संघदासगणी ने शरवन को दृष्टिविष सर्प का आवासस्थान बताया है एवं भुजपरिसर्प को आकाश में उड़नेवाली, सर्पजाति का निर्दिष्ट किया है। कुक्कुट सर्प ने रानी सुतारा को ज्योतिर्वन में डँस लिया था। मन्त्रौषधि से चिकित्सा करने पर भी वह बच नहीं पाई, तत्क्षण मर गई। आयुर्वेद के अनुसार, सर्प दो प्रकार के होते हैं: दिव्य और भौम। दिव्य सर्पों की दृष्टि और निःश्वास में विष होता है, किन्तु भौम सर्पों की दंष्ट्रा में। कहना न होगा कि संघदासगणी ने दोनों प्रकार के सर्पों की चर्चा अपनी महत्कथा में की है।

'वसुदेवहिण्डी' के केतुमतीलम्भ में प्राप्य स्थावर विष का एक प्रसंग उल्लेख्य है। राजा श्रीसेन के दोनों पुत्र—इन्दुसेन और बिन्दुसेन अनन्तमति नाम की गणिका के कारण जब देवरमण उद्यान में आपस में लड़ने लगे, तब उन्हें रोकने से असमर्थ होकर राजा ने तालपुट विष से भावित कमलपुष्प सूँघकर मृत्यु का वरण कर लिया। चरक, सुश्रुत और वाग्भट, तीनों प्राचीन आयुर्वेदाचार्यों ने स्थावर विष में 'तालपुट' की गणना नहीं की है। इसलिए, संघदासगणी द्वारा उल्लिखित यह स्थावर विष भी भिन्नस्रोतस्क प्रतीत होता है, जो शोधकर्ताओं के लिए प्रश्नचिह्न बना हुआ है।

प्राचीन आयुर्वेदज्ञों ने, नाना प्रकार की ओषधियों से निर्मित कृत्रिम विष को 'गर' संज्ञा से अभिहित किया है। यह प्रायः देर से या जल्दी भी असर करनेवाला होता है।^२ संघदासगणी द्वारा

१. कल्पस्थान, ५.६

२. कृत्रिमं गरसंज्ञं तु क्रियते विविधोषधैः।

हन्ति योगवशेनाशु चिराच्चिरतराच्च तत् ॥— अष्टांगहृदय, उत्तरस्थान, ३५.६

उल्लिखित 'योगमद्य'^१ या 'पुष्करमधु' 'गर' संज्ञक विष की कोटि में परिगणनीय है। धनश्री डिण्डी को बेहोश करने के लिए 'योगमद्य' लेकर अशोकवनिका में विनीतक के साथ आई थी (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ५२)। फिर, गणिका वसन्ततिलका की माँ ने चारुदत्त को 'योगपान' पिलाकर अचेत कर दिया था और उसे भूतघर में डलवा दिया था (तत्रैव)। इसी प्रकार, चारुदत्त को, उसके मित्रों ने छलपूर्वक, जिस 'पुष्करमधु' को देवोपभोग्य और अमृतोपम कहकर पिलाया था, जिससे उसे चक्कर आने लगा था, वह भी एक विशिष्ट प्रकार से तैयार किया गया, मधु का भ्रम उत्पन्न करनेवाला, मद्य ही था (गन्धर्वदत्तालम्भ), यद्यपि वह घातक नहीं था।

इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' में प्राप्य, आयुर्वेद-ग्रन्थों के विष-प्रकरण में यथाप्रस्तुत 'गर'-प्रयोग का प्रसंग भी आयुर्वेद-विद्या के विवरण के सन्दर्भ में अपना उल्लेखनीय मूल्य रखता है।

रस-प्रकरण :

आयुर्वेद के आठ अंगों में रसायनतन्त्र का भी महनीय स्थान है। क्षिप्र आरोग्यकारी होने के कारण चिकित्सा-क्षेत्र में रसचिकित्सा सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। इसीलिए, कहा गया है कि 'क्षिप्रमारोग्यदायित्वा-दौषधेभ्योऽधिको रसः।' रसचिकित्सा के आविर्भावक साक्षात् शिवजी माने जाते हैं। प्राचीन रसचिकित्सकों में प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु नागार्जुन का नाम मूर्द्धन्य है। उन्होंने लोहे से सोना बनाने की विधि का आविष्कार कर भारतीय रसायन-तन्त्र को उल्लेखनीय पार्यन्तिकता प्रदान की है। लोहे से सोना बनाने की अद्भुत रहस्यमयी घटना प्रायः सभी प्राचीनतम भारतीय कथाओं में आवृत्त होती रही है। इसीलिए, इस रोचक-रोमांचक और रहस्य-विस्मयमयी पारम्परिक घटना को अपनी महत्कथा में समाविष्ट करने की गुंजाइश संध्यासगणी ने भी निकाल ली है। दुर्गम सुवर्णद्वीप में जाकर सोने की प्राप्ति या लोहे से सोना बनाने के रस की उपलब्धि प्राचीन कथानायकों के पुरुषार्थ या जीवोद्देश्य की चरम परिणति या परा काष्ठा मानी जाती थी।

संध्यासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' के गन्धर्वदत्तालम्भ में एतद्विषयक रोचक कथा इस प्रकार उपन्यस्त की है : जब औत्पातिक आँधी से चारुदत्त की नाव नष्ट हो गई, तब बहुत देर के बाद नाव का एक तख्ता उसके हाथ लग गया। उसी को पकड़कर लहर के सहारे बहता हुआ वह सात रात के बाद उदुम्बरावती के तट पर आ लगा। और तब, वह समुद्र से बाहर आ गया। खारे पानी में देर तक रहने से उसका शरीर सफेद पड़ गया था। वह एक लताकुंज के नीचे बैठकर विश्राम करने लगा।

उसी समय एक त्रिदण्डी वहाँ आया। वह उसे सहारा देकर गाँव में ले गया। अपने मठ में उसने उसके लिए अभ्यंग की व्यवस्था की और पूछा : "इभ्यपुत्र ! कैसे इस आफत में पड़ गये ?" उसने त्रिदण्डी से यात्रा पर निकलने और आफत में पड़ने की अपनी कहानी संक्षेप में बताई। तब वह त्रिदण्डी सहसा फूट पड़ा : "ओ अभाग ! मेरे मठ से निकल जा।" वह वहाँ से निकल पड़ा। थोड़ी ही दूर गया था कि त्रिदण्डी ने उससे लौटने का आग्रह करते हुए कहा :

१. कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के योगमद्यों की चर्चा की है, जिनमें मेदकयोग, प्रसन्नायोग, आसकयोग, सम्भारयोग आदि के बनाने का विधिवत् नुस्खा भी उन्होंने प्रस्तुत किया है। विशेष विवरण के लिए 'अर्थशास्त्र' के दूसरे अधिकरण का पच्चीसवाँ अध्याय द्रष्टव्य है।

“बेटे! मैंने तो तुम्हारी विनम्रता की परीक्षा के लिए तुम्हें डाँटा था। अनजान की तरह क्यों अपने को मौत के मुँह में डाल रहे हो? अगर धन कमाना चाहते हो, तो मेरी आज्ञा का पालन करो। मेरी सेवा-उपासना से तुम्हें अनायास धन मिलेगा।”

उसके बाद उस त्रिदण्डी के नौकरों ने उस (चारुदत्त को) स्नान कराया और यवागू (जौ का माँड़) पिलाया। इस प्रकार, वहाँ उसके कुछ दिन बीते। एक दिन उस परिव्राजक ने आग धधकाकर उससे कहा: “देखो!” इसके बाद उसने काले लोहे पर रस चुपड़कर उसे अंगारों में छोड़ दिया और फिर भाथी से धौंकना शुरू किया। थोड़ी ही देर में वह लोहा उत्तम सोना बन गया। उसके बाद परिव्राजक ने उससे पूछा: “देखा तुमने?” “अत्यन्त अद्भुत देखा!” उसने कहा। परिव्राजक ने पुनः कहा: “अगर मेरे पास सोना नहीं है, तो भी मैं बहुत बड़ा सोनेवाला हूँ। तुम्हें देखकर तुम्हारे प्रति मेरा पुत्रवत् स्नेह उमड़ आया है। तुम धन के लिए क्लेश उठा रहे हो, अतः तुम्हारे लिए ‘शतसहस्रवेधी’ रस लाने जा रहा हूँ। इसके बाद तुम कृतार्थ होकर अपने घर लौट जाओगे। पहले का लाया हुआ रस तो बहुत थोड़ा है।” वह चारुदत्त परिव्राजक की बात पर लट्टू हो गया और बोला: “तात! ऐसा ही करें।”

परिव्राजक ने रस लाने की तैयारी शुरू की। अनेक उपयोगी उपकरण अपने साथ रखे, पाथेय भी रख लिया। और, चारुदत्त को साथ लेकर रात के अँधेरे में गाँव से निकल पड़ा। क्रमशः वे दोनों हिंस्रक जन्तुओं से भरे घोर जंगल में पहुँचे। रात में वे चलते थे और दिन में पुलिन्दों के भय से छिपकर रहते थे। क्रम से वे पहाड़ की गुफा से निकलकर एक तृणाच्छन्न कुएँ के पास पहुँचे। परिव्राजक वहीं ठहर गया और चारुदत्त से भी विश्राम करने को कहा।

उसके बाद वह परिव्राजक चमड़े का वस्त्र पहनकर कुएँ में पैठने लगा। चारुदत्त के जिज्ञासा करने पर उसने कहा: “घास से ढका यह कुआँ औंधे मुँह प्याले की तरह है। इसी के मध्यभाग में वज्रकुण्ड है। उसी कुण्ड में यह रस रिसता रहता है। मैं कुएँ में उतरता हूँ। तुम छोटी मचिया पर तूँबा रखकर नीचे लटकाना और तब मैं रस से तूँबा भरूँगा।” चारुदत्त ने परिव्राजक से कहा: “मैं ही कुएँ में उतरता हूँ।” “नहीं बेटे! तुम डर जाओगे।” परिव्राजक ने स्नेह के साथ कहा: “नहीं डरूँगा।” यह कहकर चारुदत्त ने चमड़े का कूर्पासक (कुरता) पहना और कुएँ में उतरने लगा। परिव्राजक ने योगवर्तिका जलाकर उसी के प्रकाश में चारुदत्त को कुएँ में उतार दिया। कुएँ के तल पर पहुँचते ही रसकुण्ड दिखाई पड़ा। परिव्राजक ने तूँबा लटकाया। चारुदत्तने करछुल से तूँबे में रस भरकर उसे मचिया पर रखा। परिव्राजक ने रस्सी खींचकर तूँबा ऊपर उठा लिया। चारुदत्त प्रतीक्षा करने लगा कि परिव्राजक पुनः मचिया को कुएँ में लटकायगा। देर होने पर चारुदत्त ने कुएँ से आवाज दी: “तात! रस्सी लटकाइए।” कुआँ बहुत गहरा था। चारुदत्त जैसे महामूर्ख को कुएँ में छोड़कर परिव्राजक चला गया। निराश, किन्तु साहसी चारुदत्त उस कुएँ से बाहर निकलने का उपाय सोचने लगा।

प्रस्तुत कथाप्रसंग में संधदासगणी द्वारा निर्दिष्ट लोहे को सोना बनानेवाला ‘शतसहस्रवेधी’ रस और उसके उद्गमस्थल वज्रकुण्ड, दोनों ही रहस्यात्मक हैं। किन्तु, लोहे से सोना बनाने की मूल परिकल्पना निराधार नहीं है। भारतीय आयुर्वेद-विद्या के लिए यह कार्य भी असम्भव नहीं था। आचार्य वाग्भट-विरचित ‘रसरत्नसमुच्चय’ में, सोने के प्रकरण में प्राकृतिक और कृत्रिम सोने की

चर्चा हुई है। सोना पाँच प्रकार का होता है : प्राकृत, सहज, वह्नि से उत्पन्न, खनिज और रसेन्द्र (पारद) के वेध (स्वेदन आदि) से उत्पन्न।^१ प्राकृत सुवर्ण, जिससे ब्रह्माजी ने सुवर्णमय ब्रह्माण्ड का निर्माण किया था, देवों के लिए भी दुर्लभ है। पारद के वेधनकर्म से उत्पन्न सुवर्ण 'रसेन्द्रवेध-संजात' कहलाता है। रसरत्नसमुच्चयकार ने प्रत्येक खनिज धातु को 'लोह' शब्द से अभिहित किया है। लोह तीन प्रकार के हैं : शुद्ध लोह, पूतिलोह और मिश्रलोह। सोना, चाँदी, ताँबा और लोहा, ये चार शुद्ध लोह हैं; राँगा और सीसा, ये दोनों पूतिलोह हैं तथा पीतल, काँसा और रुक्मलोह, ये तीनों मिश्रलोह हैं। इस प्रकार, लोहा और सोना, दोनों के एक ही वर्ग के होने के कारण लोहा से सोना बनना सहज ही सम्भव है। आज भले ही लोहे से सोना बनाने की विधि और सामग्री दुष्प्राप्य हो गई है, किन्तु प्राचीन भारत में इसकी सम्भाव्यता थी। यद्यपि उस युग में भी यह कार्य सर्वजनीन नहीं हो पाया और आयुर्वेद-विद्या से अधिक तन्त्रविद्या का विषय बनकर नामशेष हो गया।

भारतीय रसायनतन्त्र के इतिहास में लोहे से सोना बनानेवाले नागार्जुन के अतिरिक्त और भी अनेक रसायनाचार्य के नाम सुरक्षित हैं, जिनमें आदिम, चन्द्रसेन, लंकेश, विशारद, कपाली, मत्तमाण्डव्य, भास्कर, सूरसेन, रत्नकोश, शम्भु, सात्त्विक, नरवाहन, इन्द्रद, गोमुख, कम्बलि, व्याडि, सुरानन्द, नागबोधि, यशोधन, खण्ड कापालिक, ब्रह्मा, गोविन्द, लम्पक (ट) और हरि के नाम मूर्द्धन्य हैं। इन आचार्यों द्वारा रचित अनेक रसतन्त्र और रससंहिताएँ भी हैं, जिनमें 'दत्तोत्रेयसंहिता', 'रुद्रयामलतन्त्र', 'कामधेनुतन्त्र', 'काकचण्डीश्वरतन्त्र', 'नागार्जुनतन्त्र', 'स्वच्छन्दभैरवतन्त्र', 'मन्थानभैरवतन्त्र', 'रसपारिजात' आदि उल्लेखनीय हैं।^२

इस प्रकार, भारतवर्ष में रसायनाचार्यों की चमत्कारी रसनिर्माण-प्रक्रिया की एक परिपुष्ट परम्परा रही है। आश्चर्य नहीं कि वे ऐसे रस भी तैयार कर सकते थे, जिससे लोहा सोना बन जाता था। 'वसुदेवहिण्डी' की प्रस्तुत कथा में संघदासगणी ने कथाच्छल से लोहे से सोना बनाने की प्रक्रिया का उल्लेख करके भारतीय रसायनतन्त्र की महती मूल्यवती परम्परा की ओर ही संकेत किया है।

उपरिविवेचित आयुर्वेदिक तत्त्वों के अतिरिक्त और भी तद्विषयक कतिपय स्फुट प्रसंग 'वसुदेवहिण्डी' में उपलब्ध होते हैं। जैसे : वसुदेव ने लशुनिका नाम की दासी के मुँह की बदबू को दूर करने के लिए दुर्गन्धनाशक गोली तैयार की थी। वसुदेव के शब्दों में ही यह कथाप्रसंग प्रस्तुत है : मैं उस रूपवती नौकरानी से कुछ पूछता था, तो वह मुँह घुमाकर उत्तर देती थी। मैंने कहा : "बालिके ! मुँह घुमाकर क्यों बात करती हो ? क्या तुम विवेकहीन हो ?" वह बोली : "मेरे मुँह से लहसुन की गन्ध आती है, इसलिए यह जानकर भी आपकी ओर मुँह करके कैसे बैदूँ ?" मैंने कहा : "दुःखी मत हो। मैं गन्धद्रव्य के योग से तुम्हारे गले के श्वास की दुर्गन्ध को दूर कर दूँगा। मैं जिन वस्तुओं को कहता हूँ, उन्हें ले आओ।" वह सभी सामग्री ले आई। मैंने सभी द्रव्यों को घी में मिलाकर खरल किया और उन्हें नलीयन्त्र में भर दिया। उसके बाद उनसे गोलियाँ बनाई। उन गोलियों के प्रयोग से बदबू दूर हो गई और लशुनिका के मुँह से कमल की तरह

१. प्राकृत सहजं वह्निसम्भूतं खनिसम्भवम्।

रसेन्द्रवेधसंजातं स्वर्णं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ —रसरत्नसमुच्चय, ५.२

२. विशेषविवरण के लिए द्रष्टव्य : रसरत्नसमुच्चय, सुरलोज्ज्वाला भाषाटीका, चौखम्बा-संस्करण, भूमिका, पृ. २

सुगन्ध आने लगी। क्रम-क्रम से मैं उसके मुँह में गोलियाँ रखता चला गया और इस प्रकार वह पूर्णतः सुगन्धमुखी हो गई।" (रक्तवतीलम्भ : पृ. २१८)

भावमिश्र ने भी मुख की दुर्गन्ध दूर करने का एक नुस्खा दिया है : काला जीरा, इन्द्रजौ और कूठ को बचाने से तीन दिन में मुख की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है। किन्तु, वसुदेवजी का नुस्खा राजोचित प्रतीत होता है और वह गोली बिल्कुल आयुर्वेदोक्त गन्धद्रव्य ने ही, घी में खरल कर नलीयन्त्र के द्वारा तैयार की गई है। इससे गन्ध केवल दूर ही नहीं होती, अपितु वह कमल की सुगन्ध में बदल जाती है।

इसके अतिरिक्त, संघदासगणी ने आयुर्वेद के प्रसिद्ध पंचकर्मों में वमन-विरेचन (कथोत्पत्ति : पृ. १३) की चर्चा की है; दवा के खरल करने और उसमें भावना देने (रक्तवतीलम्भ : पृ. २१८) आदि का भी उल्लेख किया है; शतपाकतैल से अभ्यांग (नीलयशालम्भ : पृ. १७७) करने की बात भी आई है। साथ ही, आयुर्वेदिक जड़ी-बूटियों में त्रिफला का रस (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८९), गोशीर्षचन्दन, अरणी (नीलयशालम्भ : पृ. १६०), त्रियंगु (तत्रैव : पृ. १६१), तुम्बरचूर्ण (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४८), शिलाजतु (कथोत्पत्ति : पृ. ६) आदि को भी कथाव्याज से उपन्यस्त किया है। यहाँतक कि नवजात शिशु को घूँटी (पीठक) पिलाने की विधि की ओर भी कथाकार की दृष्टि गई है (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५२)।

कथाकार-प्रोक्त सरद-गरम की विरुद्ध स्थिति में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने का भी एक प्रसंग द्रष्टव्य है : मित्र के साथ चारुदत्त नदीतट पर बैठा था। तभी, मरुभूति ने नदी में उतरकर गोमुख से कहा : "तुम भी उतरो, क्यों देर कर रहे हो?" तब गोमुख बोला : "चिकित्सकों ने कहा है कि रास्ता चलकर सहसा पानी में नहीं उतरना चाहिए। तलवे की दो शिराएँ ऊपर जाकर गले से जुड़ती हैं। वहीं दो नेत्रगामिनी शिराएँ हैं। इन शिराओं को विकृत होने से बचाने के लिए गरमी से सन्तप्त शरीरवाले को पानी में उतरना निषिद्ध है। यदि कोई उतरता है, तो सरद-गरम की विरुद्ध स्थिति में वह कुबड़ेपन अथवा अन्धेपन का शिकार हो जाता है। इसलिए, थोड़ा विश्राम करके पानी में उतरना उचित है।" शारीरविज्ञान के आधार पर सरद-गरम की विरुद्ध स्थिति में उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट रोगों की उत्पत्ति का यह विवेचन संघदासगणी की विलक्षण और विस्मयकारी आयुर्वेदज्ञता का द्योतक है।

इस प्रकार, निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में आयुर्वेद-विद्या के विभिन्न लौकिक और शास्त्रीय आयामों को यथाप्रसंग उपस्थापित करके अपनी आयुर्वेदमर्मज्ञता सिद्ध की है। कहना न होगा, संघदासगणी ने अपने समय के आयुर्वेद-जगत् की ऐसी विशिष्ट बानगी प्रस्तुत की है, जिसका भारत के चिकित्साशास्त्र के इतिहास के लिए अतिशय महत्त्व है। तीसरी-चौथी शती के अनन्तर भी आयुर्वेद-क्षेत्र में कितने ही महत्वपूर्ण परिवर्तन होते गये, जिनके तुलनात्मक अध्ययन में 'वसुदेवहिण्डी' के आयुर्वेदिक प्रसंग अपना ततोऽधिक मूल्य रखते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका अध्ययन भारतीय स्वर्णकाल के आयुर्वेदिक इतिहास पर नया प्रकाश डाल सकता है।

इसके अतिरिक्त, संघदासगणी ने हाथियों, घोड़ों और गायों की जिस मानसिक और शारीरिक स्थिति का चित्रण किया है, उससे उनके, आयुर्वेद के उपांग, हस्त्यायुर्वेद, अश्वायुर्वेद और गवायुर्वेद के तत्त्वज्ञ होने का भी स्पष्ट संकेत मिलता है।

धम्मिल्लहिण्डी की धनश्री-कथा का विनीतक (समुद्रदत्त) तो कामशास्त्रोक्त चौंसठ कलाओं में अन्यतम वृक्षायुर्वेद में भी कुशल था। तभी तो, उसने कुछ ही दिनों में धन सार्थवाह के आराम को सर्वश्रेष्ठमुलभ फूलों और फलों से समृद्ध कर दिया ("ततो सो रुक्खायुर्वेयकुसलो तं आरामं कइवर्हि दिवसेहिं सब्बोउयपुप्फफलसमिद्धं करेइ"; पृ. ५०)।

प्राचीन भारतीय स्वर्णयुग पुरुषार्थप्रधान राजाओं और न्यायप्रधान राजदरबारों का युग था। हाथी, घोड़े, गाय-भैंस आदि उनके अमूल्य अनिवार्य उपकरण या पशुधन के रूप में सुरक्षित रहते थे, इसलिए उनके स्वास्थ्य की देखभाल की स्वतन्त्र व्यवस्था भी अनिवार्यतः रहती थी। आधुनिक राजतन्त्र की समाप्ति और पशुधन के ह्रास के युग में भी पशु-चिकित्सालयों की उपस्थिति प्राक्कालीन अष्टांग आयुर्वेदशास्त्र के व्यापक विकास और उसके महान् लक्ष्य प्राणिमात्र की कल्याणभावना को ही प्रतीकित करती है।

(ग) धनुर्वेद-विद्या

भारतीय प्राच्यविद्या में धनुर्वेद या धनुर्विद्या सम्पूर्ण आयुधवेद या आयुधविद्या के लिए प्रयुक्त हुआ है। धनुर्वेद की अतिरुचिर उत्पत्ति-कथा लिखते हुए संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में धनुर्वेद को आयुधवेद भी कहा है। कथा इस प्रकार है : इस भरतक्षेत्र में, मिथुन-धर्म के अवसान-काल में कुलकर्षों द्वारा प्रवर्तित हाकार, माकार और धिक्कार की दण्डनीति का लोग जब उल्लंघन करने लगे, तब मिथुनों-सहित देवों ने नाभिपुत्र ऋषभश्री को प्रथम राजा के रूप में गद्दी पर बैठाया। उस समय के मनुष्य प्रकृत्या भद्र और नम्र होते थे और स्वभावतः उनमें क्रोध, मान, माया और लोभ कम हुआ करते थे। उस समय अस्त्र की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। जब ऋषभभस्वाभी के प्रथम पुत्र भरत समस्त भारतवर्ष के राजा हुए और उन्हें चौदह रत्न और नौ निधियों का स्वामित्व प्राप्त हुआ, तब 'मानव' नामक निधि ने उनको व्यूह-रचना तथा अस्त्र-शस्त्र एवं कवच के निर्माण का उपदेश किया। कालान्तर में कठोरहृदय राजाओं और अमात्यों ने अपनी मति से विभिन्न शस्त्रों की रचना की और उनके प्रयोग की पद्धति का भी प्रचार किया। विद्वानों ने अस्त्रशस्त्र-विद्या से सम्बद्ध अनेक शास्त्रों की रचनाएँ कीं। इसी क्रम में अस्त्रों, अपास्त्रों और व्यस्त्रों का प्रचार हुआ तथा आयुधवेद एवं संग्राम के योग्य मन्त्रों के भी प्रयोग प्रारम्भ हुए (पद्यालम्भ : पृ. २०२)।

श्रामण्य-परम्परा-प्रोक्त अस्त्रविद्या की यह आवर्जक उत्पत्ति-कथा ब्राह्मण-परम्परा के सन्दर्भ में विवेच्य है। किसी निश्चित लक्ष्य पर धनुष की सहायता से बाण चलाने की कला को धनुर्विद्या (आर्वरी) कहते हैं। धनुर्विद्या का जन्मस्थान अनुमान का विषय है। लेकिन, ऐतिहासिक सूत्रों से सिद्ध होता है कि इसका प्रयोग पूर्वदेशों में बहुत प्राचीन काल से होता था। सम्भव है, भारत से ही यह विद्या ईरान होते हुए यूनान और अरब देशों में पहुँची थी।

भारतीय सैन्यविज्ञान या अस्त्रविद्या का नाम 'धनुर्वेद' होना सिद्ध करता है कि वैदिक काल से ही प्राचीन भारत में धनुर्विद्या प्रतिष्ठित थी। संहिताओं और ब्राह्मणों में वज्र के साथ ही धनुर्बाण का उल्लेख मिलता है। 'कौशीतकिब्राह्मण' में लिखा है कि धनुर्धर की यात्रा धनुष के कारण सकुशल और निरापद होती है। जो धनुर्धर शास्त्रोक्त विधि से बाण का प्रयोग करता है, वह बड़ा यशस्वी होता है।

यजुर्वेद (२२.२२) में, मंगलकामनापरक एक प्रसिद्ध मन्त्र में क्षत्रियों के लिए कहा गया है कि “आराष्ट्रे राजन्यः शूराऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।” अर्थात्, वीर क्षत्रिय इषुकर्म या बाण-सन्धान में निपुण (इषव्य) तथा बड़ी दूर-दूर तक लक्ष्यवेध करनेवाला (अतिव्याधी) हो। वेद का ही एक दूसरा मन्त्र है, जिसमें आकर्षकृष्ट धनुष का आलंकारिक युद्धोपयोगी वर्णन है। उसमें कहा गया है कि “वितताधि धन्वन् ज्या इयं समने पारयन्ती ।”^१ अर्थात्, युद्धस्थल में शत्रु को परास्त करने के लिए ज्या को धनुष पर चढ़ाकर इतने बल से आकर्षण करे कि ज्या कान तक पहुँच जाय। इस प्रकार, धनुर्विद्या का निर्देश करनेवाले कितने ही वाक्य वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

उपनिषत्काल में धनुर्विद्या इतनी अधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय थी कि अध्यात्मविद्या जैसे गहन विषय के उपदेश के लिए धनुर्विद्या को ही उपमान माना गया है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेदीय ‘मुण्डकोपनिषद्’ के द्वितीय मुण्डक के द्वितीय खण्ड के दो मन्त्र (सं. ३-४) उदाहर्य्य हैं। पहला मन्त्र है :

धनुर्गृहीत्वोपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्ध्यधीत ।

आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

अर्थात्, उपनिषत्प्रतिपादित ज्ञानरूपी महास्त्र धनुष को हाथ में लेकर उसपर उपासना-रूपी तीक्ष्ण बाण का सन्धान करो। हे सौम्य ! अपनी चित्तवृत्तियों को केन्द्रित करके अक्षरब्रह्म को अपना लक्ष्य समझकर केवल उसका ही चिन्तन करो।

दूसरा मन्त्र इस प्रकार है, जिसमें पूर्वमन्त्रोक्त रूपक को स्पष्ट किया गया है :

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अग्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

अर्थात्, ओंकार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है, परब्रह्म परमेश्वर ही उसका लक्ष्य कहा जाता है, वह प्रमादरहित मनुष्य द्वारा ही बाँधे जाने योग्य है। इसलिए, उसके बेधने में (लक्ष्य को प्राप्त करने की क्रिया में) लक्ष्यैकतान बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिए।

लक्ष्य के प्रति इसी तन्मयता का वर्णन महाभारत में भी है। धनुर्विद्या के शिक्षण के क्रम में आचार्य द्रोण ने एक कृत्रिम चिड़िया बनाकर ऊँचे वृक्ष पर रख दी और अपने तेजस्वी शिष्य अर्जुन से, लक्ष्यवेध की आज्ञा देकर बाण छोड़ने से पूर्व प्रश्न किया कि इस समय तुम्हें क्या-क्या

१. पूरी ऋचा इस प्रकार है :

वक्ष्यन्ती वेदा गनीयन्ति कर्णं प्रियं सखायं परिषस्वजाना ।

योषेव शिङ्गते वितताधि धन्वज्या इयं समने पारयन्ती ॥

— यजुर्वेद, २९.४०

अर्थात्, स्त्री जिस प्रकार मानों कुछ कहती हुई-सी कान के समीप आती और अपने प्रिय सखा-सदृश पति का आलिङ्गन करती हुई एकचित्त हो करने योग्य गृहस्थोक्ति कृत्य पुत्रोत्पत्ति आदि कार्यों के पार लगा देती है, उसी प्रकार यह धनुष की डोरी धनुष पर कसी हुई मानों कुछ कहती हुई-सी कान के पास तक आती है और अपने प्रिय मित्र के समान धनुर्दण्ड का आलिङ्गन करती हुई ध्वनि करती है और वही संग्राम के पार लगा देती है।

वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं। तब, अर्जुन ने उत्तर दिया : “मुझे चिड़िया की आँख को छोड़कर और कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता।” ‘शरवत्तन्मयो भवेत्’ का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। योगशास्त्र में भी चित्तवृत्ति को लक्ष्य पर केन्द्रित करने के क्रम में यथाभिमत ध्यान (‘यथाभिमतध्यानाद्वा’; समाधिपाद : ३९) अनिवार्य माना गया है।

संघदासगणी ने भी, वसुदेव तथा पूर्णाश उपाध्याय की उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा योगविद्या और आयुधविद्या की एकक्रियता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है : “करणसहितो पुण आया कयपयत्तो चर्म्मिन्द्रिय-सोइन्दिय-धाणिन्दियपउत्तो लक्खदेसे चित्तं निवेसेऊण हियइच्छियमत्थकज्जं समाणेति (पद्यालम्भ : पृ. २०२)।” अर्थात्, इन्द्रियसहित आत्मा को चेष्टाशील रखकर, चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय एवं घ्राणेन्द्रिय की एकतानता के साथ चित्त को लक्ष्य पर लगाया जाता है, तो मनोवांछित रूप से अस्त्र-प्रयोग सिद्ध होता है। यहाँ भी बहुश्रुत कथाकार ने मोक्षसिद्धि के समानान्तर लक्ष्यसिद्धि के लिए उपनिषद् के ‘शरवत्तन्मयो भवेत्’ या योगशास्त्र की ध्यानतन्मयता की अनिवार्यता का सबल समर्थन किया है।

धनुर्वेद की निरुक्ति से भी यह स्पष्ट होता है कि धनुर्विद्या समग्र अस्त्रविद्या का वाचक है। ‘धनुषि उपलक्षणेन धनुरादीनि अस्त्राणि विद्यन्ते ज्ञायन्तेऽनेनेति।’ ‘धनुः’ पूर्व ‘विद्’ धातु से करण अर्थ में ‘धव्’ प्रत्यय का योग होने से ‘धनुर्वेद’ शब्द निष्पन्न हुआ है। यहाँ उपलक्षण से, धनुष से इतर अस्त्रों का भी बोध होता है। इस प्रकार, विशिष्ट अर्थ में सम्पूर्ण अस्त्रविद्या के बोधक शास्त्र को धनुर्विद्या कहते हैं और सामान्य अर्थ में धनुष चलाने के कौशल की जानकारी देनेवाले विशिष्ट ज्ञान को धनुर्वेद कहा जाता है। पं. देशबन्धु विद्यालंकार ने लिखा है कि प्राचीन काल में धनुर्विद्या शब्द इतना व्यापक था कि प्रत्येक वीरोचित कार्य धनुर्विद्या के अन्तर्गत समझा जाता था। धनुर्विद्या शब्द की इतनी अधिक व्यापकता ही इस बात का साक्ष्य है कि उस काल में धनुष-बाण का बहुत अधिक प्रचार था।^१ जैसे लेह्य, चोष्य, चर्व्य, पेय, भक्ष्य, भोज्य आदि सभी पदार्थ ‘भोजन’ शब्द से व्यवहृत होते हैं; क्योंकि भोजन में इन्हीं की प्रधानता होती है, वैसे ही उस काल में धनुर्विद्या का इतना अधिक प्रचार था कि सभी वीरोचित शारीरिक कृत्य धनुर्विद्या के अन्तर्गत समझे जाते थे, जिनमें शस्त्रास्त्र-विद्या के साथ मल्लविद्या भी परिगणित थी।

संघदासगणी ने भी इसी मान्यता के आधार पर बाणविद्या (धनुर्वेद) के प्रशिक्षण के क्रम में समस्त युद्धास्त्रों के सीखने का भी उल्लेख किया है। अवन्ती जनपद की उज्जयिनी नगरी के राजा जितशत्रु का सारथी अमोघरथ धनुर्वेद (इष्वस्त्र) के साथ ही उसके अंगभूत शस्त्रविद्या, रथयुद्धविद्या, बाहुयुद्ध (णिजुद्ध = कुशती, मल्लविद्या) तथा अश्वसंचालन-विद्या में भी निपुण था (“ईसंत्थ-सत्थ-रहजुद्ध-निजुद्ध-तुरगपरिकम्पकुसलो अमोहरहो नाम नामेणं”; धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ३६)। संयोगवश, अमोघरथ अपने पुत्र अगडदत्त को बचपन में ही छोड़कर चल बसा। तब, राजा जितशत्रु ने अमोघरथ की जगह अमोघप्रहारी को सारथी के स्थान पर नियुक्त किया। इससे अगडदत्त की माँ निरन्तर शोकाग्नि में जलती-झुलसती रहती थी। एक दिन उसने अपने बेटे अगडदत्त से बताया कि यदि तुम्हारे पिता जीवित होते, तो तुम भी धनुर्वेद और शस्त्रविद्या में कुशल होते और, अमोघप्रहारी की जगह तुम्हारी ही नियुक्ति होती।

अन्त में, अपनी माँ के परामर्श के अनुसार, अगडदत्त अपने पिता के सहाध्यायी परम मित्र दृढ़प्रहारी के निकट धनुर्वेद और शस्त्रविद्या सीखने के लिए कौशाम्बी चला गया। दृढ़प्रहारी उत्तम सारथी होने के साथ ही धनुर्वेद और शस्त्रविद्या का पारगामी विद्वान् था। अगडदत्त ने कौशाम्बी पहुँचकर दृढ़प्रहारी को 'धनुर्वेद, शस्त्रविद्या और रथचर्या में कुशल आचार्य' कहकर सम्बोधित किया। दृढ़प्रहारी ने उसे पुत्रवत् स्नेह देते हुए कहा : "मैंने जितना शिक्षण प्राप्त किया है, उतना सब कुछ तुम्हें भी सिखाऊँगा।" इसके बाद शुभ तिथि, करण, नक्षत्र, दिन और मुहूर्त में, शकुनशास्त्रीय विधि पूरी करके दृढ़प्रहारी ने अगडदत्त को धनुर्वेद का प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया।

इस कथा-प्रसंग से स्पष्ट है कि धनुर्वेद के ज्ञान में सम्पूर्ण आयुधवेद का ज्ञान समाहित है। साथ ही, इसमें समस्त युद्धविद्या की कलाओं का परिज्ञान भी निहित है। इसलिए, प्राचीन काल के राजा व्यावहारिक अभ्यासपूर्वक धनुर्वेद पढ़ते थे। उस युग में जो मनुष्य धनुर्विद्या में श्रेष्ठ होता था, वह राजसमाज में प्रसिद्ध और सम्माननीय वीर पुरुष के रूप में पूजा जाता था। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में बुधस्वामी ने लिखा है कि वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का सभामण्डप श्रुति, स्मृति, पुराण आदि ग्रन्थसागर के पारगामी विद्वानों से विभूषित तो था ही, धनुर्वेद आदि के तत्त्वज्ञ और कलादक्ष लोगों से भी सुशोभित था।^१

'रामायण', 'महाभारत' आदि प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में धनुर्वेद का यथेष्ट विवरण प्राप्त होता है। 'हिन्दी-विश्वकोश' के सम्पादक प्राच्यविद्यामहार्णव नगेन्द्रनाथ वसु ने चर्चा की है कि मिस्रदेश के पिरामिडों में भी धनुर्धारी वीरों की अतिप्राचीन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। ग्रीस और रोम के प्राचीन ग्रन्थों में भी धनुर्विद्या का समीचीन वर्णन मिलता है। किन्तु, इतना स्पष्ट है कि सुनियोजित प्रणाली के साथ धनुर्विद्या के शिक्षण की परम्परा का प्रवर्तन भारतवर्ष में ही हुआ। पारसी में जो धनुर्वेद का वर्णन पाया जाता है, वह संस्कृत-ग्रन्थों में प्राप्य तद्विषयक तथ्यों का अनुवाद-मात्र है।

भारतीय मान्यता के अनुसार, आर्य ऋषियों ने क्षत्रिय राजकुमारों को सिखाने के लिए धनुर्विद्या-विषयक जिन ग्रन्थों का प्रचार किया, वे ही धनुर्वेद के रूप में प्रसिद्ध हुए। मधुसूदन सरस्वती ने 'प्रस्थानभेद' ग्रन्थ में धनुर्वेद को यजुर्वेद का उपवेद कहा है। नगेन्द्रनाथ वसु ने पूर्वकाल में प्रचलित अनेक धनुर्वेदों की चर्चा की है। प्रसिद्ध धनुर्वेदों में वैशम्पायनोक्त धनुर्वेद की महीयसी प्रतिष्ठा थी। इसके अतिरिक्त 'शुक्रनीति', 'कामन्दकनीति', 'अग्निपुराण', 'वीरचिन्तामणि', 'लघुवीरचिन्तामणि', 'वृद्धशार्ङ्गधर', 'युद्धजयार्णव', 'युद्धकल्पतरु', 'नीतिमयूख' प्रभृति ग्रन्थों में भी धनुर्वेद का विशद वर्णन किया गया है। जिस प्रकार ब्राह्मणों के निकट वेद, चिकित्सकों के निकट आयुर्वेद और संगीतज्ञों के बीच गन्धर्ववेद समादृत था, उसी प्रकार क्षत्रियों द्वारा धनुर्वेद को समादर दिया जाता था। धनुर्वेद में सैद्धान्तिक ज्ञान को जितना महत्त्व प्राप्त था, उतना ही या उससे भी अधिक समादर आभ्यासिक या व्यावहारिक क्रिया को उपलब्ध था।

'अग्निपुराण' में कहा गया है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा और महेश्वर ने धनुर्वेद का प्रचार किया। महेश्वर स्वयं महान् धनुर्धर थे। उनके धनुष के दो नाम कोश-प्रसिद्ध हैं : पिनाक और अजगव। इसीलिए उन्हें 'त्रिशूलपाणि' के साथ ही 'पिनाकपाणि' भी कहा जाता है। विष्णु का धनुष

१. श्रुतिस्मृतिपुराणादिग्रन्थसागरपारौः ।

धनुर्वेदादितत्त्वज्ञैः कलादक्षैश्च सेवितम् ॥ (२७.२०)

शृंगनिर्मित था, इसलिए उनके धनुष को शार्ङ्गधनुष कहा जाता है और वे स्वयं शार्ङ्गपाणि थे। कहा जाता है कि महेश्वर और ब्रह्मा द्वारा प्रचारित धनुर्वेद आजकल लुप्त हो गया है।

मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थानभेद' के अनुसार, सर्वप्रथम विश्वामित्र ने धनुर्वेद का प्रवर्तन किया। 'महाभारत' के धनुर्धरों में अर्जुन तथा रामायण के धनुर्धरों में राम और लक्ष्मण के नाम ही अधिक प्रासंगिक हैं। अर्जुन तो बायें हाथ से भी दायें हाथ की भाँति पूरी क्षमता के साथ अपने प्रसिद्ध धनुष गाण्डीव को खींचते थे, इसीलिए उन्हें 'सव्यसाची' कहा गया।^१ 'महाभारत' में जिस प्रकार द्रोणाचार्य महान् धनुर्वेदाचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं, उसी प्रकार रामायण में राम-लक्ष्मण को धनुर्वेद की शिक्षा देनेवाले वरेण्य आचार्य के रूप में विश्वामित्र की प्रतिष्ठा है। प्रविदित है कि विश्वामित्र ने राम और लक्ष्मण को युद्धविद्याओं के साथ ही अनेक युद्धास्त्र भी दिये थे।

भारतीय धनुर्वेद-ग्रन्थों में धनुर्वेद या आयुधवेद के चार पाद कहे गये हैं : दीक्षापाद, संग्रहपाद, सिद्धिपाद और प्रयोगपाद। दीक्षापाद में धनुष एवं विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं; संग्रहपाद में आचार्यों के लक्षण और सर्वविध अस्त्र-शस्त्र आदि के संग्रह का निरूपण है; सिद्धिपाद में गुरु और विभिन्न सम्प्रदायों के विशिष्ट सिद्धास्त्रों की विवृति दी गई है तथा प्रयोगपाद में देवार्चना, अस्त्रसिद्धि तथा अस्त्रशस्त्रों की प्रयोगविधि निरूपित की गई है।

यों तो, ब्राह्म, वैष्णव, पाशुपत, प्राजापत्य, आग्नेय आदि भेदों से आयुध अनेक प्रकार के हैं, और उस समय के क्षत्रियकुमार समन्त्र और साधिदैवत आयुधों से सम्पन्न होते थे, अर्थात् उन्हें आयुधों के मन्त्र तथा उनके देवता सिद्ध रहते थे, साथ ही पदाति, रथी, गजारोही और अश्वारोही, यानी चतुरंगिणी सेना उनकी अनुवर्तिनी रहती थी। अस्त्रों के प्रशिक्षण या प्रयोग का प्रारम्भ मंगलाचारपूर्वक ही होता था।

प्राचीन धनुर्वेदज्ञों ने आयुधों को प्रमुखतया चार वर्गों में रखा है: मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त और यन्त्रमुक्त। मुक्त, यानी फेंककर प्रयोग किये जानेवाले आयुधों को 'अस्त्र' तथा अमुक्त, यानी बिना फेंककर चलाये जानेवाले आयुधों को 'शस्त्र' कहा गया है। चक्र मुक्तास्त्र है, तो खड्ग अमुक्त शस्त्र। भाले और बरछे को 'मुक्तामुक्त' आयुध माना गया है। क्योंकि, इन्हें कभी फेंककर और कभी बिना फेंके ही प्रयोग में लाया जाता है। उस युग में धनुष से मुक्त बाण ही यन्त्रमुक्त अस्त्र का प्रतिनिधित्व करता था। नालिकास्त्र (बन्दूक आदि) का आविष्कार तो उस युग में नहीं हुआ था, किन्तु आग्नेयास्त्र के रूप में अग्निबाण के प्रयोग का उल्लेख अवश्य मिलता है। संघदासगणी ने भी यन्त्रमुक्त और पाटिक, इन दो प्रकार के धनुषायुधों का उल्लेख किया है (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ३६)।

वैशम्पायन के धनुर्वेद से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम खड्ग का आविष्कार और प्रचार हुआ। पीछे चलकर वेणुपुत्र राजा पृथु के समय में धनुष का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। वृद्धशार्ङ्गधर ने धनुष

१. महाभारत में सव्यसाची की व्याख्या इस प्रकार है :

उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे ।

तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ॥

(आटे के संस्कृत-हिन्दी-कोश से उद्धृत)

और उसके निर्माण की प्रक्रिया पर गम्भीर सूक्ष्मेक्षिका से प्रकाश डाला है। उनके अनुसार धनुष के दो प्रकार हैं : यौगिक धनुष और युद्धधनुष। सहज संचालन के योग्य धनुष को उत्तम धनुष माना जाता था। धनुर्धारी की अपेक्षा भारी धनुष को अधम कहा जाता था। अधम धनुष से लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाने की सम्भावना रहती थी। 'युक्तिकल्पतरु' के मत से युद्धधनुष के दो प्रकार थे : शार्ंग और वैणव। शृंगनिर्मित धनुष को शार्ंग और वेणु या बाँस से बने धनुष को वैणव कहा गया है। वैशम्पायन के अनुसार, शार्ंग धनुष तीन जगह से झुका हुआ होता था और वैणव धनुष में झुकाव बराबर क्रम से रहता था। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार, विष्णु के शार्ंग धनुष को विश्वकर्मा ने बनाया था, जो सात बिन्ता लम्बा था। अब यह धनुष दुष्प्राप्य हो गया है।

अश्वरोही और गजारोही के काम में आनेवाला धनुष साढ़े छह बिन्ता लम्बा होता था। तीन, पाँच, सात और नौ गाँठोंवाला धनुष उत्तम और चार, छह तथा आठ गाँठोंवाला धनुष अधम माना गया है। बहुत पुराने, कच्चे तथा घिसे चिकने बाँस का धनुष ही उत्तम होता था।

'अग्निपुराण' में धनुष की निर्माण-प्रणाली, उसकी आकृति-संरचना तथा तकनीकी सूक्ष्मताओं पर विशद प्रकाश डाला गया है। तदनुसार, चार हाथ का धनुष उत्तम, साढ़े तीन हाथ का मध्यम और तीन हाथ का अधम माना गया है। 'अग्निपुराण' में 'उपलक्षेपक' (गुलेल) की भी चर्चा है। यह भी धनुषाकृति होता है, जिसकी चौड़ी ज्या पर पत्थर या मिट्टी की सूखी गोली रखकर प्रक्षेपण किया जाता है।

'अग्निपुराण' के मत से धनुष की डोरी पाट की होती थी, जो मोटाई में कनिष्ठिकाप्रमाण और सर्वतः समान रहती थी। बाँस की, महीन लम्बी करची से भी ज्या का निर्माण होता था। पशुचर्म से भी प्रत्यंचा बनाई जाती थी, जो प्रायः हिरण, भैंसे, गाय, बैल, बकरे आदि की खाल से तैयार की जाती थी। अकवन की सूखी छाल और मूर्वालता की भी डोरी प्राचीन काल में अधिक प्रचलित थी।

उस युग में धनुष के साथ ही, तीर के निर्माण में पर्याप्त वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया गया था। तीर हवा काटता हुआ, सीधे जाकर लक्ष्य का वेध करे, एतदर्थ उसमें पंख भी लगाया जाता था। ये पंख प्रायः काक, हंस, मयूर, क्राँच, वक और चील पक्षियों के होते थे। वृद्धशार्ंगधर ने तीर के फल के कई आकार बताये हैं। जैसे : आरामुख, क्षुरप्र, गोपुच्छ, अर्द्धचन्द्र, सूचीमुख, भल्ल, वत्सदन्त, द्विभल्ल, कर्णिक, काकतुण्ड आदि। कर्णिक तीर के शरीर में घुसने पर उसका बाहर निकलना बड़ा कठिन होता था। लौहकण्टक फल शरीर में तीन अंगुल छेद कर देता था। फल में वज्रलेप का विधान भी प्रचलित था। वृद्धशार्ंगधर ने तो वज्रलेप का नुस्खा भी दिया है : पीपल, सेंधानमक और कूठ तीनों औषधियों को गाय के मूत्र में पीसें। औषधकल्क को शर में लगाकर उसे अग्निदग्ध करें, फिर तेल में डुबो दें। इससे बाण में विशेष शक्ति आ जायगी। इस प्रसंग का विशेष वर्णन 'बृहत्संहिता' में भी उपलब्ध होता है।

लोहे का सम्पूर्ण बाण 'नाराच' कहलाता था।^१ 'अग्निपुराण' तथा अन्यान्य धनुर्वेदों में बाण छोड़ने के कई नियम बताये गये हैं। जैसे : समपद, वैशम्पु, मण्डल, आलीढ, प्रत्यालीढ, दण्ड, विकट, सम्पुट, स्वस्तिक, निश्चल आदि। ये सब स्थितियाँ धनुर्धर के खड़े होने की हैं। धनुर्युद्ध

१. सर्वलोहमय बाण नाराचास्ते प्रकीर्तिताः। —अग्निपुराण

में खड़े रहने की प्रक्रियाओं की भाँति धनुष-बाण पकड़ने की भी कई पद्धतियाँ प्रचलित थीं। शास्त्रकारों ने इन्हें मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त किया है : गुणमुष्टि और धनुर्दण्डमुष्टि। गुणमुष्टि के पाँच भेद कहे गये हैं : पताका, वज्र, सिंहकर्ण, मत्सरी और काकतुण्डी। पुनः धनुर्मुष्टि के भी तीन भेद बताये गये हैं : अधःसन्धान, ऊर्ध्वसन्धान और समसन्धान। बाण के दूरनिक्षेप के लिए अधःसन्धान किया जाता था और दृढ़तर आस्फोट के लिए ऊर्ध्वसन्धान एवं निश्चल लक्ष्य के लिए समसन्धान उपयुक्त माना जाता था।

प्राचीन युग में शराकर्षण की प्रणाली भी अद्भुत थी। प्रत्यंचा को कान तक खींच ले आना 'अर्द्धचन्द्राकार आकर्षण' कहलाता था; केश तक 'कैशिक', शृंग (वक्ष) तक 'शार्गिक', कर्ण तक 'वत्सकर्ण', ग्रीवा तक 'भरत' और कन्धे तक प्रत्यंचा का आकर्षण 'स्कन्ध' कहा जाता था। वैशम्पायन ने इस प्रसंग का विस्तार से वर्णन किया है।

तीर द्वारा वेधनीय वस्तु को 'लक्ष्य' या 'शरव्य' कहते हैं। युद्ध के समय अनेक प्रकार के लक्ष्यभेद करने पड़ते थे। कभी चक्र के समान घूमती हुई वस्तु को लक्ष्य बनाना पड़ता था, तो कभी वायुवेग से दौड़ती हुई वस्तु को। 'वैशम्पायन, शार्गधर आदि ने चार प्रकार के लक्ष्य निर्धारित किये हैं : स्थिर, चल, चलाचल, द्वयचल। स्थिर रहकर स्थिर वस्तु पर लक्ष्य-सन्धान करना 'स्थिरवेध' कहा जाता था; आचार्य के उपदेशानुसार, स्थिर भाव से खड़ा रहकर चल वस्तु पर लक्ष्य का सन्धान करना 'चलवेध' माना जाता था; घोड़े पर घूम-घूमकर चल और अचल वस्तुओं को अपने लक्ष्य का विषय बनाने को 'चलाचलवेध' कहते थे और वेध्य तथा धनुर्धारी दोनों जब प्रबल वेग से घूम रहे हों, ऐसी स्थिति में चल लक्ष्य का वेध करना 'द्वयचल' कहलाता था। साठ धनु अर्थात् २४० हाथ की दूरी से लक्ष्यवेध करना उत्तम माना जाता था; चालीस धनु अर्थात् १६० हाथ की दूरी से लक्ष्यवेध करना मध्यम और बीस धनु अर्थात् अस्सी हाथ की दूरी से लक्ष्यवेध करना अधम कहा जाता था। तात्पर्य यह कि जो धनुर्धर जितनी अधिक दूरी से लक्ष्यवेध करने में सफल होता था, वह उतना ही अधिक उत्तम कोटि का लक्ष्यवेधक समझा जाता था।

कालिदास ने चल लक्ष्य पर बाण की सफलता को धनुर्धारियों का उत्कर्ष माना है : 'उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले' ('अभिज्ञानशाकुन्तल', २.५)। 'रघुवंश' में राम और लक्ष्मण के धनुषों के टंकार का वर्णन और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त के युद्धकौशल का चित्रण सिद्ध करता है कि कालिदास को धनुर्विद्या की अच्छी जानकारी थी। सम्भव है, संघदामनगणी पर कालिदास के धनुर्वर्णन का प्रभाव पड़ा हो।

प्राचीन धनुर्वेदज्ञों ने धनुष के प्रशिक्षण का समय-निर्धारण भी कर दिया है। सूर्योदय के समय पश्चिम की ओर, अपराह्न में पूर्व की ओर, सूर्यास्त के समय उत्तर की ओर एवं बुद्धकाल के अतिरिक्त और दूसरे समय में दक्षिण की ओर शराभ्यास करना चाहिए। पुरुषप्रमाण, अर्थात् साढ़े तीन हाथ ऊँचा चन्द्रवत् गोलाकार काष्ठफलक में लक्ष्यवेध का प्रशिक्षण प्रशस्त माना गया है।^१

१. धनुर्वेद-सम्बन्धी विशिष्ट तथ्यों की जानकारी के लिए निर्माकित सन्दर्भ-ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं :

(क) हिन्दी-विश्वकोश : श्रीनगेन्द्रनाथ वसु

(ख) हिन्दी-विश्वकोश : प्र. काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी

(ग) 'धनुर्विद्या' : पं. देशबन्धु विद्यालंकार, गुरुकुल आर्योला, बरेली

‘रामायण’ और ‘महाभारत’ में कई स्थलों पर शब्दवेधी बाण का उल्लेख हुआ है। राजा दशरथ शब्दवेधी बाण चलाने में कुशल थे और अर्जुन को भी शब्दवेधी बाण का विशेषज्ञ माना जाता था। यहाँतक कि ‘शब्दवेधी’ शब्द अर्जुन और दशरथ का पर्यायवाची बन गया है। शब्दवेधी बाण का अभ्यास बड़ा कठिन होता था।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत में अगदिकाल से ही धनुर्वेद का प्रचलन, प्रियता और प्रख्याति रही है। संघदासगणी ने ‘वसुदेवहिण्डी’ में, विशेषतः उसके ‘धम्मिल्लहिण्डी’ प्रकरण में धनुर्वेद या आयुधवेद का जो वर्णन किया है, उससे उनके प्राच्यभारतीय धनुर्वेद-विद्या के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्यों के विशद और गम्भीर ज्ञान की सूचना मिलती है। यहाँ संघदासगणी की आयुधवेद-विद्या की विशेषता का विवेचन भारतीय प्राचीन धनुर्विद्या के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक होगा। कथाकार ने भारतीय प्राचीन धनुर्वेद के आधार पर अपने वर्ण्य को विस्तार तो दिया ही है, कहीं-कहीं उनकी एतद्विषयक उदात्त कल्पना की रमणीयता और चमत्कारिता ततोऽधिक हृदयावर्जक हो उठी है।

संघदासगणी ने धनुर्वेद की शिक्षा प्रारम्भ करने का शास्त्रीय विधि का उल्लेख किया है। दृढप्रहारी ने अगडदत्त को धनुर्वेद का प्रशिक्षण देने के क्रम में पहले बाण को खींचने की प्रक्रिया बताई। फिर, पाँच प्रकार की धनुर्मुष्टि (धनुष को पकड़ने की कला : गुणमुष्टि के पाँच भेद) का उपदेश किया। इसके बाद ही, श्रेष्ठ धनुर्धर को जीतने की शक्ति अगडदत्त को प्राप्त हो गई। मुष्टिबन्ध की कुशलता भी उसे उपलब्ध हो गई। फिर, शीघ्र लक्ष्यवेध में और लक्ष्यवेध के समय खड़े होने की विधियों (समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ आदि) में भी उसने दक्षता आयत्त कर ली, साथ ही वह दृढ प्रहार की क्षमता से भी सम्पन्न हो गया। पुनः पाटितक (विदारित करनेवाला) और यन्त्रमुक्त, इन दो प्रकार के धनुरायुधों की भी शिक्षा पूरी हुई। तदनन्तर, और भी अन्यान्य, शिक्षकोपदिष्ट शास्त्रविधियों, जैसे तरुपतन (बाण से पेड़ गिराना), छेद्य, भेद्य, यन्त्रास्त्र और स्फारकास्त्र (टंकारयुक्त अस्त्र) के संचालन, (रथचर्या-विधि) आदि का सांगोपांग प्रशिक्षण पूरा हुआ (अगडदत्तचरित : पृ. ३६)।

अगडदत्त की विद्या जब सिद्ध हो गई, तब वह उज्जयिनी लौट आया और गुरु की आज्ञा पाकर अपनी शिक्षा के प्रदर्शन के लिए जितशत्रु के राजदरबार में उपस्थित हुआ। वहाँ उसने, खड़्ग और ढाल का संचालन, हाथी का खेलाना, घूमते हुए चक्र का वेध (अर्थात् चलवेध), गतिशील लक्ष्य का गतिशील होकर वेध (अर्थात् द्रव्यचलवेध), प्रचण्ड हवा में काँपते हुए लक्ष्य का वेध (अर्थात् चलाचलवेध) आदि जितनी धनुर्विद्याएँ उसने सीखी थीं, उन सबको यथावत् प्रदर्शित किया। सभी प्रेक्षक विस्मित और हतबुद्धि होकर अगडदत्त के धनुः कौशल को देखते और उसकी प्रशंसा करते रहे।

यहाँ संघदासगणी ने वैशम्पायन तथा वृद्धशार्ङ्गधर-प्रोक्त लक्ष्यवेध-विधियों की ओर संकेत तो किया ही है, साथ ही अपने धनुर्वेद-विषयक गहन अध्ययन के आधार पर और भी अनेक शास्त्रास्त्रों और उनकी संचालन-विधियों तथा हाथी के खेलाने की विधि की ओर भी संकेत किया है। इससे, यह स्पष्ट है कि पुराकाल के सारथी को व्यापक धनुर्वेद-ज्ञान अर्जित करना अनिवार्य होता था और वह केवल सारथी ही नहीं होता था, अपितु सम्पूर्ण युद्धविद्या में पारंगत अपराजेय योद्धा की भूमिका का भी निर्वाह करता था। तभी तो अगडदत्त राजा जितशत्रु के राज्य में, अपने सारथी पिता की गद्दी हासिल करने में सफल हुआ।

संघदासगणी द्वारा उल्लिखित अस्त्र-शस्त्र और यथाचर्चित युद्धविद्या के विहंगावलोकन से उनके आयुधवेद-विषयक शास्त्रीय परिज्ञान पर चकित-चमत्कृत रह जाना पड़ता है। संघदासगणी के युग में चोर सेंधमारी भी करते थे और इस कार्य के लिए वे सुविधापूर्वक सेंध लगाने लायक, भवन के भूमिभाग को पहचान कर वहाँ 'आरामुख नहरनी' से सेंध लगाते थे : "तस्स य आरामुहेण नहरणेणं संधिं छिदिउं पयत्तो सुहच्छेदभूमिभागे निविट्ठो"; (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४०) । सेंध का द्वार इतना बड़ा होता था कि चोर उसमें प्रवेश करके धन से भरी बड़ी-बड़ी पेटिकाएँ बाहर निकाल ले जाते थे ।

विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के साथ ही लाठी चलाने की प्रक्रिया में कुशलता भी उस युग में अनिवार्य थी। धम्मिल्ल जब कमलसेना और विमलसेना को रथ पर ले जा रहा था, तभी रास्ते में उसे कुछ चोर मिले, जो तलवार, ढाल, भाला आदि शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित थे। उनके हाथ में खड्ग और फलक (तलवार और ढाल) के अलावा शक्ति और तोमर नाम के दो प्रकार के भाले भी थे। इसका पूरा रुचिकर प्रसंग इस प्रकार चित्रित है : शस्त्रास्त्रधारी चोर अनेक देशों की भाषाएँ बोल रहे थे ('णाणाविहदेसभासाविसारए'; तत्रैव : पृ. ५५)। वे बड़े वेग से धम्मिल्ल के सामने आये। चोरों को देखकर कमलसेना और विमलसेना काँपने लगीं। धम्मिल्ल ने उन्हें आश्चस्त किया और वह रास्ते पर मोर्चेबन्दी करके खड़ा हो गया। ढाल और भाला लिये चोर जब निकट आ गये, तब धम्मिल्ल ने एक चोर को एक ही लाठी के प्रहार से गिरा दिया और उसके भाले और ढाल छीन लिये। धम्मिल्ल को 'गृहीतायुध' देखकर युद्धकुशल चोरों ने उसपर सहसा आक्रमण कर दिया। धम्मिल्ल ढाल के प्रयोग की कला में निपुण रहने के कारण चोरों के बीच में घुसकर मार करने लगा। चोर चारों ओर बिखर गये और ढाल, शक्ति और तोमर जैसे विशिष्ट आयुधों को छोड़कर भाग खड़े हुए। तब, उनका सेनापति गरजता हुआ आया, जिसे जितेन्द्रिय धम्मिल्ल ने मायाबल से यन्त्र की भाँति घुमाया और दाँव देखकर एक ही भाले के प्रहार से मार गिराया। सेनापति को मरते देख शेष सभी चोर भाग गये। कहना न होगा कि संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' के दो प्रसिद्ध वीर पात्र धम्मिल्ल और अगडदत्त को धनुर्वेद या आयुधवेद-विद्या के पारगामी योद्धा के रूप में उपन्यस्त किया है।

धम्मिल्ल सारथी की विद्या में कुशल तो था ही, खड्ग के संचालन में भी बड़ा निपुण था। एक दिन धम्मिल्ल राजा कपिल के तेजस्वी घोड़े को फेरने के लिए तैयार हुआ। अश्वपरिचारकों ने घोड़े को लगाम, जीन आदि से सज्जित किया। धम्मिल्ल फुरती से मानों पक्षी की तरह उड़कर अनायास ही घोड़े पर चढ़ गया। उसने, रथचर्या में कुशल होने के कारण, घोड़े के स्वभाव को पहचान लिया था, इसलिए उसे विभिन्न रीति से फेरकर अपना वशवर्ती बना लिया। घोड़ा ऊबड़-खाबड़ भूमि को पार करके कनकबालुका नदी के निकट जाकर अपने मन से खड़ा हो गया। धम्मिल्ल घोड़े से उतरा तथा उसने उसे लगाम, जीन आदि से मुक्त करके विदा कर दिया और स्वयं दक्षिण की ओर चल पड़ा। कनकबालुका नदी के प्रदेश को पार करने पर उसे पेड़ से लटकती, कमल के कोष में आवृत, मणिखचित मूठवाली, चित्र-विचित्र हार जैसी तलवार दिखाई पड़ी। चारों ओर देखकर उसने पेड़ से तलवार उतार ली और उसे म्यान से बाहर निकाला। तीसी के फूल की भाँति नीलाभ, तिल के तेल की धारा जैसी चिकनी वह तलवार अद्भुत थी। अपनी चमक से वह धूमती-सी प्रतीत होती थी, अपने हलकेपन (जो किसी भी अस्त्र का विशिष्ट

मुण-होता है) के कारण उड़ती-सी मालूम होती थी और कौधती बिजली की तरह दुष्प्रेक्ष्य होते हुए भी दर्शनीय थी।

यह सामान्य असि नहीं, अपितु 'असिरत्न' था। इसे देखकर धम्मिल्ल विस्मित रह गया। तलवार की परीक्षा के खयाल से धम्मिल्ल ने उसे कसकर मुट्ठी से पकड़ा और घने पुराने वंशगुल्म पर चला दिया। केले के धड़ की भाँति वंशगुल्म के टुकड़े हो गये। तलवार की तीक्ष्णता देखकर धम्मिल्ल विस्मयाभिभूत रह गया (तत्रैव : पृ. ६७)।

स्पष्ट है कि वीर पुरुष तलवार को व्यवहार में लाने के निमित्त उसकी पूर्वपरीक्षा करते थे। इस प्रकार की खड्गपरीक्षा की कथा विमलसूरि ने 'पउमचरिय' में भी किया है। राम जब दण्डकारण्य पहुँचे, तब वहाँ एक दिन लक्ष्मण को एक तलवार मिली। राम ने उसकी शक्तिपरीक्षा के लिए उससे झुरमुट पर वार किया था।

प्राकृत-कथा-साहित्य में प्रायः सर्वत्र तलवार को, रूप-रंग की दृष्टि से, नीलोत्पल या अतसीपुष्प के सदृश नीलाभ बताया गया है। यह उत्तम तलवार के लक्षण को अभिव्यक्त करता है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में भी तलवार वीर रस की जननी मानी गई है। वीर रस की पुष्टि के लिए नायक का तलवार की मूठ पर हाथ रखना अनिवार्य होता था। किन्तु, संघदासगणी की तलवार-विषयक परिकल्पना की द्वितीयता कदाचित् दुर्लभ होगी।

संघदासगणी ने अनेक प्रकार के प्राचीन शस्त्रास्त्रों का उल्लेख किया है। गदा, पुराकाल के युद्ध में प्रचलित प्रमुख आयुध थी। 'वसुदेवहिण्डी' में भी प्रसंग आया है कि सिंहपुर के राजा सिंहरथ से युद्ध करते समय वसुदेव ने उसके रथ के घोड़ों को सारथी-सहित बेध डाला था और उनके युद्ध-सहयोगी कंस ने गदा के प्रहार से उसके रथ की धुरी का अग्रभाग तोड़ डाला था ('कंसेण य से फलिहप्पहारेण रहधुरातुंडं भग्गं'; श्यामा-विजयालम्भ : पृ. ११९)।

अर्द्धचन्द्र और आरामुख तो उस काल के प्रमुख आयुध थे; क्योंकि संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में बड़े आग्रह के साथ इनकी चर्चा की आवृत्ति की है। धनुर्वेद-प्रशिक्षित अगडदत्त, जब अपनी प्रेयसी श्यामदत्ता को साथ लेकर, रथ पर अपना देश (कौशाम्बी से उज्जयिनी) लौट रहा था, तभी रास्ते में उसे यात्रा की निर्विघ्नता के लिए अनेक शस्त्रास्त्रों के प्रयोग करने पड़े। पहले तो सामने उपस्थित आक्रमणोद्यत मतवाले हाथी के कुम्भ पर उसने तीन बाण छोड़े। हाथी जोरों से चिम्घाड़ता और तरुशाखाओं को तोड़ता हुआ भाग निकला। रथ के कुछ दूर आगे बढ़ने पर एक भयानक साँप देखकर श्यामदत्ता भयत्रस्त हो उठी। घोड़े और रथ की आवाज सुनकर साँप क्रोधाभिभूत हो उठा था। अगडदत्त ने अर्द्धचन्द्र (वृद्धशार्ङ्गधर-प्रोक्त बाण-विशेष) से उसका फन काट डाला। स्पष्ट है कि अर्द्धचन्द्र वेध्यास्त्र न होकर छेद्यास्त्र था।

साँप के मरने के बाद एक भयानक व्याघ्र रास्ते में आ खड़ा हुआ। तब अगडदत्त ने उसके मुँह पर पाँच बाण छोड़े। उस भयंकर बाण-प्रहार से वह भी भाग खड़ा हुआ। उसके बाद चोरों का एक दल विघ्न बनकर सामने आया। सभी चोर अनेक शस्त्रास्त्रों और कवचों से लैस थे। उन्होंने अगडदत्त को चारों ओर से घेर लिया। अगडदत्त अस्त्र-शस्त्र के संचालन में बड़ा निपुण था। उसने बड़े कौशल से बाण छोड़ना शुरू किया। शरप्रहार से वित्रासित चोर इधर-उधर भागने लगे। तभी चोरों को आश्वस्त करता हुआ उनका सेनापति अर्जुन रथप्रहार के योग्य

भूमिभाग पर आ डटा। वह घोड़े पर सवार था। अगडदत्त ने अपने रथ को अर्जुन के सामने ला भिड़ाया। दोनों परस्पर बाणों का प्रहार करते हुए जूझने लगे। तब, अगडदत्त ने सोचा कि सामान्य विधि से अर्जुन को जीतना सम्भव नहीं है; क्योंकि अर्जुन भी रथयुद्ध में बड़ा कुशल था। उसके बाद अगडदत्त को 'अस्त्रशास्त्र' में कही गई विशिष्ट विधि का स्मरण हो आया : "विसेसेण मायाए सत्त्वेण य हंतव्यो अप्पणो विवड्डमाणो सन्तु' ति"; (तत्रैव : पृ. ४५)। अर्थात्, जब शत्रु अधिक बलशाली प्रतीत हो, तब वैसी स्थिति में विशेष प्रकार की माया (छल) के प्रयोगपूर्वक शस्त्र से उसका विनाश करना चाहिए।

'अस्त्रशास्त्र' के इसी सिद्धान्त के अनुसार, अगडदत्त ने सर्वालंकार-विभूषित श्यामदत्ता से अघोवस्त्र को ढीला करके रथ के अगले हिस्से पर बैठने को कहा। वह चोर सेनापति श्यामदत्ता के रूपयौवन के विलास से विस्मित हो गया और एकटक उसे ही देखता रह गया। अगडदत्त ने चोर-सेनापति को असावधान देखकर नीलोत्पलसदृश आरामुख (वृद्धशार्ङ्गधर-प्रोक्त बाण-विशेष) से उसके स्तनप्रदेश (छाती) पर प्रहार किया। उसके बाद वह (अर्जुन) घोड़े से उतरकर "मैं युद्ध में स्त्रीमुख देखते रहने से, काम के बाण से मारा गया" कहते हुए मर गया। अपने सेनापति को मरा हुआ देखकर शेष सभी चोर भाग गये।

इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि पुराकाल के धनुर्धर अस्त्रयुद्ध में छल से भी अपने अतिशय बली प्रतिपक्षियों को विनष्ट कर डालते थे। संधदासगणी द्वारा निर्दिष्ट यह छलयुद्ध भी अपने-आपमें अद्भुत और विस्मयकारी है, साथ ही अगडदत्त की अलोकसामान्य प्रत्युत्पन्नमतियुक्त युद्धचातुरी की ओर भी संकेत करता है। इसके अतिरिक्त, इससे कथाकार संधदासगणी की अपूर्व कल्पना की परा काष्ठा भी सूचित होती है।

नवम अश्वसेनालम्भ में भी संधदासगणी ने युद्धाङ्गों के वर्णन के क्रम में तीक्ष्ण खड्ग और शक्ति के साथ ही कुन्त (भाले) और नाराच (सम्पूर्ण लौहमय बाण) का भी उल्लेख किया है। पुनः चौदहवें मदनवेगालम्भ में तामस अस्त्र की चर्चा आई है। कथा है कि त्रिशेखर और दण्डवेग जब एक दूसरे पर बाणों की वर्षा करते हुए परस्पर जूझने लगे, तब त्रिशेखर ने तामस अस्त्र का निक्षेप किया, फलतः चारों ओर अन्धकार छा गया। मायावी त्रिशेखर, अपने अस्त्रों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर कुपित हो उठा और जिस प्रकार मेघ पर्वत को ढक लेता है, उसी प्रकार बाणों की वर्षा करता हुआ वह आया और गरज उठा : "ओ वीर ! सम्प्रति अपनी रक्षा करो।" तब, दण्डवेग ने भी अस्त्रचालन की कुशलता का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। अन्तरिक्ष में इन्द्रधनुष के उगने से जैसे वर्षा रुक जाती है, वैसे ही दण्डवेग ने अपने रश्मिरंजित बाणों से त्रिशेखर की बाणवर्षा को व्यर्थ कर दिया। तब, त्रिशेखर ने दण्डवेग के वध के लिए स्वर्णखचित 'स्वस्तिक बाण' का निक्षेप किया। इस प्रकार, उसके द्वारा फेंके गये अस्त्रों को दण्डवेग रोकता रहा। फिर, दण्डवेग ने अपने अमोघ अस्त्रों से त्रिशेखर के मर्मदेश में प्रहार किया। फलतः, वह छिन्नरज्जु इन्द्रध्वज की भाँति अचेत होकर धरती पर गिर पड़ा (पृ. २४६)।

सत्रहवें बन्धुमतीलम्भ में भी राजा जितशत्रु के मन्त्री द्वारा उपदिष्ट नरक के वर्णन के क्रम में संधदासगणी ने अनेक शस्त्रास्त्रों का उल्लेख किया है। अवधिज्ञान के कारण पूर्वजन्म के वैरानुबन्ध का स्मरण हो आने से नरकवासी एक दूसरे को देखकर भाला, लाठी, गुल्ल, तीर, मूसल आदि

अस्त्र-शस्त्र विकुर्वित कर परस्पर प्रहार करते हैं। असिपत्रवन नामक नरक में तो नारकी जीव तीखी तलवार और त्रिशूल जैसे पत्ते के चारों ओर चक्कर काटते हैं (पृ. २७१)।

एक बार मेघरथ देवोद्यान की ओर निकला। तभी, बहुत सारे भूत वहाँ आये। वे अपने हाथों में तलवार, त्रिशूल, भाला, बाण, मुद्गर (गदा) और फरसा लिये हुए थे (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३६)। वृद्धशार्ङ्गधरोक्त 'क्षुरप्र' बाण की चर्चा भी संघदासगणी ने की है। वज्रायुध के अस्त्रागार में चक्ररत्न नाम का अस्त्र उत्पन्न हुआ था, जिसे एक हजार यक्ष सँभालते थे। चक्ररत्न, चक्रवर्ती राजाओं को दिग्विजय करते समय मार्गनिर्देश (उपायनिर्देश) भी करता था। कुमार वज्रायुध ने चक्ररत्न द्वारा निर्देशित मार्ग (उपाय) का अनुसरण करते हुए सम्पूर्ण मंगलावंती विजय को जीत लिया था। चक्रवर्ती राजा भरत के आयुधागार में भी चक्ररत्न उत्पन्न हुआ था और उसने उनका, दिग्विजय के क्रम में, मार्गनिर्देशन किया था (तत्रैव : पृ. ३३०)।

लक्ष्मण ने देवताधिष्ठित चक्र से ही रामण का वध किया था, और रामण के वध के बाद वह चक्र लक्ष्मण के पास लौट आया था (मदनवेगालम्भ : पृ. २४५)। प्रत्येक चक्रवर्ती के अस्त्रागार में चक्ररत्न के उत्पन्न होने की परम्परा थी। अधीनस्थ विद्याधर अपने राजा की आज्ञा से आयुधों की वर्षा भी करते थे। सभी शास्त्रास्त्र प्रायः देवताधिष्ठित होते थे। सुभौम की दृष्टि पड़ते ही राम (परशुराम) का फरसा शिथिल पड़ गया था और फरसे में अधिष्ठित देव निकल भागे थे (तत्रैव : पृ. २३९)। कभी-कभी लक्ष्यभ्रष्ट हो जाने पर बाण अपने धनुर्धर के पास लौट भी आता था। चेदिनगर के राजा वसु के राज्य में, एक बार एक व्याध ने जंगल में मृग मारने की इच्छा से बाण छोड़ा। किन्तु, मृग आकाशस्फटिक पत्थर (नेत्रेन्द्रिय की अपेक्षा स्पर्शेन्द्रिय से जानने योग्य पारदर्शी चामत्कारिक पत्थर) की आड़ में खड़ा था। फलतः, मृग को न बेध सकने के कारण बाण व्याध के पास लौट आया (सोमश्रीलम्भ : पृ. १९०)।

संघदासगणी ने शब्दवेधी बाण का भी उल्लेख किया है। भूतचैतन्यवादी दार्शनिक इन्द्रियों को ही आत्मा मानते हैं, किन्तु आत्मवादी दार्शनिक इन्द्रियों से आत्मा को भिन्न मानते हैं। इसी दार्शनिक प्रसंग के विवेचन के क्रम में कथाकार ने कहा है कि "शब्द सुनकर चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप पर कोई शब्दवेधी बाण नहीं छोड़ता ('सहं च सोऊण चक्खु विसए सहवेही न रुद्धे सरं णिवाएज्ज', पद्मालम्भ : पृ. २०३)।" शब्द या आवाज को लक्ष्य कर बाण छोड़ना और ठीक-ठीक लक्ष्यवेध करना बड़ी कठिन साधना का काम था।

संघदासगणी की कथा के अनुसार, विद्याधर, अस्त्र के रूप में नागपाश का भी प्रयोग करते थे। ब्राह्मण-परम्परा के 'महाभारत', 'रामायण' तथा पुराणग्रन्थों में ब्रह्मपाश एवं नागपाश का भूरिशः उल्लेख हुआ है। ब्रह्मपाश, ब्रह्मशक्ति से परिचालित पाश (बन्धन-विशेष) था। यह ब्रह्मा द्वारा अधिष्ठित अस्त्रविशेष था। रावण से प्रेरित होकर मेघनाद ने हनुमान् पर ब्रह्मपाश या ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया था। हनुमान् ने ब्रह्मास्त्र की अवहेलना की भी क्षमता थी, किन्तु उसकी अपार महिमा के मिट जाने की आशंका से उन्होंने उसकी महिमा को मान लिया था। ब्रह्मबाण से जब हनुमान् भूर्च्छित हो गये, तब मेघनाद उनके नागपाश से बाँधकर अशोकवाटिका से रावण के दरबार में ले गया था। नागपाश मूलतः बाँधनेवाला अस्त्र था। ऐसा भी कहा जाता है कि यह नाग का पाश (फन्दा) था। नाग या साँप को ही अस्त्र बनाकर शत्रुओं को बाँधने के लिए फेंका जाता था। इसे वरुण का अस्त्र माना गया है। इसके फन्दे में ढाई फेरे होते थे। कोशकार आष्टे ने इसे वरुण

का शस्त्र या युद्ध में शत्रुओं को फँसाने के लिए प्रयुक्त होनेवाला एक प्रकार का 'जादू का जाल' कहा है।

विद्याधर, इस जादूई जाल के प्रयोग में बड़े निपुण थे। सोलहवें बालचन्द्रालम्भ (पृ. २५१) में कथा है कि वसुदेव को अशोकवृक्ष के नीचे श्यामल शिला पर बैठी स्वर्णनिर्मित देवी जैसी कन्या बालचन्द्रा नागपाश से बँधी दिखाई पड़ी थी। विद्या की साधना से भ्रष्ट हो जाने के कारण ही वह नागपाश में बँध गई थी। विद्याधर नागराज धरण के शापदोष से ही वह नागपाश में आबद्ध हुई थी, जो संजयन्त मुनि के समय से ही, पाँच नदियों की संगमभूमि पर स्थित वरुणोदिका नदी के तट पर विद्याधरों की विद्यासाधना की भूमि के रूप में प्रतिष्ठित सीमानर पर्वत पर विद्या की साधना कर रही थी।

नागपाश की चर्चा इक्कीसवें केतुमतीलम्भ (पृ. ३३०) में भी आई है। कथा है कि एक दिन सुदर्शना नाम की गणिका वसन्तकाल में, फूल की डलिया हाथ में लेकर वज्रायुध के पास पहुँची और उन फूलों को दिखलाती हुई उससे बोली : "देव ! देवी लक्ष्मीमती निवेदन करती है कि स्वामी ! 'सुरनिपात' उद्यान में वसन्तश्री का अनुभव करने चलें।" कुमार वज्रायुध सात सौ रात्रियों के साथ निकला और उद्यानस्थित 'प्रियदर्शना' नाम की बावली में सबके साथ जलक्रीड़ा करने लगा। कुमार को जलक्रीड़ा के क्रम में रतिप्रसक्त जानकर वध के लिए उद्यतमति वैरी विद्युदंष्ट्र ने उस वज्रायुध कुमार के ऊपर पहाड़ गिरा दिया और सुदृढ़ नागपाश से उसे बांध दिया। उस उपसर्ग को देखकर भी कुमार वज्रायुध निर्भीक बना रहा और पहाड़ को भेदकर तथा सुदृढ़ नागपाश को तोड़कर बाहर निकल आया।

विद्याधर-कुमारियाँ भी आवश्यकतावश अस्त्र धारण करती थीं। एक दिन वज्रायुध विपुल रत्नों से भण्डित सभा में बत्तीस हजार राजाओं से घिरा हुआ तथा शीर्षरक्षक (अंगरक्षक), पुरोहित, मन्त्री और महामन्त्री के बीच अपने सिंहासन पर बैठा था। उसी समय थरथर कांपता हुआ और भय से उत्पन्न घिघियाहट के साथ 'शरण दें, शरण दें', कहता हुआ एक विद्याधर राजा वज्रायुध के पास पहुँचा। उसी क्षण उसका पीछा करती हुई तलवार और ढाल हाथ में लिये, ललित और लचीली देहयष्टिवाली कोई विद्याधरकुमारी आई और उसके पीछे गदा हाथ में लिये एक विद्याधर पहुँचा (तत्रैव)।

इक्कीसवें केतुमतीलम्भ (पृ. ३१३) में ही, त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव की युद्धकथा के प्रसंग में, संघदासगणी ने 'सहस्रारचक्र' नामक एक अद्भुत अस्त्र का उल्लेख किया है। जब अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ के युद्ध का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया, तब दोनों की सेनाएँ प्रेक्षक के रूप में खड़ी हो गईं। जोर-जोर से चिल्लाते हुए व्यन्तर देवजाति के ऋषिवादित और भूतवादित देवों से आकाश आच्छादित हो गया। त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव जूझने लगे। व्यन्तरदेव त्रिपृष्ठ (केशव के प्रतिरूप) के रथ पर पुष्पवर्षा करने लगे। विद्याधर-नरेश अश्वग्रीव त्रिपृष्ठ के वध के लिए जिन अस्त्रों को छोड़ता, उन्हें वह, सूर्य जिस प्रकार अन्धकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार, अपने विविध अस्त्रों से विफल कर देता। तब अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ के वध के लिए 'सहस्रारचक्र' का प्रयोग किया। लेकिन, वह चक्र त्रिपृष्ठ की प्रदक्षिणा करके उसके पैरों के पास आकर रुक गया और उसके हाथ

में लेते ही वह प्रज्वलित हो उठा। तब उस त्रिपृष्ठ ने तरुण सूर्य के समान भासमान चक्र को अश्वग्रीव के वध के लिए छोड़ा। वह चक्र अश्वग्रीव का सिर लेकर वापस चला आया।

ब्राह्मण-परम्परा में जिस प्रकार केशव या विष्णु के सुदर्शन चक्र की परिकल्पना की गई है, उसी प्रकार श्रमण-कथाकार **संघदासगणी** ने केशव-प्रतिरूप प्रजापति-पुत्र त्रिपृष्ठ के अस्त्र के रूप में 'सहस्रारचक्र' की परिकल्पना की है। 'सहस्रारचक्र' भी देवाधिष्ठित ही था, तभी तो दुष्ट विद्याधर अश्वग्रीव द्वारा प्रक्षिप्त 'सहस्रारचक्र' भगवत्स्वरूप केशवप्रतिरूप त्रिपृष्ठ का अनुगत हो गया और उसके संकेत पर ही संचालित होता रहा। इसीलिए, व्यन्तरों ने आकाश से उद्घोष किया था कि भारतवर्ष में यह वसुदेव उत्पन्न हुआ है। कहना न होगा कि शस्त्रास्त्रों के मानवीकरण या दैवीकरण की यह भावना प्राचीन भारती की सांग्रामिकता में चिराचरित प्रथा बन गई थी।

"वसुदेवहिण्डी" के कथानायक वसुदेव स्वयं आयुधविद्या के विशेषज्ञ थे। जब वह भूलते-भटकते हुए शालगुह सन्निवेश में पहुँचे, तब विश्राम करने की इच्छा से उस सन्निवेश के बहिर्भाग में स्थित उद्यान में चले गये। वहाँ राजा अभग्नसेन के लड़के आयुधविद्या का अभ्यास कर रहे थे। वसुदेव ने उनसे पूछा : "क्या तुमलोग गुरु के उपदेश से शस्त्र चलाने का अभ्यास कर रहे हो, या अपनी मति से ?" राजकुमार बोले : "हमारे उपाध्याय का नाम पूर्णाश है। अगर तुम आयुधविद्या जानते हो, तो हम सभी देखना चाहते हैं कि तुम्हें कहाँतक अस्त्रशिक्षा प्राप्त है।" निशानेबाजी में निपुण वसुदेव से राजकुमारों ने जहाँ-जहाँ कहा, वहाँ-वहाँ उन्होंने बाण फेंककर दिखाया। वसुदेव के अचूक निशाने से विस्मित होकर वे उनसे कहने लगे : "तुम हमारा उपाध्याय बन जाओ।" वसुदेव ने कहा : "मैं पूर्णाश की आशा को तोड़ना नहीं चाहता।" फिर भी, राजकुमार वसुदेव के पीछे पड़ गये : "कृपा करो, हम सभी तुम्हारे शिष्य हैं।" वसुदेव ने राजकुमारों का उपाध्याय बनना स्वीकार कर लिया।

राजकुमारों ने वसुदेव के लिए आवास की व्यवस्था की और अपने उपाध्याय पूर्णाश को सूचना दिये बिना वे उनकी (वसुदेव की) सेवा करने लगे। राजकुमार क्षणभर के लिए भी वसुदेव को नहीं छोड़ते थे और उनके लिए भोजन-वस्त्र की भी चिन्ता करते रहते थे। पूर्णाश को इसकी खबर मिली। शास्त्रवेत्ताओं से घिरा हुआ वह वसुदेव के पास आया और उनसे पूछने लगा : "आयुधविद्या जानते हो ?" तब, वसुदेव ने कहा : "मैं अस्त्र जानता हूँ, अपास्त्र और व्यस्त्र भी जानता हूँ। पैदल या हस्त्यारोही सैनिक के लिए अस्त्र है, घुड़सवार के लिए अपास्त्र है और खड्ग, कनक, तोमर, भिन्दिपाल, शूल, चक्र आदि व्यस्त्र हैं। मैं अस्त्र छोड़ने के तीन प्रकार भी जानता हूँ : दृढ, विदृढ और उत्तर।" वसुदेव के अस्त्र साधने की प्रक्रियाओं के प्रदर्शन से पूर्णाश चकित रह गया। उसके बाद जिज्ञासा करने पर वसुदेव ने पूर्णाश को धनुर्वेद-विद्या की उत्पत्ति बताई (पद्मालम्भ : २०१-२०२)।

इस प्रकार, **संघदासगणी** की, आयुधवेद की जानकारी, प्राचीन धनुर्विद्या पर आधारित होते हुए भी, लक्षण, वर्गीकरण, प्रयोग और अधिकारी प्रयोक्ता के निरूपण की दृष्टि से, उसकी उपस्थापन-पद्धति सर्वथा मौलिक है और इसीलिए वह भारतीय प्राचीन अस्त्रविदों की गणना में पाक्तेय स्थान के अधिकारी प्रमाणित होते हैं। **संघदासगणी** केवल कथाकार ही नहीं थे, अपितु भारतीय प्राच्यविद्या के आचार्य थे। इसीलिए, कथाक्रम में यथाप्रसंग उनका आचार्यत्व, बड़ी प्रखरता से मुखरित

हुआ है। फिर भी, उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे कथा में रसविघात की स्थिति नहीं आने देते, किन्तु यह बात तो प्रकट हो ही जाती है कि उन्होंने 'वसुदेवहिण्डी' की कथा को आचार्य-शैली में उपन्यस्त की है। निश्चय ही, वह कथाकार से अधिक कथाचार्य थे।

आचार्य संघदासगणी ने न केवल युद्ध के आयुधों का वैशिष्ट्य-विवेचन किया है, अपितु युद्ध में उसके प्रयोग की विधि और युद्धनीति पर भी प्रकाश डाला है, साथ ही युद्धकला की भी विशद-गम्भीर और आधिकारिक अवतारणा की है।

नवम अश्वसेनालम्प (पृ. २०६-२०७) में संघदासगणी ने युद्ध करने की प्राचीन विधि का विशदता से उल्लेख किया है। युद्धकलाविशारद वसुदेव के प्रेक्षकत्व में अभग्नसेन और मेघसेन राजाओं की सेना नियमानुसार युद्धभूमि में एक दूसरे से भिड़ गई—रथों के साथ रथी, घुड़सवार के साथ घुड़सवार, पदाति के साथ पदाति, हस्त्यारोही के साथ हस्त्यारोही और योद्धा के साथ योद्धा लड़ने लगे। दोनों सेनाओं में एक साथ तूर्य-निनाद और कलकल की ध्वनि गूँज उठी। "मैं तुम्हारा विनाश करता हूँ, क्षणभर ठहरो" इस प्रकार बोलते हुए योद्धाओं की पुकार की आवाज चारों ओर फैल गई। अपनी बाणविद्या के गुणों को दिखलाते हुए वीर पुरुषों ने बाणों से आसमान को ढक दिया।

मेघसेन की सेना बड़े वेग से अभग्नसेन की सेना को परास्त करने लगी। तीक्ष्ण खड्ग, शक्ति, भाले और बाणों से आहत अभग्नसेन के योद्धा पीड़ित हो उठे। मेघसेन की सेना का दबाव जब अधिक बढ़ गया, तब अभग्नसेन युद्ध-विमुख होकर अपने नगर की ओर लौट चला। मेघ की तरह गरजता हुआ मेघसेन आगे बढ़ आया और अभग्नसेन के निराश तथा दुःखी सैनिकों को रौंदते हुए अभग्नसेन के सन्निवेश शालगुह में घुसने लगा।

अभग्नसेन वसुदेव का ससुर था। अपने ससुर की सेना की पस्ती देख उन्होंने अपने सारथी साले अंशुमान् से कहा : "शीघ्र रथ के घोड़ों को हाँको। मैं मेघसेन के घमण्ड को चूर करूँगा।" वसुदेव को सम्मुख आया देख मेघसेन के योद्धा, यथार्थ को जाने बिना, उनपर अन्धाधुन्ध आयुधों की वर्षा करने लगे। वसुदेव ने अपने क्षिप्रकारी हस्तकौशल से उन योद्धाओं के अस्त्रों को विफल कर दिया। कुछ सैनिकों को बन्दी बना लिया गया और कुछ रथहीन कर दिये गये। इसके बाद अंशुमान् बड़ी कुशलता से, वसुदेव के निर्देश के अनुसार, रथ को मेघसेन के निकट ले गया। मेघसेन कालमेघ की तरह बाण बरसाता हुआ आया। वसुदेव ने वर्षा को रोकनेवाले नैर्ऋत्य पवन की भाँति बाण चलाकर उसकी बाणवर्षा को रोक दिया। शरवृष्टि में विफल होने पर भी जब मेघसेन ने युद्ध की तत्परता नहीं छोड़ी, तब वसुदेव ने 'सम्बन्धी' जानकर उसके शरीर की रक्षा करते हुए धनुष, ध्वज और सारथी को नष्ट कर दिया और घोड़े को भी पीड़ित किया। फिर, उन्होंने उसे चेतावनी दी : "हथियार डाल दो, वरना तुम्हें मार डालूँगा।" मेघसेन किर्कतव्यविमूढ़ हो उठा। अंशुमान् उसे पकड़ लिया और अपने रथ पर ला छोड़ा।

मेघसेन परकटे पक्षी की भाँति अविचल खड़ा रहा। उसकी वह हालत देखकर उसके विनाशकारी योद्धा पीछे भाग चले। इधर अभग्नसेन के सैनिकों को बल मिला। उन्होंने मेघसेन

के सारे रथ, घोड़े और हाथी नष्ट कर दिये। अन्त में, वसुदेव ने मेघसेन को बन्दी बनाकर उसे अभग्नसेन के सेनापति के जिम्मे सौंप दिया।

इस प्रकार, संध्यासागणी ने प्राचीन युद्धविधि का सांगोपांग लोमहर्षक चित्र उपन्यस्त कर दिया है। प्रस्तुत प्रसंग से युद्ध के कतिपय महत्त्वपूर्ण प्राक्कालीन नीति-नियम भी उभर कर सामने आते हैं। नियमानुसार, रथी के साथ रथी, घुड़सवार के साथ घुड़सवार, हस्त्यारोही के साथ हस्त्यारोही और पदाति के साथ पदाति योद्धा ही युद्ध करते थे। योद्धा इस युद्ध-नियम के पालन में सदा तत्पर रहते थे। प्राचीन काल के युद्ध में, रथ के सारथी की भूमिका बड़ी मूल्यवान् होती थी। सारथी स्वयं रथचर्या के अतिरिक्त धनुर्विद्या या आयुधवेद में पारंगत होता था। इसीलिए, महाभारत में कृष्ण, एक सारथी के रूप में ततोऽधिक प्रतिष्ठित हैं। बाणविद्या में विफल अथवा युद्ध में किर्कृत्यविमूढ़ हो जाने पर राजा को अस्त्र और रथहीन करके उसे बन्दी बना लिया जाता था। जो योद्धा यथार्थ स्थिति या युद्ध की नीति के जानकार नहीं होते थे, वे अन्धाधुन्ध बाण चलाकर निन्दा के पात्र बनते थे। यदि परस्पर दो सम्बन्धियों में युद्ध होता था, तो वे एक दूसरे की शरीर-रक्षा करते हुए लड़ते थे। इस प्रकार, प्राचीन युद्ध के नियमों में हिंसा और अहिंसा-नीतियों का अद्भुत समन्वय रहता था।

पाँचवें सोमश्रीलम्भ (पृ. १८७) में, भरत के साथ बाहुबली के युद्ध के वर्णन-क्रम में, संध्यासागणी ने कतिपय अतिसूक्ष्म और विस्मयकारी युद्धविधियों का उल्लेख किया है। भरत के छोटे भाई तथा तक्षशिला के अधिपति बाहुबली ने जब समग्र भारतवर्ष के शासक राजा भरत की अधीनता स्वीकार नहीं की, तब भरत पूरी सेना के साथ तक्षशिला-विजय के लिए प्रस्थित हो गये। बाहुबली तक्षशिला से निकलकर राज्य की सीमा पर आया और वहीं उसने भरत से मोर्चा लिया। दोनों में पहले उत्तम कोटि का युद्ध—दृष्टियुद्ध हुआ। दृष्टियुद्ध में आँख स्थिर रखकर परस्पर एक दूसरे की आँख में आँख डालकर देखना पड़ता था। भरत इस युद्ध में पराजित हो गया, यानी उसकी फलकें झपक गईं। तब, दोनों में मध्यम कोटि का मुष्टियुद्ध आरम्भ हुआ। इसमें भी भरत अपने को पराजित मान चिन्तित हो उठा। उन्हें जब अपना चक्रवर्ती-पद हाथ से फिसलता हुआ दिखाई पड़ा, तभी देवी ने उनके हाथ में चक्र दे दिया।

उसी समय बाहुबली ने चक्रसहित भरत को आते देख उनपर वीरोचित व्यंग्य किया : “आपने अधम युद्ध का आश्रय ले लिया। मुष्टियुद्ध में हार गये, तो हथियार उठा लिया !” भरत ने कहा : “मैंने अपनी इच्छा से अस्त्र नहीं उठाया, देवी ने मेरे हाथ में दे दिया है।” बाहुबली का व्यंग्य तीखा हो उठा : “यदि आप श्रेष्ठ पुरुष का पुत्र होकर भी मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, तो फिर सामान्य लोगों की क्या गिनती ? इसमें आपका दोष नहीं है। ऋषभस्वामी का पुत्र होने के नाते लोग आपकी प्रशंसा करते हैं, लेकिन आप विषयलोलुपता के कारण अकार्य करते रहते हैं। यदि आप जैसे श्रेष्ठ पुरुष विषय के अधीन होकर अकार्य करते हैं, तो इस प्रकार के परिणामवाले भोग व्यर्थ हैं।” यह विचार कर बाहुबली ने सब प्रकार के हिंसा-व्यापारों को छोड़ने का संकल्प किया और कायोत्सर्ग करने लगा। अन्त में, भरत, बाहुबली के पुत्र सोमप्रभ को राज्य देकर पश्चात्ताप करते हुए अपने नगर अयोध्या लौट आये।

प्रस्तुत प्रसंग से स्पष्ट है कि उस युग में अस्त्रयुद्ध अधम युद्ध माना जाता था और मुष्टियुद्ध तथा दृष्टियुद्ध क्रमशः मध्यम और उत्तम। उत्तम और मध्यम युद्ध में हारने के बाद ही अधम अस्त्रयुद्ध का सहारा लिया जाता था तथा भावुक एवं नियमपालक योद्धा कभी-कभी युद्धभूमि में ही विरक्त होकर हिंसा के व्यापार से अपने को अलग कर लेते थे। प्राचीन इतिहास में भी ऐसी घटना का विवरण प्राप्य है। उड़ीसा के प्रसिद्ध कलिंग-युद्ध में भीषण नरसंहारकारी अन्याय-युद्ध देखकर सम्राट् अशोक ने अहिंसावादी बौद्धधर्म, अन्य ऐतिहासिक मत से जैनधर्म स्वीकार कर लिया था। युद्ध में पुराप्रचलित शस्त्रहिंसा के विरोध की इसी भावना से, आधुनिक राजनीतिक युग में, निःशस्त्रीकरण की नीति या पंचशील या सह-अस्तित्व का सिद्धान्त विकसित हुआ है।

युद्धविद्या में निष्णात चरितनायक वसुदेव ने मुष्टियुद्ध या मल्लयुद्ध भी किया था। छठे मित्रश्री-धनश्रीलम्भ (पृ. १९६) की कथा है कि भूलते-भटकते वसुदेव सूर्यास्त के समय जब तिलवस्तु नाम के सन्निवेश में पहुँचे, तब नरभक्षी राक्षस से नित्य आतंकित रहनेवाले वहाँ के नागरिकों ने अपने द्वार बन्द कर लिये। नागरिकों को निर्दय जानकर वसुदेव सन्निवेश से थोड़ी दूर पर स्थित मन्दिर में चले गये और दरवाजा बन्द करके सो गये। आधी रात में एक पुरुष वहाँ आया और वह ऊँची आवाज में कहने लगा : “ऐ मुसाफिर ! दरवाजा खोलो, नहीं तो किवाड़ तोड़कर भीतर घुस जाऊँगा और तुम्हें मार डालूँगा।” उसकी आवाज से वसुदेव जग गये और उस पुरुष से बोले : “मुझे जगाओ मत, अन्यथा तुम्हें शिक्षा देनी पड़ेगी।” तब वह पुरुष वसुदेव पर रुष्ट हो उठा और जोर-जोर से चिल्लाने लगा। वसुदेव ने दरवाजा खोल दिया। तभी एक विकराल पुरुष उनके सामने आ खड़ा हुआ। वह हाथ में लट्टु लिये हुए था। शरीर विशाल और नंगा था। नख-केश बड़े-बड़े और दाढ़ी बढ़ी हुई। दाँत बड़े भयंकर। उसके शरीर से कच्चे नरमांस और चरबी की गन्ध आ रही थी। अपने ऊँचे-ऊँचे कन्धों से वह और अधिक भयावह दिखाई पड़ रहा था। अपने घने केशों को झटकारते हुए उसने वसुदेव पर लाठी चलाई, लेकिन उसके प्रहार को विफल करते हुए वसुदेव ने उसकी गरदन पकड़ ली। उसके बाद दोनों में मुष्टियुद्ध होने लगा।

वसुदेव जब उस नरभक्षी को पीटते, तब वह जोर से चिल्ला उठता। वह बार-बार पीछे हटता और फिर आक्रमण करता। वसुदेव भी उसके शरीर के स्पर्श से बचते हुए अपनी मुठ्तियों और हथेलियों से उसके वार को रोकते रहे। तिलवस्तु के नागरिक उस नरभक्षी पुरुष की तीखी चिल्लाहट से जग गये और ढोल बजाते हुए आपस में कलकल करने लगे। इसी बीच उस पुरुष ने वसुदेव को पकड़ लिया। तभी, पराजित करने के खयाल से वसुदेव ने उस पुरुष को अपनी दोनों भुजाओं से कसकर दबाया। वह जोरों से चिल्ला उठा और लहू उगलते हुए निष्वाण होकर गिर पड़ा।

धनुर्विद्याविशारदों ने इस प्रकार की मल्लविद्या को वीरोचित कृत्यों में सबसे हीन प्रकार का माना है। मल्लविद्या में किसी बाह्य साधन का प्रयोग नहीं किया जा सकता, अपितु अपने शरीर से सम्बद्ध हाथ-पाँव आदि अवयवों की सहायता से ही सब काम करना पड़ता है। वर्तमान भारत में इसे कुश्ती कहते हैं। इसी प्रकार, जापान में इसे ‘जिजुटसु’ (= युयुत्सु) तथा यूरोपीय देशों में घूँसेबाजी (बॉक्सिंग) कहा जाता है। यद्यपि वसुदेव का उपर्युक्त मुष्टियुद्ध विशुद्ध मल्लयुद्ध

नहीं है, तथापि शस्त्रविद्या के मुख्य तीन भेदों (आघात, छेदन और भेदन) में से आघात भी इसमें मिश्रित है। आघात में लाठी या इसी जाति के अन्य शस्त्रों की गणना है। नरभक्षी पुरुष ने सर्वप्रथम लाठी से ही वसुदेव पर आघात किया था, किन्तु वसुदेव ने लाठी के इस दाँव को बचा लिया था। मल्लविद्या, शस्त्रविद्या से निकृष्ट होते हुए भी, प्राचीन भारत में अतिशय प्रचलित थी। पाणिनि, अनुभूतिस्वरूपाचार्य आदि प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के द्वारा 'अलं योगे चतुर्थी' के उदाहरण के रूप में 'अलं मल्लो मल्लाव' का प्रयोग इस बात का सबल साक्ष्य है।

'वसुदेवहिण्डी' से युद्धनियम के सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट होती है कि प्राचीन भारत में युद्ध प्रारम्भ करने के पूर्व दूत भेजकर चेतावनी दी जाती थी। दूत को अपमानित कर वापस भेज देना युद्ध की अवश्यम्भाविता का संकेत होता था। अश्वघ्रीव का दूत चण्डिसिंह जब पोतनपुर भेजा गया था, तब अचल और त्रिपृष्ठ ने उसे बहुत अपमानित किया था (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७६)।

शत्रुओं या प्रतिपक्षियों की पहचान के निमित्त ज्योतिषियों के आदेश का भी आश्रय लिया जाता था। अस्त्रहीन व्यक्ति के साथ अस्त्रहीन होकर ही लड़ा जाता था। यह नियम न केवल मानव-शत्रु, अपितु वन्य हिसक जन्तु के सन्दर्भ में भी लागू था। तभी तो अश्वघ्रीव का प्रतिशत्रु त्रिपृष्ठ जब पश्चिम प्रदेश में सिंहभय को शान्त करने गया था, तब वह महाबलशाली सिंह को पैदल चलते देखकर स्वयं रथ से नीचे धरती पर उतर पड़ा और सोचा, "यह सिंह तो निरायुध है, इसलिए आयुध के साथ इससे लड़ना ठीक नहीं।" तब, त्रिपृष्ठ ने अपना हथियार फेंक दिया और केवल भुजाओं के प्रहार से ही सिंह को मार डाला (तत्रैव : पृ. २७७)।

प्राचीन काल में राजाओं या विद्याधरों के बीच युद्ध के दो ही प्रमुख कारण रहे हैं— प्रतिपक्ष की कन्या का आयत्तीकरण और अधीनस्थता या वशंवदता का अस्वीकरण; अर्थात्, राज्यप्राप्ति और कन्याप्राप्ति। यों, रानी या राजा का प्रतिपक्षियों द्वारा अपहरण कर लिये जाने पर भी उनकी वापसी के लिए युद्ध करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो जाता था। विद्याधर प्रायः अपने विद्याबल से यान, वाहन, सैन्य, अस्त्र-शस्त्र आदि विकुर्वित करके लड़ते थे, साथ ही वे मायायुद्ध करते थे तथा भयंकर मन्त्रसिद्ध अस्त्रों का भी प्रयोग करते थे। अश्वघ्रीव विद्याधर के सैनिकों ने तालपिशाच, श्वान, शृगाल, सिंह आदि के भयंकर रूपों की रचना करके पानी, आग, अस्त्र-शस्त्र आदि वस्तुएँ त्रिपृष्ठ की सेना पर फेंककर उसे पराजित करने की चेष्टा की थी (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१२)।

प्राचीन काल के योद्धा शंख भी बजाते थे। कुछ योद्धाओं के अस्त्र-शस्त्र तो उनके अपने खास हुआ करते थे। परशुराम का कुठार, अर्जुन का गाण्डीव, शिव का त्रिशूल आदि इसके उदाहरण हैं। महाभारत-युद्ध में कृष्ण के महिमाशाली पांचजन्य शंख की प्रभुता आज भी अविस्मरणीय बनी हुई है। केशव के प्रतिरूप त्रिपृष्ठ ने जब अपना महास्वन (भयंकर आवाज करनेवाला) शंख बजाया, तब माया और इन्द्रजाल का प्रयोग करनेवाले तथा स्वेच्छा-निर्मित रूप धारण करनेवाले (कारमरूप) विद्याधरों ने उस शंख की क्षुब्ध समुद्र के समान गम्भीरतर आवाज को वज्रपात की भाँति सुना और वे चिल्लाते हुए भाग खड़े हुए। कुछ कायर विद्याधरों के हाथों से शस्त्र गिर पड़े और कुछ परकटे पक्षी की भाँति धरती पर लुढ़क गये (तत्रैव)।

प्राचीन युद्ध में राजा परोक्ष में ही रहकर अपने सेनापतियों को युद्ध-संचालन का आदेश-निर्देश देते थे और उनके सैनिक गाजर-मूली की भाँति कटते रहते थे। बलवान् राजा जब इस बात की

भयानकता का अनुभव करते थे, तब प्रतिपक्षी राजा को स्वयं युद्धभूमि में प्रत्यक्ष होकर लड़ने का सन्देश दूत के द्वारा भेजते थे। दूत अवध्य होता था। ऐसी ही स्थिति में त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव के पास अपने दूत के द्वारा सन्देश भिजवाया था : “यह युद्ध तो मेरे और तुम्हारे बीच हो रहा है। इसलिए, दूसरे बेचारों के वध से क्या लाभ? सिंह को जगाकर खरगोश की तरह क्यों छिपे हुए हो? यदि राज्य प्राप्ति की इच्छा है, तो एक रथ पर अकेले मेरे साथ युद्ध करो अथवा मेरी शरण में आ जाओ।” अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ का सामरिक आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसके बाद दोनों की सेनाएँ प्रेक्षक के रूप में खड़ी हो गई (तत्रैव)। स्पष्ट है कि प्राचीन युद्ध के नियमानुसार दो राजा एकाकी भाव से जब परस्पर लड़ते थे, तब शेष सेनाएँ तटस्थ हो जाती थीं।

रानी के अपहरण कर लिये जाने पर दुःखातुर राजा प्रतिपक्षी राजा के पास पहले दूत भेजकर रानी को लौटा देने का आग्रह करता था। नहीं लौटाने पर युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता था। रानी ‘सुतारा’ के अपहर्ता अशनिघोष ने जब राजा श्रीविजय के साले अमिततेज विद्याधर द्वारा प्रेषित मरीचि दूत के सन्देश को ठुकरा दिया, तब दोनों ओर से भयंकर लड़ाई प्रारम्भ हो गई। रोषाविष्ट श्रीविजय ने, युद्धभूमि में, अमोघ प्रहार करनेवाले खड्ग के आघात से अपनी पत्नी के अपहर्ता अशनिघोष के दो टुकड़े कर दिये। अशनिघोष मायावी था। उसके जितने टुकड़े होते, उतने ही अशनिघोष उत्पन्न हो जाते। अन्त में, श्रीविजय ने महाजालविद्या द्वारा उसे पराजित किया (तत्रैव : पृ. ३१८)। इस सन्दर्भ में ‘दुर्गासप्तशती’ में वर्णित रक्तबीज दैत्य की कथा स्मरणीय है। रक्तबीज के रक्त की जितनी बूँदें गिरती थीं, उनसे उतने ही रक्तबीज उत्पन्न हो जाते थे।

आधुनिक काल में विद्याधर और उनके मायायुद्ध या मन्त्रसिद्ध आयुधों का प्रयोग स्वैर कल्पना का विषय बन गया है, किन्तु छलयुद्ध या कूटयुद्ध आधुनिक काल में भी प्राचीन मायायुद्ध की भावस्मृति को उद्भावित करते हैं। ‘महाभारत’ में कौरव-पाण्डवों के बीच हुए छलयुद्ध के अनेक उदाहरण आज भी सुरक्षित हैं।

संघदासगणी द्वारा उपन्यस्त युद्धवर्णनों में, सत्ताईसवें रोहिणीलम्भ (पृ. ३६५) का युद्धवर्णन भी उल्लेख्य है। डोलकिया के छद्मरूप में अवस्थित वसुदेव को कोशल-जनपद के राजा रुधिर की पुत्री रोहिणी ने जब पति के रूप में वरण कर लिया, तब जरासन्ध के उकसाने पर स्वयंवर में उपस्थित सभी क्षत्रिय राजा भड़क उठे। इनमें वसुदेव के जेठे भाई समुद्रविजय भी थे। स्वयंवर के लिए समागत क्षत्रिय राजाओं और राजा रुधिर के सैन्यों के बीच युद्ध शुरू हुआ। विविध आयुधों से आपूरित, फहरती ध्वजाओंवाले रथ रणांगन में दौड़ने लगे; फूँके जाते हुए शंख की ध्वनि से कोलाहल मच गया; कुम्भस्थल से झरते मदजलवाले मत्त हाथियों के दाँतों की टकराहट की होड़ लग गई; वेग से दौड़ते हुए घोड़े के कठोर खुरों से आहत धरती से उड़नेवाली धूल, आँखों में धुन्ध और किरकिरी पैदा करने लगी एवं क्रुद्ध योद्धाओं द्वारा छोड़े गये बाणों से सूर्य की रश्मियाँ आच्छादित हो गईं। उसी समय अरिजयपुर के अधिपति विद्याधरराज दधिमुख ने वसुदेव को दर्शन दिया। उसने वसुदेव को प्रणाम करके उनके लिए विद्याबल से रथ तैयार कर दिया। वसुदेव रथ पर आरूढ़ हो गये। स्वयं विद्याधरराज उनका सारथी बना।

स्वयंवर में उपस्थित क्षत्रियों से, राजा रुधिर अपने पुत्र हिरण्यनाभसहित पराजित होकर भाग चला। किन्तु, दधिमुख के साथ वसुदेव अकेले डटे रहे। उन्हें डटा हुआ देखकर सभी राजा

विस्मित हो उठे : “अरे ! यह पुरुष तो महाबलशाली है, जो अकेला होकर भी बहुतों के सामने अड़ा हुआ है !” तब पाण्डुराजा (जरासन्ध) ने कहा: “यह क्षत्रियधर्म नहीं है कि बहुत राजा अकेले एक व्यक्ति से युद्ध करें।” तब सभी राजाओं में एक-एक राजा क्रम से लड़ने लगे।

जरासन्ध की बात को प्रमाण मानकर शत्रुंजय नाम का राजा बाण बरसाता हुआ आ पहुँचा। वसुदेव ने फुरती से धनुष से छूटते हुए बाणों को अपने अर्द्धचन्द्र बाणों से काट डाला। उसके भाग जाने पर प्रतिकूल बातें करता हुआ दन्तवक्र आया। वसुदेव ने उस शठ के सिर को मुकुटहीन कर दिया और उसके रथ की ध्वजा काट फेंकी, साथ ही रथ को भी छिन्न-भिन्न कर दिया, जिससे वह विरथ हो गया। तब कालमुख कालमेष की तरह गरजता हुआ आया। लेकिन, उसे भी वसुदेव ने कुण्ठित कर दिया। उन सब राजाओं को पराजित देखकर जरासन्ध ने वसुदेव के ज्येष्ठ भ्राता समुद्रविजय को आदेश दिया : “आप इसे जीतकर क्षत्रियों की अनुमति से कन्या प्राप्त करें।” समुद्रविजय वसुदेव के सम्मुख आकर बाण छोड़ने लगे। वसुदेव उनपर प्रहार न करके शस्त्रों को केवल काटते रहे। उन्हें रुष्ट जानकर वसुदेव ने पहले से लिखकर रखा गया, अपने नाम से अंकित बाण, वन्दना के निमित्त, उनके पादमूल में अर्पित करने की इच्छा से फेंका। समुद्रगुप्त बाण में अंकित ‘वसुदेव’ नाम को पढ़कर वास्तविक स्थिति से ज्यों ही अवगत हुए, त्योंही धनुष का परित्याग कर शरत्कालीन कमलहृद की भाँति प्रशान्त हो गये।

वसुदेव अस्त्र छोड़कर बड़े भाई के पास पहुँचे। वसुदेव को अपनी ओर आते देखकर समुद्रविजय बाष्पपूरित नेत्रों के साथ रथ से उतरे और चरणों पर झुकते हुए वसुदेव को उठाकर उन्होंने अपने अँकवार में भर लिया। दोनों मिलकर बहुत देर तक रोते रहे। बहुत दिनों से बिलुड़े हुए वसुदेव के मिलन के समाचार से युद्धभूमि का वीर रस स्नेह-वात्सल्य रस से आप्लावित हो गया।

संघर्षदासगणी द्वारा विन्यस्त प्रस्तुत भयानक युद्ध के वर्णन से भी कतिपय प्राचीन युद्ध-नियमों की सूचना मिलती है। सर्वप्रथम उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि प्राचीन योद्धा भयंकर-से-भयंकर यौद्धिक स्थिति में भी अनैतिक या नियमविरुद्ध आचरण नहीं करते थे। प्रतिपक्षी राजा के वध की अपेक्षा उसे पराजित करने का ही आग्रह अधिक रहता था। वध प्रायः उसी राजा का किया जाता था, जो नर न होकर नरपिशाच या नरपशु हुआ करता था। पीठ दिखाकर भाग जानेवाले राजा की अपेक्षा अधीनता स्वीकार कर मैत्री स्थापित करनेवाला राजा अधिक नीतिनिपुण और प्रशंसनीय माना जाता था।

इसके अतिरिक्त, अकेले लड़नेवाले राजा या योद्धा के प्रति सामूहिक आक्रमण करना प्रचलित युद्धनीति के विरुद्ध समझा जाता था। इसीलिए, महाभारत में अकेले अभिमन्यु पर सप्त महारथियों के सम्मिलित आक्रमण को निन्दनीय करार दिया गया था। इसी नियम को ध्यान में रखकर जरासन्ध ने एकाकी लड़ते हुए वसुदेव के साथ स्वयंवर में उपस्थित क्षत्रिय राजाओं को एक-एक करके लड़ने का आदेश दिया था। वस्तुतः, प्रस्तुत युद्ध का संचालन जरासन्ध ही कर रहा था।

प्राचीन युद्धनियम के अनुसार छोटा भाई अपने औरस बड़े भाई के साथ युद्ध करना अनुचित मानता था। इसीलिए, वसुदेव ने अपने अग्रज समुद्रविजय पर बाण का प्रहार न करके अपने नाम से अंकित बाण को उनके चरणों में निवेदित किया था। ‘युद्ध के समय युद्ध करनेवाले राजाओं को उनके मित्रराजा, सहायता के लिए, यान, वाहन, आयुध और सैन्यसहित युद्धभूमि में आ

जुटते थे। उपर्युक्त युद्ध में भी वसुदेव की सहायता के लिए अरिजयपुर का विद्याधरनरेश दधिमुख विद्याबल से रथ तैयार कर और स्वयं सारथी बनकर युद्धस्थल में आ डटा था। कुल मिलाकर, प्राचीन युद्ध में मानवता की रक्षा और कम-से-कम हिंसा की ओर योद्धा राजाओं का ध्यान रहता था। वे राजा युद्धप्रिय होने के साथ मानवताप्रिय भी होते थे तथा अस्त्रयुद्ध को मूलतः अधम कोटि का युद्ध माना जाता था।

निष्कर्ष :

इस प्रकरण के प्रारम्भ में, 'वसुदेवहिण्डी' में आचार्य संघदासगणी द्वारा प्रोक्त धनुर्वेद की उत्पत्ति-कथा से यह स्पष्ट है कि मिथुनधर्म के अवसानकाल में दण्डनीति के आदिम तीन प्रकार—'हाकार', 'माकार' और 'धक्कार' के उत्त्लंघन करनेवाले वक्रजड लोगों की बहुलता के कारण उन्हें अनुशासित करने के लिए राजा की परिकल्पना की गई और नाभिपुत्र ऋषभश्री (आदि तीर्थंकर) को राजा के रूप में गद्दी पर बैठाया गया। उनके समय की प्रजाओं में क्रोध, मान, माया और लोभ कम होते थे। उस प्राचीन काल के लोग ऋजु जड, यानी प्रकृत्या भद्र और सीधे-सादे थे। मध्यकाल के मनुष्य ऋजुप्राज्ञ हुए किन्तु उत्तरकाल के लोग वक्रजड होते गये, जो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए धार्मिक या नैतिक सिद्धान्तों को अपने मन के अनुकूल व्याख्या करने लगे, साथ ही सामाजिक नियमों का उत्त्लंघन भी। ऐसी स्थिति में सामान्य जनता को अनुशासित करना अनिवार्य हो गया।

किन्तु, जब ऋषभस्वामी के प्रथम पुत्र भरत समस्त भारतवर्ष के राजा हुए और उन्हें देवताधिष्ठित चौदह रत्न^१ और नौ निधियों^२ का स्वामित्व प्राप्त हुआ, तब अस्त्र-शस्त्र की पूर्ति करनेवाली 'मानव' नामक निधि ने भरत को व्यूहरचना एवं अस्त्र-शस्त्र और कवच के निर्माण का उपदेश किया। कालान्तर में जब स्वार्थमूलक भावनाओं का अधिकाधिक विकास हुआ और राजा ज्यों-ज्यों कठोरहृदय होते गये, त्यों-त्यों अपने अमात्यों के परामर्श से अपनी मति के अनुसार उन्होंने विभिन्न अस्त्रों की रचना की और उनके प्रयोग की पद्धति का भी प्रचार किया। इस प्रकार, आयुधवेद या सम्पूर्ण सैन्यविज्ञान का नाम ही धनुर्वेद हो गया। इससे सिद्ध है कि आयुधवेद में धनुष-बाण का सर्वाधिक महत्त्व था। साथ ही, प्राचीन युद्धों में विभिन्न अस्त्र-शस्त्रों के अलावा प्रमुखता धनुष-बाण के प्रयोग की ही थी। संघदासगणी के यथाविश्लेषित आयुधवेद के विभिन्न आयामों से यह स्पष्ट है।

धनुर्विद्या बाहुबल से सम्पन्न व्यक्ति की ही वंशवदा होती थी। आज बाहुबल की कमी के कारण ही धनुर्विद्या का ह्रास हो गया है। सम्प्रति, सन्ताल, कोल, भील आदि अनुसूचित जनजातियों को छोड़ अन्य जातियों में धनुर्विद्या का विशेष आदर नहीं है। विभिन्न वैज्ञानिक आग्नेयास्त्रों के आविष्कार ने तो पूरी प्राचीन शस्त्रास्त्रविद्या को ही नामशेष कर दिया है।

१. 'स्थानांग' (७६७-६८) में चौदह चक्रवर्तिरत्नों के नाम इस प्रकार हैं : चक्ररत्न, छत्ररत्न, चर्मरत्न, दण्डरत्न, असिरत्न, मणिरत्न, काकणीरत्न, सेनापतिरत्न, गृहपतिरत्न, वर्द्धकीरत्न, पुरोहितरत्न, स्त्रीरत्न, अश्वरत्न और हस्तिरत्न।

२. जैनसम्प्रदायोक्त नव निधियों के नाम इस प्रकार हैं : काल, महाकाल, पाण्डु, माणवक, शंख, पद्म, नैसर्प, पिंगल और नाना रत्न। ये निधियाँ क्रमशः ऋतुओं के अनुकूल माल्यादिक नाना द्रव्य, भाजन, धान्य, आयुष, वादित्र, वस्त्र, भवन, आभरण और रत्न प्रदान करने की शक्ति रखती थीं।

(घ) वास्तुविद्या

सनातनी परम्परा के अनुसार, भारतीय वास्तुविद्या या स्थापत्यवेद अथर्ववेद का उपवेद है। इससे स्पष्ट ही इस विद्या की प्राचीनता सूचित होती है। 'मत्स्यपुराण' में भृगु अत्रि, वसिष्ठ आदि जिन अट्टारह वास्तुशास्त्र के उपदेशकों का उल्लेख हुआ है, उनमें अनेक उपदेशक वैदिक ऋषि या वैदिककालीन महापुरुष के रूप में प्रतिष्ठित हैं। स्थापत्य नाम का उपवेद ही परवर्ती काल में वास्तुशास्त्र अथवा शिल्पशास्त्र के नाम से विख्यात हुआ। ब्राह्मणग्रन्थों, विशेषतया वात्स्यायन के 'कामशास्त्र' में वास्तुविद्या चौंसठ कलाओं में परिगणित हुई है। बौद्धों के 'ललितविस्तर' में वर्णित छियासी कलाओं में उद्याननिर्माण और रूपकला के अन्तर्गत वास्तुविद्या का विनियोग हुआ है। जैनो के 'समवायांगसूत्र' के अनुसार, बहत्तर कलाओं में 'वास्तुमान' की भी गणना हुई है। राजशेखरसूरि के 'प्रबन्धकोश' की बहत्तर कलाओं की सूची में भी 'प्रासादलक्षण' और 'पाषाणकर्म' के नाम से वास्तुशास्त्र को समाविष्ट किया गया है। इस प्रकार, भारतीय प्राच्यविद्या के अनेकानेक ग्रन्थों में प्राच्य कलाओं की सूची में, प्रायः सर्वत्र, वास्तुविद्या को समादरणीय स्थान दिया गया है। भारतीय कलाओं में वास्तुशास्त्र या स्थापत्यशास्त्र, शिल्पशास्त्र और चित्रशास्त्र—मुख्यतः ये तीन कलाएँ ही विशिष्ट हैं। भवन-निर्माण, प्रतिमा या मूर्ति-निर्माण तथा चित्रकर्म-विधान, ये तीन वास्तुशास्त्र के मुख्य विषय हैं। इस प्रकार, वास्तुशास्त्र का क्षेत्र बड़ा व्यापक हो जाता है। वास्तुशास्त्र चूँकि शिल्पशास्त्र का भी प्रतिनिधि है, इसलिए वस्त्रों और अलंकारों की निर्मिति-कला भी वास्तुशास्त्र के ही अन्तर्भूत है। संघदासगणी की वास्तुकल्पना को यदि उनके द्वारा चित्रित वस्त्रों और अलंकारों की कलारमणीय विविधकल्पना से जोड़कर देखा जाता है, तो उनकी कलाभूयिष्ठ कलाकृति 'वसुदेवहिण्डी' वास्तुशास्त्र का उत्तम निदर्शन सिद्ध होती है।

मानव-हृदय में निहित आत्मरक्षा और सुखप्राप्ति की भावना से ही भवन-निर्माणकला का आविर्भाव हुआ है। इसी को सर्वसाधारण की भाषा में वास्तुशास्त्र या वास्तुविज्ञान (साइन्स ऑफ बिल्डिंग कंस्ट्रक्शन) कहते हैं। यह स्थापत्यशास्त्र या अभियन्त्रणा (इंजीनियरिंग) का एक उपांग है। स्थापत्यशास्त्र की उपयुक्तता के सम्बन्ध में सूक्ष्मेक्षिका से विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि वास्तुविद्या या स्थापत्यकला काष्ठ, पाषाण आदि पदार्थों के नैसर्गिक रूप में इच्छानुरूप परिवर्तन करती हुई उनमें सौन्दर्य उत्पन्न करती तथा उनकी उपयोगिता बढ़ाती है। इस कला के द्वारा प्रकृति-निर्मित जड़ पदार्थों में विभिन्न मनोहारी भावों की उत्पत्ति होती है, जिससे देश का मूर्तिमान् इतिहास प्रकट होता है तथा वहाँ के निवासियों के गुणधर्म, स्वभाव, आचार-विचार और व्यवहारों का ज्ञान प्राप्त होता है। आदिकाल में, मौखिक परम्परा में सुरक्षित यह कला कालक्रम से वेदसूत्रग्रन्थों, स्मृतियों और पुराणों में समाविष्ट हो गया। वेद, पुराण आदि में तथा रामायण और महाभारत में जो विश्वकर्मा और मयासुर (मयदानव) का उल्लेख हुआ है, वे तत्कालीन स्थापत्यशास्त्र के पूर्णज्ञाता एवं सूत्रधार (स्थपति) थे। विश्वकर्मा के अनुयायी धार्मिक वास्तुविज्ञान (मन्दिर आदि) और मयासुर के अनुयायी व्यावहारिक वास्तुविज्ञान (राजभवन आदि) के प्रवर्तक स्थपति थे।

गृह-निर्माण-सम्बन्धी विद्या या कला ही वास्तुविद्या या वास्तुकला है। गृह या वासस्थान को ही 'वास्तु' कहते हैं, जिसमें प्राणी निवास करते हैं। इसीलिए, वास्तु की व्युत्पत्ति में कहा

गया है: 'वसन्ति प्राणिनो यत्र।' निवासाधिक वस् धातु के साथ 'तुण्' प्रत्यय के योग से 'वास्तु' शब्द निष्पन्न हुआ है। इस वास्तु का आधार घर या भवन अवश्य है; किन्तु भवन-निर्माण के अतिरिक्त यह कुछ और भी है। एक वास्तुशास्त्री^१ ने वास्तुकला की ललितकला से तुलना करते हुए बड़ा सटीक कहा है कि कविता केवल पद्य-रचना ही नहीं है, अपितु वह और कुछ है। मधुर स्वर में गाये जाने पर वह और अधिक प्रभावशाली हो जाती है। उसके साथ जब उपयुक्त संगीत और लययुक्त नृत्यचेष्टाएँ भी होती हैं, तब वह केवल मनुष्य के हृदय या इन्द्रियों को ही आकृष्ट नहीं करती, अपितु इनके गौरवपूर्ण मेल से निर्मित सारे वातावरण से उसे अवगत कराती है। इसी प्रकार, वास्तु-कल्पना दार्शनिक गतिविधियों, काव्यमय अभिव्यक्तियों और सम्मिलित लयात्मक, संगीतात्मक एवं वर्णात्मक अर्थों से परिपूर्ण होती है और ऐसी उत्कृष्ट वास्तुकृति मानव के अन्तर्मानस को छूती हुई सभी प्रकार से उसकी प्रशंसा का पात्र बनती है और फिर विश्वव्यापी ख्याति अर्जित करती है, साथ ही भावी पीढ़ियों की प्रेरिका भी होती है।

सूचनार्थ निवेदित है कि **संघदासगणी** के पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक वास्तुविदों की वास्तुविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें कतिपय उल्लेख्य हैं: 'गरुडपुराण', 'मत्स्यपुराण', 'अग्निपुराण', 'देवीपुराण', 'युक्तिकल्पतरु', 'वास्तुकुण्डली', **विश्वकर्मा** द्वारा रचित 'विश्वकर्मप्रकाश' और 'विश्वकर्मीय शिल्पशास्त्र', मयदानव-कृत 'मयशिल्प' और 'मयमत'; काश्यप और भरद्वाज-कृत 'वास्तुतत्त्व'; वैखानस और सनत्कुमार-प्रोक्त 'वास्तुशास्त्र'; 'मानवसार' या 'मानसारवस्तु', 'हयशीर्ष-पंचरात्र' आदि पूर्ववर्ती ग्रन्थ, हैं, तो 'समरांगणसूत्रधार' (भोजदेव), 'वास्तुसार' या 'राजवल्लभ-मण्डन' (सूत्रधारमण्डन), 'वास्तुशिरोमणि' (महाराज श्याम शाह शंकर), 'वास्तुचन्द्रिका' (करुणा-शंकर और कृपाराम), 'वास्तुपुरुषविधि' (नारायणभट्ट), 'वास्तुपूजनपद्धति', 'शाकलीय वास्तु-पूजाविधि' (याज्ञिकदेव), 'वास्तुप्रदीप' (वासुदेव), आश्वलायनगृह्योक्त 'वास्तुशान्ति', शौनकोक्त 'वास्तुशान्तिप्रयोग' (रामकृष्णभट्ट), 'वास्तुशान्ति' (दिनकरभट्ट), 'वास्तुयागतत्त्व' (स्मार्त रघुनन्दन), 'टोडरानन्द' या 'वास्तुसौख्य' (टोडरमल) आदि परवर्ती हैं।

कौटिल्य के युग में वास्तुविज्ञान प्रसिद्धि की चरम शिखर पर था। उन्होंने अपने अर्थशास्त्र के इक्कीसवें अध्याय में कुशल वास्तुवैज्ञानिकों का सादर उल्लेख किया है, साथ ही वास्तुविधि के समस्त उपकरणों की विशद चर्चा की है। ग्राम-समुदायों और नगरों की रचना विशेषतः दुर्ग-निर्माण की रूपरेखाओं का स्पष्ट अंकन इस ग्रन्थ में हुआ है। **कौटिल्य** ने वास्तु-परिमाण की प्राचीन मान्यता में विकास करके यह नियम बनाया था कि गृह-निर्माण के लिए भूमि-अंशों का विभाजन एवं वितरण निर्माताओं की वृत्ति के अनुरूप होना चाहिए। आधुनिक काल के वास्तुओं का निर्माण परम्पराधृत न होकर निर्माताओं की रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार ही हुआ करता है।^२

संघदासगणी द्वारा 'वसुदेवहिण्डी' में चित्रित वास्तुप्रकरण से यह सहज अनुमेय है कि 'औपपातिकसूत्र' आदि जैनगमों के अतिरिक्त ब्राह्मणों के वैदिक तथा पौराणिक ग्रन्थ एवं मयदानव तथा विश्वकर्मा के प्राचीनतर वास्तुशास्त्र, **कौटिल्य** का अर्थशास्त्र आदि उस बहुश्रुत कथाकार के आधारदर्श रहे होंगे।

१. हिन्दी-विश्वकोश, खण्ड १०, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. ४४८

२. विशेष विवरण के लिए द्र. 'स्वतन्त्र कलाशास्त्र': डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा प्रकाशन, सन् १९६७ ई., पृ. ५९३ से ६२५

संघदासगणी की कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' के संरचना-विधान में ही राजप्रासादीय सभ्यता-मूलक स्थापत्य का विन्यास हुआ है, तो फिर उसकी कथाओं में वास्तुशास्त्रीय तथ्यों का विनिवेश कैसे नहीं हो ? 'वसुदेवहिण्डी' स्वयं राजप्रासाद के समान है (द्र. पीठिका : पृ. ७६)। प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्रियों ने जिस प्रकार वास्तुपुरुष और उसके अंग-उपांग की कल्पना करके वास्तु में प्राणप्रतिष्ठा को प्रतीकित किया है, उसी प्रकार संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में कथोत्पत्ति, पीठिका, मुख, प्रतिमुख और शरीर की कल्पना करके इस कथाकृति को स्थापत्य-पुरुष के प्रतीक के रूप में उपस्थापित किया है।

प्राचीन वास्तुशास्त्रियों ने सर्पाकार में वास्तुपुरुष या वास्तुदेव की परिकल्पना की है। 'गरुडपुराण' के अनुसार, वास्तुपुरुष, वास्तु की बाईं ओर सोते हैं और तीन-तीन महीने के बाद एक दिशा से दूसरी दिशा में चले जाते हैं। इतना ही नहीं, प्राचीन वास्तुविदों ने वास्तुनाग के सिर, पृष्ठ, क्रोड और पाद की भी कल्पना की है, साथ ही विभिन्न राशियों और महीनों में उसके अंगों के वास करने की दिशाओं का निर्देश भी किया है। जैसे : अगहन, पूस और माघ, यानी वृश्चिक, धनु और मकर राशियों में वास्तुनाग का सिर दक्षिण में, पृष्ठ पूर्व में, क्रोड पश्चिम में और पाद उत्तर में रहता है। ऐसी स्थिति में पश्चिम की ओर पूर्वद्वार का गृह बनाना चाहिए आदि। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि वास्तुदेव के क्रोड में मकान बनाये, पृष्ठ पर नहीं। इस प्रकार, वास्तुविद्या का सम्बन्ध ज्योतिष-विद्या से सहज ही जुड़ जाता है। वास्तुपुरुष को ही प्रासादपुरुष कहा जाता है। यहाँ तक कि प्रासाद की नींव में वास्तुपुरुष की स्थापना का मन्त्र^१ भी उपलब्ध होता है।

प्राचीन वास्तुवेत्ताओं के अनुसार, वास्तुमण्डल को सामान्यतः इक्यासी पग का होना चाहिए। वास्तु के समीप पेड़ लगाने का भी विशिष्ट विधान प्राप्त होता है। वास्तु के समीप कण्टकमय वृक्ष से शत्रुभय, क्षीरीवृक्ष से अर्थनाश और फलीवृक्ष से प्रजाक्षय होता है। इन सब वृक्षों की लकड़ियों का प्रयोग भी गृहनिर्माण में नहीं करना चाहिए। यदि इन वृक्षों को लगाकर काटने की इच्छा न हो, तो दोष-परिहार के लिए उन वृक्षों के निकट पुन्नाग, अशोक, अरिष्ट, बकुल, पनस, शमी और शालवृक्ष लगा देना चाहिए।

वास्तुमण्डल में कौन-सा वास्तु किस दिशा में रहना चाहिए, इसका भी निर्देश प्राचीन वास्तुकारों ने किया है। वास्तु के सम्मुख देवालय, अग्निकोण में पाकशाला, पूर्व में प्रवेश-निर्गम और यज्ञमण्डप, ईशानकोण में गन्धपुष्पालय, उत्तर में भाण्डारगृह, वायुकोण में गोशाला, पश्चिम में वातायनयुक्त जलागार, नैऋत कोण में कुश, काष्ठ आदि का गृह और अस्त्रागार तथा दक्षिण की ओर अतिथिशाला का निर्माण करना चाहिए।

जैन मान्यता के अनुसार, वास्तुकला करणानुयोग का विषय है। यतिवृषभाचार्य-रचित 'तिलोयपण्णत्ति' के नौ अधिकारों में वर्णित नौ लोकों (सामान्यलोक, नारकलोक, भवनवासीलोक, मनुष्यलोक, तिर्यम्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक और सिद्धलोक) के वर्णन के क्रम में,

१. ओं नमो भगवते वास्तुपुरुषाय महाबलपराक्रमाय सर्वाधिवासितशरीराय ब्रह्मपुत्राय सकलब्रह्माण्डधारिणे भूभारार्पितमस्तकाय पुरपत्तनप्रासादगृहवापिसरकूपदेः सन्निवेशसाधिप्रकराय सर्वसिद्धिप्रदाय प्रसन्नवदनाय विश्वम्भराय परमपुरुषाय शक्रवरदाय वास्तोभ्यते नमस्ते। - पौराणिक वास्तुशान्तिप्रयोग।

तृतीय अधिकार की गाथा बाईस से बासठ तक असुरकुमार आदि भवनवासी देवों के भवनों, वेदिकाओं, कूटों, जिनमन्दिरों एवं प्रासादों का वर्णन उपलब्ध है। भवन की वास्तु-संरचना में बताया गया है कि प्रत्येक भवन की चारों दिशाओं में चार वेदियाँ होती हैं, जिनके बाह्य भाग में अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र, इन वृक्षों के उपवन रहते हैं। इन उपवनों में चैत्यवृक्ष स्थित हैं, जिनकी चारों दिशाओं में तोरण, आठ महामंगल द्रव्य और मानस्तम्भ-सहित जिन-प्रतिमाएँ विराजमान हैं। वेदियों के मध्य में वेत्रासन के आकारवाले महाकूट होते हैं और प्रत्येक कूट के ऊपर एक-एक जिनमन्दिर स्थित होता है। प्रत्येक जिनालय क्रमशः तीन कोटों से घिरा हुआ होता है और प्रत्येक कोट में चार-चार गोपुर होते हैं। इन कोटों के बीच की वीथियों में एक-एक मानस्तम्भ, नौ-नौ स्तूप, वन, ध्वजाएँ और चैत्य स्थित हैं।

जिनालयों के चारों ओर के उपवनों में तीन-तीन मेखलाओं से युक्त वापिकाएँ हैं। ध्वजाएँ दो प्रकार की हैं : महाध्वजा और क्षुद्रध्वजा। महाध्वजाओं में सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म एवं चक्र के चिह्न अंकित हैं। जिनालयों में वन्दन, अभिषेक, नृत्य, संगीत और आलोक, इनके लिए अलग-अलग मण्डप हैं; क्रीडागृह, गुणनगृह (स्वाध्यायशाला) तथा पट्टशालाएँ (चित्रशाला) भी हैं। जिनमन्दिरों में जिनेन्द्र की मूर्तियों के अतिरिक्त, देवच्छन्द के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा यक्षों की मूर्तियाँ एवं अष्टमंगल द्रव्य भी स्थापित होते हैं। ये आठ मंगलद्रव्य हैं: झारी, कलश, दर्पण, ध्वज, चमर, छत्र, व्यजन और सुप्रतिष्ठ। जिन-प्रतिमाओं के आसपास नागों और यक्षों के युगल अपने हाथों में चमर लिये हुए स्थित रहते हैं।

असुरों के भवन सात, आठ, नौ, दस आदि भूमियों (मंजिलों) से युक्त होते हैं, जिनमें जन्म, अभिषेक, शयन, परिचर्या और मन्त्रणा—इनके लिए अलग-अलग शालाएँ होती हैं। उनमें सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह, लतागृह आदि होते हैं तथा तोरण, प्राकार, पुष्करिणी, वापी और कूप, मतवारण और गवाक्ष ध्वजा-पताकाओं एवं नाना प्रकार की पुतलियों से सुसज्जित होते हैं।^१

इस प्रकार, यतिवृषभाचार्य ने वास्तु का सामान्य आदर्श प्रस्तुत किया है। प्राकृत-साहित्य में वर्णित वास्तु-विन्यास के आधारदर्श के रूप में 'तिलोयपण्णत्ति' की उपयोगिता सन्दिग्ध नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण कृति भारत के स्वर्णकाल की अवधि (चतुर्थ-पंचम शती) में लिखी गई है, इसलिए सम्भव है, संघदासगणी ने भी अपने वास्तुवर्णन के सन्दर्भ में 'तिलोयपण्णत्ति' का प्रभाव ग्रहण किया हो।

उक्त सामान्य भवन के अतिरिक्त जैनवास्तुकला में, जिनेन्द्र की मूर्तियों की प्रतिष्ठा के समय जन्ममहोत्सव के लिए मन्दिर मेरु की रचना; नन्दीश्वर द्वीप का निर्माण; समवसरण (सभाभवन) की रचना; मानस्तम्भ की स्थापना, चैत्य, चैत्यवृक्ष एवं स्तूप, श्रीमण्डप, गन्धकुटी, गुफाएँ और उनमें अंकित मूर्तियाँ, मन्दिर, नगर आदि का विन्यास प्रभृति वास्तु भी अपना उल्लेखनीय महत्त्व रखते हैं। सच पूछिए तो, वास्तुकला में ही आलेख्य, आलेप्य आदि कलाएँ भी समाहित हो जाती हैं और इस प्रकार वास्तुकला ही समस्त कलाओं की आधारभूमि सिद्ध होती है।

१. जैन वास्तुकला के विशेष अध्ययन के लिए द्रष्टव्य : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डॉ. हीरालाल जैन; व्याख्यान ४ (जैनकला), पृ. २९२

'वसुदेवहिण्डी' में आचार्य संघदासगणिवाचक ने विभिन्न वास्तुओं का जो भव्योज्ज्वल कल्प (विधि-विधान) उपन्यस्त किया है, उससे उनके गम्भीर वास्तुप्राज्ञ होने का संकेत मिलता है। यहाँ उनकी कतिपय वास्तु-परिकल्पनाएँ द्रष्टव्य हैं।

इक्कीसवें केतुमतीलम्भ (पृ. ३४१) की कथा है कि जब तीर्थंकर शान्तिनाथ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था, तब यथायोचित 'समवसरण' का, देवलोक जैसा वास्तुविन्यास किया गया था, जिसका वर्णन इस प्रकार है : भवन और विमान के अधिपति गन्धोदक और फूल बरसाते आये तथा भगवान् की वन्दना करके अतिशय प्रसन्न मन से खड़े हो गये। व्यन्तर देवों ने चारों ओर एक योजन-पर्यन्त देवलोक जैसा परिवेश खड़ा कर दिया। विकसित नेत्रोंवाले वैमानिक ज्योतिष्क और भवनपति देवों ने रत्न, सोना और चाँदी के प्राकार क्षणभर में बना दिये, जो मणि, सोना और रत्न से निर्मित कपिशोर्ष (कंगूरे) से सुशोभित थे। उनमें से प्रत्येक में रजतगिरि (वैताद्वय) के शिखर-सदृश चार द्वार बनाये। वहाँ जगद्गुरु तीर्थंकर जिस नन्दीवत्स वृक्ष के नीचे प्रसन्नमुख बैठे थे, वह दिव्य प्रभाव से लोकचक्षु को आनन्द देनेवाले, कल्पवृक्ष के समान सुन्दर रक्ताशोक से आच्छादित हो गया। उसके नीचे आकाशस्फटिक से निर्मित, पादपीठ-सहित और देवों के लिए विस्मयजनक सिंहासन रखा गया। ऊपर गगनदेश के अलंकारभूत, पूर्णचन्द्र के प्रतिबिम्ब के समान छत्र-पर-छत्र तन गये। भव्यजनों के बोधनहेतु भगवान् पूर्वाभिमुख बैठे। यक्ष खड़े होकर चँवर डुलाते रहे। सोने के सहस्रदल कमलों से प्रतिष्ठित तरुण रविमण्डल के समान, सामने तीर्थंकर के चरणमूल में धर्मचक्र था। सभी दिशाओं के मुख ध्वजाओं से सुशोभित थे। तुष्ट होकर देवों ने दुन्दुभियाँ बजाईं। नर्तकियों ने नृत्य प्रदर्शित किये। गन्धर्वों ने गान किया। भूतों ने सिंहनाद किया और जृम्भक देवों ने फूल बरसाये। सिद्ध चारणों ने स्तुति की। वैमानिक देवियाँ प्रदक्षिणा करके प्रणाम की मुद्रा में भावी साधु के स्थान से दक्षिण और अग्निकोण में आकर बैठ गईं। भावी साध्वियों के पश्चिम और भगवान् के नैऋत्यकोण में व्यन्तर और ज्योतिष्क देवियाँ आकर बैठीं। पश्चिम द्वार के उत्तर में भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव बैठे। उत्तर द्वार पर वैमानिक देव और पूर्व द्वार पर मनुष्य-मानुषियाँ आकर बैठे।

इस प्रकार, यहाँ संघदासगणी ने जिस उत्तम वास्तुरचना का विनियोग किया है, वह 'तिलोयपण्णत्ति' में उपदिष्ट भवन-निर्माणविधि से साम्य रखता है, जिसकी भव्य मनोहर आकृति को कथाकार ने अपनी कल्पना की वरेण्यता से दैविक उदात्तता प्रदान की है। भवनपति, ज्योतिष्क, वैमानिक और व्यन्तर देव ब्राह्मण-परम्परा के, वास्तुविद्या के मर्मज्ञ विश्वकर्मा और मयदानव के ही प्रतिरूप हैं, जो महार्घ वास्तुरचना में अपनी द्वितीयता नहीं रखते।

प्राचीन युग में चतुश्शाल भवन बनाने की परिपाटी थी। संघदासगणी ने भी चतुश्शाल भवन का उल्लेख किया है। धम्मिल्ल किसी दिन प्रियजन के साथ चतुश्शाल भवन के भीतरी भाग में बैठा था ('अन्नया कथाइ पियजणसहिओ अम्भितरिल्ले चाउसाले अच्छइ'; ध. हि. : पृ. ७३)। चार मकानों के वर्ग या चारों ओर चार भवनों से घिरे हुए चतुष्कोण वास्तु को चतुश्शाल कहा जाता था। परवर्तीकालीन वास्तुविद् भोज्जदेव (विक्रम की नवम-दशम शती) के 'समरांगण-सूत्रधार' से भी संघदासगणी द्वारा उल्लिखित चतुश्शाल के निर्माण की परिपाटी का समर्थन होता है। भोज्जदेव ने अपनी उक्त कृति में 'चतुश्शालविधान' नामक एक स्वतन्त्र अध्याय (सं. २६) की

ही रचना की है। इसमें उन्होंने बताया है कि चतुश्शाल भवन के अनेक भेद होते हैं और राजाओं के लिए आठ सौ हाथ के व्यास में निर्मित चतुश्शाल शुभप्रद होता है।^१ धम्मिल्ल को यह चतुश्शाल राजभवन कुशाग्रपुर के राजा अमित्रदमन से प्राप्त हुआ था।

चौथे नीलयशालम्भ (पृ. १७१) में संघदासगणी ने सर्वतोभद्र प्रासाद का उल्लेख किया है। कथा है कि एक दिन स्वयम्भवा सन्ध्या समय 'सर्वतोभद्र' प्रासाद पर बैठी हुई थी, तभी उसने नगर के बाहर, देव को आकाश से उतरते देखा। ('कयाइं च पओसे सव्वओभद्दं पासायमभिरुद्धा पस्सामि न्थरब्बाहिं देवसंपायं')। प्राचीन दैवज्ञ वास्तुकारों में वराहमिहिर (ई.पू. प्रथम शती) और उनकी पार्यान्तिक ज्योतिष-कृति 'बृहत्संहिता' की बड़ी प्रसिद्धि है। वराहमिहिर ने अपनी उक्त कृति में सर्वतोभद्र प्रासाद की निर्माणविधि दी है और उस क्रम में बताया है कि उत्तमगृह का विस्तार जितने हाथ होगा, उसके सोलहवें भाग में चार हाथ योग करने से प्राप्त योगफल ही उस गृह का 'उच्छ्राय' (ऊँचाई) होगा। उच्छ्राय से नौगुने और अस्सी हाथ में उसके दशांश को घटाने से जो बचेगा, वही स्तम्भ के अग्रभाग का परिमाण होगा। स्तम्भ के भी पाँच प्रकार हैं: रुचक, वज्र (अष्टकोण), द्विवज्र (षोडशकोण), प्रलीनक (बत्तीस कोनोंवाला) और वृत्तगुप्त (वृत्ताकार)। स्तम्भ के परिमाण में नौ का भाग देने से जो भागफल होता है, वह 'वहन' है। जिस वास्तु के चारों ओर इसी प्रकार के वहन और द्वार होते हैं, वह 'सर्वतोभद्र' कहलाता है। सचमुच, सर्वतोभद्र प्रासाद प्राचीन वास्तुविद्या के शैल्यिक चमत्कार की ओर संकेत करता है।

वराहमिहिर ने निर्देश किया है कि जिस वास्तु के शालाकुड्य (भवन-भित्ति) के चारों ओर सभी अलिन्द (चबूतरा) प्रदक्षिण भाव में निम्नभाग तक जाते हैं, उसे 'नन्दावर्त' कहते हैं। इस वास्तु में पश्चिम-द्वार नहीं होता। संघदासगणी ने शान्तिजिन के पूर्वभव की कथा (केतुमतीलम्भ) के क्रम में, अपराजित के भव की चर्चा का उपक्रम करते हुए, प्राणत कल्प के नन्दावर्त और स्वस्तिक विमान (भवन) का उल्लेख किया है। यथानाम स्वस्तिक भवन की संरचना स्वस्तिक चिह्न के आकार की होती थी। संघदासगणी द्वारा संकेतित नन्दावर्त और स्वस्तिक-भवन का समर्थन 'समरांगणसूत्रधार' से भी होता है।^२ प्राचीन वास्तुशास्त्र में कहा गया है कि जिस वास्तु के पश्चिम की ओर एक तथा पूर्व की ओर दो अलिन्द शेष तक रहते हैं और जिसके दो ओर के अलिन्द उत्थित और शेष सीमा तक विवृत (फैले) रहते हैं, उसको 'स्वस्तिक' वास्तु कहते हैं। इसमें पूर्वद्वार नहीं होता।

प्राचीन वास्तु में छतदार बरामदे की संरचना की जाती थी। संघदासगणी ने इस प्रकार के वास्तु को 'अवलोकन' (= अवलोकण) की संज्ञा दी है: "अवलोकणगण य मे दिट्ठो नयरमज्झे १. चतुश्शालानि वेश्मानि यानि तेषां शतद्वयम्।

द्विचत्वारिंशदधिकं चतुश्शालशताष्टकम् ॥

श्रेष्ठमष्टशतं राजामेतानि तु यथाक्रमम् ॥

(श्लोक सं. ३, ६ और १६)

२. नन्दावर्तगृहे सर्वा नन्दावर्ता भवन्ति ताः।

द्वे मूषे रुचके स्यातामाधत्ते त्ववकोसिमे ॥

त्रिनाभमुत्तरद्वारं शस्तं सर्वगुणान्वितम्।

आद्याद्विदुर्वासप्तम्यो यत्र तत् स्वस्तिक स्मृतम् ॥

(अ. २४, श्लो. ७८ और १३९)

बहुजनसाउहक्यपरिवारो . . . ।" (पुण्ड्रालम्भ : पृ. २१३)। यह 'अवलोकन'^१ राजभवन के ऊँचे शिखर पर छतदार बरामदे या मण्डप के रूप में होता था, जहाँ से राजा-रानी नगर के और नगर के बाहर के दृश्यों का अवलोकन करते थे। कथानायक वसुदेव ने भी तारक सेठ के विमान के 'अवलोकन' से नगर के बीच का दृश्य देखा था। बड़े भवनों को विमान कहा जाता था, जो प्रायः सात मंजिलों से कम का नहीं होता था। कालिदास ने भी अलका-वर्णन के क्रम में 'विमानाग्रभूमि' की चर्चा अपने मेघदूत-काव्य में की है।^२

पुराकाल में राजभवन से सम्बद्ध वास्तु प्रेक्षागृह भी हुआ करता था। संघदासगणी ने उल्लेख किया है कि वसुदेव के साथ नीलयशा की पाणिग्रहण-विधि पूरी होने के बाद वर-बधू को प्रेक्षागृह (= पेच्छाघर) में बैठाया गया, जहाँ दोनों का विशिष्ट शृंगार-प्रसाधन किया गया (नीलयशालम्भ : पृ. १८०)। प्रेक्षागृह को नाट्यशाला या रंगशाला कहते हैं, जहाँ नाट्यकर्मियों के लिए शृंगार-प्रसाधन की विविध सामग्रियों की व्यवस्था रहती है। इसीलिए, वसुदेव और नीलयशा को प्रेक्षागृह में ले जाकर बैठाया गया था। परिचारिकाएँ प्रेक्षागृह में उन्हें सजाकर वासगृह (शयनगृह) में ले गई थीं, जहाँ स्वर्णदीप जल रहे थे। संघदासगणी के अनुसार, प्रेक्षागृह से सम्बद्ध भोजनगृह भी था, तभी तो वसुदेव जब दूसरे दिन प्रातः जगे, तब प्रसाधनकार्य-कुशल परिचारिकाओं ने उनका प्रसाधन किया। उसके बाद वासगृह से निकलकर वे प्रेक्षागृह में आये, जहाँ उनके लिए कलमदान चावल का सुपाच्य भोजन उपस्थित किया गया।

प्राचीन युग के राजभवन से सम्बद्ध विविध वन-उपवन-उद्यान और क्रीड़ागृह भी होते थे। जैसे : लतागृह, जालगृह, कदलीगृह आदि। संघदासगणी ने इन वास्तुओं का एक साथ उल्लेख किया है। वेगवती के अपहरण हो जाने के बाद, वसुदेव उसे प्रमदवन में, उसकी सखी के घर में और फिर इधर-उधर खोजने लगे। जब वह कहीं नहीं दिखाई पड़ी, तब वसुदेव उसे क्रीड़ा के निमित्त गई हुई मानकर आगे बढ़े और लतागृह, जालगृह और कदलीगृह में ढूँढ़ने लगे। (वेगवतीलम्भ : पृ. २२५)। भारतीय स्वर्णकाल के कवियों में प्रायः सभी ने अपनी काव्यकृतियों या कथाग्रन्थों में लतागृह या लतामण्डप (लताओं से निर्मित मण्डपाकार स्थान) का उल्लेख किया है, किन्तु संघदासगणी द्वारा चित्रित जालगृह, मोहनगृह और कदलीगृह, ये तीनों नातिचर्चित वास्तु हैं। जालगृह, जालीदार खिड़कियोंवाले घर को कहा जाता था, जिसमें बैठकर अन्तःपुरवासी लोग बहिर्भाग का दृश्यावलोकन करते थे। संघदासगणी के पूर्ववर्ती महाकवि कालिदास ने भी जालीदार गवाक्ष का चित्रण किया है : "जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या (रघुवंश : ७.९) ।" इसके अतिरिक्त 'मेघदूत' में भी अनेक जगह 'जाल' का प्रयोग महाकवि ने किया है (उत्तरमेघ, ६-७)। कदलीगृह, कदलीस्तम्भ से निर्मित या कदलीवृक्ष से आवेष्टित घर को कहा जाता था। कालिदास ने प्रत्यक्ष रूप से 'कदलीगृह' की चर्चा तो नहीं की है, किन्तु कनककदली से आवेष्टित, समणीय, अतएव दर्शनीय क्रीडाशैल का वर्णन अवश्य किया है।^३ कदलीगृह भी तो अन्तःपुरवासिनी ललनाओं के

१. अवलोकन = प्रासाद के सबसे ऊपरी भाग में एक ऐसा छोटा मण्डप या स्थान, जहाँ से बाहर की ओर देखा जा सके। 'दिव्यावदान' में इसे 'अवलोकनक' (पृ. २२१) कहा गया है। — द्र. चतुर्भाषा : सं. डॉ. मोतीचन्द्र तथा डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, संस्करण : सन् १९५९ ई., पृ. १७२ की टिप्पणी।

२. नेत्रानीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमिः। मेघदूत, उ. मे. ६

३. क्रीडाशैलः कनककदलीवेत्रनप्रेक्षणीयः। — मेघदूत, उ. मे. १४

लिए क्रीड़ागृह ही था। तभी तो, वसुदेव ने वेगवती को क्रीड़ा के निमित्त कदलीगृह में गई हुई माना था। मोहनगृह तो स्पष्ट ही कामकेलि का गृह था (पद्मश्रीलम्प : पृ. ३५९)।

वास्तु या भवन-निर्माण के मुख्य उपादान ईट और पत्थर हैं। प्राचीन वास्तुकारों ने ईट और पाषाण को मिलाकर वास्तुनिर्माण को अनुचित माना है। वास्तु का निर्माण केवल ईट या केवल प्रस्तर से ही होना चाहिए। प्राचीन वास्तुशास्त्र 'हयशीर्षपंचरात्र' में बारह अंगुल की पूर्णतः लाल रंग की पक्की ईंटों को वास्तुनिर्माण के लिए उपयुक्त माना गया है। किन्तु संघदासगणी ने मिट्टी से छियानम्बे अंगुल की ईंटें बनाने का प्रावधान रखा है। उन्होंने यह भी कहा है कि आग में पकाने के बाद सभी ईंटें एक-एक अंगुल छोटी हो जाती हैं। ईट बनाने की यह प्रक्रिया शाण्डिल्य ने सगर को सिखाई थी। उक्त विधि से सगर ने ईंटें बनाकर उन्हें तह-पर-तह रखते हुए आवा तैयार किया था। जब ईंटें पककर तैयार हो गईं, तब राजा सगर ने उनसे अगले पैरों पर खड़े पुरुष की ऊँचाई के बराबर यज्ञवेदी तैयार की थी। यह यज्ञवेदी प्रयाग और प्रतिष्ठान (झुँसी) के बीच गंगातट पर बनाई गई थी। भोजदेव ने भी केवल पत्थर या केवल पक्की ईट से प्राकार-निर्माण का समर्थन किया है। दोनों उपादानों का मिश्रण उन्हें भी मान्य नहीं है।^१ 'गरुडपुराण' के सैतालीसवें अध्याय में भी प्रासाद-निर्माण का का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

प्रासाद के समानान्तर ही मन्दिर और देवगृह के स्थापत्य को प्रतिष्ठा प्राप्त है। प्रासाद जहाँ मनुष्य के सुख और प्रसन्नता के लिए होता है, वहाँ मन्दिर और देवगृह देवाराधना और धर्माचरण के वास्तु के प्रतीक हैं। इसीलिए, 'प्रासाद' की व्युत्पत्ति 'प्रसीदन्ति अस्मिन्निति' (प्र + सद + घञ्) की गई है, तो 'मन्दिर' की व्युत्पत्ति में कहा गया है: 'मन्त्रते सुष्यते वा स्तूयते वाऽत्र (मदिङ् स्वप्ने स्तुतो, मदिङ् + किरच्)।' इसी प्रकार 'गृह' की व्युत्पत्ति है: 'गृह्यते धर्माचरणाय यत् (ग्रह + क)।' गृह-मात्र गृहस्थों के धर्माचरण का आधार या आश्रय है। देवगृह तो स्वयमेव धर्मस्थल है।

पुराणों में, विशेषतया 'अग्निपुराण' में देवमन्दिर की बड़ी प्रशस्ति की गई है। 'बृहत्संहिता' में, वास्तुतत्त्व की दृष्टि से, देवमन्दिर या देवगृह के बीस प्रकारों का उल्लेख किया गया है। जैसे: मेरु, मन्दर, कैलास, विमानच्छद, नन्दन, समुद्र, पद्म, गरुड, नन्दिवर्द्धन, कुम्भार, गुहाराज, वृष, हंस, सर्वतोभद्र, घट, सिंह, वृत्त, चतुष्कोण, षोडशकोण और अष्टकोण। पुराणों में मन्दिर बनाने के अनेक फल कहे गये हैं। वास्तुमण्डल में देवगृह का निर्माण आवश्यक माना जाता था। कहा गया है कि वास्तुमण्डल के चारों ओर पाँच हाथ ऊँचा प्राकार बनवाना चाहिए और प्राकार के चारों ओर वनोपवन से सुशोभित विष्णुगृह का भी निर्माण कराना चाहिए। मन्दिर-निर्माण के लिए वैशाख, आषाढ, श्रावण, कार्तिक, अगहन, माघ और फाल्गुन मास प्रशस्त हैं तथा नक्षत्रों में अश्विनी, रोहिणी, मूला, उत्तराषाढ, स्वाती, हस्ता और अनुराधा शुभदायक हैं। इसी प्रकार, वज्र, व्याघात, शूल, व्यतीपात, अतिगण्ड, विष्कुम्भ, गण्ड और परिघ योगों को छोड़कर शेष सभी योगों में मन्दिर का निर्माण फलप्रद होता है। प्रासाद या मन्दिर के निर्माण में स्थान-परीक्षा (भूमि और मिट्टी की परीक्षा) अनिवार्य होती है। 'मत्स्यपुराण' में कहा गया है: "पूर्वं भूमिं परीक्षेत पञ्चाङ्गान्

१. वप्रोर्धभागं मध्यं स्थूलोपलशिलाचितम्।

कुर्यात्प्राकारमुद्गमं यद्वा पक्वेष्टकामयम्॥

प्रकल्पयेत् ।” देवमन्दिर के निर्माण के लिए वन का उपान्त, नदी, पर्वत, निर्झर की उपान्तभूमि और उद्यानयुक्त पुरप्रदेश प्रशस्त है। देवगृह बनवानेवाले को इष्टापूर्ति (‘यज्ञ आदि पुण्यकार्यों एवं कुआँ-तालाब खुदवाना, बागीचा लगवाना, अतिथिशाला बनवाना आदि धर्मकार्यों के अनुष्ठान’) का फल प्राप्त होता है।

प्राचीन वास्तुकला के मर्मज्ञ संधदासगणी ने कलावरेण्य प्रासादों के निर्माण की विभिन्न पद्धतियों का चित्रण तो किया ही है, मन्दिरों और मूर्तियों की संरचना-कला का भी मनोरम अंकन किया है। उपरिविवृत वास्तु-परिवेश में यहाँ उनके द्वारा एक साथ वर्णित नगर, मन्दिर और मूर्ति के विन्यास का कलारमणीय रूप द्रष्टव्य है : श्रावस्ती नगरी के समीपस्थित फूल-फल के भार से झुके पेड़ों से सुशोभित उपवनों में विश्राम करते हुए वसुदेव ने उस नगरी पर अपनी दृष्टि डाली। विद्याधरपुरी की शोभा धारण करती हुई वह नगरी इन्द्र की बुद्धि से-निर्मित स्वर्गपुरी जैसी लग रही थी। वहाँ उन्होंने एक और मनुष्यलोक की दृष्टि को विस्मित करनेवाला मन्दिर देखा। वह मन्दिर नगर के प्राकार की तरह प्राकार से घिरा हुआ था। उस मन्दिर की भूमि विनय और नय से आवेष्टित प्रतीत होती थी। उसकी सफेदी (उज्ज्वलता) दर्शनीय थी। उसके छज्जे, अटारी और झरोखे बड़ी सुन्दरता से बनाये गये थे। उसके सोने के कंगूरे पर कपोतमाला विराज रही थी और उसका शिखर (गुम्बद) ओषधि से प्रज्वलित रजतगिरि (वैताद्वय पर्वत) की चोटी के समान था।

उक्त मन्दिर को किसी देवता का आयतन समझकर वसुदेव विशाल गोपुर (मुख्यद्वार) से उस नगरी में प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने आठ सौ खम्भों से विभूषित तथा विविध काष्ठकर्म से उपशोभित मण्डप देखा, जिसमें तीन पैरोंवाला एक भैंसा प्रतिष्ठित था, जो जालगृह (सच्छिद्र गवाक्षवाला घर) में ब्रह्मासन पर बैठा था। काले रत्न से उसके शरीर की सुन्दर रचना की गई थी, उत्तम चिकनी इन्द्रनील मणि के सींग थे, लोहिताक्षमणि से गड़ी गई उसकी लाल-लाल आँखें थीं, कीमती पद्मरागमणि से उसके खुरों का निर्माण किया गया था और गले में मूल्यवान् मोती-जड़े सोने के घुँघरुओं की माला पड़ी थी (सत्रहवाँ बन्धमतीलम्प : पृ. २६८)। संधदासगणी के इस भव्य वर्णन से नगर, मन्दिर और मूर्ति— इन तीनों के स्थापत्य का स्पष्ट चित्र उपलब्ध होता है। संधदासगणी का यह स्थापत्य-वर्णन स्वयं उनके गहरे निरीक्षण का परिणाम है। कथाकार के इस वास्तुवर्णन में मूर्ति और मन्दिर के निर्माण की विधि के बड़े महत्त्वपूर्ण आयाम उद्घावित हुए हैं। देवकुल के वास्तु की परिरचना के साथ ही कथाकार ने यथाप्रसंग भूतधरों के वास्तु की भी परिकल्पना की है।

इसी क्रम में ‘वसुदेवहिण्डी’ में प्राप्य संधदासगणी के और भी कतिपय नयनमनोहर वास्तु-विन्यास उद्धरणीय हैं :

द्वारवती नगरी का वास्तु प्राचीन नगर-संरचना को प्रतीकित करता है। प्राचीन नगर-संरचना की दो-एक ध्यातव्य विशेषताएँ जैन आगमों में वर्णित हैं, जिनकी आवृत्ति प्रायः सम्पूर्ण प्राकृत-कथावाङ्मय के नगरों की संरचना और स्वरूप के निरूपण में उपलब्ध होती है। प्राचीन वास्तुकारों ने नगर की संरचना में उसके तीन आयामों को विशेष रूप से उभारा है : प्रथम, उसकी आर्थिक या साम्प्रतिक समृद्धि-सम्बन्धी, द्वितीय, उसकी अनेक प्रकार की कलाओं, विद्याओं, यान-वाहनों तथा मनोरंजन के साधनों की प्रचुरता-सम्बन्धी और तृतीय, नगर की वास्तु-

रचना-सम्बन्धी। नगर की रचना के कतिपय वास्तुमण्डन इस प्रकार हैं : नगर की रक्षा के निमित्त उसके चारों ओर परिखा (खाई) होती थी, नगर ऊँचे-ऊँचे प्राकारों से घिरा होता था, जिनके चारों ओर (चारों दिशाओं में) चार-चार द्वार होते थे। प्राकार का आकार धनुषाकार कहा गया है। इन द्वारों में गोपुर और तोरणों की शोभा का विशेष मूल्य था। कोट या प्राकार के कपिशिर्ष (कंगूरे) ऊँचे होते थे, जिनपर शतघ्नी (तोप) आदि अस्त्र-शस्त्रों की स्थापना की जाती थी। नगर में राजमार्गों एवं चर्यापथों (फुटपाथ) को बड़ी सुव्यवस्थित रीति से बनाया जाता था, जिनमें त्रिपथ और चतुष्पथ (तिराहे और चौराहे) बड़े अच्छे ढंग से बनाये जाते थे। नगर में स्थान-स्थान पर विशाल उद्यानों, सरोवरों तथा कूपों और प्रपाओं का निर्माण किया जाता था। महल कतारों में बनाये जाते थे, साथ ही देवालयों, बाजारों और दूकानों की भी समीचीन व्यवस्था रहती थी।

संघदासगणी द्वारा वर्णित द्वारवती नगरी में प्राचीन नगर-विन्यास की, संक्षेप में ही सही, मनोरम झाँकी मिलती है : द्वारवती नगरी जनपदों की अलंकारस्वरूपा थी, चूँकि वह नगरी लवणसमुद्र के बीच में बनी थी, इसलिए लवणसमुद्र के सुस्थित नाम के देवता द्वारकावासियों के लिए समुद्र में रास्ता बनाते थे; कुबेर की बुद्धि से उस नगरी का निर्माण हुआ था, उसके प्राकार सोने के बने थे, वह नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी थी, वहाँ रत्नों की वर्षा होने से, निर्धनता ने उस नगरी का परित्याग कर दिया था, रत्न की प्रभा से वहाँ अन्धकार नहीं रह पाता था और चक्राकार भूमि में निर्मित हजारों-हजार प्रासादों से मण्डित वह नगरी देवलोक का प्रतिरूप प्रतीत होती थी। द्वारका के निवासी विनीत और विज्ञान (कला)-कुशल थे। उनके नाम भी मधुर थे, दयालु और दानी होने के साथ ही वे शीलवान्, सज्जन तथा सुवेश थे (पीठिका : पृ. ७७)। इसी प्रकार, कथाकार ने श्रावस्ती नगरी को 'सुप्रशस्त वास्तु का निवेश' कहा है (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २६५)।

संघदासगणी ने कोल्लकिर नगर के वास्तु-विन्यास को भी बड़ी रुचिरता और मनोरमता के साथ उपस्थापित किया है : कोल्लकिर नगर में 'सौमनस' नाम की वनदेवी के आयतन में अन्न और पानी का वितरण हो रहा था और जगह-जगह सुसज्जित प्रणामण्डप (पनशाला) बने हुए थे, बादलों के वेग को रोकनेवाली प्रासाद-पंक्ति से वह नगर संकीर्ण था और नगर चारों ओर से रजतगिरि के समान परकोटे से घिरा हुआ था (चौबीसवाँ पद्मावतीलम्भ, : पृ. ३५५)।

संघदासगणी के अनुसार, सृष्टि के प्रारम्भ से ही वास्तुकला का उत्कर्ष उपलब्ध होता है, जिसे कथाकार ने 'बहुकालवर्णनीय' (प्रा. 'बहुकालवर्णणिज्जे') कहा है। उस समय की भूमि रूप, गन्ध और स्पर्श में मनोहर और मृदुल थी, जो पंचवर्ण मणि और रत्न से भूषित सरोवर के तलभाग की भाँति सम और रमणीय थी। ऐसी ही भूमि पर निर्मित मधु, मद्य, दूध, इक्षुरस तथा प्राकृतिक जल से भरी हुई वापी, पुष्करिणी और दीर्घिकाओं की सोपान-पंक्तियाँ रत्न और श्रेष्ठ सुवर्ण से खचित थीं और उसी प्रकार की भूमि पर अनेक भवन भी बने हुए थे (चौथा नीलयशालम्भ : पृ. १५७)।

ऋषभस्वामी का जन्म होने पर शिशु का जातकर्म संस्कार सम्पन्न करने के लिए आई दिक्कुमारियों ने जिस कदलीगृह और चतुःशाला का निर्माण किया था, उसका वास्तुविन्यास भी चमत्कृत करनेवाला है : देवविमान के मध्य में रहनेवाली चार दिक्कुमारियों ने शिशु तीर्थकर का

जातकर्म-संस्कार प्रारम्भ किया— नवजात के नाभिनाल को, चार अंगुल छोड़कर, काट डाला और उसे धरती में गाड़ दिया, फिर उस गड्ढे को रत्न और दूर्वा से भरकर वहाँ वेदी (पीठिका) बना दी। उसके बाद उन्होंने अपनी वैक्रियिक शक्ति से दक्षिण, पूर्व और उत्तर— इन तीनों दिशाओं में मरकत मणि की भाँति श्यामल आभूषणों से मण्डित कदलीघर का निर्माण किया और फिर कदलीघर के मध्यभाग में कल्पवृक्ष की, स्वर्णजाल से अलंकृत चतुःशाला बनाई। उसमें उन्होंने पुत्रसहित जिनमाता को मणिमय सिंहासन पर बैठाकर क्रम से तेल-उबटन लगाया (तत्रैव : पृ. १६०)। प्रस्तुत कदलीगृह का वास्तु-विन्यास विद्या-विकुर्वित है, इसलिए वास्तुकल्पज्ञ कथाकार द्वारा इसके निर्माण की विधि में की गई लोकोत्तर भावकल्पना का मिश्रण असहज नहीं है।

इक्कीसवें केतुमतीलम्भ (पृ. ३१४) में, संघदासगणी द्वारा स्वयंवर-मण्डप का मनोहारी वास्तुविधान उपन्यस्त किया गया है। राजा अर्ककीर्ति की पुत्री सुतारा के लिए पोतनपुर के राजा त्रिपृष्ठ द्वारा आयोजित स्वयंवर के निमित्त मण्डप सजाया गया। मण्डप के दोनों ओर कमल से ढके जलपूर्ण स्वर्णकुम्भ रखे गये और मण्डप को मणिमण्डित तोरणों से अलंकृत किया गया; सरस और सुगन्धयुक्त मालाओं से वेष्टित सैंकड़ों स्तम्भ बनाये गये; स्वर्णकमलों की मालाओं से आवेष्टित विपुल पुतलियाँ खड़ी की गई, पाँच रंग के फूलों से मण्डपभूमि को आच्छादित किया गया और प्राण तथा मन को प्रिय लगनेवाले विविध धूप जलाये गये। उसके बाद विद्याधर-सहित सभी राजा अपने-अपने राजचिह्नों से अलंकृत होकर, देवकुमार के समान सज-धजकर मंच पर आरूढ़ हुए।

तीर्थंकर अरनाथ ने प्रव्रज्या ग्रहण करने के उद्देश्य से जिस वैजयन्ती नाम की शिविका पर सवार होकर महाभिनिष्क्रमण किया था, उसकी कलात्मक वास्तुसज्जा कथाकार संघदासगणी के वास्तुपरक मण्डन-विधान ('शुक्रनीतिसार' के अनुसार, नौका, रथ आदि सवारियों के बनाने की कला) की सूक्ष्मज्ञता का उद्घोष करती है: उसके बाद बहुकालवर्णनीय वैजयन्ती शिविका उपस्थित की गई, जो उत्तम सोने की श्रेष्ठ रचना से विभूषित थी। उसमें कल्पवृक्ष के फूल सजे थे, जिनपर भौर गुंजार कर रहे थे। उसके स्तूप में विद्रुम, चन्द्रकान्त, पद्मराग, अरविन्द, नीलमणि और स्फटिक जड़े हुए थे। उसके सोने के खम्भों में अंजन और लाल रंग से मिश्रित रेखाओं से बालकों (बालकाकृति पुतलियों) को चित्रित किया गया था, जिनके मुख-चिह्न से मुक्ताजल के निकलने का विलास प्रदर्शित था। उसमें मरकत, वैडूर्य और पुलकमणि से खचित वेदिका बनी हुई थी। गोशीर्षचन्दन की छटा से दमकती तथा कालागुरु धूप से वासित उस शिविका से निकलता हुआ मोहक सौरभ सभी दिशाओं में फैल रहा था। देव और मनुष्य उस शिविका को ढो रहे थे (इक्कीसवें केतुमतीलम्भ : पृ. ३४७)।

गवाक्षों से झाँकते हुए स्त्रीमुख की अंकन-रुचि भारतीय स्वर्णकाल के वास्तु की विशेषता थी। संघदासगणी ने भी 'वसुदेवहिण्डी' में, जगह-जगह, प्रसंगानुसार भवन के वातायनों (खुली खिड़कियों), गवाक्षों (जालीदार खिड़कियों) एवं द्वारों पर आकर सुन्दरियों के झाँकने या पुष्पवृष्टि करने आदि का वर्णन किया है। रूपवान् वसुदेव जब घर से बाहर निकलते थे, तब रूपलोलुप तरुणियाँ वातायनों, गवाक्षों एवं द्वारों पर आकर उनके पुनर्दर्शन की प्रतीक्षा में चित्रांकित-सी खड़ी रहकर पूरा दिन बिता देती थीं। मूल इस प्रकार है: "कुमारो सारथ्यचंदो विव जणायणसुहओ

सुद्धचारितो जाए जाए दिसाए निज्जाइ ततो ततो तरुणिवग्गो तेण समं तवक्कम्मो भमति, जा य तरुणीओ ताओ वाथायणगवक्खजालंतर दुवारदेसेसु 'निकत्तमाणं पस्सिस्सामो' ति पोत्थकम्मज-क्खीओ विव दिवसं गमेति . . " (प्रथम श्यामाविजयालम्भ, पृ. १२०)।

इसी प्रकार, श्रेष्ठी कामदेव की पुत्री बन्धुमती के साथ दिव्य शिविका पर सवार होकर अतिशय प्रियदर्शन वसुदेव जब राजकुल की ओर चले, तब रूपविस्मित महल की युवतियाँ पाँच रंग के सुगन्धित फूल और गन्धचूर्ण बरसाने लगीं और देखने के लोभ से अन्तःपुर के लोग (स्त्रीजन) वातायनों, गवाक्षों और छज्जों की जालियों पर उमड़ आये : "पासायगयाओ जुवतीओ विमिहताओ मुयंति कुसुमवरिसं सुरहिपंचवण्णाणि गंधचुण्णाणि य . . दडुव्वलोभेण य अंतेउ-रजणेण वायायण-गवक्ख-वितट्ठियजालंतराणि पूरियाणि" (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २८१)।

इस प्रकार, संघदासगणी ने आस्थानमण्डप, अभ्यन्तरोपस्थान, शयनगृह आदि राजप्रासाद के वास्तुविषयक विभिन्न अंगों और उपांगों का उल्लेख किया है। मनुष्यों के वासगृह को भवन और देवों के वासगृह को विमान कहा जाता था। 'स्थानांग' (६.१०७) के अनुसार, विमान की ऊँचाई छह सौ योजन होती थी। संघदासगणी ने यथाप्रसंग भवन और विमान, दोनों ही वास्तुओं का अंकन किया है। प्राचीन वास्तुकारों (वर्द्धकिरल) में वास्तुनिर्माण के प्रति सहज आदर रहता था और वे दैवी शक्ति से सम्पन्न होते थे तथा अपनी वास्तुरचना में सहज सुख का अनुभव करते थे। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' (सोमश्रीलम्भ : पृ. ३०९) में लिखा है कि परमगुरु तीर्थंकर ऋषभस्वामी की परिनिर्वाण-भूमि में, प्रथम चक्रवर्ती राजा भरत के आदेश से, दैवी शक्ति से सम्पन्न श्रेष्ठ वास्तुकारों ने सम्पूर्ण आदर के साथ सुखपूर्वक अनेक स्तूपों और जिनायतनों का निर्माण किया था। वह जिनायतन सभी प्रकार के रत्नों से जटित था और वहाँ देव, दानव और विद्याधर आग्रहपूर्वक अर्चना-वन्दना के लिए आते थे। संघदासगणी के अनुसार, प्रासाद के साथ अतिशय दुर्लभ रूप (सुन्दरियाँ) और विषयसुख का नित्यसम्बन्ध है ('दुल्लहत्ते व्व रूय-पासाय-विसयसुहसंपगाढे', केतुमतीलम्भ : पृ. ३४०)।

संघदासगणी के अनुसार, प्राचीन वास्तुशिल्पी सुरंग खोदने या तलघर बनाने में भी कुशल थे। राजगृह की सप्तपर्णी गुफा की सुरंग भी प्राचीन इतिहास का एक अद्भुत स्थापत्य है। लाक्षागृह से सुरंग खोदकर पाण्डवों के निकल भागने की कथा महाभारत में प्रसिद्ध है। 'वसुदेवहिण्डी' के एक कथा-प्रसंग में उल्लेख है कि दुश्चरित्र पुरोहित को बाँध रखने के लिए पुष्यदेव ने अपने घर में सुरंग (भूमिघर) खुदवाई थी (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९६)। लोहे को सोना बनाने के रस की प्राप्ति के लोभ में कुएँ (वज्रकुण्ड) में प्रविष्ट चारुदत्त को छोड़ त्रिदण्डी जब भाग गया था, तब वह (चारुदत्त) उस कुएँ से सम्बद्ध सुरंग के रास्ते, कुएँ में पानी पीने के लिए आनेवाली गोह की पूँछ पकड़कर बाहर निकला था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४७)।

अगडदत्त मुनि की आत्मकथा में भी चर्चा आई है कि प्रच्छन्नचौर त्रिदण्डी के शान्तिगृह के भीतर बने भूमिघर में उसकी बहन रहती थी (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४१)। धार्मिक स्थलों, विशेषकर महत्तों और पण्डों के तथाकथित पूजागृहों में सुरंग या भूमिगृह होने की बात आज भी सत्य है। ये भूमिगृह, खास तौर से छिपकर किये जानेवाले जघन्य अनाचारों के अड्डे (केन्द्र) हुआ करते हैं। आधुनिक काल में भी, भागलपुर (प्राचीन अंग) जिले के काँवरिया बाबा की प्रसिद्ध धर्मशाला के

अन्तर्भाग में स्थित भूमिगृह के, दुराचार और व्यभिचार का केन्द्र होने की बात प्रकाश में आई है। साथ ही, 'वसुदेवहिण्डी' के कपट-त्रिदण्डी की अगडदत्त द्वारा की गई हत्या की तुलना उक्त काँवरिया बाबा की हत्या से सहज ही की जा सकती है। कालभेद और देशभेद के बावजूद वातावरण, पात्र और घटना की दृष्टि से दोनों वृत्तान्तों में सघन साम्य है। इस प्रकार, संघदासगणी की वास्तु-परिकल्पना में लोकजीवन के शाश्वत पक्षों का सहज समावेश भी बड़ी समीचीनता के साथ हुआ है और इसकी प्रासंगिकता आज भी सुरक्षित है।

निष्कर्ष :

'वसुदेवहिण्डी' के वास्तुविषयक उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि संघदासगणी विविध इमारतों की व्यापक संकल्पना और दूरगामी वास्तु-कल्पना के अभिकल्पन से सम्बद्ध कलाओं और विद्याओं में प्रारंगत थे। नक्शे और पैमाने द्वारा प्रतिरूप बनाये बिना उन्होंने अपनी वैचारिक शक्ति से उत्कृष्ट क्लोटि के भवन और उनके पर्यावरण तैयार करने में जिस कलारुचि आस्था का परिचय दिया है, उससे यह सहजगम्य है कि वह वास्तुकला को यथोचित रूप में समझते थे और भवनों या विभिन्न वास्तुओं के अभिकल्पन तथा उनकी रचना के निर्देशन की अपूर्व क्षमता उनमें आत्मस्थ थी। वह सच्चे अर्थ में वास्तुक (आर्चिटेक्ट) थे।

संघदासगणी की वास्तु-कल्पना में कालबोध तथा स्थान-ज्ञान के साथ ही युगीन प्रवृत्ति भी प्रतिबिम्बित है। अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा के बल पर कथाकार ने जो वास्तुसृष्टि की है, वह नवीन और असाधारण होने के साथ ही भावनापूर्ण और उपयुक्त है। कथाकार का वास्तुविषयक अनुमान बिल्कुल स्पष्ट है, जिसे उन्होंने प्रत्युत्पन्न कल्पना-चातुर्य तथा विपुल वर्णनप्रौढि से मूर्त एवं प्रत्यक्ष कर दिया है। कथाकार द्वारा सृष्ट वास्तु से वास्तुकार के उद्यम, उत्साह, संरचनात्मक समृद्धि, रचना-पद्धति की अनेकतानता, सातिशय सौन्दर्य और वास्तविक उपयोगिता के साथ ही उसके सांस्कृतिक स्वरूप की पवित्रता प्रकट होती है। इसी नेतृत्वपूर्ण नैष्ठिक सर्जनात्मकता के कारण ही वास्तुकार को मूर्तिमान् स्रष्टा कहा गया है और वास्तुकला को सभी कलाओं की जननी माना गया है।

कहना न होगा कि आचार्य संघदासगणी कुशल वास्तुकों के अनिवार्य गुणों और विशेषताओं से परिचित थे। वास्तुकला में ललितकला के संस्कार की प्रतिष्ठा के निमित्त उर्वर और उदार विवेक द्वारा नियन्त्रित कल्पनाशक्ति का प्रयोग अपेक्षित है। वास्तुक का यह विवेक सामान्य सौन्दर्यशास्त्र (ललितकला) और दार्शनिक पक्ष के ज्ञान पर आधृत होता है। इसके लिए उसे बहुश्रुत और बहुपठित, अतएव बहुभाषाभिज्ञ होना आवश्यक है। ब्राह्मण-परम्परा के प्रसिद्ध वास्तुकार विश्वकर्मा और मयदानव महान् शास्त्रज्ञ थे। उनकी चकित-विस्मित करनेवाली वास्तु-रचना की चर्चा और अर्चा में 'रामायण', 'महाभारत' और पुराणों की अनेक मूल्यवान् पंक्तियाँ मुखर हैं।

मन्दिर या भवन की वास्तुरचना पुरुषाकृति या परमपुरुषाकार की रचना का अनुकल्प होती है। फलतः, वास्तुकार मानव के पर्यावरण का आकल्पी होता है। अतएव, प्राशुप्रज्ञ कथाकार संघदासगणी ने मानवीय भावों के मूल्यांकन के लिए अपनी वास्तु-परिकल्पना को भूगोल,

समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, वनस्पति-जीवन का ज्ञान तथा पुर-निवेश एवं नागरिक आकल्पन से सम्बद्ध करने की महती प्रज्ञा का प्रौढतम परिचय उपन्यस्त किया है। कथाकार की यथावर्णित वास्तुविधि से यह स्पष्ट संकेतित है कि उसने परम्परा-प्रथित वास्तुकला को ललितकला की शाखा के रूप में स्वीकारा है, इसलिए उसने उत्तम भवन-निर्माण का जो पर्यावरण प्रस्तुत किया है, वह कलात्मक रुचि के लिए अत्यन्त प्रिय, सौन्दर्य-भावना का परिपोषक और सातिशय आनन्दवर्द्धक हो गया है।

(ड) ललित कलाएँ

भारतीय चिन्तकों ने जीवन और कला में अविच्छिन्न सम्बन्ध स्वीकार किया है। उपयोग, अर्थात् बोध या चेतना ही जीव का लक्षण है।^१ जीव आत्मा का ही पर्यायवाची शब्द है। चेतनाशक्ति-सम्पन्नता या चेतना ही आत्मा का गुण है। बोध, चेतना और ज्ञान, सभी समानार्थी हैं। जीव ही जीवन का सृष्टिबीज है। जीव का उपयोग या ज्ञान स्व-पर-प्रकाशरूप है, इसलिए उसे अपनी सत्ता का अवबोध होता है कि 'मैं हूँ'। दूसरे, उसे इस बात की भी प्रतीति होती है कि मेरे पास अन्य पदार्थ भी हैं। प्रकृति से प्राप्त ये अन्य पदार्थ उस जीव या आत्मा के लिए अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध होते हैं। कुछ पदार्थ तो भोज्य-सामग्री बनकर जीव के शरीर का पोषण करते हैं और कुछ पदार्थ जैसे वृक्ष, गुफा, पर्वत आदि प्रकृति की प्रतिकूल स्थितियों—वर्षा, ताप, शीत आदि से उसकी रक्षा करते हैं और उसे आश्रय भी देते हैं।

मनुष्येतर प्राणी या जीव, जैसे पशु-पक्षी आदि प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग केवल सामान्य जीवन-यापन के लिए करते हैं। किन्तु, मनुष्य अपनी ज्ञानशक्ति की विशिष्टता के कारण उनका उपयोग विशेष ढंग से करता है। मनुष्य स्वभावतः या प्रकृत्या जिज्ञासु होता है। वह प्रकृति को विशेष रूप से, गवेषणात्मक दृष्टि से समझना चाहता है। इसी बोधविशिष्टता या ज्ञानगुण के कारण उसने प्रकृति पर विशेषाधिकार स्थापित किया है और विज्ञान तथा दर्शनशास्त्रों का विकास इसी क्रम में हुआ है।

सदसद्विवेक की क्षमता मनुष्य के ज्ञानगुण का दूसरा उल्लेखनीय पक्ष है। इसी गुण की प्रेरणा से उसने धार्मिक और नैतिक आदर्श स्थापित किये हैं और तदनुसार ही अपने जीवन को परिमार्जित, संस्कृत और कलावरेण्य बनाने का प्रयत्न किया है। मानव-समाज की उत्तरोत्तर सभ्यता के विकास तथा संसार में अनेकविध मानव-संस्कृतियों के आविष्कार का यही कारण है।

सौन्दर्य की उपासना मनुष्य का तीसरा विशिष्ट गुण है। वह अपने पोषण और रक्षण के निमित्त जिन पदार्थों का माध्यम ग्रहण करता है, उन्हें उत्तरोत्तर सुन्दर और रमणीय बनाने का प्रयास करता है। स्वादु और रुचिकर भोज्य पदार्थों की सृष्टि अथवा सुन्दर वेश-भूषा का निर्माण उसकी सौन्दर्योपासक प्रवृत्ति का ही परिचायक है। किन्तु, मानव की सौन्दर्योपासना या मानवीय सभ्यता के चरम विकास में उसकी कला-साधना ही विशेष सहायक हुई है। यह कला मुख्यतः पाँच रूपों में विभक्त है : गृहनिर्माण (वास्तु या गृहनिर्माण-कला), मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला। इन पाँचों कलाओं का प्रारम्भ मानव-जीवन के लिए उपयोग की दृष्टि से ही हुआ।

डॉ. हीरालाल जैन^१ ने इन पाँचों कलाओं की मानवीय उपयोगिता का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि मनुष्य ने प्राकृतिक गुफाओं आदि में रहते-रहते क्रमशः अपने आश्रय के लिए लकड़ी, मिट्टी और पत्थर के घर बनाये; अपने पूर्वजों की स्मृतिरक्षा के लिए प्रारम्भ में निराकार और फिर साकार पाषाण-स्तम्भों आदि की स्थापना की; अपने अनुभवों की स्मृति को रूपायित करने के लिए रेखाचित्र खींचे और अपने बच्चों को सुलाने और रिझाने या मनोविनोद के लिए गीत गाये और किस्से-कहानी सुनाये। किन्तु उसने अपनी इन कला-प्रवृत्तियों में उत्तरोत्तर ऐसा परिष्कार किया कि कालान्तर में उनके भौतिक उपयोग की अपेक्षा उनका सौन्दर्य-पक्ष अधिक प्रबल हो गया और इस प्रकार इन उपयोगी कलाओं ने ललितकलाओं का रूप धारण कर लिया। कहना न होगा कि आज ललितकलाएँ ही किसी भी देश या समाज की सभ्यता और संस्कृति के अनिवार्य प्रतीक मानी जाती हैं।

ऊपर यथाव्याकृत सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि कला की मौलिक प्रेरणा मनुष्य की जिज्ञासा और उसकी सौन्दर्याभिव्यक्ति की सहज इच्छा या स्वाभाविक वृत्ति से उपलब्ध होती है। इसलिए, कला का उद्देश्य कला होते हुए भी, प्राकृतिक सौन्दर्यवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए स्वीकृत आलम्बनों की दृष्टि से (उसका उद्देश्य) जीवन का उत्कर्ष भी है। ऐसी स्थिति में, डॉ. कुमार विमल के विचारानुसार, कला में, मनुष्य को उसके वास्तविक परिवेश में, चतुर्दिक् फैले हुए यथार्थ के वृत्त में, देखने और अंकित करने की चेष्टा^२ सहज ही प्रतिष्ठित हो जाती है, फिर भी कला पूर्णतः लौकिक या व्यावहारिक न रहकर न्यूनाधिक रूप में लोकोत्तर या व्यवहार-जगत् से किंचित् भिन्न अवश्य ही बनी रहती है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में कला के प्रति आध्यात्मिक या धार्मिक दृष्टिकोण को विशेष मूल्य दिया गया है। यह बात सामान्यतः भारतीय और विशेषतः जैन कलाकृतियों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। ब्राह्मण-परम्परा में कला-दर्शन के तीन मुख्य निकाय थे : रसब्रह्मवाद, नादब्रह्मवाद तथा वस्तुब्रह्मवाद। भारतीय दर्शन की 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की मान्यता के आधार पर ही कला के तीनों निकायों (रस, नाद और वस्तु) को ब्रह्ममय देखा गया है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी 'कला' शब्द का अर्थ आध्यात्मिक भावना से जुड़ा हुआ है। 'कला' शब्द की सिद्धि 'कल्' धातु के साथ 'कच्' प्रत्यय और स्त्रीवाची 'टाप्' (आ) प्रत्यय के योग से हुई है। कल् धातु को पाणिनि प्रभृति प्राचीन वैयाकरणों ने गत्यर्थक और संख्यानार्थक माना है। 'संख्यान' शब्द की सिद्धि 'ख्या' धातु से न होकर (जिसका अर्थ कथन, उद्घोषण या संवादन होता है) 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि', अर्थात् व्यक्त वागर्थक (स्पष्ट वाणी में प्रकटन के अर्थ का वाचक) 'चक्षिङ्' (चक्ष) धातु से हुई है। 'चक्षिङ्' के स्थान पर 'ख्या' आदेश हो जाता है, जिसका अर्थ अवधानपूर्वक देखना भी है ('अयं दर्शनेऽपि'—सिद्धान्तकौमुदी, ३७४)। 'संख्यान' शब्द का अर्थ गणना करना या संकलन होता है। इसी आधार पर वह मनन, चिन्तन और ध्यान से भी जुड़ जाता है। 'कुमारसम्भव' में महाकवि कालिदास ने ध्यान के अर्थ में ही 'प्रसंख्यान' का प्रयोग किया है। ('श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।"—कु. सं., ३.४०) अर्थात् "उस समय केवल शिव ही

१. 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' (जैनकला) : व्याख्यान ४, पृ. २८२

२. 'कला-विवेचन', प्राक्कथन, पृ. ८

दिव्य अप्सराओं के गीतों को सुनकर भी आत्मध्यान में संलीन रह गये।" इस प्रकार, 'कला' शब्द का अर्थ वह मानवीय क्रिया है, जिसका विशेष लक्षण 'ध्यान-दृष्टि से देखना', 'गणना या संकलन करना', 'मनन और चिन्तन करना' एवं 'स्पष्ट रूप से प्रकट करना' है।^१

वात्स्यायन के पूर्ववर्ती बभ्रुपुत्र पांचाल ने कलाओं को मूल और आन्तर—इन दो भेदों में विभक्त किया था। पांचाल के मत से मूल कलाएँ चौंसठ हैं और आन्तर कलाएँ पाँच सौ अट्ठारह। इस प्रकार, भारतीय साहित्य में कुल पाँच सौ बेरासी कलाओं का उल्लेख मिलता है। सम्प्रदायानुसार, विभिन्न आचार्यों ने कलाओं की विभिन्न सूचियाँ प्रस्तुत की हैं, किन्तु चौंसठ मूल कलाएँ ही बहुचर्चित और लोकादृत हैं। बौद्ध आम्नाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में छियासी से अधिक कलाओं की सूची दी गई है, तो जैन आम्नाय के प्रसिद्ध सूत्र 'समवायांग' तथा राजशेखरसूरि के 'प्रबन्धकोश' में छियासी कलाओं की सूची उपलब्ध होती है। 'समवायांग' तथा 'प्रबन्धकोश' की कलासूचियों में भृगुशः पार्थक्य है। 'समवायांग' ने 'लेख' से 'शकुनरुत' तक बहत्तर कलाएँ मानी हैं, तो 'प्रबन्धकोश' ने 'लिखित' से 'केवली-विधि' तक बहत्तर कलाओं की गणना की है। किन्तु शैवतन्त्र और वात्स्यायन के 'कामशास्त्र' तथा 'शुक्रनीतिसार' में भी केवल चौंसठ कलाओं की ही सूची प्राप्त होती है। कलाओं की चौंसठ संख्या के औचित्य के सम्बन्ध में अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, जिनका निष्कर्ष यह है कि चौंसठ की संख्या धार्मिक रूप से पवित्र है, इसलिए कलाएँ चौंसठ ही मानी गई।^२ 'भागवतपुराण' की टीकाओं में भी चौंसठ कलाओं की ही गणना की गई है। यद्यपि, बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में अड़तालीस कलाएँ परिगणित हैं। 'कामसूत्र' के टीकाकार यशोधर ने अपनी एक स्वतन्त्र सूची दी है और उन्हें शास्त्रान्तरों से प्राप्त चौंसठ मूलकलाएँ कहा है और यह बताया है कि इन्हीं चौंसठ मूल कलाओं के भेदोपभेद पाँच सौ अट्ठारह होते हैं।^३

प्राचीन कलाशास्त्रियों के अनुसार, श्रेष्ठ कला वह है, जो आत्मा को परमानन्द में लीनकर देती है। सम्भोगोत्तर विश्रान्ति देनेवाली कला सच्ची कला नहीं है।

विश्रान्तिर्यस्याः सम्भोगे सा कला न कला मता ।

लीयते परमानन्दे यथात्मा सा परा कला ॥

बाह्यव्य पांचाल के पश्चात् भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में कलाओं को 'मुख्य' और 'गौण'— इन दो रूपों में स्वीकार किया। अन्ततोगत्वा, भारतीय ब्रह्मविदों ने कलाओं का विभाजन 'स्वतन्त्र' और 'आश्रित' इन दो रूपों में किया। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने उक्त दोनों कलाओं के लक्षण निर्धारित करते हुए कहा है कि स्वतन्त्र कलाएँ वे हैं, जो परब्रह्म या परतत्त्व को इन्द्रियग्राह्य रूप में अनुभवकर्ता के सामने उपस्थित करती हैं, जिससे सहृदय व्यक्ति को परब्रह्म के सत्य स्वरूप का अनुभव प्राप्त हो जाता है ('लीयते परमानन्दे'); किन्तु आश्रित या उपयोगिनी कलाएँ वे हैं, जो मानव-जाति के उपयोग में आनेवाली विभिन्न वस्तुओं को उत्पन्न कर उसकी सुखवृद्धि में सहायक होती हैं। पाश्चात्य कलाशास्त्री हीगेल द्वारा स्वीकृत पाँच प्रकार की ललितकलाओं को

१. विशेष द्रष्टव्य : स्वतन्त्रकलाशास्त्र (पूर्ववत्), पृ. ४।

२. उपरिक्त, पृ. २५

३. विशेष द्र. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, (पूर्ववत्), पृ. २९१

प्राचीन । भारतीय कलाचार्यों ने तीन प्रकार की स्वतन्त्र कलाओं—काव्य (नाट्य), संगीत और वास्तु (गृह, मूर्ति और चित्रशिल्प) में ही अन्तर्भुक्त माना है । निश्चय ही, ललितकलाओं की उक्त पंचविधता उनके परवर्ती भेदमूलक विकास को द्योतित करती है ।

प्राचीन भारतीय साहित्य में कला को 'महामाया का चिन्मय विलास' कहा गया है । प्राचीनों के कलागत दृष्टिकोण में तीन बातों की प्रमुखता प्राप्त होती है : (क) कला के आवरण में तत्त्ववाद, (ख) कला में कल्पना का तत्त्व और (ग) कला की ऐतिह्य परम्परा । प्राचीन कलामर्मज्ञों ने कला को महाशिव की आदि सिसृक्षा-शक्ति से सम्बद्ध माना है । 'ललितास्तवराज' से ज्ञात होता है कि शिव को जब लीला के प्रयोजन की अनुभूति होती है, तब महाशक्तिरूपा महामाया जगत् की सृष्टि करती है । अतः, शिव की लीलासखी होने के कारण महामाया को 'ललिता' कहा गया है और यह माना गया है कि इन्हीं 'ललिता' के लालित्य से ललितकलाओं (फाइन आर्ट्स) की सृष्टि हुई है ।^१ परवर्ती काल में सौन्दर्यशास्त्र के चिन्तक जब शिल्प और उसके दर्शन पर सूक्ष्म विचार करने लगे, तब कला का विभाजन या वर्गीकरण उपयोगी और ललितकला के रूप में हुआ । अर्वाचीन युग में 'कला' शब्द में निहित सौन्दर्य-चेतना इतनी अभिव्यंजक हो उठी कि 'ललित' विशेषण के बिना ही वह अभीष्ट अर्थ को द्योतित करने लगी । और इस प्रकार, सामान्य व्यवहार में 'ललितकला' के लिए 'कला' का ही व्यवहार होने लगा ।

कालक्रम से कला की सर्जना और भावना में आध्यात्मिक चेतना का हास होता चला गया और वह 'सुरति'-साधना के उच्च स्तर से रतिक्रीड़ा के शयनागार में उतर आई । इस प्रकार, ललितकला 'लोलिका कला' के रूप में परिणत हो गई । शैवदर्शन में भोगलालसा से लिप्त कलासृष्टि को 'लोलिका' कहा गया है । इस विनाशकारिणी कला के दोष से बचने के लिए शैवदर्शन ने कला-सर्जना में 'ज्ञान' (प्रत्यभिज्ञा) की आवश्यकता का निर्देश किया है । ज्ञानहीन कला 'दोषालया' और ज्ञानसम्पन्न कला 'शुभा' होती है । किन्तु, कला में कामभावना या रत्यात्मकता का विकास आदिकालीन है ।

प्राच्यविद्या में प्रतिपादित शैवशाक्तागम-सम्मत कामकला की आध्यात्मिकता या उसकी ब्रह्मस्वरूपता का आकलन करते हुए महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि 'अ' कार-रूप प्रकाश के साथ 'ह'कार-रूप विमर्श का, अर्थात् अग्नि के साथ सोम का साम्यभाव ही 'काम' या 'रवि' के नाम से प्रसिद्ध है । शास्त्र में जिस अग्नीषोमात्मक बिन्दु का उल्लेख पाया जाता है, वह भी यही है । शिव ही 'अ' और शक्ति ही 'ह' है—बिन्दुरूप में यही 'अहं' अथवा पूर्णाहन्ता है । साम्यभंग होने पर यह बिन्दु प्रस्पन्दित होकर शुक्ल और रक्त बिन्दु के रूप में आविर्भूत होता है । इस प्रस्पन्दन-कार्य से जो अभिव्यक्त होता है, उसे ही शास्त्र में संवित् अथवा चैतन्य के नाम से वर्णित किया जाता है । इसी का दूसरा नाम चित्कला है । प्रकाश शुक्लबिन्दु है और विमर्श रक्तबिन्दु तथा दोनों का पारस्परिक अनुप्रवेशात्मक साम्य मिश्रबिन्दु है । इसी साम्य का दूसरा नाम परमात्मा है । जैसा पहले कहा गया, इसी को 'रवि' या 'काम' के नाम से पुकारते हैं । अग्नि और सोम इसी काम के कलाविशेष हैं । अतएव, कामकला कहने से तीनों बिन्दुओं का बोध होता है । इन तीन बिन्दुओं का समष्टिभूत महात्रिकोण ही दिव्याक्षरस्वरूपा

१. विशेष विवरण के लिए द्र. 'कला-विवेचन' (पूर्ववर्त), पृ. २६-२७

आद्याशक्ति का अपना रूप है। इसके मध्य में रवि-बिन्दु देवी के मुखरूप में, अग्नि और सोम-बिन्दु स्तनद्वय के रूप में तथा 'ह'कार की अर्द्धकला अथवा हार्द्धकला योनि-रूप में कल्पित होती है। यह हार्द्धकला अति रहस्यमय गुह्यतत्त्व है। परम सत्ता की यामल अवस्था में एक चित् तथा दूसरी आनन्द के रूप में आविर्भूत होती है, किन्तु दोनों ही कला हैं— चित्कला और आनन्दकला। ये दोनों ही निष्कल परमसत्ता को पृष्ठभूमि में रखकर उदित होती हैं। यह निष्कल परमसत्ता यदि सत् है, तो ये दोनों ही कलाएँ उसकी अन्तरंग कला चित् और आनन्द के रूप में गृहीत होने योग्य हैं। इन तीनों को मिलित रूप में सच्चिदानन्द ब्रह्म कहते हैं।^१

वात्स्यायन ने भी कला में कामकला की आनुषंगिकता को शिव और पार्वती के रतिविलास से अनुबद्ध किया है। ज्ञातव्य है कि भारतवर्ष में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं और समग्र मानव-जीवन इन्हीं पुरुषार्थों की सिद्धि का उपाय निरन्तर ढूँढ़ता रहता है। पुरुषार्थ की सिद्धि ही जीवन का चरम लक्ष्य है। उक्त पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए वेदानुवर्ती साहित्य को चार प्रशाखाओं में विभक्त किया गया—धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र और मोक्ष (दर्शन) शास्त्र। कामशास्त्र का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ वात्स्यायन-कृत कामसूत्र है।

वात्स्यायन ने कामकला को परम्परागत ज्ञानधारा के रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है कि देवाधिदेव महादेव के प्रतिष्ठित अनुचर नन्दी ने अपने स्वामी के गृहद्वार पर उस समय कामसूत्र को एक सहस्र अध्यायों में लिखा, जिस समय शिव और पार्वती रतिक्रीड़ा में निमग्न थे।^२ इस कृति को उद्दालकपुत्र श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। श्वेतकेतु की इस कृति को बभ्रुपुत्र पांचाल ने संक्षिप्त करते हुए एक सौ पचास अध्यायों में यथानिर्दिष्ट सात विषयों^३ का प्रतिपादन किया :

१. साधारणम् (सामान्य बातें)।
२. साम्प्रयोगिकम् (कामसिद्धि के उपाय एवं साधनों की प्राप्ति)।
३. कन्यासम्प्रयुक्तम् (विवाह की विधियाँ और उसके रूप)।
४. भार्याधिकारिकम् (पत्नी के धर्म और कर्तव्य)।
५. पारदारिकम् (दूसरे की पत्नी के प्रेम को पाने के उपाय तथा साधन)।
६. वैशिकम् (वेश्याओं से सम्बद्ध बातें)।
७. औपनिषदिकम् (रहस्यमय, अर्थात् गुप्त रोगों के उपचार-निर्देश)।

पाटलिपुत्र में निवास करनेवाली वेश्याओं के आग्रह पर दत्तक ने इस ग्रन्थ के वेश्यालयों से सम्बद्ध अंश का पृथक् रूप में प्रतिपादन किया और पांचाल-प्रणीत ग्रन्थ के अन्य विषयों का प्रतिपादन क्रमशः चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोमर्दीय, गोणिकापुत्र तथा कुचुमार ने किया था। वात्स्यायन ने स्वीकार किया है कि उनका कामशास्त्र पांचाल-रचित ग्रन्थ पर आधृत है।^४

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि (द्वि.सं.), पृ. ८९ और २६१

२. कामसूत्र, ४

३. तत्रैव, ५

४. तत्रैव, ३८१

इसलिए, उनका कामशास्त्र भी सात भागों में विभक्त है, जिनका उपविभाजन चौंसठ प्रकरणों में किया गया है। अतएव, इन्हीं प्रकरणों के अनुसार इसमें उन चौंसठ कलाओं का वर्णन है, जो मानव-जीवन के पुरुषार्थ 'काम' की सिद्धि में सहायक हैं।^१ ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त नन्दी-रचित सहस्राध्यायात्मक कामशास्त्र आज अप्राप्य है।

'ललितविस्तर' की छियासी कलाओं में परिगणित चौंसठ कामकलाओं ('चतुःषष्टि काम-कलितानि चानुभविया', २१.२१५) से यह स्पष्ट द्योतित होता है कि उस काल तक कलाओं का काम के साथ क्षेत्र-बीजसंयोग हो चुका था और वे उदात्त आध्यात्मिकता का प्रतिलोम बन चुकी थीं। कथापण्डित क्षेमेन्द्र के 'कलाविलास' की कलासूची से यह समर्थन मिलता है कि परम्परया वेश्याएँ भी कला की अधिष्ठात्री के रूप में स्वीकृत थीं।^२ किन्तु, यह ध्यातव्य है कि द्यूत, वेश्या, पान आदि कलाओं को उत्तरकला के रूप में स्वीकार किया गया है।

आधुनिक सौन्दर्यवादियों ने उपयोगिता और सौन्दर्य के आधार पर कला को उपयोगी कला और ललितकला— इन दो वर्गों में भले ही विभक्त कर दिया है, किन्तु पूर्वोक्त पाँच कलाओं की प्रत्येक विधा के लालित्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कला जब भी होगी, ललित ही होगी, चाहे वह उपयोगी कला ही क्यों न हो। यद्यपि, यह भी स्पष्ट है कि उपयोगी कला का सम्बन्ध हमारी भौतिक आवश्यकताओं की सम्पूर्ति तथा सभ्यता के क्रम-विकास से है, जबकि ललितकला हमारे सौन्दर्यबोध, सांस्कृतिक विकास और आध्यात्मिक चेतना से सम्बद्ध है। फिर भी, उपयोगिता और सौन्दर्य में किसी प्रकार का अन्तर्विरोध या पारस्परिक वैषम्य नहीं है। डॉ. कुमार विमल ने इस सन्दर्भ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उपयोगिता और सौन्दर्य में न तो पारस्परिक विरोध है और न इनकी युगपत् स्थिति में कर्कश रसबाध; प्रत्युत इनकी उभयनिष्ठता कान को कर्णफूल और कर्णफूल को कान प्रदान करती है।^३

कला का उपर्युक्त विभाजन वस्तुतः अरस्तू की देन है। अरस्तू के अनुसार उपयोगी कला ललितकला की भाँति प्रकृति का अनुसरण नहीं प्रस्तुत करती, अपितु उसके अभावों की पूर्ति करती है। तदनुसार, उपयोगी कला का मूल उद्देश्य मनुष्य की उन आवश्यकताओं की पूर्ति है, जिनके लिए प्रकृति ने कोई विकल्प नहीं प्रस्तुत किया है। और, उपयोगी कलाओं की यह पूर्ति-प्रक्रिया स्वतन्त्र न होकर प्रकृति के अनुकरण पर आश्रित है। इस प्रकार, कुल मिलाकर, अरस्तू का कला-सिद्धान्त अनुकरणवाद पर आधृत है। अरस्तू की यह स्थापना है कि अनुकरण कविता, संगीत और नृत्य में लय-ताल के आश्रय से सम्पन्न होता है। उक्त कलात्रयी में तालगति, भाषा और राग में से एक अथवा सबके योग से अनुकरण की सृष्टि की जाती है। कहना न होगा कि कलाओं का प्रकार-निर्धारण, विभाजन और वर्गीकरण की चर्चा पर्याप्त विवाद का विषय है तथा इसपर पाश्चात्य और पौरस्त्य कला-मनीषियों ने बहुविध विवेचन को विपुल विस्तार दिया है। स्वीकृत प्रसंग में इतना ज्ञातव्य है कि संघदासगणी जैसे प्राचीन आत्मनिष्ठ विचारक ने कलाओं

१. कामसूत्र, ४१

२. हारिण्यश्चतुलतरा बहुलतरङ्गाश्च निम्नगामिन्यः ।

नद्य इव जलदिमध्ये वेश्याहृदये कलाश्चतुः षष्टिः ॥ —कलाविलास, सर्ग ४, वेश्यावृत्त

३. कला-विवेचन (पूर्ववत्), प्र. सं., सन् १९६८ ई., पृ. ४५

के विभाजन और वर्गीकरण का कोई संकेत नहीं दिया है। उनकी दृष्टि में कलाएँ अपनी समग्रता और व्यापकता के सन्दर्भ में ही ग्राह्य हुई हैं।

आचार्य संघदासगणी द्वारा 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित कला-सन्दर्भ का मूलाधार 'समवायांग-सूत्र' या 'औपपातिक सूत्र' में परिगणित बहतर कलाओं को ही माना जा सकता है; क्योंकि उन्होंने अपनी कला-चर्चा में जगह-जगह बहतर कलाओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। जैसे : "देवलोगे य देवा देवीओ य सव्वे बाक्तरिकलापंडिया भवन्ति (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८८)।" (अर्थात्, देवलोक में देव और देवियाँ सभी बहतर कलाओं में पण्डित होते हैं)। "कालेण य लेहाइयासु गणियण्हाणासु सउणरुयफज्जवसाणासु बाक्तरिसु कलासु अभिगमो णेण कतो। (पृ. २७ : धम्मिल्लहिण्डी) " अर्थात्, धम्मिल्ल ने कालक्रम से, लेख आदि गणितप्रधान से शकुनरुत-पर्यन्त बहतर कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया।

'समवायांगसूत्र' के अनुसार, बहतर कलाएँ इस प्रकार हैं : १. लेख, २. गणित, ३. रूप, ४. नृत्य, ५. गीत, ६. वाद्य, ७. स्वरगत, ८. पुष्करगत, ९. समताल, १०. द्यूत, ११. जनवाद, १२. पोम्बुच्च (द्यूतक्रीड़ा का प्रकार), १३. अष्टापद, १४. उदकमृत्तिका, १५. अन्नविधि, १६. पानविधि, १७. वस्त्रविधि, १८. शयनविधि, १९. आर्या, २०. प्रहेलिका, २१. मागधिका, २२. गाथा, २३. श्लोक, २४. गन्धयुक्ति, २५. मधुसिक्थ, २६. आभरणविधि, २७. तरुणी प्रतिकर्म, २८. स्त्रीलक्षण, २९. पुरुषलक्षण, ३०. हयलक्षण, ३१. गजलक्षण, ३२. गोण (वृषभलक्षण), ३३. कुक्कुटलक्षण, ३४. मेण्डालक्षण, ३५. चक्रलक्षण, ३६. छत्रलक्षण ३७. दण्डलक्षण, ३८. असिलक्षण, ३९. मणिलक्षण, ४०. काकनिलक्षण, ४१. चर्मलक्षण, ४२. चन्द्रलक्षण, ४३. सूर्यचरित, ४४. राहुचरित, ४५. ग्रहचरित, ४६. सौभाग्यकर, ४७. दुर्भाग्यकर, ४८. विद्यागत, ४९. मन्त्रगत, ५०. रहस्यगत, ५१. सभास, ५२. चार, ५३. प्रतिचार, ५४. व्यूह, ५५. प्रतिव्यूह, ५६. स्कन्धावारमान, ५७. नगरमान, ५८. वास्तुमान, ५९. स्कन्धावारनिवेश, ६०. वास्तुनिवेश, ६१. नगरनिवेश, ६२. इष्वस्त्र, ६३. त्सरप्रवाद (छुरी, कटार, खड्ग आदि के चलाने की कला), ६४. अश्वशिक्षा, ६५. हस्तिशिक्षा, ६६. धनुर्वेद, ६७. हिरण्यपाक, सुवर्णपाक, मणिपाक, धातुपाक, ६८. बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध, युद्ध, निर्युद्ध, युद्धातियुद्ध, ६९. सूत्रक्रीड़ा, नालिकाक्रीड़ा, वृत्तक्रीड़ा, धर्मक्रीड़ा, चर्मक्रीड़ा, ७०. पत्रच्छेद्य, कटकच्छेद्य, ७१. सजीव-निर्जीव और ७२. शकुनरुत।

बहतर कलाओं की सूची 'औपपातिकसूत्र' (१०७) में भी उपलब्ध होती है। यह सूची कुछ नामों में हेर-फेर के साथ 'समवायांग' की कलासूची से मिलती-जुलती-सी है। 'समवायांग' की कलासूची में एक संख्या के भीतर (जैसे, संख्या ६७, ६८, ६९ और ७०) अनेक कलाओं के नाम उल्लिखित हैं। इनको यदि पृथक् रूप से गिना जाय, तो कलाओं की कुल संख्या उसी प्रकार ८६ हो जाती है, जिस प्रकार महायान बौद्ध परम्परा के 'ललितविस्तर' नामक ग्रन्थ में छियासी कलाओं की सूची प्राप्त होती है। 'प्रबन्धकोश' के अन्तर्गत 'बणभट्टसूरिप्रबन्ध' (पृ. २८) में जो बहतर कलाओं की सूची उपलब्ध होती है, वह 'समवायांगसूत्र' की सूची से बहुत भिन्न है। 'प्रबन्धकोश' की सूची में प्राच्यभाषावर्ग (संस्कृतम्, प्राकृतम्, पैशाचिकम्, अपभ्रंशम् और देशभाषा) को भी कला में परिगणित किया है, किन्तु 'समवायांग' की कलासूची में इसकी गणना नहीं की गई है। कहना न होगा ललितकला के वर्गीकरण की भाँति कलाओं की सूची में भी मतवैभिन्य पाया जाता है। इसलिए, कलाओं के यथोक्त प्रकार-निर्धारण में वैज्ञानिकता तथा नामभेदों में एकरूपता नहीं मिलती।

संघदासगणी निवृत्तिमार्गी जैनधर्म के आचार्य होने के साथ ही सच्चे कथाकार भी हैं। उनकी कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में उनके उक्त दोनों रूपों के दर्शन होते हैं। जैनधर्म-दर्शन की चर्चा करते समय वे एकदम निवृत्तिमार्गी जैनाचार्य की भूमिका का निर्वाह करते हैं, किन्तु कथा कहने के क्रम में उनके प्रवृत्तिमार्गी रसपेशल कथाकोविद का मनोहारी रूप उद्भाविता हो उठता है। उनका कथाकार किसी सम्प्रदाय के प्रति प्रतिबद्धता या पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं है, अपितु उसने निरन्तर निर्वैयक्तिक रहकर रसघनिष्ठ ताने-बाने से अपने कथापट को बुना है। और, यही कारण है कि कथाकार ने अपनी इस महत्कृति में कला-सन्दर्भों को उपस्थापित करने के क्रम में केवल जैनागमोक्त कलासूची का ही अनुसरण नहीं किया है, अपितु शैवागम और वात्स्यायन-सम्मत कलासूची के अनुसार भी अनेक कलाप्रसंगों की अवतरणा की है। विशेषतया, गणिका-प्रसंग की उद्भावना में तो कथाकार ने **बभ्रुपुत्र पांचालसम्मत 'वैशिक'** कला का विशिष्ट वर्णन बड़ी रोचकता और रहस्य-रोमांचकता के साथ उपस्थित किया है। कहना न होगा कि कथा के आचार्य संघदासगणी ने आनन्दोपलब्धि को ही भारतीय कला की सर्वोत्कृष्ट विशेषता के रूप में स्वीकार किया है। इसलिए, उनके द्वारा संकेतित बहतर कलाओं की सूची आगमानुसारी होते हुए भी कथाविनियोग के क्रम में किसी लक्षमणरेखा में आबद्ध नहीं है, अपितु वह 'सकलप्रयोजनमौलिभूत' है। संघदासगणी को हम, पण्डितराज जगन्नाथ के शब्दों में, सौन्दर्यवादी कह सकते हैं; क्योंकि वे निवृत्तिमार्ग के संकीर्ण आग्रह में न पड़कर विशुद्ध अलौकिक आनन्द की ज्ञानगोचरता के पक्षपाती रहे हैं। पण्डितराज ने रमणीयता की परिभाषा में कहा भी है : "रमणीयता लोकोत्तराद्वादात् ज्ञानगोचरता (रसगंगाधर)।" निस्सन्देह, उप-निषद्-काल से ही प्रवाहित होती चली आ रही भारतीय आनन्दवाद की अजस्र रसधारा 'वसुदेवहिण्डी' में भी आपातरमणीय होकर उच्छलित हुई है। कला में आनन्दवादी दृष्टि की प्रधानता का कारण भारतीय जीवन-दर्शन का प्रभाव है। भारतीय चिन्तन में आनन्द-तत्त्व का सातिशय मूल्य-महत्त्व है। 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के षष्ठ अनुवाक में लिखा है: "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।" अर्थात्, आनन्द से ही यह जगत् निर्मित है, आनन्द ही इसका जीवनदाता है, आनन्द की ओर ही इसकी गति उन्मुख है तथा आनन्द में ही इसका अन्तिम विलय है। संघदासगणी का कलात्मक आनन्द न केवल लौकिक है और न अलौकिक ! उन्होंने तो इसे लोकालोक में एकरस अनुस्यूत लक्ष्य किया है और तभी तो लिखा है कि मनुष्य और विद्याधरों के अतिरिक्त देव और देवियाँ भी बहतर कलाओं में पण्डित होती हैं (प्रियंगुसुन्दरीलम्प : पृ. २८८)।

भारतीय कलादृष्टि की एक सीमा यह भी है कि यह प्रत्येक कलावस्तु को विशुद्ध सौन्दर्य के रूप में ग्रहण न कर उसमें धार्मिकता का तुलसीदल डाल देती है। धार्मिकता के कठिन निगडन ने भारतीय कलाकारों के चेतन, अवचेतन या प्राक्चेतन में सर्वदा वर्जना का तर्जनी-संकेत किया है। डॉ. कुमार विमल ने भारतीय कलाकारों की उक्त द्विविधा-भावना की आलोचना करते हुए सूक्त्यात्मक शैली में बहुत ही उचित कहा है : "दो नाव पर पाँव रखने के कारण भारतीय कलाकार की स्थिति कुछ बेढब-सी रही है। शरद-पूनों की चाँदनी में सम्पन्न होनेवाली रासलीला के चित्रों में न मन्दिर के धूप-धूप्र की पावनता आ सकी है और न केलिगृह की निर्निमेष उन्मादकता।

धर्म और काम (शृंगार) के बीच त्रिशंकु की तरह टँगा हुआ भारतीय कलाकार सौन्दर्य को स्वयं एक व्यापक विभु मानकर समादृत नहीं कर सका है।”^१

किन्तु, संघदासगणी की ध्यातव्य विशेषता यह है कि उन्होंने कलादृष्टि की इस सीमा को अपनी कथा के शिल्प की उद्भावन के क्रम में, तथाकथित रूप में संकीर्ण नहीं होने दिया है, न ही वह संस्कारगत द्विधा में पड़कर धर्मविरुद्ध काम और कामविरुद्ध धर्म में किसी एक को चुन सकने की असमर्थता से आक्रान्त हुए हैं। फलतः, उनके द्वारा चित्रित सौन्दर्य कला के फलक पर मिश्रित या कुण्ठित होने की अपेक्षा ततोऽधिक विशदता और उदात्तता के साथ रूपायित हुआ है। उन्होंने धर्म और काम के कलात्मक सौन्दर्य को सर्वथा स्वतन्त्र रूप में उपन्यस्त किया है। फलतः, उनकी कलादृष्टि या कलात्मक आदर्श, पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि के जीवनादर्श में गतार्थ होते हुए भी अपनी विशुद्धता का स्वतन्त्र अभिज्ञान उपस्थित करता है। फिर भी, कहीं-कहीं कला के माध्यम से आध्यात्मिक सन्देश की अभिव्यक्ति में उनका भारतीय संस्कार बलात् उभर आया है और उनकी यह भारतीय कला-धारणा प्रत्यक्ष हो उठी है कि आत्मा के आन्तरिक चेतन के स्पन्दन के बिना भौतिक कलासृष्टि पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकती। इस प्रकार, वह निस्सन्देह मुक्त कला-चेतना के रूढिप्रौढ कथाकार प्रमाणित होते हैं। इस सन्दर्भ में ‘वसुदेवहिण्डी’ में अंकित कतिपय कलात्मक आसंग द्रष्टव्य हैं।

संघदासगणी ने पत्रच्छेद्यकला (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ५८ और गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३४) का उल्लेख किया है, जो उपर्युक्त बहत्तर कलाओं में सत्तरवीं संख्या में परिगणित है। वस्तुतः, यह पत्तों और तृणों को अनेक प्रकार से काट-छाँटकर सुन्दर आकार की वस्तुएँ बनाने की कला है। इस कला की कथा का प्रसंग इस प्रकार है : चम्पानगरी के निकट चन्दा नाम की नदी बहती थी। धम्मिल्ल जल के निकट क्षणभर के लिए बैठा। वहाँ उसने कमल का पत्ता लेकर (नदी में कमल का होना भी कथारूढि ही है) उसका अनेक प्रकार का पत्रच्छेद्य बनाया, फिर उसे सूखे वल्कल की नाव पर रखकर नदी में छोड़ दिया, जो बहता हुआ गंगानदी में पहुँच गया। इस प्रकार, वह पत्रच्छेद्य बनाता और उसे नदी में छोड़ता रहा। तभी, उसने देखा कि नदीतट से दो आदमी जल्दी-जल्दी आ रहे हैं। वे दोनों उसके पास आये और उन्होंने पूछा : “किसने इस पत्रच्छेद्य की रचना की है ?” “मैंने”, धम्मिल्ल ने कहा। तब उन दोनों आदमियों ने कहा : “स्वामी ! इस नगरी में कपिल नाम के राजा हैं। उनके युवराज का नाम रविसेन है। वह गंगातट पर ललितगोष्ठी में खेल रहे थे कि उन्होंने पत्रच्छेद्य जल में बहते हुए देखा और हमें पता लगाने को भेजा कि यह पत्रच्छेद्य बड़ी निपुणता के साथ किसने बनाया है। उसी क्रम में आपके दर्शन हुए। कृपापूर्वक आप युवराज के पास चले।” धम्मिल्ल युवराज के समीप गया (पृ. ५८)।

इससे स्पष्ट है कि पत्रच्छेद्य-कला राजघरानों में पर्याप्त प्रिय थी और इस कला के विशेषज्ञों को राजा और युवराज की ओर से सातिशय सम्मान प्राप्त होता था। पत्रच्छेद्य, चित्रकला का ही विशिष्ट प्रकार है। यह कला ‘ललितविस्तर’ की कलासूची में भी परिगणित है, जिसकी तुलना वात्स्यायन के कामशास्त्र की ‘विशेषकच्छेद्य कला’ से की जा सकती है।

‘वसुदेवहिण्डी’ में प्राप्त उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि इस चित्रकला की रचना नदी-तट पर बैठकर कमल के पत्ते से ही की जाती थी। क्योंकि, तीसरे गन्धर्वदत्तालम्भ (पृ. १३४) में ठीक उपरिवत् प्रसंग उपलब्ध होता है : चारुदत्त और उसके साथियों ने नदी में उतरकर पैर धोये फिर, वे विभिन्न क्रीडाओं में रम गये। कमल के पत्तों को लेकर पत्रच्छेद्य बनाने लगे। इसके बाद वे सभी नदी के दूसरे स्रोत के निकट चले गये। वहाँ गोमुख ने कमल का पत्ता लिया और अंजलि के आकार का दोना बनाकर पानी के प्रवाह में छोड़ दिया।

संघदासगणी ने ताम्रपत्र, चीवर और परदे पर चित्रांकन का उल्लेख किया है। ताम्रपत्र और चीवर-चित्र की कथा पाँचवें सोमश्रीलम्भ (पृ. १८९) में बड़ी रोचकता के साथ वर्णित है। सुन्दरी सुलसा को प्राप्त करने के मार्ग में राजा सगर का एक प्रतिद्वन्द्वी था मधुपिंगल। उसे नीचा दिखाने के लिए राजा सगर के पुरोहित ने एक ताम्रपत्र पर राजा के शरीर की आकृति तथा उसके प्रशस्त लक्षण अंकित कराये और मधुपिंगल के लक्षणहीन होने की बात लिखवा दी। इसके बाद उस ताम्रपत्र को त्रिफला के रस में भिगोकर काला कर दिया, ताकि प्राचीन जान पड़े, फिर उसे ताम्रकलश में रखकर नगर के बाहर दूर्वामयी भूमि में गाड़ दिया। उसी भूमि पर पुष्करिणी बनाने की राजाज्ञा हुई और चक्रवर्ती राजा सगर के अधीनस्थ राजाओं ने जब भूमि की खुदाई की, तब वह ताम्रकलश निकला। उसमें किसी कंक ऋषि का हवाला देकर राजा सगर को सुलक्षण बताया गया था और मधुपिंगल को लक्षणहीन। इस बात की जानकारी जब उपस्थित राजाओं को हुई, तब सबने मिलकर सुलसा की स्वयंवर-सभा में मधुपिंगल की खूब भर्त्सना की; क्योंकि वह प्राचीन ऋषि द्वारा लक्षणहीन बताया गया था। मधुपिंगल लज्जित होकर स्वयंवर-सभा से बाहर चला गया और सुलसा ने राजा सगर का वरण कर लिया।

छब्बीसवें ललितश्रीलम्भ (पृ. ३६२) में स्वयं वसुदेव द्वारा चीवर पर चित्र अंकित करने की कथा आई है, जिसमें उन्होंने विवाह के पूर्व ललितश्री के पास मृगचरित के व्याज से विरहदग्ध आत्मचरित चित्रित करके भिजवाया है। कलाविदुषी गणिका ललितश्री के पास प्रेषित चीवर-चित्र में वसुदेव ने जो कलावस्तु अंकित की थी, वह इस प्रकार है : मृगयूथ से भ्रष्ट अकेला कनकपृष्ठ मृग चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ा रहा है और मृगी को न देखकर उदास भाव से रोते हुए उसने अपने को जंगली आग के बीच डाल दिया है। उस चित्र में वसुदेव ने अपने को वियोग-विनष्ट दर्शनीय (दयनीय) मृगचरित को देखता हुआ चित्रित किया। उक्त चित्र इतना मार्मिक और कलात्मक था कि ललितश्री ने उस चित्र को फैलाकर ध्याननिश्चल आँखों से देर तक देखा, आँसू से उसके गाल और पयोधर भीग गये।

कपड़े पर चित्र अंकित करने का एक और प्रसंग ‘वसुदेवहिण्डी’ में उपलब्ध होता है। चौथे नीलयशालम्भ (पृ. १७३) की कथा है कि निर्नामिका द्वारा उसके पूर्वभव की कथा सुनकर उसकी धाई ने उसके प्रियतम ललितांगदेव की खोज के लिए पूरे पूर्वभव-चरित को कपड़े पर चित्रित किया था। धाई और निर्नामिका ने मिलकर विभिन्न रंगों की पट्टियों से बड़ा पट (फलक) तैयार किया। पहले उसमें नन्दिग्राम का चित्र बनाया गया, फिर अम्बरतिलक पर्वत पर अशोक-वृक्ष के नीचे आसीन आचार्य युगन्धर को चित्रित किया गया और फिर उनकी वन्दना में आये देवमिथुन को दिखाया गया। ईशानकल्प में श्रीप्रथ विमान को देवमिथुन के साथ चित्रित किया गया। इसके

बाद बालसखा स्वयम्बुद्ध और मन्त्री सम्भिन्नशोक के साथ राजा महाबल का चित्र अंकित किया गया। तपस्या से सूखी हुई देहवाली निर्नामिका को भी चित्रित किया गया और फिर नाम-सहित ललितांग तथा स्वयम्भवा के चित्र बनाये गये।

धाई उस चित्रफलक को लेकर धातकीखण्डद्वीप चली गई। वहाँ उसे उसने राजमार्ग पर फैला दिया। उसे देखकर चित्रकलाकुशल लोग शास्त्रीय दृष्टि से प्रमाण मानते हुए उसकी प्रशंसा करते और जो चित्रकला के मर्मज्ञ नहीं थे, वे केवल वर्ण और रूप की श्लाघा करते। राजा दुर्मर्षण का पुत्र कुमार दुर्दान्त चित्रफलक को क्षणभर देखकर मूर्च्छित हो पड़ा, फिर क्षणभर में आश्वस्त हो उठा। लोगों ने उससे पूछा, तो उसने बताया कि चित्रफलक में अपने चरित को अंकित देखकर मुझे जातिस्मरण हो आया। मैं पूर्वभव में ललितांगदेव था और स्वयम्भवा (निर्नामिका) मेरी रानी थी।

इस प्रकार, संघदासगणी ने चित्र के माध्यम से नायक-नायिका के मिलन के बड़े मनोहारी प्रसंग उपन्यस्त किये हैं, साथ ही फलक पर विभिन्न रंगों की योजना के माध्यम से अभीप्सित कथा के पूरे परिवेश के भावपूर्ण शाब्दिक चित्रण करके उन्होंने नायक-नायिका की भावाकुल मनोदशा को व्यञ्जनागर्भ बनाकर उसे रस की सृष्टि करनेवाली मनोज्ञ कलात्मक पृष्ठभूमि प्रदान की है। कहना न होगा कि रसदृष्टि ही भारतीय कला की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है।

नृत्य, नाट्य और संगीत :

बहत्तर कलाओं में परिगणित काव्य, संगीत (वाद्य), नृत्य और नाट्य ललित कला के प्रमुख अंग हैं। कथाकार संघदासगणी ने काव्य का उत्कृष्टतम रूप नाटक माना है, इसलिए नाट्य को ही उन्होंने काव्यस्थानीय बनाया है। वे जब-जब ललितगोष्ठी या नृत्यगोष्ठी की चर्चा करते हैं, उसमें नाट्य के प्रसंग का उल्लेख अवश्य करते हैं। भारतीय धारणा के अनुसार, जिस प्रकार चित्रकला और मूर्तिकला स्थापत्य की अंगीभूत कलाएँ हैं, उसी प्रकार नृत्य और संगीत-कलाएँ नाट्यकला की सहयोगिनी हैं। विभिन्न कलाकृतियाँ जीवन के जिन विभिन्न स्थितियों और मूल्यों की अभिव्यञ्जना करती हैं, नाट्य में उनका प्रदर्शन ततोऽधिक सफलतापूर्वक होता है। क्योंकि, नाटक का आस्वाद नेत्रों और कानों द्वारा प्राप्त किया जाता है। इन्हीं दोनों ज्ञानेन्द्रियों के लिए ही नाटक अधिक रुचिकर होता है, क्योंकि रसानुभूति के लिए ये दोनों ज्ञानेन्द्रियाँ ही सर्वाधिक उपयुक्त हैं।

नृत्य की परम्परा ऋग्वेद-काल से ही प्रचलित है। ऋग्वेद के युग में स्त्री-पुरुष दोनों नृत्य करते थे। वंशायष्टि को ऊपर आकाश की ओर उठाकर नृत्य करते हुए स्त्री-पुरुषों का उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है।^१ नाचनेवाले पुरुषों को 'नृत' और नाचनेवाली स्त्रियों को 'नृतु' कहा जाता था। 'नृतु' शब्द कदाचित् उस नृत्यजीवी नारी के लिए प्रयुक्त होता था, जो नृत्य के समय कढ़े हुए वस्त्रों को धारण करती थी और लोगों को आकृष्ट करने के लिए अपने स्तनों को नग्न कर देती थी।^२ युद्ध के अवसर पर उत्तेजित होने की स्थिति में इन्द्र नृत्य करते थे। ऋग्वेद में एक

१. ऋग्वेद, १. १९. १

२. अधि पेशांसि वपते नृतरिवापोर्णुते वक्ष उक्षेव वर्जहम् ।

ज्योतिर्विश्वस्यै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युषा आवर्त्तमः ॥—ऋग्वेद, १. १२. ४

स्थल पर किसी अन्येष्टि क्रिया के अवसर पर नृत्य के साथ हास की भी चर्चा आई है।^१ 'अग्निपुराण' के 'नृत्यादावङ्गकर्मनिरूपणम्' नामक प्रकरण (श्लो. १-२१) में भी नृत्य की अनेकविध मुद्राओं के भेदोपभेदों का विवरण उल्लिखित है, जिसमें अंग-प्रत्यंग (सिर, हाथ, वक्षःस्थल, पार्श्वभाग, कमर, पैर, भौंह, नाक, होंठ, ग्रीवा) की चेष्टाओं (हाव-भाव) का वर्णन किया गया है। अग्निदेव के कथनानुसार, अंग-प्रत्यंग का चेष्टाविशेष और कर्म ही नृत्य है। यह अबलाश्रित शरीरारम्भ है (श्लो. १)।

नाट्य का भी आदिस्त्रोत वेद ही है। आचार्य भरत ने नाटक को पंचम वेद कहा है। उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में बताया है कि ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य (संवाद), सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रसतत्त्वों को आकलित कर नाट्यवेद का निर्माण किया।^२ ऋग्वेद में ऐसे सूक्त उपलब्ध हैं, जिनमें संवाद या कथोपकथन है। ये सूक्त सर्वाधिक प्राचीन रचना-प्रणाली के रूप में लिखे जाने के कारण परवर्ती नाट्यकृतियों की रचना का आधार बने हैं, ऐसी मान्यता बहुप्रचलित है। कथोपकथन-सूक्तों में सर्वाधिक प्रसिद्ध सूक्त पुरूरवा तथा उर्वशी का संवाद है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में इसी कथा का विकास पूर्ण नाटकीय रूप में दिखाई पड़ता है।

'अग्निपुराण' में भी, 'नाटक-निरूपणम्' प्रकरण में (श्लो. १-२७) नाटक के भेदोपभेदों का उल्लेख किया गया है। विश्वनाथ महापात्र के 'साहित्यदर्पण' के षष्ठ परिच्छेद में यथाप्रस्तुत नाटक-विषयक विवेचन बहुलांशतः 'अग्निपुराण' के इसी नाटकनिरूपण-प्रकरण पर आधृत है। अग्निदेव ने नाट्य को त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का साधन बताया है : 'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्'।

जैनों के द्वादशांगों में तृतीय 'ठाण' के चतुर्थ स्थान में भी नाट्य और अभिनय का उल्लेख हुआ है। उसमें नाट्य चार प्रकार के बताये गये हैं: अंचित, रिभित, आरभट और भसोल। अभिनय भी चार प्रकार के कहे गये हैं: दार्ष्टान्तिक, प्रातिश्रुत, सामान्यतोविनिपातिक और लोकमध्यावसित।

अंचित : नाट्यशास्त्र में १०८ करण माने जाते हैं। करण का अर्थ है— अंग तथा प्रत्यंग की क्रियाओं को एक साथ समंजसित करना। अंचित तेईसवां करण है। 'ठाण' (मुनि नद्यमल द्वारा सम्पादित तथा जैनविश्वभारती, लाडनूँ से प्रकाशित) की विवृति में बताया गया है कि इस नाट्याभिनय में पैरों को स्वस्तिक मुद्रा में रखा जाता है तथा दक्षिण हस्त को कटिहस्त (नृत्तहस्त) की मुद्रा में। वामहस्त को व्यावृत्त तथा परिवृत्त कर नासिका के पास अंचित करने से यह मुद्रा बनती है।^३ 'अंचित' सिर से सम्बद्ध तेरह अभिनयों में आठवाँ है। कोई चिन्तातुर मनुष्य हाथ पर ठोड़ी टिकाकर सिर को नीचा रखे, तो उस मुद्रा को 'अंचित' माना जाता है। 'राजप्रश्नीयसूत्र' में इसे २५वाँ नाट्यभेद माना गया है।

आरभट : माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति आदि चेष्टाओं से युक्त तथा वध, बन्धन आदि से उद्धत नाटक को आरभट या आरभटी कहा जाता था। विश्वनाथ महापात्र ने इसके चार

१. उपरिवत्, १०. १८. ३

२. ब्रह्मा पाठ्यमृगवेदात् सामभ्यो गीतमेव च।

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाधर्वणादपि ॥ (१।१७)

३. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : 'भारतीय संगीत का इतिहास' : श्रीउमेश जोशी, पृ. ४२५

भेद कहे हैं : वस्तुस्थापन, सम्फेट, संक्षिप्ति और अवपातन।^१ 'राजप्रश्नीयसूत्र' में आरभट को अट्टारहवाँ नाट्यभेद माना गया है।

'ठाण' में उल्लिखित 'रिभित' और 'भसोल' के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं है। 'राजप्रश्नीयसूत्र' में 'भसोल' को उनतीसवाँ नाट्यभेद कहा गया है। सम्भव है, 'रिभित' और 'भसोल' लोकनाट्य रहे होंगे, इसलिए शास्त्रीय ग्रन्थों में उनका विशेष विवरण नहीं आ सका। 'स्थानांगवृत्ति' के पत्र २ में स्पष्ट उल्लेख है कि "नाट्यगेयाभिनयसूत्राणि सम्प्रदायाभावात्त्र विवृतानि।" अर्थात्, परम्परागत जानकारी के अभाव में नाट्य, गेय और अभिनय-विषयक सूत्रों का विवरण नहीं दिया गया।

काव्य या नाट्य के साथ संगीत का रसघनिष्ठ सम्बन्ध है। संगीतकला ध्वनि अथवा स्वर का माध्यम रूप से उपयोग करती है। संगीत का आदिस्त्रोत छन्दोबद्ध वैदिक ऋचाओं को माना जाता है। यों, संगीत या गान्धर्व को सामवेद का उपवेद मानने की परम्परा प्रचलित भी है। वसुदेवहिण्डीकार **संघदासगणी** ने संगीत के अर्थ में अधिकांशतः 'गान्धर्व' शब्द का ही व्यवहार किया है। संगीत के प्रमुख प्राचीन उपकरण दुन्दुभि का उल्लेख वेदों में है। (ऋक्, ६.४७.२९—३१)। ऋग्वेद में तीन प्रकार के वाद्ययन्त्रों का वर्णन मिलता है : आघात से बजनेवाले, जैसे ढोल (दुन्दुभि) आदि, तार से बने हुए, जैसे वीणा आदि और वायु के संचार से बजनेवाले, जैसे बाँसुरी आदि। वैदिक मन्त्रों से यह सिद्ध है कि पुरायुग में संगीत को अत्यधिक आदरणीय स्थान प्राप्त था। वेद में वाद्य एवं गेय दोनों रूपों में संगीत का उल्लेख किया गया है। वैदिक काल में एक 'कर्करी' (कालान्तर में 'चर्चरी' के रूप में विकसित) नाम का वाद्य प्रचलित था, जो सम्भवतः वीणास्थानीय था (ऋक्, २.४३.३)। मरुतों के वाद्यों के नाम क्षोणी, वीणा और वाण थे (ऋक्, २.३४.१३)। वेद के कतिपय भाष्यकार 'वाण' का अर्थ बाँसुरी मानते हैं।

सामवेद गानप्रधान है। सामवेद के गानों के प्रकार को स्वरसंकेतों द्वारा प्रकट किया गया है। आर्चिक पाठ को गान के रूप में व्यवहृत करने के लिए उसमें आवश्यक परिवर्तन करने की परम्परा थी। उनमें सात स्वरों का संकेत एक से सात संख्याओं के माध्यम से किया गया है। अत्यन्त प्राचीन भारतीय संगीत का विशद वर्णन सामवेद के आर्षेय ब्राह्मण में प्राप्त होता है, जो आधुनिक काल तक भारतीय संगीत के लिए आधारदर्श बना हुआ है।

'ठाण' में भी संगीतविषयक वाद्य और गेय के प्रकारों का वर्णन मिलता है। उक्त आगम के चतुर्थ स्थान में वाद्य के चार प्रकारों का निर्देश किया गया है : तत (वीणा आदि), वितत (ढोल आदि), घन (कांस्यताल आदि) और शुषिर (बाँसुरी आदि)। गेय भी चार प्रकार के कहे गये हैं:

२. (क) मायेन्द्रजाल-सङ्ग्राम-क्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः।

संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता ॥

वस्तुस्थापनसम्फेटो संक्षिप्तिर वपातनम् ।

इति भेदास्तु चत्वार आरभटयाः प्रकीर्तिताः ॥

(ख) भट्टरुद्रने भी आरभटी वृत्ति के लक्षण का उल्लेख किया है, जो विश्वनाथ के लक्षण से साम्य रखता है:

या चित्रयुद्धप्रमशस्त्रपातमायेन्द्रजालस्तुतिलङ्घिताब्ध्या ।

ओजस्विगुर्वक्षरबन्धगाढा ज्ञेया बुधेः सारभटीति वृत्तिः ॥

—दुर्गाप्रसाद द्विवेद—कृत साहित्यदर्पण की 'छाया' नामक विवृति से उद्धृत

उत्क्षिप्तक, पत्रक, मन्त्रक और रोविन्दक। मुनि नद्यमल ने 'ठाण' के वाद्यविषयक सूत्र की विशद टिप्पणी प्रस्तुत की है। तदनुसार, 'तत' का अर्थ है— तन्त्रीयुक्त वाद्य। आचार्य भरत ने ततवाद्यों में विपंची एवं चित्रा को प्रमुख तथा कच्छपी एवं घोषा को उनका अंगभूत माना है।^१ चित्रा वीणा सात तन्त्रियों से निबद्ध होती थी और उन तन्त्रियों का वादन अंगुलियों से किया जाता था। विपंची में नौ तन्त्रियाँ होती थीं, जिनका वादन 'कोण' (वीणावादन का दण्ड) से किया जाता था।^२ भरत ने कच्छपी तथा घोषका या घोषा के स्वरूप के विषय में कुछ नहीं कहा है। 'संगीतरत्नाकर' (शांगदेव) के अनुसार, घोषा एकतन्त्री वीणा है।^३ आचारचूला^४ तथा निशीथ^५ में वीणा, विपंची, बद्धीसग, तुणय, पवण, तुंबवीणिया, ढंकुण और झोडय, ये वाद्य 'तत' के अन्तर्गत हैं।

'संगीतदामोदर' में तत वाद्य के २९ प्रकार गिनाये गये हैं : अलावणी, (आलापिनी), ब्रह्मवीणा, किन्नरी, लघुकिन्नरी, विपंची, वल्लकी, ज्येष्ठा, चित्रा, घोषवती, जया, हस्तिका, कुब्जिका, कूर्मी, सारंगी, परिवादिनी, त्रिशवी, शतचन्द्री, नकुलौष्ठी, ढंसवी, औदुम्बरी, पिनाकी, निःशंक, शुष्कल, गदावारण-हस्त, रुद्र, स्वरभणमल, कपिलास, मधुस्यन्दी और घोषा।^६

वितत : चर्म से आनद्ध वाद्यों को वितत कहा जाता है। गीत और वाद्य के साथ ताल एवं लय के प्रदर्शनार्थ चर्मावनद्ध वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। इनमें मृदंग, पणव (तन्त्रीयुक्त अवनद्ध वाद्य), दर्दुर (कलशाकार चर्म से आनद्ध वाद्य : दक्षिणभारतीय वाद्य 'घटम्'), भेरी, डिण्डिम, पटह आदि मुख्य हैं। ये वाद्य कोमल भावनाओं का उद्दीपन करने के साथ-साथ वीरोचित उत्साह बढ़ाने में भी कार्यकर होते हैं। अतः इनका उपयोग धार्मिक समारम्भों तथा युद्धों में भी होता रहा है। भरत के चर्मावनद्ध वाद्यों में मृदंग तथा दर्दुर प्रधान हैं तथा मल्लकी और पटह गौण। आचारचूला^७ में मृदंग, नन्दीमृदंग और झल्लरी को तथा 'निशीथ'^८ में मृदंग, नन्दी, झल्लरी, डमरुक, मडुय, सडुय, प्रदेश, गोलुकी आदि वाद्यों को वितत के अन्तर्गत कहा गया है। इनके अतिरिक्त भी मुरज, ढक्का, पणव, त्रिवली, हुडुक्का, झल्ली आदि अनेक वाद्य वितत में परिगणित हुए हैं।^९

घन : कांस्य आदि धातुओं से निर्मित वाद्य घन कहलाते हैं। कर्ताल, कांस्यवन, नयघटा, शुक्तिका, कण्ठिका, पटवाद्य, पट्टघोष, घर्घर, झंझताल, मंजीर, कर्तरी, उष्कूक आदि इसके कई प्रकार हैं। आचारचूला में ताल शब्द के अन्तर्गत ताल, कंसताल, लत्तिय, गोहिय, और किरकिरिया की गणना की गई है।^{१०} 'निशीथ' में घन शब्द के अन्तर्गत ताल, कंसताल, लत्तिय, गोहिय, मकरिय, कच्छमी, महति, सणातिया और वालिया नामक वाद्य उल्लिखित हुए हैं।^{११}

१. भरत : नट्यशास्त्र, ३३.१५

२. उपरिवत्, २९.११४

३. संगीतरत्नाकर, वाद्याध्याय, पृ. २४८ : 'घोषखड्गैकतन्त्रिका।'

४. अंगसुताणि, भाग १, पृ. २०९; आचारचूला, ११.२

५. निशीहज्जयणं, १७.१३८

६. प्राचीन भारत के वाद्ययन्त्र, "कल्याण" (हिन्दू-संस्कृति-अंक), पृ. ७२१-७२२

७. अंगसुताणि, भाग १, पृ. २०९; आचारचूला, ११.१

८. निशीहज्जयणं, १७.१३७

९. प्राचीन भारत के वाद्ययन्त्र, "कल्याण" (हिन्दू-संस्कृति अंक), पृ. ७२१-७२२

१०. अंगसुताणि, भाग १, पृ. २०९; आचारचूला, ११.३

११. निशीहज्जयणं, १७.१३९

शुषिर : फूँक से बजाये जानेवाले वाद्य को शुषिर कहा जाता है। भरत मुनि ने इसके अन्तर्गत वंशवाद्य को 'अंगभूत' और शंख तथा डिकिकनी आदि वाद्यों को 'प्रत्यंग' कहा है।^१ यह माना जाता था कि वंशवादक को गीत-सम्बन्धी गुणों से युक्त तथा बलसम्पन्न और दृढानिल होना चाहिए।^२ जिसमें प्राणशक्ति की न्यूनता होती है, वह शुषिर वाद्यों को बजाने या फूँकने में सफल नहीं हो सकता। भरत के 'नाट्यशास्त्र' के तीसरे अध्याय में इनके वादन का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। वंशी प्रमुख शुषिर वाद्य है और यह वेणुदण्ड से बनाई जाती है।

'ठाण' के यथोल्लिखित गेयपदों में दो— रोविन्दक और मन्द्रक का भरतनाट्योक्त रोविन्दक और मन्द्रक से साम्य है। भरत नाट्यशास्त्र (३१.२८८—४१४) में 'सप्तरूप' के नाम से प्रथित प्राचीन गीतों का विस्तृत वर्णन है। इन गीतों के नाम हैं : मन्द्रक, अपरान्तक, प्रकरी, ओवेणक, उल्लोप्यक, रोविन्दक और उत्तर।

इस प्रकार, उपरिविवृत नृत्य, नाट्य और संगीत-वाद्यों के विवेचन से प्राचीन भारतीय विचारकों और संगीतकारों के सातिशय विलक्षण विश्लेषणात्मक प्रतिभा का परिचय मिलता है। यहाँ, यथानिवेदित ललितकला के तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में 'वसुदेवहिण्डी' में प्राप्य नृत्य, नाट्य और सांगीतिक सन्दर्भों का पर्यवेक्षण प्रसंगोपात्त है।

संघदासगणी ने ललितकला के मुख्य केन्द्र के रूप में ललितगोष्ठी और नृत्यगोष्ठी का उल्लेख किया है। उस समय के युवराज ललितगोष्ठियों में अपने गोष्ठिकों (मण्डली) के साथ मदविह्वल युवतियों के नृत्य, गीत और वादित्र का आनन्द लेते थे (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ६४)। गोष्ठियों के मुखिया (महत्तरक) के आदेश और निर्देश सभी गोष्ठिकों के लिए मान्य होता था (तत्रैव : पृ. ५८)। ये ललितगोष्ठियाँ गोष्ठिकों को रतिविचक्षणता का प्रशिक्षण देती थीं।

धम्मिल्लचरित (पृ. २८) में कथा आई है कि धम्मिल्ल विवाह होने के बाद भी स्त्री से पराङ्मुख रहता था। तब उसकी माँ सुभद्रा ने विषय-विमुख अपने पुत्र को 'उपभोगरतिविचक्षण' बनाने के निमित्त उसे ललितगोष्ठी में प्रवेश दिलवा दिया। उसके बाद वह (धम्मिल्ल) अपनी मण्डली के मित्रों के साथ उद्यान, कानन, सभा, वनान्तर आदि स्थानों में ज्ञान, विज्ञान आदि कलाओं में परस्पर एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर कौशल दिखलाता हुआ समय बिताने लगा।

एक दिन शत्रुदमन नाम के राजा ने ललितगोष्ठी के मुखिया से कहा कि "मैं वसन्तसेना गणिका की पुत्री वसन्ततिलका की नृत्यविधि पहली बार देखना चाहता हूँ, इसलिए कोई नृत्य का जानकार मुझे दीजिए।" गोष्ठी के सदस्यों ने धम्मिल्ल को उसके साथ कर दिया। राजा के अन्य आचार्य भी उसके साथ थे। राजा उनके साथ ललितगोष्ठी में बैठा। उसके बाद वसन्ततिलका ने आकर नृत्य के उपयुक्त नयनमनोहर रंगभूमि पर संगीत, वाद्य, स्वर, ताल और हाव-भाव के साथ अपना नृत्य प्रस्तुत किया। वेश्यापुत्री ने नृत्यविधि शास्त्रीय पद्धति से प्रस्तुत की थी।

१. भरत : नाट्यशास्त्र, ३३.१७

२. उपरिविवृत, ३३.४६४

संघदासगणी ने अपनी नृत्यकलामर्मज्ञता प्रदर्शित करते हुए कहा है कि वसन्ततिलका जब नृत्य के उपयुक्त भूमि पर प्रशस्त नृत्य कर रही थी, तब उसका शृंगार और आभरण से सज्जित रूप-लावण्य दर्शनीय हो उठा था; विलास का आवेश और मधुर स्वर उसके नृत्य में चार चाँद लगा रहे थे; वह अपना पदनिक्षेप शास्त्रोपदिष्ट पद्धति से कर रही थी; परुषाक्षर और मधुराक्षर के अनुरूप उसका आलाप था; वह अपने हाथ, भौंह और मुँह के अभिनय, हाव-भाव (बिम्बोक) और नेत्रसंचार से श्रेष्ठ नृत्यकला में आश्चर्यजनक कुशलता का प्रदर्शन कर रही थी; हाथ के अतिरिक्त, उसके अंग-प्रत्यंग की विभिन्न क्रियाओं के संचारण की विधि में अद्भुत सामंजस्य था; तन्त्री (वीणा) का स्वर, ताल और गीत के बोल से मिश्रित उसका नृत्य सचमुच बड़ी दिव्यता के साथ समाप्त हुआ। उसके दिव्य नृत्य की समाप्ति पर सभी दर्शक सहसा बोल उठे— “ओह ! अद्भुत ! !” (तर्हि च दिव्यसमाणे णट्टावसाणे णच्चिए सव्वपासणिएहि ‘अहो ! ! ! विम्हउ’ ति सहसा उक्कुट्टं”; (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. २८)।

प्रस्तुत नृत्यचित्र में कथाकार ने नृत्य, नाट्य, संगीत और वाद्य इन सभी कलाओं का रसवर्षी समन्वय उपस्थित किया है। वसन्ततिलका ने वस्त्रभूषा पहनकर अपनी आँखों और भौंहों तथा शरीर के अन्य अंग-प्रत्यंग के परिचालन द्वारा अपनी नृत्यकला में विशिष्ट मानसिक दशा को प्रदर्शित किया है। गीत, नृत्य (नाट्य) और वाद्य, इन तीनों कलाओं का सामूहिक नाम संगीत है, अतएव इस नृत्य में संगीतकला से उद्भूत अनुभव के लोकोत्तर तल पर आनन्द की अनुभूति की सृष्टि हुई है। वसन्ततिलका में, नृत्यकला के द्वारा तन्मयता उत्पन्न करने की अद्भुत शक्ति निहित थी, इसलिए सभी दर्शक इन्द्रियबोध के स्तर से आत्मविस्मृति के स्तर तक और फिर वहाँ से तन्मयता के स्तर तक पहुँचकर अपने-अपने व्यक्तित्व को वसन्ततिलका के व्यक्तित्व में लय कर देते हैं, उसके भावात्मक अनुभवों की अनुभूति स्वयं करने लगते हैं और तब उनकी ज्ञानदशा रसदशा में परिवर्तित हो जाती है। और फिर, रस की चर्वणा-क्रिया या अनुभूति के प्रतिचिन्तन द्वारा वे एक ऐसी उदात्त ध्यानावस्थित मनोभूमि में पहुँच जाते हैं, जहाँ नवयौवना क्रीडाभयी गणिकासुन्दरी सुरवधू या देवांगना के रूप में भासमान हो उठती है। इसीलिए, जब राजा शत्रुदमन धम्मिल्ल से पूछता है कि “गणिका ने कैसा नृत्य किया”, तब धम्मिल्ल उत्तर देता है : “सुरवधू के नृत्य के समान नृत्य किया (तत्रैव)।”

नृत्य से रसाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में आचार्य भरत का कथन है कि विविध प्रकार के नृत्य (नृत्य) विविध रसों को अभिव्यक्त करते हैं। नृत्य के साथ होनेवाले गीत के स्वर उन भावों को व्यक्त करने में सफल हो जाते हैं, जिनको काव्यभाषा व्यक्त नहीं कर सकती है।^१ इस प्रकार, भरत के मतानुसार नृत्य भी रसाभिव्यक्ति का एक साधन है।

गणिका : ललितकला की आचार्या :

संघदासगणी ने ‘वसुदेवहिण्डी’ की मुख्यकथा वसुदेवचरित के व्यापक प्रसंग में कलावती विदुषी गणिकाओं के रसोच्छल चित्रों का अन्तर्गर्भ विनियोग कर यह सिद्ध किया है कि उस

युग में गणिकागृह ही ललितकलाओं का प्रधान केन्द्र था और गणिकाएँ ही ललितकला की आचार्याएँ होती थीं। वसन्ततिलका के उत्तम नृत्य से परितुष्ट होकर राजा ने राजोचित पूजा-सत्कार से उसे सम्मानित करके विदा किया। वसन्ततिलका जब चलने लगी, तब वह अपने प्रशंसक धम्मिल्ल को सविनय निवेदनपूर्वक रथ पर बैठाकर अपने घर ले गई। वहाँ उसने उसके साथ हास्य, स्वैरालाप, गीत, रतिक्रीडा आदि विशिष्ट ललितकलागुणों और उपचार-सहित नवयौवन के आनन्द का अनुभव करते हुए जाने कितने दिन बिता दिये।

वसन्ततिलका धम्मिल्ल को ललितकला का जो प्रशिक्षण देती थी, उसके लिए धम्मिल्ल के माता-पिता अपनी दासी के हाथों प्रति दिन आधा (अद्ध) सहस्र [पाठान्तर के अनुसार : आठ (अट्ठ) सहस्र] स्वर्णमुद्रा वसन्ततिलका की माता वसन्तसेना के पास भिजवाते थे। इस प्रकार, धम्मिल्ल के माता-पिता का, उनके अनेक पूर्वपुरुषों द्वारा अर्जित धन अपने पुत्र के भविष्य-निर्माण में उसी प्रकार नष्ट हो गया, जिस प्रकार सूखी-चिकनी बालू मुट्ठी से खिसक जाती है।

गणिकासक्त धम्मिल्ल के शोक में उसके माता-पिता मर गये और उसकी विवाहिता पत्नी यशोमती घर बेचकर नैहर चली गई।

उस युग के राजसमाज या समृद्ध श्रेष्ठी-समाज की पूर्णता के लिए गणिकाएँ आवश्यक अंग थीं। इसीलिए, तद्युगीन नीतिकारों ने चातुर्य के पाँच कारणों (देशाटन, पण्डितमित्रता, वारांगना-सम्पर्क, राजसभा में प्रवेश तथा अनेक शास्त्रों का अध्ययन-अनुशीलन^१) में वारांगना-सम्पर्क को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है। इसीलिए, 'ललितविस्तर' की कलासूची में 'वेशिकम्' का उल्लेख हुआ है। यह दत्तक आचार्य द्वारा निर्मित एक शास्त्र था, जिसे विशाखिल और वात्स्यायन ने पल्लवित किया। 'वेशिकम्' का सम्बन्ध उस वैशिक व्यापार-कला से है, जो प्राचीन भारत की रूपाजीवाओं के बीच प्रचलित थी। इस वैशिक व्यापार-कला पर दामोदरगुप्त ने 'कुट्टनीमत काव्यम्' नामक प्रबन्ध की रचना की है, जिसमें विकराला नाम की कुट्टनी ने मालती नामक वेश्या को इस कला की विस्तृत शिक्षा दी है।^२ प्राचीन भाषों में तो गणिकाओं का अतिशय रुचिर वर्णन मिलता है। "वसुदेवहिण्डी" के प्रायः समकालीन 'चतुर्भाषी' में तो गणिकाओं का बहुत ही भव्य चित्र अंकित किया गया है।^३ 'चतुर्भाषी' में वेश्याओं का जो चरित दिखलाया गया है, उसको ठीक तरह से समझने के लिए कामसूत्र, नाट्यशास्त्र, मृच्छकटिक, वसुदेवहिण्डी इत्यादि का अध्ययन आवश्यक है; क्योंकि इन सबकी सम्मिलित सामग्री से वेश-जीवन का एक सर्वांग चित्र उपलब्ध होता है।^४ परवर्ती काल में तो क्षेमेन्द्र ने अपने 'कलाविलास' के चतुर्थ सर्ग में 'वेश्यावृत्त' के अन्तर्गत केवल रुचिचपला

१. देशाटनं पण्डितमित्रता च वाराङ्गना-राजसङ्गप्रवेशः ।

नित्यं हिशास्त्रार्थं विलोकनञ्च चातुर्यमूलानि भवन्ति पञ्च ॥ - (सूक्तिश्लोक)

२. द्रष्टव्य 'कुट्टनीमत काव्यम्' का अनुवाद : अनु. जगन्नाथ पाठक, मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद

३. डॉ. मोतीचन्द्र तथा डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा 'शृंगारहाट' के नाम सम्पादित 'चतुर्भाषी' का प्राक्कथन और भूमिका

४. उपरिवत्, भूमिका-भाग, पृ. ६६

वेश्याओं की ही उनचौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है, जिनके द्वारा वे (वेश्याएँ) रागदग्ध पुरुषों का चित्तविनोदन और आर्थिक शोषण किया करती थीं।

निवृत्तिमार्गी श्रमण (जैन)-परम्परा की कलासूची में 'वेशिक' की गणना नहीं की गई है; किन्तु श्रमण-कथाकार संघदासगणी ने कथारस के विकास-विस्तार की दृष्टि से ललितकला के परिपोषक के रूप में गणिका-वर्ग का आकलन करना उपयुक्त समझा था; क्योंकि वह अपनी महत्कथा में युगीन यथार्थ का चित्रण ईमानदारी से करना चाहते थे, साथ ही वह गणिका के जीवन में प्रतिष्ठित कलाओं की महत्ता की सचाई को शास्त्रीय सत्य के रूप में देखने के आग्रही थे। शील, रूप और गुणों से युक्त तद्युगीन गणिकाएँ, अपनी कलाओं की विदग्धता के द्वारा ऊपर उठकर, गणिका कहलाई जाकर भी जनसमाज में विशिष्ट स्थान पाती थीं। वे गणिकाएँ राजाओं और विद्वानों से पूजित और स्तूयमान, कला के उपदेश के इच्छुकों से प्रार्थित, विदग्धों द्वारा चाही जानेवाली और सबकी लक्ष्यभूत होती थीं। संस्कृत-बौद्ध साहित्य में अनेक ऐसे उल्लेख हैं, जिनसे तत्कालीन गणिका के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। 'महावस्तु' (३.३५-३६) की एक कहानी में कहा गया है कि एक अग्रगणिका ने एक चतुर और रूपवान् पुरुष को सुरत के लिए बुलवाया। उसने गन्धतैल लगाकर, स्नान करके, चूर्ण से अपना शरीर सुगन्धित किया तथा आलेपन लगाने के बाद काशिक वस्त्र पहनकर अग्रगणिका के साथ भोजन किया। गणिका अम्बपाली की कहानी बौद्धसाहित्य में विख्यात है।^१ देवदासियाँ प्रायः देवगृहाश्रित नर्तकियाँ होती थीं। 'मेघदूत' (१.३४-३५) में उज्जैन के महाकाल-मन्दिर में चामरग्राहिणी वेश्याओं के नृत्य का वर्णन उपलब्ध होता है।

संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में वेश्या या गणिका के जीवन का बड़ा विशद चित्रण किया है। उन्होंने अपनी इस कथाकृति में गणिकाओं की अद्भुत उत्पत्ति-कथा (पीठिका : पृ. १०३) दी है। कथा यह है कि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत मण्डलाधिपति राजा थे। वह एकस्त्री-व्रतधारी थे। एक बार कतिपय सामन्तों ने एक साथ अनेक कन्याएँ उनके पास भेजीं। अपनी रानी के साथ प्रासाद में बैठे हुए उन्होंने उन कन्याओं को देखा। रानी ने राजा से पूछा : "ये कन्याएँ किसकी हैं ?" "सामन्तों ने मेरे लिए कन्याएँ भेजी हैं।" राजा ने उत्तर दिया। रानी ने सोचा कि "इतनी कन्याओं में यदि एक या अनेक कन्याएँ राजा की प्रेमपात्री हो गईं, तो मैं उपेक्षिता हो सकती हूँ।" सहसा राजा से रानी ने कहा : "मैं प्रासाद से कूदकर अपने को विसर्जित कर रही हूँ।" राजा ने पूछा : "ऐसा क्यों कहती हो ?" रानी बोली : "यहाँ आई हुई इन कन्याओं के कारण मैं शोकाग्नि में जलती हुई बड़े कष्ट से मरूँगी।" "अगर तुम्हारा यही निश्चय है, तो ये कन्याएँ घर में नहीं प्रवेश करेंगी।" राजा ने रानी को आश्चस्त किया। रानी ने कहा : "अगर यह सच है, तो ये सभी कन्याएँ बाहर के ही आवास (बाह्योपस्थान) में रहें।" राजा ने वैसा ही प्रबन्ध कर दिया। वे कन्याएँ छत्र और चामर लेकर राजा की सेवा करने लगीं। पुनः वे क्रम से गणों (राजवर्ग) में वितरित कर दी गईं। इसीलिए वे 'गणिका' कहलाईं। गणिकाओं की उत्पत्ति का यही कारण है।

गणिका की उत्पत्ति के प्रस्तुत विवरण से यह स्पष्ट है कि गणिकाओं का सम्बन्ध गणों से था। डॉ. मोतीचन्द्र का अनुमान है कि कदाचित् गण की आज्ञा से ही अग्रगणिका की

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य चतुर्भाणी (शृंगारहाट), भूमिका, पृ. ६८

नियुक्ति होती थी।^१ किन्तु, इस सन्दर्भ में एक और बात ध्यातव्य है कि ये गणिकाएँ (कन्याएँ) राजवर्ग को राजा भरत की ओर से वितरण में, बिना विवाह-विधि के, मिली थीं, इसलिए उन राजाओं ने भी उन्हें अपने अन्तःपुर में नहीं रखा, अपितु स्वतन्त्र रखकर कलाओं की शिक्षा और अभ्यास की ओर उन्मुख किया। फलतः, वे ललितकला की प्रगल्भ मर्मज्ञा होकर अपनी कला-वर्चस्विता से राजसमाज में समादृता बनीं। इसलिए, वेश्याओं में गणिका सबसे ऊँचे दरजे की होती थी और क्रयदासी सबसे नीचे दरजे की।

‘वसुदेवहिण्डी’ की गणिकोत्पत्ति की कथा का विशद रूपान्तर बुधस्वामी के ‘बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह’ (१०.१८२-१८९) में भी उपलब्ध होता है। कथा यह है कि धर्म, अर्थ और काम के महान् साधक भरत नाम के राजा थे। उन्होंने महोदधि से कमनीय कुमारियों को प्राप्त किया। उन्होंने सोचा कि एकान्त में इन सबसे विवाह करके मैं निरन्तर विविध सुखों का भोग करूँगा। किन्तु, उन्होंने सर्वप्रथम जिस कन्या के काँपते हुए हाथ को ग्रहण किया, उसी की, शुद्ध पुण्य से अर्जित सुन्दराकृति में ही वह सन्तुष्ट हो गये। अतः, उन्होंने शेष कन्याओं के, मन और आँखों को आकृष्ट करनेवाले तथा कामदेव की भाँति कान्तिमान् रूपवाले आठ गण बना दिये। और, प्रत्येक गण की जो प्रधान थी, उसे झमकनेवाले गहनों से अलंकृत किया गया और राजा भरत ने उसे विशिष्ट आसन, छत्र और चँवर रखने की आज्ञा दी। इस कोटि से भिन्न जो दूसरी-दूसरी महागुणवती कन्याएँ थीं, उन्हें गुण के अनुसार ‘घटककटि’, ‘संधट्टकटि’, ‘कठोरकटि’, ‘खल’ आदि संज्ञाएँ राजा की ओर से दी गईं। आज भी जो गणिकाभेद देखा जाता है, उसका प्रवर्तन उसी समय से भरत द्वारा किया गया है।

‘वसुदेवहिण्डी’ में अनेक गणिकाओं और उनके पुत्र-पुत्रियों का नामोल्लेख हुआ है। जैसे: अनंगसेना (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९३, २९४); अनन्तमति (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२१, ३२२); अमितयशा (पीठिका : पृ. १०३); कलिगसेना (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९३); गणिकापुत्री कामपताका (तत्रैव : पृ. २९३, २९४, २९७, २९८); कालिन्दसेना (पीठिका : पृ. ९८, १०२-१०४); गणिकापुत्र कुबेरदत्त (कथोत्पत्ति : पृ. ११, १२); कुबेरदत्त (तत्रैव : पृ. ११); कुबेरसेना (तत्रैव : पृ. १०, ११, १२); चित्रसेना (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९३); गणिकापुत्री बुद्धिसेना (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५९, २६०); रतिसेनिका या रतिसेना (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८९); रंगपताका (तत्रैव : पृ. २८९); गणिकापुत्री वसन्ततिलका (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. २८, २९, ३१, ३३, ३५); वसन्तसेना (तत्रैव : पृ. २८, ३१, ७२); सुदर्शना (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२९); सुप्रबुद्धा (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५९); सुसेना (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३३); गणिकापुत्री सुहिरण्या (पीठिका : पृ. ९८, १०१-१०४, मुख : १०९) और हिरण्या (पीठिका : पृ. १०१)। इन गणिकाओं के अतिरिक्त संघदासगणी ने संगीत और नृत्य में निष्णात कतिपय नर्तकी दासियों का भी उल्लेख किया है। जैसे : कामपताका (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८१); विलासिनी (तत्रैव); किन्नरी (तत्रैव); मधुरक्रिया (तत्रैव); हासपोडलिका (तत्रैव); रतिसेनिका (तत्रैव : पृ. २८२); कौमुदी (तत्रैव) और पद्मिनी (तत्रैव)। ये सब वसुदेव की पत्नी प्रियंगुसुन्दरी के मनोरंजन के लिए उसके निकट रहनेवाली नर्तकियाँ थीं (‘प्रियंगुसुन्दरिसंतिथ्याओ नाडइज्जा ति’)। इनके अतिरिक्त, राजा स्तिमितसागर के पुत्र अपराजित और अनन्तवीर्य के दरबार में बर्बरी और चिलातिका (किराती) नाम

की दो दासी नर्तकियाँ थीं। ये दोनों नृत्य, नाट्य और संगीतकलाओं में निष्णात थीं। इनका स्वर अतिशय मधुर था। स्वयं नारद ने विद्याधरराज दमितारि के पास जाकर इन दोनों नर्तकियों की प्रशंसा करते हुए कहा था कि “अपराजित और अनन्तवीर्य की दासी बर्बरी और चिलातिका का नाटक बड़ा दिव्य होता है।” उन्होंने विद्याधरराज से यह भी कहा कि “उन नर्तकियों के नाटक से रहित तुम्हारा राज्य, वाहन और विद्याधरत्व सब व्यर्थ है (केतुमतीलम्ब : पृ. ३२५)।”

संघदासगणी के अनुसार, नाटक की पात्रियों को दहेज में देने की भी प्रथा उस समय प्रचलित थी। नर्तकियों को दहेज में देना गौरव का विषय होता था। प्राचीन युग में भजन, संगीत आदि की दृष्टि से देवालय भी ललितकला के प्रमुख केन्द्रों में अन्यतम था। अतएव, वेश्याओं का देवाल्यों से बहुत प्राचीन सम्बन्ध रहा है। ‘चतुर्भाणी’ में ही कई जगह वेश्याओं का मन्दिरों में गाने-बजाने का उल्लेख है। संघदासगणी ने भी गणिकाओं की, देवकुल के प्रति श्रद्धाभाव की अनुशंसा की है। धम्मिल्ल के निर्धन हो जाने के बाद, एक दिन वसन्तसेना, वसन्ततिलका के लिए, पेरकर रस निकाल लेने के बाद बचे हुए कुछ सफेद इक्षुखण्ड ले आई। जब वह उन्हें खाने लगी, तब वे नीरस लगे। तब माँ ने उससे कहा: “जिस प्रकार ये इक्षुखण्ड नीरस हैं, उसी प्रकार धम्मिल्ल भी, इसलिए उसे छोड़ दो।” वसन्ततिलका ने कहा: “नहीं, यह भी काम की वीज है। इससे देवगृह (देवकुल) लीपने के लिए मिट्टी (गोबर) घोलने का काम लिया जायगा (धम्मिल्ल-हिण्डी : पृ. ३२)। इससे स्पष्ट है कि वसन्ततिलका श्रद्धापूर्वक देवकुल जाती थी और वहाँ की भूमि को लीपकर पवित्र करती थी। इसके अतिरिक्त, वसन्तसेना द्वारा कर्बट देवता के उत्सव का आयोजन और फिर गन्ध, धूप, पुष्प और नैवेद्य के साथ गृहदेवता का पूजन आदि क्रियाओं से भी वेश्या की देवकुल के प्रति श्रद्धाभावना का व्यक्तीकरण होता है (तत्रैव, पृ. ३३)।

नायक के साथ प्रीति हो जाने पर वेश्या एकचारिणी व्रत का पालन करती थी। वसन्तसेना ने जब धम्मिल्ल का निर्वासन कर दिया, तब उसकी पुत्री वसन्ततिलका ने धम्मिल्ल के प्रति प्रीति की एकनिष्ठता के कारण प्रतिज्ञा की: “अपने स्वामी के प्रति सत्यतिज्ञ मैं अपनी वेणी बाँधती हूँ, यह मानकर कि मेरा प्रियतम आकर इसे खोलेगा।” यह कहकर वह गन्ध, माला, अलंकार आदि का उपयोग छोड़कर केवल शरीर-रक्षा के लिए अन्न-पान ग्रहण करती हुई शुद्ध भावना से समय बिताने लगी। बहुत दिनों के बाद धम्मिल्ल के साथ फिर उसका मिलन हुआ (तत्रैव, पृ. ३५)।

वेश्याएँ ललितकला की शिक्षिकाएँ भी होती थीं। उस युग के राजा या सेठ अपने पुत्रों को वेश्याओं के घर भेजकर शिक्षा दिलवाते थे। ‘वसुदेवहिण्डी’ में कथा है कि श्रेष्ठिपुत्र चारुस्वामी को ‘अर्थपरिभोक्ता’ बनाने के लिए उसकी माता ने उसे गणिका के घर भरती कराने की जोरदार सिफारिश की थी (गन्धर्वदत्तालम्ब : पृ. १४१)। उसने चारुस्वामी के गोमुख आदि मित्रों से कहा था कि यदि मेरा पुत्र, धन नष्ट करके भी वेश्यागृह में पहुँच जाता है, तो मेरा मनोरथ पूर्ण समझो: “जति वित्तं विणासेड वेसवसं पत्तो ततो पुण्णो मे मनोरहो” (तत्रैव : पृ. १४१-१४२)। इसके बाद गोमुख आदि मित्रों ने चारुस्वामी को उद्यान में ले जाकर मद्यपान कराया और युक्तिपूर्वक वसन्ततिलका के जिम्मे लगा दिया। नशे के आवेश में चारुस्वामी को वसन्ततिलका अप्सरा जैसी दिखाई पड़ती थी। वह अप्सरा उसे रथ पर चढ़ाकर अपने घर ले गई। वहाँ उसने उसे रथ से उतारा। वहाँ उसी के समान उग्रवाली और युवतियों ने उसे घेर लिया। अप्सरा ने उससे कहा :

“इभ्यपुत्र ! मैं तुम्हें देवविमान (स्वर्गलोक) में ले आई हूँ। मेरे साथ निश्चित भाव से विषयसुख का भोग करो।” अब चारुस्वामी हथिनियों के साथ हाथी की भाँति उन मधुरभाषिणी युवतियों के साथ था। उन्होंने अप्सरा के साथ चारुस्वामी का पणिग्रहण करा दिया। फिर, गीत गाती हुई वे उसे गर्भगृह में ले गई। वहाँ वह अप्सरा के साथ रतिपरायण होकर सो गया। जब उसका नशा उतरने लगा, तब उसे पता चला कि वह अप्सरा के दिव्यलोक में नहीं, अपितु वसन्ततिलका गणिका के घर में पड़ा है। तभी, वसन्ततिलका ने बड़ी लुभावनी भाषा में चारुस्वामी को अपना परिचय देते हुए कहा : “मैं गणिकापुत्री वसन्ततिलका हूँ। कन्याभाव में रहकर कला की साधना करती हुई समय बिताती हूँ। मुझे धन का लोभ नहीं है। मैं गुण का आदर करती हूँ। मैंने तुम्हें हृदय से वरण किया है। तुम्हारी माँ की अनुमति से तुम्हारे गोमुख आदि मित्रों ने उद्यान में युक्तिपूर्वक तुम्हें मुझे सौंप दिया है।” यह कहकर वह उठी, अपने कपड़े बदले और फिर चारुस्वामी के पास आकर, कृताञ्जलि होकर निवेदन करने लगी: “इभ्यपुत्र ! मैं तुम्हारी सेविका हूँ। मुझे स्त्री के रूप में स्वीकार करो। ये रेशमी वस्त्र मेरे कन्याभाव के प्रमाण हैं। मैं आजीवन तुम्हारी सेवा करती रहूँगी।” चारुस्वामी ने रागानुबद्ध होकर उसे पत्नी के रूप में स्वीकार कर लिया और वह उसके साथ स्वच्छन्द विहार करने लगा।

विचक्षणबुद्धि वसन्ततिलका चारुस्वामी को उसकी माता के द्वारा भेजी गई परिभोग्य वस्तुओं को दिखलाने लगी। वसन्ततिलका चूँकि कामकला के शिक्षण में चारुस्वामी की आचार्या थी, इसलिए उसे दक्षिणा में उसकी माँ की ओर से प्रतिदिन एक हजार आठ स्वर्णमुद्राएँ मिलती थीं। फिर, किसी उत्सव के दिन एक लाख आठ हजार स्वर्णमुद्राएँ आती थीं। इस प्रकार, विषयसुख से मोहित होकर चारुस्वामी ने वसन्ततिलका के साथ रमण करते हुए बारह वर्ष बिता दिये। एक दिन मधुपान करके चारुस्वामी जब वसन्ततिलका के साथ सोया था, तभी ठण्डी हवा लगने से उसकी नींद खुल गई। किन्तु, वसन्ततिलका वहाँ नहीं दिखाई पड़ी। उसी क्षण, उसे समझ में आ गया कि गणिका उसे छोड़कर चली गई है। इधर सारा धन नष्ट हो जाने से चारुस्वामी का पिता संन्यासी हो गया और माँ घर बेचकर नैहर अपने भाई ‘सर्वार्थ’ के पास चली गई (गन्धर्वदत्तालम्भ; पृ. १४३-१४४)।

प्रस्तुत कथाप्रसंग से गणिकाओं की कई उल्लेखनीय विशेषताएँ सामने आती हैं। सर्वप्रथम गणिकाएँ रतिप्रगल्भा होती हैं। फिर, उनका कन्याभाव कृत्रिम होता है। वे अपनी ललित वचोभंगी में मोहन और वशीकरण की अद्भुत शक्ति रखती हैं। विश्वनाथ महापात्र के अनुसार, वेश्याएँ धीरा और कलाप्रगल्भा होती हैं। ये न तो गुणहीनों से द्वेष करती हैं, न ही गुणियों से अनुराग रखती हैं। ये केवल धन देखकर बाहरी प्रेम प्रदर्शित करती हैं। धन क्षीण हो जाने पर ये स्वीकृत पुरुष को भी अपनी माँ से कहकर निकाल बाहर कराती हैं और फिर नये पुरुषों की खोज में लग जाती हैं।^१ ‘वसुदेवहिण्डी’ के धम्मिल्ल और चारुस्वामी, वेश्या की इस सहज निर्मम प्रवृत्ति के

१. धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका ॥

निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि ।

वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद् बहिः ॥

काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधननरम् ।

मात्रा निस्सारयेद्देशा पुनः सन्धानकाङ्क्षया ॥ —साहित्य दर्पण, ३. ६७-६९।

दुःखपूर्ण शिकार बने हैं। और, दोनों को मोह-मरीचिका में डालनेवाली गणिकाओं के नाम भी एक ही हैं। ध्यातव्य है कि संघदासगणी के कथाग्रन्थ में, भिन्न कथाप्रसंगों में भी एक ही नाम के कई पात्र-पात्री पुनरावृत्त हैं।

उपर्युक्त कथाप्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि गणिकाएँ रथ पर चलती थीं और अग्रगणिकाएँ या प्रधान गणिकाएँ या महागणिकाएँ प्रायः अनेक वायुवतियों से घिरी रहती थीं। ये ललित कला की आचार्या होने के कारण दक्षिणा में विपुल राशि वसूल करती थीं। कुल मिलाकर, गणिकाएँ परमाद्भुत चरित्रवाली होती थीं। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' में वेश्याजनसुलभ कलासाधना और अर्थसाधना का जैसा सामंजस्य परिलक्षित होता है, वैसा अन्यत्र प्रायोदुर्लभ है।

'वसुदेवहिण्डी' से ज्ञात होता है कि गणिकाएँ बड़ी धूर्त होती थीं और अपनी पुत्रियों को निर्धन पुरुषों के साथ प्रेमासक्त जानकर, उन अभागों को बड़े छल-छद्म से निष्कासित कर देती थीं। वसन्तसेना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उसने जब धम्मिल्ल के प्रति वसन्ततिलका को आसक्त जान लिया, तब एक उत्सव का आयोजन किया और उसी में खान-पान के बहाने धम्मिल्ल को बहुत अधिक मदिरा पिलाकर बेहोश कर दिया और उसे एकवस्त्र स्थिति में नगर के बाहर थोड़ी दूर पर फेंकवा दिया।

'वसुदेवहिण्डी' से वेश्याओं के सिद्धान्त और वेश्यालय की तहजीब पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। चारुस्वामी या चारुदत्त जब अर्थहीन हो गया, तब वसन्ततिलका की माँ ने उसे पहले तो योगमद्य पिलवाया, फिर बेहोशी की हालत में उसे भूतघर में डलवा दिया।

वसन्ततिलका को जब अपनी माँ के इस दुष्कृत्य का पता चला, तब उसने अपनी वेणी बाँधकर प्रतिज्ञा की कि चारुदत्त ही आकर इसे खोलेगा। इसी क्रम में, वसन्ततिलका राजा की सेवा से, उचित शुल्क चुकाकर, मुक्त हो गई (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५४)। इससे स्पष्ट है कि वेश्याएँ सिद्धान्तवादिनी होती थीं और विहित शुल्क (निष्क्रय) देकर राजा की सेवा से मुक्ति पा लेती थीं ("दिण्णो निक्कओ रण्णो, राइणा य मोइयं गिहं") और अपने मनोनुकूल गृहस्थ-जीवन बिताती थीं। धम्मिल्ल की प्रेमिका गणिका वसन्ततिलका की कथा भी प्रायः चारुदत्त की प्रेमिका वसन्ततिलका के ही समानान्तर है।

'वसुदेवहिण्डी' के गंगरक्षित-वृत्तान्त से वेश्याओं की सांस्कृतिक अभिरुचि और वेश्यालय की शिष्टता का अनुमान होता है। गंगरक्षित ने वसुदेव से अपनी कहानी सुनाते हुए कहा था कि एक दिन वह अपने प्रियमित्र वीणादत्त के साथ श्रावस्ती के चौक में बैठा था ('सावत्थीचउक्कम्मि आसहे' : प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८९)। उसी समय रंगपताका नाम की गणिका की दासी ने वीणादत्त को बुलाया और उससे कहा कि मेरी स्वामिनी रंगपताका और रतिसेनिका के मुरगों की लड़ाई (युद्ध-प्रतियोगिता) आयोजित की गई है, इसलिए साक्षी (मध्यस्थ) के रूप में आप उसमें सम्मिलित होने के लिए शीघ्र आये। इसके बाद उस दासी की नजर गंगरक्षित पर पड़ी और प्रश्नात्मक स्वर में बोली: "उत्सवों से दूर रहनेवाला यह गणिकाओं के रसविशेष को जानता है?" ("एसो गणियाणं रसविसेसं जाणइ?") उसकी चिढ़ानेवाली बात से गंगरक्षित सहसा जल उठा और वीणादत्त के साथ वेश्यालय में चला गया। वहाँ बैठने के लिए उन्हें आसन दिया गया, फिर ड्र और माला से उन दोनों का सम्मान किया गया।

उसके बाद मुरगों की लड़ाई शुरू हुई। एक लाख की बाजी रखी गई थी। वीणादत्त ने रंगपताका के मुरगे को ललकारा और रतिसेना के मुरगे से लड़वाना शुरू किया। रतिसेना का मुरगा मात खा गया और रतिसेना एक लाख की बाजी हार गई। तब, उसने दसगुनी, यानी दस लाख रुपये की, बाजी लगाई। दूसरी पाली में गंगरक्षित ने रतिसेना के मुरगे का पक्ष लिया और उसे ललकारा। दूसरी बार मुरगों की लड़ाई शुरू हुई। इस बार रतिसेना ने बाजी जीत ली। गंगरक्षित रतिसेना के घर में ही रह गया। दूसरे दिन, ओढ़े हुए कपड़े में अपना हाथ छिपाये हुई एक दासी एक सौ आठ दीनार दिखलाती हुई गंगरक्षित से बोली : “रतिसेना दे रही है।” इस प्रकार, सुखपूर्वक गंगरक्षित का समय बीतने लगा। गणिकामृह में रहते हुए कितना समय बीत गया, यह उसने नहीं जाना। एक दिन गणिका के परिजन ने करुण रुदन करना शुरू किया। “यह क्या बात है?” ऐसा बोलता हुआ गंगरक्षित सहसा उठा और सुना कि उसके पिता मर गये! वह शोकाभिभूत हो उठा और तुरत ही अपने घर लौट आया।

इसी प्रकार, जम्बूद्वीप-स्थित पूर्वविदेह-क्षेत्र के पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकिणी नगरी के राजा धनरथ के दरबार में सुसेना (सुषेणा) नाम की गणिका शास्त्रार्थ की इच्छा से कुक्कुट की युद्ध-प्रतियोगिता के लिए आई थी। उसके कुक्कुट ने धनरथ की रानी मनोहरी के वज्रतुण्ड नामक कुक्कुट से युद्ध किया था। इसके लिए दोनों पक्षों की ओर से एक लाख की बाजी रखी गई थी (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३३)।

उक्त कथाप्रसंगों से यह ज्ञात होता है कि गणिकाएँ सांस्कृतिक उत्सवों का आयोजन करने में सहज अभिरुचि रखती थीं और इस प्रकार के आयोजनों में अपनी स्पृहणीय धनाढ्यता प्रदर्शित करती थीं और रानियों से भी होड़ लेने को तैयार रहती थीं। इसके अतिरिक्त, अपने आमन्त्रितों के प्रति सामान्य शिष्टाचार का पालन तो करती ही थीं, अपने प्रति किये गये उपकार का आर्थिक मूल्य भी चुकाती थीं। साथ ही, आमन्त्रित अतिथि के शोक में सहानुभूति प्रदर्शित करके, अपनी सहज मानव-भावना का भी परिचय प्रस्तुत करती थीं।

इसी प्रकार, वसुदेव जब अपनी भावी गणिका-पत्नी ललितश्री के घर गये, तब उसने उनका अर्घ्य से सम्मान किया। कुतूहल से भरी हुई कुछ गणिकाएँ वहाँ आ गईं। उन्होंने ललितश्री का अभिप्राय जानकर वसुदेव का शृंगार किया। फिर, “फल चाहनेवाले को विशेष रस की भी प्राप्ति होती है”, इस प्रकार बोलते हुए उन्होंने ललितश्री के साथ वसुदेव को भी स्नान कराया। फिर, वे मंगलाचार के साथ वसुदेव को ललितश्री के वासगृह (शयनकक्ष) में ले गईं। वहाँ मोती की झालरें लटकाई गई थीं, शयनगृह की भूमि पर सुगन्धित फूल बिखरे गये थे। घ्राण के अनुकूल धूप से वासगृह सुरभि-मुखर हो रहा था। वहाँ वसुदेव स्वच्छन्द भाव से पाँच प्रकार के (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) विषय-सुखों को भोगते हुए प्रसन्नतापूर्वक विहार करते रहे (ललितश्रीलम्भ : पृ. ३६३)।

इस कथा से यह स्पष्ट होता है कि गणिकाओं की शिष्टता में मोहक सौन्दर्य का अभिनिवेश अतिशय प्रबल रहता था। रति-महोत्सव के अनुकूल वातावरण तैयार करने में सहायिका गणिकाएँ अपने कला-कौशल का भरपूर प्रदर्शन करती थीं। वेश्यागृह में मण्डन-कला का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर रहता था। गणिकाएँ जब एकचारिणी हो जाती थीं, तब अपने अनुकूल पुरुष को कामकला से कृतार्थ कर देती थीं।

'वसुदेवहिण्डी' में इस बात का भी उल्लेख है कि गणिकाओं को जिन-भक्ति और दैविक सिद्धि भी प्राप्त रहती थी और वे पूर्वभव के ज्ञान या अवधिज्ञान से भी सम्पन्न होती थीं। और, यज्ञोत्सव के अवसर पर भी वे नृत्य आदि का प्रदर्शन करती थीं। कामपताका नाम की गणिकापुत्री ने तो अतिशय कठिन सूचीनृत्य, अर्थात् विषदिग्ध सुदयों पर नृत्य भी किया था (प्रियंगुसुन्दरीलम्पः पृ. २९३)।

चन्दनपुर नामक नगर के राजा अमोघरिपु की राजगणिका अनंगसेना की पुत्री कामपताका की, रूप, ज्ञान और बुद्धि में, द्वितीयता नहीं थी।^१ वह जिनशासन-प्राप्त रहने के कारण दैविक बल से सम्पन्न थी (तत्रैवः पृ. २९३)। कथा है कि एक दिन जब वह राजभवन से निकल रही थी, तभी राजदरबार का एक धृष्ट सेवक दुर्मुख नामक दास ने उसे छेड़ दिया : "मेरे साथ रहोगी?" जब उसने अनिच्छा प्रकट की, तब दुर्मुख ने उसे अपने कठोर हाथों से पकड़ लिया। इसपर कामपताका बोली : "यदि मैंने जिनशासन प्राप्त किया है, तो इस सत्यवचन से मैं दुर्मुख से छुटकारा पा जाऊँगी।" उसके ऐसा कहने पर, किसी देवी ने देवत्व के प्रभाव से अपने आकारिक विस्तार को और अधिक विस्तृत कर दास दुर्मुख को एकबारगी रोक लिया। कामपताका निर्विघ्न अपने घर चली गई।

किन्तु, दुर्मुख उसके प्रति द्वेष रखने लगा। उसने पुनः कामपताका को संकट में डाल दिया। इस बार कामपताका जिनवर के अष्टाह्निक की मनौती मानकर कष्टमुक्त हुई। कथा है कि एक बार किसी दिन वटप, शाण्डिल्य, उदकबिन्दु प्रभृति तपस्वी फूल-फल लेकर राजा अमोघरिपु को उपहार देने आये और आश्रम में आयोजित यज्ञ की रक्षा के लिए उन्होंने सहायता माँगी। राजा ने अपने मन्त्रियों से विचार-विमर्श करके अपने पुत्र कुमार चारुचन्द्र को विपुल सैन्यबल और बहुत सारे लोगों के साथ, जिनमें गणिकाएँ भी शामिल थीं, यज्ञ की रक्षा के निमित्त आश्रम भेज दिया।

उस यज्ञोत्सव में चित्रसेना, क्लृंगसेना, अनंगसेना और कामपताका परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करती हुई नृत्य आदि का प्रदर्शन कर रही थीं। कामपताका की बारी जानकर, परपीडन से सुखानुभूति प्राप्त करनेवाले दास दुर्मुख ने उसे सूचीनृत्य करने का आदेश दिया और विष से बुझी सुइयों कामपताका के नृत्यस्थल पर रखवा दीं। कामपताका उसे समझ गई और उसने मनौती की : "यदि मैं इस नृत्य-प्रदर्शन में निस्तार पा गई, तो जिनवर का अष्टाह्निक महामहोत्सव कराऊँगी।" और, उसने उस दिन उपवास का व्रत रखा और उसी के प्रभाव से वह अपने प्रदर्शन में सफल हो गई, क्योंकि विष से बुझी सुइयों को देवी ने नृत्यस्थल से हटा दिया था।

मानिनी कामपताका का रूप बड़ा तीखा था। उसपर राजकुमार से उपाध्याय तक रीझ जाते थे। यज्ञोत्सव में नृत्य की समाप्ति के बाद कुमार चारुचन्द्र ने अपने सारे आभूषण, छत्र-चामर-सहित, उतारकर, कामपताका को दे दिये और स्वयं निराभरण होकर घर वापस आया और कामरोग से ग्रस्त और विषय-विरक्त रहने लगा। अन्त में, अमोघरिपु ने कामपताका को अपने युवराज चारुचन्द्र के लिए दे दिया। कामपताका पहले स्वामिदत्त नामक परदेशी वणिक् पर रीझ गई थी। किन्तु, परदेशी वणिक् विरागमार्गी निकला। उल्टे, उसने कामपताका और उसकी माँ अनंगसेना को श्रमणधर्म और श्रावकधर्म का उपदेश देकर श्राविका बना दिया। तभी से कामपताका जिनभक्त हो गई थी। मनौती के अनुसार, उसने विविध आयोजनों के साथ जिनवरेन्द्र का उत्सव मनाया

१. रूवेण आगमेण य, बुद्धीय य तत्त्व चंदणपुरम्मि।

कामपताकासरिसी, अण्णा कण्णा उ णाऽऽसी य ॥ —प्रियंगुसुन्दरीलम्प पृ. २९३

था। और, कामपताका की प्राप्ति की उपायसिद्धि के लिए युवराज चारुचन्द्र ने भी जिनेत्सव आयोजित किया था। युवराज चारुचन्द्र को कामपताका की प्राप्ति में उक्त धार्मिक सहधर्मिता ही विशिष्ट कारण हुई। राजपरिवार का एक मूल्यवान् अंग हो जाने के बाद कामपताका की माँ अनंगसेना ने राजा से सारी वस्तुस्थिति कहकर दास दुर्मुख को उसकी धृष्टता के लिए वध का दण्ड दिलवाया।

यज्ञोत्सव में रंगमंच पर कामपताका को नाचते देखकर शुककच्छेद उपाध्याय भी कामशर से आहत हो गये थे। कामपताका के विना वह प्राण तक छोड़ने को तैयार थे। उपाध्याय की प्राणरक्षा के लिए तपस्वियों के निवेदन करने पर भी राजा ने अपनी विवशता प्रकट की; क्योंकि वे कामपताका को कुमार चारुचन्द्र के जिम्मे सौंप चुके थे।

कुल मिलाकर, इस कथा-सन्दर्भ से यह स्पष्ट होता है कि वेश्याएँ गणिका-वृत्ति और धार्मिकता के अद्भुत समन्वय की कलापुत्तलिकाएँ होती थीं। समृद्ध गणिकाओं में धार्मिक कृत्यों के प्रति आग्रह का समर्थन वात्स्यायन ने भी किया है। अनंगसेना जैसी गणिका का चरित्र तो अद्भुत है कि एक ओर वह श्राविका है, दूसरी ओर दुर्मुख को क्षमादान न दिलवाकर अपनी प्रतिक्रिया की तृप्ति के लिए वध का दण्ड दिलवाती है। इस प्रकार, **संघदासगणी** ने इस बात की ओर संकेत किया है कि गणिकाएँ यौनदृष्टि से कभी विश्वसनीय नहीं होतीं। उनकी धार्मिकता भी प्रायः स्वार्थ की पूर्ति का आवरण बनती है। किन्तु, उनकी कलावर्चस्विता के समक्ष **संघदासगणी** नतमस्तक हैं, साथ ही वह जिनमहिमा की अमोघता भी सिद्ध करना चाहते हैं, और फिर, कथारस का विघात न हो, इसके लिए कथा का रोमान्टिक आस्वाद भी बनाये रखना चाहते हैं। उनका कथाकार कथा के माध्यम से प्रवृत्तिमार्ग को निवृत्तिमार्ग से जोड़ना चाहता है, इसलिए प्रवृत्ति के मूल रसों का उद्भावन वह समीचीनता और आनुक्रमिकता के साथ करते हुए निवृत्तिमार्ग (क्षायोपशम) तक पहुँचते हैं। यही उनके कथाकार की कथा-प्रक्रिया का ध्यातव्य वैशिष्ट्य है।

पूर्वभव का ज्ञान रखनेवाली शास्त्रज्ञ गणिका ललितश्री (जो बाद में वसुदेव की स्वामिनी बनी) का परिचय देते हुए परिव्राजक सुमित्र ने, भिक्षुक-धर्म (स्त्री की प्रशंसा न करना) के विरुद्ध, बात स्वयं वसुदेव से कही है (ललितश्रीलम्भ : पृ. ३६१-३६२) : “ललितश्री (या सोमयशा) नाम की एक गणिकापुत्री है। वह सर्वांगतः प्रशंस्य कन्यालक्षणों से युक्त है। उसकी मृदुल, मित और मधुर वाणी श्रवण और मन को हर लेती है। अपनी ललित गति से वह हंस का अनुसरण करती है, वह कुलवधू के वेश में रहती है और शास्त्रीय बातों में सुन्दर और तीखी युक्ति उपस्थित करनेवाली होने के साथ ही वह लोकसेविका भी है। शास्त्रकार कहते हैं कि वह रानी होने के योग्य है।” किन्तु, यह सब कुछ होते हुए उस यौवनवती कलाविदुषी (“**जोव्वणवती कलासु य सकण्णा**”; तत्रैव, पृ. ३६२) को पुरुष से द्वेष हो गया था।

पुरुषद्वेष के कारण के स्पष्टीकरण के लिए ललितश्री ने अपने पूर्वभव की कथा सुमित्र परिव्राजक से कह सुनाई थी, जिसे उसने पहले किसी योगी या गुरु से भी नहीं कही थी। पिछले जन्म में वह मृगी थी। वह सोने की पीठवाले (कणयपट्ट : कनकपृष्ठ) मृग की प्रिया थी। एक बार व्याधों ने मृगयूथ पर आक्रमण कर दिया। कनकपृष्ठ मृग उस मृगी को छोड़कर भाग गया। निर्दय व्याधों ने गर्भ-भरा लसा मृगी को पकड़ लिया और तीर से बेधकर मार डाला। उसके बाद उसने ललितश्री के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण किया। बचपन में राजा के आँगन में खेलते समय,

मृगशावक को देखकर उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। तब उसके मन में यह बात आई कि ओह ! बलवान् पुरुष कपटी और अकृतज्ञ होते हैं। तभी तो मृग ने मुझे पहले प्रलोभन दिया, बाद में व्याधों से घिरे जंगल में छोड़कर चला गया। उसी समय से वह पुरुष से द्वेष करने लगी। अन्त में, वसुदेव ने चीवर-चित्र द्वारा उसके हृदय को परिवर्तित कर उसे पुरुषप्रेमी बना दिया।

इस प्रकार, संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में गणिकाओं के माध्यम से ललितकला के अनेक आयामों का प्रस्तवन किया है और इसी व्याज से उन्होंने पूरा गणिकाशास्त्र ही उपस्थापित कर दिया है, जिसमें गणिका के मनोवैज्ञानिक भावों के साथ ही उसके शुभाशुभ पक्षों पर भी विशदतापूर्वक प्रामाणिकता के साथ प्रकाश-निक्षेप किया है। आधुनिक युग में भी कलाचार्या गणिकाओं की अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। 'हिन्दी-साहित्य और बिहार' ग्रन्थमाला के प्रथितयशा सम्पादक तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के आद्य निदेशक, प्रसिद्ध हिन्दी-महारथी **पुण्यश्लोक आचार्य शिवपूजन सहाय**, जो हिन्दी-कविता में छायावाद के प्रवर्तक काशीवासी **महाकवि जयशंकर 'प्रसाद'** की साहित्य-गोष्ठी की विभूति थे, काशी की दो कला-पण्डिता गणिकाओं, 'विद्याधरी' और 'जवाहरी' की चर्चा प्रसंगवश किया करते थे। **विद्याधरी** अद्वितीय संगीत-सुन्दरी थी और **जवाहरी** संस्कृत में गीतिकाव्य के प्रवर्तक **कवि जयदेव** के 'गीतगोविन्द' के कोमलकान्त संस्कृत-पदों की राग-रागिनियों में आबद्ध करके संगीतमुखर बनाने की कला में बेजोड़ थी।

भरत के अनुसार (नाट्यशास्त्र, ३५.६०-६२), गणिका का पद काफी ऊँचा होता था। उसमें लीला, हाव-भाव, सत्य, विनय और माधुर्य का अपूर्व सम्मिश्रण होता था। चौंसठ कलाओं में उसकी प्रवृत्ति होती थी। वह राजोपचार में कुशल होती थी तथा स्त्रीसुलभ दोष भी उसमें होते थे। वह मृदुभाषिणी, चतुर और परिश्रमी होती थी। **संघदासगणी** ने यथाशास्त्र गोष्ठी, राजमहल और वेश्यालय (वेश) में रहनेवाली विभिन्न प्रकार की गणिकाओं के भव्य और उद्दाम चित्र अंकित किये हैं। कहना न होगा कि आचार्य संघदासगणी ने गणिका-जीवन के कलाभ्युदय, मनोविनोद और शृंगार-चेष्टाओं की ज्वलन्त छवि देश-काल-पात्रोचित सटीक शब्दावली में रूपायित की है।

नृत्य-नाट्य

संघदासगणी ने गणिकाओं की नृत्यकला के अतिरिक्त, गणिकेतर सुन्दरियों की रमणीय नृत्यविधि का भी उल्लेख किया है। तीसरे गन्धर्वदत्तालम्भ (पृ. १५५) में उन्होंने रूपवती मातंगदारिका के हृदयहारी नृत्य का अंकन किया है। मातंगदारिका रंग में सजल मेघ की तरह सौवली थी और रूप में भूषण से अलंकृत होने के कारण, तारों से जगमगाती रजनी की तरह लगती थी। उसे सौम्यरूपवाली और अनेक मातंगदारिकाओं ने घेर रखा था ("दिङ्मा य मया कण्ठा कालिगा मायंगी जलदागमसम्मुच्छ्रिया ध्रुव मेघरासी, भूषणपहानुरंजियसरीरा सणक्खत्ता विय सव्वरी, मायंगदारियाहिं सोमरूवाहिं परिविया।")

चम्पापुरी के 'सुरवन' के निकट पुराकालीन महासरोवर के तट पर, नृत्योपहार से महासरोवर की सेवा के निमित्त, सखियों के आग्रह से, वह मातंगदारिका नृत्य करने के लिए उठ खड़ी हुई और अपनी दन्तकान्ति को चाँदनी की तरह छिटकाती हुई, कुसुमित अशोकवृक्ष से लिपटी और मन्द-मन्द हवा से कम्पित लता की भाँति नाचने लगी। भ्रमरी की तरह बैठी हुई उसकी सखियाँ

श्रुतिमधुर गीत गाने लगीं। चाण्डालकन्या नृत्य के क्रम में जब अपनी उज्ज्वल आँखों का संचार करती, तब दिशाएँ जैसे कुमुदमय हो जातीं। रक्ततल हाथों की भंगिमा तो साक्षात् कमलपुष्प की कान्ति बिखेरती और जब वह क्रम से अपने पैरों को उठाकर नाचती, तब उत्तम सारस की भाँति उसकी शोभा मोहक हो उठती।

वसुदेव मातंगकन्या का शास्त्रीय पद्धति के अनुकूल ('समयं अमुंचमाणी') नृत्यशिक्षा का प्रदर्शन देखकर इतना मुग्ध हुए कि बगल में बैठी अपनी कलाविदुषी नवविवाहिता गन्धर्वदत्ता को भूल गये। बीच में उसने उनसे कुछ पूछा, तो नृत्यगीत के शब्द-झंकार में उन्होंने कुछ सुना ही नहीं। यह मातंगकन्या नीलयशा थी, जो आगे चलकर वसुदेव की चौथी पत्नी बनी।

संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' के 'पीठिका'-प्रकरण (पृ. १०१) में, रत्नकरण्डक उद्यान में, गणिकापुत्रियाँ सुहिरण्या और हिरण्या के नृत्य-प्रदर्शन के प्रसंग में बत्तीस प्रकार के नृत्यों का संकेत किया है। इस नृत्य-प्रदर्शन में कृष्णपुत्र शाम्ब प्रधान मध्यस्थ थे। सभी लोग उद्यान में गये। नृत्यसभा में नृत्यविशेषज्ञ अपने-अपने आसनों पर बैठे। वहाँ पहले हिरण्या ने प्रदर्शन-योग्य सभी नृत्यविधियाँ प्रस्तुत कीं। इनमें एक विशिष्ट नृत्य था— 'नालिकागलकनृत्य'। नालिका-विशेष से पानी चूने तक की अवधि के भीतर यह नृत्य सम्पन्न किया जाता था। हिरण्या के नृत्य की समाप्ति के बाद नालिका में फिर से पानी भर दिया गया और तब सुहिरण्या ने नृत्य का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। उसने विधिपूर्वक बत्तीस प्रकार के नृत्य दिखलाये। उसके बाद नृत्याचार्य ने नालिका के अवशिष्ट जल से सुहिरण्या को स्नान कराया। कुमार शाम्ब ने अभिषेक की गई लक्ष्मी की तरह सुशोभित सुहिरण्या को देखा। रति ने जिस प्रकार काम को देखा था, ठीक उसी प्रकार सुहिरण्या ने भी शाम्ब को सादर देखा।

संघदासगणी ने लिखा है कि इस नृत्य को देखने के लिए इतनी भीड़ उमड़ी थी कि दर्शकों को आपस में धक्के खाने पड़ते थे। तभी तो जयसेन के कहने पर बुद्धिसेन खिसक कर उसके पास चला आया था; क्योंकि अपनी पहली जगह पर उसे दर्शक धकिया रहे थे। ("एए ममं पेच्छगा पेल्लंति")।

भारतीय कला-चिन्तन में नृत्यकला के अन्तर्गत अभिनय (नाट्य) का अत्यन्त शास्त्रीय विश्लेषण किया गया है। सामान्य अभिनय के चार अंग माने गये हैं: आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। इतना ही नहीं, इनके कुछ अंगों के अवान्तर भेद भी प्रस्तुत किये गये हैं। संघदासगणी ने भी नृत्य, वाद्य, संगीत और अभिनय से संवलित नाटकों की चर्चा की है। वसुदेव जब प्रियंगुसुन्दरी के घर में अपना प्रवासी जीवन बिता रहे थे, तभी बहुरूप नाम का नट अपने परिवार के साथ आया और वसुदेव के आवासीय प्रांगण में पुरुहूत और वासव से सम्बद्ध परदार-धर्षण-विषयक नाटक का प्रदर्शन करने लगा (प्रियंगुसुन्दरीलम्पः पृ. २९०)। पुरुहूत और वासव के सम्बद्ध उक्त नाटक में परस्त्री-संग के दोष से वासव की मृत्यु का प्रदर्शन किया गया था। संक्षेप में, कथा यह है कि वैताद्वयपर्वत की दक्षिणश्रेणी-स्थित रत्नसंचयपुर में इन्द्रकेतु नामक विद्याधरनरेश के दो पुत्र थे— पुरुहूत और वासव। वासव स्त्री-लोलुप था। वह गौतम ऋषि के परोक्ष में उनकी पत्नी (विष्ठाश्रव और मेनका की पुत्री) अहल्या के साथ सम्भोग करता। एक बार जब वह सम्भोगरत था, तभी गौतम ऋषि फल-फूल और समिधा लेकर वापस आये।

महर्षि को देखकर वासव डर गया और उसने बैल का रूप धारण कर लिया। किन्तु, गौतम ऋषि उस बात को जान गये और परस्त्री-गमनदोष के कारण उन्होंने उसे (वासव को) मार डाला।

प्रस्तुत कथा ब्राह्मण-परम्परा में प्रसिद्ध गौतम-अहल्या की पौराणिक कथा का जैन रूपान्तर है। इस परम्परा में अहिंसा-सिद्धान्त के विपरीत गौतम ऋषि ने वासव की हत्या कर डाली है, जबकि ब्राह्मण-परम्परा में गौतम ने अहल्या और इन्द्र को अभिशाप दिया था, जिससे इन्द्र का शरीर सहस्रभग (एक हजार योनियों से अंकित, परन्तु शापान्त होने पर सहस्राक्ष : योनियों की जगह एक हजार आँखोंवाला) हो गया था और अहल्या पाषाणी हो गई थी। बहुरूप नट द्वारा प्रस्तुत उक्त नाटक दुःखान्त है। इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्राचीन भारतीय नाटकों में पाश्चात्य नाटकों की भाँति वध, युद्ध, विवाह आदि के प्रदर्शन वर्जित हैं। कथाकार के परवर्ती साहित्याचार्य विश्वनाथ महापात्र ने भी वध, युद्ध, विवाह राज्यविप्लव, मृत्यु, रतिक्रिया आदि दृश्यों को नाटक के प्रदर्शन में निषिद्ध माना है।^१ साथ ही, पूर्ववर्ती आचार्य भरतमुनि ने भी स्पष्ट लिखा है कि “न वधस्तस्य स्याद्यत्र तु नायकः ख्यातः।”^२ इसलिए, शास्त्रीय भाषा में दुःखान्त नाटक (ट्रेजेडी : त्रासदी) का जो अर्थ है, उसके अनुरूप किसी भी नाटक का अस्तित्व प्राच्यभाषा, विशेष कर संस्कृत-भाषा में नहीं है। किन्तु, संघदासगणी ने बहुरूप नामक नाटककार के माध्यम से वसुदेव को जो नाटक दिखलवाया है, उसमें रतिक्रीडा और वध को भी प्रदर्शित किया गया है। इसलिए, प्राकृत-कथाकार आचार्य संघदासगणी की यह मूर्तिभञ्जक या रूढि-समुत्पाटक रूप अद्भुत तो है ही, विचारणीय भी है।

इसी प्रकार, वसुदेव जब अपनी भावी विद्याधरी पत्नी प्रभावती के घर में थे, तब उन्हें भोजन कराया गया था। भोजन के ललितकलोचित वर्णन में कथाकार ने कहा है कि भोजनद्रव्य चतुर चित्रकार के चित्रकर्म की भाँति मनोहर था; संगीतशास्त्र (‘गन्धर्वसमय’) के अनुकूल गाये गये गीत के समान उसमें विविध वर्ण थे; बहुश्रुत कवि द्वारा रचित ‘प्रकरण’ (नाटकभेद) के समान उसमें अनेक रस थे; प्रियजन की सम्मुख दृष्टि की भाँति वह स्निग्ध था; सर्वौषधि के समान एवं विविध गन्धद्रव्यों को मिलाकर तैयार किये गये सुगन्धद्रव्य (गन्धजुति = गन्धयुक्ति) की भाँति वह सौरभयुक्त था, साथ ही जिनेन्द्र-वचन के समान हितकारी भी था। भोजन करने के बाद जब वसुदेव शान्त हुए, तब उन्होंने ताम्बूल ग्रहण किया। उसके बाद उन्हें नाटक दिखलाया गया (प्रभावतीलम्भः पृ. ३५२)।

इस कथा-सन्दर्भ से यह ज्ञात होता है कि उस युग में गन्धयुक्ति, ताम्बूल और नाटक का पर्याप्त प्रचार था। मगध-जनपद के अचलग्राम के धरणिजड नामक ब्राह्मण की दासी कपिलिका का पुत्र कपिल नाटक देखने का बड़ा शौकीन था। एक बार वह नाटक (प्रेक्षणक : प्रा. पिच्छणय) देखने गया, तभी वर्षा होने लगी और वह भीगता हुआ घर वापस आया (केतुमतीलम्भः पृ. ३२०)। नाटक के प्रति आकर्षण का एक कारण यह भी है कि वह भिन्नरुचि जनों को एक साथ मनोरंजित करने की क्षमता रखता है। कालिदास ने ‘मालविकाग्निमित्र’ में कहा भी है :

१. साहित्यदर्पण, ६.१६-१७.

२. नाट्यशास्त्र, २०. २२.

“नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् (१.४)।” संघदासगणी ने भी नृत्यनाट्य को ‘पर-परितोषनिमित्तक’ कहा है।^१

उस युग में नाटक-पात्रियाँ भी अनेक थीं। बन्धुमती के अभ्यन्तरोपस्थान (दरबार-ए-खास) में रहनेवाली कामपताका आदि आठ नाटकीय नर्तकियों (नाडइज्जा) के नामों का उल्लेख संघदासगणी ने किया है (प्रियंगुसुन्दरीलम्भः पृ. २८१)। आचार्य भरत के अनुसार भी नाटकीय नर्तकियाँ चतुर, नाट्यकुशल, ऊहापोहविचक्षण और रूपयौवनसम्पन्न होती थीं।^२ आचार्य भरत ने कहा है कि नाट्य में गीत और वाद्य का योग होने पर उसका कभी विनाश नहीं होता। अर्थात् नाट्य की शाश्वती प्रतिष्ठा के लिए उसमें गीत और वाद्य का समन्वय अनिवार्य है। भरत ने वाद्य को तो ‘नाट्य की शय्या’ ही कहा है।^३ संघदासगणी ने भरत के इस नाट्यसिद्धान्त का समर्थन करते हुए ही मानों नाट्य में गीत के समावेश का उल्लेख किया है। कथा है कि अपराजित और अनन्तवीर्य नाम के विद्याधर सुखासन पर बैठकर बर्बरी और चिलातिका नाम की उत्तम नर्तकी दासियों द्वारा प्रस्तुत नाट्य और गीत (नाट्य-संगीत) का आनन्द लेते थे (केतुमतीलम्भः पृ. ३२५)। देवांगनाओं या विद्याधरियों द्वारा नाट्योपहार या नृत्योपहार (ण्डोवहारेण) द्वारा अवधिज्ञानी मुनियों की पूजा-आराधना की जाती थी। अम्बरतिलक पर्वत पर मनोरम उद्यान में जब आचार्य युगन्धर गणसहित पधारे थे, तब विद्याधरी निर्नामिका ने गुरु की तीन प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना की थी और अपना नाम-निवेदन करके नाट्य-नृत्योपहार से उनका पूजोत्सव किया था (नीलयशालम्भः पृ. १७३)। वस्तुतः, नाट्य और नृत्य में प्राचीन कलाशास्त्रियों की अभेद-भावना रही है। नृत्य वस्तुतः नाट्य (अभिनय) का ही अनिवार्य अंग था। इसीलिए, आचार्य भरत ने नृत्य को नाट्यधर्मा कहा है।^४ तदनुसार, संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त प्राकृत ‘ण्डोवहार’ शब्द से नृत्योपहार और नाट्योपहार दोनों का संकेत होता है। यों, नृत्य और नाट्य, दोनों ही अंगाभिनय-प्रधान होते हैं। ‘ण्डोवहार’ शब्द नृत्योपहार को भी संकेतित करता है।

भरत ने नृत्य के अर्थ में ‘नृत्त’ का ही प्रयोग किया है। हालाँकि, कोशकारों ने थोड़ी शब्दशास्त्रीय गहराई में जाकर ‘नृत्य’ और ‘नृत्त’ का भेद करते हुए बताया है कि ‘नृत्य’ ताललयाश्रित होता है और ‘नृत्त’ भावाश्रित। श्रीवामन शिवराम आटे ने नाट्य के तीन अर्थ किये हैं: नृत्यकला, अभिनय-कला और नाट्यकला। ‘नृत्त’ नाट्य के अधिक समीपी है; क्योंकि उसमें भावपूर्ण या भावाश्रित अंगविक्षेप या अंगाभिनय की प्रधानता रहती है और नृत्य में ताल, लय और रस के आश्रित अंगविक्षेप को प्रमुखता दी जाती है। संघदासगणी ने ‘णट्ट’ का प्रयोग भरत की परम्परा

१. (क) णट्टः “जो य इत्थी पुरिसो वा पहुणोपरिओसनिमित्तं निजोजिठ धणवइणो वा विउसजणनिबद्धं

विहिमणुसरतो जे पाद-सिर-नयण-कंधरादि संचालेह...।” (नीलयशालम्भः पृ. १६७)

(ख) “जोय परपरिओस-निमित्तं रंगयो नेवत्थिओ सुमहंतं पि भारं वहेज्ज...।” (तत्रैव)

२. चतुरा नाट्यकुशलाश्चोहापोहविचक्षणाः।

रूपयौवनसम्पन्ना नाटकीयाश्च नर्तकी ॥ - नाट्यशास्त्र, ३४.४२

३. वाद्येषु यत्नः प्रथमं तु कार्यः शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति चाद्यम्।

वाद्येऽपि गीतेऽपि च सम्प्रयुक्ते नाट्यस्य योगो न विनाशमेति ॥ —नाट्य, ३३.२७०

४. ललितैरङ्गविन्यासैस्तथोत्थिपदक्रमैः।

नृत्यते गम्यते यच्च नाट्यधर्मी तु सा स्मृता ॥ नाट्यशास्त्र, १५.७७

के अनुसार, नाट्य के समीपी 'नृत' के अर्थ में ही किया है, ऐसा अनुमान साधार और प्रसंगोपात्त है।

संघदासगणी ने नाट्य के सन्दर्भ में ही व्यायामिका कला का उल्लेख किया है। वसुदेव ने अपनी पत्नी पद्मा के साथ ललित रम्यकलाओं और साले अंशुमान् (कपिला नाम की पत्नी का भाई) के साथ व्यायामिका कला को आयत्त करते हुए सुखपूर्वक समय बिताया था। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में नृत में प्रयुक्त होनेवाली चारी को व्यायाम कहा है। पैर, जाँघ, ऊरु (घुटने और टखने के बीच का भाग) और कमर के समान करण (अंगभिनय) की चेष्टा को 'चारी' कहते हैं (११.१)। चारियों में अंगों का परस्पर व्यायाम या विस्तारीकरण होता है, इसलिए उन्हें 'व्यायाम' कहा गया है (११.२)। इसका प्रयोग नृत, युद्ध और चलने की क्रिया में होता है। शस्त्र-संचालन आदि में भी चारियों का प्रयोग होता है।^१ नाट्य में युद्धाभिनय के समय 'चारी-व्यायाम' का प्रदर्शन किया जाता है, इसलिए भरत ने इसे नाट्याभिनय में परिगणित किया है। यद्यपि, वस्तुतः यह मल्लविद्या या युद्धविद्या से सम्बन्ध रखता है। नाट्य में सफल चारियों का प्रयोग वही नर्तकी कर सकती है, जो व्यायामिका कला में निष्णात होती है।

संगीत :

'वसुदेवहिण्डी' से इस बात की सूचना मिलती है कि जिनपूजा के अवसर पर, राजोचित ढंग से संगीत का आयोजन किया जाता था, जिसमें विभिन्न वाद्यों के अलावा वीणा की प्रधानता रहती थी। पुण्ड्रालम्ब की कथा (पृ. २१२) है कि वसुदेव ने अष्टाहिक (आठ दिनों का) जिनोत्सव मनाया। उस उत्सव में सभी कलाकुशल व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया। नगर के गोष्ठिक जन भी पधारे। उसके बाद मित्रसहित वीणादत्त के साथ वसुदेव भी जिन-जागरणोत्सव में उपस्थित हुए। वहाँ नागरजन संगीत-गान और वाद्य-वादन करते हुए अपनी संगीत-कला का प्रदर्शन कर रहे थे। उस संगीत-सभा में कूर्पासक (सूती वस्त्र की कमीज) से आवृत देवकुमार के समान मनोहरशरीर राजा बैठा था। सभा में उपस्थित वसुदेव के साले अंशुमान्^२ ने अपनी आर्थिका फूँका के प्रति अतिशय आदर-भावना के कारण वीणादत्त के गीत को अपने स्वर से ततोऽधिक विशिष्ट बना दिया। राजा के सान्निध्य में गाने का क्रम आने पर वीणादत्त ने वसुदेव से कहा : "आर्यज्येष्ठ ! राजा के लिए प्रस्तुत किये जानेवाले संगीत में आप कृपया वीणा बजायें या गान करें।" वसुदेव ने 'जिनपूजा' मानकर वीणादत्त का आग्रह स्वीकार कर लिया और श्रुतिमधुर गीत प्रस्तुत किया। इस क्रम में वसुदेव ने 'नागराग' और 'किन्नरगीतक' का प्रयोग किया। संघदासगणी के 'नागराग' की तुलना बुधस्वामी की 'नागमूर्च्छना' से की जा सकती है :

१. चारिभिः प्रस्तुतं नृतं चारिभिश्चेष्टितं तथा।

चारिभिः शस्त्रमोक्षश्च चार्योयुद्धे च कीर्तिताः ॥ - नाट्यशास्त्र, ११. १५

२. 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में नरवाहनदत्त के प्रति गोमुख ने जो भूमिका निभाही है, 'वसुदेवहिण्डी' में वसुदेव के प्रति अंशुमान् की भी वही भूमिका रही है। नाम और सम्बन्ध की भिन्नता के अतिरिक्त, दोनों यन्त्रों की कथाओं में गोमुख और अंशुमान् की चारित्रिक भूमिकाएँ प्रायः अभिन्न हैं।

यदि च ग्राहयेत्किञ्चित्त्वां नागाधिपतिस्ततः ।

सनागमूर्च्छना ग्राह्या वीणा घोषवती त्वया ॥

(बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, ५.१४०)

उपर्युक्त सन्दर्भ से कथाकार संघदासगणी की भारतीय संगीतशास्त्र में गहरी पैठ का सहज ही अनुमान होता है। यहाँ ज्ञातव्य है कि कला की संख्या की भाँति प्राचीन भारतीय संगीत की राग-रागिनियों की संख्या भी अनिश्चित है। हालाँकि, भारतीय संगीतशास्त्र में छह प्रसिद्ध राग तथा छतीस रागिनियों को ही प्रातिनिधिक महत्त्व प्राप्त है। छह प्रमुख रागों (भैरव, श्री, मालकोश, दीपक, मेघ और हिण्डोल) के नामों में भी भिन्नता मिलती है। पौराणिक कथा है कि रागों की उत्पत्ति शिव और पार्वती के संयोग से हुई है। महादेव के पाँच मुख से पाँच और पार्वती के एक मुख से एक—इस प्रकार कुल छह रागों का आविर्भाव हुआ है। महादेव के सद्योजात मुख से श्रीराग, वामदेव मुख से वसन्त राग, अधोरमुख से भैरव राग, तत्पुरुष मुख से पंचम राग तथा ईशानमुख से मेघराग एवं पार्वती के मुख से नटनारायण राग उत्पन्न माने जाते हैं।^१

संघदासगणी द्वारा चर्चित नागराग और किन्नरगीत का उल्लेख उनके पूर्ववर्ती भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता है और परवर्ती संगीतशास्त्रियों ने भी नागराग या किन्नरगीत की चर्चा नहीं की है। ऐसी स्थिति में संघदासगणी का एतद्विषयक आधारस्रोत का ठीक अनुमान सम्भव नहीं है और यह संगीताचार्यों के लिए महत्त्वपूर्ण विवेचनीय विषय है। फिर भी, इतना कहा जा सकता है कि भरत-प्रोक्त राग (अंश के प्रसंग में उल्लिखित^२) जातियों^३ के अत्यन्त मनोहर संघटित रूप को कहते हैं। सिंह (शिंश) भूपाल ने भी कहा है : “जातिसम्भूतवाद रागाणाम्।”^४ राग का विशेष गुण यह है कि यह असाधारण रूप से आकर्षक होता है तथा इसमें शब्दों द्वारा अनिवर्चनीय आनन्द देने की शक्ति निहित रहती है (‘रज्यते यस्मात्स रागः’ या ‘रज्यति यः स रागः’)। दूसरे शब्दों में, राग जातियों के रमणीक संघटन से उत्पन्न आनन्द का अनुभव है। संघदासगणीप्रोक्त नागराग, अनुमानतः नागजाति (गन्धर्वजाति के समकक्ष नागराज धरण) के मुख से उत्पन्न आनन्ददायक राग-विशेष से सम्बद्ध कोई अपूर्व राग रहा होगा और किन्नरगीत स्पष्ट ही किन्नरों द्वारा गाई जानेवाली विशिष्ट गीतविधा होगी। यों, संघदासगणी ने गीत की जो परिभाषा प्रस्तुत की है, उसमें नृत्य और नाट्य का भी समावेश हो जाता है। और इस प्रकार, वह ‘गीतं नृत्यं तथा वाद्यं त्रयं सङ्गीतमुच्यते’ का समर्थक जान पड़ते हैं। उन्होंने लिखा है कि ‘परस्पर समागम के अभिलाषी स्त्री-पुरुष, एक दूसरे के क्रुद्ध होने पर, प्रसन्न करने के निमित्त कुशल व्यक्तियों के चिन्तन से प्रसूत तथा विविध जातियों (प्रकारों) में निबद्ध शरीर, मन और वचन की जिस क्रिया का प्रयोग

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : कलाविवेचन (पूर्ववत्), पृ. १०४

२. स्वरसाधारणगतास्तिस्रो ज्ञेयास्तु जातयः ।

मध्यमा पञ्चमी चैवा षड्जमध्या तयैव च ॥

ग्रहस्तुसवजातीनामंश एव हि कीर्तितः ।

यस्मिन्वसति रागस्तु यस्माच्चैव प्रवर्तते ॥ नाट्यशास्त्र, २८.३६, ७१, ७२

३.४. ‘स्वतन्त्र कलाशास्त्र’ (तदेव) : डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पृ. ५५१-५५२

करते हैं, वह 'गीत' कहलाता है।^१ गीत की प्रस्तुत परिभाषा में शरीर-क्रिया का उल्लेख नृत्य-नाट्य का ही संकेतक है।

उक्त किन्नरगीत के अलावा, संघदासगणी ने 'ध्रुवगीति' और 'विष्णुगीत' का भी उल्लेख किया है। 'वसुदेवहिण्डी' में कथा है कि नमुचि पुरोहित के कहने पर, विष्णुकुमार ने तीन पग भूमि नापने के पूर्व ध्रुवा पढ़ी, उसके बाद उनका दिव्य शरीर क्रमशः बढ़कर विशाल होता चला गया ('तेषां ध्रुओ पट्टिओ, खणेण य दिव्यरूपो संवुत्तो' : गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३०)। नाट्य में प्रयुक्त ध्रुवागीति का तात्पर्य ध्रुवपद या ध्रुवपदगान से भी सम्भव है। हालाँकि, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसे भ्रान्त कहा है।^२ किन्तु, कल्हिनानाथ-कृत 'संगीतरत्नाकर' के आधार पर आचार्य कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पति ने ध्रुव-प्रबन्ध में नियोजित पद को ही 'ध्रुवपद' कहा है।^३ इसीलिए, कदाचित् संघदासगणी ने 'ध्रुव' (प्रा. ध्रुओ) का उल्लेख किया है।

डॉ. राघवन् के अनुसार, ध्रुवा एक विशेष प्रकार की गीति या सांगीतिक संघटन थी। ध्रुवागीतियाँ प्रायः प्राकृत-भाषा में होती थीं। इसके पाँच भेद थे : प्रावेशिकी, नैष्कामिकी, आक्षेपिकी, आन्तरा और प्रासादिकी। आन्तरा ध्रुवागीति विषण्णता, विस्मृति, क्रोध, सुप्तावस्था, मत्तावस्था, ह्रत भाव की अभिव्यक्ति, गम्भीर भार का अवसाद, मूर्च्छा, पतन और दोष-प्रच्छादनकाल में गाई जाती थी।^४ भरत मुनि ने ध्रुवागीति के सम्बन्ध में अपने 'नाट्यशास्त्र' में विस्तार से विचार किया है। भरत के ध्रुवागीति-विषयक यथाविवेचित भेद के अनुसार, यह स्पष्ट है कि विष्णुकुमार ने 'आन्तरा'-संज्ञक ध्रुवागीति पढ़ी थी; क्योंकि उसका वह क्रोधकाल था (ततो रोसवसपञ्जलिओ मिण्डिकामो विडव्ययसरीरो पवड्डिओ, उक्खित्तो य च्चलणो; तत्रैव : पृ. १२९)।

संघदासगणी द्वारा चर्चित 'विष्णुगीत' उनकी स्वतन्त्र सांगीतिक उद्भावना है। इस सन्दर्भ में उन्होंने एक रोचक कथा की अवतारणा की है। (इस कथा का विवरणोल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ के 'मिथक'-प्रकरण में द्रष्टव्य है)। इस विष्णुगीत के प्रवर्तक संगीतशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य तुम्बुरु और नारद थे। इसे तुम्बुरु और नारद के अतिरिक्त हाहा, हूहू और विश्वावसु जैसे इन्द्रसभा के सुविख्यात संगीतज्ञों ने तिलोत्तमा, रम्भा, मेनका और उर्वशी जैसी देवलोका की प्रख्यात अप्सराओं के नृत्य के साथ विष्णु की प्रसन्नता के लिए गाया था। इस विष्णुगीत में सप्तस्वरतन्त्री (सात तारोंवाली वीणा) जैसे ततवाद्य का प्रयोग किया गया था। इसे सप्तस्वरतन्त्री से निस्सृत गान्धारग्राम में गाया गया था। यह विष्णुगीत नारद और तुम्बुरु से मर्त्यवासी विद्याधरों को प्राप्त हुआ था। नारद और तुम्बुरु गन्धर्व जाति के देव-विशेष थे, इसलिए इनसे उत्पन्न होने कारण संगीत की अपर संज्ञा 'गान्धर्व' भी है। भरत ने भी 'नाट्यशास्त्र' में इसका समर्थन किया है।^५

१. "तदेव इत्थी पुरिसो वा अण्णोणसमागमाहिलासी कुवियपसायणनिमित्ते जातो कायमण-वाइगीओ किरियाओ पडंजियाओ कुसलजणचितियाओ विविहजाइनिबद्धाओ गीयं" ति वुच्चइ।" (नीलयशालम्भ : पृ. १६६)

२. 'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृ. १९ तथा २२४ (शुद्धिपत्र)

३. 'ध्रुवपद और उसका विकास', प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, अ. १, पृ. ३८

४. द्र. 'परिषद्-पत्रिका', वर्ष १, अंक ४ (जनवरी, १९६२ ई.), पृ. ४४

५. नाट्यशास्त्र, ३२ . ३३९-३४०

६. अत्यर्थमिष्टं देवानां तथा प्रीतिकरं पुनः।

भरत के अनुसार, सप्तस्वरतन्त्री वीणा का नाम चित्रा था ('सप्ततन्त्री भवेच्चित्रा', ना. शा.: २९.११४) और इसे केवल अंगुलियों से बजाया जाता था ('चित्रा चाङ्गुलिवादना': उपरिवत्)। स्पष्ट है कि विष्णुगीत में चित्रा वीणा का प्रयोग किया गया था। इसी क्रम में ज्ञातव्य है कि चम्पानगरी में संगीताचार्य सुग्रीव ने संगीतशिक्षा के क्रम में, वसुदेव से पहले तुम्बुरु और नारद की पूजा कराई। उसके बाद उन्हें जो वीणा, सीखने के लिए दी गई, उसके साथ चन्दनकाष्ठ से निर्मित कोण (वीणावादन-दण्ड: आधुनिक यथाप्रयुक्त शब्द 'मिजराव') भी दिया गया था: 'ततो अथिया मे वीणा चन्दनकोणं च' (तत्रैव, पृ. १२७)। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में लिखा है कि विपंची वीणा कोण से बजाई जाती थी, जो नौ तारोंवाली होती थी।^१ इससे स्पष्ट है कि सुग्रीव ने संगीतशिक्षा के क्रम में वसुदेव को विपंची वीणा ही बजाने को दी थी।

संगीतशास्त्र में सात स्वरग्राम प्रसिद्ध हैं: निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पंचम। ग्रामों की भी, प्रत्येकशः, सात-सात मूर्च्छनाएँ होती हैं। सातों स्वरों के उतार-चढ़ाव को मूर्च्छना कहते हैं और प्रत्येक राग का स्वतन्त्र मूर्च्छनाचक्र होता है। पुनः मूर्च्छनाओं में प्रत्येक के तीन भेद माने गये हैं: अन्तर-गान्धार, काकली-निषाद और गान्धार-काकली-निषाद। इस प्रकार, गान्धार ग्राम की भी सात मूर्च्छनाएँ होती हैं: नन्दा, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रावनी, सुखा और आलापा। रागों की उत्पत्ति में ग्राम और मूर्च्छना का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि, संगीत के महत्त्वपूर्ण आधार श्रुति से ही स्वर, स्वरों से ग्राम, ग्रामों से मूर्च्छना, मूर्च्छना से जाति और जाति से रागों की उत्पत्ति होती है।^२ स्वरग्राम या सरगम की दृष्टि से गान्धार का स्वरसंकेत 'ग' है और संगीतज्ञों ने इसे कोमल स्वर माना है। इसीलिए, कोमल स्वर की प्रमुखता के कारण विष्णुकुमार की क्रोधशान्ति के लिए विष्णुगीत में गान्धारग्राम का प्रयोग नारद और तुम्बुरु ने किया था। इससे संघदासगणी के संगीत की समयज्ञता में ततोऽधिक नैपुण्य की सूचना मिलती है।

इसी सुकुमार विष्णुगीत^३ को वसुदेव ने गन्धर्वदत्ता के साथ गान्धार-ग्राम और उसकी मूर्च्छना तथा त्रिस्थान और करण से शुद्ध एवं ताल और लयग्रह की समता के साथ गाया था एवं सप्तस्वरतन्त्री नाम की उत्तम वीणा पर उसे बजाया भी था। तभी तो गीत की समाप्ति पर नागरों ने घोषणा की थी "ओह ! (गीत-वाद्य) की समता (मेल) और सुकुमारता के साथ बजाया और गाया गया" (अहो ! समं सुकुमालं च वाङ्मयं गीयं च त्ति।) ब्रह्मा के पुत्र भरत मुनि ने ध्रुवा के सन्दर्भ में ही स्थान (स्थिति), करण (नृत्यगतिविशेष या अंगहार = अंगाभिनय), ताल और लय का विशद विवेचन किया है।^४ इससे यह स्पष्ट है कि विष्णुगीत भी ध्रुवागीति या ध्रुवा का ही विशिष्ट भेद था।

१. विपञ्ची नवतन्त्रिका। विपञ्ची कोणवाद्याः स्यात्। - नाट्यशास्त्र, २९.११४

२. विशेष विवरण के लिए द्र. कला-विवेचन, (पूर्ववत्) पृ. १०९

३. संघदासगणी ने विष्णुगीत की पंक्तियाँ गाथा में इस प्रकार रखी हैं :

उवसम साहुवरिद्वया। न हु कोवो वणिओ जिणिदेहि।

हुंति हु कोवमसीलया, पावंति बहूणि जाइयव्वाइ ॥गीतिका॥ (गन्धर्वदत्तालम्पः पृ. १३९)

४. द्र. नाट्यशास्त्र, अ. ३३

इस प्रकार, **संघदासगणी** ने 'वसुदेवहिण्डी' में नृत्य, नाट्य और वाद्य-संगीत के विविध तत्वों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ समाविष्ट किया है। साथ ही, उन्होंने संगीत, नृत्य और चित्रकलाओं का प्रायः समेकित रूप में ही उल्लेख किया है : "रमामि हं गंधर्वे नट्टे आलेख्ये च" (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४१)। इससे स्पष्ट है कि उस महान् कथाकार ने भारतीय ललितकलाओं का गम्भीर और समग्रात्मक अनुशीलन किया होगा, साथ ही वह वैदिक (सामवैदिक) और वैदिकोत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीतकला के शास्त्रकारों की संगीतविद्याओं के बहुश्रुत अधीती रहे होंगे। **भरतमुनि** ने नारद को वाद्य-संगीत का प्रामाणिक शास्त्रकार माना है।^१ तदनुसार, **संघदासगणी** ने भी नारद और तुम्बुरु को विष्णुगीत का आविष्कर्ता माना है और लिखा है कि उन्हीं दोनों संगीतकारों से विद्याधरों को प्राप्त संगीतशिक्षा का इस मर्त्यभूमि पर प्रचार-प्रसार हुआ।

द्यूतकला :

प्राचीन भारतीय कला-चिन्ता में द्यूतकला को भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। जैनागमोक्त बहतर कलाओं में द्यूतकला को भी परिगणित किया गया है। बौद्धग्रन्थ 'ललितविस्तर' की कलासूची में भी अक्षक्रीड़ा का उल्लेख है। **वात्स्यायन** के 'कामशास्त्र' तथा 'शुक्रनीतिसार' की कलासूचियों में भी द्यूतक्रीड़ा की गणना हुई है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में द्यूतकला का व्यापक प्रचार था। महाभारत-युद्ध का मूल कारण द्यूत ही था। महाभारतेतर प्राचीन ग्रन्थों में भी द्यूत का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। 'मृच्छकटिक' और 'चतुर्भाणी' के साक्ष्य के अनुसार यह ज्ञात होता है कि वेश्या और मद्यपान के साथ-साथ द्यूतक्रीड़ा भी उस युग के आमोद-प्रमोद का मुख्य साधन थी।

'वसुदेवहिण्डी' में भी अनेक स्थलों पर द्यूत का अद्भुत वर्णन किया गया है। 'वसुदेवहिण्डी' के चरितनायक स्वयं वसुदेव उत्तम श्रेणी के द्यूतकला-विशेषज्ञ थे। पन्द्रहवें वेगवतीलम्भ (पृ. २४७) में राजगृह की द्यूतसभा का उल्लेख है। वहाँ बड़े-बड़े धनी, अमात्य, सेठ, सार्थवाह, पुरोहित, तलवर (नगरपाल) और दण्डनायक मणि और सुवर्ण की राशियों को दाँव पर लगाकर जूआ खेलते थे। द्यूतसभा के सदस्यों ने जब वसुदेव से पूछा कि यहाँ इन्धुपुत्र अपने-अपने धन से खेलते हैं, तुम कैसे खेलोगे, तब वसुदेव ने अपनी हीरे की अंगूठी दिखाई, जिसका मूल्य वहाँ उपस्थित एक रत्नपरीक्षक ने एक लाख आँका। इस द्यूतसभा के अनुसार, एक लाख मूल्य की मणि की राशि निम्न कोटि की बाजी मानी जाती थी; बत्तीस, चालीस और पचास लाख की बाजी मध्यम कोटि की होती थी और अस्सी-नब्बे करोड़ का दाँव उत्तम कोटि का कहलाता था। पाँच सौ की बाजी तो अत्यन्त निकृष्ट कोटि की समझी जाती थी। हारने पर जुआड़ी दूनी-तिगुनी राशि दाँव पर लगाते चले जाते थे। वसुदेव लगातार जीतते ही चले गये। उन्होंने जब हिसाब करने को कहा, तब द्यूतसभा के अनुसार वसुदेव द्वारा जीती गई राशि एक करोड़ की निकली। किन्तु वसुदेव ने अपनी जीती हुई राशी को, द्यूतशाला के अधिकारी को बुलाकर, गरीबों में बाँट देने को कहा।

१. गान्धर्वमेतत् कथितं मया हि पूर्वं यदुक्तं त्विह नारदेन।

कुर्याच्च एवं मनुजः प्रयोगं सम्मानमग्रयं कुशलेषु गच्छेत् ॥

जूआघर दुष्टों और चोरों का अड्डा हुआ करता था। धम्मल्लहिण्डी की, अगडदत्त की आत्मकथा (पृ. ३९) में इस बात का उल्लेख है कि अधिकतर दुष्ट और चोर पानागार, घूतशाला, हलवाई की दूकान, पाण्डुवस्त्रधारी परिव्राजकों के मठ, रक्ताम्बरधारी भिक्षुओं के कोठे, दासीगृह, आराम, उद्यान, सभा, प्रपा (पनशाला) और शून्य देवकुल में रहते थे। 'वसुदेवहिण्डी' के 'मुख' प्रकरण (पृ. १०६) में सत्यभामापुत्र भानु और जाम्बवतीपुत्र शाम्ब के साथ घूतक्रीड़ा की विचित्र कथा आई है। पहले तो भानु के सुग्गे और शाम्ब के मैने में श्लोकपाठ की बाजी लगी, जिसकी राशि एक करोड़ थी। भानु का सुग्गा श्लोकपाठ में रुक गया और शाम्ब का मैना निरन्तर श्लोकपाठ करता रहा। इस प्रकार, शाम्ब जीत गया और शर्त में प्राप्त धन को दुर्दान्त गोष्ठिकों और दीनों-अनाथों में बाँट दिया। दूसरी बार गन्धयुक्ति में शाम्ब ने भानु की, दाँव पर लगाई गई दो करोड़ की राशि जीत ली और प्राप्त धन को प्रचण्ड बलशाली गोष्ठिकों और परिजनों में बाँट दिया। तीसरी बार शाम्ब ने भानु से उत्तम आभूषणों के प्रयोग में लगाई गई चार करोड़ की बाजी जीत ली। शाम्ब बड़ा उद्धत था। वह भानु को नाहक परेशान किया करता था। अन्त में, भाइयों के बीच की इस जूएबाजी को रोकने के लिए स्वयं कृष्ण को हस्तक्षेप करना पड़ा। इस घूत-प्रसंग से यह स्पष्ट है कि उस समय अतिशय सम्पन्न नागरिकों में प्रायः जूए में जीती गई राशि को गरीबों या परिजनों और गोष्ठिकों में बाँट देने की सामान्य प्रवृत्ति प्रचलित थी।

'वसुदेवहिण्डी' के नवें अश्वसेनालम्भ (पृ. २०६) में अश्वघूत, अर्थात् घोड़े का दाँव पर रखकर जूआ खेलने का उल्लेख है। जयपुरनिवासी राजा सुबाहु के पुत्र मेघसेन और अभग्नसेन अश्वघूत में अपने धन को दाँव पर लगाते थे। बड़ा भाई मेघसेन जो धन जीतता था, उसमें छोटे भाई अभग्नसेन को हिस्सा नहीं देता था, उल्टे छोटे भाई के जीते हुए धन को भी हड़प लेता था। प्राचीन भारत के इस अश्वघूत से आधुनिक काल में प्रचलित 'हॉर्स रेस' में धन को दाँव पर लगाने की प्रथा की तुलना की जा सकती है।

इसी प्रकार, दसवें पुण्डालम्भ (पृ. २१०) में भी एक बहुत ही रोचक घूतकथा का उल्लेख हुआ है। एक बार वसुदेव अपने साले अंशुमान् के साथ भद्रिलपुर पहुँचे। वहाँ ब्राह्मण के रूप में परिचित अंशुमान् अपने बहनोई वसुदेव के लिए एकान्त आवास खोजने के क्रम में खरीद-फरोख्त की विभिन्न वस्तुओं से सजे बाजार की गलियों से गुजर रहा था, तभी एक दूकान पर उसे एक सार्थवाह से भेंट हुई। अंशुमान् सार्थवाह से बातचीत कर रहा था कि बहुत जोरों का हल्ला हुआ। अंशुमान् ने सोचा कि अवश्य कोई हाथी या बैसा आ गया है, इसीलिए जनसंक्षोभ से यह हल्ला हुआ है। यद्यपि, ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई पड़ा और हल्ला शान्त भी हो गया। क्षणभर के बाद पुनः वैसा ही हल्ला हुआ। पूछने पर सार्थवाह ने बताया कि यहाँ धनी इभ्यपुत्र बहुत मोटी राशि दाँव पर लगाकर जूआ खेलते हैं, इसीलिए जूए में हुई आमदनी के सम्बन्ध में वे हल्ला करते हैं।

इसे शुभ शकुन मानकर अंशुमान् घूतसभा में चला गया। वहाँ द्वारपाल ने उसे टोका : "यहाँ तो इभ्यपुत्र जूआ खेलते हैं। ब्राह्मणों को यहाँ आने की क्या जरूरत?" अंशुमान् ने कहा : "कुशल व्यक्ति के लिए अति विशिष्ट पुरुष और उसके हस्तलाघव को देखने में कोई विरोध नहीं।" प्रवेश पाकर अंशुमान् सभा के बीच चला गया। वणिक्पुत्रों ने एक करोड़ दाँव पर लगा

रखा था। इध्यपुत्रों ने उससे पूछा : “जूआ खेलने की विधि जानते हो?” उसके बाद उसने द्यूतकारों को अपनी युक्ति के अनुकूल पाशा फेंकने के आत्मनिर्णय से अवगत कराया। बहुत मोटी राशि दाँव पर लगी थी, जिसे वीणादत्त ने जीता। तब वीणादत्त ने उससे कहा : “यदि तुम्हारी इच्छा है, तो दाँव लगाओ और खेलो।” अंशुमान् उसके पक्ष में जाकर बैठ गया। इसपर विपक्षियों ने ललकारा : “अपने-अपने धन से जूआ खेलिए, इस व्यापार में ब्राह्मण की क्या आवश्यकता है?” वीणादत्त ने कहा : “ब्राह्मण मेरे धन से जूआ खेले।” तब, अंशुमान् ने अपने आभूषण दिखलाये। साँप (भोगी) की नजरों (अपलक नेत्रों) से उन्होंने (इध्यपुत्रों ने) आभूषणों को देखकर उन्हें स्वार्जित ही समझा और वे सन्तुष्ट होकर खेलने लगे। सोना, मणि, हीरा आदि बहुत सारा धन अंशुमान् ने दाँव पर रखा और वह जीत गया। वीणादत्त ने अपने आदमियों से कहा : “ब्राह्मण के धन को एकत्र कर लो।”

अंशुमान् वहाँ से चल पड़ा। तब वीणादत्त ने कहा : “आर्य! कहाँ चले?” अंशुमान् बोला : “अपने गुरु आर्यज्येष्ठ के लिए योग्य आवास ढूँढ़ने जा रहा हूँ।” वीणादत्त ने आग्रह किया : “मेरे घर और वैभव पर तुम्हारा अधिकार है, तुम मेरे घर में रहो।” तब वीणादत्त के परिजनों (सेवकों) के साथ अंशुमान् उसके घर गया और वहीं, उसकी बात मानकर, उसने जूए में जीते गये धन को मुहरबन्द करके रख दिया। उसके बाद अंशुमान् वसुदेव के पास लौट आया।

‘वसुदेवहिण्डी’ की यथाविवृत द्यूतगोष्ठियों से यह ज्ञात होता है कि उस युग की द्यूतसभा में नगर के धनाढ्य वणिक, सेट, सार्थवाह आदि व्यापारी-वर्ग के प्रतिनिधि तो भाग लेते ही थे, प्रशासक-वर्ग के प्रतिनिधि अमात्य, नगरपाल, दण्डनायक आदि भी इसमें सम्मिलित होते थे। इनके अतिरिक्त, पुरोहित आदि धार्मिक वर्ग के प्रतिनिधि तथा बड़े-बड़े धनी पुरुष आदि नागरिक-वर्ग भी जूए में जमते थे। जूए में जुआड़ियों को अपने-अपने धन से ही खेलना पड़ता था और बाजी जीतने पर प्राप्त धन की आमदनी के सम्बन्ध में जुआड़ी आपस में बहुत हल्ला-गुल्ला करते थे। ‘द्यूतसभा में ब्राह्मणों को प्रवेशाधिकार प्रायः नहीं मिलता था। चाल चलने या पाशा फेंकने में धूर्त और चतुर खिलाड़ी अपने हाथ की सफाई भी दिखाते थे। चतुर चालबाज प्रायः अपनी बाजी जीत जाते थे। द्यूतशाला प्रायः सजे-धजे बाजार की भीड़-भरी गलियों में हुआ करती थी। दाँव पर लगी बड़ी-बड़ी रत्नराशियों पर जुआड़ियों की गृध्र-दृष्टि रहती थी। कुल मिलाकर, कला की दृष्टि से पुरायुग की द्यूतक्रीड़ा में धन और बुद्धि का, वेश-विन्यास और वाग्विनियोग का बड़ा ही ललित और समृद्ध समन्वय रहता था।

निष्कर्ष :

संघदासगणी ने, कहना न होगा की, ‘वसुदेवहिण्डी’ में ललितकलाओं के इतने विशाल वैभव का विनियोग किया है, कि वह एक स्वतन्त्र शोध-अध्ययन का विषय है। प्रस्तुत प्रबन्ध में ललितकलाओं के कतिपय प्रमुख प्रसंगों का ही विवेचन किया गया है। संघदासगणी ने इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्षीकरण की विशेषता के आधार पर ललितकलाओं को दो स्थूल भागों में उपन्यस्त किया है—नेत्रेन्द्रिय द्वारा आनन्द देनेवाली कलाएँ और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा आनन्द प्रदान करनेवाली कलाएँ। प्रथम में नृत्य, नाट्य, चित्र, मूर्ति, वास्तु आदि मूर्त-दृश्य कलाओं को लिया

जा सकता है और द्वितीय में संगीतकला जैसी अमूर्त श्रव्यकला की गणना की जा सकती है। इन दोनों प्रकार की कलाओं के प्रदर्शन में सौन्दर्यबोध-सम्पन्न कथाकार का मूल उद्देश्य 'सुन्दर' की अभिव्यक्ति या 'सौन्दर्य' का विवर्द्धन है। प्रत्येक ललितकला के प्रयोग में भारतीय प्राचीन ललितकला के विशेषज्ञ कलाकार **संघदासगणी** ने प्रायः सर्वत्र अपनी सौन्दर्यमूलक शिल्परुचि का सातिशय वरेण्य उपस्थापन किया है। अतएव, उनका प्रत्येक कला-प्रस्तुतीकरण, सौन्दर्य की इकाई के रूप में, अपना सन्दर्भात्मक महत्त्व रखता है।

संघदासगणी-कृत ललितकलाओं के चित्रण में नन्दतिक बोध को सुरक्षित रखने की सतर्कता का नैरन्तर्य परिलक्षित होता है। फलतः, उनके कला-चिन्तन में सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से कल्पना के बहु-आयामी प्रकार निर्धारित किये जा सकते हैं। **संघदासगणी** जैसे महान् कलाकार ने अपनी कल्पना-प्रसूत मानसिक सर्जनाशक्ति द्वारा कथा के क्षेत्र में, निश्चय ही, रमणीय नूतन सृष्टि और अभिनव रूप-व्यापार का ऊर्जस्वल विधान किया है।

इस प्रकार, **संघदासगणी**, कला के क्षेत्र में, एक स्वतन्त्र भारतीय कलाचिन्तक के रूप में उभरकर सामने आते हैं। भारतीय साहित्य में कला-विभाजन की अवतरणिका बहुत विशद है। इसीलिए, **संघदासगणी** ने विना किसी साम्प्रदायिक आग्रह के, अपनी कथा में विभिन्न कला-सम्प्रदायों का सरस तात्त्विक समन्वय विशुद्ध सौन्दर्य और आनन्द की सृष्टि की दृष्टि से किया है। फलतः, कथाओं के माध्यम द्वारा श्रव्य और दृश्य कलाओं की तात्त्विक अन्तःसम्बद्धता के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अध्ययन के दृष्टिकोण से '**वसुदेवहिण्डी**' महत्त्वपूर्ण स्थान आयत करती है।

कला के साथ ही, भारतीय पारम्परिक विद्याओं का ज्ञानात्मक विश्लेषण '**वसुदेवहिण्डी**' का महनीय मूल्यवान् पक्ष है। **संघदासगणी** द्वारा उपस्थापित प्राचीन पारम्परिक विद्याओं के विभावन में ज्ञान-प्रसार के साथ ही सौन्दर्य-चेतना का विस्तार भी अनुस्यूत है। इस सन्दर्भ में कथाकार की अलंकरण और प्रतिरूपण की सहज प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। कुल मिलाकर, कथाकार की यह लौकिकातिलौकिक रचना-प्रवृत्ति आनन्ददायिनी सर्जना से ही सम्बद्ध है। पारम्परिक विद्याओं के विनियोग में यद्यपि 'अति' से 'यथार्थ' आच्छन्न हो गया है, तथापि उनकी नन्दतिक चेतना सर्वत्र अप्रतिहत और अव्याहत है। यह अतिवादी स्थिति प्राचीन कथाकारों की कथाशैली की अपनी उल्लेखनीय विशिष्टता रही है और इसी में प्राचीन महत्कथाओं की अपनी 'निजता' और 'मौलिकता' सुरक्षित है। प्राकृतिक और भौतिक जगत् की भयंकरताओं, अनिष्टों और उद्वेलनों से बचने या आत्मरक्षा के लिए आदिम समाज का अदृश्य संरक्षक के रूप में पारम्परिक विद्याओं का आश्रय लेना कालोचित था। इसलिए, '**वसुदेवहिण्डी**' की रहस्यात्मक पारम्परिक विद्याओं का अध्ययन तदानीन्तन सामाजिक मनोवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में ही वांछित है। फिर भी, इतना ध्यातव्य है कि '**वसुदेवहिण्डी**' की, विरामकाल पर पहुँची हुई, नागर संस्कारों से मण्डित आदिम विद्याएँ या कलाएँ नन्दतिक पर्युत्सुकता से समृद्ध सौन्दर्य-चेतना और मानव-ज्ञान के विषय-विपुल परिधि-विस्तार के नये वातायन का समुद्घाटन करती है।

‘वसुदेवहिण्डी’ में प्रतिबिम्बित लोकजीवन

‘वसुदेवहिण्डी’ प्राचीन भारतीय लोकचित्रों का विशाल संग्रह है, जिसमें तत्कालीन लोकजीवन की अनेक मोहक छवियाँ अपनी विविधता और विचित्रता के साथ प्रतिबिम्बित हैं। इन लोकचित्रों में संघदासगणी ने उस युग के भारतीय समाज के सत् और असत् पक्षों का अतिशय समुज्ज्वलता और समीचीनता के साथ उद्घाटन किया है। उन्होंने समाज की उन बुराइयों का भी परदाफाश किया है, जिन्हें पढ़कर पाठकों की नाक-भौंह सिकुड़ने लगती हैं और अच्छाइयों के भी ऐसे उत्कृष्ट चित्र प्रस्तुत किये हैं, जिनसे भारतीय समाज की महनीयता पर हृदय गर्वोद्ग्रीव हो उठता है। कुल मिलाकर, ‘वसुदेवहिण्डी’ में जन-जीवन के बहुरंगे आयामों का भव्य निरूपण करनेवाली असीम सामग्री समाहित है।

संघदासगणी ने लोकजीवन या सामाजिक जनजीवन के चित्रण में समाज की सूक्ष्मातिसूक्ष्म मानसिक संरचना का ध्यान रखा है। इसलिए, ‘वसुदेवहिण्डी’ में मानव-विकास की उस आरम्भिक दशा का प्रदीप्त चित्रण मिलता है, जो नूतनशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का प्रस्थानबिन्दु है। कथाकार द्वारा प्रतिपादित आदिम समाज के उल्लेख से यह धारणा रूपायित होती है कि साधारण जनमानस या लोक चेतनापरवर्ती बौद्धिक समाज की तुलना में अधिक उर्वर थी। इसलिए, ‘वसुदेवहिण्डी’ में तत्कालीन मानव-समाज की सर्जनात्मक प्रतिभा का अनायास ही उद्भूत और अकृत्रिम रूप उपलब्ध होता है। निस्सन्देह, इस महार्थ कथाकृति में परवर्ती सामाजिक चेतना के विकास की सभी प्रवृत्तियाँ बीजरूप में विद्यमान हैं तथा आधुनिक समाज की अनेक विशिष्टताएँ उसमें पूर्वाश्रित हैं। संघदासगणी ने अपने युग की भावभूमि और मानसिकता के अनुरूप सामाजिक भावनाओं या लोकचेतनाओं के मूल्यवान् पक्षों को उभारकर सामने ले आने का प्रशंसनीय सारस्वत प्रयास किया है, साथ ही उसे अपनी विलक्षण वैचारिकी और अपूर्व कथा-कौशल द्वारा गहन मार्मिक भावों से मण्डित कर सर्वथा एक नये परिवेश में प्रतिष्ठित कर दिया है।

आगमोत्तर प्राकृत-कथा के महान् प्रवर्तक संघदासगणी ने लोकजीवन या मानव-समाज के चित्रण को रूढ़ियों या मिथकों या रोमांस-रंजित तथ्यों के अलावा समाज-मनोविज्ञान और काम-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से भी संवलित किया है। इस प्रकार, कथाकार ने समाजगत आर्थिक और धार्मिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में कामकथा का अद्भुत कायाकल्प किया है। स्वच्छन्द और उद्दाम शृंगारिकता को वैराग्य के उत्कर्षण में पर्यवसित करने की कला के द्वारा कथाकार ने धर्म और समाज को मानव-अव्युदय के कारण-घटक के रूप में उपन्यस्त किया है। इसलिए, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में लिखी गई ‘वसुदेवहिण्डी’ की समग्र कथाओं की धर्म-भावना कामभोग की अकृत्रिम अथवा सहज प्रतिक्रिया का रसमय प्रतीक बन गई है।

संघदासगणी ने ऐतिहासिक परिवेश में समुज्ज्वलित लोकचेतना के सन्दर्भों का सामाजिक तथा सांस्कृतिक सार्थकता के साथ गहन परीक्षण किया है, साथ ही सामाजिक जीवन के उचित मूल्यांकन के लिए व्यक्ति के साथ युग की पृष्ठभूमि पर भी विचार किया है। इसलिए, ‘वसुदेवहिण्डी’ में सामाजिकों की अस्मितामुक्त व्यक्तिचेतना का आस्फालन भी यत्र-तत्र दृष्टिगत

होता है। कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' में, लोकजीवन के सन्दर्भ में उस काल की जन-संस्कृति और सामाजिक अवधारणाओं का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है। इस सन्दर्भ में कथाकार ने कहीं-कहीं उसके गुणापचय की पराकाष्ठा भी दिखलाई है। सामाजिक मनुष्य के गुणात्मक उन्नयन में नैसर्गिक मांगल्य-शक्ति की प्रतिष्ठा कथाकार का चरम लक्ष्य है, इसलिए उद्दाम शृंगार या कामोष्ण भाषा में व्यक्त शृंगार भी कथा के कल्याणमूलक फलक पर चित्रित हो जाने के बाद सामाजिक वैभव के रूप में उन्मीलित हो जाता है। सामाजिक जीवन में चित्रित पुरुषार्थचतुष्टय की साधना और स्नेहिक अनुबन्ध या प्रणय के गाढाभिनवेश का अतिशय उन्नत तथा लोकसत्य को मण्डित करनेवाला रूप 'वसुदेवहिण्डी' में पदे-पदे परिलक्षित होता है।

कल्पना के कुबेर संघदासगणी ने लोकचित्रों को प्रस्तुत करने के क्रम में सामाजिक मनुष्य के विचारात्मक और भावात्मक परिवेश को बदलकर एक नई मनुष्यता की प्रतिमा गढ़ी है। महान् कथाकार संघदासगणी की सबसे बड़ी शैलिक विशेषता इस अर्थ में है कि वह अपनी कथा-रचना के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध में पूर्वव्यक्त तथ्यों की आवृत्ति नहीं करते, अपितु अपनी 'भासा'^१ या विशिष्ट प्रतिभा के द्वारा तथ्याभिव्यक्ति या वाग्वैकल्य की अनन्तता की सृष्टि करते हैं। इसलिए, उनके द्वारा परिकल्पित प्रत्येक लोकचित्र अनुक्रमशः रमणीय और नवीन प्रतीत होता है। डॉ. कुमार विमल के शब्दों में, "ऐसे कलाकार आस्तिकों के लिए ईश्वर की तरह होते हैं। ईश्वर की रचना-प्रक्रिया सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होती है। इसलिए, ईश्वर की सृष्टि में पुनरावृत्ति नहीं होती। 'बेबीबूम' (दनदनाती शिशुवृद्धि) के इस युग में इतने बच्चे पैदा हो रहे हैं, लेकिन किन्हीं दो के चेहरे एक-से नहीं लगते।"^२ इसी प्रकार, कहना न होगा कि संघदासगणी की कलात्मक कथासृष्टि में परात्पर नवीनता का माधुर्य निरन्तर बना रहता है और उसकी रमणीयता कभी घटती नहीं है। अतएव, 'वसुदेवहिण्डी' के सामाजिक चित्रण सहृदयों के लिए निरन्तर श्लाघ्य बने रहते हैं, जिनसे सत्याभिव्यक्ति की दीप्ति निरन्तर समुद्रासित होती रहती है। कथा की रमणीयता का यह नैरन्तर्य उसमें न्यस्त चित्रणगत औचित्य पर निर्भर करता है। इसीलिए, क्षेमेन्द्र ने औचित्य को रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवितसर्वस्व कहा है।^३

संघदासगणी सामाजिक परम्परित जीवन-मूल्यों के निजी बोध को उत्तरोत्तर समृद्ध करनेवाले कथाकारों में पांक्तेय स्थान के अधिकारी हैं क्योंकि, उन्होंने अपनी उत्कृष्ट रचनाशैली को कलात्मक आत्मनिष्ठता या वस्तुनिष्ठता पर निर्भर न करके उसे अपनी अन्तःप्रज्ञा द्वारा विकसित वस्तु-ग्रहण की शक्ति से संवलित किया है। इसलिए, उनकी कथारचना में केवल रूमानियत या भावुकता ही नहीं है, अपितु सामाजिक परिवेश के उपस्थापन-दायित्व के प्रति कलाकारोचित ईमानदारी भी बनी हुई है। इस प्रकार, उन्होंने कल्पनागत सत्य और वस्तुगत सत्य का समन्वय करके कलानुभूति और जीवनानुभूति का एक साथ उदात्त और परिष्कृत चित्र उपस्थित किया है। वस्तुतः, यथार्थ और कल्पना का पुंखानुपुंख सामंजस्य महान् कथाकृति की अपनी विशेषता होती है। इसीलिए,

१. "भासा च नाम प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी।" —महर्षिभंजरी।

२. कला-विवेचन, प्राक्कथन, पृ. ६।

३. "औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीविताम्।" —औचित्यविचारचर्चा, कारिका ५।

डॉ. कुमार बिमल के शब्दों में, महान् कलाकृति में अंकित यथार्थ 'मेटा-फिजिकल' (आधितात्किक) होता है^१ और यही उसकी शाश्वती प्रतिष्ठा का रहस्य है।

संघदासगणी द्वारा प्रकल्पित समाज-रचना का चित्र प्रागैतिहासिक है, जिसमें उनकी अपनी नन्दतिक और समाजशास्त्रीय व्याख्या का विनिवेश हुआ है। प्रागैतिहासिक मूल्यों से अनुबद्ध रहने के कारण ही संघदासगणी के सामाजिक चित्रों में प्राचीन आगमिक परम्परा के आद्य बिम्बों का विशेष योग परिलक्षित होता है और इसीलिए उनमें मानव-चेतना का उद्घाटन वैयक्तिक स्तर पर न होकर सामूहिक स्तर पर हुआ है। सामूहिक अवचेतन से सम्बद्ध सामाजिक चित्रों के अंकन के कारण ही उनमें देश, काल और संस्कृतिगत जातीय विरासत सुरक्षित है। अतएव, 'वसुदेवहिण्डी' जैसी पुराकथा में मिथकों और गगनचारी विद्याधर-विद्याधरियों से सम्बद्ध कथाओं का जो ताना-बाना मिलता है, वह सामूहिक अवचेतन से अश्लिष्ट आद्यबिम्बों का ही प्रतीक-विनियोग है, जो तथ्यात्मक कम और कलात्मक अधिक है।

'वसुदेवहिण्डी' (नीलाशयालम्पः पृ. १६२) में आदिम समाज की सृष्टि का बड़ा मनोरंजक उल्लेख हुआ है। इसमें कथाकार ने श्रमणों की आगमिक परम्परा से प्राप्त समाज-सृष्टि के स्रोत को आदर दिया है, किन्तु अपनी कल्पना को स्वतन्त्र रखकर वर्णनात्मक कलानैपुण्य का प्रदर्शन किया है। मिथुन-काल के छह लाख पूर्व (८४ लाख x ८४ लाख वर्ष) बीतने पर भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पत्नी सुमंगला (मिथुन धर्म की सहजात कन्या) के अतिरिक्त, दूसरी पत्नी सुनन्दा (इन्द्र द्वारा प्रदत्त या देवोपनीत) से विवाह करके मिथुन-परम्परा का खण्डन किया। उन्होंने सुमंगला से पहला मिथुन उत्पन्न किया—भरत और बाह्यी। इसी प्रकार, सुनन्दा से दूसरा मिथुन उत्पन्न किया—बाहुबली और सुन्दरी। सुमंगला ने पुनः उनचास पुत्र-युगलों को जन्म दिया। इस प्रकार, सुखभोग करते हुए ऋषभदेव के बीस लीख पूर्व बीत गये।

कालदोष से कुलकरों द्वारा प्रवर्तित दण्डनीति (हाकार, माकार और धिक्कार) की मर्यादा का अतिक्रमण होने लगा। तब, प्रजाओं को उत्पीड़न से बचाने के लिए, प्रजाओं की ही सम्मति से नाभिकुमार (ऋषभदेव के पिता) ने ऋषभदेव को राज्याभिषिक्त करने की सलाह दी। स्वयं इन्द्र ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया और यक्षराज कुबेर को राजधानी बनाने तथा राजोपयोगी समस्त उपकरण प्रस्तुत करने का आदेश दिया। चूँकि, ऋषभदेव की प्रजाएँ बड़ी विनीत थीं, इसलिए कुबेर-निर्मित राजधानी का नाम विनीता (अयोध्या का नामान्तर) रखा गया। यह राजधानी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी।

राजा ऋषभदेव ने राज्यशासन की दृष्टि से पहले चार गण बनाये : उग्र, भोग, राजन्य और नाग। आत्मरक्षक (आरक्षक) लोग उग्रगण कहलाये; सामान्य भोगोपभोग करनेवाले भोगगण में रखे गये; ऋषभदेव के समवयस्क मित्र राजन्यवर्ग में परिगणित हुए और कार्यनिवेदक भृत्यस्थानीय लोगों को नागगण में सम्मिलित किया गया। इस प्रकार, गणसहित राजा ऋषभदेव कोशल-जनपद की प्रजा का पालन करने लगे। उन्होंने अपने सौ पुत्रों को सौ जनपद और सौ नगर दे दिये और अपनी दोनों पुत्रियों को भी पुत्रों को सौंप दिया।

एक दिन, प्रजाजन अन्न न पचने की शिकायत लेकर भगवान् ऋषभदेव के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने प्रजाओं को बताया कि वे हाथों से भसलकर अन्न को भूसा-रहित बनाकर आहार के काम में लायें। फिर कुछ दिनों बाद, प्रजाओं के पूर्ववत् शिकायत करने पर ऋषभदेव ने उन्हें भूसारहित अन्न को पत्ते के दोनों में भिगोकर और उबालकर खाने का निर्देश दिया। क्रमशः प्रजाओं ने पेड़ों की डालियों के आपस में रगड़ खाने से उत्पन्न आग द्वारा पाककर्म और प्रकाश की व्यवस्था की। भगवान् ऋषभदेव के निर्देशानुसार, प्रजाओं ने पुष्करिणी से गीली मिट्टी का पिण्ड लाकर और उसे हाथी के कुम्भस्थल (मस्तिष्कभाग) पर ठोककर मृण्मय पात्र बनाये। इस प्रकार के पात्रों को आग में पकाकर और उसमें पानी गरम करके, पाकसंस्कारविधि से अन्न पकाने की समस्या हल की गई।

प्रजाजनों की बुद्धि धीरे-धीरे खुलती गई। फिर, उनके बीच कुम्भकार उत्पन्न हुए। लौहकार और स्वर्णकार भी तैयार हुए, जो लोहे, चाँदी और सोने के उपकरण बनाने लगे। वस्त्रवृक्ष (वस्त्र प्राप्त होने के साधन कल्पवृक्ष) के कम हो जाने पर भगवान् ने जुलाहों को उपदेश दिया। फलतः, उन्होंने वस्त्र बनाने की विधि का आविष्कार किया। गृहाकार कल्पवृक्ष की कमी पड़ने से घर बनाने के काम के लिए बढ़ई तैयार हुए। केश और नाखून बढ़ने से नाई तैयार होने लगे। सामाजिक उपयोग की दृष्टि से ये ही पाँच मूल (कुम्हार, लोहार, सोनार, बुनकर, बढ़ई, और नाई) शिल्प निर्धारित हुए, जिनमें प्रत्येक के बीस भेद किये गये। तृणहारक (घास इत्यादि काटकर बेचनेवाले) आदि के काम भी इन्हीं के द्वारा सम्पन्न होने लगे। इसी प्रकार, आभूषणों का भी आविष्कार हुआ। राजा ऋषभदेव को देवों ने आभूषण पहनाये थे, उसी की देखादेखी लोगों ने भी गहने बनाना शुरू किया।

भगवान् ऋषभदेव ने अपनी गोद में बैठी दोनों पुत्रियों—ब्राह्मी और सुन्दरी को दायें हाथ से लिपि और बायें हाथ से गणित की शिक्षा दी। अपने प्रथम पुत्र भरत के लिए उन्होंने रूपक (नाट्यशास्त्र) का उपदेश किया और द्वितीय पुत्र बाहुबली को चित्रकर्म (चित्रकला) एवं स्त्री-पुरुष आदि के लक्षणों के निर्देशक शास्त्र की शिक्षा दी। उन्होंने अनुक्रम से अपने कुमारों को मणि, रत्न, मौक्तिक आदि के आभूषणों के निर्माण की कला बताई। वाणिज्य, रोग-चिकित्सा तथा रुग्ण चित्त के प्रतिकार की विद्या का भी ज्ञान कराया। इस प्रकार, विभिन्न कलाओं की दृष्टि से विकसित ग्रामसमूह और नगरों से मण्डित भारतवर्ष में भगवान् ऋषभदेव ने तिरसठ लाख पूर्व तक राज्य किया।

ऋषभदेवकालीन इसी आदिम समाज का विकास-विस्तार उनके प्रथम पुत्र भरत के राज्य में हुआ और उनके नाम पर ही इस देश को भारत या भारतवर्ष कहा जाने लगा। संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में इसी भारत के लोकजीवन या सामाजिक जीवन के विविध चित्रों का अंकन किया है, जिनमें कतिपय चित्र अपनी विचित्रता, रोचकता, रंजकता और रुचिरता के साथ ही सामाजिक मनोविश्लेषण की दृष्टि से भी अतिशय महत्वपूर्ण हैं।

(क) सामान्य सामाजिक जीवन

संघदासगणी द्वारा चित्रित समाज के पारिवारिक जीवन में समर्थन आपस में उलाहना देती और झगड़ती थीं और ननद-भौजाइयों में मनमुटाव चलता था। धम्मिल्ल अपनी लक्ष्मीस्वरूपा

पत्नी यशोमती से पराङ्मुख होकर निरन्तर शास्त्रानुशीलन में संलग्न रहता था। एक दिन उसकी सास, यानी यशोमती की माँ अपनी बेटी से मिलने आई, तो उसकी बेटी ने लज्जानम्रमुखी होकर उससे बताया कि वह लोकधर्मविहित उपभोग-सुख छोड़ और सभी तरह के सुखों से सम्पन्न है। यह सुनकर धम्मिल्ल की सास अत्यन्त क्रुद्ध हो उठी और उसने उसकी माँ सुभद्रा (अपनी समधिना) को बहुत उलटा-सीधा सुनाया। धम्मिल्ल की माँ धरधर काँपती और आँसू बहाती खड़ी रही (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. २८)। इसी प्रकार की स्थिति में चारुस्वामी (चारुदत्त) की माँ और सास के बीच भी झड़प हुई है। बहतर कलाओं में पण्डित होकर भी चारुदत्त अपनी पत्नी मित्रवती के शरीर पर लगे अंगराग को परिमर्दित नहीं करता था। इसलिए मित्रवती ने अपनी माँ से शिकायत कर दी : “तुमने मुझे पिशाच के हाथों सौंपकर कष्ट में डाल दिया है।” यह सुनकर मित्रवती की माँ ने चारुस्वामी की माँ से रोते हुए कहा : “तुमने जान-बूझकर मुझसे वैर सधाया है, इसलिए अपने बेटे का दोष पहले नहीं बताया (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४१)।”

चारुदत्त की आत्मकथा में ही एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख है, जिससे तत्कालीन नन्द-भौजाइयों में मनमुटाव रहने का संकेत मिलता है। चारुदत्त की माँ अपने भाई सर्वार्थ के घर गई, तो उसके भाई के द्वारा भोजन के समय रुकने के लिए अनुरोध किये जाने पर भी वह ‘मुझे बहुत काम है’ कहती हुई अपने घर चल पड़ी। तब उसके भाई ने कहा : “क्यों इस तरह निःस्नेह हो गई हो ? यदि भौजाई से तुम्हारी पटरी नहीं बैठती है, तो मेरी प्रसन्नता के लिए भी रुक जाओ (तत्रैव : पृ. १४०)।”

रुक्मिणी और सत्यभामा के पारस्परिक निर्मम सपत्नीत्व की क्रूर कथा (पीठिका) से स्पष्ट है कि उस युग में सपत्नियों के बीच भयंकर शीतयुद्ध विभिन्न रूपों में चलता रहता था। सत्यभामा तो रुक्मिणी के प्रति निरन्तर ‘सकलुषा’ बनी रहती थी। जाम्बवती का पुत्र शाम्ब तो सत्यभामा के पुत्र भानु को बराबर तंग करता, छेड़ता रहता था। इसपर एक बार सत्यभामा अत्यन्त रुष्ट होकर कृष्ण से बोली : “मैं तो अपने बेटों का खिलौना बन गई हूँ, इसलिए मेरा जीवित रहना व्यर्थ है।” यह कहकर वह अपनी जीभ खींचकर आत्महत्या के लिए तैयार हो गई (‘अहं पुत्तभंडाण खेत्त्वावणिग्या संवुत्ता, किं मे जीविणं ति जीहं पकड्डिया’। कृष्ण ने बड़ी कठिनाई से उसे रोका और शाम्ब को दण्डित करने की बात से आश्वस्त किया (पीठिका, पृ. १०७)। संघदासगणी के इस वर्णन से यह जान पड़ता है कि उस युग में स्त्रियाँ पारिवारिक उत्पीड़न या आत्मपीड़न से ऊबने पर जीभ खींचकर आत्महत्या कर लेती थीं।

सोमश्रीलम्भ (पृ. १९१) में कथा है कि हिंसावादी पर्वतक के, जीभ काढ़ लिये जाने की शर्तबन्दी की स्थिति में, अपने पुत्र के प्राणनाश से आतंकित होकर उसकी माँ अहिंसावादी वसु के समीप ही प्राण त्यागने के निमित्त अपनी जीभ खींचने लगी। पर्वतक की माँ (उपाध्यायानी) को मृत्यु से बचाने के लिए वसु ने विवश होकर ‘अज’ का अर्थ ‘बकरा’ मान लिया। इस कथाप्रसंग से यह ज्ञात होता है कि उस युग की स्त्रियाँ अपने कदाग्रह को किसी से जबरदस्ती मनवाने के लिए अपनी जीभ काढ़कर मरने को उतारू हो जाती थीं।

‘वसुदेवहिण्डी’ से यह भी ज्ञात होता है कि निरुपायता की स्थिति में पुरुष भी आत्महत्या के लिए उद्यत हो जाते थे। इस सन्दर्भ में धम्मिल्ल, नन्दिसेन (पूर्वभव के वसुदेव) आदि के

द्वारा किये गये आत्महत्या के प्रयासों को अन्तःसाक्ष्य के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। किन्तु, मुनि की अनुकम्पा या आकाशवाणी के द्वारा आत्मघातियों को इस प्रकार के दुष्कृत्य से रोक देने का उल्लेख संघदासगणी ने किया है (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ३४; श्यामा-विजयालम्भ, पृ. ११५)।

संघदासगणी ने माँ-बेटे में या पिता-पुत्र में मात्सर्य-भावना या शत्रुता की भावना का भी उल्लेख किया है। रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न अपनी सौतेली माता सत्यभामा के प्रति मात्सर्य-भाव से अभिभूत रहता था। इसके अनेक रोचक उदाहरण 'वसुदेवहिण्डी' के 'पीठिका'-प्रकरण में उपन्यस्त हैं (पृ. ९५)। पिप्पलाद को अपने पिता याज्ञवल्क्य से इतनी शत्रुता हो गई थी कि उसने अपने पिता की जघन्य हत्या कर दी। इसकी मार्मिक कथा (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५२) यह है कि एक दिन पिप्पलाद ने अपने पिता से कहा कि मैं आपको पितृमेघयज्ञ में दीक्षित करूँगा। उसके बाद वह अपने पिता को निर्जन गंगातट पर ले गया और वहाँ उसने उसके हाथ-पाँव बाँधकर कहा : "पिताजी, अपनी जीभ दिखाइए।" पिता ने ज्योंही अपनी जीभ निकली, पिप्पलाद ने फुरती के साथ कैची से उसे काट दिया। फलतः, याज्ञवल्क्य गूँगा हो गया। उसके बाद पिप्पलाद ने अपने गूँगे पिता के एक-एक कर कान, नाक, होंठ, हाथ, पैर आदि शरीर के सारे अंगों को काटकर और उन्हें क्षार से सिकत करके आग में होम कर दिया। याज्ञवल्क्य का शेष शरीर जब निश्छेष्ट हो गया, तब उसे उसने गंगा में डाल दिया। जिस भूमि पर उसने पिता के अंगों को काटा, उसे गन्धोदक से धो दिया और यह समाचार फैला दिया कि मेरे पिताजी विमान से स्वर्ग चले गये। इसी प्रकार, पिप्पलाद ने अपनी माँ सुलसा को भी मार डाला। माता-पिता का दोष यही था कि वे दोनों नवजात पिप्पलाद को भाग्य के भरोसे छोड़कर अन्यत्र चले गये थे। नवजात पिप्पलाद को सुलसा की शिष्या नन्दा ने पाला-पोसा था। इसके लिए पिप्पलाद को अवैध सन्तान होने का उपालम्भ झेलना पड़ा था। बात यह थी कि त्रिदण्डी परिव्राजक याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने के कारण व्याकरण और सांख्यशास्त्र की पण्डिता परिव्राजिका सुलसा को शर्त की विवशतावश याज्ञवल्क्य की सेवा स्वीकार करनी पड़ी थी। इसी क्रम में वह गर्भवती हो गई थी।

इस कथा-सन्दर्भ से यह भी स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज के परिव्राजक-वर्ग में कामाचार भी होता था। अथवा, परिव्राजक भी अनुल्लंघनीय कामाज्ञा के वशवर्ती हो जाते थे। साथ ही, यह कथा पुत्र की निर्ममता या उसके निष्ठुर दुष्कृत्य का अन्यत्रदर्शभ उदाहरण भी प्रस्तुत करती है।

संघदासगणी ने ऐसे पुत्रों का भी चरित्र उपस्थित किया है, जो मौका पाकर पिता को चकमा दे देता था और अन्यायी पिता को बन्दी भी बना लेता था। चकमा देनेवाले पुत्रों में कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का नाम सर्वोपरि है। प्रद्युम्न ने अपनी प्रज्ञप्ति-विद्या के बल से जाम्बवती की आकृति को सत्यभामा के रूप में बदलकर कृष्ण के पास भेजा था और कृष्ण ने सचमुच उसे सत्यभामा मानकर ही, हरिनैगमेषी के कथनानुसार, प्रद्युम्नसदृश पुत्रप्राप्ति के लिए, उसके साथ पहले समागम किया था। इतना ही नहीं, प्रद्युम्न ने विद्याबल से विकुर्वित एक भेड़ को ललकार कर उसके द्वारा अपने पितामह वसुदेव को भी आसन से नीचे गिरवा दिया था और स्वयं हँसता हुआ घर के भीतर चला गया था (पीठिका : पृ. ९४)। विष्णुकुमार के आदेशानुसार,

राज्य-प्रशासन के अयोग्य पिता महापद्म को उसके पुत्र ने बन्दी बना लिया था और स्वयं वह न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३१)। इसी प्रसंग में कंस द्वारा पिता उग्रसेन को बन्दी बनाये जाने की कथा भी सन्दर्भित करने योग्य है (देवकीलम्भ : पृ. ३६८)।

'वसुदेवहिण्डी' में माँ-बेटे और माँ-बेटियों के पारस्परिक व्यवहार के और भी अनेक रोचक प्रसंग उपन्यस्त हुए हैं। **संघदासगणी** कही-कहीं कथा के प्रारम्भ में जब भी राजा-रानियों, सेठ-सेठानियों या विद्याधर-विद्याधरियों और उनके पुत्र-पुत्रियों की चर्चा करते हैं, तब पिताओं के नाम पहले लेते हैं, फिर माताओं के नाम। इसके बाद उनके पुत्र-पुत्रियों की चर्चा के क्रम में माताओं से ही सन्ततियों के उत्पन्न होने की चर्चा करते हैं और पिताओं के नाम गौण कर देते हैं। और इसी प्रकार, वे पुत्र या पुत्री का परिचय उसकी माँ के सम्बन्ध से कराते हैं। जैसे, पवनवेग ने अपने परिचय में कहा है कि "इसी जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में सुकच्छविजय-स्थित वैताद्वय पर्वत के शुल्कपुर नामक नगर में शुल्कदत्त नाम का राजा रहता है। उसकी पत्नी यशोधरा है और उसी का पुत्र मैं पवनवेग हूँ (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३०)।" पुनः गंगरक्षित अपना परिचय देते हुए कहता है: "राजा एणिकपुत्र के प्रधान द्वारपाल का नाम गंगपालित था। उसकी भद्रा नाम की पत्नी से मैं गंगरक्षित पुत्र उत्पन्न हुआ (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८९)।" इसी प्रकार, सनत्कुमार के परिचय में कथाकार ने कहा है कि "उस समय हस्तिनापुर में राजा अश्वसेन की रानी सहदेवी थी, जिसका पुत्र सनत्कुमार था (मदनवेगालम्भ : पृ. २३३)।" इन उदाहरणों से यह संकेत प्राप्त होता है कि उस युग के परिवार में मातृसत्ता की प्रधानता थी या मातृसत्तात्मक परिवार की भी प्रथा थी। पुत्र और पुत्री अपनी माँ के सम्बन्ध से परिचय देने में ही गौरव का अनुभव करते थे। ब्राह्मण या वैदिक परम्परा में भी शकुन्तला का परिचय महर्षि विश्वामित्र की पुत्री की अपेक्षा मेनका की पुत्री के रूप में ही उपस्थित किया गया है। हालाँकि, परवर्ती काल में इस देश में पितृसत्तात्मक परिवार की ही प्रधानता हुई।

'वसुदेवहिण्डी' में गरीब माँ-बेटे की, जीवन-निर्वाह के क्रम में होनेवाली बातचीत के बड़े मार्मिक प्रसंग (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४४) का उल्लेख हुआ है। चारुदत्त गणिका-प्रसंग के कारण जब निर्धन हो गया और उसके पिता भानुसेठ ने संन्यास ले लिया, तब घर में घुसते ही उसने (चारुदत्त ने) अपनी माँ को दरिद्र वेश में उदास मुँह लिये हुए देखा। वह उसके पैरों पर गिर पड़ा। किन्तु माँ उसे पहचान नहीं सकी। माँ ने जब पूछा, तब उसने अपना नाम बताया। माँ उसे पकड़कर रोने लगी। तभी उसने देखा कि उसकी पत्नी मित्रवती भी उसके पैरों पर गिरकर रो रही है। मित्रवती के कपड़े मलिन पड़ गये थे। चित्र के धुल-पूँछ जाने पर खाली बची दीवार की तरह वह श्रीहीन हो गई थी। चारुदत्त ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा: "रोना व्यर्थ है। अपने कर्म से ही क्लेश पा रही हो।"

उसके बाद चारुदत्त की माँ ने बाजार से चुन्नी-खुदी लाकर भोजन तैयार किया। भोजन करने के बाद चारुदत्त ने माँ से जब शेष धन के बारे में पूछा, तब उसने बताया कि "गाड़कर रखे गये, व्याज पर लगाये गये तथा विशाल परिजन-परिवार में दिये गये धन का पता मुझे नहीं है। सेठ के संन्यासी हो जाने पर दास-दासियों को दिया गया धन भी नष्ट हो गया। तुम्हारे परिभोग (कामकला की शिक्षा) में सोलह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ समाप्त हो गईं। हम दोनों सास-पतोहूँ जैसे-तैसे जीवन जी रही हैं।"

चारुदत्त ने माँ से कहा : “मुझे लोग अपात्र समझकर मेरी ओर अँगुलियाँ उठायेँगे, मैं यहाँ नहीं रह पाऊँगा। इसलिए, दूर जा रहा हूँ। धन कमाकर वापस आऊँगा। तुम्हारे चरणों की कृपा से अवश्य ही मैं उपार्जन कर लूँगा।” माँ ने कहा : “बेटे ! तुम तो व्यापार-कार्य के कष्ट से अपरिचित हो। विदेश में कैसे बसोगे ? इसलिए तुम विदेश मत जाओ। हम दोनों (सास-पतोहू) तुम्हारे निर्वाह की व्यवस्था करती रहेंगी।” माँ के दीन वचन से चारुदत्त का स्वाभिमान जाग उठा : “ऐसा मत कहो माँ, मैं महाप्रतापी भानुसेठ का बेटा इस तरह जीवन-निर्वाह करूँगा ? ऐसी बात तुम्हारे मन में भी नहीं आनी चाहिए। मुझे विदा करो।” इस प्रकार, माँ से विदा लेकर चारुदत्त विदेश चला गया।

इस कथा-प्रसंग से यह जानकारी मिलती है कि मनुष्य का उत्थान या पतन उसके कर्म के अधीन है। दुर्व्यसन का त्याग कर पुरुषार्थ के लिए प्रयत्नशील कोई भी सामाजिक सदस्य अपने सकटग्रस्त परिवार का पुनरुद्धार कर सकता है। युगचेता कथाकार ने गरीब माँ-बेटे की, जीवन-निर्वाह-विषयक प्रस्तुत कथा में पुरुषार्थसिद्धि की प्रेरणा के अनुकरणीय आदर्श का विनियोग किया है। साथ ही, समग्र भारतीय समाज के युवकों के लिए यह ध्यातव्य सन्देश दिया है कि दृढ़ संकल्प, अविचल इच्छाशक्ति और प्रबल पुरुषार्थ ही खोई प्रतिष्ठा को वापस दिलाता है।

पुरुषार्थवादी कथाकार **संघदासगणी** ने युवकों की नैतिक दुर्बलता और मिथ्याचार के भी प्रसंग उपस्थित किये हैं। एक उल्लेख्य प्रसंग (नीलयशालम्भ : पृ. १७४) यह है कि नन्दिग्राम की रहनेवाली निर्नामिका (पूर्वभव की स्वयम्भ्रा) की धाई ने उसके पति ललितांगदेव (वर्तमान भव का वज्रजंघ) का पता लगाने के बाद पति-पत्नी को मिलाने के लिए ललितांगदेव और स्वयम्भ्रा के चित्र तथा उनके पूर्वभव-चरित को कपड़े पर अंकित किया और नन्दिग्राम के राजमार्ग पर उस चित्र को फैलाकर बैठ गई। जो भी चित्रकला-मर्मज्ञ उस चित्र को देखते, हृदय से श्लाघा करते; किन्तु राजा दुर्मर्षण का पुत्र कुमार दुर्दान्त ने, जो चरित्र से दुर्बल और मिथ्याचारी था, उस चित्र में अंकित स्वयम्भ्रा को देखते ही वासनावश मूर्च्छित होने का स्वांग किया। फिर, क्षणभर में ही आश्चस्त हो उठा। लोगों के पूछने पर उसने बताया, “चित्र देखते ही मुझे जातिस्मरण हो आया कि मैं पूर्वभव में ललितांगदेव था और स्वयम्भ्रा मेरी रानी थी।” किन्तु, पण्डिता धाई जब जाँच के लिए उससे ब्यौरेवार पूछताछ करने लगी, तब उसकी सारी बातें मिथ्या प्रमाणित हुईं। क्योंकि, उस दुर्दान्त ने चित्र में अंकित युगन्धराचार्य साधु को विश्वरति के नाम से स्मरण किया और ईशानकल्प को सौधर्मकल्प कह दिया। फलतः, धाई ने उसे ‘उद्भ्रान्त’ घोषित कर दिया और उसका व्यंग्यपूर्ण उपहास भी किया, जिसमें उसके मित्रों ने भी साथ दिया। धृष्ट दुर्दान्त वहाँ से भाग निकला।

‘वसुदेवहिण्डी’ में प्राप्त वर्णनों से माँ-बेटे के आचरण पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। पाँचवें सोमश्रीलम्भ (पृ. १८६) में माँ-बेटे के अद्भुत रहस्यालाप का प्रसंग आया है। चारणयुगल नगर के राजा अयोधन की रानी दिति की पुत्री का नाम सुलसा था। वह परम रूपवती थी। जब उसका स्वयंवर निश्चित हुआ, तब राजा सगर ने अपनी प्रतिहारी मन्दोदरी को स्वयंवर की तिथि की सूचना लेने के निमित्त अयोधन के निकट भेजा। वह दितिदेवी के घर गई। उस समय दितिदेवी

अपनी पुत्री सुलसा के साथ प्रमदवन के लतागृह में रहस्यालाप कर रही थी। मन्दोदरी अप्रतिहत भाव से उद्यान में चली गई और निकट में ही छिपकर माँ-बेटी का रहस्यालाप सुनने लगी।

माँ रो रही थी और बेटी समझा रही थी : “माँ, मत रोओ। पिता-माता द्वारा दी गई कन्या तो उनसे अवश्य ही बिछुड़ जाती है।” माँ बोली : “तुम्हारे बिछुड़ने के दुःख से मैं नहीं रोती। तुम्हारे पिता ने तुम्हारे लिए स्वयंवर का आयोजन किया है, लेकिन तुम मेरे कुलधर्म का उल्लंघन न कर बैठो, इसी का मुझे हार्दिक दुःख है।” बेटी बोली : “माँ, क्यों इस तरह बोलती हो, अमंगल मनाती हो? मेरे द्वारा कुलधर्म के उल्लंघन किये जाने की आशंका तुम्हें कैसे हुई?” इसपर दिति ने ऋषभदेव की कथा सुनाते हुए अन्त में उससे बताया कि “तुम भरत और बाहुबली के वंश से सम्बद्ध हो। बाहुबली के वंश में तृणपंगु नाम के राजा हुए। मैं (माँ दिति) उन्हीं की बहन हूँ और तुम्हारे पिता अयोधन की बहन सत्ययशा राजा तृणपंगु की महादेवी है। उसके पुत्र का नाम मधुपिंगल है, जो राजा के पद पर प्रतिष्ठित है। और, इन दोनों कुलों की कन्याओं का विवाह परस्पर इन्हीं कुलों में होने की प्रथा निर्धारित की गई है। तुम प्रथम चक्रवर्ती भरत के वंश में उत्पन्न हुई हो। पता नहीं, रूपमोहित होकर तुम किसका वरण कर बैठोगी, इसीलिए मैं रोई।” इसपर सुलसा ने अपनी माँ को आश्चस्त करते हुए कहा : “माँ, मैं अपने कुलधर्म को नष्ट नहीं होने दूँगी। मैं स्वयंवर में उपस्थित राजाओं में मधुपिंगल का ही वरण करूँगी।”

माँ-बेटी के इस रहस्यालाप से तत्कालीन समाज की कई महत्वपूर्ण बातें उभरकर सामने आती हैं। उस युग में ममेरे भाई-बहन में विवाह-सम्बन्ध को कुलीन और श्रेष्ठ समझा जाता था। माँ-बाप अपनी लड़की द्वारा स्वयंवर में गलत वर के चुने जाने की आशंका से त्रस्त रहते थे। यद्यपि, उस युग में ऐसी लड़कियाँ भी होती थीं, जो अपने विवेकपूर्ण निश्चय से कुलधर्म की सुरक्षा या परम्परागत प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने की प्रतिश्रुति देती थीं। इसके अतिरिक्त, स्वयंवर की अनिवार्य प्रथा के बावजूद, लड़की के माता-पिता, उसके द्वारा, पूर्वनिश्चित वर के चुने जाने के प्रति ही आग्रहशील रहते थे।

‘वसुदेवहिण्डी’ से संकेत मिलता है कि तत्कालीन समाज में सती-प्रथा का भी प्रचलन था। कथा (गन्धर्वदत्तालम्ब : पृ. १५०) है कि विद्याधर अमितगति की प्रेयसी सुकुमारिका को अपनी अंकशायिनी बनाने के लिए प्रतिनायक धूमसिंह ने वेतालविद्या द्वारा अमितगति के मृत शरीर को दिखलाकर सुकुमारिका से कहा : “यह तुम्हारा स्वामी अमितगति मर गया। इसलिए, अब तुम मुझे ही पति के रूप में वरण करो अथवा जलती हुई आग में प्रवेश करो।” सुकुमारिका ने दृढतापूर्वक कहा : “निश्चय ही, मैं अपने पति अमितगति का अनुसरण करूँगी।” धूमसिंह ने लकड़ी एकत्र करके उसमें आग लगा दी और अमितगति के भायानिर्मित शव को चिता में फेंक दिया। सुकुमारिका अपने पति केशव को आलिंगित करके चिता में बैठ गई। यद्यपि, उसी समय संयोगवश अमितगति आ पहुँचा और उसने जोर से हुंकार किया। धूमसिंह और उसके साथी भाग खड़े हुए। अमितगति ने सुकुमारिका को चिता से बाहर खींच लिया। अमितगति को जीवित देखकर सुकुमारिका विस्मय में पड़ गई।

‘वसुदेवहिण्डी’ से इस बात की भी सूचना मिलती है कि दरिद्र माता-पिता को अधिक लड़कियाँ पैदा होने पर वे प्रायः उपेक्षित हो जाती थीं। धातकीखण्डद्वीप के पूर्वविदेह-क्षेत्र में

अवस्थित मंगलावती विजय के नन्दिग्राम की निर्नामिका अपनी छह बहनों के बाद पैदा हुई थी। माता-पिता ने उसका कोई नाम भी नहीं रखा, इसलिए 'निर्नामिका' कहलाने लगी और अपने कर्म से बँधी वह उन छहों विवश आत्माओं के साथ जीवन बिताने लगी। यहाँ तक कि माता-पिता ने निर्नामिका को घर से बाहर निकाल दिया। कथा है कि किसी दिन उत्सव के अवसर पर धनी व्यक्तियों के कुछ बच्चे अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ हाथ में लेकर अपने घर से निकले। उन्हें देखकर निर्नामिका ने अपनी माँ से लड्डू माँगा और वह उन बच्चों के साथ खेलने का हठ करने लगी। फलतः, रुष्ट होकर माँ ने उसे मारा और यह कहते हुए घर से निकाल दिया कि "तेरे लिए भोजन यहाँ कहाँ? अम्बरतिलक पर्वत पर चली जा। वहीं फल खाना या मर जाना।" रोती हुई निर्नामिका घर से निकल पड़ी।

निर्नामिका जब अम्बरतिलक पर्वत पर भटक रही थी, तब उसकी मुलाकात युगन्धराचार्य मुनि से हुई। उन्होंने उसे दुःखकातर देखकर समझाया : "निर्नामिके ! तुम तो शुभ-अशुभ सब प्रकार के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अनुभव करती हो; जाड़ा, गरमी, भूख, प्यास सबका प्रतिकार कर सकती हो; सुख से सोती हो, वातयुक्त या निर्वात स्थान में शरण ले सकती हो और अन्धकार में प्रकाश की सहायता से काम कर सकती हो। किन्तु, नरक या कष्टपूर्ण संसार के निवासियों को ये सब सुविधाएँ नहीं हैं। नरकपाल उन्हें दुःख में डालकर क्रीड़ा करते हैं। वे विवशतावश अनेक दुःख भोगते हुए बहुत समय बिता देते हैं। इसी प्रकार, पशु, पक्षी आदि प्राणी भी अवर्णनीय दुःख भोगते हैं। तुम्हारा दुःख और सुख तो साधारण है। दूसरों की, पूर्वजन्म के पुण्य द्वारा अर्जित समृद्धि को देखकर तुम अपने को दुःखी समझती हो। जो तुमसे भी हीन जीवन बिताते हैं, कारागार में क्लेश पा रहे हैं, दास और भृत्य के रूप में पराधीन रहकर, अनेक शारीरिक यन्त्रणाकारक कामों में नियुक्त होकर कष्ट भोग रहे हैं, उनकी ओर भी तो देखो।" आचार्य की बात सुनकर निर्नामिका ने विनम्र भाव से कहा : "आप जो कह रहे हैं, वह सर्वथा सत्य है (नीलयशालम्भ : पृ. १७२)।"

उपर्युक्त कथा-प्रसंग के पूर्वार्द्ध में लोकचेता कथाकार ने अकिंचन लोकजीवन के भोगे हुए यथार्थ का सच्चा चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमें आज के भारतीय लोकजीवन के कन्याबहुल परिवार की दयनीय स्थिति तथा धनी-गरीब के बीच की भेदक रेखाओं का स्पष्ट अंकन हुआ है। पुनः कथा-सन्दर्भ के उत्तरार्द्ध में आचार्य युगन्धर के द्वारा समाजचिन्तक कथाकार ने समाजवादी दृष्टिकोण से, दुःखी और सुखी आत्माओं का जो विश्लेषण कराया है, वह अपना ध्यातव्य वैशिष्ट्य रखता है। सामाजिक अवधारणा की पहली शर्त यह है कि प्रत्येक प्राणी में पारस्परिक समानुभूति का उदात्तीकरण अनिवार्य होना चाहिए। कोई व्यक्ति अपने को सर्वाधिक दुःखी इसलिए समझता है कि उसके समक्ष अपने से ऊपर के सुविधाभोगी वर्ग का आदर्श रहता है। इसलिए, अपने को सर्वाधिक सुखी समझने का एकमात्र उपाय यही है कि वह अपने से नीचे के वर्ग को दृष्टि में रखे। तभी उसे यह स्पष्ट होगा कि उसके नीचे का वर्ग उससे भी अधिक कष्टमय स्थिति भोग रहा है। सामाजिक प्राणी में जबतक इस प्रकार की परार्थमूलक दृष्टि विकसित नहीं होगी, तबतक वह अपने स्वार्थ की पूर्ति की दिशा में ही निरन्तर अग्रसर होता रहेगा और इस प्रकार बाह्य सुख-सुविधा की प्राप्ति की मृगमरीचिका में भटकता हुआ वह सच्ची आन्तरिक शान्ति की खोज में बराबर विफल रहेगा। अतएव, ऐसी दुःखदग्ध स्थिति से मुक्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य के हृदय

में, दलितों को ऊपर उठाने की भावना की जागृति के साथ ही दया, मैत्री, सद्भावना, परदुःखकातरता, समानुभूति आदि उत्कृष्ट गुणों का विकास परम आवश्यक है। इस प्रकार, कहना न होगा कि लोकहितचिन्तक कथाकार ने उक्त कथाप्रसंग के माध्यम से अपने सुधी पाठकों को आदर्शपरक सामाजिक भावना का मूल्यवान् और अनुकरणीय सनातन सन्देश दिया है।

संघदासगणी ने सामाजिक जीवन के चित्रण के प्रसंग में स्त्री की चारित्रिक दुर्बलता और यौन उच्छृंखलता के अनेक चित्तोद्वेजक चित्र उपन्यस्त किये हैं। धम्मिल्लचरित में तो सोलह ऐसी रतिप्रगल्भा नवयौवना एवं पीनस्तनी विद्याधरियों का उल्लेख हुआ है, जो संगीत, नाट्य-वाद्य, गीत-रचना, माल्य-गुम्फन, देव-शुश्रूषा, शय्या-रचना, आख्यायिका, पुस्तक-वाचन, कथाविज्ञान, नाट्यवृत्तविज्ञान, शयनोपचार, विविध व्याख्यान, पत्रच्छेद्य-रचना, उदक-परिकर्म आदि ललितकलाओं में तो कुशल हैं ही, कामपीडिता और सम्भोगातुरा भी हैं। इन सोलह विद्याधरियों में एक, मित्रसेना धम्मिल्ल को अपने साथ और सबका परिचय देती हुई कहती है : “अप्पे विय सव्वाओ नवजोव्वणाओ, ईसीसिसमुभिज्जमाणरोमराईओ, समुण्णमंतथणजुयलाओ, कामरइरसायण--कंखियाओ अच्छामो” (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ६८-६९)।”

धम्मिल्लहिण्डी के ही अन्तर्गत अगडदत्तचरित की श्यामदत्ता ने अगडदत्त के समक्ष सीधे अपना रति-प्रस्ताव इस प्रकार रखा है : “हं सामदत्ता नाम । दिट्ठो य मया सि बहुसो जोगं करेमाणो, सम्मं च मे हियाए पविट्ठो, तप्पभिइं च अहं मयणसरपहारदूमियहियया रइं अविदमाणी असरणा तुमं संरणं पवन्ना (पृ. ३७)।”

धम्मिल्लहिण्डी की ही प्रसिद्ध धनश्री की कथा (पृ. ५०) में इस बात की चर्चा है कि उज्जयिनी के प्रतापी व्यापारी सागरचन्द्र की पत्नी चन्द्रश्री बड़ी कामदुर्बल थी। सागरचन्द्र परमभागवत और भगवद्गीता के अर्थ का वेत्ता था, इसलिए उसने अपने पुत्र समुद्रदत्त के पाखण्डदृष्टि हो जाने की आशंका से, उसे किसी पाठशाला में न भेजकर, घर में ही परिव्राजक से शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था कर दी। एक दिन समुद्रदत्त पट्टिका (स्लेट) रखने के लिए अपने घर में गया। वहाँ उसने अपनी माँ को परिव्राजक के साथ ‘असभ्य आचरण’ करते देखा। उसी समय से उसे सम्पूर्ण स्त्रीजाति के प्रति विराग हो आया और उसने विवाह न करने का निश्चय कर लिया।

कथाकार ने दुःशीला चन्द्रश्री के ठीक विपरीत उसकी दृढशीला पतोहू धनश्री का आवर्जक चरित्रांकन किया है। विवाह न करने को दृढसंकल्प समुद्रदत्त को, उसके पिता ने, व्यापार के व्याज से सौराष्ट्र भेज दिया। उसके कुछ मित्र भी साथ गये। सागरचन्द्र ने पहले ही सौराष्ट्र-यात्रा के क्रम में वहाँ के ‘धन’ नामक व्यापारी की पुत्री धनश्री को कन्याशुल्क देकर अपने पुत्र के लिए वरण कर लिया था। रात में भोजन के बहाने समुद्रदत्त के साथ उसके साथी धन सार्ववाह के घर पहुँचे और वहाँ उसका धनश्री के साथ विवाह करा दिया। किन्तु, सुहागरात में ही वह (समुद्रदत्त) अपनी पत्नी को चकमा देकर निकल भागा।

कुछ दिनों बाद, समुद्रदत्त ने अपना नाम विनीतक रख लिया और वेश बदलकर पुनः धनश्री के घर आया और उसने अपनी उद्यानसज्जा, गन्धयुक्ति आदि कलाओं की विशेषज्ञता के बल पर धनश्री के पिता को अनुकूलित कर लिया और वह क्रमशः धनश्री का भी विश्वासपात्र बन गया। वह बराबर धनश्री के साथ ही रहने लगा। एक दिन धनश्री अपने छज्जे पर बैठी पान चबा

रही थी। उसी समय एक आरक्षी-अधिकारी (डिण्डी)^१ उस महल के निकट से जा रहा था। धनश्री ने पान धूका, तो उसी पर पड़ गया। आरक्षी-अधिकारी ने ऊपर आँख उठाई, तो देवी-सदृश धनश्री को देखकर वह कामाहत हो उठा। आरक्षी-अधिकारी ने धनश्री के समागम की प्राप्ति के निमित्त विनीतक से दौत्य-कार्य कराया, किन्तु धनश्री विचलित नहीं हुई। विनीतक का मन रखने के लिए धनश्री ने आरक्षी-अधिकारी को अपने अशोकवन में बुलवाया और उसे योगमद्य पिलाकर बेहोश कर दिया, फिर विनीतक के समक्ष ही धनश्री ने आरक्षी-अधिकारी की गरदन उसकी ही तलवार से काट डाली। धनश्री के इस प्रकार की चारित्रिक दृढ़ता देखकर समुद्रदत्त का नारीविद्वेषमूलक हीन संस्कार सहसा तिरोहित हो गया और वह उसके साथ गार्हस्थ्य-जीवन बिताने लगा।

इस कथा के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के प्रसंगों से कथाकार ने यह स्पष्ट किया है कि तत्कालीन समाज में केवल चरित्रहीन स्त्रियाँ ही नहीं होती थीं, अपितु अपने चरित्रोत्कर्ष से चमत्कृत करनेवाली नारियों की भी कमी नहीं थी। पुनः इस कथा से आरक्षी अधिकारियों के चारित्रिक दुर्बलतावश विनाश को प्राप्त होने का भी संकेत मिलता है। स्त्रियों के चरित्रोत्कर्ष के चित्रण के क्रम में कथाकार ने राजगृह-निवासी ऋषभदत्त इभ्य की पत्नी धारिणी को 'शीलालंकारधारिणी' (कथोत्पत्ति : पृ. २) विशेषण से विभूषित किया है।

स्त्रियों के चरित्र पर अविश्वास के और भी दो-एक प्रसंग द्रष्टव्य हैं। चारुदत्त की आत्मकथा (गन्धर्वदत्तालम्भः पृ. १३६) में सन्निविष्ट अमितगति विद्याधर के प्रसंग में, पुलिन पर उभरे पदचिह्नों को देखकर चारुदत्त के मित्र गोमुख आदि अपने-अपने अनुमान और कल्पना के आधार पर विद्याधर और विद्याधरी की अद्भुत कथा गढ़ते हैं। उसी क्रम में गोमुख कहता है : "विद्याधर की प्रेयसी (सुकुमारिका) मनुष्ययोनि की है। वह उसे कन्धे पर लेकर रमणीय स्थानों में संचरण करता है।" हरिसिंह ने पूछा : "यदि वह प्रिया है, तो विद्याधर उसे भी विद्या क्यों नहीं सिखा देता?" गोमुख बोला : "वह विद्याधर मत्सरी और शंकालु है। सोचता है, विद्या सीखकर विद्याधरी बनी हुई प्रिया कहीं स्वैरिणी न हो जाय, इसीलिए विद्या नहीं सिखाता है।" इस वार्तालाप से यह स्पष्ट संकेतित होता है कि विद्याबल-सम्पन्न विद्याधरियों का चरित्र विश्वसनीय नहीं होता था और वे कामाचार में स्वच्छन्द हुआ करती थीं।

इसी क्रम में अमितगति की उक्त पत्नी सुकुमारिका का एक अन्य प्रसंग (तत्रैव : पृ. १३९) भी ध्यातव्य है। जैसा पहले कहा गया, अमितगति को सुकुमारिका पर विश्वास नहीं था। वह सुकुमारिका को आकाशगमन की विद्या इस भय से नहीं सिखा रहा था कि कहीं वह स्वच्छन्दचारिणी न हो जाय। इसका एक प्रत्यक्ष कारण भी था। अमितगति की उपस्थिति में, उसका पहले का मित्र और बाद का प्रतिनायक धूमसिंह सुकुमारिका को बहकाता था। यद्यपि, सुकुमारिका अमितगति

१. 'डिण्डी' का उल्लेख संस्कृत या प्राकृत-साहित्य में 'वसुदेवहिण्डी' के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। डॉ. भोगीलाल ज. साण्डेसरा ने डॉ. मोतीचन्द्र को लिखा था कि 'वसुदेवहिण्डी' (भावनगर-संस्करण) के मूल पृ. ५१ में इस शब्द का सात बार प्रयोग हुआ है और उन्होंने अपने गुजराती-अनुवाद में डिण्डी का अर्थ न्यायाधीश किया है, पर अब वह स्वयं इस अर्थ को ठीक नहीं मानते। डॉ. मोतीचन्द्र ने डिण्डी का अर्थ 'मनचला शौकीन छैला' किया है और गुजराती के 'आवारा' अर्थपरक 'डांडा' को 'डिण्डी' से विकसित माना है। —डॉ. 'चतुर्भाणी' की भूमिका, पृ. ६१-६२; बुधस्वामी ने 'डिण्डी' के स्थान पर 'डिण्डिक' का प्रयोग किया है और उसका अर्थ वेतनभोगी शस्त्रधारी आरक्षी के अर्थ में किया है।

से धूमसिंह की बुरी नीयत से की जानेवाली इशारेबाजी और बातचीत के बारे में कहती थी, किन्तु वह इस बात पर विश्वास नहीं करती था, फिर भी वह मन-ही-मन आशंकित अवश्य रहता था।

एक दिन अमितगति स्नान आदि से निवृत्त हो चुका था और उसकी पत्नी सुकुमारिका तथा धूमसिंह दोनों मिलकर उसका केश सँवार रहे थे। एक बार अमितगति ने स्वयं अपने हाथ में दर्पण ले लिया, तभी दर्पण में उसने देखा कि उसके पीछे खड़ा धूमसिंह अंजलि बाँधकर सुकुमारिका से प्रार्थना कर रहा है। तब, अमितगति ने रुष्ट होकर धूमसिंह से कहा : “तुम्हारा मित्रभाव अनार्यों के सदृश है। भागो यहाँ से, अन्यथा मैं तुम्हें मार डालूँगा।” शंकालु धूमसिंह अमितगति की बात से बिदककर चला गया और फिर दिखाई नहीं पड़ा। किन्तु, एक बार अमितगति जब अपनी पत्नी के साथ नदी के पुलिन-प्रदेश पर विहार कर रहा था, तभी धूमसिंह लतागृह से निकला और भय से रोती-चिल्लाती सुकुमारिका को उठा ले गया। अन्त में विद्या के बल से सुकुमारिका अमितगति को वापस मिल गई और विद्याधर-श्रेणी के वृद्धों ने विद्याधरों के साथ धूमसिंह की बोलचाल बन्द करा दी।

नीतिकारों ने कहा है कि ‘भार्या रूपवती शत्रुः।’ सुन्दरी स्त्रियाँ शत्रुवत् होती हैं। सुकुमारिका की सुन्दरता के कारण ही अमितगति को अशेष क्लेश भोगना पड़ा और उसे उसके चरित्र पर भी अनावश्यक सन्देह होता रहा। ‘वसुदेवहिण्डी’ में धूमसिंह जैसे और भी कतिपय कामलोलुप दुष्ट पात्र (जैसे, मानसवेग, दण्डवेग, अंगारक, नीलकण्ठ, हेम्पफग आदि) हैं, जो विद्याधर-समाज में परनारीलम्पटता, धृष्टता, हठाग्रहप्रियता आदि अपने अतिरेचक प्रतिगामी गुणों के लिए प्रसिद्धि-प्राप्त हैं।

उस युग में कभी-कभी सपलियाँ भी चारित्रिक अविश्वास उत्पन्न करके किसी स्त्री के कष्टकुल जीवन को और अधिक संकट में डाल देती थीं। इस सम्बन्ध में धम्मिल्लहिण्डी के अन्तर्गत चित्रित उज्जयिनीवासी वसुमित्र की पुत्री वसुदत्ता का उदाहरण द्रष्टव्य है (पृ. ५२)। अपनी सास की बात न मानकर आसन्नप्रसवा वसुदत्ता अपने दो छोटे-छोटे बच्चों के साथ माँ-बाप से मिलने, अपनी ससुराल कौशाम्बी से पीहर उज्जयिनी के लिए चल पड़ी। उसका पति उसी समय प्रवास से लौटा और अपने माता-पिता से वसुदत्ता के चले जाने का समाचार पाकर वह भी उसकी खोज में निकल पड़ा। वसुदत्ता, सार्थवाहों का संग छूट जाने के कारण, भटक गई थी, तभी उसका पति उससे आ मिला। किन्तु, रात हो जाने के कारण पति-पत्नी अपने बच्चों के साथ वहीं जंगल में रुक गये। उसी रात में वसुदत्ता ने एक बच्चे को जन्म दिया। उसी समय, मनुष्य-गन्ध पाकर एक बाघ आया और उसके पति को उठा ले गया। पतिशोक में वसुदत्ता मूर्च्छित हो गई और दोनों बच्चे भी भय से बेहोश हो गये। नवजात शिशु भी, माँ का दूध न मिलने के कारण, मर गया। सुबह होश में आने पर वसुदत्ता अपने दोनों बच्चों को लेकर चल पड़ी। तभी घनघोर बरसा हो गई और पहाड़ी नदी में वन्या आ गई। नदी पार करने के क्रम में वह तेज धार में बह गई और उसके दोनों बच्चे भी नदी में डूब गये। नदी में बहती हुई वसुदत्ता नदी-तटवर्ती, गिरे हुए पेड़ की शाखा पकड़कर बाहर निकल आई। तभी, नदीतट के जंगलों में रहनेवाले नोरों ने उसे पकड़ लिया और सिंहगुहा नाम की चोरपत्नी में ले आये। नोर लेनापात कालदण्ड ने उसे रूपवती देखकर, अपने अन्तःपुर में ले जाकर अपनी प्रधानमहिषी बना लिया।

कालदण्ड की अन्य स्त्रियों को जब उसका शरीर-परिभोग नहीं मिलने लगा, तब वे वसुदत्ता को उससे अलग करने का षड्यन्त्र सोचने लगीं। कालक्रम से वसुदत्ता के एक पुत्र हुआ, जो

देखने में अपनी माँ के समान ही रूपवान् था। वसुदत्ता की उन दुष्टा सपलियों ने कालदण्ड को भड़काया : “तुम अपनी प्रधानमहिषी का चरित्र नहीं जानते। यह परपुरुष में आसक्त है। यह तुम्हारा पुत्र परपुरुष से ही उत्पन्न हुआ है। यदि तुम्हें विश्वास नहीं होता, तो अपने से मिलाकर देखो।” कालदण्ड के मन में कड़ुवाहट भर आई। उसने म्यान से तलवार निकाल-कर उसमें अपना मुँह देखा। रूपवान् लड़के के मुख से उसके विकृत मुख का कोई तालमेल ही नहीं था। बस, उस पापी ने विना सोचे-समझे तलवार से अपने नवजात पुत्र के दो टुकड़े कर दिये और वसुदत्ता को पहले बेंत और चाबुक से पिटाया, फिर उसका माथा मुड़वाकर अपने चोरों को आदेश दिया कि इसे पेड़ से बाँध दो। चोरों ने उसे शालवृक्ष के साथ रस्सी से बाँध दिया और उसके चारों ओर काँटे बिखेर दिये। वह बेचारी पूर्वकर्मनिवृत्तिमूलक दुःख का अनुभव करती अनाथ बनी बिसूरती रही।

इस कथाप्रसंग से इस बात की जानकारी मिलती है कि तत्कालीन सपलियाँ किसी एक स्त्री के प्रति आकृष्ट अपने पति का कामभोग न पाकर क्षुब्ध हो उठती थीं और प्रतिक्रियावश उस अतिशय प्रिय स्त्री के सम्बन्ध में, पति के मन में चारित्रिक अविश्वास उत्पन्न करके उसे जघन्यतम स्थिति में पहुँचा देती थीं। इससे इस बात की भी सूचना मिलती है कि कामपरवश स्त्रियाँ इतनी अधिक भयंकर हो जाती हैं कि उनकी निर्ममता राक्षसी के क्रूरतम आचरण को भी मात कर देती है। कहना न होगा कि प्राचीन भारतीय कथा-वाङ्मय में सामाजिक स्थिति के चित्रण के क्रम में, सपलियों के खलचरित के अनेक रोमांचक आयाम उपलब्ध होते हैं, किन्तु संघदासगणी द्वारा प्रस्तुत सपली के उक्त कपटाचरण की कथा के आस्वाद में सर्वथा भिन्न तीक्ष्णता की अनुभूति होती है। अपने से बड़ों की बात न मानने के कारण वसुदत्ता की जो कदर्थना हुई है, उससे भारतीय समाज की स्त्रियों को एक ऐसी शिक्षा भी मिलती है, जिसका अपना शाश्वतिक मूल्य है।

संघदासगणी ने समाज की कामपरवश स्त्रियों का चित्रण तो किया ही है, स्त्री को कामोत्सुक करनेवाली स्त्री का भी बड़ा उत्तेजक चित्र प्रस्तुत किया है। इस सम्बन्ध में ‘वसुदेवहिण्डी’ के चौदहवें मदनवेगालम्भ की कथा का एक प्रसंग (पृ. २३२) उदाहर्तव्य है। नागसेन नाम का कोई वणिक्पुत्र मथुरा के सागरदत्त सार्थवाह की पत्नी मित्रश्री का रतिसुख प्राप्त करना चाहता था। किन्तु, जब उसे कोई उपाय नहीं सूझा, तब उसने अपनी अभीष्टसिद्धि के लिए अंजनसेना नाम की परिव्राजिका स्त्री से सहायता की याचना की। एक दिन, जब मित्रश्री का पति सागरदत्त प्रवास में था, अंजनसेना उसके घर पहुँची। मित्रश्री ने अंजनसेना को स्वागत-सत्कार करके आसन पर बैठाया। इसके बाद अंजनसेना ने मित्रश्री को नागसेन के प्रति पर्युत्सुक करने के निमित्त बड़े ही प्रलोभक और प्रभावक ढंग से मनोवैज्ञानिकता के साथ बातचीत शुरू की। पहले तो उसने मित्रश्री को अनेक तीर्थों और विभिन्न जनपदों की कथाएँ सुनाई। फिर, उसके दुर्बल और मलिन रहने का कारण पूछा। इसपर मित्रश्री ने बताया कि पति के प्रवास में रहने के कारण अपने शरीर का संस्कार उसके लिए उचित नहीं है। तब, अंजनसेना बोली: “स्नान आदि से शरीर का संस्कार तो करना ही चाहिए। शरीर में देवों का वास रहता है। शरीर के संस्कार से देव पूजित होते हैं।” इसके बाद, नित्य नहानेवाली वह परिव्राजिका कामोत्तेजक गन्धद्रव्य और सुगन्धित फूल लाती और मित्रश्री से कहती: “मुझे यह मिल गया था, तो तुम्हारे लिए लेती आई।” लेकिन, मित्रश्री उक्त सामग्री नहीं लेना चाहती थी। तब अंजनसेना ने मित्रश्री से बुद्धिभेद उत्पन्न करनेवाली बात

कही : “देवता के नैवेद्यस्वरूप इन्द्रियग्राह्य द्रव्यों का उपभोग अवश्य करना चाहिए। अतीत की बातों को नहीं सोचना चाहिए, बल्कि अपने भविष्य पर ध्यान देना चाहिए। मनुष्य का यह गुणधर्म है कि वह दृश्य पदार्थ की स्वयं आकांक्षा करता है, जिस प्रकार माली फूलों की।”

अंजनसेना जब मित्रश्री में विश्वास उत्पन्न कर चुकी, तब उसने एकान्त में उससे कहा : “तुम्हारे मन को जो पुरुष भाये, उसके साथ अपने यौवन का सम्मान करो। वन्यलता की भाँति उपभोग से वर्जित रहना तुम्हारे लिए ठीक नहीं।” तब, अपनी कुलीनता का खयाल कर मित्रश्री बोली : “माता ! परपुरुष की प्रार्थना स्त्रियों के लिए पाप माना जाता है। तुम इस बात की प्रशंसा क्यों कर रही हो ?” अंजनसेना ने दार्शनिक वाचोद्भूति से काम लिया : “इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। कौन पण्डित है, जो इसे नहीं जानता ? शरीर तो (भोग का) निमित्तमात्र है। शरीर नष्ट होने पर कोई भी परभव में नहीं जाता। इसलिए, मूर्ख मत बनो।” अंजनसेना का दार्शनिक तर्क सुनकर मित्रश्री बोली : “हमें अपनी यश-प्रतिष्ठा की भी रक्षा करनी चाहिए।” अंजनसेना उसे आश्चस्त करती हुई बोली : “इस ओर से तुम निश्चिन्त रहो। इसी नगर में नागसेन नाम का रूपवान् बर्बरा युवक है। वह समर्थ भी है और विभिन्न कलाओं में कुशल भी। मैं उसे तुम्हारे घर में इस प्रकार ले आऊँगी और फिर बाहर निकाल ले जाऊँगी कि कोई नहीं जान सकेगा।” इस प्रकार, उस अंजनसेना ने देवता के नैवेद्य के बहाने मित्रश्री को मन्थ और रस के प्रति पूर्ण आसक्त बना दिया। वह बार-बार नागसेन को मित्रश्री के घर ले आती थी और बड़ी होशियारी से बाहर निकाल ले जाती थी।

एक दिन राजपुरुषों ने विना सूचना दिये मित्रश्री के घर पर छापा मारा और नागसेन को पकड़ लिया। उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। अंजनसेना की काली करतूत प्रकाश में आ गई। राजा ने निर्णय करके आदेश दिया : “मुझे वणिक्पत्नी की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि सार्थवाह दूसरे देश में समुद्रयात्रा पर है। आचार का अतिक्रमण करनेवाला नागसेन मृत्युदण्ड का भागी है और परिव्राजिका स्त्री के नाक-कान काटकर उसे देश से निर्वासित कर दिया जाय।” राजाज्ञा के अनुसार, नागसेन को सूली पर चढ़ा दिया गया। अंजनसेना के जब नाक-कान काट लिये गये, तब वह कनखलद्वार में गंगातट पर कठोर अनशन करके मर गई।

संघदासगणी ने तो ऐसी माता का भी जिक्र किया है, जो अपने पोष्यपुत्र के प्रति कामासक्त हो उठी थी (पीठिका : पृ. ८४)। कालसंवर विद्याधर की पत्नी विद्याधरी कनकमाला, धूमकेतु द्वारा अपहृत और भूतरमण अटवी की शिला पर लाकर रखे गये नवजात शिशु प्रद्युम्न को अपने घर उठा लाई और पालने-पोसने लगी। जब प्रद्युम्न सोलह वर्ष का युवा हो गया, तब यौवन से समुद्रासित उसके अद्वितीय रूप को देखकर कनकमाला उसपर रीझ गई और कामपीड़ा से अस्वस्थ रहने लगी। परन्तु, प्रद्युम्न ने उसके काम-प्रस्ताव को ठुकरा दिया और अपने हृदय में उसे गौरवपूर्ण मातृत्व-पद पर ही प्रतिष्ठित किये रहा। किन्तु, कामाहत कनकमाला रुष्ट हो गई और उसने प्रद्युम्न के विरुद्ध अपने पति कालसंवर का कान भर दिया। अन्त में, नारद के द्वारा वस्तुस्थिति का पता लगने पर प्रद्युम्न कनकमाला के चंगुल से निकल भागा।

इन कथाप्रसंगों से यह स्पष्ट है कि स्त्रियों का चरित्र कभी विश्वसनीय नहीं होता। इसीलिए, नीतिकारों ने भी कहा है : “स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुतो मनुष्यः।” अर्थात्,

स्त्रियों के चरित्र को दैव भी नहीं जानता, फिर मनुष्य की क्या बात है ? सबसे अधिक ध्यान देने की बात है कि कथाकार ने, यथोक्त मित्रश्री की कथा में कुटुनी का आचरण करनेवाली परिव्राजिका को उपहासास्पद और दण्डनीय सिद्ध किया है। साथ ही, परिव्राजक-धर्म के प्रति अनास्था भी प्रकट की गई है। इसके अतिरिक्त, और एक महत्वपूर्ण बात की सूचना मिलती है कि परिव्राजिका अंजनसेना, भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार, वैशिक दूती के कार्यकलाप में अतिशय कुशल थी और पुरुषों के प्रति स्त्रियों को उत्सुक करने की कला में भी निपुण थी। भरत ने कहा है कि पुरुष से द्वेष करनेवाली स्त्री को इष्ट कथाओं से और भयग्रस्ता को आश्वासन से अनुकूलित करना चाहिए।^१ तदनुकूल, अंजनसेना ने परपुरुष के संग की बात से भयग्रस्ता मित्रश्री को तीर्थों और जनपदों की विविध कथाओं, शास्त्रीय तर्कों और उचित आश्वासनों से नागसेन के प्रति अनुकूलित किया है। इससे यह प्रकट है कि कथाकार संघदासगणी को वैशिक शास्त्र का गम्भीर ज्ञान था और वैशिक जीवन के विभिन्न व्यावहारिक पक्षों से वह पूर्ण परिचित थे।

भारतीय समाज के उक्त दूषित पक्ष के प्रति सतर्क दृष्टि रखनेवाले कथाकार संघदासगणी ने इस प्रकार की समाजविरोधी घटनाओं को अनुचित ठहराया है; क्योंकि इससे सामाजिक आचार का अतिक्रमण होता है और इसीलिए उन्होंने परस्त्री-गमन की निन्दा की है। उन्होंने अपनी इस मान्यता की पुष्टि के निमित्त परदारदोष के सम्बन्ध में वासव का उदाहरण (द्र. गौतम-अहल्या-कथा, प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९२) भी प्रस्तुत किया है, साथ ही समाज को दूषित करनेवाले कामाचारियों के प्रति कठोर राजदण्ड के प्रावधान का भी उल्लेख किया है। इस युग में समाज की स्त्रियों को बहकाकर मार्गभ्रष्ट करनेवाली पाखण्डी स्त्रियों को भी दण्डित किया जाता था। चूँकि, स्त्रियों के लिए वध के दण्ड का निषेध था, इसलिए उनको, आत्मप्रायश्चित्त के लिए, अंगभंग करके, देश से निर्वासित कर दिया जाता था।

समाज में भाइयों के बीच होनेवाले झगड़े की ओर भी संघदासगणी ने दृष्टिपात किया है। इस सम्बन्ध में जयपुर के राजा सुबाहु के बेटे मेघसेन और अभयसेन की पारस्परिक संघर्ष-कथा (पद्मालम्भ : पृ. २०६) अच्छा प्रकाश डालती है। फिर, केतुमतीलम्भ (पृ. ३२१) में इन्दुसेन और बिन्दुसेन नाम के दो बड़े-छोटे भाइयों के आपसी झगड़े का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। ये दोनों रत्नपुर नगर के राजा श्रीसेन की रानी अभिनन्दिता के पुत्र थे। ये दोनों भाई अनन्तमती गणिका को प्राप्त करने की अहमहमिका में देवरमण उद्यान में परस्पर लड़ पड़े थे। इन दोनों के आपस में लड़कर मर जाने की आशंका से स्नेहमृदुलचित्त पिता राजा श्रीसेन तालपुट-विषमिश्रित कमल का फूल सूँघकर मर गया। इसी प्रकार, अपने सौतेले भाइयों के विरोध के कारण रावण (रामण) भी अपने विद्याधरलोक अरिजयपुर को त्याग कर लंकाद्वीप में जाकर रहने लगा था। उस युग में प्रायः द्यूत, गणिका और राज्य को लेकर ही भाइयों में झगड़ा हुआ करता था। आधुनिक काल में भी, समाज में प्रायः जर, जोरू और जमीन को लेकर ही भाइयों या गोतिया-दायादों में लड़ाई-झगड़े हुआ करते हैं। लोकजीवन के असत् पक्ष का यह लोमहर्षक उदाहरण है। कहना न होगा कि संघदासगणी लोकजीवन के विभिन्न पक्षों की व्यापक अनुभूति को यथार्थ अभिव्यक्ति देनेवाली अद्वितीय कथाकार थे।

संघदासगणी ने कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता का कथानक प्रस्तुत करते हुए, एक ही भव में सामाजिक रिश्ते की विचित्रता पर बड़ा मनोरंजक सन्दर्भ उपस्थित किया है। कथा (कथोत्पत्ति : पृ. १०) है कि मथुरा की कुबेरसेना नाम की गणिका ने यमज सन्तान पैदा की, जिसमें एक पुत्र था और दूसरी पुत्री। उनके नाम रखे गये—कुबेरदत्त और कुबेरदत्ता। दस रात के बाद कुबेरसेना ने उन दोनों नवजात सन्तानों को नाममुद्रांकित करके, रत्नपूरित छोटी नाव में रखकर यमुना में प्रवाहित कर दिया। नाव बहती हुई शौरिकनगर में जा लगी। वहाँ के इष्यपुत्रों ने नाव में बच्चों को देखा, तो एक ने पुत्र को ले लिया और दूसरे ने पुत्री को। क्रम से जब दोनों सन्तानें युवा हुईं, तब दोनों का आपस में (भाई-बहन में) विवाह हो गया। बाद में नाममुद्रा से रहस्य का पता चला। कुबेरदत्ता निर्वेद में पड़कर प्रव्रजित हो गई और चारित्र्यविशुद्धि के कारण उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ।

भूलता-भटकता कुबेरदत्त अपनी माँ कुबेरसेना के घर पहुँचा और वस्तुस्थिति की जानकारी के अभाव में वह उसके साथ गार्हस्थ्य-सुख का अनुभव करने लगा। इसी बीच कुबेरदत्त से कुबेरसेना के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक दिन आर्याओं के साथ विहार करती हुई कुबेरदत्ता, कुबेरदत्त को समझाने के निमित्त, जब कुबेरसेना के घर पहुँची, तब कुबेरसेना अपने नवजात पुत्र को साध्वी कुबेरदत्ता के पास ले आई। प्रतिबोधन का अवसर पाकर, कुबेरदत्त को सुनाती हुई वह, उस बालक से अपने विचित्र सम्बन्धों की चर्चा करने लगी :

“बालक ! तुम मेरे भाई हो; देवर, पुत्र और सपत्नीपुत्र भी हो, भतीजा और चाचा भी हो; तुम जिसके पुत्र हो, वह मेरा भाई और पति है; पिता, पितामह (नानी), ससुर और पुत्र भी है और जिसके गर्भ से तुम पैदा हुए हो, वह मेरी माता, सास और सपत्नी तो है ही, भौजाई, पितामही (नानी) और पतोहू भी है।” वस्तुस्थिति के सामने आने पर कुबेरदत्त को भी वैराग्य हो गया। ठीक यही कथा-प्रसंग हेमचन्द्र के ‘परिशिष्ट पर्व’ के द्वितीय सर्ग में भी उपन्यस्त है।

उपर्युक्त विचित्र सामाजिक चित्रों के अतिरिक्त, ‘वसुदेवहिण्डी’ में और भी अनेक अद्भुत चित्र अंकित हुए हैं, जिनसे कथाकार के सामाजिक जीवन के गहन और सूक्ष्मतर अध्ययन की सूचना मिलती है।

उस युग की यह मान्यता थी कि अतिथि देव-स्वरूप होता है या वह सबके लिए गुरुतुल्य, अतएव पूजनीय होता है। हितोपदेशकार ने लिखा भी है : ‘सर्वदेवमयोऽतिथिः’ और ‘सर्वस्याभ्यागतो गुरुः।’ संघदासगणी ने भी अपनी इस वरेण्य कथाकृति में जगह-जगह अतिथियों की शानदार स्वागत-विधि का उल्लेख किया है। वसुदेव जैसे शलाकापुरुष अतिथि के स्वागत में देश के बड़े-बड़े राजा, सेठ और सार्धवाह जैसे आतिथेयों ने अपने को परम गौरवान्वित और सातिशय कृतार्थ माना है, साथ ही उन्होंने भारतीय शिष्टता और ऋणचरित्र के निर्वाह में उत्कृष्ट आदर्श और सांस्कृतिक एवं आर्थिक आदर्यता का प्रदर्शन किया है।

वैताढ्यपर्वत की दक्षिण श्रेणी के किन्नरगीत नगर के राजा अशनिवेग की रानी सुप्रभा की पुत्री श्यामली से विवाह होने के पूर्व वसुदेव को पवनवेग और अर्चिमाली नाम के दो विद्याधर किन्नरगीत नगर में आकाशमार्ग से ले आये थे। राजा के आदेश से वसुदेव का उत्तम आतिथ्य किया गया था (श्यामलीलम्भ : पृ. १२३)। राजपरिजन के लोग नहाने के बाद पहनने के निमित्त

वस्त्र, आभूषण आदि लेकर आये। अन्तःपुर की कलहंसी नाम की प्रतिहारी और राजपरिजनों ने मिल-जुलकर, नगर के द्वार पर वसुदेव को स्नान कराया। वसन-आभूषण से अलंकृत तथा नागरिकों द्वारा प्रशंसित वसुदेव नगर में प्रविष्ट हुए। राजा अशनिवेग ने उन्हें देखा। उन्होंने उसे प्रणाम किया। उसने उठकर 'सुस्वागतम्' कहते हुए उनका सम्मान किया और अपने साथ ही सिंहासन (अर्द्धासन) पर उन्हें बैठाया।

उस युग के समाज में अतिथियों के स्वागत के निमित्त अर्घ्य, आसन, स्नान, वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माल्य, आलेपन, सुभोजन, मुखशुद्धि के लिए ताम्बूल, उत्तम शयन आदि की प्रस्तुति के साथ ही गीत, नृत्य आदि का आयोजन करना सामान्य शिष्टाचार माना जाता था। स्वागत-सत्कार पर विशेष आग्रह उस युग की सांस्कृतिक विशेषता थी। सामान्य गृहस्थ भी स्वागत-सम्मान में पीछे नहीं रहते थे। 'धम्मिल्लहिण्डी' (पृ. ७४) में उल्लिखित कथा से स्पष्ट है कि सुनन्द के माता-पिता के पूर्वपरिचित कुछ प्रिय पाहुन जब उनके घर आये, तब सुनन्द के पिता महाधन नामक गृहपति ने अपने उन पाहुनों को गले लगाया और मधुर भाषणपूर्वक उनका स्वागत-सत्कार किया, बैठने को आसन दिया, और फिर वह हाथ-पैर धोने को जल ले आया। इस प्रकार, वे पाहुन उसके यहाँ विश्वस्त भाव से सुखपूर्वक ठहरे।

संकट की घड़ी में भी, जब एक मित्र दूसरे मित्र से मिलते थे, तब भी वे परस्पर एक दूसरे का भोजन-पान से सम्मान करते थे। चारुदत्त जब लोहे को सोना बनानेवाले परिव्राजक से पिण्ड छुड़ाकर भागा, तब वह भूख और प्यास से व्याकुल हो उठा और जंगल में काँटों के बीच भटकने लगा। एक जगह चौराहा देखकर वह रुक गया और अनुमान लगाया कि अवश्य ही कोई इस रास्ते से आयगा। तभी देखा कि रुद्रदत्त इधर ही आ रहा है। चारुदत्त को देखते ही वह उसके पैरों पर गिर पड़ा और बोला : "मैं तुम्हारा पड़ोसी रुद्रदत्त हूँ।" फिर उसने पूछा : "चारुदत्त ! तुम इधर कहाँ से आ गये ?" तब चारुदत्त ने रुद्रदत्त से अपना पिछला सारा वृत्तान्त कह सुनाया। उसके बाद रुद्रदत्त ने उसे लोटे से पानी पिलाया और पाथेय भी खिलाया ("ततो दिण्णं करगोदगं तेण, पाहेयं च णेण"; गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४८)।

इस कथाप्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि उस युग में पानी पीने के बरतनों में लोटे को ही प्रमुखता प्राप्त थी। सोने की गजमुख झारी भी प्रयोग में लाई जाती थी। विमलसेना धम्मिल्ल के स्वागत के लिए सुवर्णनिर्मित गजमुख झारी में ही अर्घ्य लेकर उपस्थित हुई थी : "हत्थे पाए, य पक्खालेऊण सुद्धवासाभोगा सोवण्णेणं गयमुहेणं भिगारेणं अण्णं घेत्तूण निग्गया"; (धम्मिल्लहिण्डी, पृ. ६६)।

'वसुदेवहिण्डी' में तत्कालीन समाज की वात्सल्यमयी स्त्रियों का भी आवर्जक चित्रण हुआ है। उनमें सन्तान की कामना सहज भाव से रहती थी। चारुदत्त की माँ भद्रा "उच्चप्रसवा" हो गई थी, अर्थात् उसे पुत्र नहीं प्राप्त होता था, इसलिए वह पुत्रार्थिनी निरन्तर देव-नमस्कार और तपस्विजनों की पूजा में निरत रहती थी (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३३)। सन्तान-कामना की पूर्ति के निमित्त हरिनैगमेषी देव की आराधना का विधान भी प्रचलित था (पीठिका, पृ. ९७)। कृष्ण ने सत्यभामा से रुक्मिणीपुत्र प्रद्युम्न के समान ही पुत्र की प्राप्ति के लिए हरिनैगमेषी देव की आराधना की थी। माता-पिता अपने पुत्र को गोद में बैठाकर और उसके माथे को सूँघकर अपने वात्सल्य-स्नेह के

अतिरेक का प्रदर्शन करते थे। जन्म लेते ही धूमकेतु द्वारा अपहृत प्रद्युम्न जब युवा होकर विद्याधरलोक से लौटा, तब वह अश्रुपूर्ण आँखों से माँ के चरणों में झुक गया। माता रुक्मिणी के भी बहुत दिनों से रुके आँसू प्रवाहित हो उठे। उसने 'बेटे, तुम्हारा स्वागत है, अनेक हजार वर्षों तक जीओ' कहकर प्रद्युम्न को अँकवार में भर लिया और फिर गोद में बैठाकर उसके मुँह में अपना स्तन डाल दिया ("सागयं पुत्र, जीवसु बहूणि वाससहस्राणि त्ति अभिपांदिदु, उच्छंगे निवेसाविरुण दिण्णो मुहे थणो"; तत्रैव, पृ. ९६)। इसी प्रसंग में यह भी उल्लेख है कि प्रद्युम्न ने अपनी धर्ममाता विद्याधरी कनकमाला से प्रज्ञप्तिविद्या प्राप्त की थी। प्रज्ञप्तिविद्या के बल से वह पहले लघुतापस के रूप में अपनी माँ के समक्ष उपस्थित हुआ था और माँ से खीर खिलाने की जिद ठान दी थी। लघुतापस से बातचीत करती तथा दासियों को शीघ्र खीर तैयार करने का आदेश देती हुई रुक्मिणी की आँखें प्रफुल्लित हो गईं और अवचेतन में स्थित वात्सल्य के भावातिरेकवश सहज ही उसके स्तनों से दूध झरने लगा "देवी य खुड्डेण सह आलावं करेती तूरावेत्ती य चेडीओ आगतपण्हया पफुल्ललोयणा संवुत्ता"; (तत्रैव, पृ. ९५)।

इसी प्रकार, कृष्ण ने यादवयोद्धाओं से लड़ते हुए रुक्मिणी के अपहर्ता प्रद्युम्न पर जब अपना सुदर्शन-चक्र चलाया, तब चक्राधिष्ठित यक्ष ने कृष्ण को सूचना दी कि आपने जिस पर चक्र का प्रयोग किया है, वह आपका शत्रु नहीं, वरन् पुत्र है। नारदऋषि विद्याधरलोक से आपके चिरवियुक्त पुत्र को यहाँ ले आये हैं और उन्हीं के मत से देवी का हरण किया गया है। वस्तुतः, रहस्य यह था कि नारद प्रद्युम्न को सामान्य स्थिति में कृष्ण से मिलवाना नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने पिता-पुत्र में भ्रान्तियुद्ध का वातावरण उत्पन्न करा दिया था। नारद की परस्पर लड़वाने की मनोवृत्ति से वैदिक परम्परा भी अपरिचित नहीं है। यहाँ भी कथाकार ने वैदिक परम्परा के ही नारद का जैन रूपान्तर उपन्यस्त किया है। 'वसुदेवहिण्डी' के अन्तर्गत यथाप्रस्तुत कृष्णचरित में, रुक्मिणी और सत्यभामा के सपत्नीत्व-भाव के कारण चलनेवाले गृहयुद्ध में नारद की भूमिका का उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है। अस्तु;

सुदर्शन-चक्र की बात सुनकर कृष्ण शान्त हो गये और चक्र के प्रति पूजाभाव के साथ प्रद्युम्न को प्रीतिपूर्ण आँखों से निहारने लगे। तब, नारद की अनुमति से प्रद्युम्न कृष्ण के निकट गया और उसने उन्हें प्रणाम किया। कृष्ण ने आनन्दाश्रुपूर्ण आँखों से प्रद्युम्न को अँकवार में भर लिया और उसका माथा सूँघते हुए उसे अतिशय फलदायक आशीर्वाद दिया ('आणंदंसुपुण्णजयणेण पिउणा अंकमारोविउ अग्घायो य सिरे'; पीठिका : पृ. ९६)।

इसी प्रकार, अगडदत्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर जब उज्जयिनी वापस आया और अपने घर में प्रविष्ट हुआ, तब स्नेहातुर होकर रोती हुई उसकी माँ ने उसे अपने अँकवार में भर लिया था और उसका माथा सूँघा था ('अवयासियो अग्घाडियो य सीसे')। उसके साथ आई उसकी पत्नी श्यामदत्ता ने उसकी माँ के पैर छुए और माँ ने आनन्दित होकर उसे गले लगाया और घर के भीतर ले गई (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४६)।

उपर्युक्त वात्सल्य-प्रसंगों में माता-पिता के द्वारा अपने युवा पुत्र का माथा सूँघना या गले लगाना या गोद में बैठाना तो सामान्य है, किन्तु माँ के द्वारा युवा पुत्र के मुँह में दूध टपकते स्तन का डालना वात्सल्य का विशिष्ट प्रदर्शन है। फ्रायडवादी आलोचक इस स्नेहातिरेक को रत्यात्मक

दृष्टि से देखें, यह और बात है। किन्तु, यहाँ कथाकार ने उस वात्सल्यमयी माँ के असाधारण मनोविज्ञान की ओर संकेत किया है, जिसका पुत्र जन्म लेते ही उससे बिछुड़ गया था। वही पुत्र जब वर्षों बाद उसे मिला, तब वह स्नेह के आतिशय्यवश सुध-बुध खोकर युवा पुत्र को शिशु समझ बैठी और पुत्रस्नेह के लिए चिरबुभुक्षित मातृत्व की सार्थकता के निमित्त, अवचेतन स्थिति में, अपने प्रसूत (झरते) स्तन को उसके मुँह में डाल दिया। वात्सल्यभाव का यह अतिरेचन स्नेहमयी माँ की असाधारण मनोदशा का परिचायक है, साथ ही कथाकार की अद्भुत मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक प्रातिभ कल्पना का संकेतक भी।

‘वसुदेवहिण्डी’ से यह भी सूचित होता है कि तत्कालीन समाज में निस्सन्तानता की स्थिति बड़ी हेय और दयनीय मानी जाती थी। यहाँतक कि निस्सन्तान व्यक्ति की तपस्या भी निन्दनीय करार दी जाती थी। चौदहवें मदनवेगालम्भ में कथा (पृ. २६६) है कि जमदग्नि की दाढ़ी में घोंसला बनाकर रहनेवाले नर-मादा पक्षी आपस में बात कर रहे थे। नर पक्षी परदेश (हिमालय पर्वत) जाना चाहता था, किन्तु मादा पक्षी उसे रोक रही थी, इसलिए कि परदेश जाकर वह उसे भूल जायगा और दूसरी मादा को स्वीकार कर लेगा। इसपर नर ने मादा को विश्वास दिलाया कि वह वैसा नहीं करेगा। इस बात पर मादा ने नर से जमदग्नि मुनि की शपथ खाने की बात कही। तब नर ने कहा : “तुम दूसरी जो भी शपथ कहो, मैं खाने को तैयार हूँ, लेकिन इस ऋषि के पाप की शपथ नहीं लूँगा।”

जमदग्नि मुनि ने दोनों पक्षियों की बातचीत सुनी, तो उन्होंने नर पक्षी को हाथ से पकड़कर पूछा : “मैं हजारों वर्षों से क्वाँरा और ब्रह्मचारी रहकर यहाँ तप कर रहा हूँ, तो फिर मैंने कौन-सा पाप किया, जो तुम मेरे पाप की शपथ नहीं लेना चाहते हो?” पक्षी ने उत्तर दिया : “आप निस्सन्तान हैं, या विवाह न करके आपने सन्तान-परम्परा का व्यवच्छेद किया है; इसलिए नदी-तटवर्ती वृक्ष की भाँति, जिसकी जड़ों को पानी का वेग निरन्तर खँगालता जा रहा है, निराधार होकर दुर्गति को प्राप्त करेंगे। आपके नाम तक को कोई नहीं जान पायगा। यही क्या कम पाप है? आप सन्तानयुक्त दूसरे ऋषि को नहीं देखते?” पक्षी की बात से प्रभावित जमदग्नि अपनी निःसन्तानता पर चिन्ता करने लगे और अरण्यवास छोड़, दारसंग्रह के लिए इच्छुक हो उठे।

‘वसुदेवहिण्डी’ से यह भी संकेत मिलता है कि उस युग की स्त्रियाँ केवल अपने पतियों को छलनेवाली या कामोष्मा से दग्ध रहनेवाली ही नहीं थीं, अपितु उनपर अभिमान भी करती थीं और लोकधर्म की जानकारी भी उन्हें रहती थी। कथा है (वेगवतीलम्भ : पृ. २२८) कि वेगवती का भाई मानसवेग विद्याधर बड़ा कामलोलुप था। उसने एक दिन किसी विवाहिता मानवी का सुप्तावस्था में अपहरण कर उसे अपने प्रमदवन में ला रखा। किन्तु, मानवी उससे निरन्तर विमुख रहती थी। तब, मानसवेग ने मानवी को अपने प्रति अनुकूलित करने का भार अपनी बहन वेगवती को सौंपा। जब वेगवती ने अपने भाई के रूप, कुल और वय की प्रशंसा करते हुए उसका काम-प्रस्ताव मानवी के समक्ष रखा, तब उसने उस विद्याधरी को जो कड़ी फटकार बतलाई, उसमें एक भारतीय कुल-ललना की प्राचीन पर्यादावादी समाजनिष्ठा के प्रति अविचल भावना का गर्वोद्घोष स्वाभिमान की उत्कृष्टता के साथ अनुगुंजित है।

वेगवती से मानवी ने कहा : “वेगवती ! तुम पण्डिता हो, ऐसा मैंने दासी के मुँह से सुना है। लेकिन, तुम बहुत अनुचित बात करती हो अथवा भ्रातृस्नेह के कारण आचार से चूक गई है।

तो सुनो, माता-पिता कन्या को जिस पति के लिए देते हैं, चाहे वह सूरूप हो या कुरूप, गुणी हो या गुणहीन, विद्वान् हो या मूर्ख, वह उसके लिए आजीवन एकनिष्ठ भाव से देवता के समान सेवनीय है। तभी, वह इस लोक में यशोभागिनी और परलोक में सद्गति की अधिकारिणी होती है। कुलवधू का यही धर्म है। तुम जो मानसवेग की प्रशंसा करती हो, वह अनुचित है। जो राजधर्म के अनुसार चलता है और कुलीन होता है, वह सोई हुई अज्ञात कुलशील स्त्री का अपहरण नहीं करता। तुम्हीं सोचो, यह वीरता है या कायरपन? यदि मेरे आर्यपुत्र को जगाकर वह मेरा अपहरण करता, तो अपने को जीवित नहीं पाता। फिर, जो तुम कहती हो कि मेरा भाई विद्याधर रूपवान् है, तो सुनो, चन्द्रमा से अधिक कान्तिमान् कोई दूसरा नहीं है, उसी प्रकार सूर्य से अधिक तेजस्वी भी कोई नहीं है। मैं भी यही मानती हूँ कि मेरे आर्यपुत्र से अधिक रूपवान् न कोई मनुष्य है, न कोई देव ही। वह अकेला होकर भी सबके साथ युद्ध करने में समर्थ हैं, मतवाले हाथी को वश में कर लेते हैं और शास्त्र में तो बृहस्पति के समान हैं। वह न्यायप्रिय राजकुल में उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार, वे वेगवती, मैं पुरुषोत्तम की पत्नी हूँ। मैं किसी परपुरुष की मन से भी इच्छा करती हूँ, यह बात तुम कभी अपने मन में भी नहीं लाना। मेरे आर्यपुत्र के इतने गुण हैं कि उनका एक जिह्वा से वर्णन करने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैं तो यह मानती हूँ कि जिस प्रकार समुद्र रत्न की खान है और उसी में से निकले कुछ अद्भुत रत्न जनपदों में पाये जाते हैं, उसी प्रकार मेरे आर्यपुत्र में पुरुषोचित समस्त गुण निहित हैं, किन्तु दूसरे पुरुष में तो कुछ ही गुण पाये जाते हैं। इसलिए, तुम खाली मुट्ठी से बच्चों की तरह मुझे मत फुसलाओ और न अनार्य जन के योग्य बात करो।”

सामाजिक सिद्धान्तों से संवलित भारतीय लोकमर्यादा के स्थिति-स्थापक तथा सम्पूर्ण स्त्रीजाति के लिए गौरवजनक, मानवी के इस विद्वत्तापूर्ण वक्तव्य को सुनकर वेगवती ने उस (मानवी) से क्षमा माँगते हुए नम्रतापूर्वक कहा: “आयें! मैं भी लोकधर्म जानती हूँ। यह मार्ग हमारे कुलधर्म के योग्य नहीं है। मानसवेग ने परस्त्री का अपहरण करके अनुचित कार्य किया है। मैंने भ्रातृस्नेहवश तुमसे जो अनभिज्ञात बातें कही हैं, उसके लिए क्षमा करो। मैं फिर ऐसा कभी नहीं कहूँगी।”

यह मानवी और कोई नहीं, वरन् स्वयं चरितनायक शलाकापुरुष वसुदेव की पत्नी सोमश्री है। और, वेगवती भी उनकी पत्नी ही बनी है। इन दोनों के आलाप-प्रत्यालाप के व्याज से संघदासगणी ने पतिप्राणा भारतीय आर्यललना का, आदर्श की दीप्ति से समुद्रासित रूप उपस्थित किया है; साथ ही कुल, शील, विद्या, रूप, गुण और बल से अतिशय ऊर्जस्वल एवं वर्चस्वी भारतीय पति की आदर्श परिभाषा भी प्रस्तुत कर दी है। इसके अतिरिक्त, कथाकार ने यह भी संकेतित किया है कि सुप्तावस्था में स्त्री का अपहरण न केवल समाजविरुद्ध, अपितु राजधर्मविरुद्ध कार्य है। ऐसा कार्य करके राजधर्म का उत्संघन करनेवाला मनुष्य कायर तो है ही, अकुलीन भी है। इसके अतिरिक्त, इस बात की सूचना भी मिलती है कि उस युग की कुछ कन्याएँ पिता के अधीन थीं, इसलिए वे पिता के द्वारा यथारूप निर्वाचित पति को ही स्वीकार करने को विवश थीं, और स्वयंवर की प्रथा प्रचलित रहने के बावजूद वे स्वानुकूल पति प्राप्त करने की सुविधा से वंचित थीं। अन्यथा, यथारूप प्राप्त पति को आजीवन एकनिष्ठ भाव से देवता मानकर पूजा करने की बात मानवी के मुख से कथाकार क्यों कहलवाता? यों, स्वयंवर आयोजित होने पर भी कन्याएँ प्रायः पिता-माता द्वारा अनुमोदित या पूर्वराग की मनोदशा में अपने अन्तःकरण से

वरण किये गये पति को ही अपनाती थीं और इस प्रकार स्वयंवर एक औपचारिक नियममात्र होता था। कहना न होगा, उस युग में पति के निर्वाचन के सन्दर्भ में माता-पिता की इच्छा को तरजीह देने में कन्याएँ अपना गौरव मानती थीं और इसके लिए वे कठोर संघर्ष और गम्भीर साधना को भी सहर्ष स्वीकार कर लेती थीं। 'महाभारत' और पुराणों में इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनमें रूपवती सुकन्या (अन्ध च्यवन ऋषि की पत्नी), पतिप्राणा सावित्री (अल्पायु सत्यवान् की पत्नी), विद्योत्तमा या विद्यावती (कालिदास की मौख्यकालीन विदुषी पत्नी) और फिर 'वसुदेवहिण्डी' की ही रेणुका (वृद्ध जम्भदग्नि तापस की बालका पत्नी) आदि के नाम उल्लेख्य हैं। इस सन्दर्भ में कथाकार ने खाली मुट्ठी दिखाकर बच्चों को फुसलाने की बात लिखकर अपने बालमनोविज्ञान के व्यावहारिक ज्ञान की भी सूचना दी है।

'वसुदेवहिण्डी' से यह मूल्यवान् सूचना भी मिलती है कि उस युग के समाज में जातिभेद के प्रति प्रायः आग्रह नहीं था। जाति की अपेक्षा सुन्दरता और गुण-शील को ही अधिक महत्त्व प्राप्त था। इसीलिए, वसुदेव ने यथाप्राप्त अपनी पत्नियों के रूप-गुण को ही अधिक मूल्य दिया था। संगीत और नृत्य या सभी प्रकार की ललितकलाओं में निपुण होना कन्याएँ या स्त्रियाँ उस काल में अधिक समादृत थीं। सेठ या राजा अपनी पुत्रियों के लिए कलावन्त पति ही ढूँढ़ते थे या कलाविशेषज्ञ, रूपवान् युवा और बलशाली पति की प्राप्ति के उद्देश्य से ही स्वयंवर का आयोजन कराते थे। इस प्रकार, कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' में चित्रित लोकजीवन या समाज के प्रत्येक व्यवहार में जाति की अपेक्षा कला का अधिक मूल्य था।

प्राचीन युग में धनराशि या आभूषणों को जमीन के नीचे गाड़कर रखने की सामान्य सामाजिक प्रथा थी। पति के द्वारा गाड़कर रखे गये धन का पता पत्नी को भी नहीं रहता था। तभी तो, चारुदत्त के पूछने पर उसकी माँ ने उसके पिता द्वारा गाड़कर रखे गये धन के विषय में अपनी अज्ञाता प्रकट की थी : "अहं न याणं निहाणपउत्तं वा वड्डिपउत्तं वा परिज्जनपक्खित्थरपउत्तं वा (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४४)।" स्पष्ट है, जमीन में धन गाड़कर रखना अतिशय व्यक्तिगत और गोपनीय कार्य था। वसुदेव भी अपने साथ अनेक आभूषणों को लेकर भ्रमण करते थे और उनसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति का काम भी लेते थे। किसी नगर में प्रवेश करने के पूर्व वह नगर के बाहर किसी उद्यान में जमीन के नीचे आभूषणों को छिपाकर रख देते थे। चम्पानगरी में प्रवेश करते समय भी उन्होंने प्रच्छन्न भूमिभाग में अपने आभूषणों को छिपाया था, इसका स्पष्ट उल्लेख है : "आभरणाणि पच्छन्ने भूमिभाए णिहिएऊणं अइगओ मि नयरं (तत्रैव, पृ. १२७)।" वसुदेव के साले अंशुमान् ने भी, आकाशचारी हाथी द्वारा अपहृत वसुदेव को ढूँढ़ने के क्रम में, जंगल में रहते समय अपने गहनों को एक दोने में रखकर फलों से ढक दिया था : "ततो आभरणाणि मे पत्तपुडे पक्खिक्खिऊण छाइयाणि फलेहिं (पद्मालम्भ : पृ. २०५)।"

'वसुदेवहिण्डी' से यह भी सूचित होता है कि उस युग में भिखमंगों—दीन, कृपण और अनाथ लोगों की कमी नहीं थी। वसुदेव ने राजगृह की छूतशाला में जीते हुए सोना, मोती और मणियों के ढेर को दीन, कृपण और अनाथ लोगों में बाँट दिया था : "दीणं किवणं अणाहं जणं सद्दावेहि अहं वित्तं दाहामि त्ति (वेगवतीलम्भ : पृ. २४८)।" इसी प्रकार, शाम्ब ने भी छूत में सुभानु से प्राप्त एक करोड़ की राशि दीनों और अनाथों में वितरित कर दी थी : "दीणाणाहाण य दत्तं वित्तं (मुख, पृ. १०६)।"

इसके अतिरिक्त, उस युग में अल्प वित्तवालों के लिए भोजनशाला की भी व्यवस्था थी, जहाँ स्थान बहुत कम रहता था, किन्तु ग्रामवास करनेवालों के लिए सुलभ दूध, दही, घी आदि की प्रचुरता रहती थी। चारुदत्त ने नदी में स्नान करके श्रेष्ठपुरुष जिनेन्द्र की वन्दना की और गाँव (उशीरावर्त के अन्तिम आसन्नवर्ती गाँव) में प्रवेश किया। गाँव में कारखाने चल रहे थे और कारबार हो रहा था। देश और काल के अनुसार लाभ और प्राप्ति की व्यवस्था में संलग्न, उपवन की तरह सजे दूकानों (बाजारों) से वह गाँव नगर के समान दिखाई पड़ रहा था। चारुदत्त गलियों के बीच बने एक घर में प्रविष्ट हुआ और कम स्थानवाली भोजनशाला में हाथ-पैर धोकर उसने भोजन किया (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४५)। इससे यह अनुमान होता है कि उस युग के गाँवों में गृहोद्योगों की प्रचुरता थी और वे अपनी व्यापारिक समृद्धि से नगरों की समानता करते थे।

उस युग में दीपक ही प्रकाश की व्यवस्था का माध्यम था। चारुदत्त ने अंगूठी के मूल्य से कुछ वस्तुएँ खरीदीं और उनसे वह व्यापार करने लगा। उसके मामा विभिन्न देशों से सूत, रुई आदि वस्तुएँ एकत्र करते रहते। एक दिन मध्यरात्रि में चूहे दीये की जलती हुई बत्ती खींच ले गये, जिससे रुई में आग लग गई। चारुदत्त किसी तरह दूकान से बाहर निकला, किन्तु दूकान का बहुत बड़ा हिस्सा जल गया (तत्रैव : पृ. १४५)। इसी प्रकार, एक बार जब रात्रि में मानसवेग वसुदेव को हर ले गया, तब उन्हें बहुत सारे लोग दीपक लेकर चारों ओर सतर्क होकर ढूँढ़ने लगे : “दीविगाहिं मग्गेज्जह सम्मं (वेगवतीलम्भ : पृ. २४९)।” मन्दिरों या भवनों में प्रायः मणि या सुवर्ण के दीपक जलते थे : ‘दीवमणिपकासियं अङ्गयाणि गम्भगिहै ।’ (बन्धुमतीलम्भ) “दीवमणिपगासियं विमानभूयं पासायं” (तत्रैव, पृ. २७९)। ‘पञ्जालियकणगदीवं अङ्गया मो वासगिहं (नीलयशालम्भ : पृ. १८०)।’ एक बार वसुदेव ने सोमश्री का रूप धारण किये हुई एक छलनामयी को दीपक के प्रकाश में ही स्पष्ट रूप से देखा-पहचाना था : ‘पस्सामि य दीवज्जाएण फुडसरीर देवि अण्णमण्णरूवं’ (वेगवतीलम्भ : पृ. २२६)।

‘वसुदेवहिण्डी’ में इस बात का उल्लेख है कि उस समय के लोग बत्तीस नोकों (लीवर) वाले ताले का व्यवहार करते थे। श्रावस्ती के मन्दिर में स्थित ब्राह्मण ने मृगध्वजकुमार और भद्रक भैंसे के यथाश्रुत चरित को समाप्त करते हुए वसुदेव से कहा : “यदि आप मन्दिर और उसमें प्रतिष्ठित सिद्धप्रतिमा का निकट दर्शन करना चाहते हैं, तो क्षणभर प्रतीक्षा करें। अपनी पुत्री के वर का इच्छुक सेठ यहाँ आयगा और वह मन्दिर के द्वार पर लगे बत्तीस नोकोवाले ताले को खोलेगा।” यह कहकर ब्राह्मण चला गया। ब्राह्मण की बात से वसुदेव को बड़ा कुतूहल हुआ और वे तालोद्घाटिनी विद्या से ताला खोलकर मन्दिर के अन्दर चले गये। मन्दिर का द्वार पूर्ववत् बन्द हो गया : “...सेट्ठी धूयवरत्थी एहिंति बत्तीसाणीयगतालियं सो णं तं उग्घाडेहिं ति वोत्तूण गतो। अहं पि को उहल्लेण तालुग्घाडणीय विहाडेऊण अङ्गतो। दुवारं तदवत्थं जायं (तत्रैव : पृ. २७९)।”

उस युग की स्त्रियाँ अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिए मनौती भी मानती थीं। कामपताका ने सूचीनृत्य के प्रदर्शन में निर्विघ्न सफलता के लिए चार दिनों का उपवास करके जिनेन्द्र का अष्टाहिक महामहोत्सव मनाने की मनौती मानी थी। मनौती मानते ही अज्ञात देवी ने नृत्यमंच पर रखी विषबुझी सुइयों को हटा दिया और वह सूचीनृत्य के प्रदर्शन में कथमपि विघ्नित-बाधित नहीं हुई। (“तं च कामपडाया जाणिऊण उवाइयं करेइ—जइ नित्थरामि पेच्छं तो जिणवराण अट्ठाहियं

महामहिमं करिस्सामि । चउत्थभत्तेण य तं नित्थरइ पेच्छं । ता य सुईओ विससंजुताओ देवयाए अवहियाओ (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९३) ।”

संघदासगणी ने सूचना दी है कि उस युग में भी जूठन उठानेवाली दासियाँ रहती थीं । इलावर्द्धन नगर में एक सार्थवाह ने वसुदेव को भोजन के लिए अपने घर पर आमन्त्रित किया । भोजन करके, हाथ-मुँह धोने के बाद वसुदेव ने मुखशुद्धि के लिए सुगन्धफल ग्रहण किया । उसके बाद वह आसन से उठे । शेष अन्न को दासियों ने हटा दिया । “सेसमवणीयमणं परिचारिगाहिं (रक्तवतीलम्भ : पृ. २१९) ।”

तत्कालीन समाज के लोग भी अपना काम निकालने के लिए सम्बद्ध व्यक्ति को धन का प्रलोभन देते थे, जो आजकल ‘घूस’ (‘उत्कोच’) के नाम से प्रचलित है । संघदासगणी ने लिखा है कि सुभानु के विवाह के लिए सज्जित उद्यान को प्रद्युम्न ने विद्याबल से ध्वस्त कर दिया था । इसी कथा को पल्लवित करते हुए कथाकार ने लिखा है कि प्रद्युम्न ने द्वारवती के बाहर एक वनखण्ड में रक्षापुरुषों को वानर उत्पन्न करके दिखलाया और उनसे कहा : “यह वानर भूखा है, इसलिए इसे इस उद्यान में यथाभिलषित फूल-फल खाने को छोड़ दिया जाय ।” रक्षकों ने प्रद्युम्न का कहना न मानते हुए कहा : “यहाँ विवाह का उत्सव होनेवाला है, इसलिए यहाँ कोई नहीं रह सकता ।” तब प्रद्युम्न ने उन्हें एक सुवर्णखण्ड दिया । सुवर्णखण्ड के प्रलोभन में पड़कर रक्षकों ने वानर को उद्यान में घुसने की छूट दे दी । वानर ने क्षणभर में वनखण्ड को पुष्पफल-विहीन कर दिया (पीठिका : पृ. ९३) ।

प्रद्युम्न के पितामह और ‘वसुदेवहिण्डी’ के चरितनायक स्वयं वसुदेव भी आभूषण का प्रलोभन देकर औरतों से काम निकालने में बड़े दक्ष थे । वसुदेव के ज्येष्ठ भ्राता ने जब उनकी उद्यान-यात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिया और बराबर घर में ही रहने की आज्ञा दी, तब वह इस बात का पता लगाने लगे कि किस कारण से उनपर घर से निकलने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है । एक दिन बड़े भाई की धाई से वसुदेव ने अंगराग-द्रव्य पीसती हुई गन्धद्रव्य की प्रभारिणी कुब्जा के बारे में पूछा : “यह किसके लिए विलेपन तैयार कर रही है ?” धाई ने कहा : “राजा के लिए ।” वसुदेव ने पूछा : “मेरे लिए क्यों नहीं ?” धाई ने बताया : “तुमने अपराध किया है, इसलिए तुम्हें विशिष्ट वस्त्राभरण और विलेपन नहीं मिलेगा ।” इसके बाद धाई उन्हें रोकती रही, फिर भी उन्होंने जबरदस्ती उबटन ले ही लिया । तब, धाई रुष्ट होकर बोली : “इन्हीं आचरणों से राजा ने तुम्हारा कहीं बाहर आना-जाना रोक दिया है । फिर भी, तुम अपनी उदण्डता से बाज नहीं आते ।” तब वसुदेव ने उससे यह पता लगाने को कहा कि राजा ने किस अपराध से उन्हें रोक रखा है । किन्तु, धाई राजा के भय से असलियत कह नहीं पाती थी । वसुदेव उसके पीछे पड़ गये और उसे एक अंगूठी देकर अनुनय-विनय किया, तब उसने उन्हें सही वस्तुस्थिति बता दी (श्यामाविज-यालम्भ : पृ. ११९) ।

इसी प्रकार, वसुदेव को मुख समझकर, चम्पानगरी का संगीताचार्य सुग्रीव जब उन्हें अपना शिष्य बनाना नहीं चाह रहा था, तब उन्होंने उपाध्यायानी (सुग्रीव की पत्नी) को कटक (कंगन) घूस में देकर उससे शिष्य के रूप में स्वीकार करने के लिए सुग्रीव के निकट अपनी सिफारिश कराई थी । पाँचवें सोमश्रीलम्भ (पृ. १८२) में भी उल्लेख है कि वसुदेव ने वेदज्ञ

ब्राह्मण ब्रह्मदत्त उपाध्याय की पत्नी को कंगन दक्षिणा में दिया था और अपना परिचय स्कन्दिल गौतम के रूप में उपस्थित करके ब्रह्मदत्त उपाध्याय से आर्य और अनार्य, दोनों प्रकार के वेदों का अध्ययन किया था।

इन कथाप्रसंगों से यह ज्ञात होता है कि पुरायुग के समाज में बहुमूल्य सुवर्ण या मणि-रत्न-निर्मित आभूषण ही धूस या प्रलोभन के लिए दिये जाते थे और इसे 'प्रीतिदान' या 'तुष्टिदान' कहा जाता था; किन्तु आजकल द्रव्य और रुपया, दोनों ही रूपों में धूस देने की प्रथा प्रचलित है, जो अब सर्वथा सामाजिक शोषण का ही पर्याय-प्रतीक बन गई है।

'वसुदेवहिण्डी' से यह संकेत मिलता है कि उस युग में किसी की मृत्यु हो जाने पर उसके आत्मीय पुरसों या पूछताछ के लिए उसके घर पर उपस्थित होते थे। क्षीरकदम्ब उपाध्याय की मृत्यु हो जाने पर उसका शिष्य नारद पितृशोक से तप्त उसके पुत्र पर्वतक के यहाँ गया था। पर्वतक के घर पहुँचकर नारद ने विधवा उपाध्यायानी की वन्दना की और पर्वतक को धैर्य बँधाय कि "तुम शोक मत करो"। ("उक्ञ्जायमरणदुःखयो य ददुव्यो ति संपहारिञ्ज गतो उक्ञ्जा-यगिहं। वंदिया उक्ञ्जायिणी। पव्वयओ य संभासिओ-अप्पसोगेण हो एयव्वंति"; सोमश्रीलम्भः पृ. १९०)।

उस युग में राजा से पूजित होने का सहज गर्व भी लोगों को होता था। और, इसके लिए उन्हें स्वभावतः घमण्ड भी रहता था। परिणामतः, वे स्वच्छन्दचारी हो जाते थे। राजा से समादृत होकर पर्वतक अहंकारी हो गया था और उसने 'अजैर्यष्टव्यम्' मन्त्र की हिसापरक व्याख्या करके हिंसायज्ञ को प्रोत्साहन दिया था ("राजपूजिओ अहं ति गव्विओ पण्णवेति-अजा छगला, तेहि य जइयव्वं इति"; तत्रैवः पृ. १९०-१९१)।

इस प्रकार, संघदासगणी ने भारतीय लोकजीवन के विविध पक्षों की सामाजिक विशेषताओं का समीचीन समुद्भावन किया है, जिनमें मानवजीवन के विभिन्न गुणावगुणों के मनोरंजक तथा लोमहर्षक, विशुद्ध तथा विकृत स्थितियों की स्वच्छ-मलिन छवियाँ उभरकर सामने आई हैं। कहना न होगा कि संघदासगणी की समाज-चिन्ता सम्पूर्ण भारतीय समाज-चिन्तन की समग्रात्मकता के रुचि-वैचित्र्य के आसंग में पारम्परिक उपलब्धियों और प्राप्त न मूल्यों के साथ उपन्यस्त हुई है। समाज के भिद्यत्व और सम्यक्त्व दोनों सहज गुणों या धर्मों को चित्रित करते हुए सम्यक्त्ववादी कथाकार ने समाज की सहज सम्यक्त्व-सिद्धि पर ही अधिक बल दिया है और उन्होंने जिस उत्कृष्ट और आदर्श भारतीय समाज की परिकल्पना की है, तथा उसमें जो लोकमर्यादा रेखायित हुई है, वह अपने शाश्वतिक मूल्य के कारण भावी समाज के लिए दिशानिर्देशक है। संघदासगणी का आदर्श भारतीय समाज तीर्थंकर शान्तिनाथ-कालीन समाज के व्याज से इस प्रकार चित्रित हुआ है :

"भव्य-रूपी कुमुद-वन का बोधन-विकास करते हुए जिनचन्द्र शान्तिनाथ जहाँ-जहाँ विहार करते, वहाँ-वहाँ पच्चीस योजन तक की भूमि समतल और पैदल चलने योग्य हो जाती; उसपर सुगन्धपूर्ण गन्धोदक से सिंचन हो जाता तथा वृन्तसहित पाँच प्रकार के फूलों की वर्षा हो जाती, जिसमें वृन्त नीचे की ओर रहता और फूल ऊपर की ओर खिले रहते। सभी

ऋतुओं में फूलने-फलनेवाले फूलों और फलों से लदकर सभी पेड़ निरुपद्रव भाव से झूमने लगते और प्रमुदित प्रजाएँ धर्मकार्य के साधन में उद्यत हो जातीं। राजा वैर और अमर्ष से मुक्त होकर, सुखाधिगम्य बनकर एवं दान-दया में तत्पर रहकर राज्य करते और वैराग्य होने पर जिस किसी को भी राज्य सौंपकर प्रव्रज्या ले लेते। नरेन्द्र और उनके पुत्र तथा इभ्य (व्यापारी) ऋद्धि-विशेष का परित्याग कर तीर्थकर के चरणों में आश्रय लेकर संयम स्वीकार कर लेते। ब्राह्मण, वैश्य और स्त्रियाँ अपने विशाल वैभव को छोड़कर, विषय-सुख के प्रति निराकांक्ष रहकर प्रव्रज्या ले लेते और श्रामण्य का अनुपालन करते। यदि कोई श्रामण्य के अनुपालन में असमर्थ होता, तो वह गृहधर्म स्वीकार करके तप के लिए उद्यत रहकर विहार करता (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४३)।”

संघदासगणी का यही आदर्श राज्य या समाज परवर्ती रचनाकारों या समाजचिन्तकों की साहित्य-यात्रा के मार्ग में क्रोशशिला बनकर प्रतिष्ठित है। गोस्वामी तुलसीदास के रामराज्य तक में भी उक्त समाज की ही कल्पना का स्वर अनुध्वनित है। जागरूक कथाकार ने राज्यशासित समाज का ऐसा मोहक चित्र खींचा है कि इसके समक्ष तथाकथित प्रजातन्त्रात्मक समाज की छवि भी धूमिल पड़ जाती है। किसी भी उन्नत समाज की कल्पना के लिए सामान्यतः तीन बातें प्रमुख रूप से लक्षणीय होती हैं—राज्य और जनता का अच्छा सम्बन्ध, जनता या प्रजा के लिए राज्य के सेवा-साधनों की सुलभता तथा व्यापारियों की अपरिग्रहशीलता। ये तीनों बातें किसी भी सद्राज्य के सामाजिक विकास की आधारशिलाएँ हैं। संघदासगणी ने अपने आदर्श समाज में इन तीनों विशेषताओं का सम्यक् समावेश किया है : प्रजा का प्रमुदित होकर धर्मकार्य में संलग्न रहना, राजा का सुखाधिगम्य (राजा तक आसानी से पहुँच) होना तथा व्यापारियों का ऋद्धिविशेष को त्याग कर तीर्थकराश्रित होना, ये तीनों गुण उन्नत समाज के यथोक्त प्रमुख तीन लक्षणों में ही परिगणनीय हैं।

यहाँ कथाकार की और एक बात ध्यातव्य है कि उसने ब्राह्मणों, वैश्यों और स्त्रियों को विशाल वैभव का परित्याग कर विषयसुख से निराकांक्ष रहने का आदेशात्मक निर्देश किया है। ऐसा इसलिए कि ब्राह्मण द्वारा कर्मकाण्ड की पाखण्डपूर्ण विडम्बना, वैश्यों द्वारा धन के अनावश्यक संचय से ग्राहकों के आर्थिक परिशोषण और स्त्रियों द्वारा विषय-सुख के भोग की अपरिमित आकांक्षाओं के विस्तार की सहज सम्भावना रहती है, जिससे सामाजिक विकास में अवरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतएव, समाजचिन्तक संघदासगणी ने समाज या राज्य की समुन्नति के लिए अत्यधिक भोग के प्रति निराकांक्षता को अनिवार्य माना है। यहाँ इस महान् कथाकार ने जाति-विषयक कुटिल आक्षेप नहीं किया है, अपितु इसने शास्त्र, धन और काम (धर्म, अर्थ और काम) के प्रतिनिधियों द्वारा अपने अधिकृत सामाजिक विषयों के दुरुपयोग न करने की ओर सही संकेत किया है। इस प्रकार, यह कथास्तथा समाज के गुणावगुणों का कुशल परिरक्षक होने के साथ ही एक आदर्श समाज का क्रान्तद्रष्टा परिकल्पक सिद्ध होता है।

(ख) सामान्य सांस्कृतिक जीवन

किसी भी लोकजीवन या समाज के सांगोपांग अध्ययन के लिए उसके सांस्कृतिक पक्षों पर समग्रता से दृष्टिनिक्षेप करना आवश्यक होता है। इसलिए, उसके सांस्कृतिक जीवन के साथ-साथ उसकी अर्थ-व्यवस्था एवं प्रशासन-प्रणाली, जनजीवन से सम्बद्ध समान्तर दार्शनिक मतवाद तथा भौगोलिक एवं राजनीतिक ऐतिहास्य का भी विश्लेषणात्मक दृष्टि से अनुशीलन अपेक्षित हो जाता है। यहाँ सर्वप्रथम 'वसुदेवहिण्डी' में चित्रित सामान्य सांस्कृतिक जीवन का अध्ययन प्रसंगोपेत है।

संघदासगणी ने ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती या भारत के स्वर्णकाल की संस्कृति के रूपचित्रण के माध्यम से तत्कालीन समाज की कलाचेतना का सघन विवरण उपन्यस्त किया है, जो पाठकों के हृदय में ज्ञान और आनन्द— दोनों की एक साथ सृष्टि करता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि संघदासगणी द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक सामग्री को बीसवीं शती की मानसिकता के साथ देखने से उसके वर्णन धुँधले पड़ जाते हैं, इसलिए जब हम स्वयं अपने-आपको संघदासगणी के काल में ले जाकर उनकी 'वसुदेवहिण्डी' के पाठक बन जाते हैं, तब उनके कथात्मक वर्णनों के मर्म तक पहुँचने के लिए हमारी जिज्ञासा सहज ही उत्कण्ठित होने लगती है।

संघदासगणी का समय स्वर्णयुग का मध्यपूर्व (तृतीय शती का उत्तरार्द्ध और चतुर्थ शती का पूर्वार्द्ध) है। उस समय गुप्तपूर्वकालीन संस्कृति पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी। कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार, विचार आदि की दृष्टि से संघदासगणी के अधिकांश उल्लेख भारतीय स्वर्णकालीन संस्कृति पर समीचीन प्रकाश जालते हैं। किन्तु, सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से अभी तक 'वसुदेवहिण्डी' का सांगोपांग अध्ययन नहीं हुआ है। यहाँ तक कि समग्र विद्वज्जगत् में 'वसुदेवहिण्डी' का केवल नामतः उल्लेख हुआ है, उसके विषय की चर्चा या विवेचन बहुत ही कम मात्रा में उपलब्ध है। सच बात तो यह है कि 'वसुदेवहिण्डी' का सांस्कृतिक वर्णन विचित्र और विराट है, जिसका पुंखानुपुंख अध्ययन एक स्वतन्त्र शोधप्रबन्ध का विषय है। यहाँ स्थालीपुलाकन्याय से संघदासगणी के कतिपय महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तथ्यों का निरीक्षण किया गया है।

यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि संघदासगणी के सांस्कृतिक वर्णन उनकी प्रतिभा और पाण्डित्य से प्रसूत कलावरेण्यता से मण्डित हैं, इसलिए वे नीरस या बोझिल नहीं प्रतीत होते, वरन् अत्यन्त रुचिकर, सरस और हृदयग्राही लगते हैं। सूक्ष्मेक्षिका से देखा जाय, तो संघदासगणी के एक-एक वाक्य, पदशय्या और शब्द में भाव और रस के उच्छलन की सहज अनुभूति या प्रतीति होगी। सचमुच, संघदासगणी की 'वसुदेवहिण्डी' सांस्कृतिक इतिहास^१ का अपूर्व साधन है। फलतः, इसे एक बार पढ़कर तृप्ति नहीं होती, अपितु बार-बार उसके वर्ण्य विषयों के भावों में रमने और 'सुप्रयुक्त' शब्दों के अर्थों से निर्मित होनेवाले बिम्बों को आत्मसात् करने की आकांक्षा उद्भवी होती है।

१. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने अपनी सम्पादित कृति 'दि वसुदेवहिण्डी एन् ऑथेण्टिक जैन वर्सन ऑव दि बृहत्कथा' की भूमिका में सूचना दी है कि नागपुर विश्वविद्यालय के डॉ. ए. पी. जमखेदकर ने पूना विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में, प्रो. एस्. बी. देव के निर्देशन में, 'वसुदेवहिण्डी का सांस्कृतिक इतिहास' विषय पर पी-एच. डी. के लिए, सन् १९६५ ई. में, अपना शोध-प्रबन्ध (अँगरेजी) प्रस्तुत किया था।

‘वसुदेवहिण्डी’ भारतीय सांस्कृतिक जीवन का अनन्त अक्षय कोष है। अतएव, इसमें बहुविध सांस्कृतिक उज्ज्वल चित्र विनिवेशित हैं। संघदासगणी ने अपने समकालीन जीवन से प्राप्त सांस्कृतिक आयामों का अतिशय भव्य उद्घावन किया है, जिनमें गम्भीरता से प्रवेश करने पर सांस्कृतिक सध्ययन के अनेक अन्तर्यामी सूत्रों की उपलब्धि होती है। यहाँ प्रमुख सांस्कृतिक जीवन के कतिपय महत्वपूर्ण प्रसंगों की अवतारणा की जा रही है।

संस्कृति के विभिन्न सन्दर्भ :

भारतीय जीवन में संस्कारों का बड़ा महत्व है। भारतीय शास्त्रों में सोलह संस्कार प्रसिद्ध हैं : गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णभेद, उपनयन, केशान्त, विद्यारम्भ, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि। मनु बारह संस्कार ही मानते हैं। वह कर्णभेद, विद्यारम्भ, वेदारम्भ और अन्त्येष्टि को अपने संस्कारों की गणना में सम्मिलित नहीं करते। यहाँ ज्ञातव्य है कि संस्कार ही संस्कृति है। हिन्दी में ‘संस्कृति’ नव्याविष्कृत शब्द है, जो ‘कल्चर’ (यूरोपीय साहित्य में बेकन को इस शब्द का प्रथम प्रयोक्ता माना जाता है) के पर्यायवाची अर्थ में गढ़ा गया है। यों, प्राच्य शास्त्रों में, आधुनिक शब्द-व्यवहार में स्वीकृत ‘संस्कृति’-स्थानीय प्राप्य शब्द हैं ‘संस्कार’ और ‘संस्क्रिया’। किन्तु, सम्प्रतिकों को ‘संस्कार’ में सोलह संस्कार-मात्र की अर्थसीमा के पूर्वाग्रह की प्रतीति-सी होती है, जबकि ‘संस्कृति’ में उन्हें मानसिक और शारीरिक, दोनों प्रकार की शुद्धता या पवित्रीकरण की समग्रता का बोध विराट् फलक पर उद्भासित प्रतीत होता है। इसलिए, अधुना, ‘संस्कार’ के अर्थ में ‘संस्कृति’ शब्द ही बहुशः प्रचलित है।

वैदिक साहित्य में ‘संस्कृति’ शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में ही हुआ है। ‘यजुर्वेद’ में ‘विश्ववारा संस्कृति’^१ का सन्देश प्राप्त होता है। प्राचीन मानवशास्त्र (एन्थ्रोपोलॉजी) में भी संस्कृति या ‘कल्चर’ शब्द का बड़ा व्यापक प्रयोग हुआ है। डॉ. विश्वनाथप्रसाद वर्मा^२ ने प्रसिद्ध रूसी चिन्तक ब्रोनिस्लाव मालिनोव्स्की और फिर बेकन, हर्डर, काण्ट, फिक्ट, हम्बोल्ट आदि अनेक पाश्चात्य मनीषियों के संस्कृति-विषयक विचारों की विवेचना करते हुए लिखा है कि मानव जिन समस्त उपादानों, उपकरणों और सामाजिक वस्तुओं का उपयोग प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष और सामंजस्य में करता है, उन सबका परिग्रहण संस्कृति में होता है। इस प्रकार, समस्त सामाजिक देनों का नाम संस्कृति है, जिसमें मानव की उपादानात्मक और समन्वयात्मक आवश्यकताओं के सम्मिलित रूपों के दर्शन होते हैं। संस्कृति का अर्थ बहुव्यापक है। मानवों के प्रायः समस्त क्रियाकलाप एवं विश्वासों आदि का बोध इस एक ‘संस्कृति’ शब्द से ही हो जाता है। इस प्रकार, संस्कृति, मनुष्यों की आध्यात्मिक, वैज्ञानिक और रोमाण्टिक दृष्टि की आत्मनिष्ठता का समन्वय उपस्थित करनेवाली तो होती ही है, उनकी नैतिकता, यानी बाह्याचरण और पारम्परिक नियमों के

१. अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायसोषस्य ददितारः स्याम।

सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽग्निः॥

—यजुर्वेद, ७.१४

२. द्रष्टव्य : ‘राजनीति और दर्शन’, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण, सन् १९५६ ई., पृ. ४३९।

पालन आदि को भी आत्मसात् किये रहती है। इससे संस्कृति और सभ्यता की समान्तरता भी स्पष्ट होती है।

गहनता से सोचने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय सोलह संस्कारों में भी नैतिकतामूलक शारीरिक और मानसिक शुद्धता की समग्रता का सघन विनियोग हुआ है। मानसिक शिक्षा; शुचितामूलक शास्त्रविहित यज्ञादि कृत्य; शब्दों, वाक्यों आदि की शुद्धता; स्मरणशक्ति आदि तो संस्कार के स्वरूपगत अर्थ हैं, किन्तु कोशकारों में प्रसिद्ध आटे महोदय ने 'संस्कार' शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ किया है। जैसे : शिक्षा, अनुशीलन, आसज्जा, भोज्य पदार्थ तैयार करना, शृंगार, सजावट, अलंकरण, अन्तःकरण, अन्तःशुद्धि, मनःशक्ति, अपने पूर्वजन्म के कृत्यों की वासना, मन पर पड़ी हुई छाप आदि। बृहत् हिन्दी-कोश (ज्ञानमण्डल, वाराणसी) में तो शुद्ध करनेवाले सम्पूर्ण कृत्यों के अलावा बाह्यजगत्-विषयक कल्पना, भ्रान्तिमूलक विश्वास, पौधों, जानवरों आदि का पालन-पोषण, धातु की चीजें भाँजकर चमकाना प्रभृति समस्त शुद्धिपरक कृत्यों को संस्कार के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। इस प्रकार, परिष्कारमूलक सभी कार्य 'संस्कार' शब्द से ही संज्ञित होते हैं और संस्कार तथा संस्कृति ये दोनों शब्द अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से भिन्न नहीं हैं। फलतः, किसी देश, राष्ट्र, नगर, समाज, परिवार और व्यक्ति के सदाचार, सच्चिन्तन, सत्कर्म, सद्व्यवहार, सद्भाषा, सद्भिचार, सद्भोजन, समीचीन वेशभूषा प्रभृति बाह्याभ्यन्तर कर्मों और भावनाओं की शुचितामूलक समग्रता या समुच्चय ही 'संस्कृति' शब्द से वाच्य है। अतएव, संघदासगणी की 'वसुदेवहिण्डी' में प्रतिपादित सांस्कृतिक तथ्यों का अध्ययन भी विभिन्न भारतीय संस्कारों के परिप्रेक्ष्य में ही वांछनीय है। कहना न होगा कि संघदासगणी ने भारतीय संस्कृति का बहुत ही सूक्ष्म और तलस्पर्श अध्ययन किया था और इसीलिए वह अपनी इस महत्कथाकृति में संस्कृति के महान् व्याख्याता के रूप में उभरकर सामने आये हैं। निष्कर्षतः, संघदासगणी द्वारा उपस्थापित संस्कृति पूर्वाग्रहों की छाया से सर्वथा मुक्त मूलतः 'समग्र संस्कृति' का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे हम 'संस्कृति के चार अध्याय' के प्रथितयश लेखक राष्ट्रकवि दिनकर के शब्दों में 'सामासिक संस्कृति' (कम्पोजिट कल्चर) कह सकते हैं।

'वसुदेवहिण्डी' से सूचना मिलती है कि उस युग में भी गर्भाधान, जातकर्म, नामकर्म आदि संस्कारों को बहुत अधिक महत्त्व प्राप्त था। राजगृह की इभ्यपत्नी धारिणी के पाँच स्वप्न देखने के बाद ही उसके गर्भ का आधान हुआ था। ब्रह्मलोक से ज्युत देवता ही उसके गर्भ में आये थे। तभी, धारिणी को जिनसाधु की पूजा का दोहद उत्पन्न हुआ था और उसने स्वप्न में जम्बूफल का लाभ किया था, इसलिए नवजात शिशु का नाम 'जम्बू' रखा गया था (कथोत्पत्ति : पृ. ३)। इस प्रकार, प्रत्येक तीर्थंकर की माता के, उनके चौदह^१ या सोलह स्वप्न देखने के बाद ही, गर्भाधान की परम्परा प्रथित थी। ऋषभस्वामी की माता ने चौदह और महावीर स्वामी की माता ने सोलह शुभ स्वप्न देखे थे। उसके बाद ही उक्त तीर्थंकरों का अपनी-अपनी माताओं के गर्भ में आधान हुआ था। ऋषभस्वामी की माता मरुदेवी ने स्वप्न में ऋषभ (= वृषभ) को देखा था, इसलिए

१. 'वसुदेवहिण्डी' में उल्लिखित चौदह महास्वप्न इस प्रकार हैं :

गय-वसह-सीह-अभिसेय-दाम-ससि-दिणयरं इयं कुम्भं ।

पउमसर-सागर-विमाण-भवण-रयणुच्चय-सिहि च ॥

—अट्टारहवां प्रियंगुसुन्दरीलम्प, पृ. ३००

नवजात शिशु का नाम 'ऋषभ' (ऋषभस्वामी) रखा गया था। फिर उनका जातकर्म-संस्कार तो स्वयं दिक्कुमारियों ने किया था। कथा (नीलयशालम्भ : पृ. १६०) है कि ऋषभस्वामी के जन्म होने के बाद देवविमान के मध्य में रहने वाली रुचका, रुचकसहा, सुरूपा और रुचकावती, ये चार दिक्कुमारियाँ सपरिवार श्रेष्ठ विमान से आईं और जिन-जननी की वन्दना करके उन्होंने अपने आगमन का कारण बताया। फिर, उन्होंने तीर्थकर का विधिवत् जातकर्म संस्कार किया और नवजात के नाभिनाल को, चार अंगुल छोड़कर काट डाला, फिर उस कटी हुई नाभि को धरती में गड़वा खोदकर गाड़ दिया, फिर उस गड्ढे को रत्न और दूर्वा से भरकर वहाँ पर वेदी (पीठिका) बना दी।

इसके बाद उन दिक्कुमारियों ने अपनी वैक्रियिक शक्ति से दक्षिण, पूर्व और उत्तर इन तीन दिशाओं में मरकतमणि की भाँति श्यामल आभूषणों से मण्डित कदलीघर का निर्माण किया और फिर कदलीघर के मध्यभाग में कल्पवृक्ष की, स्वर्णजाल से अलंकृत चतुःशाला बनाई। उसमें पुत्रसहित जिनमाता को मणिमय सिंहासन पर बैठाकर क्रम से तेल-उबटन लगाया, फिर दक्षिण-पूर्व दिशा में ले जाकर उन्हें त्रिविध (शीत, उष्ण और द्रव्यमिश्रित) जल से स्नान कराया और फिर उत्तरी चतुःशाला में गोशीर्षचन्दन और अरणी की लकड़ी से आविर्भूत अग्नि में हवन-कार्य सम्पन्न किया। इस प्रकार, दिक्कुमारियाँ रक्षाकार्य पूरा करने के बाद माता-पुत्र को जन्म-भवन में लिवा लाईं और मंगल-गीत गाती हुई खड़ी रही।

इससे स्पष्ट है कि उस युग में प्रत्येक मंगलकार्य के अवसर पर हवन-कार्य का विधान प्रचलित था और उस कार्य के लिए गोशीर्षचन्दन और अरणी की लकड़ी को परस्पर रगड़कर अग्नि उत्पन्न की जाती थी। वैदिक यज्ञविधि में भी हवन के लिए अरणी-काष्ठों के मन्थन से अग्नि उत्पन्न करने की शास्त्रीय प्रथा प्रचलित थी। ऋग्वेद में इस सन्दर्भ से सम्बद्ध कई ऋचाएँ^१ उपलब्ध होती हैं।

शिशु के नाम रखने की पद्धति उसके गर्भ या जन्मकाल या उसकी प्राप्ति के हेतुभूत लक्षणों से प्रभावित होती थी। जैसे : गन्धर्व द्वारा प्राप्त होने के कारण चारुदत्त ने अपनी पोष्यपुत्री का नाम 'गन्धर्वदत्ता' रखा था। स्वयं चारुदत्त का नाम भी चारुस्वामी से प्राप्त होने के कारण से सम्बद्ध था। अथर्ववेद का रचयिता 'पिप्पलाद' का नाम भी सकारण था। शिशु-अवस्था में उसके खुले मुँह में पीपल का फल टपक पड़ा था, जिसे वह खा गया था। पीपल खाने से ही उसका नाम 'पिप्पलाद' रखा गया। नवजात अवस्था में वल्कल के बीच रखे जाने के कारण शिशु का नाम 'वल्कलचिरी' रख दिया गया था ('वल्कलेसु ठविओ ति वल्कलचिरी'; कथोत्पत्ति, पृ. १७) इसी प्रकार, प्रत्येक परिवार में भी अपनी सन्तानों के नाम रखने में पितृपरम्परागत विशेषणात्मक शब्दों की आवृत्ति की जाती थी। जैसे : नीलधर विद्याधर की सन्तानों के नाम थे नीलकुमार और

१. (क) अस्तीदमधिमन्थनमरित प्रजननं कृतम्।

एतां विश्वलीमाभराग्निं मन्थाम पूर्वथा ॥ (३.२९.१)

ऊपर मथने की वस्तु विद्यमान है और नीचे जो प्रकट होना है, उन दोनों से हम प्रजाजनों का पालन करनेवाली पूर्वजकल्प अग्नि का मन्थन करें और आप सभी उसे ग्रहण करें।

(ख) अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु।

दिवोदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मर्द्धिर्मुन्योभिरग्निः ॥ (३.२९.२)

हविष्मान् (समृद्धि-सम्पन्न), भाग्यशाली और जागरूक मनुष्यों द्वारा ऊपर और नीचे की अरणियों में स्थित, जैसा गर्भवती स्त्रियों में गर्भ रहता है, प्रतिदिन खोजने योग्य अग्नि को उत्तम प्रकार से धारण किया जाना चाहिए

नीलांजना । नीलकुमार के पुत्र का नाम था नीलकण्ठ और फिर रानी नीलांजना से उत्पन्न पुत्री का नाम नीलयशा रखा गया था । इसी प्रकार, पवनवेग, मानसवेग, वेगवती तथा सहस्रग्रीव, पंचशतग्रीव, शतग्रीव, पंचाशदग्रीव, विंशतिग्रीव, दशग्रीव आदि नाम इस सम्बन्ध में उल्लेख्य हैं ।

उस युग में जन्मोत्सव भी धूमधाम से मनाया जाता था । इस सन्दर्भ में तीर्थंकर ऋषभस्वामी की जन्मोत्सव-प्रक्रिया (नीलयशालम्भ : पृ. १६१) अपने-आपमें अनुपम है । जन्म के बारह दिनों के बाद शिशु का नामकर्म-संस्कार किया जाता था । अयोध्या (साकेत) के, इक्ष्वाकु-वंश में प्रसूत राजा जितशत्रु और सुमित्र ने अपनी रानियों, क्रमशः विजया और वैजयन्ती से उत्पन्न पुत्रों—अजित और सगर का नामकर्म-संस्कार उनके जन्म के बारह दिन बीतने के बाद सम्पन्न किया था : “कालेण य ताओ पसूयाओ । जियस्तुणा निव्वत्ते बारसाहस्स पुत्तस्स नामं अजिओ ति सुमित्तेणं सगरो ति (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३००) ।” ‘बारसाहस्स’ शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि उस युग में शिशु-जन्म के बाद ‘बरही’ संस्कार का विधान भी लोक-प्रचलित था । आज भी ‘बरही’-‘छट्टी’ के विधान की अक्षुण्ण परम्परा समाज में प्रथित है । शिशु-जन्म के छठे दिन ‘छट्टी’ और बारहवें दिन ‘बरही’ की विधि ससमारोह सम्पन्न की जाती है ।

वेदाध्ययन और यज्ञ

‘वसुदेवाहण्डी’ में विभिन्न भारतीय संस्कारों का विपुल वर्णन हुआ है । यद्यपि संध्यासगणी ने अन्नप्राशन, उपनयन, चूड़ाकरण आदि कतिपय प्रमुख संस्कारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, किन्तु वसुदेव की अंगशोभा के वर्णन के क्रम में ‘गले में शोभित यज्ञोपवीत से पवित्र’ (‘गीवासमुल्लसन्तजज्ञोद्वयपवितो’; सोमश्रीलम्भ : पृ. १९४) जैसे वाक्य-प्रयोग से उस युग में उपनयन-संस्कार के प्रचलित रहने का संकेत अवश्य मिल जाता है । द्विजातियों द्वारा वेदाभ्यास की तो भरपूर चर्चा की गई है । श्रमण-परम्परा के युग में भी वेदों या शास्त्रों का अध्ययन ‘कुमारवास’ में रहकर किया जाता था । स्वयं ऋषभस्वामी बीस लाख पूर्व तक कुमारवास में रहे थे (“वीसं सयसहस्साणि पुष्पाणं कुमारवासमज्झाऽऽवसिऊणं”; सोमश्रीलम्भ : पृ. १८३) । ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ में बुधस्वामी ने ‘कुमारवास’ के लिए ‘कुमारवटका’ शब्द का प्रयोग किया है (६.१५) । यह ‘कुमारवास’ या ‘कुमारवटका’ आधुनिक ‘छात्रावास’ का ही पूर्वकल्प था । वसुदेव ने भी वेदस्थामपुर नगर के गिरिकूट ग्राम के मन्दिर में द्विजातियों को वेदाभ्यास करते हुए देखा था : “पस्सामि दियादओ तेसु थाणेसु समागए वेदपरिच्चयं कुणमाणे (तत्रैव : पृ. १८२) ।” यहाँ प्रस्तुत विषयवस्तु से सम्बद्ध रोचक कथा ध्यातव्य है । वसुदेव जब वापी, पुष्करिणी आदि से सुशोभित तथा वनखण्ड से मण्डित गिरिकूट गाँव के निकट पहुँचे, तब वहाँ उन्होंने ब्राह्मणों को वेदाभ्यास करते हुए देखा । वह एक पुष्पकरिणी पर गये । वहाँ उन्होंने स्नान किया और अपने आभूषणों को कपड़े के छोर में बाँधकर गिरिकूट गाँव में प्रवेश किया । वहाँ एक श्रेष्ठ मन्दिर देख उसमें जा घुसे ।

उस मन्दिर में वेदाभ्यास में निरत ब्राह्मण बालक वेद के पदों का उच्चारण करते समय भूल कर बैठते थे । भूल करने के बाद वे मन्दिर से बाहर निकल आते थे, फिर भीतर जाते थे । भीतर आये हुए एक ब्राह्मण बालक से वसुदेव ने पूछा : “इस मन्दिर में ब्राह्मण के बालक वेदाभ्यास क्यों करते हैं ? स्थूलन (भूल) होने पर बार-बार बाहर क्यों निकल आते हैं ?” ब्राह्मण बालक ने

कहा : “सौम्य ! सुनिए । ग्रामनायक देवदेव की रूपवती, पण्डिता और सुलक्षणा पुत्री सोमश्री के विषय में ज्योतिषियों ने कहा है कि वह श्रेष्ठ पुरुष की पत्नी बनेगी । मन्दिर में प्रतिष्ठित केवलज्ञानी बुध और विबुध साधुओं की प्रतिमाओं के समक्ष जो श्रेष्ठ पुरुष वेद के प्रश्नों का उत्तर देगा, उसी को वह कन्या दी जायगी । इसलिए, सोमश्री के रूप और ज्ञान से विस्मित ब्राह्मणपुत्र वेदाभ्यास करते हैं । मन्दिर से बाहर-भीतर होने का यही कारण है ।”

उसके बाद, उक्त ब्राह्मणपुत्र से पूछकर वसुदेव उस गाँव के प्रधान उपाध्याय ब्रह्मदत्त के घर आये । उन्होंने ब्राह्मण उपाध्याय से वेदार्थ पढ़ने की इच्छा व्यक्त की । ब्रह्मदत्त आर्य और अनार्य दोनों वेदों को जानता था । वसुदेव ने दोनों वेदों के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की । तब, ब्रह्मदत्त ने पहले आर्यवेद की उत्पत्ति-कथा (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८३) इस प्रकार बतलाई : श्रावकों के साथ अनेक कुतूहली लोग भी राजा भरत के दरबार में जाते और राजा के दर्शन को देवदर्शन के समान मानते और आशीर्वाद देते । भोजनशाला के द्वार पर नियुक्त पुरुष ने श्रावकों के साथ अन्य कुतूहलियों की भीड़ देखकर राजा के निकट जाकर निवेदन किया : “महाराज ! श्रावकों के बहाने अनेक कुतूहली आपको देखने आते हैं और भोजनशाला में घुस जाते हैं । अब आपकी जैसी आज्ञा हो ।” भरत ने सोच-विचारकर कहा : “ठीक है, श्रावकों और कुतूहलियों को अलग-अलग किया जायगा । कुतूहली लोग माहण (ब्राह्मण) हैं । इन्होंने प्राणिवध न करने की प्रतिज्ञा कर रखी है । ‘मा हन जीवान् इति’ (‘मा हणह जीवे ति तओं माहण’ ति वुच्चंति) इस निरुक्ति के आधार पर ही वे ‘माहण’ कहलाते हैं ।”

राजा भरत ने सबको (कुतूहलियों को) बुलवाया और पूछा : “अहिंसा-शील से युक्त जितने लोग हैं, सभी अपने-अपने को प्रस्तुत करें ।” प्रत्येक ने अपने तप, शील और गुणव्रत के विषय में कहा । उनमें जितने पंचाणुव्रती थे, उनके लिए राजा ने काकिणी-रत्न (बीस कौड़ी मूल्य का एक सिक्का) से एक तिरछी (वैकक्षिक) रेखा बना दी । और, जो तीन गुणव्रत और अणुव्रत धारण करनेवाले थे, उनके लिए दो रेखाएँ खींचीं । फिर, जो अणुव्रत और गुणव्रत के साथ ही शिक्षाव्रत धारण करते थे, उनके लिए तीन रेखाएँ डालीं । इस प्रकार से रेखांकित सभी कुतूहली, ‘माहण’ (ब्राह्मण) के रूप में प्रसिद्ध हुए । उनके आचार और धर्म को एक लाख श्लोकप्रमाण में ग्रथित किया गया । उसके बाद वे ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं (श्रावकों के विशिष्ट नियम) के विधान से युक्त, शीलव्रत-नियमों के विचारों से विभूषित, मरणविधि, सुगति-गमन एवं शुक्लध्यान में प्रत्यागमन आदि बोधिलाभ के फल से युक्त तथा निर्वाण-प्राप्ति के उपाय की देशना के सार से समन्वित परमर्षि द्वारा उपदिष्ट आर्यवेद पढ़ने लगे । ज्ञातव्य है कि श्रमण-परम्परा के वेद का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व था ।

ऋषभस्वामी के निर्वाण के बाद भरत ने तीर्थंकर की निर्वाणभूमि पर स्तूप बनवाये और उत्सव कराया । ब्राह्मणों ने भी जिनभक्तिवश तथा चक्रवर्ती भरत की अनुमति से उत्सव किया । जिनेश्वर तथा चक्रवर्ती राजा भरत के प्रति श्रद्धावश राजे-महाराजे वहाँ (स्तूप के निकट) बराबर एकत्र होने लगे । आदित्यश आदि भरत के वंशजों ने ब्राह्मणों को सुवर्णसूत्र प्रदान किये । इस

१. मूल ग्रन्थ में, कथाकार ने, वेदोच्चारण में स्खलन होने पर, मन्दिर से बाहर निकल कर फिर भीतर जाने की स्थिति के किसी स्पष्ट कारण का उल्लेख नहीं किया है, फिर भी यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि वेदाभ्यासी ब्राह्मण बालकों के निमित्त, वेदपाठ में स्खलन होने पर, कुछ देर के लिए मन्दिर से बाहर निकल जाने का नियम निर्धारित होगा ।—ले.

प्रकार, आर्यवेद और ब्राह्मणों की उत्पत्ति प्रथम चक्रवर्ती भरत के समय हुई। यह श्रावक-प्रज्ञप्ति-मूलक वेद कालक्रम से संक्षिप्त हो गया और थोड़े अंशों में लोक-प्रचलित रहा।

उपाध्याय ब्रह्मदत्त ने अपने गौतमगोत्रीय शिष्य स्कन्दिल (चरितनायक वसुदेव) को आर्यवेद की उत्पत्ति बताकर अनार्यवेद की भी उत्पत्ति-कथा (सोमश्रीलम्भः पृ. १८५) कही। यह कथा भी कई अन्तःकथाओं से संवलित है तथा विषयवस्तु की दृष्टि से पर्याप्त रोचक और चमत्कारी है। अनार्यवेद आर्यवेद के ठीक विपरीत हिंसामूलक वेद था। चेदिदेश की शुक्तिमती नगरी में क्षीरकदम्ब नामक उपाध्याय था। उसके पुत्र का नाम पर्वतक था। वहीं नारद नाम का ब्राह्मण और वसु नाम का राजपुत्र रहता था। ये सभी उपाध्याय के शिष्यों के साथ आर्यवेद पढ़ते थे। एक समय, जबकि देश की अवस्था बहुत सुखमय और अनुकूल थी, क्षीरकदम्ब के घर दो साधु भिक्षा के लिए आये। उनमें एक अतिशय ज्ञानी था। उनमें दूसरे साधु से कहा : “ये जो तीन आदमी (पर्वतक, नारद और वसु) हैं, उनमें एक तो राजा होगा, दूसरा नरकगामी होगा और तीसरा देवलोक का अधिकारी होगा।” क्षीरकदम्ब ने इस बात को प्रच्छन्न रूप से सुन लिया। उसके मन में चिन्ता हुई : “वसु तो राजा होगा, लेकिन पर्वतक और नारद, इन दोनों में, पता नहीं कौन नारकी होगा?” इसके बाद उसने एक कृत्रिम बकरे का निर्माण किया और कृष्णपक्ष की अष्टमी तिथि की रात्रि में नारद को आदेश दिया कि वह इसे जनशून्य स्थान में ले जाकर इसका वध कर दे। किन्तु, बकरे को अवध्य मानकर तथा देवदृष्टि, वनस्पतियों की सचेतनता एवं आत्मदृष्टि के आधार पर कहीं भी जनशून्यता न देखकर नारद ने गुरु के आदेश-पालन में अपनी असमर्थता दिखलाई। उपाध्याय उसपर बहुत प्रसन्न हुए।

इसके बाद, दूसरी रात को, उपाध्याय ने अपने पुत्र पर्वतक को पूर्ववत् आदेश दिया। पर्वतक ने गली को सूना जानकर, वहाँ शस्त्र से उस बकरे का वध कर दिया। इसपर उपाध्याय ने उसकी अदृग्दर्शिता पर उसे बहुत प्रताड़ना दी और उसके नरकगामी होने की सम्भावना भी व्यक्त की। नारद उपाध्याय क्षीरकदम्ब की पूजा करके अपने स्थान को चला गया और उपाध्याय, माता-सहित पर्वतक को राजा वसु के जिम्मे सौंपकर वार्द्धक्यवश परलोकगामी हो गया। उपाध्याय क्षीरकदम्ब की मृत्यु के बाद पर्वतक ने अपने पिता की गद्दी संभाली। नारद अहिंसावादी था, इसलिए वह ‘अजैर्यष्टव्यम्’ (प्र. ‘अजेहि जतियव्यं’) का अर्थ मानता था धान्य (व्रीहि-यव) से यज्ञ करना चाहिए। किन्तु, पर्वतक हिंसावादी था, इसलिए वह अज का सीधा अभिधार्थ बकरा मानता था। इसलिए, नारद और पर्वतक अपने अनुयायियों-सहित दो पक्षों में बँट गये थे। पर्वतक के पक्ष-समर्थन में, राजा वसु ने भी उपाध्याय क्षीरकदम्ब का हवाला देकर, ‘अज’ का अर्थ बकरा बताया। राजा वसु उपरिचर था। उसका सिंहासन जमीन से ऊपर ही रहता था। कथाकार ने इस बात का रहस्यभेदन किया है। वस्तुस्थिति यह थी कि राजा वसु पारदर्शी स्फटिक पत्थर पर प्रतिष्ठित सिंहासन पर बैठता था। पत्थर को आँख से न देख सकने के कारण उसकी प्रजा समझती थी की राजा निराधार अधर में, सिंहासन पर बैठा है। जो हो, गुरु का नाम लेकर झूठ बोलने के कारण तत्क्षण सत्य के पक्षधर देवों से आहत सिंहासन जमीन पर आ पड़ा और वसु का विनाश हो गया। राजा वसु के आठ पुत्रों को भी क्रमशः देवों ने विनष्ट कर दिया।

इसी समय मधुपिंगल के वर्तमान भव का जीव महाकालदेव अपने प्रतिनायक राजा सगर से पूर्वभव का प्रतिशोध लेने की भावना से शाण्डिल्यस्वामी ब्राह्मण का रूप धरकर, पर्वतक के

साथ आ मिला। उसने पर्वतक को विद्या सिखाना प्रारम्भ किया और पशुवध के मन्त्रों की रचना की। शाण्डिल्य और पर्वतक के मन्त्रों का प्रभाव लोगों पर पूरी तरह पड़ गया। इसके बाद महाकालदेव ने राजा सगर के देश साकेत में भयंकर महामारी फैला दी। राजा सगर को सूचना मिली कि चेदिदेश में शान्ति करनेवाले ब्राह्मण रहते हैं। राजा के प्रार्थना करने पर शाण्डिल्य और पर्वतक साकेत पहुँचे। उन्होंने वहाँ पशुवध के द्वारा शान्तिकर्म किया। इसी क्रम में आभियोगिक देवों ने सगर को अपने रूप दिखाते हुए कहा कि पहले हम पशु थे। पर्वतकस्वामी ने मन्त्रों द्वारा हमारा वध किया और हम भरकर देव हो गये। सगर ने देव-सात्रिष्य प्राप्त करके उनसे कहा : “मैं जैसे सुगति प्राप्त करूँ, आप वैसी ही कृपा करें।”

देवों ने सगर से कहा : “राज्यशासन के क्रम में आपने बहुत पाप किया है, अतः मनुष्यों के स्वर्ग जाने के उपाय सुनें।” उसके बाद उन्होंने अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञों की विधि सुनाई और स्वर्ग-गमन का फल भी कहा। राजा सगर और उसके सामन्तों तथा पुरोहित विश्वभूति को उक्त यज्ञों पर श्रद्धा हो गई। राजा सगर और उसकी रानी सुलसा अश्वमेध यज्ञ में दीक्षित हुए और उपाध्याय विश्वभूति ने उनसे बहुत सारे जीवों का वध करवाया और अन्त में रानी सुलसा से कहा : “यज्ञ के घोड़े से योनि का स्पर्श कराओ। तभी तुम पापमुक्त होकर स्वर्गगामिनी बनोगी।” इसके बाद महाकालदेव ने रानी को पकड़ लिया और स्वयंवर में उसके द्वारा त्याग किये गये मधुपिंगल का स्मरण दिलाया। मृदुल स्वभाववाली रानी सुलसा तीव्र वेदना से उत्पीडित होकर मर गई और नागराज धरण की अग्रमहिषी के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण किया।

इसके बाद राजा सगर को राजसूय यज्ञ में दीक्षित किया गया। हिंसाविरोधी नारद के कथनानुसार राजपुत्र दिवाकरदेव गंगा-यमुना के संगम-क्षेत्र की गंगा में यज्ञ-सामग्री फेंकने लगा। शाण्डिल्य से राजा सगर ने पूछा : “यज्ञ-सामग्री का अपहरण कौन कर रहा है?” शाण्डिल्य ने कहा : “देवता की प्रसन्नता का सहन न कर सकनेवाले राक्षस यज्ञ-सामग्री का अपहरण कर रहे हैं।” तब, यज्ञ की रक्षा के निमित्त ऋषभस्वामी की प्रतिमा स्थापित की गई। अन्त में, यथारूप आयोजित यज्ञ में प्राणियों का विपुल वध देखकर दिवाकरदेव और नारद दोनों तटस्थ हो गये।

तदनन्तर, शाण्डिल्य ने राजा सगर से विभिन्न प्रकार के असंख्य प्राणियों का वध करवाया और मृत प्राणियों के शरीर को कीचड़-भरी बावली में डलवा दिया। जब मृत प्राणी-समुदाय के शरीर सड़कर मिट्टी बन गये, तब उनकी हड्डियों को बीनकर निकलवा दिया और उससे ईंटें बनवाकर पुरुषप्रमाण ऊँची यज्ञवेदी तैयार करवाई। प्रयाग और प्रतिष्ठान (झूँसी) के बीच गंगातट पर बनी इस यज्ञवेदी में बकरोँ, घोड़ों और मनुष्यों को काट-काटकर उनचास दिनों तक हवन किया गया। प्रतिदिन पाँच-पाँच प्राणियों का अधिक वध किया गया। फिर, शाण्डिल्य के दूसरे आदेश के अनुसार, प्रत्येक चार शाम पर पाँच-पाँच और अधिक जीवों की हत्या की गई। दक्षिणा के लोभ में आये बहुत सारे ब्राह्मण पर्वतक और शाण्डिल्य की प्रशंसा करने लगे।

अन्त में, शाण्डिल्य और पर्वतक ने मिलकर राजा सगर के पुरोहित विश्वभूति को भी उस यज्ञाग्नि में हवन कर दिया और राजा सगर पर प्राणघातक विद्याओं का प्रयोग करके उसे मार डाला। जहाँ यह यज्ञ आयोजित हुआ था, वहाँ सोमलता की प्रचुरता थी, उससे रस निकालकर

यज्ञकर्त्ताओं ने सोमपान किया। चूँकि यहाँ सोमवल्ली का छेदन (दूति = दारण) किया गया था, इसलिए लोग उस स्थान को 'दूतिप्रयाग' कहने लगे। महाकालदेव का यह चरित परम्परागत रूप से यहाँ प्रचलित हो गया। और, शाण्डिल्य के रूप में इसी महाकालदेव द्वारा प्रोक्त पशुवध या प्राणिवध के मन्त्रों के अर्थानुसार जो ग्रन्थ-रचना हुई, वही 'अनार्यवेद' कहलाया।

इसी प्रकार, संधदासगणी ने अथर्ववेद की भी बड़ी मनोरंजक उत्पत्ति-कथा (गन्धर्वदत्त-लम्भ : पृ. १५१) उपन्यस्त की है। परिव्राजक याज्ञवल्क्य के अवैध पुत्र पिप्पलाद ने हिंसामूलक इस वेद की रचना की। इसने अपनी अज्ञात परिव्राजिका माता सुलसा की शिष्या नन्दा के बोध्यत्व में पहले अक्षर जोड़ना सीखा था, बाद में अंग-उपांग सहित वेदों का अध्ययन किया। एक दिन उद्यान में, बाल्यभाव के कारण लड़ते-झगड़ते हुए पिप्पलाद से नन्दा ने कहा : "दूसरे से पैदा हुए तुम मेरे लिए बाधक बन गये हो।" यह सुनकर पिप्पलाद ने नन्दा से पूछा : "माँ, मैं किसका पुत्र हूँ?" "मेरे पुत्र हो।" नन्दा ने कहा। पिप्पलाद ने सचाई जानने के लिए जब पुनः आग्रह किया, तब नन्दा ने उसकी उत्पत्ति की सत्यकथा कह दी। फलतः, वह अपने माता-पिता के प्रति द्वेषभाव से भर उठा और उसी द्विष्ट मनःस्थिति में उसने अथर्ववेद की रचना की, जिसमें मातृमेध, पितृमेध और अभिचार-मन्त्रों का विनियोग किया। फलतः, वह वेद अतिशय लोकप्रिय और समृद्ध हो गया। अपनी अभिनव बुद्धि से पिता को भी पराजित करनेवाला पिप्पलाद ने अथर्ववेद की न केवल रचना की, अपितु अपने पिता और माता की जघन्य हत्या करके पितृमेध और मातृमेध को प्रयोगिक कृतार्थता भी प्रदान की। पिप्पलाद का वर्दली नामक एक शिष्य भी था, जो अथर्ववेद का ज्ञाता होकर उसे बाह्यणों को पढ़ाता था।

इस अथर्ववेद की कथा का प्रवक्ता कोई देव था। उससे जब विद्याधरपुत्रों ने प्रश्न किया था, तब उसने अथर्ववेद की उत्पत्ति की मूलकथा सुनाई थी। कथा का विवरण (तत्रैव, पृ. १५१) इस प्रकार है : जब चारुदत्त सेठ और अमितगति विद्याधर परस्पर आलाप-संलाप कर रहे थे, तभी प्रशस्त रूपवाला, रुचिर आभरणों से भूषित निर्मल वस्त्रधारी तेजस्वी देव वहाँ आया। वह चारुदत्त को देखकर हर्षित हुआ और 'परमगुरु के लिए नमस्कार' कहते हुए उसने उसकी वन्दना की। बाद में उसने अमितगति (विद्याधर साधु) की वन्दना की। तब वहाँ उपस्थित विद्याधर साधु के पुत्रों ने देव से पूछा : "पहले साधु की वन्दना करनी चाहिए या श्रावक की? इसमें कौन-सा क्रम उचित है?" देव ने कहा : "पहले साधु की वन्दना करनी चाहिए, तब श्रावक की। यही क्रम है। किन्तु, भक्ति के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति के कारण मैं क्रम के निर्वाह में चूक गया। मैंने इन्हीं चारुस्वामी की कृपा से देवशरीर पाया है और ऋद्धि की भी उपलब्धि की है।" इस सम्बन्ध में विद्याधर साधु के पुत्रों द्वारा और आगे जिज्ञासा करने पर देव ने बताया : "बकरे के भव में चारुस्वामी ने ही मुझे धर्म में नियोजित किया था। फलतः, मुझे जातिस्मरण हो आया, जिससे मुझे पिछले छह जन्मों की घटनाएँ प्रत्यक्ष हो आईं। पहले मैं अथर्ववेदोक्त मन्त्रों के प्रयोग के क्रम में पाँच बार होमाग्नि में जलकर मरा। छठी बार मुझे व्यापारियों ने (ये व्यापारी सुवर्णद्वीप के यात्री थे, जिनमें चारुस्वामी भी, दैव-दुर्विपाक से सम्मिलित था) मार डाला।"

इसी क्रम में जब विद्याधरपुत्रों ने देव से पूछा कि अथर्ववेद किस प्रकार उत्पन्न हुआ और किसने किया, तब देव ने यथापूर्वोक्त अनार्यवेद की परम्परा में ही अथर्ववेद की उत्पत्ति की कथा

को जोड़ते हुए कहा : “महाकाल नामक परम अधार्मिक देव था। चूँकि, उसे (सुलसा द्वारा उसकी उपेक्षापूर्वक राजा सगर को वरण कर लेने के कारण) राजा सगर के प्रति द्वेष था, इसलिए उसे नरक-गमन के कारणभूत पशुवध के लिए प्रोत्साहित किया। परम्परा-क्रम से इस पशुवध की प्रथा को पिप्पलाद ने ग्रहण किया और उसने पशुवध (प्राणिवध) के सिद्धान्त को शास्त्रीय रूप देने के लिए अथर्ववेद की रचना की।”

संघदासगणी द्वारा वर्णित वेदों की उपर्युक्त उत्पत्ति-कथा से पुरायुगीन वेदाभ्यास की प्रथा की सूचना के अलावा वैदिक संस्कार-सम्बन्धी और भी अनेक आयामों का संकेत मिलता है। प्रथम तो वेद की अपौरुषेयता का खण्डन कथाकार का मुख्य लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त, वेद की सृष्टि को जो उदात्त गरिमामयी भूमि ब्राह्मण-परम्परा में मिलती है, उसको यहाँ यत्किंचित् मूल्य भी नहीं दिया गया है। कथाकार के अनुसार, आर्यवेद अहिंसामूलक है और अनार्य तथा अथर्ववेद हिंसामूलक। इन तीनों वेदों की रचना भी निकृष्ट प्रतिक्रिया-स्वरूप ही हुई है। कौतूहलवश राजा भरत के दर्शन करनेवालों की भीड़ भोजनशाला में घुस जाती थी, इसलिए उन भोजनार्थी कुतूहलियों को नियन्त्रित और अनुशासित करने के लिए परमर्षियों द्वारा आर्यवेद की सृष्टि की गई। यह वेदविद्या एक तरह से तप, शील और शिक्षा की न्यूनाधिकता के आधार पर, भरत द्वारा तीन वर्गों में विभाजित उन कुतूहली ब्राह्मणों की आचारसंहिता थी, जिन्होंने प्राणिवध न करने की प्रतिज्ञा कर रखी थी। इसीलिए, उन्हें ‘माहण’ (मा-हन = हिंसा न करनेवाला) शब्द से संज्ञित किया गया। प्राकृत में ‘ब्राह्मण’ को ‘बंभण’ के अतिरिक्त ‘माहण’ भी कहते हैं और शब्दशास्त्रज्ञ कथाकार ने ‘माहण’ की श्लेषमूलक निरुक्ति में अपनी शाब्दिक व्युत्पत्तता का शास्त्रीय परिचय दिया है।

अनार्यवेद तो स्त्री की अप्राप्ति से उत्पन्न काममूलक या वासनापरक प्रतिक्रिया से उद्भूत हुआ, जो नाम के अनुसार ही निश्चय ही एक जघन्यतम वेद है। इसमें भी प्रसिद्ध श्लेषगर्भ वेदमन्त्र ‘अजैर्यैर्व्यम्’ का पशुहिंसापरक अर्थ करनेवालों ने असंख्य प्राणियों के वध द्वारा हिंसावृत्ति को पराकाष्ठा के भी पार पहुँचा दिया है। एक प्रतिनायक को प्रतिक्रियावश नरक भेजने के उपाय का यह अद्भुत उदाहरण है।

अभिचारमन्त्रपरक अथर्ववेद की उत्पत्ति, एक अवैध सन्तान की अपने तथाकथित माता-पिता के प्रति प्रतिहिंसा-भावना से हुई, जो अनार्यवेद की परम्परा की ही एक कड़ी थी। इस प्रकार, वेदों की उत्पत्ति को हिंसा और वासना की पृष्ठभूमि पर आधृत दिखलाकर यथार्थवादी युगचेता कथाकार ने उस युग में वैदिक यज्ञ के नाम पर दम्भी और पाखण्डी ब्राह्मणों और पुरोहितों द्वारा किये जानेवाले लोमहर्षक क्रूरतम धार्मिक अनाचारों का, कथा के माध्यम से, प्रभावकारी संकेत किया है। साथ ही, ‘वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति’ के समर्थक मीमांसकों पर अपनी घोर अनास्था व्यक्त की है। अवश्य ही, यह वैदिक संस्कार सामाजिक जीवन को अधःपतन की ओर ले जानेवाला है।

वैदिक स्वैराचारों के प्रति सहज प्रतिक्रियाशील कथाकार ने राजसूय और अश्वमेधयज्ञ के नाम पर आयोजित नरमेध का भी हृदयद्रावक प्रसंगोद्भावन किया है। उस समय के ब्राह्मण-पुरोहित

स्वर्ग ले चलने का प्रलोभन देकर उक्त बड़े-बड़े यज्ञों का आयोजन करवाते थे। अश्वमेध यज्ञ में घोड़े द्वारा योनि के स्पर्शकी वैदिक प्रथा^१ को भी कथाकार ने कुत्सित और उपहासास्पद बताया है।

दक्षिणा के लोभ में उपस्थित होकर हिंसामूलक यज्ञों और यज्ञकर्ताओं का समर्थन करने-वाले ब्राह्मणों की ओर भी कथाकार ने कुटिल भ्रुकुटिपात किया है। वेदों और ब्राह्मणों की उत्पत्ति को भरतकालीन मानकर कथाकार ने उन्हें ऐतिहासिक दृष्टि से कालबद्ध किया है। और इस प्रकार, उसने वेदों के अनादित्व को असिद्ध करके, 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' जैसे वाक्यों द्वारा ब्राह्मणों की जातिगत श्रेष्ठता को घोषित करनेवाली वैदिक मान्यता का भी अवमूल्यन कर दिया है। इसके अतिरिक्त, सोमश्री को वेदज्ञा के रूप में प्रस्तुत करके 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्' जैसे संकीर्णता-मूलक कर्मकाण्डीय विश्वासरूढ़ि का भी निराकरण किया है। शूद्र के भी वेद पढ़ने और ब्राह्मणों से विवाह करके उसके लोकपूजित होने का उल्लेख कथाकार ने किया है। मगध-जनपद के अचर्लश्राम का धरणिजड नामक ब्राह्मण जब अपने पुत्रों को वेद पढ़ाता था, तभी ब्राह्मण की दासी कपिलिका का पुत्र कपिलक भी उसे हृदय से धारण करता था। एक दिन वेदपाठ का अधिकारी न होने का अपमान सहन न कर सकने के कारण वह रत्नपुर नगर चला गया। वहाँ अपने को ब्राह्मण बताकर उसने सात्यकि नामक वेदपाठी ब्राह्मण के शिष्यों का उपाध्यायत्व प्राप्त कर लिया। एक दिन, सात्यकि ने सन्तुष्ट होकर अपनी पुत्री सत्यभामा उसे दे दी। इसके बाद वह (कपिल) क्रम से लोकपूजित और वैभवशाली हो गया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२०)।

१. अश्वमेध यज्ञ बहुव्ययसाध्य था। इसका आयोजन चक्रवर्ती राजा ही करते थे। यह यज्ञ भारतीय प्राचीन युग की अपार समृद्धि का भी संकेतक है। वाल्मीकिरामायण के चौदहवें सर्ग में दशरथ-कृत अश्वमेध यज्ञ का वर्णन विस्तार से दिया गया है। उस यज्ञ में रानी कौशल्या ने तीन कृपाणों से राजा दशरथ के उत्तम घोड़े का वध किया था और उस मरे हुए घोड़े के लिंग को अपनी योनि में डालकर धर्मकामना से वह एक रात रही थी। श्लोक इस प्रकार है :

पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा ।
 अश्वरत्नोत्तमं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह (च) ॥३२॥
 कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः ।
 कृपाणोर्विशशासेनं त्रिभिः परमया मुदा ॥३३॥
 पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा ।
 अवसद्रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया ॥३४॥
 होताध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन (हस्तेन) समयोजयन् ।
 'महिष्या परिवृत्याथ वावातामपरां तथा ॥३५॥
 पतत्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रिय ।
 ऋत्विक्परमसम्पन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥३६॥

इस प्रसंग में चौतीसवें श्लोक के कर्थ को स्पष्ट करते हुए 'गोविन्दराजीयरामायमभूषण' टीका के कर्ता ने लिखा है : "तदा विशासोत्तरकाले कौसल्या धर्मकाम्यया धर्मसिद्धीच्छया... सुस्थितेन सुस्थिरेण चेतसा-उपलक्षिता सती शवस्पर्शकुत्सारहिता सतीत्यर्थः पतत्रिणा अश्वेन सार्धमेकां रजनीमवसत् ।" इसी क्रम में, अश्वमेध यज्ञ की इस शास्त्रीय विधि के सामान्यीकरण के क्रम में टीकाकार ने कहा है : "यत्र सूत्रं 'अम्बे अम्बाल्यम्बिके' इति जपन्ती महिष्यश्चमुपसङ्गम्य 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' इत्यधिमन्य 'उत्सव्योर्गुदं धेहि' इति प्रजनेन प्रजननं सन्निधायोपविशति... ।" —विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : वाल्मीकिरामायण, प्रकाशक एवं मुद्रक : आइ. एस्. देसाई, गुजराती प्रिण्टिंग प्रेस, सैसून बिल्डिंग्स, फोर्ट बम्बई, संस्करण, सन् १९१२ ई.।

संघदासगणी ने यज्ञरक्षा के सम्बन्ध में एक और महत्त्वपूर्ण बात की सूचना दी है। पुराकाल में राक्षस लोग ऋषि-मुनियों द्वारा आयोजित शान्ति-निमित्तक यज्ञ का विध्वंस करते थे, किन्तु 'वसुदेवहिण्डी' में हिंसामूलक राजसूय यज्ञ का विनाश अहिंसावादियों के द्वारा कराया गया है। सबसे बड़ी पाखण्डपूर्ण विडम्बना तो यह है कि हिंसावादी यज्ञकर्ता, यज्ञरक्षा के निमित्त ऋषभस्वामी जैसे अहिंसोपदेशक तीर्थंकर की प्रतिभा की स्थापना करके उनके समक्ष निर्विघ्न भाव से हिंसायज्ञ करते हैं और ऐसी स्थिति में अहिंसा के समर्थक नारद और दिवाकरदेव सहज ही ताटस्थ-भाव अपना लेते हैं। आज भी अनेक लोग अहिंसाधर्म के लिए प्राण निछावर करनेवाले महात्मा गान्धी की प्रतिभा स्थापित करके, उसकी आड़ में अनेक प्रकार के हिंसाकार्यों को प्राश्रय और प्रोत्साहन देते हैं। और, उन हिंसाजीवियों की नृशंसता के समक्ष अहिंसावादी मौन रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं।

संघदासगणी ने वेदों के ज्ञाताओं की परीक्षा-सभा का भी उल्लेख किया है, जिसमें बड़े-बड़े वृद्ध वेदपारग भी भाग लेते थे। कथा (सोमश्रीलम्भ : पृ. १९३) है कि एक दिन, सोमश्री के इच्छुक वेदज्ञों की परीक्षा-सभा आयोजित हुई। जब वेदज्ञों को यह मालूम हुआ कि मगधनिवासी गौतमगोत्रीय स्कन्दिल (वसुदेव) नाम का ब्राह्मण, जो ब्रह्मदत्त उपाध्याय का शिष्य है, सभा में उपस्थित है, तब किसी को भी परीक्षा में उतरने का साहस नहीं हुआ। पूरी परिषद् समुद्र की भाँति स्थिर और मौन हो गई। ग्रामप्रधान ने घोषणा की : "यदि कोई बोलने का उत्साह नहीं दिखलाता, तो सभी ब्राह्मण जैसे पधारे हैं, वैसे ही विदा हों, फिर से सम्मेलन का आयोजन होगा।" तब वसुदेव ने कहा : "अधिकृत पुरुष प्रश्न करें, कदाचित् मैं उत्तर दे सकूँ।" प्रश्न पूछे जाने पर वसुदेव ने अस्खलित भाव से वेद का सस्वर पाठ किया और उसका अवितथ रूप से परमार्थ भी बताया।

तब, ग्रामप्रधान ने फिर घोषित किया : "हे वेदपारगो ! सुनें। वेदविद्या का अध्ययन जिन्होंने किया है, वे इस सभा में उपस्थित वेदपारग वृद्धों के समक्ष आयें और प्रश्नों का उत्तर दें।" फिर सभा की वही पूर्ववत् स्थिति रही। पूरी परिषद् को मौन देख उपाध्याय ने वसुदेव से कहा : "प्रश्नों का उत्तर देकर कन्यारत्न प्राप्त करो।" वसुदेव उठकर खड़े हुए। उन्होंने जिन-प्रतिमाओं को प्रणाम निवेदित किया। कौमुदीयुक्त चन्द्रमा के समान गले में शोभित शुभ्र यज्ञोपवीत से पवित्र वसुदेव को परीक्षा-सभा में उपस्थित लोगों ने आदरपूर्वक देखा। उसके बाद वसुदेव ने वेदपारग वृद्धों से कहा : "जहाँ संशय हो, या जहाँ जो पूछना हो, पूछें।" वसुदेव की गम्भीर निर्घोषपूर्ण वाणी सुनकर परीक्षा-सभा के लोग विस्मित होकर बोले : "इसने तो प्रश्न के अधिकार का सम्मान किया है और इसकी वाणी के विषय और अक्षर बिलकुल स्पष्ट हैं।" वृद्ध वेदपारगों ने वसुदेव से पूछा : "प्रियदर्शन ! कहो, वेद का परमार्थ क्या है ?" वसुदेव ने उत्तर दिया : "नैरुक्तिकों ने कहा है कि 'विद् ज्ञाने' धातु से वेद बना है। जो उसे जानता है या उससे जानता है या उसमें जानता है, उसे वेद कहते हैं। अमिथ्यावादी अर्थ ही उसका परमार्थ है।" वसुदेव के उत्तर से सन्तुष्ट होते हुए वेदपारग वृद्धों ने पूछा : "वेद का क्या फल है ?" वसुदेव ने उत्तर दिया : "विशेष ज्ञान (विज्ञान) ही उसका फल है।"

इसके बाद वसुदेव और वृद्ध वेदपारगों में लम्बा प्रश्नोत्तर हुआ : 'विज्ञान का क्या फल है ?' 'विरति।' 'विरति का क्या फल है ?' 'विरति का फल संयम है।' 'संयम का क्या

फल है?' 'अनास्रव'। 'अनास्रव का क्या फल है?' 'तपस्या'। 'तपस्या का क्या फल है?' 'निर्जरा'। 'निर्जरा का क्या फल है?' 'केवलज्ञान की प्राप्ति ही निर्जरा का फल है।' 'केवलज्ञान का क्या फल है?' 'अक्रिया'। 'अक्रिया का क्या फल है?' 'अयोग'। 'अयोग का फल क्या है?' वृद्धपारगों के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वसुदेव ने कहा : 'अयोग का फल है सिद्धि (मुक्ति)-स्थान में गमन और निर्बाध सुख।' वसुदेव के इन उत्तरों से सभी वेदपारग सन्तुष्ट हो गये। परिषद् के प्रधानों द्वारा एक साथ उच्चरित साधुवाद से आकाश गूँज उठा। ग्रामप्रधान ने तो वसुदेव को तैत्तिरीय देवताओं में अन्यतम घोषित किया और वस्त्राभूषणों से सम्मानित भी। शर्त के अनुसार, ग्रामप्रधान की पुत्री सोमश्री ने वसुदेव को पति के रूप में पाकर सनाथता का अनुभव किया।

प्रस्तुत कथा सन्दर्भ में कथाकार ने जैनदर्शन का सार समाविष्ट कर दिया है और श्रमण-परम्परा के आर्यवेद का गूढार्थ भी उपन्यस्त किया है। यहाँ कथाकार ने 'वेद-परिषद्' का जैसा चित्र खींचा है, उससे स्पष्ट है कि उस युग की सभाएँ सच्चे अर्थ में ज्ञानवर्द्धिनी होती थीं और उनमें अधिकारी विद्वान् बड़े टाट-बाट से सज्जित होकर भाग लेते थे और शास्त्रार्थ के क्रम में शिष्टता और सभ्यता का ततोऽधिक परिचय देते थे। सभाओं में उद्घोषक भी होते थे, जो सभा का सम्यक् संचालन करते थे तथा सभा के प्रारम्भ होने और उसके समाप्त होने की भी यथासमय घोषणा करते थे। विजेताओं को साधुवाद से सम्मानित तो किया ही जाता था, उन्हें वस्त्राभूषणों का उपहार भी दिया जाता था। कहना न होगा कि पुरायुग में आयोजित होनेवाली विभिन्न निरवद्य कला-गोष्ठियों और परिषदों में 'वेद-परिषद्' का भी अपना उल्लेखनीय स्थान था। इसलिए, कदाचित् संघदासगणी ने वेदाभ्यास और वेदशिक्षा से सम्बद्ध भारतीय संस्कार के सन्दर्भ में बहुत ही गम्भीर, साथ ही विशद और हृदयावर्जक ऊहापोह उपस्थापित किया है।

विवाह-संस्कार :

भारतीय सामाजिक जीवन में विवाह-संस्कार का पार्यायनिक महत्त्व है। दाम्पत्य-जीवन का मूल विवाह ही है। इसीलिए, ब्राह्मण-परम्परा के वेदों में गार्हपत्याग्नि का सम्बन्ध स्त्रीसुख से जोड़ा गया है। संघदासगणी ने भी विवाह-संस्कार पर विविधता और विचित्रता के साथ प्रभूत प्रकाश डाला है। वसुदेव का विद्याधारी नीलयशा मातंगकन्या के साथ जिस समय विवाह हुआ था, उस समय का अपूर्व रमणीय चित्र (नीलयशालम्भ : पृ. १७९-१८०) संघदासगणी ने प्रस्तुत किया है : क्षणभर में प्रतीहारी आई। उसने और भी परिचारिकाओं के साथ मिलकर सैंकड़ों उत्सवों के साथ वसुदेव को स्नान कराया। उसके बाद वह उन्हें अपने नगर में ले गई। वसुदेव को देखकर उनके रूपातिशय से विस्मित लोग प्रशंसा करने लगे : "यह तो मनुष्य नहीं हैं, कोई देव हैं।" वसुदेव राजभवन में पहुँचे, जहाँ अर्घ्य से उनकी पूजा की गई। वहाँ से वे भवन के भीतरी भाग (गर्भगृह) में पहुँचे। वहाँ उन्हें सिंहासन पर बैठा राजा सिंहदंष्ट्र दिखाई पड़ा। वसुदेव ने उसे श्रेष्ठ पुरुष समझकर उसके समक्ष अंजलि बाँधी। प्रसन्नमुख राजा ने आसन से उठकर उन्हें अपनी बाँहों में भर लिया। उसके बाद उसने यथोपनीत आसन पर उन्हें बड़े आदर के साथ बैठाया। विद्याधर-वृद्धों ने आशीर्वाद दिये और पुरोहित ने पुण्याहवाचन किया।

तदनन्तर, सिंहदंष्ट्र की पुत्री नीलयशा वहाँ आई। वह, दिशादेवियों से घिरी हुई पृथ्वी की भाँति, सखियों से घिरी हुई थी। हंसधवल रेशमी वस्त्र तथा कीमती गहने पहने हुई वह नीलमेघ में नवचन्द्र की किरणरेखा की तरह सुशोभित थी। उसके जूड़े में उजले फूल, दूर्वा और प्रवाल

गुंथे हुए थे। नीलयशा को उपस्थित देखकर ज्योतिषी ने राजा से कहा : “सम्प्रति, शुभ निमित्त और सुन्दर मुहूर्त है, स्वामिपाद (वसुदेव) के साथ नीलयशा का पाणिग्रहण करा दीजिए।” तभी, सैकड़ों बाजे बज उठे। सुहागिन स्त्रियाँ गीत गाने लगीं। सूत और मागध प्रशस्ति-पाठ करने लगे।

वसुदेव मण्डप (विवाह-मण्डप) में उपस्थित हुए। स्नानपीठ तैयार किया गया। कन्यापक्ष के सम्बन्धी जन नीलयशा को भी वहाँ ले आये। निकायवृद्धों और सधवा स्त्रियों ने (“निकायवृद्धोऽहिं अविहवाहि यः”) सुगन्धित जल से भरे स्वर्णकलशों से (वर-वधू का) अभिषेक किया। मन्त्रज्ञ पुरोहितों ने अग्नि में हवन किया। राजकुमारी नीलयशा ने वसुदेव का हाथ पकड़ा। दोनों ने अग्नि की प्रदक्षिणा की। अंजलि भरकर लावा छीटा। आशीर्वाक्य कहे गये। उसके बाद वसुदेव ने भी हंसधवल रेशमी वस्त्र पहने। फिर, प्रेक्षागृह में वर-वधू को बैठाकर उनका विशिष्ट संस्कार किया गया। सोने का दीपक जलाया गया। उसके बाद परिचारिकाओं ने वर-वधू को शयनगृह में प्रवेश कराया। वसुदेव मणिरत्नखचित, सौरभसिक्त, मालाओं से अलंकृत, मृदुल बिछावन से सुसज्जित, गंगा के पुलिनतट की भाँति रमणीय तथा पादपीठ की सीढ़ियों से युक्त पलंग पर चढ़े। रतिसुख से सनाथ वसुदेव की रात्रि सुखपूर्वक बीती।

प्रस्तुत कथा-सन्दर्भ में, प्राचीन युग में प्रचलित, विवाह के प्रारम्भिक उपक्रम से सुहागरात तक की विधियों के वर्णनों को समासित किया गया है। वर्णन के क्रम में ही विवाहकालीन और भी अनेक सामाजिक संस्कृतियों के उज्ज्वल चित्र उद्भाविता हुए हैं। उस काल में यत्र-तत्र भ्रमण करके आने पर स्नान के पश्चात् ही घर में प्रवेश करने का सामान्य नियम था। इसीलिए, वसुदेव को स्नान कराने के बाद ही राजभवन में ले जाया गया था। विशिष्ट अतिथियों को स्नान प्रायः दासियाँ ही कराती थीं। ससुर की ओर से वर का विराट् स्वागत किया जाता था। विवाह में सफेद रेशमी वस्त्र और सफेद फूल भी मंगलसूचक समझे जाते थे। वर-वधू को प्रेक्षागृह (नाट्यशाला) में बैठाकर उनका प्रसाधन किया जाता था।

विवाह-मुहूर्त के निर्धारण में ज्योतिषियों का कथन प्रमाण माना जाता था। विवाह के मंगलमय अवसर पर निकायवृद्ध आशीर्वाद देते थे और पुरोहित पुण्याहवाचन^१ करते थे। मंगलगीत गाने के लिए सधवा स्त्रियाँ ही अधिकृत थीं। सधवा स्त्रियाँ और निकायवृद्ध मिलकर ही वर-वधू का अभिषेक करते थे। अग्नि की प्रदक्षिणा करने और अंजलि में भरकर लावा छीटने तथा सोने के दीपक जलाने की विधि भी प्रचलित थी। सुहागरात मनाने के लिए शयनगृह की शानदार सजावट की जाती थी। मणियों और मालाओं, से अलंकृत करके उसे गन्धद्रव्यों से सिक्त किया जाता था। ऊँची सोहाग-शय्या पर मृदुल बिछावन बिछाया जाता था, जिसपर वर-वधू के आरोहण के लिए रमणीय पीदपीठ की सीढ़ियाँ लगाई जाती थीं। इस प्रकार, उस युग में विवाह

१. यहाँ कथाकार ने धार्मिक संस्कारों के अवसरों पर पुरोहितों द्वारा तीन बार ‘पुण्याहम्’ (‘यह शुभदिवस है’) के उच्चारण करने के यथाप्रचलित विधान की ओर संकेत किया है। ‘वाशिष्ठी हवनपद्धति’ में यजमान और ब्राह्मण के उत्तरप्रत्युत्तर के रूप में ‘पुण्याहवाचन’ का विशद उल्लेख हुआ है। एक उदाहरण :

यजमानो ब्रूयात्—ब्राह्म्यं पुण्यमहर्ष्यच्च सृष्ट्युत्पादनकारकम्।

वेदवृक्षोद्धवं पुण्यं तत्पुण्याहं ब्रुवन्तुनः ॥

ब्राह्मणाः—‘ओं पुण्याहम्’ इति त्रिर्ब्रूयुः।

के अवसर पर विशाल सांस्कृतिक वैभव का प्रदर्शन होता था। विवाह की घड़ी में मन्त्रज्ञ पुरोहित हवन करते थे और उपाध्याय मन्त्रित दर्भयुक्त हाथों से सोने की झारी लेकर सिद्धार्थोदक (सर्षप-मिश्रित जल) से वर का अभिषेक भी करते थे। विवाह के समय सर्वार्थसिद्धि शिला पर वर को बैठाया जाता था। विवाह करानेवाले ब्राह्मण जब धुले उजले कपड़े पहनते थे, तब उनका पुष्ट शरीर श्वेत कर्णिकार के केसर की तरह दिपने लगता था। कथाकार ने विवाह-विधि में स्नान, अभिषेक और हवन-संस्कार पर विशेष आग्रह प्रदर्शित किया है।

इसी प्रकार, गन्धर्वदत्ता के साथ विवाह की वेला में भी, वरकौतुक होने के बाद लग्नमण्डप में वसुदेव ने विधिपूर्वक अग्नि में हवन किया था ("तओ विहिणा हुआ हुयवहो"; गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३२) और मंगलाचारपूर्वक वह अपनी नवोद्गा पत्नी के साथ गर्भगृह में प्रविष्ट हुए थे। इससे स्पष्ट है कि सुहागरात के शयन की व्यवस्था गर्भगृह में ही होती थी और वर-वधू मुदित मन से प्रथम मिलन में रतिसुख प्राप्त करते थे। विवाह के बाद वर-वधू गृह्यसूत्रोक्त विधि के अनुसार ध्रुवदर्शन करते थे। वसुदेव द्वारा कपिला और बन्धुमती के साथ विवाह की रात्रि में ध्रुवदर्शन करने का उल्लेख (कपिला-लम्भ : पृ. २०० तथा बन्धुमती-लम्भ : पृ. २८०) संघदासगणी ने किया है। प्रत्येक पत्नी के साथ वसुदेव के विवाह के प्रसंग में, वर-वधू द्वारा एक साथ अग्नि में हवन, अग्नि की प्रदक्षिणा, लाजांजलि बिखेरना, भोजनगृह में सुमधुर भोजन करना, सुखासन पर बैठकर मंगलगीतों के साथ दिन बिताना, मणि और सुवर्णदीप से प्रकाशित गर्भगृह में जाकर महार्घ शय्या पर मुदित मन से विषयोपभोग करना आदि बातों का कथाकार ने प्रायः सामान्य रूप से उल्लेख किया है। उस युग में उपाध्यायों द्वारा 'तुम दोनों का मिलन अजर (जरा-रहित) हो', यह कहकर वर-वधू को बधाई देने की भी प्रथा थी। वसुदेव को भी इसी प्रकार बधाई मिली थी : "बद्धाविओ मि उक्झाएण 'अजरं संगयं भवउ' ति भणतेण"; (बन्धुमती-लम्भ : पृ. २८०)। बहू जब घर (ससुराल) में आती थी, तब उसे आशीर्वाद के अक्षत देने के लिए, सपरिवार राजा, ब्राह्मणों और नागरिकों को आमन्त्रित करने के लिए उनके पास वसन-आभूषण से सज्जित पुरुषों को भेजा जाता था। प्रद्युम्न ने अपनी पत्नी वैदर्भी से जब विवाह किया था, तब उसने स्वयं वैदर्भी को आशीर्वाद के अक्षत दिलवाने के निमित्त राजा, ब्राह्मणों और नागरिकों को आमन्त्रित किया था (पीठिका पृ. १००)।

संघदासगणी ने विवाह के लिए अधिकतर 'पाणिग्रहण' या फिर 'कल्याण' शब्द का प्रयोग किया है। कन्याओं को धार्मिक धरोहर ('धम्मनिक्खेवो'; गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५४) मानी जाता था। उन्होंने इस बात की भी सूचना दी है कि इस युग में विवाह के सम्बन्ध में वर-वधू के लिए उत्तम भविष्यवाणी करनेवाले ज्योतिषियों को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। विवाह करानेवाले पुरोहित का भी अपना ही ठाट-बाट होता था। वसुदेव का पद्मा से जिस समय विवाह हो रहा था, उस समय शान्ति नाम का पुरोहित आया था। उसका शरीर श्वेत कर्णिकार के केसर के समान गौरवर्ण था; श्वेतवस्त्र का उत्तरासंग उसने धारण किया था और माथे पर दूर्वाकुर और मालती का पुष्प लगा रखा था। वह शरीर से पुष्ट और गम्भीर-मधुरभाषी था। उसने आते ही जयकार और आशीर्वाद से वसुदेव का वर्द्धापन किया था। फिर, उन्हें वह सुन्दर ढंग से बनी मंगलवेदी से युक्त चातुरन्त (लग्नमण्डप) में ले गया था (पद्मालम्भ : पृ. २०५)।

कथाकार ने स्वयंवर-मण्डप की सजावट का बड़ा वैभवशाली वर्णन किया है। स्वयंवर में राजा और राजकुमार बड़े ठाट से ('महया इङ्गीए') जुटते थे। राजा त्रिपृष्ठ के पोतनपुर के राजपथ

से होकर स्वयंवर-मण्डप में पधारने का वर्णन अतिशय उदात्त है (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१४) । राजा बलदेव ने अपनी रूपवती पुत्री सुमति के लिए सौ खम्भों वाले स्वयंवर-मण्डप की रचना कराई थी (तत्रैव : पृ. ३२७) । उस युग में स्वयंवर-मण्डप में कन्याओं के पधारने का भी अपना वैशिष्ट्य था । कन्या सुमति ने स्नान और बलिकर्म (पूजाविधि) समाप्त करके आग्रहपूर्वक अपने को अलंकृत किया था और तने हुए श्वेत छत्र के नीचे चलती हुई स्वयंवर में उपस्थित हुई थी । स्वयंवर में वरमाला हाथ में लिये हुए कन्याओं के साथ लिपिकरियाँ या लेखिकाएँ रहती थीं । वे कन्याओं को, उपस्थित प्रत्येक राजा के कुल, शील, रूप और ज्ञान के बारे में बताती थीं । (“ततो तारिं प्लेयं लिवीकरीओ कहिति कुलसीलरूपाऽऽगमे णरयतीण” ; तत्रैव : पृ. ३१४; लेहिया से दंसेइ रायाणो...उत्तमकुल-सीलाऽऽगम-रूवसंपन्ने” ; रोहिणीलम्भ : पृ. ३६४) ।

संघदासगणी ने स्वयंवर में उपस्थित कन्याओं द्वारा स्वाभीप्सित वर के निर्वाचन की विधि का बड़ा विशद और भव्य बिम्बोत्पादक वर्णन किया है । दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :

१. स्वयंवर-मण्डप में शिविका से दोनों कन्याएँ, (ज्योतिषभा और सुतारा) उतरतीं । विस्मित राजाओं ने अपने सुन्दरतम नेत्रकमलों से उन्हें विशिष्ट भाव से देखा । उसके बाद, लिपिकरियों ने उन दोनों कन्याओं को, उपस्थित प्रत्येक राजा के कुल, शील, रूप और ज्ञान के बारे में बताना प्रारम्भ किया । वे दोनों भी अपनी-अपनी दृष्टि से राजाओं को निहारती हुई, पूर्व और पश्चिम समुद्र के पास पहुँची हुई गंगा और सिन्धु की भाँति क्रमशः अमिततेज और श्रीविजय के निकट उपस्थित हुई और वे उनपर अपनी-अपनी दृष्टि स्थिर कर खड़ी हो गई । उन (राजपुत्रों) के हृदय में प्रसन्नता छा गई । फिर, उन कन्याओं ने रत्न और फूलों की मालाओं से अपने-अपने वर की पूजा की । इसपर उपस्थित राजाओं ने कहा : “ओह ! उत्तम कोटि का वरण हुआ है ! पायस में घी की धाराएँ गिरी हैं और उद्यम के साथ सिद्धियाँ आ मिली हैं (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१४) ।

२. कंचुकियों और वृद्धजनों से घिरी हुई, सम्पूर्ण चन्द्रबिम्ब के आकारवाले छत्र के नीचे चलती हुई, जिसके दोनों ओर सफेद चँवर भी डुलाये जा रहे थे, दूसरी रति के समान रोहिणी स्वयंवर-भूमि में पधारी । लेखिका (परिचायिका दासी) ने क्रमशः उत्तम कुल, शील, शास्त्रज्ञान और रूप से सम्पन्न राजाओं की ओर संकेत करके उनका परिचय देना प्रारम्भ किया । उसके बाद कमलाक्षी, पूर्णचन्द्रमुखी, पयोधर-भार से क्लेश पाती हुई, कमलदल जैसे कोमल पैरों से चलती हुई तथा रूपातिशय के कारण अनुरक्त राजाओं की नेत्रपंक्ति से परिगृहीत रोहिणी की आँखें उन राजाओं के प्रति अनासक्त ही रहीं, फिर जिस प्रकार कुवलयश्री कमलवन का आश्रय लेती है, उसी प्रकार वह वसुदेव के पास जा लगी । उसके बाद उसने उनके गले में पुष्पदाम (पुष्पमाला) डाल दिया और अपनी रूपराशि से उनके हृदय को भी बाँध लिया तथा उनके मस्तक पर अक्षत छींटकर खड़ी हो गई (रोहिणीलम्भ : पृ. ३६४) ।

यहाँ ध्यातव्य है कि उक्त लिपिकरियाँ बड़ी प्रगल्भ और वाक्पटु तथा पण्डिता होती होंगी, तभी तो वे स्वयंवर में उपस्थित विभिन्न राजाओं के सांस्कृतिक प्रामाणिक परिचय धारावाहिक रूप में प्रस्तुत कर पाती होंगी । संघदासगणी ने सूचना दी है कि स्वयंवर के बाद, शेष राजाओं को सम्मानित करके विदा किया जाता था, किन्तु कभी-कभी कन्या के पिता और पति को, स्वयंवर में उपस्थित क्षुब्ध राजाओं के भयंकर आक्रमण का भी सामना करना पड़ता था । रोहिणी द्वारा वसुदेव

को वरण कर लेने के बाद रोहिणी के पिता राजा रुधिर को निराश क्षत्रिय राजाओं से भयानक युद्ध करना पड़ा था।

'वसुदेवहिण्डी' से यह ज्ञात होता है कि उस युग में विवाह के मामले में कन्याओं की दो स्थितियाँ थीं— कुछ तो स्वतन्त्र थीं और कुछ परतन्त्र, यानी पिता के अधीन। वसुदेव अपने पूर्वभ्रम में जब नन्दिसेन के रूप में अपने मामा के घर रहकर, मामा की गायों की सेवा-शुश्रूषा में लगे रहते थे, तभी मामा ने उन्हें अपनी तीन पुत्रियों में किसी एक से विवाह करा देने का आश्वासन दिया था। परन्तु, तीनों पुत्रियों ने नन्दिसेन के साथ विवाह करने से साफ़ इनकार कर दिया था (श्यामा-विजयालम्भ : पृ. ११५)। इस घटना के ठीक विपरीत, नीलयशा से जब वसुदेव का विवाह हो गया, तब विद्याधर नीलकुमार ने निकायवृद्धों के निकट अपना अभियोग उपस्थित किया कि नीलांजना की पुत्री नीलयशा तो पहले से ही मेरे पुत्र नीलकण्ठ को दे दी गई है। उसे ही सिंहदंष्ट्र ने मनुष्यलोकवासि को दे दिया। इसलिए, आप न्याय कीजिए। निकायवृद्धों ने जब इस सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तब नीलांजना और नीलकुमार ने अपने बचपन में खेल-ही-खेल में की गई विवाह-विषयक शर्तबन्दी की कहानी कह सुनाई। कथा है कि नीलांजना और नीलकुमार नीलगिरि-स्थित शकटामुखनगर के विद्याधरनरेश नीलन्धर की सन्तान थे। इन दोनों ने बचपन में खेल-ही-खेल में यह बात पक्की कर ली थी कि हमदोनों की जो सन्तानें होंगी, उनका एक दूसरे के साथ विवाह कर देंगे। नीलकुमार का अभियोग सुनकर निकायवृद्धों ने अपने निर्णय में कहा : "कन्यादान की यह शर्त उचित नहीं है। कन्या तो पिता के अधीन होती है। पिता के बिना जाने कन्यादान का अधिकार सम्भव नहीं है। ('न जुज्जइ दाणं, कण्णा पिउवसा, पिउणा अविदिण्णा न पभवति किंचि दाउं' नीलयशालम्भ : पृ. १८१)।

संघदासगणी ने यह भी सूचित किया है कि उस युग में, प्रायः पिता द्वारा ही कन्यादान करने का नियम था। कथा है कि सूक्ष्म नामक उपाध्याय ने पहले तो अग्नि में हवन कराया, तत्पश्चात् राजा अभयनसेन (पद्मा के पिता) के द्वारा वसुदेव से पद्मा का पाणिग्रहण कराया (पद्मालम्भ : पृ. २०५)। इसके विपरीत, माँ की अनुमति से भी कन्यादान होने की प्रथा की ओर भी कथाकार ने संकेत किया है। चारुदत्त का वसन्ततिलका के साथ विवाह वसन्ततिलका की माँ की अनुमति से ही ("अम्माणुमएण...स समप्पिओ"; गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४३) हुआ था। किन्तु, यह विवाह एक विशेष परिस्थिति में ही हुआ था। और, यह भी ध्यातव्य है कि गणिकापुत्री के लिए उसकी माता ही एकमात्र अभिभाविका हो सकती है।

कथाकार के वर्णनानुसार, यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में माताएँ अपनी पुत्रियों के लिए वर (जामाता) के कुल के बारे में सहज जिज्ञासा रखती थीं। पद्मावती की माँ को वसुदेव के कुल-वंश के बारे में आशंका हुई थी और उसने इस सम्बन्ध में ज्योतिषी से विचार-विमर्श के लिए आग्रह किया था (पद्मावतीलम्भ : पृ. २०४)। उस युग में, जामाता को 'स्वामी' या 'स्वामिपाद' शब्द द्वारा सम्बोधित करने की प्रथा थी। (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३२)। पत्नियाँ अपने पतियों को प्रायः 'आर्यपुत्र' शब्द से सम्बोधित करती थीं। यों, छोटे-बड़े सम्बन्धियों के लिए सामान्यतः 'आर्यमित्र', 'आर्य', 'तात', 'वत्स' आदि स्नेहसूचक या आदरबोधक सम्बोधन-पदों का व्यवहार प्रचलित था। कुमारी स्त्रियाँ 'कन्या' और विवाहिताएँ 'देवी' कहलाती थीं। राजकन्याएँ

जब युवती हो जाती थी, तब राजा उनके लिए कुल, रूप और विज्ञान के अनुकूल वरों का खोज के लिए अपने मन्त्रियों से परामर्श करते थे और वरों का चुनाव करके उस सम्बन्ध में उचित निर्देश देने का भार भी मन्त्रियों को ही सौंपते थे। ("चित्तेऽङ्ग कुल-रूप-विष्णाणसरिसं से वरं निहिसह त्ति"; केतुमतीलम्भ : पृ. ३१०)।

संघदासगणी ने पिता और पुत्री में भी विवाह की विशेष परिस्थिति उपन्यस्त की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक बड़ी रतिकर कथा लिखी है, जो ब्राह्मण-पुराणों में प्रसिद्ध दक्षप्रजापति की कथा का रोचक जैन रूपान्तर है : पोतनपुर का राजा दक्ष अपनी सुलक्षणा पुत्री मृगावती को अतिशय रूप-लावण्य से विभूषित देखकर कामाधीन हो गया। दक्ष ने मृगावती की मदभरी बातें, वदनासव के मद, आँखों को ठहरा लेनेवाले रूप, मन को चुरा लेनेवाली हँसी और शरीर के स्पर्श को अन्य युवतियों से विशिष्ट मानते हुए सोचा : "यदि इस स्त्रीरत्न का भोग नहीं करता हूँ, तो मेरा मनुष्य-जन्म और जीवन व्यर्थ है।" उसके बाद उसने पौरवर्ग के मुखिया को बुलाया और स्वागत-सत्कार करके उससे पूछा : "मेरे नगर या अन्तःपुर में उत्पन्न रत्न का भागी कौन है?" मुखिया बोला: "स्वामी ! आप हैं।"

मुखिया को विदा करके दक्ष ने मृगावती से कहा : "बाल हिरनी जैसी चंचल आँखोंवाली प्रिये ! मेरी ओर देखो, मेरी पत्नी बन जाओ। आज ही तुम मेरे सम्पूर्ण कोष की अधिकारिणी हो जाओ।" मृगावती ने पिता को चेतावनी दी : "तात ! मुझे अपवचन कहना आपके योग्य नहीं है। क्या आप पाप से नहीं डरते? इस प्रकार, सज्जनों द्वारा निन्दनीय वचन बोलना बन्द करें। आप ऐसा न बोलें और न मैं ऐसा सुनूँ।" राजा ने नास्तिक दर्शन और देहवादी दार्शनिक पण्डित की आड़ लेकर अपने यौन स्वार्थ को समर्थन देते हुए कहा : "तुम परमार्थ नहीं जानती हो। क्या तुमने महापण्डित हरिश्मश्रु का पूर्वकथित मत नहीं सुना? देह से भिन्न कोई जीव नहीं है, जो विद्वानों द्वारा वर्णित पुण्य या पाप का फल भोगे। इसलिए, पाप नाम की कोई वस्तु नहीं। तुम लक्ष्मी की अवमानना मत करो।" बाला मृगावती राजा की शृंगारपूर्ण मीठी-मीठी बातों से, फुसलावे में आ गई और राजा दक्ष ने प्रजा (बेटी) को पत्नी के रूप में स्वीकार किया, इसलिए वह 'प्रजापति' कहलाने लगा (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७५)।

'वसुदेवहिण्डी' की यह विशुद्ध रत्यात्मक कथा एक अपवाद है। अन्यथा, प्रायः सभी कामकथाएँ धर्मकथाओं में परिणत हो जाती हैं। पुत्री के साथ यौनाचार के बाद भी दक्ष को कर्मबन्ध नहीं हुआ और न तज्जन्य अनेक भवों की यात्रा ही करनी पड़ी और न सातवीं पृथ्वी में रहने का कष्ट ही उठाना पड़ा। मुखिया से उसने राजा के लिए राज्य-भोग के सर्वाधिकार का समर्थन भी पहले ही करा लिया, इसलिए प्रजा की ओर से भी कोई विरोध नहीं हुआ। पत्नी के साथ अपनी पुत्री को भी अंकशांयिनी, बनानेवाला राजा तो स्वयं समाज का एक विकृत सांस्कृतिक पक्ष है। साथ ही, इसका एक विकृत ऐतिहासिक पक्ष भी है कि मृगावती और दक्ष से उत्पन्न त्रिपृष्ठ (केशव का प्रतिरूप) अर्द्धभरतेश्वर बना। दक्षप्रजापति के अदण्डित चरित्रापकर्षण की यह पराकाष्ठा निश्चय ही विस्मयावह है। श्रमणवादी कथाकार ने यहाँ स्पष्ट ही यह संकेत किया है कि उस युग में नास्तिक राजा पाप-पुण्य की परवाह किये बिना अनियन्त्रित यौनमेध करते थे। और, इनके वासनापुत्र, कृष्ण वासुदेव के प्रतिरूप होते थे। कृष्ण का यह जैन रूपान्तर

क्षेत्र को महत्ता न देकर व्यक्ति की महत्ता स्वीकार करता है और इस बात का भी निर्देश करता है कि प्रायः प्रत्येक अवतारी पुरुष की क्षेत्रीय स्थिति विचित्र हुआ करती है। निश्चय ही, संधदासगणी की यह कथा उद्बेजक होने के साथ ही विचारोत्तेजक भी है।

इस कथा को 'शतपथब्राह्मण' (१.६.३.७-१०) की रूपकाश्रित मनुकथा के समानान्तर रखकर भी इसका विशेष आस्वाद लिया जा सकता है। 'शतपथब्राह्मण' की कथा है कि जलप्रलय के पूर्व मनु द्वारा सुरक्षाप्राप्त एक मत्स्य के भविष्य-निर्देशानुसार निर्मित तथा जलौघ आने पर उस (मत्स्य) के सींग में बाँधकर खींची गई नाव से मनु के उत्तरगिरि पर पहुँच जाने के बाद, वह तो बच गये, किन्तु सारी प्रजा का अन्त हो गया। एकाकी मनु जल में घृत, दधि, मस्त्वा और इक्षा की यज्ञाहुति डालते रहे। वर्षान्त (यज्ञान्त) में एक नारी—इडा उत्पन्न हो गई। मनु उसपर मोहित हो उठे। दोनों में परस्पर संवाद होने के बाद मनु ने इडा के साथ सम्पर्क स्थापित कर उसके सहयोग से बहुसंख्य प्रजाओं और पशुओं को जन्म दिया। मनु को प्रजापति भी कहा गया है। प्रजापति (ब्रह्मा) ने भी सृष्टि-रचना के लिए अपनी दुहिता के साथ अभिगमन किया था। इस प्रकार, जैन प्रजापति की, नास्तिक दर्शन के सिद्धान्त पर आधारित लौकिक कथा ब्राह्मण-प्रजापति की अलौकिक कथा से अधिक रोचक और तथ्यात्मक है। इस कथा प्रसंग को 'स्थानांग' (१०.१६०.१) में दस आश्रयों (आश्रयक-पद) में परिगणित किया गया है।

'वसुदेवहिण्डी' में गान्धर्व विवाह की अनेकशः चर्चा है; किन्तु राक्षस विवाह की कथाओं की तो भरमार है। पैशाच विवाह की भी यत्र-तत्र चर्चा है। सूक्ष्मता से देखने पर स्मृति-प्रोक्त आठों विवाहों^१ के रूप इस कथाकृति में मिलते हैं। ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य विवाह ब्राह्मणों में प्रचलित थे तथा आसुर, गान्धर्व और राक्षस विवाह विशेषतया क्षत्रियों में होता था। अधम कोटि के व्यक्ति पैशाच विवाह करते थे।

स्मृतियों में उक्त आठों विवाहों के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं : ब्राह्म विवाह में कन्या, वस्त्राभूषण-सहित वर को, उससे कुछ लिये विना, दान की जाती थी। दैव विवाह में कन्या यज्ञ करानेवाले ऋत्विक् को दी जाती थी। आर्षविवाह में कन्या का पिता वर से दो बैल शुल्करूप में लेकर कन्या देता था। प्राजापत्य विवाह में कन्या का पिता वर और कन्या से गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करने की प्रतिज्ञा कराने के अनन्तर दोनों की पूजा करके कन्यादान करता था। आसुर विवाह में वर, वधू को उसके पिता या पैतृक बान्धवों से खरीद लेता था। इसे 'उद्वाह' भी कहा जाता था ('आसुरो द्रविणादानात्, याज्ञ, १.६१)। वर-कन्या परस्पर प्रेम से प्रेरित होकर माता-पिता की अनुमति लिये विना ही जो विवाह करते थे, उसे गान्धर्व विवाह कहा जाता था। राक्षस विवाह में कन्या के सम्बन्धियों को युद्ध में परास्त कर कन्या को बलात् उठाकर ले जाया जाता था ('राक्षसो युद्धहरणात्, याज्ञ. १.६१; मनु. ३.३३)। आठवाँ पैशाच^२ विवाह निम्नतम

१. (क) ब्राह्मोदेवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ —मनु, ३.२१

(ख) याज्ञवल्क्यस्मृति, १.५८, ६१

२. (क) सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रंहो यत्रोपगच्छति

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ —मनु, ३.३४

(ख) याज्ञवल्क्यस्मृति, १.६१

श्रेणी का माना जाता था। इसमें किसी सोई हुई, प्रमत्त या पागल कन्या का, उसकी स्वीकृति के बिना, कौमारहरण कर लिया जाता था।

वसुदेव का सभी पत्नियों के साथ विवाह प्रायः ब्राह्मविधि से ही सम्पन्न हुआ था। उन्हें सभी कन्याएँ वस्त्राभूषण और अतुल धन-वैभव के साथ उपलब्ध हुई थीं। आश्रमवासी वल्कलचिरी का वेश्यापुत्री के साथ विवाह दैव विवाह में परिगणनीय है। वल्कलचिरी अपना आश्रम खोजने के क्रम में भटकता हुआ जब गणिकागृह में जा पहुँचा, तब गणिका ने नाई को बुलवाकर उसका नखकर्म (क्षौरकर्म) कराया और उसके शरीर से वल्कल हटवा दिया और वस्त्राभूषण पहनवाकर अपनी पुत्री से विवाह करा दिया था (कथोत्पत्ति : पृ. १८)। इसी प्रकार जमदग्नि के साथ रेणुका का विवाह आर्ष विवाह का प्रतिरूप है। क्योंकि, जमदग्नि को रेणुका के साथ विवाह के लिए कन्याशुल्क चुकाना पड़ा था ("मंतीहि भणियं-कुमारीण पएहि अचलिएहि सुंकं दायव्वं"; मदनवेगालम्भ : पृ. २३७)। विवाह में ध्रुवदर्शन कराने का सन्दर्भ प्राजापत्य विवाह से जुड़ा हुआ है; क्योंकि ध्रुवदर्शन या सप्तपदी के प्रायः सभी मन्त्रों^१ में वर और कन्या के परस्पर गार्हस्थ्य-धर्म पालन करने की प्रतिज्ञा का वर्णन किया गया है। इससे सिद्ध है कि वसुदेव का अपनी कई पत्नियों के साथ ध्रुवदर्शन-कार्य उनके द्वारा किये गये ब्राह्मणोचित प्राजापत्य विवाह की ओर संकेत करता है।

आसुर विवाह को 'उद्राह' इसलिए कहा जाता था कि इसमें असवर्णा कन्या के साथ विवाह होता था। मनु ने कहा है: "असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्राहकर्मणि (३.४३)।" स्वयं वसुदेव ने मातंगकन्या नीलयशा और फिर कामदेव सेठ की पुत्री बन्धुमती या भद्र सार्थवाह की कन्या रक्तवती से असवर्ण विवाह ही तो किया था। यों, उस काल में प्रतिलोम विवाह भी प्रचलित था; क्योंकि स्वयं वसुदेव ने क्षत्रिय होकर सोम ब्राह्मण की पुत्री धनश्री से विवाह किया था। वसुदेव अपनी पत्नियों में अन्यतम मित्रश्री के आग्रह पर सोम ब्राह्मण के गूँगे लड़के की शल्य-चिकित्सा करके उसे वेद पढ़ने के योग्य ('विसदवाणी') बनाया था, इसी से सन्तुष्ट होकर सोम ब्राह्मण ने वसुदेव को अपनी पुत्री धनश्री अर्पित कर दी थी (मित्रश्री-धनश्रीलम्भ : पृ. १९८)। धम्मिल्ल ने गणिका-पुत्री वसन्ततिलका, विमलसेना आदि के साथ परस्पर प्रेम से प्रेरित होकर गान्धर्व विवाह किया था। वसुदेव ने भी प्रियंगुसुन्दरी के साथ गान्धर्व विवाह किया था : "ततो हं गंधव्वेण विवाहधम्मणे कण्णं विवाहेऊण अतुले तत्थ भोए भुंजामि (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३०७)।" धम्मिल्ल ने भी मेघमाला से गान्धर्वविवाह ही किया था: "सा य जेणं...गंधव्वेण विवाहधम्मणे विवाहिया (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ७३)।" कहना न होगा कि प्राचीन युग में गान्धर्व विवाह का बहुत अधिक प्रचलन था। कालिदास (ई. पू. प्रथम शती) ने भी अपने प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में दुष्यन्त और शकुन्तला के परस्पर प्रीतिवश गान्धर्व विवाह कर लेने का उल्लेख किया है।

'वसुदेवहिण्डी' क्षत्रियोचित राक्षस-विवाह का तो बृहत्कथाकोश ही है। अगडदत्त ने अपने धनुर्वेद-शिक्षक दृढप्रहारी के पड़ोसी^२ गृहपति यक्षदत्त की पुत्री श्यामदत्ता का बलात् अपहरण

१. द्र. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३. ७. ७. ११-१२ : ... "सखायः सप्तपदा अभूम। सख्यं ते गमेयम्। सख्याते मा योषम्। सख्यान्मे मा योषाः।" ध्रुवदर्शन के मन्त्रों के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का 'ज्योतिष-विद्या'-प्रकरण द्रष्टव्य।

२. संघदासगणी ने पड़ोसी के लिए 'अन्तेवासी' शब्द का प्रयोग किया है : "अहं चारुसामि। सुरिंददत्तो नाम नावासंजतओ तुम्हं अन्तेवासी (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४५-१४६)।" संस्कृत में 'अन्तेवासी' शब्द बहुधा शिष्य के अर्थ में प्रयुक्त है।

करके उसके साथ राक्षस विवाह ही किया था। श्यामदत्ता को रथ पर बलात् बैठाकर उसने घोषणा की थी : "जो अपनी नई माँ का दूध पीना चाहता है, वह मेरे सामने आये।" इस वाग्धारा का तात्पर्य है कि जो सामने आयेगा, वह मारा जायेगा और वही जब मरकर पुनर्जन्म ग्रहण करेगा, तब उसे पुनः अपनी नई माँ का दूध पीना पड़ेगा। इसी प्रकार, कृष्ण ने भी रिष्टपुर के राजा रुधिर की पुत्री पद्मावती का अपहरण करके स्वयंवर के लिए उपस्थित क्षत्रियों को युद्ध के लिए ललकारा था।^१ कृष्ण ने केवल पद्मावती का ही नहीं, अपितु सिन्धुदेश के राजा मेरु की पुत्री गौरी, गान्धार-जनपद के राजा नग्नजित् की पुत्री गान्धारी, सिंहलद्वीप के राजा हिरण्यलोम की पुत्री लक्षणा, अराक्षरी नगरी के राजा राष्ट्रवर्धन की पुत्री सुसीमा, गगननन्दन नगर के विद्याधरराज जाम्बवान् की पुत्री जाम्बवती तथा विदर्भ-जनपद के कुण्डिनपुर नगर के राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी का बलात् अपहरण करके उनके साथ राक्षस विवाह किया था (पीठिका : पृ. ७८-८१)।

धूमसिंह के द्वारा रोती-चिल्लाती सुकुमारिका को उठा ले जाना या फिर विवश वसुदत्ता को चोर सोनापति कालदण्ड द्वारा अपनी पटरानी बना लेना या पुनः सोई हुई स्थिति में मानवी का वेगवती के भाई मानसवेग द्वारा अपहरण कर लेना आदि पैशाच विवाह के ही प्रसंग हैं। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' में स्मृतिकारों द्वारा वर्णित आठों प्रकार की विवाह-विधियों से सम्बद्ध अनेक कथाओं का विनियोग हुआ है। यहाँ उपर्युक्त प्रसंगों की चर्चा दिग्दर्शन-मात्र है।

'वसुदेवहिण्डी' से उस युग में तलाक-प्रथा के प्रचलित रहने की सूचना मिलती है। पति की अकुलीनता ही तलाक का प्रमुख कारण होती थी। रत्नपुर के सात्यकि ब्राह्मण ने धरणिजड के शिष्य कपिल की वेदज्ञता पर सन्तुष्ट होकर उसे अपनी पुत्री सत्यभामा दे दी थी; परन्तु कपिल वस्तुतः ब्राह्मणपुत्र नहीं, दासीपुत्र था। संयोगवश उसकी अकुलीनता का पता चलने पर कपिल के प्रति सत्यभामा का स्नेह एकबारगी मन्द पड़ गया। सत्यभामा रत्नपुर के राजा श्रीसेन के समक्ष उपस्थित हुई और उसने निवेदन किया : "मुझे कपिल से मुक्ति दिलवाइए। यह अकुलीन है। यदि आप मेरा परित्राण नहीं करेंगे, तो आपके सामने निश्चय ही मैं अपने प्राण दे दूँगी।" राजा ने कपिल को बुलवाया और उससे कहा : "तुम इस ब्राह्मणी को मुक्त कर दो।" राजा के आदेश से सत्यभामा उसकी रानी के पास उपवासपूर्वक रहने लगी (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२०)। इससे स्पष्ट है कि उस युग में तलाक के इच्छुक किसी भी पुरुष या स्त्री को राजा के समक्ष अपना निवेदन प्रस्तुत करने का अधिकार प्राप्त था।

संघदासगणी ने अपने युग में प्रचलित दहेज तथा उपहार-प्रथा का भी उल्लेख किया है। राजा या सेठ या सार्थवाह अपनी पुत्रियों को अपार धन-वैभव, दास-दासियाँ आदि दहेज में देते थे। राजा वज्रसेन ने, वज्रजंघ से अपनी पुत्री श्रीमती का विवाह हो जाने पर विपुल धन और परिचारिकाएँ दहेज में दी थी (नीलयशालम्भ : पृ. १७६)। वसुदेव के बड़े भाई समुद्रविजय ने अपनी अनुजवधू (वसुदेव की पत्नी तथा राजा रुधिर की पुत्री रोहिणी) के लिए उपहार में चतुर नर्तकों और वादकों की मण्डली से युक्त कुब्ज, वामन, चिलात (किरात) आदि नाट्यकर्त्ताओं के

१. "जो मे देवाणुप्पिया ! नविथाए माऊए वुद्ध पाउकामो सोमम पुरओ ठाउ ति।" (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४२)

२. "सुणंतु सयंवरमागया खत्तिथा। दसरकुल्लेकेऊ, वासुदेवो हरइ कुमारि, जो न सहइ सो पच्छओ लगगउ ति।" (पीठिका : पृ. ७८)

साथ ही बत्तीस करोड़ का धन दिया, जिसमें मणि, सोना और चाँदी के अनेक सारे बरतन थे, प्रशस्त लक्ष्णोंवाले चौंसठ हाथी तथा सोने के पलान से मण्डित आठ सौ घोड़े भी थे। वसुदेव के सभी ससुरों ने भी अपनी-अपनी परिणीता पुत्रियों के लिए विपुल धन दहेज में दिया था : धनमित्र सार्थवाह ने अपनी पुत्री मित्रश्री को सोलह करोड़ दिया था, तो कपिला को उसके पिता राजा कपिल ने बत्तीस करोड़। इसी प्रकार, राजा अभग्नसेन ने अपनी पुत्री पद्मा को बत्तीस करोड़ का धन दिया था, तो केतुमती को उसके भाई जितशत्रु ने विपुल देश ही दान कर दिया था और वसुदेव की आज्ञाकारिता स्वीकार कर ली थी ('अहं तुष्मं आणत्तिकरो' ति भणंतेण; केतुमतीलम्भः पृ. ३४९)। कहना न होगा कि वसुदेव ने अपनी अट्ठाईस पत्नियों के साथ अतुल असंख्य धन-सम्पत्ति प्राप्त की थी। उस युग में, इस दहेज को भी, घूस की तरह ही, 'प्रीतिदान'^१ कहकर इस प्रथा को सांस्कृतिक गरिमा से मूल्यांकित किया गया है।

उस समय विवाहोत्सव भी अनेक प्रकार से और ठाट-बाट के साथ ('महया इड्डीए') मनाये जाते थे। विवाहोत्सव के विधि-विधान को 'कौतुक' कहा जाता था। इसके लिए संघदासगणी ने, बहुधा 'कयकोउओ', 'कोउगसएहिं', 'वरकोउग' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। वर का प्रतिकर्म और 'प्रसाधन' करनेवाली अलग-अलग दासियाँ होती थीं। वर को देखने के लिए, झुण्ड-की-झुण्ड स्त्रियाँ महलों के जालीदार झरोखों से झाँकती थीं और कुछ तो विस्मय-विमुग्ध होकर महल से वर के ऊपर फूल बरसाती थीं तथा पाँच रंग के सुगन्धित गन्धचूर्ण बिखेरती थीं एवं कन्या के सुन्दर रूप-लावण्य-सम्पन्न वर प्राप्त करने के भाग्य की लगातार श्लाघा करती थीं। वर, पालकी में तकिया लगे आसन पर वधू के साथ बैठता था ('आसीणो य आसणे सावस्सए': बन्धुमतीलम्भः पृ. २८१)। तरुण युवतियाँ पालकी पर श्वेत छत्र ताने हुए चलती थीं और चँवर भी डुलाती थीं। सेठ और सार्थवाह की पुत्रियों के विवाह में मित्र राजे वर-वधू को अपने राजभवन में बुलवाकर सम्मानित करते थे। श्रावस्ती के कामदेव सेठ की पुत्री बन्धुमती के विवाह में वहाँ के राजा एणीपुत्र ने वर-वधू को अपने राजभवन में ससम्मान बुलवाकर उन्हें वस्त्राभूषण का उपहार दिया था (तत्रैव : पृ. २८१)। उस काल में, दहेज पर पुत्री के अधिकार की भी घोषणा की जाती थी। वसुदेव की पत्नी प्रभावती को जब दहेज में बत्तीस करोड़ का धन दिया गया था, तब प्रभावती के पिता गान्धार ने यह घोषणा की थी कि "मेरे सम्पूर्ण कोष पर प्रभावती का अधिकार है": "प्रभावती में पभवइ सव्वस्स कोसस्स" ति भणंतेण य पत्थिवेण 'मंगस्स' ति णिसिद्धाओ बत्तीस कोडीओ (प्रभावतीलम्भ : पृ. ३५२)।"

'वसुदेवहिण्डी' से यह भी सूचित होता है कि उस युग में एक व्यक्ति एक बार में अनेक कन्याओं के साथ विवाह करता था। जम्बूस्वामी ने एक साथ आठ सार्थवाह-कन्याओं से विवाह किया था (कथोत्पत्ति : पृ. ७)। धम्मिल्ल ने क्रमशः कुल बत्तीस कन्याओं के साथ विवाह किया था, जिनमें एक बार एक साथ आठ कन्याओं से तथा दूसरी बार एक साथ सोलह कन्याओं से उसका विवाह हुआ था (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ७० और ७१)। उस समय उपहार में युवतियाँ भी दी जाती थीं। तिलवस्तुक सन्निवेश में, नरभक्षी सौदास का वध करके ग्रामीणों को शान्ति पहुँचाने के उपलक्ष्य में, वसुदेव पर प्रसन्न होकर, वहाँ के ग्रामनायकों ने उन्हें माल्यालंकृत रूपवती कन्याएँ

१. "ततो सोहणे दिणे राइणा साऽमच्चपुरोहिण्ण महया इड्डीए तासि कण्णाणं पाणि गाहिओ। दिण्णं विउलं पीइदानं....।" (भद्रमित्रा-सत्यरक्षितालम्भ : पृ. ३५५)

दक्षिणा के साथ अर्पित की थीं। यद्यपि, वसुदेव ने कन्याएँ स्वीकार नहीं की, फिर भी कन्याओं ने जीवन-भर के लिए उन्हें ही अपना पति मान लिया (मित्रश्री-धनश्रीलम्भ : पृ. १९७)। पूर्ववर्णित गणिका की उत्पत्ति के प्रसंग में प्राप्त, सामन्तों द्वारा भरत की सेवा में कन्याओं को भेजने की कथा (पीठिका: पृ. १०३) भी युवतियों को उपहार में देने की तत्कालीन प्रथा का ही संकेत करती है। फिर, परिचारिकाओं को उपहार या दहेज में देने की बात भी तो इसी प्रथा का स्पष्ट उदाहरण है। कहना न होगा कि उस युग में स्त्रियाँ सच्चे अर्थ में अपने 'कलत्र' पर्याय को सार्थक करती थीं। भरुहरि ने कलत्र की परिभाषा में कहा है कि "यद् भर्तुरिव हितमिच्छति तत्कलत्रम्"; (२.६८)। अर्थात्, तत्कालीन स्त्रियाँ अपने स्वामी की हितकामना में ही निरन्तर समर्पित थीं।

'वसुदेवहिण्डी' से संकेत मिलता है कि तद्युगीन पाणिग्रहण आदि समस्त सांस्कृतिक कार्य कुलकरों की आज्ञा से ही सम्पन्न होते थे या इस सम्बन्ध में सभी प्रकार के निर्णय कुलकरों के ही अधीन होते थे। निस्सन्देह, ये कुलकर ही तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों के नियामक-नियन्त्रक थे। कृष्ण ने सन्तानदाता देवता हरिनैगमेयी की आराधना के निमित्त, आठ दिनों का उपवास करने के लिए, पौषघशाला में जाने के पूर्व, इसकी सूचना कुलकरों को दी थी ("कुलगरविदितं काऊण द्वितो पोसहसालाए अट्टमेण भत्तेण"; पीठिका: पृ. ९७)। ये कुलकर 'यादववृद्ध' भी कहलाते थे। ये यादववृद्ध कभी-कभी अपनी निष्पक्षता से विचलित भी हो जाते थे। ऐसी स्थिति में इन्हें आलोचना का पात्र भी बनना पड़ता था। सत्यभामा के पुत्र भानु के विवाह-कौतुक में दर्शकार्य के लिए जब ये रुक्मिणी के केशों को मॉंगने नाइयों के साथ आये ते, तब प्रद्युम्न ने इन्हें ललकारा था : "मैं पूछता हूँ, यादवों का यह कौन-सा कुलाचार है कि वे विवाह में (कुलरमणियों के) केशों से कौतुक करते हैं?" इस बात पर यादववृद्धों को लज्जित होना पड़ा था (पीठिका : पृ. ९६)।

संघदासगणी ने नाइयों को 'काश्यप' संज्ञा से अभिहित किया है। वर-परिकर्म के क्रम में नाई ने वसुदेव का नखकर्म (नहछू) किया था "कासवेण य कयं नखकम्म" (पुण्डालम्भ : पृ. २१३)। इसी प्रकार, वल्कलचिरी के वर-परिकर्म के सन्दर्भ में गणिका ने काश्यप को बुलवाकर, वल्कलचिरी के न चाहते हुए भी उसका नख-परिकर्म कराया था : ("तीए य कासवओ सदाविओ। तओ अनिच्छंतस्स कयं नहपरिकम्म"; कथोत्पत्ति : पृ. १८)। नहछू भारतीय विवाहसंस्कार की परम्परागत विधि है। गोस्वामी तुलसीदास ने तो राम की नहछू-विधि पर 'रामललानहछू' नाम की काव्यकृति की ही रचना कर दी है।

शवदाह और श्राद्ध :

संघदासगणी ने प्राचीन युग में प्रचलित शवदाह या अग्नि-संस्कार (अन्त्येष्टि) और श्राद्धविधि पर भी प्रचुर प्रकाश डाला है। ऋषभस्वामी के निर्वाण प्राप्त करने के बाद उनके पार्थिव शरीर का अन्त्येष्टि-संस्कार बड़े सम्मान के साथ विधिवत् किया गया था। संघदासगणी ने लिखा है (नीलयशालम्भ : पृ. १८५) कि भगवान् जगद्गुरु ऋषभस्वामी ने निन्यानब्बे हजार पूर्व तक केवली अवस्था में विहार करके चौदह भक्त उपवासपूर्वक माघ महीने की कृष्ण-त्रयोदशी को, अभिजित नक्षत्र में, अष्टादश पर्वत पर, दस हजार साधुओं, निन्यानब्बे पुत्रों तथा आठ पौत्रों

के साथ एक ही समय में निर्वाण प्राप्त किया। शेष नौ हजार आठ सौ बेरानब्बे साधुओं ने भिन्न-भिन्न समय में, उसी नक्षत्र में सिद्धत्व प्राप्त किया।

इसके बाद परम विरक्त राजा भरत ने तीर्थंकर तथा इक्ष्वाकु-वंश के शेष सिद्धों के शरीरों को तीन शिविकाओं में रखा। उस समय सुरासुर के अधिपति इन्द्र आदि देव उच्च तूर्यनिनाद तथा पुष्पवर्षण कर रहे थे। शिविकाओं को थोड़ी दूर ले जाकर, उनमें स्थित सिद्धों के पार्थिव शरीरों को बाहर निकालकर गोशीर्षचन्दन की चिता पर रखा और फिर यथाक्रम शवों की श्रुतिमधुर स्तोत्रों से स्तुति करते हुए देव-गन्धर्व और अप्सराओं के साथ मिलकर, उनकी (पार्थिव शरीरों की) प्रदक्षिणा की। इसके बाद इन्द्र की आज्ञा से अग्निकुमार देवों ने अपने-अपने मुख से अग्नि उत्पन्न की। उसी समय से यह प्रसिद्धि हो गई कि देव अग्निमुख होते हैं। तदनन्तर, सभी देव गन्धद्रव्य, घी, मधु आदि चिताओं में डालकर सिद्धों के शरीरों को जलाने लगे। उदधिकुमारों ने क्षीरोदसागर के जल से चिताएँ बुझाईं। देवेन्द्र ने मंगल-प्रतीक के रूप में तीर्थंकर 'जिन' की अस्थि का चयन किया, राजाओं ने सिद्ध शरीरों की हड्डियाँ लीं और ब्राह्मणों तथा शेष लोगों ने चिता से अग्नि ग्रहण की और उसे अलग-अलग अपने-अपने घर ले जाकर उसकी स्थापना की और फिर प्रयत्नपूर्वक उसका संरक्षण करने लगे। जिसे उग्र शरीर-पीड़ा होती थी, उसके शरीर पर यथास्थापित अग्निकुण्ड के भस्म का लेप करने से वह स्वस्थ हो जाता था। अग्नि-संरक्षण के लिए लोग उस अग्नि में चन्दन की तकड़ी डालते रहते थे। राजा भरत भी उस अग्नि की पूजा करते थे। उसी समय से ब्राह्मणों के घर अग्निकुण्ड की उत्पत्ति हुई। चौथे नीलयशालम्भ में ललितांगदेव की कथा में भी शवदाह या अग्नि-संस्कार की चर्चा हुई है (पृ. १७५)।

शवदाह की उक्त प्रक्रिया अर्वाचीन युग में भी यथावत् प्रचलित है। देवों के अग्निमुख होने की श्रुति और श्मशान की चिताग्नि से ब्राह्मणों के यज्ञ-हवन आदि कार्य के लिए अग्निकुण्ड की उत्पत्ति की कल्पना कथाकार की नवीन उद्भावना है। महापुरुषों के चिताभस्म की पूजनीयता आज भी अक्षुण्ण है। अग्निकुण्ड के भस्म से उग्र शरीर-पीड़ा के विनाश होने का रहस्य कथाकार की तान्त्रिक दृष्टि को संकेतित करता है। बौद्धों में भी भगवान् बुद्ध के भिक्षापात्र या अस्थि-अवशेष से विभिन्न व्याधियों के दूर होने का विश्वास सुरक्षित है। वैदिक ब्राह्मण-परम्परा में भी काशी की मणिकर्णिका के चिताधूम और चिताभस्म के प्रति अपार श्रद्धा है। स्वयं शिवजी अपने शरीर में चिताभस्म का लेप करते थे।^१ कहते हैं कि काशी विश्वनाथ की शृंगार-पूजा में मणिकर्णिका के चिताभस्म का नित्य अर्पण किया जाता है। मणिकर्णिका मोक्षभूमि मानी गई है; क्योंकि वहाँ साक्षात् शिवजी दिवंगत व्यक्ति के कान में तारकमन्त्र का विनियोग करते हैं। इसीलिए कहा गया है : 'काश्यां मरणान्मुक्तिः।' बुधस्वामी ने भी 'बृहत्कथास्तोत्रसंग्रह' में 'अविमुक्त' क्षेत्र के रूप में काशी का स्मरण किया है।^२

१. चिताभस्मालेपो गरलमशनं दिक्पटधरो

जटाधारी कण्ठे भुजगपतिहारी पशुपतिः

—शंकराचार्यकृत देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र

२. अविमुक्ताविमुक्तत्वात्पुण्या वाराणसी पुरी। (सर्ग २१, श्लो. २)

‘वसुदेवहिण्डी’ में उक्त शवदाह-संस्कार के अलावा और भी कतिपय अग्नि-संस्कारों का उल्लेख हुआ है। धनपुंज नाम के चोर ने मरते समय अपने वधकर्ता अण्डदत्त से कहा था (ध.हि., पृ. ४४) कि मेरे मरने के बाद तुम, मेरा अग्नि-संस्कार कर देना (“मम य अग्निसंस्कारं करेहि”)। वसुदेव जिस समय अपनी मृत्यु का मिथ्यापवाद फैलाकर भाग निकले थे, उस समय उनके नवों भाई महल से निकलकर श्मशानभूमि में आये। वहाँ उन्होंने वसुदेव के हाथ का लिखा क्षमापण-पत्र पढ़ा। वसुदेव ने एक अनाथ मृतक को चिता पर रखकर उसमें आग लगा दी थी और श्मशान में छोड़े गये (किसी मृत सधवा स्त्री के) अलक्तक-रस से अपने भाइयों और भाभियों के नाम क्षमापण-पत्र में लिखा था कि “मेरा शुद्ध स्वभाव होते हुए भी उसे नागरिकों ने मलिन कर दिया, इसलिए मैं अग्नि में प्रवेश करता हूँ।” क्षमापण-पत्र पढ़कर वसुदेव के भाई रोने लगे। कुछ देर रोने-धोने के बाद उन्होंने घी और शहद से चिता को सींचा, फिर चन्दन, अगुरु और देवदारु की लकड़ियों से चिता को ढककर उसे फिर से प्रज्वलित किया। उसके बाद वे प्रेतकार्य, यानी और्ध्वदिहिक कृत्य करके घर लौट आये (श्यामा-विजयालम्ब : पृ. १२१)। राम को भी वन में जब भरत के द्वारा अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला, तब उन्होंने प्रेतकृत्य किया था (‘कपपेयकिच्छो’, मदनवेगालम्ब : पृ. २४२)। यहाँ प्रेतकृत्य, दाह-संस्कार के बाद की जलांजलि या तर्पण-कार्य का संकेतक है।

संघदासगणी ने मृत व्यक्ति के पितृकृत्य या श्राद्ध का विकृत रूप भी उपस्थित किया है तथा श्राद्ध में महिष-मांस के भोज की प्रथा की ओर भी संकेत किया है। इस सम्बन्ध में कथाकार ने जम्बू और प्रभव के संवाद के रूप में एक उद्धृष्ट कथा लिखी है (कथोत्पत्ति : पृ. १४)। प्रभव ने जब संसारविरक्त जम्बू से लोकधर्म की सिद्धि और पितृ-ऋण से मुक्ति के निमित्त प्रयत्न करने का आग्रह किया, तब जम्बू ने कहा कि जीव अपने किये कर्म का फलभागी होता है। जन्म की पराधीनता की भाँति आहार भी अपने कर्म के अनुरूप ही प्राप्त होता है। श्राद्ध और पिण्डदान की निरर्थकता के प्रदर्शन के लिए कथाकार ने जम्बू के मुख से कहलवाया है कि पुत्र के श्राद्ध और पिण्डदान करने से उसके मृत पिता के स्वर्ग जाने की बात सत्य नहीं है। भवान्तर में गये हुए पिता के लिए पुत्र द्वारा उपकार-बुद्धि से किया गया कार्य भी अपकार में परिणत हो जाता है। जीव के, स्वयंकृत कर्म के फलभागी होने के कारण पुत्र की ओर से प्रदत्त तर्पण-सामग्री पिता को नहीं प्राप्त हो सकती है। मृत पिता की तृप्ति के लिए पुत्र जो पिण्डदान आदि करता है, वह उसकी भक्तिमात्र होती है। और फिर, पुत्र द्वारा निवेदित अन्नपान अचेतन होने के कारण मृत पिता के निकट पहुँच भी तो नहीं सकता। पुनः, जो निर्वंश या निराधार पितर होते हैं, वे अतृप्त रहकर अपने पूरे भविष्य को किस प्रकार जीते हैं? फिर, जिसके पिता या पितामह मृत्यु के बाद अपने कर्मयोग से चींटी अथवा कीड़ा के रूप में उत्पन्न होते हैं, उनके लिए वह यदि जलदान करता है या जलांजलि देता है, तो उसने उनका उपकार या अपकार किया, यह कैसे समझा जा सकता है? इस प्रकार, लोकधर्म की सिद्धि और पितृ-ऋण से मुक्ति के लिए पुत्र द्वारा किया जानेवाला श्राद्धकार्य असंगत ही सिद्ध होता है।

श्राद्धविषयक अपने इस सिद्धान्त का विवेचन करते हुए जम्बू ने प्रभव से जो विचित्र कथा सुनाई, वह इस प्रकार है : ताम्रलिप्ति नगरी में महेश्वरदत्त नाम का व्यापारी रहता था। उसके पिता का नाम समुद्र था, जो धन के संचय, संरक्षण और परिवृद्धि के लोभ से अभिभूत हो मर गया

और उसी नगरी में एक मायावी भैसे के रूप में उत्पन्न हुआ। महेश्वरदत्त की माता बहुला मायाचार में कुशल होते हुए भी शुचिता का प्रदर्शन करनेवाली थी, जो पतिशोक से मरकर उसी नगरी में कुतिया के रूप में जनमी।

महेश्वरदत्त की पत्नी गंगिला गुरुजनों से रहित घर में स्वच्छन्द रूप से इच्छित पुरुष को संकेत देकर बुलाती थी और सन्ध्या में उसकी प्रतीक्षा करती थी। जब वह उपपति हथियार के साथ गंगिला के पास आया, तब महेश्वरदत्त ने उसे देख लिया। उस जारपुरुष ने आत्तरक्षार्थ महेश्वरदत्त को मार डालना चाहा। किन्तु, महेश्वरदत्त ने बड़ी सफाई से उसपर जोरदार प्रहार किया। आहत जारपुरुष थोड़ी ही दूर जाकर गिर पड़ा तथा विरक्त भाव से अपने दुर्भाग्य तथा अनाचार की निन्दा करता हुआ मर गया और गंगिला के गर्भ से उसके पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। सालभर का होने पर उसने जाना कि वह महेश्वरदत्त का प्रिय पुत्र है।

एक बार, महेश्वरदत्त ने अपने पिता के श्राद्ध ('पितृकृच्छ्र') के निमित्त पूर्वोक्त भैसे (समुद्र का अपर भव) को खरीदकर मार डाला और इस प्रकार अपने पिता के श्राद्ध के लिए अपने पिता (महिष-रूप) का ही मांस पकाकर लोगों को भोजन कराया। दूसरे दिन महेश्वरदत्त ने भी अपने उस पिता के अवशिष्ट मांस और मज्जा का आस्वाद लिया और वह पुत्र (पूर्वभव का गंगिला का उपपति) को गोद में लिये हुए बाहर गया तथा उस कुतिया (पूर्वभव की माता) के सामने भी मांस के कुछ टुकड़े फेंक दिये। कुतिया भी सन्तुष्ट होकर उन्हें खाने लगी।

इस प्रकार श्राद्धभोज के नाम पर पति का मांस पत्नी ने, पिता का मांस बेटे ने और एक दायाद का मांस उसके अन्य दायादों ने खाकर अतिशय निन्दनीय कार्य किया। अज्ञानतावश, अपने पिता के श्राद्ध के निमित्त किया गया वह भोज, स्वजन-परिजन-सहित महेश्वरदत्त के लिए कर्मबन्ध का कारण बना और पिता के लिए उपकारी होने की अपेक्षा अपकारी सिद्ध हुआ। फलतः, लोकदृष्टि की विषमता के कारण श्राद्धकार्य या पितृकृत्यमूलक अन्नपान-दान श्राद्धकर्ता की अपनी अन्धभक्ति के अलावा और कोई मूल्य नहीं रखता। संघदासगणी के शब्दों में यह सब कुछ 'अकार्य' ('अकञ्जं ति') है।

अन्याय धार्मिक कृत्य :

संघदासगणी ने तत्कालीन यथाप्रचलित अन्यान्य अनेक धार्मिक कृत्यों पर भी प्रकाश-निक्षेप किया है, जिनमें दान-पुण्य, पूजा-पाठ, व्रत-त्यौहार आदि प्रमुख हैं। उस युग के राजा 'किमिच्छित' दान, अर्थात् दाता और ग्रहीता की इच्छापूर्ति के अनुकूल दान करते थे (नीलयशालम्भ : पृ. १७६)। प्रव्रज्या तथा मृत्यु के पूर्व तो 'किमिच्छित' दान करने की सर्वसामान्य प्रथा थी। उस समय के लोगों में पूजा-पाठ की सहज प्रवृत्ति थी। चारुदत्त अपने मित्रों के साथ जंगल से निकलकर जब अंगमन्दिर-उद्यान में पहुँचा, तब वहाँ जिनायतन के भीतर गया। नौकर के बच्चे फूल ले आये। उस चारुदत्त ने मित्रों के साथ मिलकर फूलों से जिन-प्रतिमा की पूजा और स्तुतियों से वन्दना की। यों, उस युग में भी स्नान और पूजा के बाद ही भोजन करने की सामान्य नियम था ('पूजया कथबलिकम्मा, भुत्तभोयणाणं गतो दिवसो'; गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४०) और पूजा के आसन

में कुशासन का व्यवहार अधिक होता था। ("सिरिविजयो वि दम्भसंथारोवगतो सत्तरत्तं. . . पोसहं पालेइ"; पृ. ३१६) किन्तु, मुनियों के लिए काष्ठासन विहित था (प्रतिमुख: पृ. ११०)।

नैष्ठिक कथाकार ने किसी शुभकार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व हाथ-पैर धोने और पूर्वाभिमुख होकर आचमन करने के विधान का भूयशः उल्लेख किया है। चारुदत्त ने अपने मित्रों द्वारा प्रदत्त कमल के पते के देने में रक्षित मधु को अमृत मानकर पीने के पूर्व हाथ-पैर धोकर पूरब की ओर मुँह करके आचमन ("एकच्छालियपाणि-पाओ य आद्यंतो य पाईण-मुहो") किया था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४२)। पूजापाठ के समय शंख बजाने की भी प्रथा थी। छद्म स्त्री का रूप धरकर दुष्ट अंगारक वसुदेव का सुप्तावस्था में अपहरण करके जब उन्हें आकाश में उड़ा ले गया और वसुदेव के प्रहार करने पर उसने उन्हें अधर में छोड़ दिया, तब वह एक अनजान झील में आकर गिरे। झील से बाहर निकलकर उन्होंने विश्राम किया। विश्राम की घड़ी में ही उन्होंने शंख की आवाज सुनी, जिससे अनुमान लगाया कि अवश्य ही आसपास में कोई नगर है। सुबह होने पर वह इलावर्द्धन नगर पहुँचे (रक्तवतीलम्भ : पृ. २१७)।

चम्पानगरी (वर्तमान बिहार-राज्य के भागलपुर का उपनगर) में नागपूजा की परम्परा की ओर भी कथाकार ने दृक्पात किया है। धम्मिल्ल दिन के अन्तिम प्रहर में, जब चम्पानगरी के राजपथ पर चल रहा था, तभी उसने वहाँ, राजमार्ग के निकट ही नागमन्दिर देखा, जिसका द्वार आधा बन्द था। वहाँ दीपक जल रहा था। कालागुरु धूप की सुगन्ध फैल रही थी। धम्मिल्ल उस नागमन्दिर में प्रविष्ट हुआ और नागदेवता को प्रणाम करके बैठा। उसी समय उसने उभरते नवीन यौवनवाली बालिका को वहाँ उपस्थित देखा। उसके साथ एक परिचारिका भी थी। वह बालिका चम्पानगरी के सार्थवाह नागवसु की पुत्री नागदत्ता थी। देवकुल में अर्चना के निमित्त आई हुई वह बालिका अपने हाथ-पैर धोकर नागमन्दिर में प्रविष्ट हुई। उसने नागेन्द्र की पूजा की और उन्हें प्रणाम करके अपने अभिलषित वर की याचना की (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ६५)।

ज्ञातव्य है कि चम्पानगरी में आज भी प्रतिवर्ष श्रावण की शुक्लपंचमी (नागपंचमी) के अवसर पर, 'बिहुला-विषहरी'^१ के पूजा-महोत्सव के रूप में, नागपूजा का त्योहार सोल्लास मनाया जाता है। प्रचीन कथा है कि चम्पानगर का चाँदो सौदागर कट्टर शिवभक्त था। किन्तु, नागदेवी मनसा भी उससे अपनी पूजा चाहती थी। किन्तु, चाँदो सौदागर नागदेवी की अवहेलना करता था। फलस्वरूप, सौदागर का सर्वस्व नष्ट हो गया। नागदेवी के रोष के कारण उसका भाल-असबाब से लदा जहाज भी जलमग्न हो गया। फिर भी, उसने नागदेवी की पूजा करना स्वीकार नहीं किया। नागदेवी का क्षोभ बढ़ता चला गया। यहाँतक कि नागदेवी के द्वारा प्रेरित

१. चाँदो सौदागर की कथा को ही 'बिहुला-विषहरी' के नाम से काव्यनिबद्ध किया गया है। शैलों पर शाक्तों की विजय ही इस काव्य का मूल अन्तरंग कथ्य है। 'बिहुला-विषहरी' भागलपुर-प्रमण्डल की उपभाषा अंगिका में प्राप्त प्राचीनतम एवं अतिशय करुण लोकगाथा-काव्य है। अंगिका-भाषी जनता के कण्ठ हार इस काव्य को पढ़ते समय कोई भी पाठक अश्रुविगलित हुए बिना नहीं रहता। सुहागरात में अपने पति बाला लखीन्द्र के सर्पदष्ट होने पर, सुहाग की पहली रात की नवोढा बिहुला के व्यथा-विह्वल विलाप का प्रसंग तो बहुत ही हृदयद्रावक है। शोधकों का अनुमान है कि प्रस्तुत करुण लोकगाथा की रचना अनुमानतः १६वीं शती में चौपाईनगर (वर्तमान चम्पानगर, भागलपुर) में हुई। इसका रचनाकार अज्ञात है। इससे संघदासगणी द्वारा संकेतित चम्पानगर में नागपूजा की परम्परा का सबल समर्थन होता है।—ले.

उसकी उग्र प्रतिनिधि विषहरी ने साँप का रूप धारण कर चाँदों सौदागर के अन्तिम प्रिय पुत्र बाला लखीन्दर को सुहागरात में ही डँस लिया, जिससे उसकी सुहागघर में ही मृत्यु हो गई। किन्तु चाँदो सौदागर की पतोहू बिहुला ने नागदेवी की आराधना करके उसे प्रसन्न कर लिया। फलतः, नागदेवी से पति के पुनर्जीवन का वरदान उसे प्राप्त हुआ। और तब, बिहुला के बहुत अनुनय-विनय करने पर चाँदो सौदागर ने बेमन से, बिना किसी विधि-विधान के, नागदेवी की पूजा की। नागदेवी इसी पूजा से ही सौदागर पर प्रसन्न हो गई और उसने उसका सर्वस्व पुनः यथावत् लौटा दिया।

संघदासगणी के संकेत से भी यह स्पष्ट है कि नागदेवता सुप्रसन्न होने पर मनोवांछित कामना पूरी कर देते थे। इस सम्बन्ध में ज्वलनप्रभ नाग की कथा (प्रियगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३०३) भी स्मरणीय है। सगर के साठ हजार पुत्र दण्डरत्न से जमीन खोदकर, गंगा की धारा को उलटा प्रवाहित करके उसे जब अष्टापद पर्वत की खाई तक ले आये, तब पातालवासी ज्वलनप्रभ नाग का भवन पानी से भरने लगा। फलतः, नाग रोषाग्नि से जल उठा। वह फुफकारता हुआ बाहर निकला और जहु प्रभृति साठ हजार सगर-पुत्रों को अपनी दृष्टि की विषाग्नि से जलाकर भस्म कर दिया। अन्त में, राजा सगर की आज्ञा से उसके बालक पुत्र भागीरथि (भगीरथ) ने अर्घ्य, बलि, गन्ध, माल्य और धूप से नाग की पूजा की। पूजा मिलते ही नाग प्रसन्न हो गया और उसने, भारतवर्ष के अपने सभी वंशवद नागों के, भागीरथि (भगीरथ) के प्रति अनुकूल रहने का आश्वासन दिया।

संघदासगणी के समय में कौमुदी-चातुर्मासिक महोत्सव मनाया जाता था। उसकी सन्दर्भ में चैत्योत्सव मनाने की भी प्रथा थी। चम्पानगरी के निवासी, कौमुदी-चातुर्मासिक के अवसर पर, अंगमन्दिर-उद्यान के जिनायतन में प्रतिष्ठित जिन-प्रतिमा पर फूल चढ़ाते थे। साथ ही, रमणीय झरनों और वनराजियों से सुशोभित उद्यान का भ्रमण करते थे। उसी उद्यान के समीप 'रजतबालुका' नदी बहती थी, जिसके तट पर विभिन्न पुष्पवृक्ष थे, जो फूलों से लदे रहते थे (गन्धर्वदत्तलम्भ : पृ. १३४)। सम्भवतः, यह प्राचीन कौमुदी-महोत्सव या शारदोत्सव का ही रूपान्तर है, जो लगातार चार महीनों तक मनाया जाता था।

'वसुदेवहिण्डी' सूचित करती हैं कि उस प्राचीन युग के भारतवर्ष में गोपूजा की प्रथा भी लोकादृत थी। बालक कृष्ण जब व्रज में नन्द-यशोदा के तत्त्वावधान में पल-बढ़ रहे थे, तब एक दिन, सफेद वस्त्र पहने हुई, अनेक स्त्रियों से घिरी देवकी गोमार्ग की पूजा करती हुई पुत्र को देखने व्रज में गई। चूँकि उस उपाय से अनिष्ट का निग्रह (निवारण) होता है, इसलिए उसी समय से, जनपदों में गोमार्ग की पूजा (गोपूजा) की प्रथा चल पड़ी (देवकीलम्भ : पृ. ३६९)।

उस युग में चान्द्रायण और पौषधव्रत का बड़ा महत्त्व था। दीक्षाकामी स्त्री-पुरुष इन दोनों व्रतों को करते थे। वैराग्यभावापन्न राजा नलिनकेतु जब राजर्द्धि का परित्याग कर क्षेमंकर जिन के निकट प्रव्रजित हो गया और तप करके निर्वाणगामी हुआ, तब उसकी प्रकृतिभद्र पत्नी प्रभंकरा भी मृदुता और ऋजुता से सम्पन्न होकर चान्द्रायण और पौषधव्रत करके आर्या सुस्थिता के निकट दीक्षित हो गई (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३१)। ज्ञातव्य है कि ये दोनों व्रत उपवास (निराहार-व्रत) से जुड़े हुए हैं। अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथि में करने योग्य जैनश्रावक के आहारत्याग के व्रत को पौषध कहा गया है; किन्तु चान्द्रायण-व्रत या कृच्छ्रचान्द्रायण-व्रत ब्राह्मण-परम्परा में भी प्रचलित रहा है। याज्ञवल्क्यस्मृति (३.३२४) तथा मनुस्मृति (११.२१७) के

अनुसार, चान्द्रायण-व्रत एक विशिष्ट धार्मिक व्रत या प्रायश्चित्तात्मक तपश्चर्या है, जो चन्द्रमा की वृद्धि और क्षय से विनियमित है। इस व्रत में दैनिक आहार (जो १५ ग्रास या कौर का होता है) पूर्णिमा से प्रतिदिन एक-एक ग्रास घटता रहता है, यहाँतक कि अमावस्या के दिन नितान्त निराहार व्रत रखा जाता है। उसके बाद, फिर शुक्लपक्ष में एक कौर से आरम्भ करके पूर्णिमा तक बढ़ाकर फिर १५ ग्रास तक लाया जाता है। इसीलिए, इस शब्द की व्युत्पत्ति की गई है: “चन्द्रस्य अयनम् इव अयनम् अत्र।” आजकल तो जनसाधारण के लिए एक दिन का उपवास करना भी कठिन होता है, जबकि उस युग में एक नहीं, अनेक चान्द्रायणिक (चान्द्रायण व्रत करने वाले) होते थे।

संघदासगणी ने उपरिवर्णित संस्कारों के विविध आसंगों के माध्यम से प्राचीन भारतीय सामाजिक और धार्मिक संस्कृति की समृद्धि के भाव्याभव्य तथा सामान्य-विशिष्ट, अर्थात् उभयात्मक चित्रों को विपुल-विशाल पीठिका पर रूपांकित किया है। अबतक विभिन्न संस्कृतियों या संस्कारों के जितने सन्दर्भ उपस्थापित किये गये, वे प्रायः तीन कोटि के हैं : (क) राज्याश्रित संस्कार; (ख) अभिजातवर्गीय संस्कार तथा (ग) निम्नवर्गीय चेतनाश्रयी संस्कार। राज्याश्रित संस्कारों में मानव और विद्याधर दोनों प्रकार के राजाओं के संस्कार उद्भावित हुए हैं; अभिजातवर्गीय संस्कारों में सेठों और सार्थवाहों के संस्कारों को समुद्रभावित किया गया है तथा निम्नवर्गीय संस्कारों में ‘अनुपशान्त’ या मिथ्यात्व से मूर्च्छित जीवन जीनेवाले व्यक्तियों के हीनाचारों या स्वैराचारों का समाकलन हुआ है। इस हीन वर्ग में नरपति, विद्याधरपति, सेठ, सार्थवाह, पण्डित, परिव्राजक, पुरोहित, ब्राह्मण राजपुरुष, गणिका, नापित, गोष, यहाँतक कि व्यन्तरदेव आदि सभी प्रकार के सामाजिक सदस्य (स्त्री-पुरुष) सम्मिलित हैं। राज्याश्रयी संस्कारों में राजाओं या विद्याधरनरेशों की प्रशस्तियाँ गाई गई हैं एवं इस क्रम में उनके वास्तविक और काल्पनिक शौर्य, तथा उनकी वंश-परम्परा का अनुगानन हुआ है, या फिर उनकी दानशीलता तथा विद्याबल अनुशंसित हुआ है। इसी सन्दर्भ में उनके सौन्दर्य-प्रेम, विलास, सामन्तीय समृद्धि, अन्तःपुर के वैभव आदि का अनुकीर्तन हुआ है, जिसमें सहज श्रामण्य प्रवृत्ति के अनुसार धार्मिक अभिनिवेश का संयोजन तो हुआ ही है, प्रसिद्ध चरित्रों के भी अभिनव सन्दर्भ और विस्मयकारी नवीन रूपान्तर भी उपस्थित किये गये हैं। इसी प्रकार, अभिजातवर्गीय संस्कारों में जहाँ विलास-वैभव और चारित्रिक उत्कर्षापकर्ष का विनियोग हुआ है, वहीं निम्नवर्गीय संस्कारों में लोकधर्म की असंगतियाँ और विचित्रताएँ चित्रित हुई हैं। कुल मिलाकर, सामाजिक और धार्मिक संस्कारों के उद्भावन में कथाकार का लक्ष्य सामाजिक संरचना की नवीन क्षमता और स्फूर्ति का दिग्दर्शन एवं मानवीय आदर्श की उदात्तता का परिदर्शन है। इस प्रकार, ‘वसुदेवहिण्डी’ में चित्रित सांस्कृतिक चेतना को ब्राह्मण-परम्परा की प्रतिक्रिया की परिणति न कहकर नव्य जागरण की अभिव्यंजना कहना अधिक न्यायोचित होगा।

जैन संस्कार :

सामाजिक संघटन की एकता या उदात्तता के विरोधी तत्वों के प्रखर आलोचक संघदासगणी द्वारा उल्लिखित जितने संस्कारों पर अबतक दृष्टिनिक्षेप किया गया है, वे ब्राह्मण और श्रमण-परम्परा के प्रायः समान मूल्यों के उपस्थापक हैं; किन्तु उन्होंने विशुद्ध श्रमण-संस्कारों का भी सांगोपांग विवरण उपन्यस्त किया है, जो आगमसम्मत जैन संस्कारों का एकल प्रतिनिधित्व करते

हैं। यहाँ कथाकार द्वारा वर्णित श्रमण-संस्कृति के धार्मिक आयामों का संक्षेप में उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

संघदासगणी के अनुसार, ऋषभनाथ के पूर्व भी तीर्थकरों की सत्ता थी। इससे उस जैन मान्यता की पुष्टि होती है, जिसके अनुसार यह प्रसिद्धि है कि तीर्थकरों की चौबीसी की एक नहीं, अनेक आवृत्तियाँ हुई हैं। कथाकार ने लिखा है कि एक बार एक तीर्थकर भगवान् पुण्डरीकिनी नगरी के अग्रोद्यान में पधारे और उन्होंने निर्देश किया कि समस्त विजयक्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती राजा वज्रनाथ भारतवर्ष में ऋषभ नाम से प्रथम तीर्थकर होगा (नीलयशलम्भ : पृ. १७८)। ऋषभनाथ के समय में ही जैन सिद्धान्तों की रचना या निर्माण हुआ। इसमें शीलव्रत, शिक्षाव्रत, अणुव्रत, पंचाणुव्रत, गुणव्रत, पंचव्रत, पंचभावना, पंचनमस्कार, महाप्रतिमा आदि व्रतों का स्वरूप-निरूपण किया गया। परीषहों की संख्या का निर्धारण हुआ। बीस कारण (आत्मा के विशुद्धिकारक विशिष्ट आचारिक नियम : “वीसाय कारणेहिं अप्पाणं भावेतो”; केतुमतीलम्भ : पृ. ३३५) तीन ध्यान, चौदह रत्न, चौदह स्वप्न, पाँच दिव्य, पाँच अवग्रह, नौ और चौदह पूर्व, ग्यारह अंग, चातुर्थांश धर्म और पंचज्ञान की चर्चा को भी विस्तार दिया गया।

मोक्षद्रष्टा तीर्थकरों के उपदेशों को निर्वाण-मार्ग का निर्देशक माना गया। धर्मचक्रवाल और चैत्यवृक्षों की पूज्यास्पदता स्वीकार की गई। अष्टाहिका-पर्व और जिनजागरोत्सव का प्रचार हुआ। योगवर्तिका, योगासन और ध्यानयोग की महत्ता बढ़ी। निर्वाण के मार्ग में तप और संयम को अधिक महत्त्व दिया गया। तप और संयम, रोग के समूल उन्मूलन में अमोघ और अतिशय उपयोगी घोषित किये गये। कर्मबन्धन से मुक्ति के लिए समिति और गुप्ति जैसी चर्याओं को अपनाना आवश्यक समझा गया। कालिकश्रुत का यथासमय अनुशीलन प्रारम्भ हुआ। प्राशुक भोजन, आचाम्ल (आयंबिल)-तप, सिंहनिक्रीडित तप (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३९), मासक्षपण, क्षपणपारणा, कायोत्सर्ग आदि तप का प्राचुर्य हो गया। समाधिमरण और प्रायोपगमन करनेवाले भी मोक्षाधिकारी हुए। उपवास के तो अनेक प्रकार निर्धारित हुए, जिनमें चतुर्थ भक्त, षष्ठ भक्त, अष्टम भक्त आदि उपवास अधिक महत्त्वपूर्ण थे। संसारभीरु मोक्षाभिलाषी व्यक्ति के लिए राज्यश्री पटान्तलग्न तृण के समान परित्याज्य होती थी। तप के प्रभाव से क्षीरास्रवल्बिध (जिसके प्रभाव से भाषणकर्त्ता की वाणी दूध के समान मधुर प्रतीत हो) भी सम्भव हो गई। कर्मयोग से सूक्ष्म और बादर शरीर की प्राप्ति होने लगी। शारीरिक संरचना पर अशुभ और शुभ नाम-कर्म-गोत्र के उदय का प्रभाव पड़ने लगा। आस्रव, असातावेदनीय कर्मभोग का ही अनुकल्प हुआ।

श्रावकों और श्रमणों के लिए विशिष्ट नियम बनाये गये। घातिकर्म को मोक्षलाभ के पथ का बाधक माना गया। श्रुति से उत्पन्न विज्ञान मोक्षप्राप्ति का मूल बना। तापस-विधि और प्रव्रज्या-विधि का विकास हुआ। प्रव्रज्या के लिए अभिधावक की आज्ञा अनिवार्य हुई। कथाकार ने पुरुष की तरह स्त्री को भी केवलज्ञान और सिद्धि का अधिकारी माना है। राजा दमितारि की पुत्री कनकश्री जिनवर के निकट धर्म सुनकर प्रव्रजित हुई और उसने उग्र तप करके केवलज्ञान प्राप्त किया और अपने क्लेश से छूटकर वह सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त हुई।^१ क्लेश का परिक्षपण करनेवाला ही निर्वाण-लाभ

१. सोऊणं पब्बइया, समाणी उगं तवं काऊण।

केवलनाणं पत्ता गया य सिद्धिं धुयकिलेसा ॥ (इक्कीसवाँ केतुमतीलम्भ : पृ. ३२७)

करता है, यह कथाकार का सिद्धान्तवाक्य है ("परिक्खवियकिलेसा नेव्वाणलाहिणो भवंति"; रक्तव-
तीलम्भः पृ. २१९)। यदि स्त्री वलेश-क्षण की शक्ति से सम्पन्न हो जाती है, तो वह भी मोक्षलाभ कर
लेती है। यहाँ ज्ञातव्य है कि दिगम्बर जैनागमवादियों ने स्त्री को मोक्ष का अधिकारी नहीं माना है; किन्तु
श्वेताम्बर जैनाचार्य कथाकार संघदासगणी ने स्त्री को भी मोक्षमार्ग का अधिकार देकर, स्त्री के व्यक्तित्व
को समानाधिकार के आधार पर मूल्यांकित करते हुए ततोऽधिक शास्त्रीय उदारता और वैचारिक
स्वाधीनता से काम लिया है। स्त्रियाँ अवधिज्ञानी भी हुआ करती थीं। विद्यासम्बन्धी ऋद्धियों से भी वे
सम्पन्न होती थीं। वेश्याएँ भी तप करके सिद्धशिला (मोक्ष) पर अधिकार कर लेती थी।

संघदासगणी ने समूह-दीक्षा का भी उल्लेख किया है। राजकन्या सुमति ने सात सौ कन्याओं
के साथ सुव्रता आर्या के निकट समूह-दीक्षा ली थी। हल और चक्रधारी बलदेव और वसुदेव ने
स्वयं सुमति का निष्क्रमणाभिषेक किया था। सुमति ने भी तपः कर्म अर्जित करके केवलज्ञान
प्राप्त किया और वलेश-कर्म को नष्ट कर सिद्धि लाभ की।^१

प्रथम गणधर भरतपुत्र ऋषभसेन थे और भरत की बहन ब्राह्मी प्रथम 'प्रवर्तिनी' (भिक्षुणीप्रमुख)
के पद पर प्रतिष्ठित हुई थीं। गणधर और प्रवर्तिनियाँ ही तीर्थंकरों के प्रवचनों के व्याख्याता होते थे।
साधु एक राज्य से दूसरे राज्य में अप्रतिहत भाव से विहार करते थे। साधुओं के लिए गीत, नृत्य, नाट्य
आदि वर्जित थे।

धार्मिक विश्वासमूलक संस्कारों में पुनर्जन्म भी अपना उल्लेखनीय महत्त्व रखता है। संघदास-
गणी ने भी पूर्वभव का आश्रय लेकर ही अपनी कथाओं में वैचित्र्य और विच्छिन्ति उत्पन्न की है। कहना
तो यह चाहिए कि 'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं के विकास की आधारभूमि या मूलस्रोत पूर्वभव ही है।
पूर्वभव की प्रीति या वैर का अनुबन्ध परभव में भी अनुसरण करता है। परभव में योनिविशेष में
वैर-प्रीति का क्रमभंग भी होता था। कथाकार ने पूर्वभव के क्रम में 'तद्भवमरण' की भी चर्चा की है।
यह वह मरण है, जिससे पूर्वभव के समान ही परभव में भी जन्म होता है, अर्थात् पूर्वजन्म में मनुष्य
होकर मरने के बाद परजन्म में भी मनुष्य ही होने को 'तद्भवमरण' कहते हैं।

इस प्रकार, संघदासगणी ने 'बृहत्कथा' का जैन रूपान्तरण प्रस्तुत करने के क्रम में,
'वसुदेवहिण्डी' में जगह-जगह कथाच्छल से जैनाचारों और श्रमण-मार्गोक्त संस्कारों का विपुल
विन्यास आगमोचित पद्धति से किया है। सच पूछिए, तो विद्वान् कथाकार ने अपनी इस
महत्कथाकृति में जैनागमों के सम्पूर्ण वाङ्मय के सार को बड़ी निपुणता से संगुम्फित करके अपने
अगाध आगम-ज्ञान की पारगामिता का विस्मयकारी परिचय दिया है।

धर्म-सम्प्रदाय :

भारतीय संस्कृति से धर्म और सम्प्रदाय का सघन सम्बन्ध है। इसीलिए, संघदासगणी ने
श्रमण-धर्म और सम्प्रदाय की चर्चा के परिवेश में कतिपय ब्राह्मण-धर्म और सम्प्रदायों का भी उल्लेख
किया है। स्वयं संघदासगणी श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के वाचक या विद्वान् थे। यह बात उनके द्वारा
किये गये तीर्थंकरों के विवाह और राज्यभोग के उल्लेख से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त, यह भी

१. सुबयज्जासयासे, निक्खंता तपमज्जिणिता।

केवलनाणं पत्ता, गया य सिद्धिं धुयकिलेसा ॥ (इक्कीसवां केतुमतीलम्भ : पृ. ३२८)

ध्यातव्य है कि संघदासगणी के काल में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आगम-ग्रन्थों में तीर्थकरों के, वैवाहिक जीवन जीने के बाद, प्रवृत्तिमार्ग से निवृत्तिमार्ग की ओर जाने का उल्लेख है, जब कि ठीक इसके विपरीत दिगम्बर-सम्प्रदाय में तीर्थकरों के वैवाहिक जीवन को अस्वीकृत किया गया है। दिगम्बरों में रत्यात्मकता या रसात्मकता का सम्पूर्ण निषेध है; इसलिए रत्यात्मक सरस कथाओं के लेखक संघदासगणी के लिए दिगम्बर आम्नाय के अनुसार काम कथा की रचना सम्भव भी नहीं थी। संघदासगणी के श्वेताम्बर होने का प्रकारान्तर संकेत उनके द्वारा कथाव्याज से प्रयुक्त 'श्वेताम्बर' ('राहुगो नाम बलामूको सेयंबरो'; पीठिका : पृ. ८६) शब्द से भी होता है। और फिर, मंगलकार्यों में श्वेत वस्त्र के परिधान का सार्वत्रिक उल्लेख से भी उक्त संकेत को समर्थन मिलता है।

श्रमणवादी संघदासगणी का श्रमण-धर्म के उत्कर्ष के प्रति सहज आग्रह होने के कारण उन्होंने ब्राह्मण-धर्म का जगह-जगह अपकर्ष प्रस्तुत किया है। यद्यपि, परिभाषा की दृष्टि से दोनों परम्पराओं के धर्म-सिद्धान्त एक हैं। 'अहिंसा परमो धर्मः' यदि वैदिक परम्परा का सिद्धान्त है, तो 'परस्स अदुक्खकरणं धम्मो' (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ७६) श्रमण-परम्परा का। साहित्य-जगत् या धार्मिक-दार्शनिक क्षेत्र में परस्पर दोष-दर्शन या आक्षेप-प्रत्याक्षेप की बड़ी प्राचीन परम्परा रही है। तभी तो ब्राह्मणवादी बुधस्वामी ने भी 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में ऋषिदत्ता नाम की जैनसाध्वी का नरवाहनदत्त के मित्र गोमुख से विवाह कराकर उसे संघ-बहिष्कृता के रूप में प्रस्तुत किया है। संघदासगणी ने ब्राह्मण-श्रमण-विवाद का प्रसंग उठाकर ब्राह्मण का पराजय दिखाया है या फिर उसे श्रमण-धर्म स्वीकारने को विवश किया गया है। शास्त्रार्थ में पराजित होने पर अनेक घातक प्रतिक्रियाएँ (द्र. विष्णुकुमारचरित भी; गन्धर्वदत्तालम्भ, पृ. १२८) भी होती थीं।

इस सम्बन्ध में संघदासगणी ने जातिस्मरण तथा पूर्वभव-ज्ञानविषयक शास्त्रार्थ की एक बड़ी रोचक कथा (पीठिका : पृ. ८८-८९) प्रस्तुत की है। इसमें सत्य नामक सत्यवादी साधु ने दो ब्राह्मणों को पूर्वभव के प्रति विश्वास दिलाते हुए यह ज्ञात कराया कि वे दोनों अपने पूर्वभव में सियार ही थे। मध्यस्थों ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया। तब दोनों ब्राह्मण बड़े बेमन से बोले : "हम निरुत्तर हो गये। हमारा सन्देह दूर हो गया। भवान्तर-विज्ञानी श्रमण ने हमें पराजित कर दिया।" इन दोनों ब्राह्मणों के नाम थे—अग्निभूति और वायुभूति।

सभी से प्रशंसित परिषद् (शास्त्रार्थ-सभा) समाप्त हुई। अग्निभूति और वायुभूति ने अपने पराजय की बात अपने माता (अग्रिला)-पिता (सोमदेव) से जाकर कही। रोष से प्रदीप्त होकर उन्होंने उनसे कहा : "बेटे ! जिस श्रमण ने तुम्हें भरी सभा में तिरस्कृत किया, उसका चुपके-से वध कर दो।" "ऐसे महान् आत्मावाले तपस्वी का वध कैसे किया जायगा ?" बेटों ने कहा। "तब हमें ही मार डालो, लेकिन प्रतिकूलधर्मों मत बनो।" माता-पिता ने कहा।

माता-पिता की बात रखने के लिए अग्निभूति और वायुभूति मध्यरात्रि में सत्य के पास गये। सत्य साधु 'सुमन' यक्ष की शिला पर कायोत्सर्ग कर रहे थे। यक्ष के विद्याप्रभाव से दोनों दुराचारी ब्राह्मणपुत्र चित्रलिखित की तरह स्तम्भित हो गये। सुबह होने पर उनके बन्धुओं ने उन्हें वैसी अवस्था में देखा, तो सभी ने सत्य साधु से उनके जीवन की रक्षा के निमित्त प्रार्थना की। साधु ने कहा कि यक्ष ने क्रुद्ध होकर इन्हें स्तम्भित किया है। यक्ष से बहुत प्रार्थना की गई, फिर भी वह ब्राह्मणपुत्रों को क्षमादान के लिए तैयार नहीं हुआ। अन्त में, सत्य साधु के कहने पर यक्ष

शान्त हुआ और ब्राह्मणपुत्र प्रकृतिस्थ हो गये। तदनन्तर, दोनों ब्राह्मणपुत्रों ने सत्य के पैरों पर गिरकर शुद्ध हृदय से निवेदन किया : “भगवन् ! आपही हमारे रक्षक हैं। आज से हम आपके शिष्य हुए। हम साधुधर्म का पालन तो नहीं कर सकते, पर गृहधर्म स्वीकार करते हैं। इसके बाद वे दोनों अणुव्रत (जैन गृहस्थ के लिए निर्धारित नियम) धारण करके श्रावक हो गये। फिर, उन्होंने अपने माता-पिता से भी श्रमण-धर्म स्वीकार कर लेने का आग्रह किया। लेकिन, उन्होंने अपने वेदे का आग्रह नहीं माना।

इस कथा से स्पष्ट है कि उस युग में श्रमण-धर्म स्वीकार करने के लिए ब्राह्मणधर्मियों को विवश किया जाता था और इसके लिए ऐन्द्रजालिक विद्याबल तक का भी सहारा लिया जाता था। वस्तुतः, यह तत्कालीन ब्राह्मण-धर्म और श्रमण-धर्म के बीच चलनेवाली पारस्परिक खींचतान को सूचित करनेवाला मनोरंजक दृष्टान्त है। साथ ही, इससे यह भी संकेतित होता है कि उस युग में श्रमण-धर्म और ब्राह्मण-धर्म में आपसी अनास्था की धारणा बड़ी प्रबल थी। यद्यपि, तत्कालीन ब्राह्मण युवा पीढ़ी में श्रमण-धर्म के प्रति थोड़ा-बहुत आकर्षण तो रहता भी था, किन्तु पुरानी पीढ़ी के लोग श्रमणों को प्रायः हिकारत की नजर से ही देखते थे।

संघदासगणी ने ब्राह्मण के लिए कई पर्यायों का प्रयोग किया है, जैसे ब्राह्मण, द्विजाति, विप्र, उपाध्याय आदि; किन्तु, प्राकृत में उन्होंने ‘ब्राह्मण’ के लिए ‘माहण’ और ‘बंभण’ ये दो रूप प्रयुक्त किये हैं और ‘उत्तराध्ययनसूत्र’ के अनुसार, उन्होंने माहण की निरुक्ति की है—‘मा जीवं हण ति’। अर्थात्, त्रस और स्थावर जीवों की मन, वाणी और शरीर से जो हिंसा नहीं करता, वही ‘माहण’ (सं. माहन) है।^१ इससे यह स्पष्ट है कि उदारदृष्टि कथाकार ने ब्राह्मण को जाति-बन्धन में न जकड़कर, सम्पूर्ण रूप से अहिंसा-धर्म के पालनकर्ताओं को ‘ब्राह्मण’ शब्द से परिभाषित किया है। यद्यपि, उन्होंने पशुवध के प्रचारक हिंसावादी ब्राह्मणों की भी भूरिशः चर्चा की है और इस क्रम में प्रायः वैदिक परम्परा के ब्राह्मणों की ही आड़े हाथों लिया है। कथाकार ने ब्राह्मण को ‘पटुजाति’ शब्द से भी विशेषित किया है। वसुदेव ने चारुदत्त सेठ को ब्राह्मण के रूप में ही अपना परिचय दिया था। इसलिए उन्होंने जब गन्धर्वदत्ता के साथ वीणा बजाई और गीत गाया, तब सेठ ने उनकी वादन और गान-विधि के सम्बन्ध में संगीताचार्यों से मन्तव्य माँगा। तब, आचार्यों ने कहा कि पटुजाति ने जो बजाया, उसे आपकी पुत्री ने गाया और आपकी पुत्री ने जो बजाया, उसे पटुजाति ने गाया। कहना न होगा कि कथाकार ने ब्राह्मण के इस विशेषण द्वारा उसके चालाक जाति के सदस्य होने की ओर व्यंग्यगर्भ परोक्ष संकेत किया है। कुल मिलाकर, सामन्तवादी कथाकार संघदासगणी जातिवादी तो नहीं हैं, किन्तु उनकी पूरी-की-पूरी ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों जातियों की त्रिस्थूणा पर आधृत है।

संघदासगणी ने त्रिदण्डी परिवाजकों की जुगुप्सा जी खोलकर ऋषी है, साथ ही ब्राह्मण भिक्षुणियों पर भी तीक्ष्ण आक्षेप किये हैं। वैदिक साधुओं को कार्पटिक (कपटी, मायावी) तक कहा है, सिर्फ कहा ही नहीं है, कथा के द्वारा लक्ष्य-लक्षण की संगति भी उपस्थित की है। कथाकार का एतद्विषयक आक्षेप अनपेक्षित या अयथार्थ नहीं है, अपितु उसने ब्राह्मण-परम्परा के भिक्षु-जगत्

१. तसपाणे वियाणेत्ता संगहेण य थावरे।

जोन हिंसइ तिविहेणं तं वयं ब्रूम माहणं ॥ उ. सु., २५.२२

में व्याप्त तत्कालीन अनाचारों का निर्वैयक्तिक भाव से यथातथ्य चित्रण उपस्थित किया है। यों, सांख्यमत के अनुयायी संन्यासियों की 'त्रिदण्डी' संज्ञा शास्त्रसम्मत है। किन्तु, धम्मिल्लहिण्डी की अगडदत्तमुनि-कथा में कथाकार ने परचित्तमोहक व्यवहार में परम पटु एक ऐसे त्रिदण्डी परिव्राजक से पाठकों की भेंट कराई है, जो अपने त्रिदण्ड (छद्म गुप्ती) में शस्त्र छिपाकर रखता था और रात में आरामुख नहरनी से सेंधमारी करता था। उस पाखण्डी त्रिदण्डी की हुलिया कथाकार के शब्दों में देखिए : "वह गेरुआ वस्त्र पहने हुए था; एक कपड़ा उत्तरासंग के रूप में, उसके शरीर के ऊपरी भाग पर था; एक वस्त्रखण्ड को कन्धे के ऊपर तथा काँख के नीचे से लाकर फेंटा बाँधे हुए था; बायें हाथ में कमण्डलु लटका था और बायें ही हाथ से पकड़ा गया त्रिदण्ड उसके कन्धे को छू रहा था; दायें हाथ से वह माला फेर रहा था; थोड़ी ही देर पहले उसने अपनी दाढ़ी और केश मुड़वाये थे, साथ ही वह मन-ही-मन कुछ बुदबुदा रहा था" (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४०)। यह त्रिदण्डी चोर ही नहीं था, हत्यारा भी था। इस प्रकार, वह परिव्राजक के नाम पर कलंक था।

परिव्राजिकाएँ भी त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करती थीं। 'वसुदेवहिण्डी' में कथा (मदनवेगालम्भ : पृ. २३२) है कि शूरसेन-जनपद के सुदीप्त सन्निवेश के सोम नामक ब्राह्मण की पुत्री अंजनसेना निवेदवश परिव्राजिका हो गई थी। वह त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करती थी, अथच सांख्य तथा योगशास्त्र में उसका विशेष प्रवेश था। वह गाँवों, नगरों और जनपदों में घूमती रहती थी : "तिदंडकुंडियधरी संखे जोगे च कयप्पवेसा गाम-नगर-जणवएसु विहरंती।" यह पण्डिता होते हुए भी खण्डिता थी। इसने मथुरा के सागरदत्त सार्थवाह की पत्नी मित्रश्री को नागसेन नामक वणिक्पुत्र से वासनात्मक प्रेम करने के लिए बहकाया-फुसलाया था, जिसके लिए मथुरा के राजा ने उसके नाक-कान कटवाकर उसे देश-निर्वासन का दण्ड दिया था (तत्रैव : पृ. २३३)।

कार्पाटिक साधु बीहड़ जंगली रास्तों से अच्छी तरह परिचित रहते थे। चारुदत्त जब जंगल में भटक गया था, तब वह एक कार्पाटिक साधु की सहायता से ही बहुत कष्टपूर्वक उस घोर जंगल से बाहर निकल पाया था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४५)। त्रिदण्डी परिव्राजक याज्ञवल्क्य और सांख्य-व्याकरण में कुशल परिव्राजिका सुलसा, इन दोनों ने परस्पर यौनाचार में लिप्त होकर अवैध सन्तान पिप्पलाद को जन्म दिया था। पिप्पलाद-प्रणीत हिंसायज्ञमूलक अथर्ववेद में निर्दिष्ट उपदेशों के पालन के फलस्वरूप ही पिप्पलाद के शिष्य वर्दली को छह बार जन्म-मरण का कष्ट भोगना पड़ा था (तत्रैव : पृ. १५१-१५३)।

संघदासगणी ने श्रमण-धर्म का परित्याग कर ब्राह्मण-धर्म स्वीकार करनेवाले क्षत्रिय भूपतियों को भी अपने आक्षेप का लक्ष्य बनाया है। कथा (नीलयशालम्भ : पृ. १६३) है कि ऋषभस्वामी जब कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार क्षत्रियराजाओं के साथ दीक्षा ग्रहण कर मौन विहार कर रहे थे, तभी पारणा के समय भिक्षा के लिए जब वह गृहस्थों के घर गये, तब गृहवासियों ने कन्याएँ, सोना, वस्त्र और आभूषण तथा हाथी-घोड़े प्रस्तुत किये। भगवान् ऋषभदेव के साथ दीक्षित चार हजार क्षत्रिय-भूपति भूख से पीड़ित होने के कारण दुःखी रहते थे। उन्होंने भगवान् की बातों की अवहेलना कर दी और वे अभिमानी हो गये। पुनः राजा भरत के भय से वे जंगलों में फल-मूल का आहार लेने लगे तथा वल्कल और चर्म धारण करनेवाले ब्राह्मण-मतानुयायी तपस्वी हो गये।

सम्प्रदायों के उल्लेख के क्रम में **संघदासगणी** ने **चोक्ष-सम्प्रदाय**^१ का भी उल्लेख किया है। ताम्रलिपि नगर के सार्थवाह महेश्वरदत्त की माता बहुला चोक्षवादिनी थी (कथोत्पत्ति: पृ. १४)। यह चोक्ष-सम्प्रदाय ऊपर से तो शुचिता का प्रदर्शन करता था, किन्तु भीतर से माया और कपट के आचरण में आप्लित रहता था। इसलिए, बहुला को 'उवहि-नियडिकुसला चोक्खवाइणी' कहा गया है। 'चोक्ष' स्पृश्यास्पृश्यवादी सम्प्रदाय-विशेष था।

संघदासगणी ने परम भागवत-सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है। अवन्ती-जनपद की उज्जयिनी नगरी का इष्य सागरचन्द परम भागवत-दीक्षा से सम्पन्न था और भगवद्गीता के सूत्र, अर्थ और परमार्थ को जानता था। उसने अपने पुत्र समुद्रदत्त की गृहशिक्षा के लिए एक परिव्राजक को गृहशिक्षक नियुक्त किया था; क्योंकि सागरचन्द को इस बात की आशंका थी कि उसका पुत्र अन्य शालाओं में पड़ेगा, तो पाखण्डी हो जायगा। किन्तु, विडम्बना की बात तो यह हुई कि गृहशिक्षक परिव्राजक समुद्रदत्त की माँ चन्द्रक्षी के ही साथ यौनाचार में लिप्त हो गया (धम्मिल्लहिण्डी: पृ. ५०)। यहाँ भी कथाकार ने परमभागवत सम्प्रदाय के अनुयायियों का चरित्रापकर्षण ही दिखलाया है।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त **संघदासगणी** ने दिशाप्रोक्षी (वानप्रस्थ संन्यासियों का सम्प्रदाय) और नास्तिकवादी सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार, उन्होंने ब्राह्मण और श्रमण-धर्म-सम्प्रदाय के उत्कर्षापकर्ष के विविध अतिरेचक चित्र 'वसुदेवहिण्डी' में अंकित किये हैं, जिनसे तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक समाज का वैचित्र्यपूर्ण मानसिकता उभरकर सामने आती है।

उस युग के सामान्य सांस्कृतिक जीवन के वर्णन की दृष्टि से **संघदासगणी** द्वारा और भी अनेक तथ्यों की उन्दावना की गई है, जिनमें कतिपय प्रमुख तथ्यों का यहाँ संक्षिप्त विवरण-विवेचन प्रासंगिक होगा।

वस्त्र और अलंकरण :

वस्त्र : कथाकार **संघदासगणी** के युग में प्रयुक्त होनेवाले वस्त्रों और अलंकरणों से तत्कालीन समृद्ध समाज का परिदर्शन होता है। कथाकार ने उस युग में व्यवहृत होनेवाले विभिन्न वस्त्रों का उल्लेख किया है। जैसे : काशिक, षट्पतुलिका, हंसलक्षण, दसिपूर क्षौमवस्त्र, कम्बलरत्न, देवदूष्य आदि। विवाह के पूर्व समलंकृत शरीरवाली वसुदेव-पत्नी बन्धुमती का जो चित्र कथाकार ने छायांकित किया है, इसमें तद्युगीन वस्त्रों और अलंकारों के वर्णन का एक साथ प्रतिनिधित्व हो जाता है। वर्णन इस प्रकार है :

१. चोक्ष (चौक्ष, अपपाठ चैक्ष) का साधारण अर्थ पवित्रता का सूचक होता है। श्रीचन्द्रबली पाण्डे अभिनवगुप्त के मतानुसार चोक्ष का अर्थ एकाग्रता भागवत करते हैं। चोक्ष पर टीका करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है : "चोक्षा भागवतविशेषा ये एकाग्रता इति प्रसिद्धाः।" भरत (१८।३४) के अनुसार चोक्ष, परिव्राजक, मुनि, शाक्य, श्रोत्रिय, शिष्ट और धर्मियों को संस्कृत बोलना आवश्यक था। 'पद्मभ्रातृकम्' भाग में चोक्ष पवित्रक के वर्णन से पता चलता है कि आज की तरह उन दिनों भी भागवतों को छुआछूत का रोग लगा था, गौतिक कभी-कभी वे वेश्यागमन से भी बाज नहीं आते थे। अमात्य विष्णुदास के वर्णन से द्रोक्षों के रूप पर कुछ और अधिक प्रकाश पड़ता है। ("एवहि वेत्रदण्डकुण्डिकाभण्डसुचितोवषलचोक्षामात्यो विष्णुदास :।" —पादताडितक, २४।५) चोक्षों के अतिरिक्त 'चतुर्भाणी' में भागवतधर्म पर कुछ-कुछ प्रकाश पड़ता है। 'पादताडितकम्' में चोक्षोपदार, चोक्षोपायन आदि का उल्लेख भी हुआ है। — विशेष द्र. 'चतुर्भाणी' की मौलिक-लिखित भूमिका, पृ. ८२।

“उसके बाद सुखासन पर बैठे हुए वसुदेव को वर के योग्य उपकरणों से सजाया गया। मंगलमय परिवेशवाली सौभाग्यवती स्त्रियों से घर भर गया। उज्ज्वल वेश में परिजनों के साथ बन्धुमती बाहर आई। उस समय वह दूर्वाकुर-मिश्रित फूल की माला पहने हुए थी, कानों में उत्तम फूलों के कुण्डल झूल रहे थे, उसका केशपाश चूड़ामणि की किरणों से अनुरंजित था, उज्ज्वल कनक-कुण्डल की प्रभा से अनुलिप्त आँखों से उसका मुख-कमल जगमगा रहा था, लाल-लाल हथेलियोंवाली उसकी लता जैसी लचीली भुजाएँ मनोहर स्वर्ण-केयूर से अलंकृत थीं, तरल हार से अलंकृत पुष्ट स्तनों के भार से उसकी देह का मध्यभाग मानों कष्ट पा रहा था और करधनी से बंधे अधन-मण्डल की गुरुता से उसके कमल जैसे पैर परिश्रान्त-से प्रतीत होते थे, कमल के विना भी वह लक्ष्मी की तरह शोभा बिखेर रही थी, स्नान और प्रसाधन के विविध पात्र लिये दासियों से वह घिरी हुई थी और सफेद बारीक रेशम के वस्त्र पहने और चादर ओढ़े हुए थी (बन्धुमतीलम्ब : पृ. २८०)।”

संघदासगणी के इस नख-शिख-वर्णन से यह स्पष्ट है कि वह उस युग के विभिन्न अलंकरणों से ही परिचित नहीं थे, अपितु उसकी परिधान-पद्धति और शृंगार-साधनों द्वारा की जानेवाली प्रसाधन-विधि से भी पूर्णतया अवगत थे। सफेद बारीक रेशमी वस्त्र के लिए कथाकार ने ‘काशिकसितक्षौम’ (प्रा. ‘कासिकसियक्षौमपरिहाणुत्तरीया’) शब्द का प्रयोग किया है। दीप्त्यर्थक ‘काश्’ धातु से ‘काशिक’ शब्द निष्पन्न हुआ है। इसलिए, स्पष्ट है कि उस युग में सफेद बारीक चमकनेवाले रेशमी वस्त्र को ही ‘काशिक’ कहा जाता होगा। यों, ‘काशिक’ को काशी नामक स्थान-विशेष से जोड़ा जाय, तो प्रसिद्ध बनारसी सफेद सिल्क की कीमती साड़ी की ओर भी कथाकार का संकेत अभासित होता है।

उस युग में, राजभवन में पलंग पर पट्टतूलिका के आस्तरण का प्रयोग प्रचलित था और उत्तम वस्त्र को ‘प्रवर वस्त्र’ (‘पवरवत्थपरिहिओ’; पृ. २३०) कहा जाता था। मदनवेगा के साथ विवाह के बाद वसुदेव ने प्रवर वस्त्र (उत्तम वस्त्र) पहने और परम स्वादिष्ट भोजन किया। उसके बाद वह पट्टतूलिका के आस्तरणवाले पलंग पर बैठे, फिर सुखपूर्वक सो गये (‘सयणीए पट्टतुलियच्छुणे संविट्ठो, सुहपसुत्तो’; तत्रैव, पृ. २३०)। पट्ट, अर्थात् रेशम की तरह मुलायम रुई को ‘पट्टतूलिका’ कहते हैं। स्पष्ट है कि उस युग में तकिये और बिछावन में जिस रुई का प्रयोग होता था, वह रेशम की भाँति मुलायम होती थी। भर्तृहरि ने भी अपने ‘वैराग्यशतक’ में पट्टसूत्र और उपधान (श्लोक-सं. ७४ और ७९) की चर्चा की है।

उस युग में, एक प्रकार का, हंस की तरह उजला रेशमी वस्त्र प्रचलित था, जिसे कथाकार ने ‘हंसलक्षण’ कहा है। ‘प्राकृतशब्दमहार्णव’ में ‘हंसलक्षण’ शुक्ल या श्वेत का पर्याय है। ‘वसुदेवहिण्डी’ में नीलयशा के नखशिख-वर्णन में उसे कहा गया है: “हंसलक्षणाणि धवलाणि खोभाणि निवसिया (नीलयशालम्ब : पृ. १७९)।” अर्थात् वह हंसधवल रेशमी वस्त्र पहने हुई थी। इसी प्रकार, वसुदेव जब भगध-जनपद में थे, तभी जरासन्ध के आदमियों ने उन्हें बन्दी बना लिया और म्यान से तलवार निकालकर खड़े हो गये। वैसी संकटपूर्ण स्थिति में वसुदेव नमस्कार-मन्त्र जपने लगे, जिसके प्रभाव से देवी-रूप में कोई वृद्धा स्त्री उन्हें ऊपर उठा ले गई और दूर ले जाकर धरती पर छोड़ आई। वृद्धा स्त्री हंसलक्षण सूक्ष्मोज्ज्वल वस्त्र से अपना शरीर ढके हुए थी, जिससे वह फेनपट से आवृत गंगा जैसी लगती-थी (प्रभावतीलम्ब : पृ. ३५०)। इस प्रसंग से यह सूचित होता है कि विद्याधरियाँ प्रायः

सूक्ष्मोज्ज्वल वस्त्र ही पहनती थीं और इसीलिए सूक्ष्मोज्ज्वल वस्त्र सांस्कारिक दिव्यता का प्रतीक था। वसुदेव जब गन्धर्वदत्ता के निमित्त आयोजित सांगीतिक अनुयोग-सभा में जा रहे थे, तब संगीताचार्य सुग्रीव की पत्नी (उपाध्यायानी) ने उन्हें सफेद महार्घ वस्त्र-युगल, अंगराग, फूल और पान देकर बिदा किया था ("दिण्णं च णाए पंडरं महग्घं च वत्थजुयलं समालभणं पुणतंबोलाइ": गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १२७) वसुदेव की विद्याधरी पत्नी भी उज्ज्वल पट्टांशुक (रेशमी वस्त्र) पहनती। ("धवलपडपट्टं-सुयधरा अलंकारसुंदरीहि अणुगम्ममाणी"; प्रभावतीलम्भ : पृ. ३५१) किन्तु, सेठ चारुदत्त की जिस अमितगति नाम के विद्याधर से भेंट हुई थी, वह पीताम्बरधारी था ("ण्हायसरीरो तहेव पीयंबरो कणगाभरणभूसिओ"; गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३१)।

संघदासगणी ने क्षौमवस्त्र का बहुधा उल्लेख किया है। एकाध बार चीनांशुक, कौशेय और दुकूल की भी चर्चा की है। किन्तु, वस्त्र के लिए सामान्यतः अपरिचित शब्दों का भी उल्लेख उन्होंने किया है। जैसे : दसिपूर और कसवर्द्धन। पीठिका में 'दसिपूर' और ग्यारहवें रक्तवतीलम्भ में 'कसवर्द्धन' वस्त्र का वर्णन आया है। पीठिका की बलान्मूक राहुक की कथा (पृ. ८६) में कहा गया है कि उज्जयिनी से पाँच आदमी मगध आये। उनमें तीन वणिक्पुत्र थे और दो उनके सहयात्री नौकर (कर्मकर) थे। वणिक्पुत्रों में एक राहुक नाम का था। राहुक गोरे-साँवले (अर्थात् गेहुएँ) रंग का था। वह उजला कपड़ा पहने हुए (श्वेताम्बर) था और बरबस गूँगा (बलान्मूक) बना हुआ था। शेष दो वणिक्पुत्र गोरे रंग के थे और सिन्दूरी रंग के कपड़े पहने हुए थे। दोनों नौकर काले-साँवले रंग के थे, जिनमें एक, कम्बल में बँधा पाथेय और कपड़े का गड्ढा ढो रहा था और दूसरा, 'दसिपूर' (= सं. दशापूर) वस्त्र से बँधी गठरी लिये हुए था : "तत्थेगो कंबलेण पाहेयं वत्थाइ पोडुलब्ध्वाइ च वहइ इयरो अ दसिपूरवत्थेण" (पृ. ८६)।"

रक्तवतीलम्भ की कथा (पृ. २१८) है कि वसुदेव झील से निकलकर इलावर्द्धन नगर के राजमार्ग पर पहुँचे। राजमार्ग इतना प्रशस्त था कि उसपर अनेक रथ आसानी से एक साथ आ-जा सकते थे। वह अनेक रसिकों और विविध वेशधारी पुरुषों से भरा था। उन्होंने वहाँ दुकूल, चीनांशुक, हंसलक्षण, कौशेय, कसवर्द्धन आदि वस्त्र देखे, जो विक्रयार्थ फैलाकर रखे गये थे। विविध रंगों से निर्मित उन वस्त्रों में कुछ केसरिया रंग के थे, कुछ के रंग कमल और पलाशपुष्प की तरह थे, कुछ वस्त्र तो कबूतर की गरदन के रंग (राख के समान = 'ऐश कलर') की भाँति और कुछ प्रवाल और मैनसिल (लाल रंग की उपधातु) के रंग के समान थे। इस प्रकार के वस्त्रों के अतिरिक्त, विद्युत्कान्ति जैसे चमकनेवाले तथा मृगलोम से बने वस्त्रों एवं विभिन्न रंगों के ऊनी कम्बलों के भी ढेर लगे थे।

'प्राकृतशब्दमहार्णव' में 'दशा' का अर्थ सूत या ऊन का छोटा और पतला धागा किया गया है। आटे ने भी 'दशा' का अर्थ (वस्त्र के छोर का) धागा ही दिया है। 'दसिपूर' का संस्कृत रूप यदि 'दशापूर' माना जाय, तो इसे दशा + पूर = ऊन के धागे से बुना गया ऊनी वस्त्र या कम्बल के प्रकार का वस्त्र कहना असंगत नहीं होगा। कम्बल से गठरी बाँधने की प्रथा तो आज भी प्रचलित है। और, मूल में वर्णित प्रसंगानुसार 'दसिपूर' का ऊनी कम्बल अर्थ ही उचित प्रतीत होता है।

'कसवर्द्धन' शब्द को कथाकार ने दुकूल, चीनांशुक, हंसलक्षण और कौशेय के साथ ही गिनाया है, इसलिए यह भी विशिष्ट प्रकार का रेशमी वस्त्र ही रहा होगा। यों, 'दुकूल' रेशमी वस्त्र

है और 'हंसलक्षण' भी हंस की तरह सफेद बारीक रेशमी वस्त्र है। 'चीनांशुक' चीन देश में निर्मित रेशमी वस्त्र के नाम से चिरप्रसिद्ध है। 'कौशेय' (कोश से उत्पन्न) तसर वस्त्र के रूप में भारतीय सांस्कृतिक जीवन का अतिशय परिचित वस्त्र है। अतएव, स्पष्ट है कि कथाकार द्वारा नामतः संकेतित उक्त सभी वस्त्र रेशमी या क्षौम और ऊनी या दसिपूर वस्त्रों के ही भेदोपभेद हैं। कहना न होगा कि उस युग में सूती वस्त्र की अपेक्षा रेशमी और ऊनी वस्त्रों का व्यवहार ही अधिक होता था और रेशमी वस्त्र राजाओं, सामन्तों और सेठ-सार्थवाह जैसे अभिजात वर्गों में अधिक गौरवास्पद माने जाते थे। साथ ही, धार्मिक संस्कार और व्रत-त्योहार के अवसरों के लिए भी, रेशमी वस्त्र शुचिता और रुचिरता की दृष्टि से, अधिक अनुकूल होते थे।

संघदासगणी द्वारा चर्चित 'कम्बलरत्न' भी इस प्रसंग में उल्लेख्य है। यह भी उत्तम कोटि का ऊनी या रेशमी कम्बल था, जिसका व्यवहार प्रायः राजघराने में ही होता था। सुविधि वैद्य के पुत्र केशव को क्रिमिकुष्ठी साधु की चिकित्सा करने के क्रम में कम्बलरत्न की आवश्यकता पड़ी थी, तो राजपुत्र ने कम्बलरत्न लाकर उसे दिया था ("रायपुत्रेण कम्बलरत्नं दिण्णं"; नीलयशालम्भ : पृ. १७७)। यह कम्बलरत्न बड़ा शीतल होता था। कुष्ठ के कोटाणु ठण्डी वस्तु के प्रति अधिक आकृष्ट होते हैं, इसलिए चिकित्सा के क्रम में कुष्ठरोगी को कम्बलरत्न ओढ़ाया जाता था, जिसमें कुष्ठ के कीड़े आ लगते थे ("...तवसी कम्बलेण संवरिओ, तं सीयलं ति तत्थ लग्गा किमी"; तत्रैव)।

उस युग के राजा कूर्पासक पहनते थे ("राया य कुप्पासअसंयुओ देवकुमारो विव मणहरसरीरो"; पुण्डालम्भ : पृ. २१२)। कूर्पासक का परिधान स्वर्णकाल में अधिक प्रचलित रहा होगा। अमरकोश ने कूर्पासक का अर्थ चोल किया है। क्षीरस्वामी के अनुसार, कूर्पासक की व्याख्या है : 'कूपरेऽस्यते कूर्पासः स्त्रीणां कञ्जुलिकाख्यः।' डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार, कूर्पासक थोड़े भेद से स्त्री और पुरुष दोनों का पहनावा था। स्त्रियों के लिए यह चोली के ढंग का था और पुरुषों के लिए फतुई या मिर्जई के ढंग का। इसकी दौ विशेषताएँ थीं, एक तो यह कटि से ऊँचा रहता था और दूसरे प्रायः आस्तीन-रहित होता था। वस्तुतः, कूर्पासक नाम इसीलिए पड़ा कि इसमें आस्तीन कोहनियों से ऊपर ही रहती थी। मूलतः कूर्पासक भी चीनचोलक की ही तरह मध्य एशिया की वेशभूषा में प्रचलित था और वहीं से इस देश में आया।^१

संघदासगणी द्वारा उल्लिखित वस्त्रों में देवदूष्य का भी महनीय स्थान है। यह देवता का वस्त्र या दिव्य वस्त्र होता था। लोकान्तिक देवों द्वारा प्रतिबोधित होने पर भगवान् ऋषभस्वामी भरत आदि पुत्रों को राज्य देकर देवों द्वारा लाई गई 'सुदर्शना' नाम की शिबिका पर आसीन हुए और 'सिद्धार्थ' वन में जाकर एकमात्र देवदूष्य (देवप्रदत्त वस्त्र) धारण किया (नीलयशालम्भ : पृ. १६३)। प्रत्येक तीर्थंकर के महाभिनिष्क्रमण के समय उन्हें देवता एक विशिष्ट वस्त्र प्रदान करते थे और वह उसे धारण करके तपोविहार में निरत हो जाते थे। किन्तु, दिगम्बर तीर्थंकरों के नग्न रूप में प्रव्रजित होने की प्रथा थी और यही श्वेताम्बरों से उनका भेद था। 'ओघनिर्युक्ति' (३१५) के अनुसार, जैन साध्वियाँ 'अद्धोरुक' नामक वस्त्र-विशेष पहनती थीं। कोशकार आप्टे के अनुसार, अद्धोरुक स्त्रियों के पहनने का अन्तर्वस्त्र था, जो आजकल 'पेटीकोट' या 'साया' कहा जाता है।

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : "हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन", उच्छ्वास ७, पृ. १५२-१५३।

यद्यपि, **संघदासगणी** ने धोड़े के दमन के लिए तैयार धम्मिल्ल को कूर्पासक और अर्द्धोरुक पहने हुए चित्रित किया है ("कुप्पासयसंवयसरीरो अर्द्धोरुकयबाहिल्लणो"; धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ६७)। अमरकोश में 'अर्द्धोरुक' और 'चण्डातक' स्त्रियों का वस्त्र माना गया है। अर्द्धोरुक की व्याख्या की गई है : ऊर्वोरर्द्धाच्छादकमंशुकमर्द्धोरुकम् अर्थात् आधी जाँघ ढकनेवाला वस्त्र 'अर्द्धोरुक' है।

'वसुदेवहिण्डी' में प्रयुक्त वस्त्रों के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट है कि उस युग में रुई और जान्तव रोमों से बने विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का व्यवहार होता था। सफेद वस्त्रों के प्रति सर्वाधिक आग्रहशीलता के बावजूद रंग-विरंगे वस्त्रों का आकर्षण भी कम नहीं था। धम्मिल्ल के समीप मेघमाला जब आई थी, तब वह रत्तांशुक पहने हुए थी ('रत्तांसुयएक्कवसणा'; धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ७३)। धम्मिल्ल ने भी विविध रंगोंवाले वस्त्रों को पहन कर उद्यान-यात्रा की थी (तत्रैव : पृ. ६४: "विविहरागवत्थवेसधारी अप्पाणं काऊण")। 'अनुयोगद्वारसूत्र', ३७ के अनुसार जान्तव या कीटज वस्त्र के पाँच प्रकार कहे गये हैं: पट्ट, मलय, अंसुग, चीनांसुय और किमिराग। **संघदासगणी** ने पट्ट, अंसुग और चीनांसुय जैसे रेशमी वस्त्रों के वर्णन के प्रति अधिक अभिरुचि प्रदर्शित की है। साथ ही, कौशेय (तसर के वस्त्र) और दुकूल की भी नामतः चर्चा की है। कथाकार ने वस्त्रों के विशेषण में 'महार्ह' 'महरिह' (बड़ों के योग्य) शब्दका प्रयोग बार-बार किया है। साथ ही, तैलाभ्यंग के समय पहने जाने वाले वस्त्रका भी उल्लेख किया है (पद्मालम्भ : पृ. २०५)। साथ ही, तैलाभ्यंग के समय पहने जानेवाले वस्त्र का भी उल्लेख किया है 'सिणेहधारणीयवत्थपरिहिओ'; (पद्मालम्भ : पृ. २०४)। किन्तु, ध्यातव्य विषय यह है कि परवर्ती काल (विशेषतया बाणभट्ट के समय) में वस्त्रों का जितनी व्यापकता और विविधता के साथ उल्लेख हुआ है, **संघदासगणी** के काल में उसका अभाव पाया जाता है।

अलंकरण : महान् कथाकार **संघदासगणी** ने 'वसुदेवहिण्डी' में तत्कालीन प्रयुक्त होनेवाले विविध रम्य अलंकरणों का उल्लेख किया है। एक नगर में कोई गणिका रहती थी। उसके पास वैभवशाली राजा, अमात्य और इन्धुपुत्र आया करते थे। ये जब गणिकागृह से वापस जाने लगते थे, तब गणिका की स्मृति के लिए उसके द्वारा पहने गये अलंकरण साथ ले जाते थे। (कथोत्पत्ति: पृ. ४)। इन अलंकरणों में हार, अर्द्धहार, कटक और केयूर होते थे। 'प्राकृतशब्दमहार्णव' के अनुसार, नौ लड़ियोंवाले हार को 'अर्द्धहार' कहा जाता था। कुण्डिनपुर के राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी मुठ्ठी में समाने लायक ('करपरिमिय') अपने पुष्ट (पीन) स्तनों को 'वट्टहार' (वृत्तहार), यानी गोलाकार माला से सजाती थी ("करपरिमिय वट्टहारपहसिय-पीणाधणजुयल..."; पीठिका, पृ. ८०)।

संघदासगणी ने वसुदेव को अपने पास अनेक प्रकार के आभूषण रखनेवाला बताया है। वसुदेव ने चम्पापुरी के संगीताचार्य सुग्रीव की पत्नी को, संगीत-शिक्षणार्थी शिष्यों में अपने को सम्मिलित कराने के निमित्त आचार्य सुग्रीव से सिफारिश के लिए प्रधान (श्रेष्ठ) रत्न से दीप्त कटक प्रदान किया था ("... माहणीए कडयं दिन्नं पहाणायणदीवियं"; गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १२७)। चारुदत्त के मित्र गोमुख ने ज्वालुकाप्रदेश पर जिस स्त्री (विद्याधरी) के पदचिह्न देखे थे, उससे अनुमान लगाया था कि वह स्त्री पैरों में नूपुर पहनती थी और कटि में किंकिणी (घुँघरुओं-क्षुद्रघण्टिकाओं से युक्त आभूषण-विशेष) भी धारण करती थी ("इमाणि इत्थिपयाणि खिंखणिमुहनिवड्डियाणि पण्हत्थणपुरकिंचिबिम्बाणि य दीसन्ति"; तत्रैव: पृ. १३६)। उस युग में स्वर्ण-कुण्डल और स्वर्ण-केयूर तो बहुप्रचलित आभूषण थे। विष्णुकुमार ने जब दिव्य रूप धारण किया था, तब उनके ग्रीष्मकालीन दोपहर के सूर्य की भाँति दुष्पेक्ष्य

चमकवाले मुकुट से निकलते मणिमयूख से दिशामुख रंजित हो उठा था; उनके कानों में कुण्डल झूल रहे थे, जो पूर्ण चन्द्रबिम्ब की तरह प्रतीत होते थे; उनके विशाल वक्षःस्थल पर उज्ज्वल सर्प के फण की भाँति हार सुशोभित था; उनकी दोनों भुजाएँ कटक (कड़ा) और केयूर से विभूषित थीं, जिससे वह इन्द्रधनुष से चिह्नित गगनदेश के समान दिखाई पड़ते थे; उनके गले से लटकते वस्त्रांचल में मोतियों के दाने जड़े हुए थे और वह रत्नविशेष की माला पहने हुए थे (तत्रैव, पृ. १३०)। **संघदासगणी** ने कटक के साथ ही 'त्रुटित' का भी उल्लेख किया है: "अह तस्य चारुचंदो कुमारो कामपडागाय नट्टम्प परितुडो कडय-तुडियमादीणि सञ्चाणि आभरणाणि छत्त-चामराओ य दलयइ" (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९३), अर्थात् कुमार चारुचन्द्र ने कामपताका के नृत्य (नृत्त) से परितुष्ट होकर उसे अपने कटक, त्रुटित आदि सारे आभरण और छत्र, चामर आदि भी दे दिये। इससे स्पष्ट है कि त्रुटित भी बाहु में पहनने का आभूषण-विशेष था। 'पउमचरिय' में भी पुण्यशाली मृदुमति और अभिराम देव के देवलोक में रहते समय दोनों को त्रुटित धारण किये हुए चित्रित किया गया है: "सुरबहुयामज्झगथा दिव्वंगतुडियकुंडलाभरणा (८२.१०४)।"

वसुदेव की पत्नी बालचन्दा जब ललित गति से चलती थी, तब उसके विशाल जघनप्रदेश पर पड़ी मेखला (करधनी) बजने लगती थी ("मुहलमेहलकलावपडिबद्धाविउलजहणभर सीयमाणललियगमणा"; बालचन्द्रालम्भ, पृ. ३६७)। गन्धर्वकलाकुशला, पोतनपुर-नरेश की पुत्री भद्रमित्रा की विशाल श्रोणि सोने के कांचीदाम से बँधी थी ("कंचणकंचिदामपडिबद्धविपुलसोणी"; भद्रमित्रासत्यरक्षितालम्भ, पृ. ३५५)। वसुदेव की पत्नी प्रभावती मंगलनिमित्तसूचक एक लड़ी का हार अपने गले में धारण किये हुए दृष्टिगोचर हुई थी ("मंगलनिमित्तमेगावलिभूसियकंठगा"; प्रभावतीलम्भ, पृ. ३५१)। इसी प्रकार, केतुमती का कम्बुग्रीव भी भास्वर आभूषण से जगमग था ("भूषणभासुरकंबुग्रीवा"; केतुमतीलम्भ : पृ. ३४९)। वसुदेव की पत्नी बन्धुमती भी जब लगनमण्डप में आई थी, तब उसका केशपाश चूड़ामणि के मयूख से रंजित था, उसके पीवर स्तन तरल हार से अलंकृत थे, वह कलधौत स्वर्ण का कुण्डल पहने हुए थी, लाल हथेलियोंवाली भुजाओं में मनोहर केयूर धारण किये हुए थी (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २८०)। स्वयं वसुदेव भी कानों में कनक-कुण्डल धारण करते थे ("कुंडलविलिहिज्जरमणिज्जसवणो"; पद्मालम्भ : पृ. २०४)।

कृष्णपुत्र शाम्बकुमार जो मुकुट पहनता था, उसमें 'प्रतरक' (वृत्तपत्राकार आभूषण-विशेष) लगे रहते थे, जो चलते समय मुँह पर लटक आते थे। तभी तो बुद्धिसेन ने शाम्बकुमार से कहा था कि मुकुट के प्रतरक लटक आये हैं, उन्हें दोनों हाथों से ऊपर उठा लीजिए ("अज्जउत्त ! मउडस्स पयरगाणि ललंति, दोहि वि हत्थेहि णं उण्णामेहि त्ति"; पीठिका, पृ. १०१)। कर्णपूर आभूषण धारण करने की प्रथा भी उस युग में अतिशय लोकप्रिय थी।

इस विवरण से स्पष्ट है कि उस काल में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग होता था। स्त्री-पुरुष यदि कम अलंकारों का भी प्रयोग करते थे, तो वे अलंकार महार्घ ही होते थे। मेघमाला धम्मिल्ल के पास बहुत कम, किन्तु बहुमूल्य आभूषणों को पहनकर आई थी ("थेव-महग्घाभरणा"; धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ७३)। धम्मिल्ल भी ललितगोष्ठी में सम्मिलित होने के लिए अनेक प्रकार के मणि-रत्न से शोभित (खचित) आभूषणों को पहन करके प्रस्थित हुआ था (तत्रैव : पृ. ६४)। उस समय के सभी राजा मुकुट धारण करते थे। कुन्धुस्वामी के चरणों में सिर झुकानेवाले राजाओं की मुकुटमणि की किरणों से उनका (कुन्धुस्वामी का) पादपीठ रंजित रहता था: "पणायपत्थिवसहस्स-

मड्डमणिकिरणरंजियपायवीढो (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४५)।" जरासन्ध का पादपीठ भी विनत सामन्तों के मुकुटों, की मणि-किरणों से अनुरंजित रहता था : 'सामंतपत्न्यवपणयमड्डमणिकराऽऽरं-जियपायवीढो' (वेगवतीलम्भ : पृ. २४७)। उस युग में एक जोड़ा पट्टवस्त्र और एक जोड़ा कटक से किसी को सम्मानित करने का कार्य सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से अतिशय मूल्यवान् माना जाता था (पीईपुलयायमाणसरीरा पट्टजुयलं कडगजुयलं च दाऊण विसज्जेइ"; केतुमतीलम्भ : पृ. ३५६)।

संघदासगणी ने कहीं-कहीं नामतः अलंकारों का वर्णन न करके सामूहिक शब्दसंकेत-मात्र कर दिया है। जैसे: "सव्वालंकारभूसिया" (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ५७), "सव्वालंकार-विभूसिओ" (कथोत्पत्ति : पृ. ७)। "अलंकियविभूसियो" (तत्रैव : पृ. १६), "वत्थाऽऽभरणभूसिओ" (बन्धु-मतीलम्भ : पृ. १८), "सव्वालंकारभूसियसरीरो" (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ३३), "अलंकारसुंदरीहि सुंदरीहि" (केतुमतीलम्भ : पृ. ३५१), "जोइसरयणालंकारधारिणी" (तत्रैव : पृ. ३४५), "शेवमह-ग्घाभरणो" (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७९), "कलहोय-कणक-मणिपज्जोतियाऽऽभरणभूसियंगी" (मदनवेगालम्भ : पृ. २४६), "महग्घाऽऽभरणालंकिया" (नीलयशालम्भ : पृ. १७९) आदि।

'वसुदेवहिण्डी' से यह सूचना उपलब्ध होती है कि तत्कालीन नागरिकों के घरों में अवसर-विशेष पर देवता रत्नों और मणियों की बरसा करते थे। रत्न और मणियों से जड़े अलंकारों का भी बहुत अधिक प्रयोग होता था। संघदासगणी ने एक-से-एक उत्तम रत्नों का उल्लेख किया है। शान्तिनाथ के तीर्थकराभिषेक के समय देवों ने उनके पिता के भवन में रत्नों की वर्षा की थी। (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४०)। इसी प्रकार, किसी भिक्षु को 'किमिच्छित' भक्त-पान से सन्तुष्ट करने पर देवता दाता के घर में आकाश से सुवर्ण-वृष्टि करते थे, जिसकी पारिभाषिक संज्ञा 'वसुधारा' थी। इसकी गणना पंचदिव्यों में होती थी। पारणार्थी साधु को प्रतिलाभित कराने पर देवताओं द्वारा पंचदिव्य उत्पादित करने की परम्परा थी। जैसे: पहले सुगन्धोदक की वर्षा होती थी; फिर पाँच रंग के फूल बरसाये जाते थे; उसके बाद सुवर्णवृष्टि की जाती थी और देवता दुन्दुभी बजाते थे; तदनन्तर वस्त्रों को उड़ाते थे और अन्त में 'अहो दानम् !' की ध्वनि करते थे (नीलयशालम्भ : पृ. १६५)।

संघदासगणी के सूचनानुसार, उस युग के भोजनपात्र भी सुवर्ण, रत्न और मणि से निर्मित होते थे ("कणग-रयण-मणिभायणोपणीयं-भोज्जणं"; प्रभावतीलम्भ : पृ. ३५२)। गणिकाओं के घरों में रत्न का पादपीठ होता था, जो गणिकाओं के चरण-संसर्ग से धन्य बना रहता था (कथोत्पत्ति : पृ. ४)। शरीर पर धारण किये जाने वाले अलंकारों की बात छोड़िए, प्रकारों और भवनों की दीवारें भी रत्न, सुवर्ण, रजत और मणियों से खचित रहते थे (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४१)। रत्नजटित भवनों में मणिकुट्टिम भी बने होते थे।

यों, संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में रत्नों की भूरिशः चर्चा की है, किन्तु नामतः उल्लिखित दो रत्न विशेष ध्यातव्य हैं। ये दोनों रत्न हैं: कुरुविन्द और श्रीवत्स। कथाकार ने नखशिख-वर्णन के क्रम में प्रशस्त जंघा को कुरुविन्द के वृत्त या आवर्त (गोलाई) से उपमित किया है। जैसे: "कुरुविंदावत्तसंठियपसत्थजंघो" (नीलयशालम्भ : पृ. १६२), "जंघा कुरुविंदवत्तसंठियाओ" (भद्र-मित्रा-सत्यरक्षितालम्भ : पृ. ३५३), "कुरुविंदवत्ताणि जंघाणं" (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४४) आदि। 'प्राकृतशब्दमहार्णव' ने 'कुरुविन्द' की पहचान मणि-विशेष या रत्न की एक जाति के रूप में प्रस्तुत

की है। आटे ने इसे 'लालमणि' कहा है। 'कल्पसूत्र' का साक्ष्योल्लेखपूर्वक 'प्राकृतशब्दमहार्णव' में कहा गया है कि कुरुविन्दरत्न से बने भूषणविशेष को 'कुरुविन्दवर्त' कहते हैं। 'बृहत् हिन्दी-कोश' ने कुरुविन्द का अर्थ 'माणिक' किया है। इस विवरण से यह आभासित होता है कि उस युग में कुरुविन्द मणि अत्यधिक श्रेष्ठ समझी जाती थी और उसकी गोलाई एवं मसृणता अतिशय दीप्त एवं मनोरम होती थी, तभी तो संघदासगणी जैसे भारतीय संस्कृति के सूक्ष्म अध्येता कथाकार ने प्रशस्त जंघा के उपमान के लिए कुरुविन्द मणि का निर्वाचन किया। यद्यपि, परवर्ती काल में संघदासगणी की यह वर्णन-रूढ़ि ग्राह्य न हो सकी। इस तथ्य को अनुमान के आधार पर इस रूप में समझा जा सकता है कि परवर्ती काल में कुरुविन्द मणि का लोप हो गया, इसलिए विना उसको देखे वर्णन करना कवियों को असंगत प्रतीत हुआ होगा। 'प्राकृतशब्दमहार्णव' के अनुसार, परवर्ती काल में एकमात्र 'गडवहो' (आठवीं शती) में ही कुरुविन्द का उल्लेख किया गया है।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संघदासगणी ने कुरुविन्द मणि अवश्य देखी होगी, अन्यथा आगमोक्त वर्णन की पुनरावृत्ति कर दी होगी। 'प्राकृतशब्दमहार्णव' ने 'औपपातिक-सूत्र' आगम का उदाहरण भी उपस्थित किया है: "एणीकुरुविन्दवट्टवट्टाणुपुव्वजंघे।" 'प्राकृतशब्द-महार्णव' ने कुरुविन्द का एक अर्थ कुटिलिक रोग या जंघारोग-विशेष भी किया है। इससे यह भी सहज अनुमेय है कि कुरुविन्द की आकृति से जंघा का आकृतिसाम्य अवश्य ही होगा, तभी आयुर्वेदज्ञों ने 'कुरुविन्द' को जंघारोग कहा होगा। आकृतिसाम्य से रोगों के नाम रखने की आयुर्वेद की अपनी परिपाटी रही है। जैसे, शरीर में प्रविष्ट शूल चुभने जैसा कष्ट देनेवाले रोग को, शूल की कष्टदायक आकृति के साम्य से, शूल कहा जाता है। या फिर, वातरोग की 'ताण्डव' संज्ञा उसके शिरःकम्प आदि नृत्य की भंगिमा के लक्षणसाम्य से ही निर्धारित की गई होगी।

श्रीवत्स चिह्न वैदिक परम्परा और श्रमण-परम्परा में समान भाव से चर्चित है। यह चिह्न महापुरुषों के वक्षःस्थल पर अंकित रहता था। यह एक ऊँचा अवयवाकार चिह्न-विशेष होता था। वैदिक परम्परा में यह चिह्न विष्णु के वक्षःस्थल पर अंकित माना गया है और श्रमण-परम्परा में भी तीर्थंकरों तथा बलराम और कृष्ण जैसे शलाकापुरुषों के वक्षःस्थल पर अंकित बताया गया है। आटे ने श्रीवत्स का अर्थ छाती पर बालों का घूँघर या चिह्नविशेष अर्थ किया है। पुराणप्रसिद्ध समुद्र-मन्थन से प्राप्त कौस्तुभ मणि को भी कृष्ण ने अपने वक्षःस्थल पर धारण किया था। सम्भवतया, इसी मणि के आधार पर शारीरिक श्रीवत्स लांछन का भी रत्नालंकार-विशेष में रूपान्तरण हो गया। संघदासगणी ने लिखा है कि रोहिणी ने जिस समय बलराम को उत्पन्न किया, उस समय उसका वक्षःस्थल शंख, कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल श्रीवत्स के लांछन से अंकित था (रोहिणीलम्भ, पृ. ३६६)।

इसके अतिरिक्त, ऋषभस्वामी के नखशिख-वर्णन में भी संघदासगणी ने उन्हें "सिरिवच्छंकिय विसालवच्छो" (नीलयशालम्भ : पृ. १६२) कहा है। 'लिंगपुराण' में अश्व-विशेष की छाती पर कुंचित श्वेत केशगुच्छ को श्रीवत्स कहा गया है। इन विवरणों से स्पष्ट है कि श्रीवत्स प्रसिद्ध उत्तम अंगलक्षणों में अन्यतम था और इस प्रकार यह एक विशिष्ट मांगलिक या स्वस्तिक चिह्न था। श्रीवत्स का यही रूप धीरे-धीरे विकसित होकर रत्नमय अलंकरण के रूप में अपना स्वतन्त्र अभिज्ञान रखने लगा। डॉ. जगदीश गुप्त^१ ने कहा है कि दो सौ ईसवी-पूर्व भरहुत की वेदिका

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य डॉ. जगदीश गुप्त का लेख 'श्रीवत्स : एक रहस्यात्मक मांगलिक चिह्न', 'मनोरमा' (इलाहाबाद), जनवरी (द्वितीय पक्ष), सन् १९७८ ई., पृ. ९

पर उत्कीर्ण यक्षी की कण्ठमाला के मध्य में श्रीवत्स पिरोया हुआ है। साथ ही, ई. पू. प्रथम शती की कला में श्रीवत्स प्रायः त्रिरत्न के साथ समान रूप में उपस्थित मिलता है। साँची (म.प्र.) के स्तूप तथा उदयगिरि-खण्डगिरि (उत्कल) की तोरण-रचना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

‘वसुदेवहिण्डी’ में, कहना न होगा कि रत्नों और मणियों और उनसे निर्मित अलंकरणों की प्रचुर चर्चा की गई है और यह भी सूचित किया गया है कि उस युग में एक-से-एक रत्नपारखी (जौहरी) भी होते थे। रत्न-पारखियों में इभ्यपुत्रों का स्थान सर्वोपरि थी (“सो य पुण रयणपरिक्खत्ताकुसलो”; कथोत्पत्ति : पृ. ४)। ‘वसुदेवहिण्डी’ में यह भी बताया गया है कि तत्कालीन लोकजीवन में आभूषण-धारण कुलाचार के रूप में प्रचलित था। इसके अतिरिक्त कुछ आभूषण ऐसे थे, जो निरन्तर धारण नहीं किये जाते थे, अपितु विशिष्ट अवसरों पर ही उन्हें पहना जाता था। संघदासगणी ने लिखा है कि जब शाम्ब और भानु में अलंकरण-प्रदर्शन की बाजी लगी थी, तब शाम्ब के अग्रज प्रद्युम्न ने महादेवी शिवा (नेमिनाथ की माता) से उन आभूषणों को माँगा था, जिन्हें अरिष्टनेमि (बाईसवें तीर्थंकर : प्रद्युम्न के चाचा) को देवों ने दिया था। इस बात पर प्रद्युम्न से महादेवी ने कहा था : “प्रद्युम्न ! तुम्हारे लिए कुछ अदेय नहीं है। किन्तु, तुम्हारे चाचा के आभूषण क्षत्रिय निरन्तर धारण नहीं करते। अन्यथा, तुम्हें मैं दे देती। सम्प्रति, जिस कार्य के लिए तुम उन्हें माँग रहे हो, उसकी सम्पन्नता के लिए ले जाओ (पीठिका : पृ. १०६)।”

अंग-प्रसाधन और सज्जा :

संघदासगणी ने रत्नों, मणियों और सुवर्ण के विविध प्रकारों से निर्मित अलंकरणों की चर्चा के साथ ही अंग-प्रसाधन के वर्णन के क्रम में पुष्पाभरणों की भी भूरिशः आवृत्ति की है। जूड़े में दूर्वाकुर और प्रवाल युक्त फूलों की माला धारण करने की तो तत्कालीन सामान्य प्रथा थी। नीलयशा के विशेषण में कहा भी गया है : “सियकुसुमदुव्वापवालसणाहके सहत्था”; (नीलयशालम्भ : पृ. १७९)। कथाकार ने उस युग में श्रीदाम माला के धारण करने का उल्लेख किया है। (“निगयस्स मे सिरिदामगण्डं पाएसु लम्भं”; तत्रैव : पृ. १७९) यह श्रीदाम माला फूलों से बनती थी, जिसकी शोभा अद्वितीय होती थी। ज्योतिष्मथा और सुतारा ने क्रमशः अचल और त्रिपुष्ट के गले में रत्नमाला के साथ ही फूल की माला भी अर्पित की थी (“ते य णाहिं रयणमालाहिं कुसुमदामेहिं य अच्चिया” केतुमतीलम्भ : पृ. ३१४)। उस समय पुरुष अपने माथे में फूल की माला या खुशबूदार फूलों की कलंगी बाँधते थे। व्यायाम के द्वारा हलका शरीर बनाये हुए धम्मिल्ल ने जिस घुड़सवार का बाना धारण किया था, उस समय उसने सुगन्धित फूलों की कलंगी माथे में लगाई थी और वह पंछी की तरह खेल-ही-खेल में घोड़े पर चढ़ गया था : “...कुप्पासयसंवुयसरीरो, अद्धोस्यकयवाहिल्लणो, सुरहिकुसुमबद्धसेहरो विचित्तसोभंतसव्वंगो, कयवायामलघुसरीरो विहगो विव लीलाए आरुद्धो (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ६७)।”

फूल की मालाएँ आभरण के रूप में प्रयुक्त तो होती ही थीं, सजावट के कामों में भी उनका व्यापक प्रयोग होता था। स्वयंवर-मण्डप के खम्भों में सुगन्धित मालाएँ सजाने का उल्लेख संघदासगणी ने किया है : “सरस-सुरहिल्लदाम-परिणद्धखंभ- सहस्ससन्निविद्धो।” (केतुमती-लम्भ : पृ. ३१४)। स्वर्णमय कमलों (“कणयमयकमलमालापडिबद्ध”, तत्रैव : पृ. ३१४) और पाँच रंग के फूलों (“दसद्धवण्णपुण्णपुण्णभूमिभाओ;”, तत्रैव : पृ. ३१४) की मालाएँ सजावट

के काम में अधिक प्रशस्त मानी जाती थीं। इसी प्रकार, 'समवशरण' (धर्मसभा) को भी विविध, वृन्तसहित स्थल और जल में उत्पन्न सुगन्धित फूलों से सजाये जाने की चर्चा कथाकार ने की है: "समोसरणभूमी बेंटपयट्टाणपंचवण्णयजल-धलयसंभवसुगंध पुष्पाव-कारसिरी (तत्रैव : पृ. ३४५)।"

संघदासगणी ने प्रसाधन के साधनों में अन्य उपकरणों के अतिरिक्त फूल की मालाओं को भी विशेष स्थान दिया है। वसुदेव स्वयं प्रसाधन-विधि के विशेषज्ञ तथा उत्तम कोटि की मालाओं के निर्माता थे। चौबीसवें पद्यावतीलम्भ (पृ. ३५५) की कथा है कि एक बार वसुदेव घूमते-घामते कोल्लिकर नगर पहुँचे। वहाँ 'सौमनस' नाम की वनदेवी के आयतन में अन्न और पानी का वितरण हो रहा था। जगह-जगह सुसज्जित प्रणामण्डप (पनशाला) बने हुए थे। ऊँची-ऊँची गगनचुम्बी अट्टालिकाओं की सघन कतारों से वह नगर सुशोभित था। विश्राम करने की इच्छा से वसुदेव वहाँ के अशोकवन में पहुँचे। फूलों को चुनने में व्यस्त मालाकारों ने उनका साग्रह आतिथ्य किया। तभी, एक अप्राप्तयौवना बालिका ने आकर मालाकारों से कहा कि वे शीघ्र फूल सजाकर ले आयें, ताकि वह उन्हें राजकुमारी के पास ले जा सके। वसुदेव ने बालिका से यह जानकारी प्राप्त की कि वह राजकुमारी राजा पद्मरथ की पुत्री है, जो चतुर चित्रकार द्वारा चित्रित भगवती लक्ष्मी के समान सुन्दर है और कला-कुशलता में साक्षात् सरस्वती। फिर क्या था, वसुदेव ने एक ललित अवसर ढूँढ़ निकाला।

वसुदेव ने बालिका से विविध वर्ण और गन्धवाले फूल मँगवाये। बालिका फूल ले आई। वसुदेव ने लक्ष्मी के पहनने योग्य श्रीमाला (श्रीदाम) तैयार की। बालिका उस माला को लेकर जब राजकुमारी पद्मावती के पास गई, तो वह माला गूँथने की निपुणता देखकर वसुदेव को अपना अनुकूल पति ही मान बैठी और बालिका को एक जोड़ा पट्टवस्त्र तथा एक जोड़ा सोने का कड़ा उपहार में दिया।

'वसुदेवहिण्डी' से यह सूचित होता है कि उस समय राजभवन में माला और इत्र (गन्धद्रव्य) के अलग-अलग प्रभारी होते थे, जो अतिथियों के स्वागत-सम्मान के लिए राजा की ओर से माला और इत्र भेंट करते थे। प्रद्युम्न जब ब्राह्मण-बालक का रूप धरकर सत्यभामा के घर के द्वार पर उपस्थित हुए थे, तब वहाँ मालाकार ने उन्हें फूल का मुकुट पहनाया था और कुब्जा ने अंगराग-लेपन दिया था। प्रद्युम्न ने प्रसन्न होकर कुब्जा (कुबड़ी) दासी के कूबड़पन को दूर करके मनोहर शरीरवाली स्त्री के रूप में परिणत कर दिया था (पीठिका : पृ. ९५)। ब्राह्मण-परम्परा में कथा है कि कृष्ण ने कुब्जा को कूबड़पन से मुक्त किया था। संघदासगणी के युग में स्त्रियाँ अलक्तक का भी प्रयोग करती थीं। कुशाग्रपुर की प्रसिद्ध गणिका वसन्ततिलका स्नान के बाद हाथ में ऐनक लेकर जब अपना प्रसाधन कर रही थी, तब उसने अपनी माँ वसन्तसेना से अलक्तक ले आने को कहा था ("माया य णाए भणिया—अम्पो ! आणेहि ताव अलक्तयंति"; धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ३२)। इसी प्रकार, वसुदेव ने श्मशान में पड़े हुए अलक्तक से अपने भाई-भाभियों के नाम क्षमापण-पत्र लिखा था। ("सुसाणोज्झियमल्लतंगं गहेऊण खमावण-लेहो लिहिओ गुरूणं देवीणं य"; श्यामा-विजयालम्भ : पृ. १२०)।

उस युग के प्रसाधन के साधनों में स्नेहाभ्यंग (तेल-उबटन), सुरभित गन्धचूर्ण (पाउडर) आदि वस्तुओं की भी प्रधानता रहती थी। तैलाभ्यंग (तेल-मालिश) का काम प्रायः रूपयौवनवती दासियाँ ही करती थीं। वेदश्यामपुर की वनमाला नाम की स्त्री ने वसुदेव को सहदेव नाम का अपना देवर घोषित करते हुए स्वयं उनको स्नेहाभ्यंग, उबटन आदि के साथ, मल-मलकर और रगड़-रगड़कर

स्नान कराया था। स्नान के बाद पुनः शरीर पर तैलाभ्यंग किया। फिर, वसुदेव के कपड़ा पहनने के बाद वनमाला का पिता, जो राजा कपिल का महाश्वपति था, उनके लिए भोजन ले आया (कपिलालम्भ : पृ. १९९)। इसी प्रकार, वसुदेव जब राजा अभग्मसेन के आग्रह पर राजभवन चलने को तैयार हुए, तब उनकी सवारी के लिए हाथी उपस्थित किया गया। वसुदेव महावत को पीछे बैठने के लिए कहकर स्वयं गजमस्तक पर जा बैठे। कुतूहली जनों ने उनका जय-जयकार किया। राजा विस्मित हो उठा। दर्शकों से अवरुद्ध मार्ग पर वसुदेव धीरे-धीरे हस्तिसंचालन कर रहे थे। लोग उनके रूप, वय और बल का वर्णन करते हुए उनकी प्रशंसा कर रहे थे। चित्रकला में कुशल कुछ लोग कह रहे थे: “ओह! यह पुरुष यहाँ रहे, तो हमारे लिए बड़ा अच्छा प्रतिच्छन्द (मॉडेल) बन सकता है।” महलों की खिड़कियों में खड़ी युवतियाँ उनपर घ्राण और मन को सुख देनेवाले फूल तथा चूर्ण बिखेर रही थीं।

वसुदेव, क्रम से तोरण और वनमाला से अलंकृत राजभवन पहुँचे। वहाँ उनकी अर्घ्यपूजा की गई। उसके बाद वह हाथी से उतरे और विमान जैसे महल के भीतर गये। राजा के परिजन परितोषविसर्पित आँखों से उन्हें देख रहे थे। उन्होंने अपने पैर धोये, फिर तैलाभ्यंग के समय पहनने के योग्य कपड़े धारण किये। कुशल दासियों ने उनके शरीर पर सुगन्धित तैल लगाकर मालिश की। फिर, स्नानागार में ले जाकर दासियों ने उन्हें मंगलकलश से स्नान कराया। उसके बाद वे उत्तम वस्त्र पहनकर भोजन-मण्डप में सुखपूर्वक बैठे और सोने के बरतनों में परोसा गया स्वादिष्ट भोजन उन्होंने ग्रहण किया (पद्मालम्भ : पृ. २०३-२०४)।

उपर्युक्त कथा-प्रसंग से न केवल प्रसाधन के विविध साधनों का, अपितु तत्कालीन अनेक सांस्कृतिक तथ्यों का भी दिग्दर्शन होता है। इससे तद्युगीन समाज की समृद्धि, रुचि-परिष्कार और विलासमय जीवन की सौन्दर्य से अभिभूत करनेवाली मनोरम झाँकी मिलती है और स्वयं चरित्रनायक वसुदेव संस्कृति के शोभापुरुष के रूप में उभरकर सामने आते हैं।

तत्कालीन प्रसाधनों में पाँच रंग के फूल और पाँच रंग के गन्धचूर्ण अधिक व्यवहार में आते थे। स्नान के पूर्व तेल-उबटन का प्रयोग सामान्य तौर पर प्रचलित था। नहाने के लिए स्नानागार होते थे, जहाँ अनेकानेक मंगलघट जल से भरे रखे रहते थे। इत्र का लेप या अंगराग का विलेपन भी खूब जमकर किया जाता था। अन्तःपुर का सारा वातावरण उत्तेजक और सुगन्धिमय होता था। शरीर पर खुशबूदार पाउडर भी खूब मले जाते थे। धूप, विशेषकर कालागुरु के धूप-धूम से महल का कोना-कोना अधिवासित रहता था। पँचरंगे फूलों की तो भरमार रहती थी। शोभा और सजावट तद्युगीन सामाजिक जीवन की सांस्कृतिक विशेषता थी। विभिन्न रत्नों और अलंकारों से सारा परिवेश रंगमय दीप्ति से उल्लसित रहता था। रेशमी वस्त्रों की विविधताएँ मनोमोहक रूप-विन्यास और (आकर्षक अंग-लावण्य का वितान तानती थीं। इस प्रकार, कहना न होगा कि संधदासगणी ने तत्कालीन अलंकृत संस्कृति का अद्भुत साम्राज्य ही उपस्थित कर दिया है।

वाद्ययन्त्र :

संधदासगणी द्वारा उल्लिखित वाद्य के सम्बन्ध में, प्रस्तुत शोधग्रन्थ के ललितकला-प्रकरण में चर्चा हो चुकी है। यहाँ लोकसांस्कृतिक दृष्टि से कतिपय वाद्ययन्त्रों का विवरण-विवेचन अप्रासंगिक नहीं होगा। संधदासगणी द्वारा यथाप्रस्तुत विवरण से यह स्पष्ट होता है कि उस समय

प्रयुक्त वाद्ययन्त्रों में पटह, भम्भा, शंख, वीणा, पणव आदि की ही प्रमुखता थी। पल्लियों में रहनेवाले लोग पटह, भंभा, शंख, आदि वाद्यों का प्रयोग करते थे। धम्मिल्ल जब विमलसेना के साथ रथ पर सवार होकर जा रहा था, तभी उसने पटह (ढोल), नगाड़ा (भम्भा) और शंख बजाते तथा कोलाहल करते कुछ लोगों को आते देखा। वे अंजनगिरि की कन्दरा के निकटवर्ती अशनिपल्ली (गाँव) के अधिपति के आदमी थे, जो उसके (अधिपति के) सेनापति अजितसेन के नेतृत्व में चल रहे थे (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ५६)।

‘हिन्दी-शब्दसागर’ में पटह का अर्थ नगाड़ा और दुन्दुभी दिया है। ‘प्राकृतशब्दमहार्णव’ तथा ‘संगीतपारिजात’ के मतानुसार पटह का अर्थ ढोल या ढोलक है। ‘संगीतपारिजात’ में स्पष्ट लिखा है कि ‘पटहो ढोलक इति भाषायाम्’। और फिर, स्पष्ट व्याख्या दी है कि पटह भेरी-जाति का वाद्य है, जो डेढ़ हाथ लम्बा होता है। किसी-किसी के मत से यह स्थूल चमड़े से मढ़ा होता है। कोई उसे पतले चमड़े से भी मढ़ता है। यह लकड़ी या हाथ से या एक साथ दोनों से बजाया जाता है। ‘संगीतसार’ के अनुसार भी मध्यकालीन ढोलक को ही प्राचीन युग में पटह कहा जाता था। महर्षि भरत (नाट्यशास्त्र, ३३.१६) ने पटह को प्रत्यंग वाद्यों के अन्तर्गत माना है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पटह भारत के प्राचीनतम अवनद्ध (चर्माच्छादित) वाद्यों में अन्यतम प्रतीत होता है।^१ प्राचीन चम्पानगर में भी पटह-वाद्य लोकादृत था। यही कारण है कि प्राचीन अंग-जनपद के वर्तमान प्रसिद्ध नगर भागलपुर और फिर उसके पूर्व, बंगाल के लोकजीवन में ‘चम्पानगरी ढोल’ विवाह-संस्कार, देवीपूजा (दुर्गापूजा) आदि के अवसरों पर विशेष तौर से बजाया जाता है। आधुनिक भारत के विभिन्न राज्यों में मांगलिक अवसर पर विभिन्न प्रकार के ढोल विविध रीति से बजाये जाने की प्रथा लोक-प्रचलित है। असम-क्षेत्र में बृहदाकार पटहों के वादक कलाकार उनकी वाद्य-विधि में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

प्राकृत के आगमकालीन और परवर्ती कथा-साहित्य में ‘भम्भा’ वाद्य का प्रचुर उल्लेख अपना अन्यत्रदुर्लभ वैशिष्ट्य रखता है। संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त भम्भावाद्य आगमिक परम्परा का ही अनुवर्तन है। ‘प्राकृतशब्दमहार्णव’ में, विभिन्न आगमिक ग्रन्थों (णायाधम्मकहाओ, भगवतीसूत्र आदि) के सान्दर्भिक के परिप्रेक्ष्य में, भम्भा का अर्थ भेरी दिया है। वैदिक या प्राचीन भारतीय साहित्य में भेरी का बहुशः वर्णन उपलब्ध होता है। यों, भेरी का सामान्य अर्थ नगाड़ा या दुन्दुभी भी है। ढोल या ढक्का भी इसे कहा जाता है। आचार्य भरत ने (नाट्यशास्त्र : ३३.२७) गम्भीर स्वरवाले वाद्यों में भेरी, पटह, झञ्झा, दुन्दुभि और डिण्डिम का वर्णन किया है। प्राचीन संगीतशास्त्र में भेरी और रणभेरी नाम से दो पृथक् वाद्यों का वर्णन आया है। डॉ. लालमणि मिश्र^२ भेरी को मृदंग-जाति का वाद्य मानते हैं। पटह और भेरी प्रायः युद्धवाद्य के रूप में या ताण्डव जैसे उग्र नृत्य में प्रयुक्त होते थे। ताण्डव नृत्य के प्रवर्तक महाकालेश्वर शिवजी को पटह, डमरू आदि का नाद अतिशय प्रिय है। इसीलिए, कालिदास ने ‘मेघदूत’^३ में, उज्जयिनी के वर्णन-क्रम में महाकाल-मन्दिर की सन्ध्यापूजा के समय पटह जैसी ध्वनि करने का निर्देश मेघ को दिया है। यहाँ स्पष्ट है कि पटह, भम्भा और शंख का प्रयोग संघदासगणी ने युद्धवाद्यों के रूप में किया है।

१. विशेष विवरण के लिए द्र. : ‘भारतीय संगीत-वाद्य’ : डॉ. लालमणि मिश्र, पृ. ८-८१।

२. ‘भारतीय संगीत-वाद्य’ : डॉ. लालमणि मिश्र, पृ. ८६।

३. कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम्। (पूर्वमेघ, ३४)

भारत का अतिशय प्रसिद्ध युद्धकाव्य 'महाभारत' युद्ध के वर्णनों से भरा पड़ा है। 'महाभारत' युद्धवाद्यों के विस्तृत प्रयोग का सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसमें अनेक स्थानों पर तूर्य, भेरी, मृदंग, पणव, शंख आदि की तुमुल ध्वनियों के साथ सैनिकों को युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए चित्रित किया गया है। द्रोणपर्व (८८.१) में भेरी, मृदंग और शंख की ध्वनियों के साथ सेना का कूच करना वर्णित है। वाल्मीकिरामायण (६.३७.५२) में भेरी, पणव और गोमुख के साथ-साथ कुम्भ का भी उल्लेख आया है। युद्धवाद्यों में शंख का भी प्रमुख स्थान था। 'गीता' के प्रथम अध्याय के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि न केवल सामान्य सैनिक, अपितु बड़े-बड़े वीर अपना-अपना शंख रखते थे। श्रीकृष्ण का पांचजन्य, अर्जुन का देवदत्त, भीम का पौण्ड्र, युधिष्ठिर का अनन्तविजय, नकुल का सुघोष तथा सहदेव का मणिपुष्पक शंख था।^१ सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने अलौकिक शंख बजाये थे। पाण्डव-सेना की भयंकर शंखध्वनि से आकाश और पृथ्वी गूँज उठी थी। 'महाभारत' के शान्तिपर्व (१००.४६) में क्ष्वेद, किलकिल आदि वाद्यों की उन धुनों के नाम प्राप्त होते हैं, जो युद्धरत सैनिकों में उत्साह भरती थीं। युद्ध के समय वाद्यों के प्रयोग का प्राचीनतम उल्लेख वेदों में प्राप्त होता है। उस समय दुन्दुभी तथा आदम्बर, युद्ध में प्रयुक्त होनेवाले मुख्य वाद्य थे। 'ऋग्वेद' में युद्ध के समय दुन्दुभी द्वारा उत्साह-वृद्धि का सुन्दर वर्णन प्राप्त होता है।^२ अथर्ववेद^३ में भी युद्धवाद्यों की प्रशंसा तथा उनकी शक्ति का उल्लेख किया गया है।

संघदासगणी का प्रस्तुत वाद्य-प्रसंग भी उपर्युक्त प्राचीन युद्धवाद्यों के ही परिप्रेक्ष्य में उपन्यस्त हुआ है। प्राचीन भारत का इतिहास देखने से स्पष्ट पता चलता है कि इस देश में सदा युद्ध होते रहते थे। 'वसुदेवहिण्डी' में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। धम्मिल्ल ने जब चोर-सेनापति अर्जुन का वध कर दिया, तब अशनिपल्ली का सेनापति पटह, भम्भा और शंख बजाते, विजय-वैजयन्ती फहराते तथा युद्धोत्साहक 'किलकिल' शब्द करते हुए ("... पडह-भंभारव-संख-सहवोमीस्सं विजयवेजयन्तीय सोहियं भड्किलकिलरवोमीसं उक्कट्टिसहं..."; धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ५६) अपने सैनिकों के साथ धम्मिल्ल के पास आया था और धन्यवाद ज्ञापित करते हुए उसने उससे (धम्मिल्ल से) अपने अधिपति का कृतज्ञता-सन्देश दिया था कि 'तुमने चोर-सेनापति का वध करके अशनिपल्ली के अतिशय भयोत्पादक मार्ग को निरुपद्रव और कल्याणमय कर दिया है।' ("तुमए किर अज्जुणओ नाम चोरसेणावती मारिओ, बहुभयज्जणो य इमो मग्गो खेमीकओ।" तत्रैव : पृ. ५६) निश्चय ही, जैसा कहा गया, संघदासगणी के युद्धवाद्य का यह प्रसंग प्राचीन भारतीय शास्त्रों के यौद्धिक परिवेश से प्रभावित है।

१. पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।

पौण्ड्रं दधौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ —गीता : १.१५-१६

(इसके अतिरिक्त श्लोक-सं. १२, १३, १४, १७, १८ और १९ भी द्रष्टव्य हैं।)

२. ऋग्वेद, ६. ४७. २९-३१

३. अथर्ववेद, ५. २०-२१

‘वसुदेवहिण्डी’ से यह संकेतित है कि उस युग में पणव और दुन्दुभी जैसे अवनद्ध वाद्यों का भी प्रयोग प्रचलित था। ‘पंचदिव्य’ उत्पन्न करते समय देवों द्वारा दुन्दुभी बजाने का स्पष्ट उल्लेख है। नगाड़ा, धौसा, नक्कारा, निसान, दमामा आदि दुन्दुभी के ही भेद थे। वेद, ब्राह्मणग्रन्थ, संहिताग्रन्थ, सूत्रग्रन्थ, आरण्यक, पुराण आदि समस्त प्राचीन भारतीय वाङ्मय दुन्दुभी के वर्णनों से व्याप्त है। इस सन्दर्भ में विशेष शोध-विवरण डॉ. लालमणि मिश्र के ‘भारतीय संगीतवाद्य’ नामक पुस्तक में द्रष्टव्य है।

संघदासगणी ने रोहिणीलम्भ (पृ. ३६४) में वसुदेव को पणववादक (‘गोज’) के रूप में चित्रित किया है। ढोल बजानेवाले ढोलकिये को उस समय ‘गोज’ कहा जाता था। किसी विद्या-देवी ने रोहिणी को ढोलकिये के रूप में वसुदेव को पहचानने का संकेत किया था और उसी देवी ने वसुदेव को भी यह रहस्य बता दिया था। देवी के आदेशानुसार, वसुदेव पणव (ढोल) लेकर स्वयंवर-मण्डप में ढोलकियों के बीच जा बैठे थे और ढोल बजा देने पर रोहिणी ने उनका वरण कर लिया था।

‘प्राकृतशब्दमहार्णव’ में ‘गोज्ज’ शब्द का उल्लेख हुआ है और इसे देशी शब्द माना गया है, जिसका अर्थ गवैया या गायक दिया गया है। ‘पउमचरिय’^१ में भी गायक के लिए ‘गोज्ज’ शब्द का प्रयोग गायक-विशेष के ही अर्थ में हुआ है। ‘वसुदेवहिण्डी’ में प्रसंगानुसार, ‘गोज’ का अर्थ ढोलकिया ही सम्भव है; क्योंकि जब वसुदेव ने ढोल बजाया, तब रोहिणी ने उनका वरण किया और तभी स्वयंवर में उपस्थित राजा क्षुब्ध होकर आपस में पूछने लगे कि रोहिणी ने किसका वरण किया, तब किसी ने कहा कि ढोलकिये का वरण किया है (‘केई भणति—गोजो वरिओ’; तत्रैव, पृ. ३६४)। ज्ञातव्य है कि मृदंग के समान पणव भी भारत का अतिप्राचीन अवनद्ध वाद्य है। महर्षि भरत ने अवनद्ध अंगवाद्यों में मृदंग, पणव और दर्दुर की गणना करते हुए इन्हें सर्वाधिक महत्त्व दिया है (नाट्य, ३३.१६)। ‘महाभारत’, ‘गीता’, ‘वाल्मीकि रामायण’ आदि में पणव की भूरिशः चर्चा आई है। भरतमुनि ने पणव को विश्वकर्मा की सहायता से स्वाति और नारदमुनि द्वारा निर्मित कहा है।^२

संघदासगणी द्वारा वर्णित तत् वाद्यों में वीणा का भूरिशः उल्लेख मिलता है। वीणा के सम्बन्ध में विशद चर्चा प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है। सामगान के समय वेणु ही ऐसा वाद्य था, जिसके स्वर स्थिर थे, अतएव उसी से वीणा मिलाई जाती थी। जब स्वर-नामों में अनेक परिवर्तन होने लगे, तब मनीषियों ने वेणु के स्थान पर वीणा को प्रमुखता दी। वैदिक वाङ्मय के उपलब्ध वाद्यों में वीणा का प्रमुख स्थान है। ‘वीणा’ को वेदों में ‘वाण’ भी कहा गया है। ‘ऋग्वेद’ में तन्तुवाद्यों को ‘आघाटी’ कहा गया है (१०.१४६.२)। वैदिकोत्तर सूत्र और स्मृतिकाल में भी वीणा का महत्त्व स्वीकृत किया गया है। ‘याज्ञवल्क्यस्मृति’ (३.४.१५) में ‘वीणावादनतत्त्वज्ञ’ को मोक्षमार्ग का अधिकारी माना गया है। ‘शांखायन श्रौतसूत्र’

१. वीणावंससणाहं, गीयं नडनइछतगोज्जेहि।

नंदिजणेण सहरिसं, जयसहालायणं च कयं ॥ (८५.१९)

२. गत्वा (ध्यात्वा) सृष्टं मृदङ्गानां पुष्करानसृजततः।

पणवं दर्दुराश्चैव सहितो विश्वकर्मा ॥ (३३.१०)

में तो शततन्त्री वीणा का उल्लेख है। वीणा के सन्दर्भ में के लिए डॉ. लालमणि मिश्र ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संगीतवाद्य' में अनेक महत्वपूर्ण शोध-सूचनाएँ आकलित की हैं। कहना न होगा कि वैदिक युग से आधुनिक युग तक तन्त्री-वाद्यों के विकास का अपना ऐतिहासिक मूल्य है।

वीणा-वादन की प्रतिस्पर्धा का एक मनोरम चित्र बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के सोलहवें-सत्रहवें अध्याय में उपलब्ध होता है, जिसकी 'वसुदेवहिण्डी' के 'गन्धर्वदत्तालम्भ' की वीणा-प्रतियोगिता के वर्णन से तुलना करने पर सम्भावना होती है कि इन दोनों समानान्तर कथाओं का मूल स्रोत गुणाढ्य की (अधुना अप्राप्य) 'बृहत्कथा' रही हो।

पशु-पक्षी-सर्प :

लोकसांस्कृतिक तथ्यों के उद्भावन-क्रम में संघदासगणी ने पशुओं, पक्षियों और सर्पों का भी बड़ी सूक्ष्मदर्शिता के साथ चित्रण किया है। उन्होंने वन्य जन्तुओं में वानर, बाघ, सिंह, रीछ, भालू, गन्धहस्ती, वन्यहस्ती, रुरुमृग, वातमृग आदि पशुओं एवं भारुण्ड, मयूर आदि पक्षियों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार, यथाप्रसंग घोड़ा, हाथी, गाय, महिष एवं कुक्कुट, कबूतर, सारिका (मैना), सुग्गा आदि घरेलू पालतू पशु-पक्षियों का वर्णन भी कथाकार ने प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त, कई भयानक सर्पों का तो रोमांचक और रुचिकर चित्रण उपन्यस्त किया गया है।

संघदासगणी ने दो स्थलों पर क्रुद्ध बाघ का बड़ा स्वाभाविक वर्णन किया है : पहला, अगडदत्तचरित में और दूसरा धम्मिल्लचरित में। श्यामदत्ता के साथ रथ पर जाते हुए अगडदत्त ने जंगल में अपने सामने जो बाघ देखा था, उसका वर्णन इस प्रकार है : वह बाघ, लोगों को दुःख देने में कभी न थकनेवाले यमराज के लिए भी भय उत्पन्न कर रहा था। उसके केसर बड़े लम्बे-लम्बे थे। (बाघ के केसर होने की कल्पना से यह स्पष्ट है कि अगडदत्त ने बाघ नहीं, अपितु सिंह देखा था। यों, संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त 'वग्ध' शब्द बाघ-सिंह की सामान्यता का सूचक है।) वह अपनी लम्बी पूँछ को ऊपर उठाकर फटकार रहा था और लाल कमलदल की तरह अपनी जीभ को बाहर निकाल रहा था। उसका जबड़ा अतिशय कुटिल और तीखा था। जिससे वह बहुत डरावना लग रहा था (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४५)। वह बाघ जिस जंगल में रहता था, उसे भी बड़ा बीहड़ बताया गया है : अत्यन्त भयावना वह जंगल अनेक प्रकार के वृक्षों से दुर्गम बना हुआ था; जगह-जगह विभिन्न प्रकार की लताओं की घनी झाड़ियाँ थीं; पहाड़ की गुफाओं से निकले झरनों का पानी जमीन पर फैला हुआ था; विभिन्न प्रकार के पक्षियों की आवाजें वहाँ गूँज रही थीं; झींगुर बड़े कर्कश स्वर में झनकार रहे थे; कहीं बाघ की गुर्राहट तथा रीछ (भालू) की घुरघुराहट प्रतिध्वनित हो रही थी; कहीं वानरों (शाखामृगों) की कठोर किलकिलाहट भी सुनाई पड़ रही थी; एक अजीब भयानक चीख और पुकार से कान के परदे फटे जा रहे थे; पुलिन्दों द्वारा विवशित बनैले हाथी जोर-जोर से चिगाड़ रहे थे और कहीं वे (हाथी) 'मडमड' की आवाज के साथ सल्लकी के जंगल को उजाड़ रहे थे (तत्रैव : पृ. ४४)।

विमलसेना के साथ रथ पर जाते हुए धम्मिल्ल को जिस जंगल में बाघ से भेंट हुई थी, उसका और जंगल का वर्णन संक्षिप्त और थोड़ा भिन्न है: वह बाघ, आदमी और पशुओं के रक्त और मांस का लोभी था; जीभ से अपने होंठों को चाट रहा था; मुँह फाड़े हुए था और उसका

जबड़ा बड़ा तीखा था। वह, जंगल, अनेक झमाट अर्जुन वृक्षों से दुर्गम था; अनेक हिंसक पशुओं तथा पक्षियों से व्याप्त था और वहाँ जल से भरे अनेक सरोवर थे (तत्रैव : पृ. ५४-५५)। इस वर्णन से स्पष्ट है कि कथाकार ने वन्य हिंसक जीवों के स्वभाव का गहन अध्ययन किया है तथा जांगल परिवेश की दुर्गमता और भयानकता का मानों आँखों देखा रूप चित्रित किया है।

‘वसुदेवहिण्डी’ से यह ज्ञात होता है कि तद्युगीन जंगलों में रुरुमृग बहुतायत-से पाये जाते थे और राजा की ओर से उनके शिकार करने की मनाही थी। जो कोई राजाज्ञा का उल्लंघन कर रुरुमृग को मारता था, उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। कथा है कि वाराणसी के नलदाम नामक बनिया के प्रमादी पुत्र मन्मन ने राजाज्ञा की अवहेलना करके रुरुमृग को मार डाला। फलतः, वहाँ के राजा दुर्मर्षण ने मन्मन को प्राणदण्ड की आज्ञा दी (प्रियंगुसुन्दरीलम्भः पृ. २९४)। उस युग में वातमृग भी अधिक संख्या में पाये जाते थे। वे पक्षी की तरह उड़ने में भी समर्थ होते थे। शकुनशास्त्री उन्हें शुभ और लाभ का सूचक मानते थे। एक बार वसुदेव को भ्रमण के क्रम में किसी जंगल में वातमृगों के दर्शन हुए थे और उन्होंने उन्हें शुभसूचक समझा था। वे वातमृग वसुदेव को देखकर पक्षी की तरह उड़कर दूर चले गये और फिर नीचे उतर आये : “दिद्धा य मया मिगा, ते उप्पइया दूरं गंतुणं सउणा इव निवइया। ततो मे उप्पण्णा चिंता-एते वायमिगा दिद्धा पसत्थदंसणा महंतं लाभं वेदिहि ति सुव्वए विउसज्जणाओ (सोमश्रीलम्भः पृ. १८१)।” बुधस्वामी के ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ में भी वातमृग की चर्चा की गई है। बुधस्वामी ने उसे ‘वातमजमृग’ या ‘वातहरिण’ कहा है (द्र. सर्ग ८, श्लो. ४२ तथा ५२)। कथाकार संघदासगणी ने वन्य जन्तुओं में सियार और भेड़िये का भी उल्लेख किया है (नीलयशालम्भः पृ. १६८)।

‘वसुदेवहिण्डी’ में हाथी और घोड़े जैसे सुपरिचित पशुओं की तो भरिशः चर्चा हुई है। हाथी और घोड़े के खेलाने और दमन करने की विधियों के उल्लेख से तो संघदासगणी का हस्तिशास्त्र और अश्वशास्त्र का मर्मज्ञ होना सूचित होता है। हाथियों में गन्धहस्ती के उल्लेख के प्रति संघदासगणी ने विशेष आग्रह प्रदर्शित किया है। ‘प्राकृतशब्दमहार्णव’ में उत्तम हस्ती को गन्धहस्ती माना गया है और बताया गया है कि गन्धहस्ती की गन्ध से दूसरे हाथी भाग जाते हैं। प्रसिद्ध संस्कृत-कोशकार आटे मद्भोदय ने गन्धहस्ती को ‘सुवासहाथी’ या ‘सर्वोत्तम हाथी’ कहा है। ‘विक्रमांकदेवचरित’ के अनुसार, गन्धहस्ती का बच्चा भी दूसरे हाथियों को अपने वश में रखता है।^१ कालिदास ने भी ‘रघुवंश’^२ में लिखा है कि पुरवासियों की आँखें अन्य राजाओं को छोड़कर अज पर उसी प्रकार केन्द्रित हो गई, जिस प्रकार भ्रमरावलियाँ खिले हुए पुष्पवृक्षों को छोड़कर मदोत्कट गन्धहस्ती के गण्डस्थल पर जा बैठती हैं। इससे स्पष्ट है कि समधिक शक्तिशाली गन्धहस्ती को तीव्र मदस्त्राव होता है और उसके मद की गन्ध अतिशय उत्कट होती है। इसीलिए, उसकी गन्ध मिलते ही दूसरे हाथी भाग खड़े होते हैं। ‘वसुदेवहिण्डी’ में प्राप्त वर्णन से यह भी सूचित होता है कि गन्धहस्ती किसी मनुष्य की गन्ध का अनुसरण करके उसके निकट आक्रमण के लिए पहुँच जाता था (‘गन्धहस्ती गन्धमणुसरंतो मयं अणुवइउमारद्धो’; श्यामलीलम्भः पृ. १२२)।

१. शमयति गजानन्यागन्धद्विपः कलभोऽपि सन् । —विक्रमांक. ५. १८

२. नेत्रवज्राः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वाङ्गपतीभिपेतुः।

मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ —रघु. ६. ७

‘रघुवंश’ (१७.७०) से यह भी सूचना मिलती है कि गन्धहस्ती बड़ा उन्मत्त होता है और मदरहित हाथियों के साथ निरन्तर लड़ने की मनोवृत्ति में रहता है। भारवि के ‘किरातार्जुनीय’ (१७.१७) में भी गन्धहस्ती का उल्लेख आया है। संधदासगणी ने श्रेष्ठ श्रमण की उपमा गन्धहस्ती से दी है (“समणवर-गन्धहर्त्थि पेच्छति”; धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ३५)।

एक बार वसुदेव भ्रमण करते हुए कुंजरावर्त अटवी में पहुँचे, तो वहाँ उन्होंने कालमेघ की तरह हाथियों के झुण्ड को पानी पीने के लिए सरोवर में उतरते हुए देखा। उस झुण्ड का एक-एक हाथी क्रम से पानी पीकर चला गया। वसुदेव भी सरोवर में उतरकर स्नान करने लगे। इसी समय हाथिनी का पीछा करता हुआ मदजल से सुरभित गण्डस्थलवाला गजयूथपति सरोवर में उतरा। वसुदेव ने गौर से देखा कि वह हाथी उत्तम लक्षणोंवाला गन्धहस्ती है। गन्ध का अनुसरण करता हुआ वह हाथी वसुदेव के पीछे पड़ गया। वसुदेव ने सोचा कि पानी में हाथी से लड़ना सम्भव नहीं है। अच्छा होगा कि नजदीक आने पर उससे निबटा जाय। वसुदेव पानी से बाहर निकल आये। वह हाथी भी सरोवर से बाहर आकर उनके पीछे लग गया। उसकी सूँड़ की लपेट से बचते हुए उन्होंने उसके शरीर पर प्रहार किया और उसे बड़ी होशियारी से भरमाने लगे। सुकुमार और भारी-भरकम शरीर होने के कारण वह उन्हें पकड़ नहीं पाता था। वसुदेव ने उसे जहाँ-तहाँ बकरे की तरह धुमाया। उसे थका हुआ जानकर उन्होंने उसके सामने चादर फेंकी। वह उसमें उलझ गया। वसुदेव भी उस महागज के दाँतों पर पैर रखकर तुरत ही उसकी पीठ पर चढ़ बैठे। उसके बाद वह हाथी विनश्र शिष्य की तरह वशवर्ती हो गया। फिर वह उसे चादर से अंकुशित-सा करते हुए इच्छानुसार धुमाने लगे (द्वितीय श्यामलीलम्भ : पृ. १२२)।

संधदासगणी ने हाथी के खेलाने की विधि (‘हत्थिखेल्लावन’) के और भी कई रोचक प्रसंग उपस्थित किये हैं। धम्मिल्ल ने भी उपर्युक्त विधि से, यानी हाथी के सामने चादर फेंककर उसे उलझाया था और अपने वश में कर लिया था (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ५५)। धम्मिल्ल जब विमलसेना के साथ रथ पर जा रहा था, तभी कालमेघ की तरह चिग्घाड़ता, प्रचुर मदजल से जमीन को सँचता तथा दाँत और सूँड़ को ऊपर उठाये हुए एक बिगड़ैल हाथी रास्ता रोककर खड़ा हो गया। धम्मिल्ल विमलसेना को आश्वस्त करके रथ से उतरा और हाथी खेलाने लगा। उसने हाथी को ललकारा। हाथी सूँड़ उठाकर ज्योंही उसे मारने दौड़ा कि उसने चादर को गोल करके हाथी के आगे फेंका। हाथी उसमें उलझ गया और धम्मिल्ल फुरती से उसके दाँतों पर पैर रखकर उसके कन्धे पर चढ़ बैठा। हाथी क्रुद्ध होकर दौड़ने, उछलने और कूदने लगा तथा धम्मिल्ल को अपने पैर, दाँत, सूँड़ और पूँछ से मारना चाहकर भी नहीं मार सका। धम्मिल्ल हस्तिशिक्षा के नियमों के अनुसार ही उसे खेलता रहा। अन्त में, हाथी चिग्घाड़ता और पेड़ों को तोड़ता-मरोड़ता भाग खड़ा हुआ। धम्मिल्ल मुस्कराता हुआ रथ पर आ बैठा। विमलसेना उसकी वीरता पर विस्मित रह गई।

आठवें पद्मालम्भ (पृ. २०१) में भी वसुदेव द्वारा हाथी खेलाने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। कथा है कि एक बार महावत जंगली हाथी ले आया। वसुदेव ने देखा कि उस हाथी का मुँह उठा हुआ था। उसकी सूँड़ प्रमाण के अनुसार लम्बी और सुदर्शन थी तथा उसकी पीठ घनुषाकार थी। उज्ज्वल नखवाले उसके पैर कछुए की तरह लगते थे। वराह की भाँति उसका

जघनदेश था। उत्तम बकरे के समान उसका पेट था। उसके दाँतों का अग्रभाग थोड़ा उठा हुआ और सुन्दर था। उसके अधरों की कान्ति दाडिम-फूल जैसी लाल थी। उसकी पूँछ सीधी और प्रशस्त थी। वसुदेव ने सोचा, यह हाथी भद्र है, यानी प्रशस्त लक्षणोंवाला उत्तम कोटि का हाथी है और आसानी से वश में लाया जा सकता है।

वसुदेव उस समय अपने साले अंशुमान् के साथ अपने ससुर राजा कपिल के महल में थे। वह साले के साथ महल से नीचे उतरकर हाथी के पास चले आये। हाथी ने झटका दिया, तो अंशुमान् पीछे लौट गया, किन्तु वसुदेव शीघ्रतापूर्वक हाथी की दूसरी ओर चले गये। वह हाथी चक्राकार घूमने लगा। तभी, वसुदेव ने उसके आगे कपड़ा फेंका और वह वहीं लड़खड़ा गया। वसुदेव उसके दाँतों पर पैर रखकर उसपर सवार हो गये। राजा, उसका अन्तःपुर और सभी उपस्थित लोग आश्चर्यान्वित हो उठे। उसके बाद वसुदेव हाथी को मनमाने ढंग से धुमाने-फिराने लगे। इस प्रसंग में कथाकार ने हस्तिशिक्षा की विधि का वर्णन तो किया ही है, उत्तम हाथी के आंगिक लक्षणों को भी निरूपित किया है। इससे कथाकार की हस्तिशिक्षा में निपुणता का संकेत मिलता है।

इसी प्रकार, बारहवें सोमश्रीलम्भ (पृ. २२१) में भी वसुदेव द्वारा हाथी खेलाने की विधि का मनोरंजक उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें तो हस्तिशास्त्रज्ञ कथाकार ने हाथी को खेलाने की विधि के कतिपय पारिभाषिक शब्दों का भी उल्लेख किया है। जैसे: सिंहावलि, दन्तावलि, गात्रलीन, शार्दूललंघन, पुच्छग्रहण आदि। ये सब प्रक्रियाएँ हाथी को धुमाने-फिराने की विधि से सम्बद्ध थीं, जिनसे वह (हाथी) शीघ्र ही वशंवद हो जाता था।

कथाकार ने तीन ऐसे हाथियों का नामतः उल्लेख किया है, जो मनुष्य-भव से हस्तिभव में उद्घर्षित हुए थे। वे हैं : अशनिवेग, ताम्रकल और श्वेतकंचन। राजा सिंहसेन, सर्पभव में उद्घर्षित अपने श्रीभूति पुरोहित से डँसे जाने पर, मरकर शल्लकीवन में हाथी के रूप में पुनः उत्पन्न हुआ था। वनेचरों ने उस हाथी का नाम अशनिवेग रख दिया था (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५५-५६)। इसी प्रकार, जम्बूद्वीप के ऐरवतवर्ष-स्थित रत्नपुर नगर के निवासी धनवसु और धनदत्त नामक शकटवणिक् (बैलगाड़ी पर माल लादकर व्यापार करनेवाले व्यापारी) नकली माप-तौल के प्रयोग द्वारा पाप अर्जित करने के कारण कलुषित चित्त से आपस में लड़कर मर गये और ऐरवतवर्ष की सुवर्णकूला नदी के तट पर हस्तिकुल में विशालकाय हाथी हो गये। वनेचरों ने उनके नाम 'ताम्रकल' और 'श्वेतकंचन' रख दिये (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३४)।

कथाकार ने ऐरावत हाथी की चर्चा तीर्थकरों की माताओं के महास्वप्नों के वर्णन-क्रम में की है। इसके अतिरिक्त चौदन्ता हाथी का भी उल्लेख उन्होंने किया है। कथा है कि वर्तमान सृष्टि के आदिकाल में दो सार्थवाहपुत्र एक साथ पले-बढ़े। दोनों ही स्वभाव से भद्र थे। आगे चलकर उन दोनों में एक पुत्र किसी कारणवश मायावी हो गया। इनमें पहला अ-मायावी पुत्र मृत्यु को प्राप्त करके अर्द्धभरत के मध्यदेश में मिथुन पुरुष के रूप में उत्पन्न हुआ। और, दूसरे ने, मायावी होने के कारण, उसी देश में, तिर्यग्योनि में, उजले हाथी के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण किया। यह हाथी ऐरावत के समान श्रेष्ठ लक्षणोंवाला था और उसके चार दाँत थे। आधुनिक युग में तो उजले चौदन्ते हाथी कल्पना के विषयमात्र रह गये हैं। उस पुराकाल के चक्रवर्ती राजाओं के प्रसिद्ध चौदह रत्नों में हस्तिरत्न और अश्वरत्न का भी उल्लेख किया गया है ("एरावणरूविणा चउदंतेण

हृत्थिरयणेण विवरमाणो सो पुरिसो..."; नीलयशालम्भ : पृ. १५७)। कामदेव सेठ का 'वल्लभ' नाम का घोड़ा भी अश्वरत्न में ही परिगणनीय था (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २६९)।

आचार्य कथाकार संघदासगणी हस्तिशिक्षा के साथ ही अश्वशिक्षा के भी विशेष ज्ञाता थे। अपनी इस विद्या के ज्ञान का संकेत उन्होंने धम्मिल्लचरित (पृ. ६६-६७) में दिया है। धम्मिल्ल ने राजा कपिल के घोड़े का दमन अश्वशिक्षा के अनुसार ही किया था। कथा है कि एक दिन धम्मिल्ल राजा के घोड़े को फेरने के लिए तैयार हुआ। अश्व-परिचारकों ने घोड़े को लगाम, जीन आदि से सज्जित किया। उसकी पीठ पर पलान रखा गया। पलान में बुँधरू लटक रहे थे। घोड़े के मुख की शोभा के लिए चँवर बाँधे गये थे। घोड़े के लिए प्रयुक्त होनेवाले पाँच प्रकार के आभूषणों से उस घोड़े को सजाया गया था। स्वयं धम्मिल्ल ने कूर्पासक पहन रखा था; उसके पैर अर्द्धोरुक वस्त्र से बाहर थे और उसके माथे पर फूल की कलँगी लगी थी। इस प्रकार, उसका सारा शरीर विचित्र शोभा से समन्वित था। व्यायाम के अभ्यास से उसका शरीर बिल्कुल हलका था; इसलिए वह पक्षी की तरह फुरती से घोड़े के शरीर (पीठ) पर जा बैठा।

संघदासगणी ने दो विशिष्ट घोड़ों का भी नामोल्लेख किया है। पहला है 'हंसविलम्बित' घोड़ा और दूसरा है 'स्फुलिंगमुख' घोड़ा। कथा (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८५) है कि जिनदास और पुष्पदन्ता परस्पर अनुरक्त होकर एक दूसरे से विवाह करना चाहते थे। जिनदास ने अपने पिता सार्धवाह अर्हदास से मन की बात कही। अर्हदास ने पुत्र के अनुरागवश पुष्पदन्ता के पिता राजा पुष्पकेतु के समक्ष अपना प्रस्ताव रखा कि मेरे पुत्र जिनदास के लिए अपनी कन्या प्रदान करें और शुल्कस्वरूप बहुमूल्य उपहार स्वीकार करें। किन्तु राजा पुष्पकेतु ने अर्हदास के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। तब, जिनदास और पुष्पदन्ता अभिलषित स्वयंवर न पाकर हंसविलम्बित अश्व पर सवार होकर भाग निकले। इससे स्पष्ट है कि 'हंसविलम्बित' नाम का घोड़ा कोई विशिष्ट वेगवान् अश्व रहा होगा।

'स्फुलिंगमुख' घोड़े का तो विधिवत् लक्षण ही कथाकार ने उपन्यस्त किया है। सातवें कपिलालम्भ की कथा (पृ. १९९-२००) है कि वसुदेव जब वेदश्यामपुर के राजा कपिल के महाश्वपति वसुपालित के घर में, उसकी पुत्री वनमाला के कृत्रिम देवर के रूप में सहदेव के नाम से रहते थे, तभी वनमाला ने उनसे पूछा : "आप स्फुलिंगमुख घोड़े का दमन कर सकते हैं?" "घोड़े को देखकर ही उसकी प्रकृति को जाना जाता है।" वसुदेव ने संक्षिप्त उत्तर दिया। वसुपालित ने कहा : "आप स्वच्छन्दतापूर्वक घोड़े को देख सकते हैं।" उसके बाद वसुदेव ने स्फुलिंगमुख घोड़े को देखा। घोड़े का रंग खिले कुमुद (कमल) की तरह लाल था।^१ उसके सारे शारीरिक लक्षण उत्कृष्ट कोटि के थे। उसकी ऊँचाई पचहत्तर अंगुल थी। वह एक सौ आठ अंगुल लम्बा था। उसका मुँह बत्तीस अंगुल का था। उसके आवर्त (शरीर के भँवर) शुद्ध थे। खुर, कान, केश, स्वर, आकृति, आँख और जाँघ ये सारे अंग-प्रत्यंग प्रशस्त लक्षणोंवाले थे। वह घोड़ा इतना तेजस्वी था कि उसपर सवारी करना आसान नहीं था।

घोड़े को देखकर वसुदेव ने उसके दमन की इच्छा प्रकट की। उसके बाद उन्होंने पूजा-विधान सम्पन्न कराने और जंजीर से जुड़े टेढ़े मुँहवाले चार टकुए तैयार कराने का आदेश दिया। महाश्वपति

१. यहाँ संघदासगणी ने कुमुद-कमल को सामान्य अर्थ में लिया है।—ले.

वसुपालित ने सारी तैयारी की। वसुदेव मंगलविधि पूरी करके स्फुलिंगमुख घोड़े पर सवार हो गये। जंजीर से बँधे चारों टकुओं को पलान के चारों ओर लगा दिया। जब घोड़ा बैठना चाहता, तब शरीर में टकुओं के चुभने से वह खड़ा ही रहता। जब वह दौड़ने लगता, तब जंजीर खींचने से (टकुए चुभने के कारण) रुक जाता और इस प्रकार उसे विशेष कोई पीड़ा भी नहीं होती। जब वह खड़ा होना चाहता, वसुदेव उसे चलाना शुरू कर देते। राजा कपिल खुले हुए छतदार बरामदे में बैठे यह सब देख रहा था और प्रशंसा भी कर रहा था। घोड़े की चाल के विशेषज्ञ शिक्षाकुशल व्यक्ति विस्मित भाव से वसुदेव को शाबाशी दे रहे थे। अन्त में, वसुदेव ने स्फुलिंगमुख घोड़े को वश में कर लिया। राजा ने प्रसन्न होकर वह घोड़ा तो वसुदेव को सौंपा ही, अपनी कन्या कपिला भी उन्हें सौंप दिया।

इस कथाप्रसंग से स्पष्ट है कि उस युग में तेज घोड़े का दमन करना बड़ी बहादुरी की बात तो थी ही, घोड़े को वश में करनेवाले की योग्यता के लिए पुरस्कार में घोड़े के साथ पत्नी भी प्राप्त होती थी और अश्व-संचालन के पूर्व मंगलविधि का अनुष्ठान भी सम्पन्न किया जाता था। राजाओं के राज्य में घोड़े और हाथी रखे जाने की प्राचीन परम्परा रही है। प्रत्येक राजा के राज्य में अश्वशाला और हस्तिशाला का प्रावधान रहता था। अश्वों के प्रभारी महाश्वपति कहलाते थे, जिनके अधीन अनेक अश्व-परिचारक होते थे। हाथियों के प्रभारी को संधदासगणी ने 'गणियारी' (महावत) की संज्ञा दी है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र के दूसरे अधिकरण में 'अश्वाध्यक्ष' (अ. ३०) और 'हस्त्यध्यक्ष' (अ. ३१) नामों से अलग-अलग दो अध्यायों की ही अवतारणा की है, जिनमें हाथी और घोड़ों के रख-रखाव के विषय में बड़ी सूक्ष्मता और विशदता के साथ वर्णन किया है।

'वसुदेवहिण्डी' में हाथी-घोड़ों के अतिरिक्त गाय, बैल और महिष (भैंसा) और मेष जैसे पशुओं का भी विशद उल्लेख किया गया है। कथा (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९७) है कि वसन्तपुर के राजा जितशत्रु के दो गोमण्डल थे। उनमें दो गोमाण्डलिक नियुक्त थे—चारुन्दी और फल्गुन्दी। उन दोनों गोमण्डलों में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के लक्षणोंवाली गायें थीं। उत्कृष्ट गायें वर्ण, रूप, शारीरिक संरचना, सींग, आकृति आदि की दृष्टि से कल्याणकारिणी और मंगलमयी थीं। उनमें किसी प्रकार की खोट नहीं थी और वे उत्तम धनोवाली थीं। निकृष्ट गायें वर्ण आदि की दृष्टि से अकल्याणकारिणी और अमंगलमयी थीं। वे खोटयुक्त, मरखण्डी और भयंकर तथा धन-विहीन थीं। बैल अक्सर गाड़ियों में जोते जाते थे। एक स्थल (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३४) पर कथाकार ने ऐसे बैलों की धार्मिक दशा का वर्णन किया है, जो अपने गाड़ीवानों की निर्दयता के शिकार थे। वे प्रचुर भार ढोने से श्रान्त और भूख-प्यास से क्लान्त रहते थे। सरदी और गरमी से उनके शरीर कृश हो गये थे। डाँस और मच्छरों से पीड़ित एवं अंग-अंग से टूटे हुए वे, नाथ की रगड़ से चूर थे, फिर भी गाड़ीवान उन्हें हाँकते ही जा रहे थे। पूर्वभवजनित वैर के कारण भैंसों और भेड़ों के परस्पर लड़ने-भिड़ने का भी अनेकशः उल्लेख कथाकार ने किया है।

धम्मिल्लचरित (पृ. ५५) में एक क्रुद्ध भैंसे का बड़ा ही सजीव और स्वाभाविक चित्रण उपलब्ध होता है। धम्मिल्ल के रथ को रोककर, रास्ते पर जो भैंसा आ खड़ा हुआ था, वह विपुल अन्धकार के ढेर की तरह लगता था; नदी के ऊबड़-खाबड़ कछारों और बाँबियों में दूसा मारते

रहने के कारण उसके सींग नुकीले हो गये थे और वह अपने अगले खुर से जमीन को खूँद रहा था। वह भैंसा विशालकाय था तथा वक्र दृष्टि से धम्मिल्ल की ओर देख रहा था।

एक अन्य स्थल (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २६८, २७८) पर तो कथाकार ने महिष को मानवीकृत करके उसका रोचक मिथकीय चित्रण उपन्यस्त किया है। वह कामदेव सेठ का भद्रक नामक महिष था। उसे अपना जातिस्मरण हो आया था। कामदेव सेठ अपने 'वल्लभ' नामक अश्व को जो खुराक देता था, वही खुराक उसके लिए भी देता था। उसे राजा की ओर से अभयदान प्राप्त था। भद्रक जब राजकुल में प्रविष्ट हुआ। तब उसने सिर झुकाकर राजा से अभयदान माँगा था। पशुओं में इस प्रकार का आचरण देखकर राजा विस्मित होकर रह गया था। राजा ने अपने मन्त्रियों को आदेश देते हुए कहा था कि वे नगर में घोषणा करा दें : 'अभयदान-प्राप्त भद्रक भैंसे के प्रति जो अपराध करेगा, वह मृत्युदण्ड का भागी होगा, चाहे वह अपराधी राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही क्यों न हो।'।

इसी सन्दर्भ में कामदेव की गोशाला का भी बड़ा सूक्ष्म वर्णन कथाकार ने किया है (तत्रैव : पृ. २६९)। कामदेव सेठ उज्जयिनी के कुणालनगर (जनपद) में रहता था। वह कई करोड़ की सम्पत्ति का मालिक था। वह पुरवासियों से समादृत तथा राजा जितशत्रु का प्रतिरूप था। एक दिन वह शरद् ऋतु के प्रारम्भ में पकी हुई स्वर्णपीत बालियों के भार से झुके शालिवन तथा गुंजार करते मोद-भरे चंचल भौंरों से घिरे विकसित कमलोंवाले पद्मसर को देखता हुआ क्रम से अपनी गोशाला में पहुँचा। उस गोशाला में बछड़े खेल रहे थे और पहलौठी गायें रँभा रही थीं तथा गोपीजनों द्वारा गाये जानेवाले गीतों के सागर-गम्भीर स्वर मुखरित हो रहे थे। वहाँ भौंरों के मधुर गुंजार से शब्दित, कुसुम-धवलित सप्तपर्णवृक्ष के निकट स्थित गोशाला का प्रमारी दण्डक, सेठ के पास आया और उसकी अनुमति से उसके समक्ष खड़ा रहा। तिन्दूसक वृक्षविशेष के मण्डप में जब सेठ बैठ गया, तब गोपजनो ने सेठ के लिए गोशाला के उपयुक्त, अर्थात् दुग्धदाघृतभूयिष्ठ भोजन प्रस्तुत किया।

भोजन करने के बाद कामदेव दण्डक के साथ बैठा और गाय-भैंस के बारे में बात करता रहा। इसी क्रम में, दण्डक ने थोड़ी दूर पर चरते हुए एक भैंसे को बुलाया। दण्डक के पुकारते ही वह सेठ के पास चला आया। उस भैंसे को देखने से लोगों को भय होता था। सेठ के पास बैठे दण्डक ने कहा : "यह भैंसा बड़ा भला है। इससे डरने की कोई बात नहीं।" इसके बाद भैंसे ने अपनी जीभ निकालकर सेठ को सिर झुकाया और घुटने के बल बैठ गया।

इस कथाप्रसंग से स्पष्ट है कि उस युग में, सेठों को मवेशी पालने में विशेष अभिरुचि थी। उनके द्वारा संचालित गोशाला की व्यवस्था अत्यन्त उत्तम रहती थी और वहाँ का परिवेश रमणीय और चित्तकर्षक होता था। गायों और भैंसों को बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता था। गोशाला की निगरानी के लिए यद्यपि खास आदमी नियुक्त रहते थे, तथापि सेठ स्वयं भी यदा-कदा अपनी गोशाला का निरीक्षण करने जाया करता था। पशु-पालन की यह प्रथा भारतीय संस्कृति का विशेष अंग थी, इसीलिए कथाकार का, अपनी इस कथाकृति में, गोरक्षामूलक भारतीय जनजीवन के चित्रण के प्रति विशेष रुझान प्रदर्शित हुआ है।

संघदासराणी द्वारा उपन्यस्त विभिन्न पशुओं के चित्रण के क्रम में पीठिका-प्रकरण में प्रद्युम्न की प्रज्ञप्ति द्वारा निर्मित मेष का एवं चारुदत्त की कथा में वर्णित सुवर्णद्वीपयात्रियों के बकरो का

तथा सवारियों के साधनों में खच्चर, ऊँट और गधे का भी मनोरंजक प्रसंग आया है। इस प्रकार, कथाकार ने 'वसुदेवहिण्डी' में भारतीय प्रतिनिधि पशुओं का यथावश्यक उल्लेख करके अपनी कथाशैली में ततोऽधिक सम्प्रेषणीयता उत्पन्न की है।

संघदासगणी ने लोकजीवन के परिचित पक्षियों में हंस, चक्रवाक, मयूर, कुक्कुट, कबूतर, सुग्गा, मैना और कौए का, कथारूढिपरक मिथकीय चेतना के परिप्रेक्ष्य में, रुचिकर चित्रण किया है। अपरिचित पक्षियों में भारुण्ड और कंकशकुन पक्षी विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। मयूर पक्षी का तो विस्मयकारी मिथकीय वर्णन कथाकार ने किया है।

वसुदेव अपनी विद्याधरी पत्नी नीलयशा के साथ, उसके ही आग्रह पर, विद्याधरों-से अपराजेयता के निमित्त, विद्या सीखने के लिए वैताढ्य पर्वत पर उतरे। वहाँ जब वह अपनी प्रिया के साथ घूम रहे थे, तभी नीलयशा ने एक ऐसे मयूरशावक को विचरते देखा, जिसके चन्द्रयुक्त पंख बड़े चिकने, चित्र-विचित्र और मनोहर थे। वह मयूरशावक क्रमशः वसुदेव के निकट ही आकर विचरने लगा। उसे देखकर नीलयशा बोली : "आर्यपुत्र, इस मयूरशावक को पकड़ लीजिए। यह मेरे लिए खिलौना होगा।" वसुदेव मयूरशावक के पीछे लग गये। वह मयूरशावक कभी घने पेड़ों के बीच, कभी जंगल-झाड़ी से भरी कन्दराओं से होकर बड़ी तेजी से चल रहा था। वसुदेव जब उसे पकड़ने से असमर्थ हो गये, तब उन्होंने नीलयशा से कहा कि अब तुम्हीं उसे अपने विद्याबल से पकड़ो। नीलयशा विद्याबल से मयूरशावक की पीठ पर जा बैठी। मयूरशावक नीलयशा को अपनी पीठ पर लिये दूर निकल गया और अवसर पाकर आकाश में उड़ गया। तब वसुदेव को सही वस्तुस्थिति का आभास हुआ। वह सोचने लगे : राम मृग के द्वारा छले गये थे और वह मयूरशावक के द्वारा। वस्तुस्थिति यह थी कि वसुदेव का प्रतिद्वन्दी छद्मरूप नीलकण्ठ नीलयशा को अपहृत करके ले गया था।

'वसुदेवहिण्डी' में कुक्कुटयुद्ध के बारे में भी उल्लेख हुआ है (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८९)। यथाचित्रित कुक्कुट बड़े युद्धकुशल थे। बाज और कबूतर भी कथा(केतुमतीलम्भ : पृ. ३३८) के व्याज से चित्रित हुए हैं। वस्तुतः, ये दोनों पूर्वभवं जम्बूद्वीप-स्थित ऐरवत वर्ष के पश्चिमीखेट नगर के सागरदत्त बनिया के धन और नन्दन नाम के पुत्र थे। एक बार वे दोनों व्यापार करते हुए नागपुर गये। शंखनदी के तट पर रत्नों के निमित्त उन दोनों के बीच झगड़ा हो गया। लड़ते हुए वे दोनों अथाह नदी में गिर पड़े। वहाँ मरकर दोनों ने कबूतर और बाज के रूप में पक्षी-भव प्राप्त किया।

इसी प्रकार, 'मुख' प्रकरण में कथाकार ने शाम्ब की मैना और भानु के सुग्गे का उल्लेख किया है। दोनों पक्षी नीतिपरक श्लोक पढ़ने में निपुण थे। भानु और शाम्ब के बीच उक्त दोनों पक्षियों द्वारा नीतिश्लोक पढ़ने की बाजी लगी थी। शाम्ब ने मैना की देह में एक जगह रोआँ उखाड़कर क्षत कर दिया था और वहाँ क्षार पदार्थ लगा दिया था। भानु का सुग्गा दो नीतिश्लोक पढ़कर चुप हो गया, किन्तु बार-बार क्षतसिक्त अंगों को छूने से उद्वेजित शाम्ब की मैना को बरबस कई नीतिश्लोक पढ़ने पड़े। फलतः, शाम्ब की मैना एक करोड़ की बाजी जीत गई।

कौए की तो कई कथाएँ कथाकार ने लिखी हैं। इसी क्रम में कर्पिजल पक्षी का भी उल्लेख हुआ है। कृतघ्न कौओं की एक कथा (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ३२) इस प्रकार है : एक बार बारह वर्ष का अकाल पड़ा था। उस स्थिति में कौओं ने मिलकर आपस में विचार किया : "हमें क्या

करना चाहिए? बड़ी भुखमरी आ गई है। जनपदों में कहीं भी वायसपिण्ड नहीं मिलता। जूठन में छोड़ा गया अन्न भी नहीं मिलता। इसलिए, हम कहीं अन्यत्र चलें।" एक बूढ़े कौए ने कहा : "हम सभी समुद्रतट पर चले चलें। वहाँ कपिजल हमारे भागिनेय होंगे। वे हमें समुद्र से मछली निकालकर देंगे। इसके अलावा दूसरा कोई जीने का सहारा नहीं है।" यह सोचकर वे सभी समुद्रतट पर चले गये। वहाँ कपिजलों ने कौओं को अतिथि मानकर उनका स्वागत किया।

बारह वर्ष के बाद दुर्भिक्ष समाप्त हो गया और सुभिक्ष लौट आया। जनपदों में वायसपिण्ड सुलभ हो गया। जब सभी कौए वापस जाने लगे, तब कपिजलों ने वहाँ रहने के लिए उनसे आग्रह किया। तब, "प्रतिदिन सूर्य उगने के पहले तुम्हारा अधोभाग देखना पड़ता है, यह स्थिति हमें सहन नहीं होती" इस प्रकार कपिजलों पर लांछन लगाकर कृतघ्न कौए वापस चले गये।

'वसुदेवहिण्डी' में भारुण्डपक्षी का वर्णन (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४९) आया है, जिसका विस्तार परवर्ती प्राकृत-साहित्य में विविधता के साथ उपलब्ध होता है। संघदासगणी ने लिखा है कि भारुण्ड पक्षी रत्नद्वीप में रहते हैं और वे महाशरीर होते हैं। वे बाघ और रीछ तक को मारकर उसका मांस खाते हैं। वे अजपथ-प्रदेश में रत्नद्वीप से विचरण के लिए आया करते हैं। चारुदत्त और उसके सहयात्री सार्थवाह, बकरोँ को मारकर उनका मांस खा गये और उनके ताजे रथिराक्त चमड़े की खोली में घुसकर बैठ गये। तभी, भारुण्डपक्षी वहाँ आये और मांस के लोभ से आकृष्ट होकर चमड़े की खोली में घुसे एक-एक सार्थवाह को अपनी चोंचों में उठाकर आकाश में उड़ गये। 'प्राकृतशब्दमहार्णव' ने दो मुँहवाले पक्षिविशेष को भारुण्ड कहा है। आटे ने लिखा है कि भारुण्ड एक प्रकार का काल्पनिक पक्षी है, जो केवल कहानियों में वर्णित है।

एक बार जरासन्ध के आदमियों ने वसुदेव को चमड़े के थैले में डालकर राजगृह-स्थित छिन्नकटक पर्वत से नीचे गिरा दिया था। वह जिस समय 'घू-घू' आवाज के साथ शिलाखण्डों पर लुढ़कते हुए गिर रहे थे, उस समय उन्होंने मन में सोचा था कि जिस प्रकार चारुदत्त को भारुण्ड पक्षी ने आकाश में ले जाकर छोड़ दिया था, वही गति (भवितव्यता) मेरी भी होगी (पृ. २४८ : वेगवतीलम्भ)।

संघदासगणी द्वारा उल्लिखित पक्षी कंक को 'प्राकृतशब्दमहार्णव' ने विशिष्ट चिड़िया कहा है। आटे ने बगुला अर्थ दिया है। इसीलिए बगुले के परो से युक्त बाण को 'कंकपत्र' कहते हैं। संघदासगणी ने कंक को मांसभोजी पक्षी के अर्थ में चित्रित किया है। जीवहिंसा के कर्मबन्ध से हरिश्मश्रु मरकर पहले शार्दूल हुआ था और उसके बाद के भव में कंकशकुन के रूप में उत्पन्न हुआ था (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७८)।

इस प्रकार, संघदासगणी ने अपनी कथा के विस्तार के क्रम में पशु-पक्षियों का सोद्देश्य चित्रण किया है। इसमें कथाकार ने एक ओर यदि तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक कला-समृद्धि और प्राकृतिक जगत् से लोकजीवन के नित्य सम्बन्ध को दिग्दर्शित किया है, तो दूसरी ओर आध्यात्मिक और नैतिकदृष्टि से भारतीय जन-स्तर की समीक्षा भी उपन्यस्त की है। कुल मिलाकर, मानव-जीवन और पशु-जीवन के परस्पर प्रभाव की ओर संकेत करना ही कथाकार का प्रमुख लक्ष्य है।

संघदासगणी ने, तिर्यक्-जातीय जीवों के उल्लेख करने के क्रम में साँपों के भी कई स्वाभाविक चित्र अंकित किये हैं। स्वदेश लौटने के क्रम में अगडदत जब श्यामदत्ता के साथ रथ पर जा रहा था, तब रास्ते में उसे एक महानाग से सामना करना पड़ा था। (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४५) पहले तो उसने फुफकार सुना, जो लोहार की धौंकनी की आवाज के समान लग रहा था। तभी, सामने विशाल फन काढ़े महानाग को देखा। वह अंजनपुंज के समान चमक रहा था और अपनी दोनों जिह्वाओं को लपलपा रहा था; वह उत्कट, स्फुट, विकट, कुटिल और कर्कश ढंग से फटाटोप (फन फैलाने और फुफकारने) में दक्ष था, साथ ही वह अपने शरीर के तीन हिस्से को ऊपर उठाकर खड़ा था। धोड़े और रथ के शब्द को सुनने से उसे क्रोध हो आया था।

इसी प्रकार, धम्मिल्ल विमलसेना के साथ जब रथ पर जा रहा था, तभी जंगल के रास्ते में उसे विशाल फनवाला भुजंग दिखाई पड़ा था (तत्रैव : पृ. ५४)। उस भुजंग की आँखें गुंजा (करजनी) की तरह गहरा लाल थीं, वह बवण्डर की तरह फुफकार रहा था, और अपनी दोनों जिह्वाओं को लपलपा रहा था।

संघदासगणी ने 'खारक' सर्प का उल्लेख किया है। इसे 'खार' भी कहा गया है। यह पंजों के बल चलनेवाली तथा आकाश में भी उड़नेवाली एक विशिष्ट नागजाति है। इसे गिरगिट या गोह की भाँति पंजे होते हैं। इसीलिए, इसे 'भुजपरिसर्प' जाति का नाग (द्र. 'पाइयसद्महण्णवो') कहा गया है। 'सूत्रकृतांग' (२.३.२५) में भी इसकी चर्चा आई है। स्थानांग (३.४५) में भी भुजपरिसर्प का उल्लेख हुआ है। स्थानांगवृत्ति^१ से स्पष्ट होता है कि परिसर्प, अर्थात् रेंगनेवाले प्राणी, दो प्रकार के हैं—छाती के बल रेंगनेवाले उरःपरिसर्प और पंजों के बल रेंगनेवाले भुजपरिसर्प। उरःपरिसर्प में सर्प आदि और भुजपरिसर्प में नेवले आदि की गणना होती है।

किन्तु, वसुदेवहिण्डी के वर्णन के अनुसार, खारक या भुजपरिसर्प से साँप का ही संकेत होता है। द्वितीय श्यामलीलम्प की कथा है कि पवनवेग और अर्चिमाली नाम के विद्याधर वसुदेव को आकाशमार्ग से उड़ाकर वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणी में स्थित किन्नरगीतनगर के उद्यान में जब ले गये थे, तब उन्होंने (वसुदेव ने) वहाँ की बावली में खारक को आकाश से उतरते देखा और उन्हें ऐसा अनुमान हुआ कि कदाचित् इस वापी में नागजाति की विद्याधरियाँ रहती हैं, इसीलिए, खारक (उड़नेवाले नाग) आकाश से यहाँ उतरते हैं ("मया चिंतियं—किं मण्णे सिरीसिवा विज्जाहरी होज्जा, जओ इमा खारका आकासेणं वच्चंति"; पृ. १२३)। वसुदेव के अभिप्राय को जानकार राजा अशनिवेग की पुत्री श्यामली की बाह्य प्रतिहारी मत्तकोकिला ने उनसे कहा कि यहाँ नागजाति की विद्याधरी नहीं रहती है। इसके आगे कथाकार ने उत्तर प्रसंग को अधूरा-सा छोड़ दिया है। पूर्व प्रसंग से और उसके आगे की कथा से ऐसा सहज ही अनुमान होता है कि स्फटिक सोपानयुक्त तथा चतुष्पदों के लिए अगम्य एवं मधुर और हितकर निर्झरवाली उस गहरी वापी में भुजपरिसर्प जाति के जीव आकाश से उतरकर पानी पीते होंगे।^२

१. स्थानांगवृत्ति, पत्र १०८: 'उरसा वक्षसा परिसर्पन्तीति उरः परिसर्पाः—सर्पादयस्तेऽपि भणितव्याः, तथा भुजाभ्यां बाहुभ्यां परिसर्पन्ति ये ते, यथा नकुलादयः ।'

२. मद्रास से प्रकाशित प्रसिद्ध बाल-मासिक 'चन्दामामा' (हिन्दी-संस्करण) के किसी पुराने अंक में मुद्रित भुजपरिसर्प नाग (उड़नेवाले साँप) से सम्बद्ध एक सचित्र प्राचीन कथा में पंजोंवाले भुजपरिसर्प नाग का रंगीन रेखांकन हमें दृष्टिगत हुआ है।—ले.

‘वसुदेवहिण्डी’ में दृष्टिविष सर्प का भी उल्लेख दो-एक स्थलों पर हुआ है। सरकण्डे के जंगल में रहनेवाले दृष्टिविष सर्प, उस वन के निवासी साधु को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर, परम्परानुसार उत्पन्न देवज्योति से निर्विष हो गये थे। इसी प्रकार, चक्रवर्ती राजा सगर की कथा में उल्लेख है कि ज्वलनप्रभ नाग ने अपनी दृष्टि की विषाग्नि से राजा सगर के जहु प्रभृति साठ हजार पुत्रों को जलाकर भस्म कर दिया था। इससे स्पष्ट है कि दृष्टिविष सर्प की दृष्टि में ही विष रहता था। दृष्टिविष सर्प की दृष्टि के तेज से ही लोग भस्म हो जाते थे। ये आशीविष जाति के सर्प होते थे। ‘स्थानांग’ (४.५.१४) में लिखा है कि उरगजातीय आशीविष अपने विष के प्रभाव से जम्बूद्वीप-प्रमाण (लाख योजन) शरीर को विषपरिणत तथा विदलित कर सकता है। यह उसकी विषात्मक क्षमता है। परन्तु, इतने क्षेत्र में उसने अपनी क्षमता का न तो कभी उपयोग किया है, न करता है, न कभी करेगा। निश्चय ही, सर्प यदि अपनी पूरी विष-क्षमता का उपयोग करने लगे, तो विश्व में आतंक फैल जाय।

‘वसुदेवहिण्डी’ में भयंकर विषवाले दो सर्पों का नामतः उल्लेख मिलता है—काकोदर सर्प और कुक्कुट सर्प। उद्यान में माधवीलता के हिंडोले में झूलते समय श्यामदत्ता को काकोदर सर्प ने काट खाया था (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४६)। विष के वेग से वह अपना सिर धुनती हुई दौड़कर आई और ‘आर्यपुत्र! बचाइए’ कहती हुई अगड़दत्त की गोद में जा गिरी और क्षणभर में अचेत हो गई। अगड़दत्त ने उसे उद्यानदेवता के मन्दिर के द्वार पर लाकर डाल दिया और विलाप करने लगा। आधी रात में दो विद्याधर आये। अगड़दत्त ने उन्हें अपना दुखड़ा कह सुनाया। दयालु विद्याधरों ने ‘क्यों सो रही हो?’ कहते हुए अचेत श्यामदत्ता के शरीर को छू दिया। वह निर्विष होकर उठ बैठी। विद्याधरदेव आकाशमार्ग से अदृश्य हो गये।

इसी प्रकार, एक दिन श्रीविजय अपनी पत्नी सुतारा के साथ ज्योतिर्वन में गया था। वहाँ एक मृगशावक को देख उसे खिलौना बनाने के लिए सुतारा का मन मचल उठा। श्रीविजय ज्योंही मृगशावक को पकड़ने गया, त्योंही इधर कुक्कुट सर्प ने सुतारा को काट खाया। उधर मृगशावक भी आकाश में उड़ गया। श्रीविजय लौटकर आया, तो उसने सुतारा को धरती पर पड़ा देखा। तब मन्त्र और औषधि से उसकी चिकित्सा करने लगा। किन्तु, उसका कोई फल नहीं निकला। क्षणभर में ही सुतारा मर गई (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१६)।

संघदासगणी ने साँप के काटने पर विषवैद्य द्वारा उसके विधिवत् उपचार का भी उल्लेख किया है (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५४)। भवितव्यता से प्रेरित राजा सिंहसेन एक दिन भाण्डार में घुसा और ज्योंही रत्नों पर दृष्टि डाली, त्योंही रत्न पर बैठे सर्प ने उसे डँस लिया और निकल भागा। वह ‘अगन्धन’ सर्प था। राजा के शरीर में विष का वेग फैलने लगा। सर्पवैद्य उपचार करने में जुट गये। गरुडतुण्ड नामक गारुडिक (आहितुण्डिक) ने साँपों को बुलाया। आवाहित साँप गारुडिक के समक्ष उपस्थित हुए। जो साँप अपराधी नहीं थे, उन्हें गारुडिक ने विदा कर दिया; लेकिन अगन्धन सर्प खड़ा रहा। गारुडिक ने विद्याबल से अगन्धन सर्प को राजा के शरीर से विष चूसने को प्रेरित किया, किन्तु पूर्ववैरानुबन्धजनित मानवश सर्प तैयार नहीं हुआ। तब गारुडिक ने उसे जलती आग में डाल दिया। अन्त में विष से अभिषूत राजा भी मर गया।

इस कथा से रत्नों के ढेर पर साँप के बैठे रहने की किंवदन्ती या लोकविश्वास की सम्पुष्टि होती है। ‘वसुदेवहिण्डी’ से यह भी सूचना मिलती है कि कच्चे मांस की गन्ध से साँप, कीड़े

और चींटी आते हैं ('तेण वीसगंधेण सिरीसिवाणि अइति किमि-पिपीलिका य'; सोमश्रीलम्भ : पृ. १९२)। कथाकार ने आदमी को निगल जानेवाले अजगर का भी वर्णन किया है। कंचनगुहा में बैठे व्रतनिष्ठ रश्मिवेग को पूर्वभ्रव के वैरानुबन्धवश एक अजगर लील गया था। वह अजगर श्रीभूति पुरोहित था, जो पाचवीं पृथ्वी से उद्धर्तित होकर अजगर के रूप में उत्पन्न हुआ था (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५८)। इसी प्रकार, एक बाह्य बालक को राक्षस से बचाने के लिए भूतों द्वारा उसे पहाड़ की गुफा में सुरक्षित रख दिया गया, किन्तु गुफा में पहले से बैठा अजगर उसे लील गया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१६)।

'वसुदेवहिण्डी' में मृगी द्वारा बच्चे का पालन-पोषण तथा एक दिन सर्पदष्ट होने पर उस बच्चे को जीभ से चाटकर निर्विष किये जाने की भी एक मनोरंजक कथा (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९९) मिलती है। आश्रमवासिनी शिलायुध की पत्नी ऋषिदत्ता श्राविका ने समय पर पुत्र प्रसव किया। शिशु के पैदा होते ही वह प्रसूतिका रोग से मर गई। मृत्यु के बाद ही वह तत्क्षण, द्वितीय जन्म में, व्यन्तरी हुई और उसने मृगी का रूप धारण किया। उसके साथ एक छोटी मृगी थी। वे दोनों दो काले कुत्तों के साथ सामूहिक रूप से घूमती हुई आश्रम (मठ) के आँगन में पहुँची। एक मृगी ने नवजात शिशु को उठा लिया और दूसरी, बालक के मुँह में अपना थन डालकर खड़ी हो गई और बच्चे को जीभ से चाटती रही। इस प्रकार, समय-समय आकर वह मृगी उस बच्चे को दूध पिलाती रहती थी। धीरे-धीरे बच्चा बढ़कर सयाना हो गया।

एक दिन वह बालक समिधा के लिए जंगल गया हुआ था। इधर-उधर घूमने के क्रम में साँप ने उसे डँस लिया। विष से व्याकुल होकर वह बालक मरने लगा। तभी मृगी आई और उसने अपनी जीभ से चाट-चाटकर उस बालक को निर्विष कर दिया। बालक जी उठा। इस कथाप्रसंग से यह संकेतित होता है कि मृगी की जीभ में साँप के विष को नष्ट करने की शक्ति होती है।

ज्ञातव्य है कि भारत में नागपूजा के साथ ही सर्पविष-चिकित्सा की प्राचीन परम्परा रही है। सुश्रुतसंहिता में 'विषचिकित्सिताध्याय' नाम का स्वतन्त्र प्रकरण ही लिखा गया है। अग्निपुराण (विषहन्मन्त्रौषधम्, १५२) में विषनाशक मन्त्रों और ओषधियों का विशद विवरण उपलब्ध होता है।^१ आधुनिक काल में भी साँप के विष उतारने की विधि में प्रवीण अनेक 'ओझा-गुनी' पाये जाते हैं।

वन और वनस्पति :

संघदासगणी ने वन और वनस्पतियों के वर्णन के माध्यम से अनेक मूल्यवान् सांस्कृतिक पक्षों का उद्घावन किया है। भारतीय संस्कृति में वनों का बहुत अधिक महत्त्व है। हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षि वनों में ही आश्रम बनाकर रहते थे। प्रकृति से उनका अभिन्न सम्बन्ध था। वैदिक

१. साँप के विष उतारने का एक मन्त्र अग्निपुराण में इस प्रकार है : "ओं नमो भगवते रुद्राय च्छिन्द च्छिन्द विषं ज्वलितपरशुपाणये। नमो भगवते पक्षिरुद्राय दष्टकमुत्थापयोत्थापय लल लल बन्ध बन्ध मोचय मोचय वररुद्र गच्छ गच्छ वध वध नुट नुट बुक बुक भीषय भीषय मुष्टिना विषं संहर संहर ठ ठ।" इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि विष के अधिष्ठाता देवता शिव हैं।

ऋचाओं का निर्माण भी वनों में प्रतिष्ठित आश्रमों में हुआ था। इसीलिए, वेद की एक शाखा की संज्ञा ही 'आरण्यक' हो गई। कहना न होगा कि पुरायुग में वन प्रव्रजित या संन्यस्त जीवन के तप का प्रमुख केन्द्र थे। यह 'वानप्रस्थ' आश्रम की निरुक्ति से भी सिद्ध है: 'वाने वनसमूहे प्रतिष्ठते इति।' यह उल्लेखनीय है कि वेदों, उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों, सूत्रग्रन्थों आदि में समस्त भारतीय संस्कृति के भव्योज्ज्वल रूप प्रतिनिहित हैं, जिनकी रचना वन के आश्रमों में हुई। उस युग में वन के आश्रमों की प्राकृतिक या ग्रामीण संस्कृति से ही नागरिक संस्कृति या राजतन्त्रात्मक संस्कृति का नियन्त्रण होता था। भारतीय संस्कृति के उद्भावक प्रकृत-कथाग्रन्थों के मेरुदण्ड-स्वरूप 'वसुदेवहिण्डी' में वन और वनस्पतियों का उल्लेख स्वाभाविक है।

'वसुदेवहिण्डी' में, पहाड़ों पर और वनों में तीर्थकरों एवं साधुओं के तप करने की भूरिश: चर्चा हुई है। इस सन्दर्भ में बिहार के विपुलाचल, मन्दराचल और सम्पेदशिखर पर्वत तो इतिहास-प्रसिद्ध हैं और संघदासगणी ने भी इनका साग्रह उल्लेख किया है। कथाकार द्वारा वर्णित वनों में भी भूतरला अटवी, कुंजरावर्त अटवी, विन्ध्यगिरि की तराई के जंगल, जलावर्त अटवी, चन्दनवन, बिलपत्तिका अटवी आदि का अपना उल्लेखनीय स्थान है। ये अटवियाँ अपनी रमणीयता, प्राकृतिक सम्पदा और भयंकरता की दृष्टि से भी अद्वितीय हैं। ज्ञातव्य है, वसुदेव अपने भ्रमण के क्रम में समुद्र और नदियों, पर्वतों और जंगलों की ही खाक छानते रहे और अपने सहज संघर्षशील जीवन, साहस, निर्भयता तथा बौद्धिक कुशलता के कारण स्पृहणीय लब्धियों के प्रशंसनीय पात्र बने। यहाँ संघदासगणी द्वारा चित्रित कतिपय भयानक वनों का परिदर्शन अपेक्षित है।

कथाकार ने विन्ध्यगिरि के पादमूल (तराई) के जंगलों में चोरपल्ली के होने का उल्लेख किया है। आधुनिक काल में भी चम्बल के बीहड़ों में अवस्थित डाकुओं के सन्निवेश 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित प्राचीन चोरपल्ली-परम्परा के ही अवशेष के द्योतक है। जयपुरवासी विन्ध्यराज का ज्येष्ठ पुत्र प्रभव, अपने पिता से विद्रोह करके, विन्ध्यगिरि की विषम प्रदेशवाली तराई में सन्निवेश बनाकर, चौरवृत्ति से जीवन-यापन करता था (कथोत्पत्ति : पृ. ७)। विन्ध्यगिरि की तराई में ही 'अमृतसुन्दरा' नाम की चोरपल्ली थी। अर्जुन नाम का चोरों का अधिपति अपने प्रताप से उस पल्ली का शासन करता था (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४८)। इसी प्रकार, अंजनगिरि के जंगलों में अशनिपल्ली नामक चोरों का सन्निवेश था, जिसके अधिपति की, विविध घातक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित अपनी चोरसेना थी और उसके सेनापति का नाम अजितसेन था (तत्रैव : पृ. ५६)। पुनः विन्ध्यगिरि की तराई में ही सिंहगुहा नाम की चोरपल्ली का उल्लेख हुआ है, जिसका सेनाधिप अपराजित नाम का था। उसकी पत्नी का नाम वनमाला था, जिससे उसके दस पुत्र उत्पन्न हुए थे। अपने चौरकार्य के क्रम में उस अपराजित ने अनेक पाप अर्जित किये थे। फलतः, मरने के बाद उसे नरक की सातवीं भूमि का नारकी होना पड़ा था (श्यामा-विजयालम्भ : पृ. ११४)।

वसुदेव, परिभ्रमण के क्रम में हिमालय पर्वत को देखते हुए जब उत्तर दिशा की ओर जा रहे थे, तब पूर्वदिशा की ओर जाने की इच्छा से उन्होंने कुंजरावर्त अटवी में प्रवेश किया था, जहाँ उन्हें एक पद्मसरोवर दिखाई पड़ा था, जो अनेक जलचर पक्षियों के कलरव से बड़ा मनोरम मालूम होता था। नाम की अन्वर्थता के अनुसार, कुंजरावर्त अटवी में सामान्य हाथियों के अतिरिक्त मदान्य

गन्धहस्ती भी रहते थे और हाथियों का झुण्ड पानी पीने और जलक्रीडा करने के लिए उक्त पद्मसरोवर में उतरता था (श्यामलीलम्भ : पृ. १२२)।

कथाकार ने जलावर्ता अटवी के वर्णन के क्रम में एक रोचक कथा उपन्यस्त की है। मिथिला का राजा पद्मरथ चम्पानगरी के वासुपूज्य मुनि का भक्त था। एक दिन उसने वासुपूज्य मुनि की वन्दना के निमित्त राजकीय यात्रा का आयोजन किया। उसकी भक्ति की परीक्षा के निमित्त अच्युत और वैश्वानर देव ने राजा और उसके प्रधान पुरुषों के शरीर में रोग उत्पन्न कर दिया। फिर भी, राजा अविचलित भाव से अकेला ही चल पड़ा। जब वह जलावर्ता अटवी में पहुँचा, तब परीक्षक देवों ने वहाँ के सरोवर का सारा पानी सोख लिया। फिर भी, राजा लौटा नहीं, उसने अपनी यात्रा जारी रखी। तब देवों ने अनेक सिंह प्रकट करके राजा को डराया। किन्तु, राजा पूर्ववत् अपनी धर्मनिष्ठा के प्रति अविचल बना रहा। तब, परीक्षक देवों ने अपने असली रूप को दिखलाकर मुनिभक्त राजा की वन्दना की और उससे क्षमा माँगी (मदनवेगालम्भ : पृ. २३७)।

अर्हदास सार्थवाह का पुत्र जिनदास, विजयपुर के राजा की पुत्री पुष्पदन्ता के साथ हंसविलम्बित घोड़े पर सवार होकर भाग निकला और बिलपत्तिका अटवी में पहुँच गया। कथाकार ने लिखा है कि वह अटवी हिंस्रक जन्तुओं से भरी थी। उस जंगल में धनुष-बाण हाथ में लिये पुलिन्द आये और जिनदास से युद्ध करने लगे। हंसविलम्बित अश्व पर सवार खड्गधारी जिनदास ने उन पुलिन्दों को पराजित कर दिया। वे पुलिन्द भाग गये। प्यास से व्याकुल जिनदास पेड़ के नीचे पुष्पदन्ता को रखकर घोड़े के साथ पानी के लिए निकला। थोड़ी ही दूर पर पहाड़ के पास जल से भरा सरोवर उसे दिखाई पड़ा। घोड़े को तीर पर खड़ा करके वह पानी पीने के लिए सरोवर में उतरा। पानी पीते समय बाघ ने उसे दबोच लिया। भयत्रस्त घोड़ा वृक्ष के पास भाग आया। खाली घोड़े को देखकर दीनभाव से रोती हुई पुष्पदन्ता सरोवर के पास गई। वहाँ बाघ से खाये गये जिनदास के अवशिष्ट शरीर को देखकर वह और भी जोर से रो पड़ी। पुलिन्दों से पहले ही बीधा गया घायल घोड़ा वहीं क्षणभर में गिरकर मर गया।

उस अकेली रोती-बिलखती पुष्पदन्ता को भुग्नपुट और विभुग्नपुट के अधीनस्थ चोरों ने पकड़ लिया और वे उसे सिंहगुहा नाम की चोरपल्ली में ले गये। चोर के सेनापति का नाम विमेद्व (प्रा. विर्मिद्व) था, भुग्नपुट और विभुग्नपुट उसी के दो बलिष्ठ पुत्र थे। पुष्पदन्ता के लिए जब वे दोनों पुत्र लड़ने लगे, तब विमेद्व ने उसे मथुरा के राजा शूरदेव को उपहार में दे दिया। शूरदेव ने पुष्पदन्ता को अपनी प्रधानमहिषी बनाकर रख लिया (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८५)। इस प्रकार, कथाकार ने कथाव्याज से चोरों और हिंस्र जन्तुओं से व्याप्त बिलपत्तिका अटवी की भयानकता की ओर संकेत किया है।

कथाकार के द्वारा वर्णित घटनाओं से ऐसा ज्ञात होता है कि सिंहगुहा नाम की चोरपल्ली में एक-से-एक भयानक चोरों या डाकुओं का जाल बिछा रहता था। वसुदत्ता की कथा (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ६०) में भी वर्णन आया है कि असहाय वसुदत्ता को चोर जब उठा ले गये थे, तब उन्होंने उसे सिंहगुहा के चोरसेनापति कालदण्ड के समक्ष प्रस्तुत किया था। कालदण्ड ने वसुदत्ता को रूपवती जानकर उसे अपनी अग्रमहिषी बना लिया था।

कथाकार ने उक्त अटवियों के अतिरिक्त भूतरला नाम की अटवी का भी उल्लेख किया है। यह अटवी ऐरावती नदी के तीर पर अवस्थित था, जहाँ जटिलकौशिक तापस रहता था, जिसकी पत्नी पवनवेगा के गर्भ से राजा कपिल धम्मिल्ल नामक बालक के रूप में उत्पन्न हुआ था। (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२३) कथाकार ने भूतरला अटवी से नामसाम्य रखनेवाली भूतरमणा अटवी का भी उल्लेख किया है। जहाँ धूमकेतु नामक ज्योतिष्क देव ने पूर्ववैरानुबन्धवश नवजात प्रद्युम्न का अपहरण करके उसे एक शिलातल पर लाकर छोड़ दिया था, इसलिए कि वह नवजात शिशु सूर्य की गरमी से सूखकर मर जाय (पीठिका : पृ. ८४)। कथाकार ने इन अटवियों के अतिरिक्त कालंजर, कालवन, भीमाटवी, विजयस्थान आदि वनों और अटवियों का भी प्रभावक वर्णन प्रस्तुत किया है।

कथाकार ने एक जगह प्राकृतिक अटवी की संसाराटवी से तुलना की है : एक जंगल में एक ही जलाशय था। वहाँ जंगल के प्यासे चौपाये आकर अपनी प्यास बुझाते थे, फिर लौट जाते थे। लेकिन, महिष उस जलाशय में आकर स्नान करता और कीचड़ में सींग मार-मारकर पानी को गँदला कर देता, जिससे दूसरे जानवरों के लिए वह पीने लायक नहीं रहता। यह एक दृष्टान्तमात्र है। जंगल संसार-वन का प्रतीक है और आचार्य पानी के समान हैं, फिर धर्मकथा सुनने के अभिलाषी जितने प्राणी हैं, वे प्यासे चौपायों की भाँति हैं और धर्म में बाधा पहुँचानेवाले महिष के समान हैं (पीठिका : पृ. ८५)।

कथाकार ने पश्चिम प्रदेश में हिमालय के समीप-स्थित जंगल में सिंह के रहने की चर्चा की है, जिसे त्रिपृष्ठ ने निरायुध होकर मारा था। त्रिपृष्ठ (कृष्ण का प्रतिरूप) इतना बलशाली था कि उसने सिंह के मुँह में हाथ डालकर उसके जबड़े को फाड़ डाला था (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७७) एक स्थल पर कथाकार के वर्णन से यह संकेत मिलता है कि उस समय भी जंगल में मधु एकत्र किया जाता था। मधु के छत्ते में बैठी मक्खियों को आग की धाह से भगाकर मधु एकत्र करने की प्राचीन परम्परा रही है (तत्रैव : पृ. २६०)।

अटवियों में स्थित चोरपल्लियों के चोरों से कभी-कभी नागरिकों की मुठभेड़ भी होती थी। कथा है कि उत्कामुख चोरपल्ली का अधिपति बड़ा निर्दय था। एक दिन उसके आदमियों ने मध्यरात्रि के समय साकेतनगर को रौंद डाला और घरों को जला दिया। चोरों में उसी नगर के ब्राह्मण का पुत्र रुद्रदत्त भी सम्मिलित था। नागरिकों ने निश्चय किया कि इसी ने हमारा विनाश किया है, बस सभी उसपर टूट पड़े और उसे मार डाला (प्रतिमुख : पृ. ११३)।

वन में स्थित आश्रमों का रुचिर वर्णन भी कथाकार ने प्रसंगवश उपन्यस्त किया है। तेईसवें भद्रमित्रा-सत्यरक्षितालम्भ (पृ. ३५३) की कथा है कि सुबह होने पर वसुदेव एक आश्रम में पहुँचे। वहाँ अग्निहोत्र के कारण धुआँ फैला हुआ था, प्रत्येक कुटी के द्वार पर विश्वस्त भाव से हरिण-शिशु सोया हुआ था। रमणीयदर्शन पक्षी निर्भय होकर विचर रहे थे और अखरोट, प्रियाल (चिरौजी), बेर, केंद (तेंदु), इंगुदी (हिंगोट), कंसार (कसेरू) तथा नीवार (तिन्नी धान) के ढेर पड़े हुए थे। यह आश्रम गोदावरी नदी के श्वेता जनपद में अवस्थित था। वहाँ ऋषियों ने वसुदेव को भोजन के लिए शैवाल, नवांकुर और सूखे फूल-फल अर्पित किये।

तीर्थकर महाभिनिष्क्रमण करके वनों में जाते थे। ऐसे वनों में सिद्धार्थवन, सहस्राग्रवन आदि उल्लेख्य हैं। वनों के वर्णन के क्रम में ही कथाकार द्वारा चित्रित उद्यानों और आश्रमों का भी सांस्कृतिक महत्व है। उद्यान-यात्रा उस युग के महीनय सांस्कृतिक अनुष्ठानों में परिगणित थी। संघदासगणी ने अनेक आश्रमों और उद्यानों के वर्णन किये हैं, जिनमें अंगमन्दिर, कामस्थान, कौशिकाश्रम, षडेडक (प्रा. छलेडुग), जीर्णोद्यान, ज्योतिर्वन, चन्दनवन, देवरमण, नन्दनवन, प्रमदवन, प्रीतिकर, पोतनाश्रम, भद्रसाल, मनोरम, रत्नकरण्डक, शरवन, श्रीवन, सुमुख, सुरवन, सुरनिपात आदि को न केवल आध्यात्मिक, अपितु ललित और कलाभूयिष्ठ सांस्कृतिक महाकेन्द्र के रूप में उपन्यस्त किया है।

उपर्युक्त वन-विवरण से यह स्पष्ट है कि देशाटनशील कथाकार ने विन्ध्य-श्रेणी और हिमालय-श्रेणी के वनों का गहन परिदर्शन किया था। इसीलिए अटवियों के वर्णन में उन्होंने नितान्त भौगोलिक और प्राकृतिक पक्षों को ही प्रमुखता दी है। ज्ञातव्य है कि लोकजीवनानुरागी कथाकार गहन वनों के वर्णन में उनकी भयानकता के उद्भावन के प्रति अधिक आग्रहशील रहे हैं; इसीलिए उन्होंने तपोजीवन से सम्बद्ध आरण्यक संस्कृति की प्रायः सर्वत्र संक्षिप्त या नामतः चर्चा की है।

भारतीय संस्कृति में वृक्षपूजा को अतिशय महत्व दिया गया है। लोकजीवन में पीपल और बरगद तो विशिष्ट रूप से पूजित हैं। विवाह-संस्कार से अवसर पर आम-महुआ ब्याहने की भी चिराचरित प्रथा मिलती है। धात्रीनवमी का नामकरण उस तिथि को धात्रीवृक्ष (आँवला का पेड़) के पूजने की विशेष प्रथा को संकेतित करता है, तो 'वटसावित्रीव्रत' (ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या) के दिन भारतीय सधवा स्त्रियाँ बरगद को पति का प्रतिनिधि मानकर उसकी पूजा करती हैं। पीपल या अश्वत्थ तो साक्षात् त्रिदेव (ब्रह्मा, कृष्ण या विष्णु और महेश) का ही प्रतिरूप है।^१ 'गीता' में कृष्ण ने कहा भी है कि 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्।' (१०. २६); अर्थात् वृक्षों में यदि कृष्ण की व्यापकता को माना जाय, तो वह अश्वत्थ हैं। यहाँतक कि अव्ययात्मा अश्वत्थ वृक्ष में ही समस्त संसार के आवासित रहने की भारतीय परिकल्पना का भी अपना मूल्य है। वटवृक्ष की पूजा से सावित्री-सत्यवान् की प्रसिद्ध पौराणिक आदर्श कथा के जुड़े रहने की बात सर्वविदित है। सोमवारी अमावस्या को अश्वत्थ-प्रदक्षिणा की लोकप्रथा भी भारतीय जीवन की धर्मनिष्ठ संस्कृति को सूचित करती है। बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध को ज्ञानलाभ होने के कारण बौद्धों में अश्वत्थ की पूजातिशयता सर्वस्वीकृत है। सिन्धु-घाटी-सभ्यता में अश्वत्थवृक्ष का महत्व वहाँ से प्राप्त अनेक मुद्राओं तथा पात्रखण्डों पर अंकित वृक्षों से प्रकट होता है। भारत के प्राचीन साहित्य में वृक्षोत्सव की गणना अनेक लोकप्रचलित उत्सवों में की गई है, जिनमें कामिनियाँ विविध क्रीडाएँ करती थीं। शालभजिका-क्रीडा में इसके साक्ष्य उपलब्ध है। शालवन की चर्चा जैन और बौद्ध साहित्य में समान भाव से मिलती है। संघदासगणी ने भी 'वसुदेवहिण्डी' में शालवृक्ष की चर्चा

१. मूलतो ब्रह्मरूपाय, मध्यतो विष्णुरूपिणे।

अमृतः शिवरूपाय अश्वत्थाय नमो नमः॥

यहाँ अश्वत्थ को प्रधान वृक्ष मानकर उपलक्षण रूप से अश्वत्थ का नाम लिया गया है। सभी वृक्षों की स्थिति इसी प्रकार है।—विशेष विवरण के लिए द्र. 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति': म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ. २४७

यत्र-तत्र की है ('तत्थ य पंथब्भासे एगस्स सालस्वन्खस्स मूले'; धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ६१)। प्राचीन वृक्षपूजा को प्रतीकित करनेवाली परम्परा वृक्षरोपण-सप्ताह या वन-महोत्सव के रूप में आज भी जीवित है। इण्डोनेशिया में वृक्षों से ही स्त्री-पुरुष के उत्पन्न होने का विश्वास बद्धमूल है। कहना न होगा कि वृक्षपूजा की महत्ता सार्वभौम स्तर पर स्वीकृत है तथा वनस्पति, पशु-पक्षी एवं मनुष्य एक ही चेतना के रूपभेद हैं। यहाँतक कि पर्यावरण की विविध प्रदूषणों से प्ररक्षा के लिए वनस्पतियों या पेड़-पौधों का अस्तित्व अनिवार्य है।

उपर्युक्त समष्ट्यात्मक चेतना के रूपभेद की धारणा के आधार पर ही संघदासगणी ने जैन दर्शन की मान्यता के परिप्रेक्ष्य में वनस्पति में जीवसिद्धि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। यह वर्णन वसुदेव द्वारा, राजभय से उत्पन्न निर्वेद के वशीभूत होकर तापसधर्म स्वीकार किये हुए तपस्वियों को उपदेश के रूप में उपन्यस्त है। इस उपदेश का सारांश यह है कि सत्यवादी तीर्थंकरों के सत्य आगम-प्रमाण से वनस्पतियों को जीव मानकर उनपर श्रद्धा रखनी चाहिए। विषयोपलब्धि के क्रम में मनुष्य जिस प्रकार पंचेन्द्रियों से शब्द आदि विषयों का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार ये वनस्पति-जीव भी जन्मान्तर-क्रियाओं की भावलब्धिवश स्पर्शेन्द्रिय से विषय का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार, मेघ के गर्जनस्वर से कन्दली, कुडवक आदि की उत्पत्ति होती है, जिससे इनकी शब्दोपलब्धि की सूचना मिलती है।^१ फिर, वृक्ष आदि का आश्रय प्राप्त करके बढ़नेवाली लता आदि को रूप की उपलब्धि होती है और इसी प्रकार घूष देने से किसी वनस्पति को गन्ध की उपलब्धि होती है तथा पानी पटाने से ईख आदि को रस की उपलब्धि होती है; जड़ आदि के काट देने से उत्पन्न संकोच (सिकुड़न) आदि से वनस्पति की स्पर्शोपलब्धि की सूचना मिलती है; कमल आदि के पत्तों के सिमटने से उनकी नींद का संकेत प्राप्त होता है। साहित्यशास्त्र में स्त्रियों के नूपुरयुक्त पैरों के आघात (स्पर्श) से अशोक आदि पेड़ों के विकसित होने की कविप्रसिद्धि प्राप्त होती है और इसी प्रकार असमय में फूल-फल के उद्गम से सप्तपर्ण वनस्पति के हर्षातिरेक का बोध होता है।

अथच, अनेकेन्द्रिय जीव उत्पत्ति और वृद्धिधर्म से युक्त होते हैं तथा उचित पोषण प्राप्त होने से स्निग्ध कान्तिवाले, बलवान्, निरोग तथा आयुष्मवान् होते हैं एवं कुपोषण से कृश, दुर्बल और व्याधिपीडित होकर मर जाते हैं। इसी प्रकार, वनस्पतिकायिक जीव भी उत्पत्ति और वृद्धिधर्मवाले होते हैं तथा मधुर जल से सिक्त होने पर बहुत फल देनेवाले, चिकने पत्तों से सुशोभित, सघन और दीर्घायु होते हैं और फिर तीते, कड़वे, कसैले तथा खट्टे जल से सूँचने पर वनस्पति जीवों के पत्ते मुरझा जाते हैं या पीले पड़ जाते हैं या रुखड़े हो जाते हैं और वे फलहीन होते तथा मर जाते हैं। इस प्रकार के कारणों से उन वनस्पतियों में 'जीव' है, ऐसा मानकर उनकी उचित रीति से रक्षा करनी चाहिए (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २६७)।

संघदासगणी द्वारा उपन्यस्त वृक्ष-वर्णनों में वृक्षों की पूजनीयता और महत्ता का विन्यास तो हुआ ही है, चमत्कृत करनेवाली अनेक मिथकीय चेतना भी समाहित हो गई है। कथाकार ने

१. आधुनिक वैज्ञानिकों की भी यह मान्यता है कि रेडियो आदि की मधुर आवाज के सुनने से फसलों को संवर्द्धन प्राप्त होता है। इससे भी वनस्पति में शब्दोपलब्धि की शक्ति विद्यमान रहने की सूचना मिलती है। साथ ही, इससे, प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु के, वनस्पतियों में भी मनुष्य की तरह जैविक चेतना रहने के सिद्धान्त का समर्थन होता है।

सामान्य वनस्पतियों के अतिरिक्त शाल, सहकार, तिलक, कुरबक, चम्पक, अशोक, (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५५); कमल, कुमुद, कुन्द (तत्रैव : पृ. १५९); पुत्राग, पनस, नालिकेर, पारापत, भव्यगज, नमेरुक (वेगवतीलम्भ : पृ. २५०); सप्तपर्ण, तिन्दूसक (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २६९); बिल्व (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९८); शल्लकी (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३८); अक्षोट (अखरोट), प्रियाल, कोल (बेर), तिन्दुक, इंगुद, कंसार, नीवार (केतुमतीलम्भ : पृ. ३५३) आदि का उल्लेख तो किया ही है, विशेष वनस्पतियों में कल्पवृक्ष, नन्दिवत्स, चित्ररस और रक्ताशोक (चैत्यवृक्ष) का भी वर्णन उपस्थित किया है। यहाँ कथाकार द्वारा कथावस्तु के विकास के लिए सन्दर्भित विशेष वनस्पतियों का विवरण-विवेचन ही प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण होगा।

संघदासगणी ने कल्पवृक्ष की अनेकशः चर्चा की है। भारतीय पौराणिक मान्यता के अनुसार, यह कल्पवृक्ष प्रसिद्ध देवासुर-कृत समुद्र-मन्थन के क्रम में उपलब्ध चौदह रत्नों में अन्यतम है। भारतीय आगम-साहित्य में चौदह रत्नों की कथा कहाँ से और कैसे आई, इसकी गवेषणा प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व की उपलब्धियों के आलोक में अपेक्षित है। क्योंकि, ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें सांस्कृतिक सम्बन्धों और उनके समन्वय की विशाल प्रक्रिया प्रतिबिम्बित है। कल्पवृक्ष मुख्यतया धन-वैभव और सुख-समृद्धि का ही द्योतक है। यह देव और मानव की अभीप्सित-पूर्ति का अलौकिक माध्यम है।

‘अमरकोश’ में, कल्पवृक्ष के पाँच नाम आये हैं और इन्हें देवतरु^१ कहा गया है। पाँच नाम इस प्रकार हैं : मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन। वैष्णव पुराणों में पारिजात की दुर्लभता पर एक कथा की रचना ‘पारिजातहरण’ के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। यह अलभ्य कल्पवृक्ष कृष्ण की पत्नी सत्यनामा को भा गया और जब उन्होंने उसे पाने का हठ ठान ही लिया, तब अन्ततोगत्वा कृष्ण सभस्त विघ्न-बाधाओं को झेलकर स्वर्ग पहुँचे और स्वर्गाधिपति इन्द्र से पारिजात को छीनकर पृथ्वी पर ले आये और उसे अपने उद्यान में प्रतिष्ठित किया। इस कथा में यह स्वर्गीय वृक्ष स्वर्ग और मर्त्य दोनों लोकों की आकांक्षाओं का सम्मिलित प्रतीक बनकर सामने आता है और इन्द्र से कृष्ण की श्रेष्ठता का भी द्योतन करता है।^२

कल्पवृक्ष, कालिदास द्वारा सम्पूर्ण नारी-शृंगार (‘सकलमबलामण्डनं’) को सुलभ करनेवाला स्वर्गीय वृक्ष के रूप में परिकल्पित है। ‘मेघदूत’ में वर्णन है कि अलकापुरी में, पहनने के लिए रंग-विरंगे वस्त्र, नयनों को विविध विलास सिखानेवाली मदिरा, शरीर सजाने के लिए कोंपलों-सहित खिले हुए फूलों के भाँति-भाँति के गहने, कमल की तरह कोमल पैरों को रँगने के लिए महावर आदि समस्त प्रकार की स्त्रीजनोपयोगी शृंगार-सामग्री अकेला कल्पवृक्ष ही प्रस्तुत करता है।^३ शृंगकाल (ई.पू. प्रथम शती) के शासक अग्निमित्र के समकालीन कालिदास की इस उक्ति से यह संकेतित होता है कि प्रसाधनप्रसू कल्पवृक्ष स्वर्ग से पृथ्वी पर आकर लाक्षणिक रीति से ललित

१. पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।

सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥ —अमरकोश, प्रथम काण्ड, स्वर्ग-वर्ग

२. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : डॉ. जगदीश गुप्त का ‘कामनापूर्ति का अलौकिक आधार : कल्पवृक्ष’ शीर्षक लेख; ‘मनोरमा’ (इलाहाबाद), जनवरी (प्रथम पक्ष), सन् १९७८ ई., पृ. २३-२४

३. एकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः। —‘मेघदूत’ : उत्तरमेघ

कलाओं और साहित्य में समाविष्ट हो गया। साँची, भरहुत आदि में शुंगकालीन शिल्पांकित कल्पवृक्ष या कल्पलताएँ इस रूप की हैं कि उनकी शाखाओं, पुष्पों तथा कलिकाओं से विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषण उत्पन्न होते दिखाये गये हैं। कहना न होगा कि कल्पलता कल्पवृक्ष का ही नारी-रूप है।

‘महाभारत’, ‘रामायण’, पुराण, काव्यग्रन्थ आदि समस्त प्राचीन भारतीय वाङ्मय में, सार्वत्रिक रूप से, कल्पद्रुम की कल्पना मनोरथपूरक वृक्ष के रूप में ही की गई है। ‘वसुदेवहिण्डी’ में संघदासगणी ने भी कल्पवृक्ष की, आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले कल्पना-वृक्ष या कामना-वृक्ष के रूप में ही परिकल्पना की है, साथ ही कल्पवृक्षोत्तर काल की परिस्थिति का भी उपन्यास किया है। उन्होंने लिखा है कि ऋषभस्वामी के राज्य में, उत्तरवर्ती काल में वस्त्रवृक्ष या वस्त्र प्राप्त करने के साधन कल्पवृक्ष की कमी पड़ जाने पर भगवान् ने जुलाहों को उपदेश किया। फलतः, उन जुलाहों ने वस्त्र बनाने की विधि का आविष्कार किया। इसी प्रकार, गृहाकार कल्पवृक्ष की कमी पड़ने पर घर बनाने के काम के लिए बड़ई तैयार किये गये (नीलयशालम्भ : पृ. १६३)। कल्पवृक्ष की कल्पना मानव के ऐतिहासिक विकास की उस अवस्था को सूचित करती है, जब वह अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वृक्षों (वनस्पतियों) पर निर्भर करता था। इसी तरह कामधेनु की कल्पना गोवंश (कृषि और पशुपालन) पर उसकी पूर्णतः निर्भरता की ऐतिहासिक अवस्था को संकेतित करती है।

संघदासगणी के वर्णन से सूचित होता है कि पुराकाल में शिबिकाओं में कल्पवृक्ष अंकित करने की प्रथा थी। वसुदेव जब कामदेव सेठ की इच्छा के अनुसार राजकुल में जाने के विचार से बाहर निकले थे, तब उन्होंने भवन के द्वार पर कुशल शिल्पी के बुद्धिसर्वस्व से निर्मित, भौरों के लिए प्रलोभन-स्वरूप कल्पवृक्षों से अंकित तथा कुतूहली जनों के लिए नयनप्रिय शिबिका तैयार देखी थी (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २८१)।

महाभारत के भीष्मपर्व में इस बात का उल्लेख है कि उत्तर कुरुप्रदेश की स्त्रियाँ कल्पवृक्ष के वैभव का प्रचुर उपयोग करती थीं। इसी की समानान्तर चर्चा संघदासगणी ने भी की है। उन्होंने लिखा है कि श्रीसेन प्रभृति चारों प्राणी देवकुरु (उत्तरकुरु)-क्षेत्र के प्रभाववश कल्पवृक्ष से प्राप्त परम विषय-सुख का अनुभव करते हुए, तीन पत्न्योपम जीवित रहकर मृदुल भावनापूर्वक देवायुष्य अर्जित करके, सुख से काल को प्राप्त हुए और चारों जीव सौधर्म कल्प में देव के रूप में उत्पन्न हुए (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२३)।

‘स्थानांग’ (१०.१४२) के अनुसार, संघदासगणी ने भी देवलोक-स्वरूप उत्तरकुरु हृद के तट पर भोगोपभोग की सामग्री को तत्क्षण उत्पन्न करनेवाले दशविध कल्पवृक्ष के होने का उल्लेख किया है : “ततो तमिं देवलोक्यभूए दसविहकम्पतरुभ्यभोगोपभोगमुड्याइ कथाइ उत्तरकुरुहृतीरदेसे असोणपायवच्छायाए वेरुलियमणिसिलातले नवनीयसरिससंफासे सुहिनसण्णाइ अच्छामु”; (नीलयशालम्भ : पृ. १६५)। ‘स्थानांग’ में लिखा है कि सुषमा-सुषमाकाल में दस प्रकार के वृक्ष^१

१. सुसमसुसमाए णं समए दसविहा रुक्खा उवभोगत्ताए हव्वमागच्छन्ति, तं जहा—

मत्तंमया य धिगा, तुडितंगा दीवजोति चितंगा।

चिततरसा मणियंगा, मेहागारा अणियणा य ॥ —स्थानांग : १०.१४२

(कल्पवृक्ष) उपभोग में आते हैं। ये हैं : १. मदांगक (मादक रसवाले), २. भृंग (भाजनाकार पत्तोंवाले), ३. त्रुटितांग (वाद्यध्वनि उत्पन्न करनेवाले), ४. दीपांग (प्रकाश करनेवाले), ५. ज्योतिषांग (अग्नि की भाँति ऊष्मा-सहित प्रकाश करनेवाले), ६. चित्रांग (मालाकार पुष्पों से लदे हुए), ७. चित्ररस (विविध प्रकार के मनोज्ञ रसवाले) ८. मण्यंग (आभरणाकार अवयवोंवाले), ९. गेहाकार (घर के आकारवाले) और १०. अनग्नांग (नग्नत्व को ढकने के उपयोग में आनेवाले)। कहना न होगा कि संघदासगणी की कल्पवृक्ष-विषयक कल्पना 'स्थानांग' जैसे आगम-ग्रन्थों पर ही आधारित है।

संघदासगणी ने स्पष्ट लिखा है कि सृष्टि के प्रारम्भकाल, अर्थात् अवसर्पिणी के तीसरे सुखमय-दुःखमय काल के पिछले त्रिभाग में पृथ्वी नयनमनोहर थी। इसकी सतह सुगन्धित, मृदुल और पाँच वर्ण के मणिरत्न से युक्त तथा सरोवर के तल भाग के समान समतल थी। इस पृथ्वी पर मधु, मदिरा, दूध एवं क्षौद्ररस के समान निर्मल और प्राकृतिक जल से भरी हुई, रत्न और सोने की सीढ़ियोंवाली वापियाँ, पुष्करिणियाँ और दीर्घिकाएँ थीं। मतांगक, भृंग, त्रुटित, दीपशिखाज्योति, चित्रांग, चित्ररस, मनोहर, मण्यंग, गृहाकार और आकीर्ण नामक दशविध कल्पवृक्ष क्रमशः मधुर, मद्य, भाजन, श्रवणमधुर शब्द, दीपक, प्रकाश, माल्य, स्वादिष्ट भोजन, भूषण, भवन और इच्छित उत्तम वस्त्र की आपूर्ति करते थे (नीलयशालम्भ : पृ. १५७)। संघदासगणी (तत्रैव) द्वारा चर्चित वर्तमान अवसर्पिणी-काल के भारतवर्ष के जम्बूद्वीपवासी सात कुलकरों (विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी या यशस्विन्, अभिचन्द्र, प्रसेनजित्, मरुदेव और नाभिकुमार) में प्रथम विमलवाहन के लिए सात प्रकार के वृक्ष निरन्तर उपभोग में आते थे : मदांगक, भृंग, चित्रांग, चित्ररस, मण्यंग, अनग्नक और कल्पवृक्ष (स्थानांग : ७.६५)।

संघदासगणी ने कल्पवृक्ष के नामान्तर सन्तानक का भी दो-एक स्थलों पर उल्लेख किया है। एक स्थल पर कथाकार द्वारा प्रस्तुत संकेत से यह ज्ञात होता है कि पुरायुग में मन्दर पर्वत की गुफाओं में सन्तानक या कल्पवृक्ष भी उगते थे। गन्धर्वदत्तालम्भ की कथा में वर्णन है कि नवजात चारुदत्त, जातकर्म-संस्कार के बाद, धाई से परिरक्षित और परिजनों से पोषित होकर मन्दराचल की कन्दराओं से उत्पन्न कल्पवृक्ष की तरह निर्विघ्न भाव से बढ़ने लगा : ("ततो धाड्यपरिक्लिप्तो परियणेण लालिज्जंतो मंदरकंदरुग्गओ विव संताणकपायवो निरुवसग्गं वड्ढिओ"; गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३४)।

संघदासगणी द्वारा उल्लिखित कल्पवृक्ष के अतिरिक्त, नन्दिवत्स और चित्ररस वृक्ष भी स्वर्गीय वृक्ष के समकक्ष थे। कथा है कि शान्तिस्वामी महाभिनिष्क्रमण करके, एक हजार देवों द्वारा ढोई जाती हुई सिद्धार्थशिबिका पर चढ़कर सहस्राभ्रवन में आये और नन्दिवत्स वृक्ष के नीचे तप करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४१)। हरिवंश-कुल की उत्पत्ति में कथाकार ने लिखा है कि हरिवर्षवासी मिथुन की जब एक करोड़ पूर्व की आयु शेष थी, तभी वीरकदेव को उन दोनों के प्रति वैरभाव का स्मरण हो आया। मिथुन की एक लाख वर्ष की आयु जब शेष रह गई, तभी चम्पा राजधानी में इक्ष्वाकु-कुल का राजा चन्द्रकीर्ति पुत्रहीन स्थिति में मृत्यु को प्राप्त हुआ। वहाँ नागरकों के लिए राजा बनाने की इच्छा से उस मिथुन को नरकगामी जानकर भी, वीरक उसे हरिवर्ष से उठा ले आया। फिर, हरिवर्ष से चित्ररसवृक्ष ले आकर वीरक बोला : 'इस मिथुन के लिए मांसरस से सिंचित इस वृक्ष के फलों को दौं। इसके बाद वीरक ने उस मिथुन के कद को धनुष्य (चारहाथ)-प्रमाण ऊँचा कर दिया (पद्मावतीलम्भ : पृ. ३५७)। यहाँ कथाकार द्वारा

की गई मांसरस से चित्ररसवृक्ष के सिंचित होने की कल्पना परम अद्भुत है। इसीलिए जैनागम (स्थानांग : १०.१६०) में हरिवंश-कुल की उत्पत्ति को दस आश्चर्यों में गिना गया है।

कथाकार ने कमल के फूलों, कदलीवृक्ष और कुसुमित अशोकवृक्षों का तो बार-बार वर्णन किया है, किन्तु चैत्यवृक्ष के सन्दर्भ में रक्ताशोक की अधिक चर्चा की है और इसे कल्पवृक्ष के समान कहा है। श्रमण-संस्कृति में चैत्य शब्द जिनालय या बुद्धालय के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् वह पवित्र धर्मस्थल, जहाँ तीर्थंकर या बुद्ध के अतिरिक्त श्रमण साधु विहार के क्रम में आकर ठहरते और प्रवचन करते थे। 'मेघदूत' के प्रसिद्ध टीकाकार वल्लभदेव ने भी चैत्य का अर्थ बुद्धालय ही किया है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल का विचार है कि स्तूप और वृक्ष इन दो अर्थों में चैत्य शब्द प्रयुक्त होता है, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वृक्ष अर्थ अभिप्रेत है।^१ कथाकार ने राजगृह के गुणशिलक और पुण्यभद्र चैत्यों का नामोल्लेख किया है और शान्तिस्वामी के चैत्य की धर्म-परिषद् की चर्चा करते हुए लिखा है कि जहाँ जगद्गुरु तीर्थंकर प्रसन्नमुख बैठे थे, वहाँ नन्दिवत्स वृक्ष दिव्य प्रभाव से लोकचक्षु को आनन्द देनेवाले कल्पवृक्ष के समान सुन्दर रक्ताशोक से आच्छादित हो गया (केतुमतीलम्प : पृ. ३४१)।

अरस्वामी भी महाभिनिक्रमण के समय शिबिका पर, जिसमें कल्पवृक्ष के फूल सजे थे और उनपर भौंर गुंजार कर रहे थे तथा उसके स्तूप (गुम्बद) में विद्रुम, चन्द्रकान्त, पद्मराग, अरविन्द, नीलमणि और स्फटिक जड़े हुए थे, सवार होकर सहस्राग्रवन में सहकार-वृक्ष (आम्रवृक्ष) के नीचे आकर बैठे। उनके बैठते ही तत्क्षण आम्रवृक्ष मंजरियों से मुस्कुरा उठा, कोयल मीठी आवाज में कूकने लगी और काले भौंर गुंजार करने लगे (तत्रैव : पृ. ३४७)।

इस प्रकार, वृक्षों के वर्णन के क्रम में कथाकार ने अपने सूक्ष्मतम प्राकृतिक और शास्त्र-गम्भीर अध्ययन का परिचय दिया है। कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' में उपलब्ध वनों और वनस्पतियों की बहुरंगी उद्भावनार्थ सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से अपना पार्यायनिक महत्त्व रखती हैं। यहाँ दिग्दर्शन-मात्र प्रस्तुत किया गया है।

भोजन-सामग्री :

प्रस्तुत अध्ययन की भूमिका में लोकजीवन के चित्रण के प्रसंग में संघदासगणी-कृत भोजन-सम्बन्धी वर्णनों का लेखा-जोखा बहुलांशतः किया जा चुका है। यहाँ कतिपय भोज्य-सामग्री का उल्लेख अपेक्षित है। कहना न होगा कि संघदासगणी का भोज्य-सामग्री-विवरण बहुधा आगम-ग्रन्थों के आलोक में ही उपन्यस्त हुआ है। 'स्थानांग' (४.५१२-१३) में मनुष्यों और देवों के चार-चार प्रकार के आहारों का उल्लेख हुआ है। अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ये चार मनुष्यों के आहार हैं और वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श इन चार गुणों से युक्त आहार देवों के होते हैं। पुनः 'स्थानांग' (६.१०९) में ही भोजन के छह प्रकार के परिणाम निर्दिष्ट हुए हैं। जैसे : मनोज्ञ (मन में आह्लाद उत्पन्न करनेवाला); रसिक (रसयुक्त), प्रीणनीय (रस, रक्त आदि धातुओं में समता लानेवाला); बृंहणीय (मांस को बढ़ानेवाला); मदनीय (काम की उत्तेजना पैदा

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : 'मेघदूत : एक अनुचिन्तन' : श्रीरंजन सुरिदेव, पृ. ३३९

करनेवाला) और दर्पणीय (दर्प या पुष्टि प्रदान करनेवाला)। 'वसुदेवहिण्डी' में कथाकार ने प्रायः इसी प्रकार की भोज्य-सामग्री का वर्णन किया है।

अगडदत्त ने जंगल में वनहस्तियों द्वारा विद्रावित सार्थों के भाग जाने का अनुमान किया था। भागते समय वे जिन तैयार भोज्य पदार्थों को छोड़ गये थे, उनमें समिति (मैदे की बनी हुई पूरी जैसी वस्तु), चावल (भात), उड़द की बनी हुई सामग्री तथा घी की फूटी हुई हॉंडी और भात की थाली भी थी (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४४)। इससे स्पष्ट है कि उस समय के लोग घृतबहुल आटा, चावल और उड़द की बनी सामग्री थाली में रखकर भोजन करते थे, और निश्चय ही, ये सभी भोज्य पदार्थ 'स्थानांग' में वर्णित भोजन के परिणाम-प्रकारों का प्रतिनिधित्व करनेवाले हैं।

उस समय के भोजनों में अनेक प्रकार के खाद्य, भोज्य और पेय पदार्थ सम्मिलित रहते थे और भोजन भी बड़े विधि-विधान के साथ किया जाता था। धम्मिल्ल जन विविध वसन-आभूषणों से सज्जित होकर युवराज एवं ललितगोष्ठी के अन्य सदस्यों के साथ उद्यान-यात्रा पर गया था, तब वहाँ किंकरों ने अपूर्व पटमण्डप खड़ा किया और कनात (प्रा. 'पडिसर') का घेरा डाल दिया। कुलवधुओं के शयन के योग्य बिछावन बिछाये गये। युवराज की आज्ञा से सुन्दर भूमिभाग में भोजन-मण्डप तैयार किया गया। टोकरियों से फूल बिखरे गये। यथायोग्य आसन तैयार किये गये। गन्ध, वस्त्र, आभूषण और माला से सजे गोष्ठी के सदस्य अपने-अपने वैभव का प्रदर्शन करते हुए यथानिर्दिष्ट मणिनिर्मित आसन पर बैठे। सुवर्ण, रत्न और मणि से निर्मित बरतन सबको दिये गये। धम्मिल्ल भी अपनी प्रिया विमलसेना के साथ बैठा और कमलसेना भी उनकी बगल में ही बैठी। सबके हाथ धो लेने पर नानाविध खाद्य, भोज्य और पेय परोसे गये। सभी परस्पर विशेष प्रीति अनुभव कर रहे थे। भोजन के बाद मदविह्वल युवतियों ने गीत-वाद्य के साथ नृत्य प्रस्तुत किया। कार्यक्रम के अन्त में गोष्ठी के सदस्यों-सहित युवराज, धम्मिल्ल का अभिनन्दन करता हुआ उठा और सभी अपने-अपने यान-वाहन पर सवार होकर घर की ओर चल पड़े (तत्रैव : पृ. ६४)। निश्चय ही, यह सांस्कृतिक कार्यक्रम आधुनिक 'पिकनिक' की प्रथा की अतिशय समृद्ध और कलारुचिर पूर्व-परम्परा की ओर संकेत करता है।

संघदासगणी-कृत भोजन-सामग्री के वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस युग के भोज्यात्रों में गेहूँ और चावल की ही प्रधानता रहती थी। घी का सेवन प्रचुर मात्रा में होता था। उस समय 'कांकटुक' (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४३) नामक एक निषिद्ध अन्न भी होता था। 'प्राकृतशब्दमहार्णव' के अनुसार, यह अन्न कंकड़ की भाँति दुर्भेद्य माष या उड़द जाति का अन्न था, जो कभी सिद्ध नहीं होता था। कथाकार ने दुस्साध्य या दुष्पाच्य कर्मविपाक की तुलना में कांकटुक अन्न का उपमान के रूप में प्रयोग किया है। उस युग में मिठाइयों में लड्डू और घेबर (घयपुर < घृतपूर : मदनवेगालम्भ : पृ. २३९) का विशेष प्रचलन था। घेबर ताई (ताविका; तत्रैव) में घी डालकर पकाया जाता था ('घयपुण्णा ताविगाए पच्चिउमारद्धा' : तत्रैव) रसोइए को प्रीतिदान या तुष्टिदान (आधुनिक अर्थ में 'टिप्प') देने की भी प्रथा थी ('सयसहस्सं च मे तुष्टिदाणं दाहिति त्ति' ; पुण्डालम्भ : पृ. २११)।

इस प्रकार, कथाकार ने अपनी महत्कथा में तद्युगीन भोजन-सामग्री का बड़ा रुचिर वर्णन उपन्यस्त किया है। कथाकार द्वारा वर्णित भोजन-सामग्री और भोजन-मण्डप से तत्कालीन

सांस्कृतिक वैभवशाली आहार-परम्परा का मनोरम संकेत उपलब्ध होता है। भारतीय संस्कृति में आहार और विहार को अतिशय महत्त्व प्रदान किया गया है। कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' के सम्पूर्ण कथा-परिवेश में आहार-विहार का अनवद्य आदर्श परिचित्रित हुआ है।

नरक और स्वर्ग :

सामान्य सांस्कृतिक लोकजीवन में भोजन-विषयक रुचि-वैचित्र्य और पाक-वैविध्य तो प्राप्त होता ही है, साथ ही स्वर्ग-नरक, देव-देवी, भूत-पिशाच, यक्ष-राक्षस, विद्याधर-अप्सरा आदि की कल्पनाएँ एवं अनेकविध यात्रिक आविष्कारों की धारणाएँ भी अनुस्यूत मिलती हैं। 'वसुदेवहिण्डी' में चूँकि लोकविश्वास से संवलित कथाओं का परिगुम्फन हुआ है, इसलिए मिथकीय चेतनापरक उक्त तथ्यों का इसमें सहज ही समावेश पाया जाता है। कहना न होगा कि लोकाश्रयी चिन्ताधारा के महान् कथाकार संघदासगणी ने लोकजीवन से प्रकट होनेवाली साहित्यिक विधाओं का न केवल साहित्यिक विन्यास किया है, अपितु उन्हें नया संवर्द्धन भी दिया है, साथ ही भारतीय बद्धमूल धारणाओं का सांस्कृतिक संयोजन करते हुए, उन्हें मनोवैज्ञानिक और परा-प्राकृतिक परिकल्पना के साथ अतिशय स्फूर्ति अभिव्यक्ति प्रदान की है। धार्मिक विश्वासों से आश्वस्त मानवीय वृत्तियों के उदार और रमणीय रूपों का मार्मिक एवं भावात्मक रेखा-विधान करनेवाले कथाकार ने, धार्मिक आस्थामूलक उपादानों के युगपरिबद्ध चिन्तन की प्रस्तुति के क्रम में, परम्पराओं का खण्डन और खण्डन-प्रधान परम्पराओं का समुन्नयन प्रदर्शित किया है, इसीलिए उनकी कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में श्रामण्य-परम्परा की उच्चता के अनेक अनास्वादित आयामों का संघटन हुआ है। उद्बोधनात्मक कथाकाव्य होने के कारण इस महार्थ कृति में कथाकार का, अपने विचारों को अभिव्यक्त करने का प्रयास तो परिलक्षित होता ही है, सामान्य लोगों के उद्बोधन की चिन्ताएँ भी प्रस्फुटित हुई हैं। साथ ही, कथाकार में स्वर्ग-नरक, देव-देवी आदि के वर्णनों को ततोऽधिक मोहक और सरस बनाने का आग्रह है, तो उन्हें अधिक-से-अधिक चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति देने की चेष्टा भी उद्गीर्ण हुई है। यहाँ उपरिसंकेतित लोकधारणाओं पर समासित प्रकाश-निक्षेप अभीप्सित होगा।

नरक : प्राचीन भारतीय शास्त्रों में नरक का प्रचुर उल्लेख प्राप्त होता है। ब्राह्मण-परम्परा के पुराण-ग्रन्थों एवं श्रमण-परम्परा के आगम-ग्रन्थों में नरक के अनेक रूप मिलते हैं, जिनमें नारकियों को प्राप्त होनेवाली यम-यातनाओं का लोमहर्षक वर्णन किया गया है। 'गरुडपुराण' में मरणोत्तर जीवन की विचारधारा का सर्वाधिक विस्तार पाया जाता है। यमलोक तथा नरकों का वर्णन और मृत्यु के बाद किये जानेवाले कर्मकाण्डों का विधि-विधान ही इस पुराण की सबसे बड़ी वर्ण्य विशेषता है। 'भगवद्गीता' में नरक की कल्पना अधमगति को सूचित करनेवाली आसुरी योनि के रूप में की गई है तथा काम, क्रोध और लोभ इन तीनों को आत्मनाशक नरक का द्वार कहा गया है।^१ 'ईशोपनिषद्' में नरक की कल्पना अज्ञान और अन्धकार से भरे 'असुर्य' लोक के रूप में की गई है, जहाँ अधःपतित आत्मावालों या आत्मघातियों को घोर दुर्गति भोगने

१. आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ —गीता : १६. २०-२१

को विवश होना पड़ता है।^१ 'स्थानांग' में नरक को ही अधोलोक कहा गया है, जहाँ चार प्रकार के अन्धकार रहते हैं : नरक, नैरयिक, पापकर्म और अशुभ पुद्गल (४.५०६)। आगमानुसार, संध्यासंगी ने अधोलोक, यानी नरक की ओर उत्तरोत्तर नीचे जानेवाली सात पृथ्वियों या भूमियों की चर्चा कथाप्रसंगवश की है। ये सातों भूमियाँ इस प्रकार हैं : रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, तमतमा और महातमा।^२ कथाकार ने सातों नरकभूमियों का उल्लेख करने के क्रम में पाँच नरकों का नामतः वर्णन किया है। जैसे अप्रतिष्ठान, तमतमा, रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और सर्पावर्त। इसी प्रसंग में कथाकार ने नरक, यानी यमलोक के समष्ट्यात्मक स्वरूप^३ का अतिशय लोमहर्षक चित्रण किया है, जो संक्षेपतः इस प्रकार है :

सुनने में भी प्रतिकूल लगनेवाले सारे नरक अमावस की रात की भाँति अन्धकारपूर्ण होते हैं; भयजनित रुदन और प्रलाप से भरे होते हैं; वहाँ सड़ी हुई लाश की बदबू फैलती रहती है; नरकों की भूमि बिच्छू के डंक के समान दुःसह और कर्कश स्पर्शवाली तथा दुर्गम होती है, जहाँ नारकी पुरुष नाम, आयु और अव्यक्त मनुष्यदेह तथा उस भव के योग्य पाँच पर्याप्तियों को प्राप्त कर पाप के उपलेप से मलिन तथा असह्य ठण्डक, गरमी, प्यास, भूख और वेदना से छटपटाते हुए दीर्घकाल तक दुःख भोगते हैं। गहन अन्धकार से भरे एक नरक से दूसरे नरक में भटकते हुए नारकी जीवों का जब आपस में स्पर्श होता है या भयंकर आवाज होती है, तभी वे समझते हैं कि दूसरे भी यहाँ हैं। तीर्थंकरों के जन्म, निष्क्रमण और केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय जब शुभ पुद्गल-परिणाम से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, तभी नारकी पुरुष एक दूसरे को देख पाते हैं। अवधिज्ञान के कारण पूर्वजन्म के वैरानुबन्ध का स्मरण हो आने से नरकवासी एक दूसरे को देखकर भाला, लाठी, गुल्ले, तीर, मूसल आदि विकुर्वित कर परस्पर प्रहार करते हैं। प्रहार से शरीर के विदीर्ण हो जाने पर वे मूर्च्छित हो जाते हैं, फिर क्षणभर में ही प्रकृतिस्थ होकर एक दूसरे को नाखूनों से नोचते और दाँतों से काटते हैं और अमर्ष से जलते हुए वे एक दूसरे का वध करते हैं।

प्रतिधर्मी असुर भी, दूसरे के वध से हर्षित होकर नारकीय आवास में पहुँचकर खेलने की चेष्टा करते हैं—मांस के लोभवश मृत मनुष्य के शव को कतरनी द्वारा अनेक प्रकार से काटते हैं और फिर मांसखण्डों को सीसे और सोने-चाँदी आदि रसायन के खौलते हुए रस में पकाते हैं। इस प्रकार, वे अपनी पूरी शक्ति से नारकी को व्यथित करते हैं। चीखते-चिल्लाते दुष्ट हत्यारे नारकी उन असुरों से अपना दुःख कहते हैं, फिर भी वे असुर, दीन भाव से किलकिलाते हुए नारकी जीवों को लोहे की तीखी कीलों से भरे क्रोधनक और कूटशाल्मलि के पेड़ों पर लटका देते हैं और ऐसी दुःखार्त स्थिति में नारकी जब विलाप करने लगते हैं, तब नरकपाल उन्हें बाहर खींच लाते हैं और खिसियाते हुए वे, उन्हें खारे पानी से भरी, हरे-भरे रमणीय पेड़ों से सुशोभित तटवाली वैतरणी नदी का मिथ्या दर्शन कराते हैं और कहते हैं : 'ठण्डा पानी पीओ।' यह सुनकर तृप्ति का अनुभव

१. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महानो जनाः॥(मन्त्र ३)

२. गरुडपुराण में भी सात पाताल (अतल, वितल, नितल, गभस्तिमत, महाख्य, सुतल, और अग्र्य) और उनकी सात भूमियाँ (कुष्णा, शुक्ला, अरुणा, पीता, शर्करा, शैला और कांचना) का उल्लेख है।—ड. पूर्वाङ्क, पातालनरकादिवर्णन, प्रकरण २९

३. तुलना के लिए द्रष्टव्य गरुडपुराणोक्त यमलोकविवरण, उत्तराङ्क, प्रेतकल्प, प्रकरण २३

करते हुए दुर्बल गतिवाले पूर्वजन्म की दुष्कृति के भोक्ता नारकी जीवों को वे नरकपाल खारे पानी से भरी वैतरणी नदी में फेंक देते हैं।

पुनः वे नरकपाल नारकी जीवों को असिपत्रासुर द्वारा निर्मित नयनमनोहर असिपत्रवन दिखलाते हैं। दीपशिखा के चारों ओर नाचते पतंगों की भाँति नारकी जीव असिपत्रवन के, तीखी तलवार और नुकीले त्रिशूल जैसे पत्ते के चारों ओर चक्कर काटते हैं। असिपत्रवन में प्रवेश करते ही तत्क्षण नारकी जीवों पर दुःखदायक अभिघात होने लगता है। हवा के झोंके से गिरते पत्तों से उनके शरीर कट जाते हैं, फलतः वे अनाथता का अनुभव करते हुए चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, श्याम और शबल नाम के प्रतिधर्मों, 'एक पैरवाले', भयंकराकृति कौए और बगुले उत्पन्न कर वे नरकपाल नारकी के शरीर की खींचतान करते हैं। 'स्वामी ! बचाओ' इस प्रकार चिल्लाते हुए नारकी जीवों को वे नरकपाल कलम्बुबालुका (नरक की नदी की गरम बालू) पर लोटने को बाध्य करते हैं और हँसते हुए वे (नरकपाल) आग उत्पन्न कर, उसकी ज्वाला में नरकवासियों को झुलसाते हैं तथा परस्त्रीलम्पट नारकियों से वे स्वनिर्मित अग्निमयी स्त्रियों का आलिंगन करते हैं (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७०)।

आगमिक मूल्यों को आदर देनेवाले अधीती कथाकार ने यथाप्रस्तुत नरक के स्वरूप-निरूपण में आतंककारी नरक की विभीषिका का व्यतिरेकी चित्र तो उपस्थित किया ही है, वर्णन की शैली में भी, उसकी बिम्बविधायिनी प्रतिभा और विषयानुरूप सन्दर्भ की औचित्यपूर्ण परिकल्पना का ततोऽधिक श्लाघनीय उद्भावन हुआ है।

कथाकार द्वारा कथाप्रसंग में 'अप्रतिष्ठान' नरक की चर्चा की गई है। प्रसंग से ऐसा ज्ञात होता है कि पूजा के निमित्त न्यस्त धन का अपहरण करनेवाला और निरन्तर रौद्रध्यान (हिंसा आदि क्रूर कर्म का चिन्ता) में लीन रहनेवाला अप्रतिष्ठान नरक का भागी होता था। अपने बालवयस्य सुरेन्द्रदत्त से चैत्यपूजा के निमित्त प्राप्त धन को रुद्रदत्त ब्राह्मण ने जूआ और वेश्याप्रसंग में नष्ट कर दिया था, इसलिए उसका मोक्षमार्ग अवरुद्ध हो गया और वह दर्शनमोहनीय कर्म (तत्त्वश्रद्धा का प्रतिबन्धक कर्म) से उत्पन्न दीर्घकालीन दुःखानुभूति और रौद्रध्यान में लीन रहने के कारण अप्रतिष्ठान नरक का भागी हुआ, जहाँ उसे अविराम दुःख का अनुभव करना पड़ा (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. ११३)। इसी प्रकार, अप्रतिष्ठान नरक की चर्चा में एक और कथाप्रसंग है। अचल (बलदेव का रूप) ने जब सुवर्णकुम्भ साधु से अपने मृत भाई त्रिपृष्ठ की गति के बारे में पूछा, तब साधु ने बताया कि त्रिपृष्ठ ने आस्रव (कर्मबन्ध) के द्वार को न रोक पाने तथा अतिशय रौद्र अध्यवसाय में आसक्त रहने के कारण अनेक असातावेदनीय कर्म (दुःख के कारणभूत कर्म) अर्जित करके नरक का आयुध प्राप्त किया है, फलतः वह 'अप्रतिष्ठान' नामक नरक में उत्पन्न हुआ है, जहाँ वह अपार अशुभ कष्ट भोग रहा है (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१५)।

अधोलोक की छठीं भूमि पर तमतमा नरक है। कथाकार ने तमतमा नरक का भी वर्णन किया है। कथा है कि महाहिंसा, परिग्रह और असंयम में लिप्त तथा कामभोग के प्रति आग्रहशील राजा अश्वघ्रीव अपने अमात्य हरिश्मश्रु के नास्तिकवादी मत से पाप संचित करके

तमतमा नाम की, नरक की छठीं भूमि पर तैंतीस सागरोपम काल (दस कोटाकोटि पत्न्योपम) तक दुःख भोगता रहा और तिर्यक्, नारकीय और कुमनुष्य-भव में चक्कर काटता रहा (बन्धु-मतीलम्भ : पृ. २७८) ।

नरक की पहली भूमि रत्नप्रभा का उल्लेख करते हुए कथाकार ने जिस कथाप्रसंग की अवतारणा की है, उसमें कहा गया है कि कंचनपुर के दो वणिक् रत्न अर्जित करने के लिए एक साथ लंकाद्वीप गये । रत्न कमा करके वे दोनों प्रच्छन्न भाव से सन्ध्या में कंचनपुर लौटे । कुवेला में रत्न की कहीं चोरी न हो जाय, यह सोचकर दोनों ने अर्जित रत्न को कटरेंगनी के झाड़ के नीचे गाड़ दिया और रात में दोनों अपने-अपने घर चले गये । किन्तु सुबह होने पर उनमें एक वणिक् कटरेंगनी के झाड़ के नीचे गड़े हुए रत्न को निकाल ले गया । उसके बाद यथानिश्चित समय पर दोनों साथ वहाँ आये और रत्न को न देखकर एक दूसरे पर शंका करने लगे । फिर, क्रमशः दोनों में बाताबाती, लतमजुत्ती, नौच-खसोट और पथराव शुरू हो गया । इस प्रकार, रौद्रध्यान की स्थिति में दोनों मरकर रत्नप्रभा नामक पहली नरकभूमि में उत्पन्न हुए (प्रतिमुख, पृ. ११२) ।

इसी प्रकार, नरक की दूसरी भूमि शर्कराप्रभा एवं अन्य नरकभूमियों के सन्दर्भ में कथाकार ने एक कथाप्रसंग में बताया है कि नास्तिकवादी हरिश्मश्रु माया की बहुलता के कारण तिर्यक् (पशु) योनि की आयु प्राप्त करके असातावेदनीय (दुःख के कारणभूत कर्म) की शृंखला में बँधकर मत्स्ययोनि में उद्भूत हुआ । उस योनि में वह जीव (पंचेन्द्रिय)-वध करके मांसाहार में आसक्त रहकर एक करोड़ पूर्व तक जीवित रहा और नारकी आयु अर्जित कर छठीं पृथ्वी (तमतमा) पर उत्पन्न हुआ । वहाँ भी पुद्गलपरिणामजनित परस्पर उत्पीडन-निमित्तक दुःख को बाईस सागरोपम काल तक भोगकर सर्पयोनि में उद्भूत हुआ । वहाँ भी उस भव से सम्बद्ध रोष से कलुषितचित्त होकर मरा और पाँचवीं पृथ्वी (धूमप्रभा) पर सत्रह सागरोपम की अवधि तक नारकीय योनि में रहा । वहाँ से फिर तिर्यक् योनि की आयु प्राप्त कर बाघ बन गया । वहाँ भी वह प्राणिवध से मलिनहृदय होकर मरा और चौथी पृथ्वी (पंकप्रभा) पर उत्पन्न हुआ । वहाँ वह नारकी के रूप में दस सागरोपम काल तक कष्ट भोगकर मरा और कंकपक्षी (बगुला) के रूप में उत्पन्न हुआ । वहाँ भी जीववध में उद्यत रहने से दारुण चित्त लेकर मरा और तीसरी पृथ्वी (बालुकाप्रभा) पर उत्पन्न हुआ । वहाँ वह सात सागरोपम काल तक असह्य ताप की वेदना और परम अधार्मिक देवों के उत्पीडन का अनुभव करके साँप हो गया । वहाँ भी दुःख और मृत्यु का कष्ट भोगकर पुनः शर्कराप्रभा नाम की दूसरी पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ । वहाँ तीन सागरोपम काल तक दुःखाग्नि में जलता रहा, फिर संज्ञी (पंचेन्द्रिय) जीव में उद्भूत हुआ । उसके बाद वह नरक की पहली रत्नप्रभा भूमि पर नारकी के रूप में उत्पन्न हुआ (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७७-२७८) ।

इस प्रकार, कथाकार ने यहाँ संक्षिप्त रूप में छह नरकभूमियों और उनके दुःखभोग की अवधि तथा स्वरूप का वर्णन उपन्यस्त कर दिया है । इसी प्रकार, अन्यत्र भी पाँचवीं पृथ्वी (धूमप्रभा) का वर्णन आया है । एक शाखा से दूसरी शाखा पर क्रीडापूर्वक उछलते-कूदते वानरयूथ के अधिपति ने जब कुक्कुट सर्प (पूर्वभव का श्रीभूति पुरोहित) को पकड़कर मार डाला था, तब वह पाँचवीं पृथ्वी में सत्रह सागरोपम काल तक के लिए नारकी हो गया था और वहाँ उसने सुखदुर्लभ परम अशुभ निष्प्रतिकार्य वेदना का अनुभव किया था (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५७) ।

कथाकार ने नरक की सातवीं पृथ्वी (महातमा) का भी वर्णन किया है। चौदहवें मदनवेगालम्भ (पृ. २४०) की कथा है कि सुभौम ने जब चक्रवर्ती-रत्नों का परित्याग कर दिया, तब देवलोक-निवासी चित्रसेन ने पूर्वभूव के राजवैर का स्मरण करके उसे समुद्र में डुबाकर मार डाला। चूँकि सुभौम ने कामभोग का त्याग नहीं किया था, इसलिए वह मरकर सातवीं नरकभूमि में चला गया। इसी प्रकार, नारकी अजगर (पूर्वभूव का श्रीभूति पुरोहित) पाँचवीं पृथ्वी से उद्धर्तित होकर, चक्रपुरनगर में दारुण नामक शौकरिक (कसाई) की कष्ट नाम की पत्नी से अतिकष्ट नामक बालक के रूप में उत्पन्न हुआ। निरन्तर जीवहत्या के कारण अतिकष्ट ने बहुत पाप अर्जित किया और जंगली आग की लपटों में झुलस जाने से उसकी मृत्यु हुई। मरकर वह सातवीं पृथ्वी (महातमा नरक) में तैंतीस सागरोपम कालावधि तक के लिए नारकी हो गया, जहाँ वह अतिशय शीतवेदना से अभिभूत-रहने की विवशता झेलते हुए बहुत दुःख के साथ समय बिताने लगा (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २६१)। इस कथा से स्पष्ट है कि महातमा नरक में घोर अन्धकार तो रहता ही है, अतिशय ठण्ड के कारण भी नारकियों को भयानक कष्ट भोगना पड़ता है।

कथाकार ने सर्पावर्त का अतिशय कष्टकारक नरकावास के रूप में वर्णन किया है। पीठिका-प्रकरण (पृ. ८९) में एक कथा है कि हस्तिनापुर में पुण्यभद्र और मणिभद्र नाम के दो भाई थे। दोनों महेन्द्र साधु की वन्दना के लिए प्रस्थित हुए। रास्ते में उन्हें, कन्धे से पंछी का पिंजरा लटकाये एक चण्डाल दिखाई पड़ा, जिसके पीछे-पीछे पिंगला नाम की एक कुतिया चल रही थी। दोनों भाइयों को चण्डाल और कुतिया पर अकारण स्नेह उमड़ आया। तब उन्होंने इसके बारे में साधु से प्रश्न किया। साधु ने उन्हें बताया कि पूर्वभूव में चण्डाल और कुतिया उन दोनों भाइयों के माता-पिता थे, जो बहुत पाप अर्जित करके मरने पर सर्पावर्त नामक नरक में पाँच पल्लोपम काल तक दुःख अनुभव करते रहे और वहाँ से फिर दूसरी गति में जन्म लेकर हस्तिनापुर आये थे।

इस प्रकार, कथाकार द्वारा वर्णित विभिन्न नरकों की स्थिति से यह स्पष्ट है कि हिंसायुक्त पापियों को नरक-निवास का अनन्त कष्ट भोगना पड़ता है। नरकपाल उन्हें दुःख में डालकर उनके साथ अनवरत क्रूर क्रीडा करते हैं और उन्हें निरन्तर दुःख भोगने को विवश करते रहते हैं। इसीलिए, कथाकार ने जगह-जगह मुनियों से यह उपदेश दिलवाया है कि परलोक में सद्गति प्राप्त करने के निमित्त मनुष्य के लिए शुभकर्म का आचरण अनिवार्य है। कथाकार द्वारा नरकभोग के कारणों में कर्म को ततोऽधिक प्रधानता दिये जाने का आशय यही है कि मनुष्य को ज्ञात या अज्ञात अवस्था में किये गये अपने अशुभ कर्म का अशुभ परिणाम या नरकभोग भोगना ही पड़ता है। 'गरुडपुराण' में भी नरकभोग के परिणाम से बचने के लिए सामान्य तथा विशेष नैतिक और धार्मिक नियमों के पालन करने के रूप में सत्कर्म या सदाचार और फिर सत्संग पर अधिक बल दिया गया है। 'मार्कण्डेयपुराण' में भी मृत प्राणियों के आवागमन की जो कथाएँ दी गई हैं, उनमें नरकों का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। विभिन्न तिर्यक्-योनियों या वनस्पति-जीवों में परिभ्रमण भी एक प्रकार का नरकावास ही माना गया है। 'गरुडपुराण' में नरकों की संख्या चौरासी लाख बताई गई है। अन्य पुराणों में भी योनियों की संख्या चौरासी लाख कही गई है। इसी से यह अनुमान होता है कि 'गरुडपुराण' ने चौरासी लाख योनियों में जीवन के भ्रमण करने का ही वर्णन चौरासी लाख नरकों के रूप में किया है।

स्वर्ग : भारतीय सांस्कृतिक जीवन में नरक के साथ ही स्वर्ग की कल्पना भी अनुस्यूत है। नरक और स्वर्ग में विश्वास सम्पूर्ण भारतीय जनजीवन का अन्यत्रदुर्लभ वैशिष्ट्य है। इस सन्दर्भ में 'विष्णुपुराण' की यह उक्ति भूयशः आवृत होती रहती है :

गायन्ति देवाः किल गीतिकाणि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।

स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात् ॥

(अंश २ अध्याय ३, श्लोक २४)

अर्थात्, यह कर्मभूमि भारतवर्ष अत्यन्त धन्य है, जिसकी महिमा देवता भी गाते हैं; क्योंकि यहाँ स्वर्ग और मोक्ष जैसी सर्वोच्च गतियों को सत्कर्म करके की प्राप्ति किया जा सकता है और मनुष्य, देवलोक में रहने के बाद भी पुनः इस धरती पर आते हैं तथा अपने पौरुष से देवत्व के अधिकारी बनते हैं।

इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि में कुशल मनुष्य के लिए स्वर्ग भी स्वायत्त हो जाता है।

ब्राह्मण-परम्परा की भाँति श्रमण-परम्परा में भी स्वर्ग की भूरिशः चर्चा हुई है। 'स्थानांग' आदि जैनाग्रामों में ऊर्ध्वलोक, यानी स्वर्गलोक का बड़ी सूक्ष्मता से उसके भेदोपभेदों के साथ, वर्णन मिलता है। करणानुयोग के प्रसिद्ध प्राचीनतम ग्रन्थ 'तिलोयण्णत्ति' में तो त्रैलोक्य-सम्बन्धी समस्त विषयों का परिपूर्ण और सुव्यवस्थित वर्णन किया गया है। **संघदासगणी** का स्वर्ग-वर्णन भी इन्हीं आगम-ग्रन्थों पर आधृत है।

जैनाग्राम^१ के अनुसार, ऊर्ध्वलोक में पहले ज्योतिर्लोक आता है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे आदि की स्थिति बताई गई है। इनके ऊपर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तक, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ये सोलह स्वर्ग हैं।^२ इन्हें कल्प भी कहते हैं। क्योंकि, इनमें रहनेवाले देव इन्द्र, सामानिक, त्रयस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और कित्त्वधिक इन दस उत्तरोत्तर हीन पद-रूप कल्पों या भेदों में विभक्त हैं। ज्ञातव्य है कि जैनाग्रामों को 'स्वर्ग' की अपेक्षा 'कल्प' या 'देवलोक' का प्रयोग ही अधिक अभीप्सित रहा है। अतएव, कथाकार ने भी स्वर्ग के अर्थ में प्रायः 'कल्प' शब्द का ही सार्वत्रिक प्रयोग किया है। उक्त सोलह स्वर्गों के ऊपर नौ त्रैवेयक और उनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पाँच कल्पातीत देव-विमान हैं। सर्वार्थसिद्धि के ऊपर लोक का अग्रतम भाग यानी निर्वाणभूमि है, जहाँ मुक्तात्माएँ जाकर रहती हैं। इसे ही गीता में परमधाम या मुक्तिधाम कहा गया है। परमधाम की परिभाषा में कहा गया है कि स्वयम्प्रकाशित उस लोक में चन्द्र, सूर्य, और अग्नि के प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती और वहाँ जाकर संसार में पुनः लौटना नहीं होता।^३

१. 'स्थानांग' (४. ६४९-५१) में बारह स्वर्गों का उल्लेख है, जिनमें अधस्तन चार (सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार और माहेन्द्र), मध्यम चार (ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार) तथा उपरितन चार (आनत, प्राणत, आरण और अच्युत) ये कुल १२ स्वर्ग हैं।

२. द्र. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. ९४

३. न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥—गीता : १५. ६

संघदासगणी ने आगमवर्णित उक्त सोलह स्वर्गों में आठ स्वर्गों का नामतः उल्लेख किया है। जैसे: अच्युत, आरण, ईशान, प्राणत, ब्रह्मलोक, महाशुक्र, लान्तक और सौधर्म। इन स्वर्गों के अतिरिक्त लगभग पच्चीस देव-विमानों की चर्चा भी कथाकार ने की है और स्वर्गोत्तर लोकों में त्रैवेयक तथा कल्पातीत देव-विमानों में सर्वार्थसिद्ध या सर्वार्थसिद्धि को भी अपने कथाप्रसंग में समेटा है। उदाहरणार्थ, उक्त आठों स्वर्गों के दो-एक सन्दर्भ यहाँ उपन्यस्त किये जा रहे हैं।

अच्युत स्वर्ग की प्राप्ति पण्डितमरण द्वारा होती थी। कथा है कि धम्मिल्ल ने धर्मरुचि साधु के चरणों में दीक्षित होकर ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और अनेक वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करते हुए मासिकी संलेखना से अपने को निर्मल बनाया, फिर साठ दिनों के उपवास द्वारा पण्डितमरण प्राप्त कर वह बारहवें अच्युत कल्प में देवेन्द्र की तरह बाईस सागर तक की अवधि के लिए देवत्व-पद पर प्रतिष्ठित हो गया (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ७६)।

सिंहगुहा नाम की चोरफल्ली के सेनापति अपराजित के दस पुत्रों में नौ पुत्र बहुत पाप अर्जित करने के कारण सातवीं पृथ्वी पर नारकी हो गये। वहाँ से गत्यन्तर प्राप्त करके उन्होंने जल, स्थल और आकाशचारी चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय तिर्यग्योनियों में जन्म ग्रहण किया और वहाँ के दुःखों को भोगकर साधारण (अनेक जीवोंवाले कन्द आदि) और बादर (स्थूल) वनस्पतियों में उत्पन्न हुए। वनस्पति-योनियों में बहुत दिनों तक वास करने के बाद अपने कर्मसंचय को क्षीण करके वे भद्रिलपुर के राजा मेघरथ के शासनकाल में धनमित्र श्रेष्ठी के पुत्ररूप में उत्पन्न हुए और अपने पिता के साथ इन नवों पुत्रों ने मन्दर साधु के निकट शीतलनाथ जिनदेव की जन्मभूमि पर प्रव्रज्या ले ली। अन्त में, वे अच्युत नामक स्वर्ग में देवता हो गये (श्यामा-विजयालम्भ : पृ. ११४)।

आरण ग्यारहवाँ स्वर्ग है। अनन्तवीर्य के भाई अपराजित ने यशोधर गणधर के समीप प्रव्रज्या लेकर बहुत दिनों तक तप किया था और देह-वियोग होने पर आरण कल्प में सुरेन्द्र हो गया था (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२९)। ईशान दूसरे स्वर्ग का नाम है, जिसके मध्यदेश में, उत्तरपश्चिम दिशा में श्रीप्रभ नाम का देव-विमान है। वहाँ ललितांगद नाम के देव का निवास था (नीलयशालम्भ : पृ. १६६)। एक बार वहाँ दृढधर्म नाम का देव ललितांगद देव से मिलने आया था (तत्रैव : पृ. १७१)।

प्राणत दसवें स्वर्ग का नाम है। राजा अमिततेज और श्रीविजय निष्क्रमण करके अभिनन्दन और जगनन्दन साधु के निकट प्रायोपगमन-विधि से मृत्यु का वरण कर प्राणत कल्प के नन्दावर्त-स्वस्तिक देव-विमान में दिव्यचूड़ और मणिचूड़ नाम के देव हो गये (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२४)। ब्रह्मलोक पाँचवें स्वर्ग की संज्ञा है। इसकी चर्चा कथाकार ने बार-बार की है। जम्बू पहले ब्रह्मलोक का देव था। वहाँ से च्युत होकर वह अपनी माता धारिणी के गर्भ में आया था (कथोत्पत्ति : पृ. ३)। वीतशोका नगरी के राजा पद्मरथ का पुत्र शिवकुमार समाधि द्वारा देह का त्याग कर ब्रह्मलोक में इन्द्रतुल्य देव हुआ था (तत्रैव : पृ. २५)। महाबल का पितामह राज्यश्री का परित्याग कर व्रतचारी हो गया था, जिससे मृत्यु के बाद उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुई थी (नीलयशालम्भ : पृ. १६९)। इसी प्रकार, कथाकार ने महाशुक्र (सातवाँ स्वर्ग), लान्तक (छठा स्वर्ग) और सौधर्म (पहला स्वर्ग) की भी बड़ी सघन-भूयिष्ठ चर्चा उपस्थित की है। दो-एक सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं :

सोमश्री ने अपने परिचय के क्रम में प्रतिहारी से स्वर्ग के स्वानुभूत सुख का अद्भुत और मनोरम वर्णन करते हुए कहा है कि वह पिछले जन्म में सौधर्म कल्प (स्वर्ग) के

कोंकणावतंसक विमान में कनकचित्ता नाम की देवी थी। वह महाशुक्र कल्प में रहनेवाले देव की पत्नी थी। वह देव, देवराज के समान था और स्वयम्भू विमान का अधिपति था। कनकचित्ता ने महाशुक्रवासी उस देव का स्मरण किया और उसी के प्रभाव से क्षणभर में ही वह महाशुक्र स्वर्ग में जा पहुँची। वहाँ सौधर्म कल्प से भी अनन्तगुणा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँचों विषयों का सुखानुभव करती हुई, मनोहर गीतों, वचनों और तत्काल योग्य भूषण, शयन आदि से प्रीति बढ़ाती हुई वह उनसे विदा लेकर कोंकणावतंसक लौट आई। इस प्रकार अपने पति देव से दुलार पाती हुई, उस देवी ने अनेक पत्न्योपम काल एक दिन के समान बिता दिये (सोमश्रीलम्भ : पृ. २२२)।

एक दिन धातकीखण्डद्वीप के पूर्वार्द्ध में स्थित अयोध्या नगरी में अर्हत् मुनि सुव्रत के जन्मोत्सव में कुछ देव पधारे। वह देवी भी (वर्तमान जन्म की सोमश्री) अपने पति के साथ वहाँ पहुँची। उत्सव की समाप्ति के बाद, उसी समय, धातकीखण्डद्वीप के पश्चिमार्द्ध में अर्हत् दृढधर्म के परिनिर्वाणोत्सव की विधि पूरी करके पधारे हुए देव अपने स्थान को लौट गये। वह देवी भी अपने पति और महाशुक्रलोक के अधिपति के निकटवर्ती देव के साथ धातकीखण्डद्वीप से महाशुक्र कल्प के लिए प्रस्थित हुई। रास्ते में, ब्रह्मलोक में रिष्ट विमान के मध्यभाग के निकट देवताओं के प्रस्तट (भवन का अन्तर्भाग) के बीच उस देवी का पति (देव) इन्द्रधनुष के रंग की भाँति सहसा लुप्त हो गया (तत्रैव : पृ. २२२)। आगे की कथा से स्पष्ट है कि उस देवी का पति च्युत होकर मर्त्यभूमि पर चला गया था। स्वर्ग में विचरण करनेवाले ये दोनों देव-देवी मर्त्यभूमि पर वसुदेव और सोमश्री के रूप में पुनः पति-पत्नी बने।

कथाकार द्वारा प्रस्तुत स्वर्ग की वर्णन-सघनता की मनोहारिता का एक और सन्दर्भ द्रष्टव्य है। वज्रायुध साधु एकान्त जीर्णोद्यान में अहोरात्रिका प्रतिमा (व्रत) में था। वहाँ उसे अतिकष्ट (पूर्वभव का कसाई-पुत्र दारुण) ने देखा। देखते ही पूर्वभव के वैरानुबन्धवश तीव्र रोष से आविष्ट हो अतिकष्ट ने म्यान से तलवार निकाली और वध करने के अभिप्राय से वज्रायुध के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। वज्रायुध चूँकि दृढ़, उत्तम और प्रशस्त ध्यान में लीन था, उसका चारित्र (नियमाचार) अखण्डित था और उसके समस्त धर्म-कर्म यथावत् थे, इसलिए मृत्यु को प्राप्त होकर उसने सर्वार्थसिद्ध नामक कल्पातीत देवलोक में देवत्व-लाभ किया। इसी प्रकार, दया, सत्य और आर्जव भावना से सम्पन्न राजा रत्नायुध ने, जिससे वज्रायुध ने राजा सुमित्र की दुर्गति की कथा सुनकर श्रावक-धर्म स्वीकार किया था, बहुत काल तक श्रमणोपासक की भूमिका में रहकर व्रत का पालन किया। उसके बाद उसने अपने पुत्र को राज्यलक्ष्मी सौंप दी और स्वयं आहार का परित्याग कर समाधिमरण द्वारा शरीर को विसर्जित किया। तत्पश्चात् वह अच्युत कल्प में, पुष्पक विमान में बाईस सागरोपम काल तक के लिए देव हों गया। रत्नायुध की माता देवी रत्नमाला ने भी व्रत और शील-रूपी रत्नों की माला एकत्र करके मृत्यु प्राप्त की और वह भी अच्युत कल्प में ही, नलिनीगुल्म विमान में, उत्कृष्ट स्थिति से सम्पन्न देव हो गई।

रत्नायुध और रत्नमाला देवत्व के स्थितिक्षय से च्युत होकर धातकीखण्डद्वीप के पश्चिम विदेह (महाविदेह) के पूर्वभाग में शीता (सीता) महानदी के दक्षिणतट-स्थित नलिनीविजय की अशोकानगरी के राजा अरिजय की रानियों—सुव्रता और जिनदत्ता के वीतिभय और विभीषण नाम से बलदेव और

वासुदेव के समान दो पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। दोनों सुखपूर्वक बड़े हुए और नलिनीविजयार्द्र का स्वामित्व प्राप्त किया। विभीषण कामभोग का परित्याग नहीं कर सका, फिर भी अपने विशुद्ध सम्यक्त्व और दर्शन-गुण से दूसरी पृथ्वी (शक्रप्रभा) में एक सागरोपम कालस्थिति तक के लिए नारकी हो गया। वीतिभय अपने भाई के वियोग से दुःखी होकर सुस्थित साधु के निकट प्रव्रजित हो गया और संयम तथा स्वाध्याय में तत्पर रहकर विहार करते हुए उसने प्रायोपगमन (अनशन-विशेष)-विधि से मृत्यु प्राप्त की और लान्तक कल्प के आदित्याभ विमान में वह ग्यारह सागरोपम से भी अधिक काल के लिए देव हो गया। नारकी विभीषण प्रशस्त परिणाम की बहुलता के कारण उद्वर्तित होकर इसी जम्बूद्वीप में ऐरवतवर्ष की अयोध्यानगरी में राजा श्रीधर्म की रानी सुसीमा के पुत्र श्रीदाम के रूप में उत्पन्न हुआ। क्रम से जब वह युवा हुआ, तब विहार-यात्रा के निमित्त निकला। पूर्वस्नेहानुरागवश आदित्याभ-विमानवासी देव ने उसे प्रतिबोधित किया। फलतः, वह अनन्तजित् अर्हत् के निकट प्रव्रजित हो गया और श्रामण्य का पालन करते हुए कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त हुआ। उसके बाद ब्रह्मलोक कल्प के चन्द्राभ विमान में देव हो गया (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २६१)।

उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि एक-एक स्वर्ग में अनेक देव-विमान होते थे और यथोक्त सोलह स्वर्गों के ऊपर भी कल्पातीत देव-विमान थे। संघदासगणी ने कल्पातीत देव-विमानों में 'प्रैवेयक' और 'सर्वार्थसिद्ध' का वर्णन किया है। कथा है कि सहस्रायुध और वज्रायुध, ये दोनों पिता-पुत्र प्रायोपगमन-विधि से समाधिपूर्वक देह का त्याग कर ऊर्ध्व प्रैवेयक देवलोक में अहमिन्द्र नामक देव हो गये थे। सर्वार्थसिद्ध देवलोक का ऊपर उल्लेख हो चुका है। यों, कथाकार ने 'वसुदेवहिण्डी' में सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमान की भूरिशः चर्चा की है। प्रशस्त ध्यान में लीन रहते समय मृत्यु होने पर मृतक का सर्वार्थसिद्ध-गमन होता है (कथोत्पत्ति : पृ. १७)। तीर्थकर नाम-गोत्र का संग्रह करनेवाले सर्वार्थसिद्ध विमान के अधिकारी होते हैं। ऋषभस्वामी सर्वार्थसिद्ध विमान से ही च्युत होकर मरुदेवी की कुक्षि में आये थे। कुन्धुनाथ, अरनाथ, शान्तिनाथ आदि तीर्थकर भी सर्वार्थसिद्ध देव-विमान से ही च्युत होकर हस्तिनापुर में उत्पन्न हुए थे।

संघदासगणी द्वारा उल्लिखित कल्पों या देवलोकों के देव-विमान इस प्रकार हैं : आदित्याभ (लान्तक और ब्रह्मलोक कल्प का विमान; बालचन्द्रालम्भ : पृ. २६१); कौकणावतंसक (सौधर्म का विमान; सोमश्रीलम्भ : पृ. २२२-२२३); चन्द्राभ (ब्रह्मलोक; बालचन्द्रा. पृ. २६१-२६२); धूमकेतु (कल्प का उल्लेख नहीं; पीठिका : पृ. ९१); नन्दावर्त (प्राणतकल्प; केतुमती. पृ. ३२४); नलिनीगुल्म (अच्युतकल्प; बालचन्द्रा. पृ. २६१); पालक (नीलयशा. पृ. १६०); प्रीतिकर (प्रैवेयक कल्पातीत का विमान; बालचन्द्रा. पृ. २५७-२५८); पुष्पक (अच्युतकल्प; तत्रैव : पृ. २६१); ब्रह्मावतंसक, रिष्ट, रिष्टाभ, रुचक (ब्रह्मलोक; प्रियंगुसुन्दरी. पृ. २८७, सोमश्री. २२३, प्रियंगुसुन्दरी. पृ. २८७, बालचन्द्रा. २५८); वैडूर्य, स्वयम्भ (महाशुक्र; सोमश्री. पृ. २२२, बालचन्द्रा. पृ. २५७); सर्वार्थसिद्ध (कल्पातीत विमान; नीलयशा. पृ. १५९, बालचन्द्रा. पृ. २६१ आदि); सागरभिन्न (नागभवन, प्रियंगु. पृ. ३००); श्रीतिलक (महाशुक्र; बालचन्द्रा. पृ. २२७); श्रीप्रभ (ईशान; नीलयशा. पृ. ११६, १७१); शुक्रप्रभ (लान्तक, तत्रैव : पृ. २५८ टि.); सूर्याभ (ब्रह्मलोक; प्रियंगु. पृ. २८७); सुप्रभ (लान्तक विमान; बालचन्द्रा. पृ. २५८); स्वस्तिक (प्राणत विमान; केतुमती. पृ. ३२४) और सौधर्मावतंसक (सौधर्म विमान; प्रियंगु. पृ. २८६)। इनमें कतिपय देव-विमानों का ऊपर स्वर्ग के विवरण में यथासन्दर्भ उल्लेख किया गया है।

आगमानुसार सिद्धत्व प्राप्त करने पर सिद्धपुरुष सिद्धशिला पर प्रतिष्ठित होते थे। संघदासगणी ने भी कतिपय सिद्धशिलाओं का उल्लेख किया है। जैसे : अतिपाण्डुकम्बलशिला (नीलयशा. पृ. १६१, केतुमती. पृ. ३४०); कोटिशिला (केतुमती. पृ. ३०९, ३१३, ३४८); नन्दिघोषा शिला (मदनवेगा. पृ. २४०); सर्वार्थसिद्धि शिला (कथोत्पत्ति : पृ. २८०); सुमना शिला (पीठिका : पृ. ८५, ८८) आदि।

संघदासगणी की यथाविवृत देवलोकों और देवविमानों की परिकल्पना आगमोक्त दिशा के अनुसार है। और, इस शास्त्रीय तत्त्व को उन्होंने अपने कथातत्त्व में अप्रतिम शिल्प-कौशल के साथ गुम्फित किया है, जिससे कथारस का प्रवाह तनिक भी आहत नहीं हुआ है। कहना न होगा कि आगमिक तत्त्वों को सरसता के साथ कथाबद्ध करने में संघदासगणी अपना अनन्य स्थान रखते हैं। कथाकार ने स्वर्गीय पात्रों के चरित्र-चित्रण के क्रम में अपनी परा-मनोवैज्ञानिकता का भी प्रदर्शन किया है। सामान्यतः, स्वर्गलोक से च्युत होकर मनुष्यलोक में आये हुए जीवों को परलोक की बातों का ज्ञान नहीं रहता, किन्तु वसुदेवहिण्डीकार ने सोमश्री जैसी मनुष्य-भव की पात्रियों या दण्डक महिष जैसे पशुपात्रों को परलोक या परभव की बातों की जानकारी रहने का उल्लेख करके परा-मनोविज्ञान या जैनागम के अवधिज्ञान की चामत्कारिक विशिष्ट स्थिति को निदर्शित किया है, जिससे उनकी प्राचीन रूढ़ कथाओं की मिथकीय चेतना से संवलित लोकाश्रित अलौकिक गुम्फन-शैली की सर्वविशिष्ट मौलिकता का आभास मिलता है।

कथाकार द्वारा प्रस्तुत एक कथाप्रसंग (सोमश्रीलम्भ, पृ. १८४) से यह स्पष्ट है कि वह स्वर्ग से धरती की उच्चता प्रतिपादित करने के आग्रही भी हैं। भरत ने इन्द्र से जब यह कहा कि 'हम सब तो तीर्थकर के समीप रहनेवाले हैं, इसलिए वन्दन और संशय-निराकरण के निमित्त स्वतन्त्र हैं; किन्तु आप देवों को तो इसके लिए स्वर्ग से मनुष्यलोक में आना पड़ेगा।' तब, इन्द्र ने भरत की उक्ति को स्वीकार करते हुए कहा कि 'जिस संशय का निराकरण स्वर्ग में सम्भव नहीं, उसके लिए तो मनुष्यलोक में आना ही पड़ेगा। जहाँतक वन्दना, पूजा और पर्युपासना का प्रश्न है, वह तो स्वर्ग में भी, सिद्धायतन में प्रतिष्ठित तीर्थकर की प्रतिमा और चित्र के द्वारा सम्भव है।'।

इस कथा-सन्दर्भ के द्वारा कथाकार ने तीर्थकर की ततोऽधिक महत्ता का प्रतिष्ठापन किया है। इससे यह संकेतित है कि इन्द्र जैसे देवों को भी संशय उत्पन्न होने पर उसके निवारण के लिए तीर्थकर के चरणों में उपस्थित होना पड़ता था। इस प्रकार, प्रकारान्तर से, कथाकार ने ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से समृद्ध भारतभूमि की स्वर्गभूमि से उत्कृष्टता सिद्ध की है। वस्तुतः, वैदिक परिकल्पना के अनुसार स्वर्ग और पृथ्वी में अन्योन्याश्रयता है। बुलोक और भूलोक—ये विश्व के माता-पिता कहे गये हैं। प्रत्येक प्राणी या केन्द्र के लिए द्यावा-पृथिवी-रूप माता-पिता की आवश्यकता है। द्यावा-पृथिवी की संज्ञा रोदसी है। रोदसी वह लोक है, जिसमें कोई-भी नई सृष्टि माता-पिता के विना नहीं होती। वृक्ष-वनस्पति से मनुष्यों तक जितनी योनियाँ हैं, सबमें माता-पिता का द्वन्द्व अनिवार्य है। एक-एक पुष्प में माता-पिता, योषा-वृषा या पुरुष-स्त्री के इस द्वन्द्व की सत्ता है। इसे ही मित्रावरुण का जोड़ा कहते हैं। परस्पर आकर्षण या मैत्रीभाव इस जोड़े की

विशेषता है। जो मित्र का मण्डल है, वह उष्ण या आग्नेय है। जो वरुण का मण्डल है, वह शीत या जलीय है। अग्नि और सोम, उष्ण और शीत, मित्र और वरुण, द्युलोक और पृथिवी, इस द्वन्द्व के बिना प्राण या जीवन का जन्म सम्भव नहीं।^१ 'वसुदेवहिण्डी' में उपलब्ध देव, मनुष्य और विद्याधरों का अन्योन्याश्रित वर्णन, पूर्व युगों में इसी पृथ्वी पर 'त्रिलोकी' के प्रतिष्ठित रहने की भारतीय कल्पना को पुष्ट करता है।

देव और देवियाँ :

सम्पूर्ण भारतीय जीवन वैदिक या आगमिक विज्ञान से अनुप्राणित है और वैदिक विज्ञान देवता-तत्त्व पर आश्रित है। इसीलिए, सामान्य भारतीय सांस्कृतिक जीवन में देव-देवियों के प्रति विश्वास की भावना बद्धमूल है। लोकजीवन का समग्र कर्मकाण्ड दैवी सत्ता के प्रति आस्था के साथ ही परिचालित होता है। दैवी सत्ता को निरुक्तकार श्रीयास्काचार्य भी स्वीकार करते हैं। देव-तत्त्व पर विचार करते हुए उन्होंने सिद्धान्तवाक्य के रूप में लिखा है : 'अपि वा उभयविधाः स्युः।' अर्थात्, शरीरधारी और अशरीरी तत्त्वरूप दोनों प्रकार के देव हैं। इसलिए, देवों के अनेक भेदोपभेद मिलते हैं। ब्राह्मण-परम्परा तैंतीस करोड़ देवों की संख्या में विश्वास करती है। कर्मकाण्ड के बहुत-से अंशों का सम्बन्ध यद्यपि कारणरूप अशरीरी देवों से है, तथापि उपासनाकाण्ड शरीरधारी चेतन देवों से विशेष सम्बन्ध रखता है। वैदिक दृष्टि से सूक्ष्म जगत् के मुख्य तत्त्व ऋषि, पितृ, देव, असुर और गन्धर्व हैं।

अमरकोशकार के अनुसार तो विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत ये सभी देवयोनि हैं।^२ 'मनुस्मृति' के अनुसार जगत् के मूल तत्त्व के रूप में ऋषि, पितृ, देव आदि ही प्रतिष्ठाप्राप्त हैं। कहा गया है कि ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए, पितरों से देवता और असुर तथा देव और असुरों से स्थावर-जंगमात्मक सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है।^३ देव ही जगत् के प्राण हैं। देवों की प्राणरूपता^४ 'शतपथब्राह्मण' के, चौदहवें काण्ड के जनक के यज्ञप्रकरण में उल्लिखित याज्ञवल्क्य और शाकल्य के शास्त्रार्थ से स्पष्ट हो जाती है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में भी शाकल्य ने जब प्रश्न किया कि देवता कितने हैं, तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर देते हुए एक, डेढ़, तीन, छह, तैंतीस, तैंतीस हजार, तैंतीस लाख आदि देवों की संख्या बतलाई, और उसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने देवों को प्राणस्वरूप कहा।^५ इस प्रकार, वैदिक वाङ्मय और स्मृति-पुराणों ने भी देव को प्राणरूप स्वीकार किया है। निरुक्तकार ने प्राण-रूप देवता को मुख्यतः तीन कोटियों में रखा है : पृथ्वी का देवता अग्नि, अन्तरिक्ष का देवता वायु और स्वर्ग या द्युलोक का देवता

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (द्वि.सं.), भूमिका, पृ. १६-१७

२. विद्याधराप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः ।

पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनिः ॥—प्रथमकाण्ड, स्वर्ग-वर्ग

३. ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः ।

देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरस्थान्वनुपूर्वशः ॥—मनुस्मृति : ३. २०१

(‘देवदानवाः’ के स्थान पर ‘देवमानवाः’ पाठान्तर की भी प्रकल्पना हुई है।)

४. देवों की प्राणरूपता के सम्बन्ध में अनेक महार्थ विवरणों के लिए द्र. 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (वही), पृ. १३१

५. बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ५, ब्राह्मण ९, कण्डिका १

आदित्य । सूर्यमण्डल के अधिष्ठाता देवता का इन्द्र शब्द से बहुधा व्यवहार किया गया है । अन्य समस्त देवता इनके ही अवान्तर भेद हैं । इन देवताओं की स्तुति वेदमन्त्रों में भूयिष्ठ भाव से प्राप्त होती है ।

श्रमण-परम्परा में भी इन्द्र की कल्पना देवों के अधिपति के रूप में की गई है । जैनागम के शीर्षग्रन्थ 'स्थानांग' में इन्द्र का विशद विवरण उपलब्ध होता है । तृतीय स्थान के प्रथम उद्देश में नौ इन्द्रों के नाम उल्लिखित हैं : नामेन्द्र, स्थापनेन्द्र, द्रव्येन्द्र, ज्ञानेन्द्र, दर्शनेन्द्र, चरित्रेन्द्र, देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुष्येन्द्र । पुनः द्वितीय स्थान (सूत्र-सं. ३५३-३८४) में चौंसठ इन्द्रों की नामावली दी गयी है । आगमविद् कथाकार **संघदासमणी** द्वारा कथा के विभिन्न प्रसंगों में वर्णित इन्द्र इसी जैनागम से गृहीत हुए हैं । कथाकार द्वारा उल्लिखित इन्द्रों के नाम इस प्रकार हैं : अच्युतेन्द्र (बारहवें देवलोक का अधिपति; नीलयशा. पृ. १६१, केतुमती. पृ. ३२९); ईशानेन्द्र (द्वितीय कल्प का अधिपति; केतुमती. पृ. ३२९, ३३१, ३३८, ३३९); अहमिन्द्र (केतुमती. पृ. २३४); चमरेन्द्र (असुरेन्द्र; बन्धुमती. पृ. २७५, केतुमती. पृ. ३२४); धरणेन्द्र (नागों का इन्द्र; प्रियंगु. पृ. १६३, १९२, २५२, २६४ आदि); ब्रह्मेन्द्र (पंचम कल्प का अधिपति; कथोत्पत्ति : पृ. २०, २५; प्रियंगु. पृ. २८७); लान्तेकेन्द्र (षष्ठ कल्प का अधिपति; नीलयशा. पृ. १७५) और सौधर्मेन्द्र (सौधर्म लोक का अधिपति; प्रियंगु. पृ. २८६) । इनके अतिरिक्त सामान्य इन्द्र का भी उल्लेख हुआ है । प्रत्येक देवलोक और देव-विमान के लिए भी अलग-अलग इन्द्र हैं ।

'वसुदेवहिण्डी' से यह ज्ञात होता है कि श्रमण-परम्परा में भी इन्द्र के सहस्रनयन होने की परिकल्पना मान्य थी । अच्युतेन्द्र आदि सभी इन्द्र, केवलज्ञानियों, सिद्धों, तीर्थंकरों आदि के जन्म, राज्याभिषेक, ज्ञानोत्पत्ति-महिमा आदि उत्सवों के कार्यों में अधिक अभिरुचि लेते थे । ऋषभस्वामी के जन्मोत्सव के समय पहले ज्योतिर्मय पालक विमान के अधिपति देवराज इन्द्र तीर्थंकर की भूमि में पधारे थे । कथा है कि उनके आगमन के समय सारा आकाश उद्भासित हो गया । उन्होंने जिनमाता मरुदेवी की श्रुतिमनोहर वाणी से स्तुति की । वह अवस्वापिनी आदि विद्याओं और विकुर्वण की शक्ति से सम्पन्न थे । वह नवजात तीर्थंकर को अपने पाँचरंगे करकमलों के बीच अच्छी तरह रखकर क्षणभर में ही अतिपाण्डुकम्बलशिला पर ले गये और वहाँ उन्हें शाश्वत सिंहासन पर बैठाया ।

तदनन्तर बारहवें देवलोक के स्वामी अच्युतेन्द्र ने जिनेन्द्र को क्षीरोदसागर के जल से परिपूर्ण साठ हजार स्वर्णकलशों से स्नान कराया । उसके बाद क्रम से सर्वौषधिभिन्नित्रित जल तथा तीर्थों के जल से भी अभिषेक कराया । फिर तीर्थंकर को वस्त्र एवं आभूषणों से अलंकृत किया । पुनः उन्होंने स्वस्तिक लिखे और सुगन्धित धूप जलाया । उसके बाद स्तुति करके पर्युपासना में लगे गये । अच्युतेन्द्र से ही प्रेरित होकर दसवें प्राणत देवलोक के इन्द्र एवं अन्यान्य इन्द्रों ने भी वहाँ आकर तीर्थंकर की वन्दना की (नीलयशालम्भ : पृ. १६१) ।

ऋषभस्वामी के राज्याभिषेक के समय भी लोकपाल-सहित इन्द्र आये थे । इन्द्र ने ही यक्षराज कुबेर को आदेश देकर ऋषभस्वामी की विनीत प्रजाओं के लिए विनीता (अयोध्या) नगरी का निर्माण कराया था । ऋषभ तीर्थंकर के जन्मोत्सव की समाप्ति के बाद इन्द्र जब वापस जाने लगे थे, तब उन्होंने तीर्थंकर के सिरहाने में एक जोड़ा रेशमी वस्त्र और कुण्डल रख दिया था तथा सर्वविघ्न-शमनकारी

श्रीसम्पन्न अम्लान फूल की मालाएँ, भवन की छत से लटका दी थीं। भविष्य में भी तीर्थंकर की रक्षा के निमित्त अपनी सेवा अर्पित करने की घोषणा इन्द्र ने की थी। इन्द्र के ही निर्देशानुसार पत्योपम-स्थित देव, भगवान् ऋषभदेव का पालन-पोषण करते थे। भगवान् तीर्थंकर, इन्द्र के द्वारा प्रदत्त, कुरुदेश में उत्पन्न फल का रस आहार में लेते थे (तत्रैव : पृ. १६१-१६२)।

संसार के परित्याग के लिए, जो जीव जिस इन्द्र से प्रतिबोधित होता था, वह, देहत्याग के बाद उसी इन्द्र के कल्प में देवत्व प्राप्त करता था। अच्युतेन्द्र द्वारा प्रतिबोधित राजा मेघनाद देहभेद के समय अच्युत कल्प में ही देवत्व-पद पर प्रतिष्ठित हुआ था (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२९)। ईशानेन्द्र को श्रेष्ठ तपस्वियों के गुण-कीर्तन में तत्पर देव के रूप में कथाकार द्वारा चित्रित किया गया है। तपस्वी मेघरथ के बारे में ईशानेन्द्र ने बीच सभा में उसका गुण-कीर्तन करते हुए घोषणा की थी कि इन्द्रसहित देवों में कोई भी मेघरथ को धर्म से विचलित नहीं कर सकता (तत्रैव : पृ. ३३८)।

कथाकार ने पंचम कल्प के अधिपति ब्रह्मेन्द्र की अनेकशः चर्चा की है। ब्रह्मेन्द्र-लोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक में आने और मनुष्य-लोकवासी के तप द्वारा ब्रह्मेन्द्र हो जाने की परम्परा भी थी। ब्रह्मेन्द्र इन्द्रकल्प से च्युत होकर दक्षिणाङ्गभरत के साकेतनगर में राजा गरुडवाहन के हरिवाहन नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए थे (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८७)। इसी प्रकार, तपोबल से सम्पन्न राजपुत्र शिवकुमार ब्रह्मलोक का इन्द्र हो गया था और उसकी अंगज्योति ब्रह्मेन्द्र के समान ही हो गई थी (कथोत्पत्ति : पृ. २५)। लान्तक-कल्पवासी लान्तकेन्द्र भी मनुष्यों के रक्षक और प्रतिबोधक के रूप में कथाकार द्वारा चित्रित किये गये हैं (नीलयशालम्भ : पृ. १७५)। मनुष्य-भव के तपस्वी पुरुष ही कालधर्म (मृत्यु) को प्राप्त करने के बाद सौधमेन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित होते थे।

अहमिन्द्र भी इन्द्र का ही भेद था। उत्तम श्रेणी के या त्रैवेयक और अनुत्तर विमान के निवासी पूर्ण स्वाधीन देवजाति-विशेष की संज्ञा अहमिन्द्र थी। 'चक्रवर्ती राजा भी अपने को अहमिन्द्र (अहम् + इन्द्रः) मानते थे। 'वसुदेवहिण्डी' में भी इन्द्र से चक्रवर्ती की उच्चता सिद्ध की गई है। इन्द्र के प्रश्न के उत्तर में ऋषभस्वामी ने कहा था : राजा के चक्रवर्ती-पद के भोगकाल में इन्द्र का अधिकार नहीं चलता है, फिर चक्रवर्ती-पद से रहित अवधि में इन्द्र का ही प्रभाव रहता है : ("भयवया भणियं—चक्रवर्द्धिभोयकाले न पभवति इंदो, चक्रवर्द्धिविरे पुण पभवइ ति", नीलयशालम्भ : पृ. १८३)। चक्रवर्ती राजाओं के अतिरिक्त भी परिषह-सहन तथा समाधिमरण द्वारा इन्द्रत्व प्राप्त करनेवाले अन्य अनेक राजाओं का रम्य-रुचिर वर्णन कथाकार ने किया है।

बहुदेववादी कथाकार संघदासगणी ने अपनी महत्कथा में इन्द्र के अतिरिक्त उनके अधीनस्थ अनेक देव-देवियों का चित्रण किया है, जिनका विवेचन अपने-आपमें एक महाप्रबन्ध का विषय है। यहाँ मानव-संस्कृति से अनुबद्ध कतिपय आनुषंगिक देव-देवियों के विषय में दिग्दर्शन कराना अपेक्षित है।

जैनागम ('स्थानांग', 'प्रज्ञापना' आदि) के अनुसार, देव चार प्रकार के होते हैं: वैमानिक, ज्योतिष्क, भवनपति और व्यन्तर। ऋषभस्वामी के जन्मोत्सव के अवसर पर उक्त चारों प्रकार के देव आये थे ('चउच्चिहदेववन्दकयसणोज्झं भयवन्तं'; नीलयशालम्भ : पृ. १६१)। शान्तिस्वामी को जिस समय केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था, उस समय भी उनके धर्मचक्र में सम्मिलित होने के निमित्त

चारों प्रकार के देव आये थे और इन्होंने शान्तिस्वामी के धर्म-प्रवचन के लिए उत्कृष्ट वास्तुशास्त्रीय पद्धति से प्रशस्त धर्मसभा की रचना की थी। ये देव देवराज शक्र की अन्तरंग परिषद् के सदस्य थे। देव-विमानों में रहनेवाले देव वैमानिक कहलाते थे। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये पाँच ज्योतिष्क देवों में परिगणित थे।^१ भवनपति देवों में असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार आदि उल्लेखनीय थे तथा व्यन्तर देवों में पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, अनपन्न, प्रणपन्न, ऋषिवादी, भूतवादी, स्कन्दक, महास्कन्दक, कूष्माण्डक, पतंग आदि की गणना होती थी।

इन सभी देवों के भी लोकान्तिक, आभियोगिक, जृम्भक, किल्बिषक आदि अनेक भेदोपभेद थे। इन देवों की पत्नियाँ और कन्याएँ देवियों के रूप में प्रतिष्ठित थीं। इन देवों के अपने-अपने अधिपति इन्द्र होते थे, सेना और सेनापतियों का भी प्रावधान था। इन्द्र की सभा में गायकों और नर्तकियों का जमघट रहता था। इन्द्र के आदेश से या स्वयं भी देव कभी-कभी मानवों की तपोनिष्ठा की परीक्षा लेते थे। साधुओं की प्रव्रज्या, केवलज्ञान-महोत्सव आदि के समय देवों का आसन विचलित हो उठता था। प्रसन्न होने पर, ये देव मनुष्यभूमि पर रत्नों और फूलों तथा वस्त्रों के साथ गन्धोदक की वर्षा करते थे, साथ ही दुन्दुभी भी बजाते थे। विशेषतया व्रती भिक्षुओं को पारण करानेवाले के प्रति, प्रसन्न होकर ये देव उक्त कार्य अवश्य करते थे। इसे जैन आम्नायिक शब्दावली में 'पंचदिव्य' की संज्ञा दी गई है।^२

संघदासगणी ने अपनी लोकचेतनाश्रित पुरुषार्थ-चतुष्टयप्रधान कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में देव-देवियों के उपर्युक्त सभी प्रकरणों को रूढिप्रौढता के साथ शिल्पित-चित्रित किया है, जिससे उनके आगम-साहित्य के तलस्पर्शी ज्ञान पर चकित-विस्मित रह जाना पड़ता है। कथा-साहित्य में आगम-साहित्य के विवरणों का विनिवेश कथारस को आहत करने की अपेक्षा उसमें ज्ञानामृत का तरल सिंचन बनकर उद्भासित होता है। यहाँ 'वसुदेवहिण्डी' के देव-विषयक कतिपय सन्दर्भ द्रष्टव्य हैं।

संघदासगणी ने तैत्तिरीय देवों की संख्या-परिकल्पना का समर्थन किया है। वसुदेव को देखकर अतिशय विस्मित वेदपारगों ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा था कि निश्चय ही ये तैत्तिरीय देवों में कोई एक हैं: 'देवाण नूणं एवको तेतीसाए (सोमश्रीलम्भ : पृ. १९४)। देवों की ज्योति देखकर मनुष्य को जातिस्मरण हो आता था और वह मूर्च्छित भी हो जाता था। ऋषभस्वामी से सम्बद्ध पूर्वभव-चरित सुनाते हुए श्रेयांस ने कहा कि वह अपने सातवें भव में मन्दर, गन्धमादन, नीलवन्त और माल्यवान् पर्वतों के बीच बहनेवाली शीता महानदी द्वारा बीचोबीच विभक्त उत्तर कुरुक्षेत्र में स्त्री-मिथुन के रूप में उत्पन्न हुआ था और भगवान् ऋषभस्वामी नर-मिथुन के रूप में। देवलोक के समान उस उत्तरकुरुक्षेत्र के हृदय पर दस प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोगोपभोग से प्रमुदित वे दोनों अशोकवृक्ष की छाँह में, नवनीत के समान स्पर्शवाले वैदूर्यमणि के शिलातल पर सुखपूर्वक बैठे थे। तभी, एक देव स्नान के निमित्त उस हृदय में आकाश से उतरे और स्नान करके फिर आकाश में उड़ गये।

उस देव ने अपने प्रभाव (प्रभास) से दसों दिशाओं को उद्भासित कर दिया। मिथुन पुरुष, आकुल करनेवाले उस प्रकाश को देखते ही चिन्तित हो उठा और मूर्च्छित हो गया। स्त्री-मिथुन

१. पंचविहा जोइसिया पण्णत्ता, तं जहा-वृन्दा, सूर, गहा, णक्खत्ता, ताराओ। — 'स्थानांग' : ५. ५२

२. विशेष विवरण के लिए 'स्थानांग' (स्थान ३ और ४) द्रष्टव्य है।

हड़बड़ाकर उठी और पते के दोने में जल लाकर उसके मुँह पर छिड़कने लगी। होश में आते ही मिथुन पुरुष चिल्ला उठा : 'हा स्वयम्भभे ! कहाँ हो ? मुझे उत्तर दो।' नर-मिथुन की बात सुनकर स्त्री-मिथुन सोचने लगी : 'मेरा ही नाम स्वयम्भभ है, मुझे ऐसा अनुभव क्यों हो रहा है ?' ऐसा सोचते-सोचते वह भी नर-मिथुन की ही भाँति मूर्च्छित हो गयी। फिर, अपने-आप होश में आने पर बोली : 'आर्य ! मैं ही स्वयम्भभ हूँ, जिसका नाम आपने लिया है।' स्त्री की बात सुनकर पुरुष सन्तुष्ट होते हुए बोला : 'आर्य ! तुम स्वयम्भभ कैसे हो ?' तब स्त्री अपना पूर्वानुभव सुनाने लगी (नीलयशालम्भ : पृ. १६५)। स्त्री-मिथुन की आत्मकथा सुनकर मिथुन पुरुष ने उससे कहा : 'आर्य ! देवज्योति के दर्शन से जब मुझे जातिस्मरण हो आया, तब मेरी धारणा हुई कि तुम देवभव में हो। इसीलिए, तुम्हें स्वयम्भभ कहकर पुकारा था और तुमने जो आत्मकथा कही, उससे भी यह बात सत्य सिद्ध होती है (तत्रैव : पृ. १७७)।'

कथाकार के वर्णन से यह संकेतित होता है कि मनुष्य-भूमि पर आनेवाले देव के रूप में परिवर्तन हो जाता था। साथ ही, देव के सम्पूर्ण दिव्यरूप को देखने की क्षमता मनुष्य में नहीं होती थी। भरत ने इन्द्र से जब कहा कि देवलोक में आपका जो दिव्यरूप रहता है, उसे दिखाइए। तब, इन्द्र ने कहा कि मेरे सम्पूर्ण दिव्य रूप को देव से इतर कोई नहीं देख सकता। लेकिन, आपको उसका एक अंश दिखाऊँगा। इसके बाद परम रूपवान् इन्द्र ने आभूषणयुक्त अपनी तर्जनी अंगुली दिखाई। अंगुली देखकर चमत्कृत भरत ने इन्द्र की आकृति की स्थापना कराई और बृहद् उत्सव का आयोजन कराया। उसी समय से 'इन्द्र-महोत्सव' की प्रथा का प्रवर्तन हुआ (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८४)। इस प्रसंग की तुलना गीतोक्त, अर्जुन को भगवान् कृष्ण द्वारा दिखलाये गये दिव्य रूप के प्रसंग से की जा सकती है।

कथाकार ने देवसम्प्रात की परम्परागत प्रथा का भी वर्णन किया है। जैन आम्नाय की प्रथागत कथा है कि जब किसी अनगार या साधु को केवलज्ञान की उत्पत्ति होती थी, तब देवता आकाश से धरती पर उतरते थे और उनके प्रकाश से दसों दिशाएँ उद्भासित हो उठती थीं। प्रसन्नचन्द्र अनगार को जब ज्ञानोत्पत्ति हुई थी, तब उनकी वन्दना के लिए ब्रह्मेन्द्र के समकक्ष विद्युन्माली देव चार देवियों के साथ चारों ओर प्रकाश फैलाते हुए धरती पर आये थे : 'तं च समयं बभ्रुदसमाणो विज्जुमाली देवो चउहिं देवीहिं सहितो वंदितं भयवंतमुवागतो ऊज्जोवितो दसदिसाओ (कथोत्पत्ति : पृ. २०)।' देवों के स्वर्ग में रहते समय उनकी शरीरकान्ति बहुत अधिक ज्योतिर्मय हुआ करती थी, किन्तु स्वर्ग से च्युत होते समय वे परिहीनद्युति हो जाते थे। इस सन्दर्भ में 'वसुदेवहिण्डी' से यह सूचना मिलती है कि जैन आम्नाय की परम्परा के अनुसार, केवलज्ञान, मनुष्य-भव के तद्भव की दशा में सम्भव होता है, अर्थात् जो पूर्वभव में मनुष्य रहता है और परभव में भी मनुष्य-विग्रह ही लाभ करता है, उसे ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, इसलिए मनुष्य-योनि अतिशय प्रशस्त और दुर्लभ मानी गई है। और, केवलज्ञानी मनुष्य ही देह-वियोग के बाद अपने तपस्तेज की न्यूनाधिकता के आधार पर थोड़े या अधिक समय के लिए देव-विमान में देवत्व या इन्द्रत्व प्राप्त करते थे।

वैदिक परम्परा में मनुष्य-भव से सीधे देव-भव जाने की मान्यता नहीं है, अपितु मनुष्य-भव और देव-भव के बीच पितृ-भव की स्थिति मानी गई है। किन्तु, श्रमण-परम्परा में मनुष्य-भव से

सीधे देव-भव में जाने की परिकल्पना मनुष्य और देव की समधर्मिता को सूचित करती है। यद्यपि, मनुष्य और देव की अभिन्नता की कल्पना वैदिक परम्परा में भी सुरक्षित है। महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी^१ ने देवनिरूपण के क्रम में लिखा है कि पितृप्राण से देवप्राण का उद्भव होता है। मुख्य देव प्राण-रूप हैं। देवप्राणों की जिनमें विशेषता है, वे सूर्यमण्डल, तारामण्डल आदि के प्राणी भी देव हैं, जिनके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण आदि कहे गये हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में विद्याओं को पूर्णतया जाननेवाले मनुष्यों को 'देव' शब्द से संज्ञित किया गया है। अस्तु ;

देवताओं की पलकों के न झपकने की धारणा श्रमण-परम्परा में भी प्रचलित थी। एक बार आधी रात के समय वसुदेव जग पड़े, तो उन्होंने दीपक के प्रकाश में एक रूपवती स्त्री को अपनी बगल में सोई हुई देखा। वह धीरे-धीरे उठे और सोचने लगे : यह कौन अनजान रूपवती मेरे साथ सोई हुई है ? सचमुच, कोई देवी होगी ? लेकिन उसकी पलकों को झपकते देखकर समझा कि यह देवी नहीं है (तओ निमित्तिल्यलोयणन्ति न देवया; वेगवतीलम्भ : पृ. २२६)। यहाँ ज्ञातव्य है कि प्राकृत या संस्कृत-वाङ्मय में 'देवता' शब्द का प्रयोग प्रायः देवी के अर्थ में ही किया गया है। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में भी दो-एक स्थलों पर 'देवता' शब्द देवी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है :

अद्य पश्याम्यहं स्वने व्योम्नि कामपि देवताम्।

प्रभाम्भःसन्ततिव्यस्तनभोमण्डलनीलताम् ॥ (५.१९)

अर्थात्, आज मैंने स्वप्न में, अन्तरिक्ष में स्थित किसी देवी को देखा, जिसके प्रभा-जल के अविराम प्रवाह से आकाशमण्डल की नीलिमा तितर-बितर हो रही थी।

कथाकार संघदासगणी ने उपवन की देवियों (उववणदेवयाओ) और सोम, यम, वरुण तथा वैश्रवण लोकपालों का भी एक साथ उल्लेख किया है (तत्रैव : पृ. २२५)।

संघदासगणी ने, देवों और मनुष्यों के अन्योन्याश्रयत्व पर बहुकोणीय प्रकाश-निक्षेप तो किया ही है, कतिपय विशिष्ट देवों के व्यक्तिगत चरित्र का भी अंकन किया है। भारतीय लोकजीवन में ब्रह्मबाबा की पिण्डी या स्थली की स्थापना का प्रभावक माहात्म्य पाया जाता है। कथाकार ने ब्रह्मस्थली के स्थापित करने की प्रथा की ओर रोचक संकेत किया है। कथा यह है कि भगवान् प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ अपने पोते श्रेयांस से पारण के निमित्त इक्षुरस ग्रहण करने के लिए जहाँ विराजे थे, वहाँ श्रेयांस ने मणिपीठिका बनवा दी और उसे पूजनीय गुरुचरण का स्थान घोषित किया। भोजन के समय श्रेयांस मणिपीठिका का पूजन किया करता। जहाँ-जहाँ भगवान् ने खड़े होकर भिक्षा ग्रहण की, वहाँ-वहाँ लोगों ने मणिपीठिकाएँ बनवाई। इस प्रकार प्रायः उसी समय से 'ब्रह्मपीठ' की स्थापना की प्रथा प्रचलित हुई (नीलयशालम्भ : पृ. १६५)। कहना न होगा कि लोकजीवन में 'ब्रह्मबाबा' के चौतरे की स्थापना की प्रथा के रूप में आज भी यह परम्परा जीवित है और लोकधारणा में कल्याणकारी, अनिष्टनिवारक देवता के रूप में 'ब्रह्मबाबा' की आदरातिशयता यथावत् बनी हुई है।

कथाकार ने अभिनिविष्ट देवियों का उल्लेख किया है। ये अपने विशेषणानुसार बहुत ही हठी स्वभाव की अनिष्टकारिणी देवियाँ होती थीं। हरिवंश (कुल) की उत्पत्ति की कथा में चर्चा है

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' (वही), पृ. १६२

कि पशुहिंसा के समर्थक राजा वसु के छह पुत्र राज्याभिषिक्त हुए थे, जिनका अभिनिविष्ट देवियों ने विनाश कर दिया था (पद्मावतीलम्भ : पृ. ३५७)। देवियाँ धर्म से विचलित करने के निमित्त अनेक प्रकार के मोहन, उद्दीपन आदि उपायों से काम लेतीं थीं। राजा मेघरथ की धर्म के प्रति अविचल आस्था को सहन न कर सकने के कारण ईशानेन्द्र की सुरूपा और अतिरूपा नाम की देवियाँ उसे विचलित करने की बुद्धि से दिव्य उत्तर वैक्रिय (अस्वाभाविक) रूप धारण करके आईं और उन्होंने रात्रि में कामोद्दीपन के अनुकूल समस्त प्रकार के विघ्न उपस्थित किये, फिर भी वे मेघरथ को विचलित करने में असमर्थ रहीं। सुबह होने पर वे देवियाँ मेघरथ की वन्दना और स्तुति करके वापस चली गईं (केतुमतिलम्भ : पृ. ३३९)। बौद्ध वाङ्मय में इसी प्रकार के तपोविघ्न उत्पन्न करनेवाले तत्त्वों को 'मार' की संज्ञा दी गई है।

धारिणी धरती या पृथ्वी की अधिष्ठात्री देवी के रूप में पूजी जाती थीं। उद्यान की जुताई के समय, हल की नोक के आगे धरती से जब कन्या (सीता) निकली, तब राजा जनक ने उसे धारिणी देवी के द्वारा प्रदत्त प्रसाद के रूप में स्वीकार किया था : "तओ नंगलेण उक्खित्तं" ति निवेइयं रण्णो। धारिणीए देवीए दत्ता धूया, चंदलेहा विव वड्डुमाणी जणनयण-मणहरी जाया। ततो 'रूवस्सिणि' ति काऊण जणकेण पिउणा सयंवरो आइडो"; (मदनवेगालम्भ : पृ. २४१)।

ज्योतिष्क देवों में सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारे की चर्चा की जा चुकी है। ये ज्योतिष्क देव शुभाशुभ कर्म के प्रत्यक्ष साक्षी होते हैं। क्षीरकदम्ब उपाध्याय ने परीक्षा के निमित्त जब अपने पुत्र पर्वतक से बकरे को सूने स्थान में ले जाकर वध करने को कहा, तब उसने गली को सूना जानकर शस्त्र से बकरे का वध कर दिया और घर लौटकर उसने पिता से सारी बात बताई। तब पिता ने उसकी भर्त्सना की : "अरे पापी ! ज्योतिष्कदेव, वनस्पतिदेव और प्रच्छन्नचारी गुह्यकदेव मनुष्यचरित का पर्यवेक्षण करते हैं और फिर स्वयं अपनी आँखों से देखते हुए भी तुमने 'नहीं देख रहा हूँ', ऐसा मानकर बकरे का वध कर डाला ! सभझो, तुम नरक में चले गये (सोमश्रीलम्भ : पृ. १९०)।" इस प्रकार, जैन मान्यता के अनुसार, कोई स्थान जनशून्य नहीं है। और, यदि कोई शून्यस्थान मानकर पापकर्म करता है, तो वह उसकी मिथ्याभ्रान्ति है। क्योंकि, देव सर्वत्र व्याप्त हैं। देवों की व्यापकता का सिद्धान्त ब्राह्मण-परम्परा में भी स्वीकृत है। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥' 'श्वेताश्वतरोपनिषद् का' यह वचन इसका प्रमाण है। 'गीता' में भी कहा है : 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी' (९.१८)।

व्रतस्थित साधुओं के भिक्षाग्रहण या पारण के अवसर पर देव फूल, रत्न, गन्धोदक आदि की वर्षा तो करते ही थे, केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय भी उद्योत (प्रकाश) फैलाते थे। पुनः वे देव चक्रवर्ती राजा के घर में रत्न, चक्र आदि उत्पन्न करते थे। जब कोई राजा चक्रवर्ती के पद पर प्रतिष्ठित होता था, तब चौदह रत्न और नवनिधि में अधिष्ठित देव उसके आज्ञाकारी हो जाते थे। ऋषभस्वामी की जिस दिन केवलोत्पत्ति हुई, उस दिन उनके लिए चक्र और रत्न उत्पन्न हुए थे (नीलयशालम्भ : पृ. १८३)। भरत जिस दिन सम्पूर्ण भारत के अधिपति हुए, उस दिन भी चौदह रत्नों और नौ निधियों ने उनकी वंशवदता स्वीकार की थी (पद्मालम्भ : पृ. २०२)। केवलोत्पत्ति मनुष्यत्व से देवत्व की ओर बढ़ने के प्रयास की सिद्धि का सूचक होती थी, इसलिए देवों का प्रसन्न होना, उनके द्वारा फूल बरसाना और ज्योति-महोत्सव या देवोद्योत का आयोजन करना स्वाभाविक था।

संघदासगणी ने अग्निमुख देवों की भी कल्पना की है। ये अग्निमुख देव इन्द्र के आज्ञावर्ती थे। ऋषभस्वामी के शव के अग्निसंस्कार के लिए रचित चिता में जो आग लगाई गई थी, उसे इन्हीं देवों ने अपने मुँह से उत्पन्न किया था, तभी ये अग्निमुख देव कहलाये (नीलयशालम्भ : पृ. १८५)। आभियोगिक देवों की चर्चा करते हुए कथाकार ने कहा है कि ये देव किकरस्थानीय होते थे। ऋषभस्वामी के जन्मोत्सव के समय इन देवों ने अपनी विशिष्ट शक्ति से आठ योजन प्रमाण विमानों का विकुर्वण (परा-प्राकृतिक निर्माण) किया था। उस गेहाकार (विशिष्ट घर) में, अधोलोक में रहनेवाली चलितासना दिक्कुमारियाँ उत्कृष्ट दिव्यगति से चलकर उपस्थित हुई थीं। वे दिक्कुमारियाँ सामानिक (इन्द्रतुल्य देवजाति-विशेष), महत्तरक, पार्षद, अनीक, आत्मरक्षक प्रभृति देवजातियों से परिवृत थीं। ये दिक्कुमारियाँ अनेक रूपों में, अनेक दिशाओं से आई थीं। इस क्रम में कथाकार ने लगभग छप्पन दिक्कुमारियों का नामतः उल्लेख किया है। ये जिन दिशाओं से जितनी संख्या में आई थीं, वे इस प्रकार हैं : अधोलोक से आठ, ऊर्ध्वलोक से आठ, पूर्वरुचक लोक से आठ, दक्षिणरुचक लोक से आठ, पश्चिमीरुचक लोक से आठ, उत्तररुचक लोक से आठ, फिर रुचक विदिशा से चार विद्युत्कुमारियाँ और रुचक-लोक के मध्य से चार दिक्कुमारियाँ। इस प्रकार, ऋषभस्वामी के जन्मोत्सव के समय दिक्कुमारियों की भारी भीड़ जुट गई थी (तत्रैव : पृ. १५९-१६०)।

लोकान्तिक देवों की तो भूयशः चर्चा कथाकार ने की है। संसार-त्याग के लिए प्रतिबोधन करना ही इन देवों का मुख्य कार्य था (नीलयशालम्भ : पृ. १६१, १७१, १७६; केतुमतीलम्भ : ३३०, ३३५, ३४१, ३४५)। यमदेवी भरणी और अग्निदेवी कृत्तिका का भी उल्लेख कथाकार ने किया है। भरणी और कृत्तिका नक्षत्रों के योग में उत्पन्न होने के कारण ही वाताणसी के राजा अग्निशिखर के पुत्र का 'यमदग्नि' नाम रखा गया था (मदनवेगालम्भ : पृ. २३५)। उदधिकुमार क्षीरोदसागर के प्रभारी देव थे। ऋषभस्वामी के शवदाह के बाद उदधिकुमारों ने ही क्षीरोदसागर के जल से चिता बुझाई थी (नीलयशालम्भ : पृ. १८५)। इसी प्रकार, भूतवादी और ऋषिवादी देवों का भी उल्लेख कथाकार ने किया है। लक्ष्मण ने जब रामण (रावण) का वध किया था, तब ऋषिवादी और भूतवादी देवों ने आकाश से पुष्पवृष्टि की थी और लक्ष्मण के बारे में घोषणा की थी कि भारतवर्ष में यह आठवाँ वासुदेव के रूप में उत्पन्न हुआ है (मदनवेगालम्भ : पृ. २४५)।

नागराज धरण भवनपति देवों के अधिपति थे। नागराज धरण विद्याधरों द्वारा विद्याओं के प्रयोग के नियमों का निर्धारण और नियन्त्रण करते थे। सम्पूर्ण नागलोक इनका अनुयायी था। 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित दृष्टिविष ज्वलनप्रभ नाग और उसकी पत्नी नागी नागराज धरण के प्रति आन्तरिक श्रद्धाभाव से अभिभूत थे। यह नागराज धरण तीर्थकर नाम-गोत्र से सम्पन्न थे। एक बार नागराज अपनी पत्नियों (रानियों) के साथ अष्टापद पर्वत पर साधु-वन्दना के निमित्त गये थे। वहाँ साधुओं ने उन्हें सुलभ बोधिवाला बताया और कहा कि वह वर्तमान इन्द्रत्व के भव से उद्धर्तित होकर, ऐरवतवर्ष में, अवसर्पिणी-काल में चौबीसवें तीर्थकर होंगे। नागराज धरण की छह पटरानियाँ थीं : अल्ला, अवका, शतेरा, सौत्रामणि, इन्द्रा और घनविद्युता। अल्ला ही अगले भव में श्रावस्ती के राजा एणिकपुत्र (एणीपुत्र) की पुत्री प्रियंगुसुन्दरी के रूप में उत्पन्न हुई, जो कथा के चरितनायक वसुदेव की पत्नी बनी। नागराज धरण पूर्वभव में मथुरा के यक्षिल नामक ब्राह्मण थे और उनकी प्रधानमहिषी अल्ला मथुरा के ही सोमनामक ब्राह्मण की पुत्री गंगश्री थी, जिसने अपने बेटे एणीपुत्र की पुत्री (प्रियंगुसुन्दरी) के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण किया (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३०५)।

इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' में पूर्वभव की विचित्रता के आधार पर चतुर्विध देवों और मनुष्यों के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध की सघनता का विस्तृत वर्णन कथाकार ने किया है। ब्राह्मणों के देवों में भी देवों और मनुष्यों के परस्पर सम्बन्ध की अनेक कथाएँ मिलती हैं। भारतीय राजा दशरथ, दुष्यन्त, अर्जुन आदि स्वर्गलोक में जाकर जिन देवों के सहायक बने या जिनके पास अध्ययन किया (या फिर जैसे, अर्जुन ने शिव से पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया था) और जिनसे सत्कार पाया, वे देव इसी भारत के उत्तराखण्ड के निवासी थे, ऐसा वैदिक विश्वास है। और, यह भी मान्यता है कि सूर्यमण्डल के सभीपवर्ती देवलोक के प्राणियों को अष्टसिद्धि जन्म से ही प्राप्त है, अतः वे भी यथेच्छ मनुष्याकार धारण कर पृथ्वीलोक में आते हैं। इस मान्यता का विवरण श्रुति, स्मृति, पुराण आदि में बहुशः उपलब्ध है।

'वसुदेवहिण्डी' में तो देव और मनुष्य के बीच शास्त्रार्थ की चर्चा भी उपलब्ध होती है। कथा है कि एक दिन राजा क्षेमकर मणि और रत्न से मण्डित दिव्य सभा में पुत्र, नाती और पोतों से घिरा हुआ बैठा था। उसी समय, ईशानकल्पवासी चित्रचूड नामक नास्तिकवादी देव शास्त्रार्थ के लिए पहुँचा। लेकिन, वह शास्त्रार्थ में, जिनवचनविशारद वज्रायुध से पराजित हो गया। तब, चित्रचूड ने मिथ्यात्व का वमन करके सम्यक्त्व ग्रहण किया। परम सन्तुष्ट ईशानेन्द्र ने वज्रायुध का सम्मान और अभिनन्दन किया तथा जिनभक्ति के प्रति अनुरागवश वज्रायुध के बारे में कहा कि 'यह तीर्थंकर बनेगा।'

इस प्रकार, देव-देवियों की विपुल अवतारणा करके जन-संस्कृति के पक्षधर कथाकार संघदासगणी ने जिनवचन और तीर्थंकर की सर्वोत्कृष्टता का प्रतिपादन किया है। साथ ही, लोक-संस्कृति में देव-देवियों के प्रति आस्था की विविधताओं के उत्कृष्ट प्रतिमानों का सार्वभौम चित्रण करके तत्कालीन उन्नत सांस्कृतिक चेतना का विशिष्ट कलावरेण्य प्रतिरूपण किया है।

विद्याधर और अप्सरा :

प्रस्तुत शोधग्रन्थ में, पारम्परिक विद्याओं के विवरण-विवेचन के प्रकरण में विद्याधरों के सम्बन्ध में विशद प्रकाश डाला जा चुका है। अपने अभिधेय की अन्वर्थता के अनुसार ये विद्याधर विद्या का धारण करनेवाले विशिष्ट मानव ही थे। विद्याधर-लोक से मनुष्य-लोक का सधन सामाजिक-सांस्कृतिक सम्बन्ध निरन्तर बना रहता था। विद्याधरों और मानवों में वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित होता था। स्वयं चरितनायक वसुदेव ने कई विद्याधरियों से विवाह किया था। विद्याधरियाँ ही प्राचीन लोककथा-जगत् की परियाँ हैं, यद्यपि अप्सराओं से ये भिन्न होती थीं। अप्सराओं का सम्बन्ध देवलोक से था, किन्तु विद्याधरियाँ या विद्याधर इसी भारतवर्ष के वैताढ्य पर्वत की उत्तर और दक्षिण श्रेणियों के निवासी थे। मनुष्यों और विद्याधरों के बीच केवल विद्या ही विभाजक रेखा थी। धरणिगोचर मनुष्यों को विद्या की सिद्धि नहीं रहती थी, किन्तु वे अपनी साधना से विद्या की सिद्धि प्राप्त करने में समर्थ हो जाते थे। वसुदेव को अपनी विद्याधरी पत्नी नीलयशा से विद्या सिद्ध करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी, इसलिए कि वह विद्याधरों से कभी पराजित न हों। सिद्धविद्या वसुदेव को अपने प्रतिपक्षी विद्याधरों से बराबर मुठभेड़ भी होती रहती थी, किन्तु वह सदा अपराजेय ही बने रहते थे।

‘वसुदेवहिण्डी’ में सैकड़ों विद्याधर-विद्याधरियों का वर्णन किया गया है, जिनमें पन्द्रह विद्याधर-विद्याधरियों के नाम प्रमुखतया उल्लेख्य हैं। जैसे: अजितसेन, गौरिपुण्ड्र, जटायु, यशोग्रीव, धूमसिंह, धूमशिख, पुरुहूत, बलसिंह, मय, सहस्रघोष, सुग्रीव और सुघोष (विद्याधर); कमला, धनवती और वज्रमालिनी (विद्याधरियाँ)। इनके अतिरिक्त, अनेक विद्याधर नरेश तथा विद्याधर रानियाँ अपने रूप, शील, गुण, वय और विद्या की दृष्टि से अतिशय महनीय स्थान रखते हैं। निस्सन्देह, ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथा का मुख्य आकर्षण देवों और विद्याधरों के चरित्र की वह लोकातिशयता है, जिसकी अतिक्रान्ति के लिए मानवीय चेतना सतत संघर्ष और निरन्तर प्रयास करती है। और, सच पूछिए तो, इस महत्कथाकृति का मूल चेतनाप्रवाह देव, विद्याधर और मनुष्य के परस्पर आकर्षण-विकर्षण से ही परिचालित है।

यथावर्णित विद्याधर-विद्याधरियाँ विविध सुखभोग और केलिविलास के प्रतीक-रूप में कथाकार द्वारा चित्रित हुई हैं। ‘कथासरित्सागर’ (१.१.९७-९८) में उल्लेख है कि पार्वती के कोई अपूर्व कथा कहने का निवेदन करने पर शिव कहते हैं कि विद्याधर की कथाएँ देवों की कथाओं से भी अधिक रोचक होती हैं। विद्याधरों की कथाओं ने, जो ‘बृहत्कथा’ का एक अंग बन चुकी थीं, प्राचीन ब्राह्मण-परम्परा के साहित्य को प्रभावित किया और जैन कथा-साहित्य में भी प्रवेश पा लिया। जैन परम्परा के अनुसार विद्याधर जैन धर्मानुयायी तथा तीर्थंकरों के प्रति श्रद्धावान् होते थे और उनका मुख्य निवास वैताढ्य पर्वत पर था, जहाँ पैदल या सवारी से जाना सम्भव नहीं था। आकाशगामिनी विद्या के बल से ही वहाँ जाया जा सकता था। आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ के सम्बन्धी नमि और विनमि विद्याधर-निकायों के संस्थापक कहे गये हैं। नागराज धरण ने उन्हें बहुत-सी विद्याएँ दी थीं। नागराज की कृपा से ही दोनों कुमारों ने वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी में गगनवल्लभ प्रभृति साठ नगर और दक्षिण श्रेणी में रथनूपुरचक्रवाल प्रभृति पचास नगर बसाये थे। वैताढ्य पर्वत पर जिन-जिन जनपदों से जो-जो मनुष्य आये, उनके जनपद, उन्हीं के नामों से प्रसिद्ध हुए। विद्याओं की संज्ञाओं के आधार पर विद्याधरों के कुल सोलह निकायों की रचना नमि और विनमि ने की थी, जिनमें आठ-आठ निकाय उन्होंने आपस में बाँट लिये थे। ये दोनों कुमार विद्याओं के बल से देव के समान प्रभावशाली होकर स्वजन-परिजन-सहित एक साथ मनुष्य और देव का भोग-विलास प्राप्त करते थे (नीलयशालम्भ : पृ. १६४)।

संघदासगणी ने विद्याओं के आधार पर विद्याधरों के प्रमुख सोलह निकायों की गणना इस प्रकार उपस्थित की है : गौरी से गौरिक, मनु से मनुपूर्वक, गान्धारी से गान्धार, मानवी से मानव, केशिका से केशिकपूर्वक, भूमितुण्डक विद्याधिपति से भूमितुण्डक, मूलवीर्या से मूलवीर्य, शंकुका से शंकुक, पाण्डुकी से पाण्डुक, कालकी से कालकेय, मातंगी से मातंग, पार्वती से पार्वतीय, वंशलता से वंशलता, पांशुमूलिका से पांशुमूलक, वृक्षमूलिका से वृक्षमूलक तथा कालिका से कालकेश (तत्रैव : पृ. १६४)।

नागराज धरण ने विद्याधरों के लिए आचारसंहिता बनाई थी कि यदि वे जिनायतन, जैनसाधु और किसी दम्पति की पवित्रता को विनष्ट करने की चेष्टा करेंगे, तो उनकी सिद्धि नष्ट हो जायगी।^१ विद्याधर विपद्ग्रस्त लोगों के सहायक होते थे और नीतिमार्ग से थोड़ा भी स्वर्लित होने पर उनका

१. ‘तो धरणेण आमद्वा—सुणह भो ! अज्जपभित्ति साहियाओ विज्जाओ भे विहेया भविस्सन्ति, सिद्धविज्जा वि य जिणघरे अणगारे मिहुणे वा अवरज्जमाणा भद्दविज्जा भविस्सह।’ (बालकञ्जालम्भ : पृ. २६४)।

दिव्य गौरव तिरोहित हो जाता था। 'वसुदेवहिण्डी' में ऐसी भी कथाएँ हैं कि अपनी सहज हितैषणा-वृत्ति और नागराज धरण की चेतावनी के बावजूद विद्याधरों ने उत्पीड़न और अपहरण के काण्ड किये हैं। विद्याधर मानसवेग ने एक मानवी का अपहरण किया था। उसकी बहन वेगवती उसे नागराज धरण की चेतावनी का स्मरण दिलाती है, किन्तु उसका कोई फल नहीं होता। किन्तु वह अपहृता युवती को अपने प्रासाद में नहीं, वरन् उद्यान में रखता है। दूसरी कथा है कि मानसवेग की सम्पत्ति के बिना वसुदेव ने उसकी बहन वेगवती का पाणिग्रहण किया था, अतः प्रतिक्रियावश उसने वसुदेव की दूसरी पत्नी (सोमश्री) का अपहरण कर लिया (सोमश्रीलम्भ : पृ. ३०८)। 'वसुदेवहिण्डी' में एक अन्य दुष्ट विद्याधर धूमसिंह की कथा है, जिसने विद्याधरनरेश अमितगत को कीलों से जड़कर उसकी पत्नी सुकुमारिका का अपहरण किया था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४०)।

विद्याधरियाँ कामकला-प्रगल्भा होती थीं और वे स्वयं स्वाभीप्सित पुरुष को सम्भोग के लिए आमन्त्रण देती थीं। कामकला की क्रीडापुत्तली विद्याधरियों के उल्लेख के क्रम में काम अथवा रोमानी प्रेम का प्राधान्य और प्राचुर्य का प्रस्तवन करनेवाली महत्कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' ने वैराग्यवादी जैनकथा-साहित्य में एक समस्या की सृष्टि की है। यद्यपि इस रोमानी प्रवृत्ति की प्रमुखता के अनेक कारण उपस्थित किये गये हैं, तथापि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि 'वसुदेवहिण्डी' की अधिकांश कथाओं से जो उत्कट रोमानी और प्रगाढ़तर वासनात्मक वातावरण बनता है, वह नैतिक उपदेशों पर प्रेमाख्यानकों के पुट देने के प्रचलित तकनीक की दुहाई देने से निराकृत नहीं हो पाता है। इसलिए, इस सन्दर्भ में डॉ. जगदीशचन्द्र जैन का यह कथन अधिक मूल्य रखता है कि 'कामकथाएँ जैन साहित्य में बहुधा उपलब्ध होती हैं और कहीं-कहीं तो यह आवरण-विधान ऐसा बन पड़ा है कि नैतिक उपदेश के अंश को, जो परम्परागत लोककथाओं में मानों परिशिष्ट के रूप में जोड़ दिया गया है, परख पाना भी मुश्किल है।' इसलिए, इस सन्दर्भ में मुख्य ध्यातव्य तत्त्व यह है कि रत्यात्मक यथार्थता के चित्रण द्वारा महान् कथाकार ने अपनी कारुकारिता के प्रति ततोऽधिक ईमानदारी से काम लिया है और लोकजीवन की सहज प्रवृत्ति को नैतिकता के बलात् आरोपण या आवरण-विधान से मुक्त रखा है।

जो भी हो, इतना तो निश्चय ही सत्य है कि 'वसुदेवहिण्डी' में चित्रित विद्याधर-विद्याधरियों के चरित्र के व्याज से, तत्कालीन भारतीय सांस्कृतिक जीवन की कलात्मक समृद्धि के अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण आयाम समुद्भावि हुए हैं, जो अपने पाठकों के चित्त को आज भी अनास्वादित उदात्त अलौकिक भूमिका पर प्रतिष्ठित कर विस्मय से विभुग्ध कर देते हैं।

संध्यासगणी ने देवयोनि-विशेष की विशिष्ट देव-जाति अप्सराओं का भी मनोहारी वर्णन उपन्यस्त किया है। इन्द्र की सभा में रहनेवाली ये रूपवती अप्सराएँ ललित कलाओं की मर्मज्ञा होती थीं और इन्द्र के आदेशानुसार तपस्वियों के मोहन, वशीकरण आदि कार्यों में प्रतिनियुक्त होती थीं। ब्राह्मण-परम्परानुसार ही कथाकार ने तिलोत्तमा, रम्भा, मेनका और उर्वशी का एक साथ उल्लेख किया है (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३०)। ब्राह्मण-परम्परा में प्रसिद्धिप्राप्त जैन कोशकार अमरसिंह ने अपने 'अमरकोश' में अप्सराओं को 'स्वर्वेश्या', अर्थात् स्वर्ग के निवासी देवों की

१. द्र. 'परिषद्-पत्रिका', वर्ष १६ : अंक १ (अप्रैल, १९७६ ई.) में प्रकाशित तथा डॉ. रामप्रकाश पोद्दार द्वारा अनुदित 'जैनकथा-साहित्य का गौरव-ग्रन्थ: वसुदेवहिण्डी' शीर्षक लेख, पृ. ४१

भोग्या गणिका, कहा है। अप्सराओं के उक्त चार नामों के अतिरिक्त अमरसिंह ने घृताची, सुकेशी, मंजुघोषा आदि नामों के भी होने का संकेत किया है।^१ ये अप्सराएँ प्रकट और अन्तर्धान होने की शक्ति से भी सम्पन्न होती थीं।

रोषप्रदीप्त विष्णुकुमार ने जब अपने शरीर का अपरिमेय विस्तार किया, तब लगा कि जैसे वह धरती को ही लील जायेंगे। ऐसी स्थिति में उन्हें गीत-नृत्योपहार से अनुनीत और शान्त करने के लिए सौधर्मेन्द्र ने अपनी अप्सराओं—तिलोत्तमा, रम्भा, मेनका और उर्वशी को हस्तिनापुर जाने का आदेश दिया था। उन अप्सराओं ने सौधर्म स्वर्ग से हस्तिनापुर आकर विष्णुकुमार की आँखों के समक्ष नृत्य किया था।

चारुदत्त को, मदविह्वल स्थिति में, वसन्ततिलका में अप्सरा का भ्रम हुआ था। मधु के प्रभाव से जब उसका पैर लड़खड़ाते लगा था, तब उस भ्रान्तिमयी अप्सरा ने दायें हाथ से चारुदत्त की भुजाओं और माथे को सहारा दिया था। लड़खड़ाता हुआ चारुदत्त उसके गले से लग गया था। तभी उसके शरीर के स्पर्श से चारुदत्त को अनुभव हुआ कि निश्चय ही यह इन्द्र की अप्सरा है (तत्रैव : पृ. १४३)। कथाकार ने इस स्पर्श की विशिष्टता का विवरण तो नहीं दिया है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही आभासित होता है कि उस युग में मनुष्यों को भी अप्सराओं के मृदुल मांसल अंगों के अतिमानवीय विशिष्ट स्पर्श का परमसुख उपलब्ध होता था। यों, विश्वामित्र का मेनका के साथ और राजा पुरुरवा का उर्वशी के साथ सम्भोग-समारम्भ की वेदोक्त कथाएँ सर्वविदित हैं। कहना न होगा कि मनुष्यों को सुखभोग की चरम सीमा पर पहुँचाकर सहसा अन्तर्हित हो जानेवाली परियों की कथाएँ भारतीय साहित्य ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में विविधता, विचित्रता और व्यापकता के साथ वर्णित हुई हैं।

संघदासगणी ने अप्सराओं के मोहक रूप के साथ ही उनके विनासक रूप का भी वर्णन किया है। यद्यपि, उनका यह विनासन-कार्य किसी तपस्वी को विध्वित करनेवाले व्यन्तरदेवों के प्रति हुआ करता था। कथा है कि एक दिन वज्रायुध सिद्ध पर्वत पर गया। वहाँ उसने शिलापट्ट पर 'नमो सिद्धाणं' इस नमस्कार-मन्त्र का उच्चारण कर इस निश्चय के साथ कायोत्सर्ग किया कि यदि कुछ उपसर्ग उत्पन्न होंगे, तो मैं उन सबका सहन करूँगा। इसके बाद वह वैरोचन (अग्नि)-स्तम्भ की तरह स्थिर होकर सांवत्सरिक व्रत करने लगा।

उसी समय अश्वघ्रीव के पुत्र मणिकण्ठ और मणिकेतु असुरकुमार के रूप में उत्पन्न होकर वज्रायुध के तपोव्रत में अनेक प्रकार के विघ्न उत्पन्न करने लगे। किन्तु, वज्रायुध उपसर्गों का सम्यक् सहन करता रहा। इसी समय रम्भा और तिलोत्तमा नाम की अप्सराएँ उत्तर वैक्रिय (स्वभाव से भिन्न) रूप धारकर वहाँ आई और असुरकुमारों को विनासित करने लगीं, फलतः असुरकुमार अन्तर्हित हो गये। तदनन्तर, उन अप्सराओं ने तपोनिरत वज्रायुध की वन्दना की और नृत्य दिखाकर वापस चली गईं (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३२)।

१. जिन्यां बहुष्वप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः।

घृताची मेनका रम्भा उर्वशी च तिलोत्तमा ॥

सुकेशी मञ्जुघोषाद्याः कथ्यन्तेऽप्सरसो बुधैः ॥ (प्रथमकाण्ड, स्वर्ग-वर्ग)

संघदासगणी द्वारा वर्णित अप्सराओं की विशेषता यह है कि ये किसी तपस्वी का तपोभंग नहीं करती, अपितु तपस्वियों के प्रति पूजाभाव रखकर उनके तप को निर्विघ्न बनाने में सहायता करती थीं। श्रमण-परम्परा में ब्राह्मण-परम्परा की भाँति किसी तपस्वी के तप से इन्द्रासन को विचलित होते नहीं दिखाया गया है, अपितु इन्द्र को कठोर तप में लीन तपस्वी पर प्रसन्न होकर उसकी उपासना करते दिखाया गया है। तपस्वी इन्द्रासन के आकांक्षी न होकर मोक्षासन के जिगीषु-जिगमिषु होते थे। निवृत्तिमार्गी जैन कथाओं की अप्सराओं या इन्द्रों की यह साधु प्रवृत्ति अपना अतिशय मौलिक महत्त्व और विशिष्ट सांस्कृतिक मूल्य रखती है।

अन्य देवयोनियाँ :

संघदासगणी ने अन्य देवयोनियों में भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, महोरग आदि का भी विशिष्ट वर्णन किया है, जिसमें लोक-संस्कृति के अनेक मूल्यवान् पक्ष उद्भाषित हुए हैं। जैनग्रन्थों में उक्त भूत, पिशाच आदि को व्यन्तर देवों की श्रेणी में रखा गया है। इस सन्दर्भ में संघदासगणी द्वारा वर्णित व्यन्तर देवों के चरित्र का अध्ययन रुचिर प्रासंगिकता का विषय होगा।

‘वसुदेवहिण्डी’ की कथाओं में भूतगृहों (प्रा. भूतघर या भूयघर) का प्रसंग भयोत्पादक वातावरण के विकास के क्रम में उपस्थित किया गया है। धम्मिल्लहिण्डी (पृ. ५२) में कथा है कि वेश्या से वंचित धम्मिल्ल, जब अगडदत्त मुनि को प्रणाम करके चला, तब रास्ते में उसे एक भूतघर मिला। उस समय साँझ हो चुकी थी। धम्मिल्ल भूतघर में प्रविष्ट हुआ और तपस्या से क्लान्तशरीर होने के कारण सो गया। तभी भूतघर के देव ने स्वप्न में उससे कहा कि तुम आश्वस्त रहो। तुम्हें विद्याधर, राजा और इन्ध्यों की बत्तीस कन्याओं का भानुष्य उपभोग प्राप्त होगा। इसी प्रकार, एक अन्य कथा में भी भूतघर की चर्चा आई है :

एक ब्राह्मण था। बहुत उपाय करने पर उसके एक पुत्र हुआ। उस गाँव में एक राक्षस रहता था, जिसके भोजन के निमित्त कुलक्रमागत रूप से प्रत्येक घर से एक पुरुष अपने को निवेदित कर देता था। जब उस ब्राह्मण-पुत्र की बारी आई, तब ब्राह्मणी भूतघर के पास जाकर रोने लगी। भूत को उसपर दया हो आई। उसने ब्राह्मणी से कहा : ‘मत रोओ। मैं तुम्हारे पुत्र की रक्षा करूँगा।’ जब ब्राह्मणपुत्र ने अपने को राक्षस के लिए निवेदित किया, तब भूतों ने उसे वहाँ से अपहृत कर पहाड़ की गुफा में ले जाकर रख दिया और ब्राह्मणी से अमुक स्थान में तुम्हारे पुत्र को रख दिया है, यह कहकर वे भूत चले गये। किन्तु, होनी को कौन टाल सकता है? गुफा में पहले से बैठा अजगर उस ब्राह्मण-पुत्र को निगल गया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१५-३१६)। इस प्रकार, यहाँ भूत एक प्रकार के दयालु और उपकारी देव के रूप में चित्रित हुए हैं।

एक अन्य कथा में उल्लेख है कि वसन्ततिलका गणिका की माँ ने चारुदत्त को योगमद्य पिलाकर बेहोश कर दिया था और उसी हालत में उसे भूतघर में डलवा दिया था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५४)। इस कथाप्रसंग से यह स्पष्ट है कि उस समय भूतों द्वारा लोगों के मार डाले जाने का लोकविश्वास प्रचलित था। इसलिए, षड्यन्त्रकारिणी गणिका माता ने मूर्च्छित चारुदत्त को भूतघर में डलवा दिया था, ताकि उसके मर जाने पर भी लोग यही समझेंगे कि भूत ने उसे मार डाला।

भूत-वेताल पर विश्वास करना उस युग की लोक-संस्कृति का एक अंग था। वेताल से सम्बद्ध एक कथाप्रसंग (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १७८) इस प्रकार है : एक दिन, रात के समय, चम्पापुरी में गन्धर्वदत्ता के भीतरी घर में वसुदेव बिछावन पर आँखें मूँदे पड़े थे, तभी वे किसी के हाथ के स्पर्श से चौंक उठे और सोचने लगे कि हाथ का यह स्पर्श तो अपूर्व है। यह गन्धर्वदत्ता के हाथ का स्पर्श नहीं मालूम होता। मणिमय दीपक की रोशनी में जब उन्होंने अपनी आँखें खोलीं, तब एक भयंकर रूपधारी वेताल दिखाई पड़ा। वसुदेव सोचते ही रहे : सुनते हैं, वेताल दो प्रकार के होते हैं—शीत और उष्ण। जो वेताल उष्ण होते हैं, वे विनाश के लिए शत्रुओं द्वारा नियुक्त होते हैं, लेकिन शीत वेताल नित्य कहीं ले जाता है और फिर वापस ले आता है। इसके बाद वेताल वसुदेव को बलपूर्वक खींच ले चला। वेताल उन्हें गर्भगृह से बाहर ले गया। सभी दासियाँ सोई दिखाई पड़ीं। वेताल ने अवस्वापिनी विद्या से उन्हें गहरी नींद में सुला दिया था, इसलिए पैर से छू जाने पर भी वे जगती नहीं थीं। दरवाजे पर पहुँचकर वेताल बाहर निकल गया, लेकिन किवाड़ लगाना भूल गया। किन्तु उसके बाहर निकलते ही किवाड़ के पल्ले आपस में मिल गये और दरवाजा अपने-आप बन्द हो गया। वेताल वसुदेव को श्मशानगृह में ले गया। वहाँ उन्होंने एक मातंगवृद्धा को कुछ बुदबुदाते हुए देखा, जिसने वेताल से कहा : 'भद्रमुख ! तुमने मेरा काम पूरा कर दिया, बहुत अच्छा किया।' इसके बाद वेताल ने वसुदेव को वहीं छोड़ दिया और हँसते हुए अदृश्य हो गया।

इस कथा से स्पष्ट है कि वेताल कई प्रकार के होते थे और उस युग में, श्मशान में स्त्रियाँ भी तन्त्र-साधना करती थीं। तन्त्र-साधना करनेवाले तान्त्रिक किसी को वंशवद बनाने के लिए वेतालों को नियुक्त करते थे। वे वेताल नींद में सुला देने, अन्तर्हित होने आदि की विद्याओं से सम्पन्न होते थे। साथ ही, वेताल से आविष्ट व्यक्ति वेताल की आज्ञा के पालन में विवश हो जाते थे।

संघदासगणी ने राक्षस-पिशाच की आकृति और भूतों के पहनावे के साथ ही, उनके द्वारा किये जानेवाले नृत्य का भी वर्णन किया है। कथा है कि एक बार आधी रात के समय वसुदेव अचानक जग पड़े और अपनी बगल में सोई किसी अज्ञात स्त्री को देखकर सोचने लगे कि मुझको छलने के लिए कोई राक्षसी या पिशाची तो नहीं आ गई है। फिर सोचा, यह भी सम्भव नहीं; क्योंकि राक्षस या पिशाच तो स्वभावतः क्रूर और भयंकर रूपवाले साथ ही प्रमाण से अधिक मोटे होते हैं (वेगवतीलम्भ : पृ. २२६)। एक दूसरी कथा में भूतों के परिधान और आयुधों तथा नृत्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है। एक बार राजा मेघरथ देवोद्यान की ओर निकला और वहाँ अपनी रानी प्रियमित्रा के साथ यथेच्छित रूप में रमण करने लगा। उसी क्रम में वह वहाँ अशोकवृक्ष के नीचे मणिकनक-खचित शिलापट्ट पर बैठा। तभी, बहुत सारे भूत वहाँ आये। वे अपने हाथों में तलवार, त्रिशूल, भाला, बाण, मुद्गर और फरसा लिये हुए थे; शरीर में उन्होंने भस्म लपेट रखा था; वे मृगचर्म पहने हुए थे; उनके केश भूरे और बिखरे हुए थे; काले, लम्बे साँप का उत्तरासंग धारण किये हुए थे; गले में अजगर लपेट रखा था, उनके पेट, जाँघ और मुँह बड़े विशाल थे; उन्होंने गोह, चूहे, नेवले और गिरगिट के कर्णफूल पहन रखे थे तथा बार-बार अनेक प्रकार से रूप बदलते थे। इन भूतों ने राजा मेघरथ के आगे गीत और वाद्य के गम्भीर स्वर के साथ नृत्य किया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३६)।

‘वसुदेवहिण्डी’ में राक्षस और पिशाच के और भी कई रोचक कथाप्रसंगों का उल्लेख हुआ है। चारुदत्त की कथा में नदी-तट की बालू पर उगे पदचिह्नों को देखकर उत्पन्न हुई हरिसिंह की जिज्ञासा के उत्तर में गोमुख देव, राक्षस, पिशाच आदि का अलग-अलग अभिज्ञान बताते हुए, कहता है कि देवता तो धरती से चार अंगुल ऊपर चलते हैं और राक्षस तो महाशरीर होते हैं। पिशाच तो जलबहुल प्रदेश से डरते हैं, इसलिए वे यहाँ नहीं आ सकते। अन्त में, यही निश्चय हुआ कि ये पदचिह्न विद्याधर के हैं (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३५)। इसके अतिरिक्त, कथाकार ने तालपिशाच का भी वर्णन किया है। विद्याधर भी पिशाचों के रूप में अपने को बदलने की विद्या जानते थे। कथा है कि अश्वघोष ने जब अपने विद्याधर सैनिकों को बुलाया, तब वे झुण्ड-के-झुण्ड वहाँ आ धिरे। माया और इन्द्रजाल के प्रयोग में निपुण (‘माया-इन्द्रजालाणि य पठंजिऊण’) उन विद्याधर-सैनिकों ने रथावर्त पर्वत पर पड़ाव डाला और तालपिशाच, श्वान, शृगाल, सिंह आदि के भयंकर रूपों की रचना करके पानी, आग और अस्त्र फेंकते हुए त्रिपुष्ट की सेना को पराजित करने लगे (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१२)।

विष्णुकुमार के विराट् शरीर को देखकर प्रायः सभी व्यन्तर और ज्योतिष्क देव एक साथ त्रस्त-पीडित हो उठे थे। कथा है कि विष्णुकुमार के अदृष्टपूर्व महाशरीर को देखकर व्यन्तरदेव-समुदाय के किन्नर, किम्पुरुष, भूत, यक्ष, राक्षस, महोरग तथा ज्योतिष्क देव भय से भाग चले, उनकी आँखें व्याकुलता से चंचल थी, आभूषण खिसक रहे थे, वे अप्सराओं की सहायता लिये हुए थे और किंकर्तव्यविमूढ होकर कातर भाव से आर्तनाद करते हुए हड़बड़ी में एक दूसरे पर गिर रहे थे। थर-थर काँपते हुए सभी खेचर प्राणी भौंचक होकर विष्णुकुमार के मन्दराकार शरीर को देख रहे थे। यहाँ कथाकार ने ऋद्धिसम्पन्न तप की महावर्चस्विता से दीप्त मानव-शरीर के समक्ष व्यन्तर देवों की वर्चस्विता के तुच्छत्व की ओर संकेत किया है।

गुह्यकों (देवयोनि-विशेष) को कथाकार ने प्रच्छन्नचारी कहा है। वे प्रच्छन्न भाव से लोकचरित के द्रष्टा होते हैं : ‘पच्छण्णचारियगुह्यया पस्संति जणचरियं’ (सोमश्रीलम्भ : पृ. १९०)। उस समय यक्षों या यक्षिणियों के प्रति भी लोग विश्वास रखते थे। भूतगृह की भाँति यक्षगृहों की भी प्रतिष्ठापना उस युग की धार्मिक लोकप्रथाओं में अपना विशिष्ट महत्त्व रखती थी। संघदासगणी ने भी यक्षगृहों और यक्ष-यक्षिणियों की चर्चा की है। उन्होंने यह भी संकेतित किया है कि यक्ष-देवकुलों में अनेक दरिद्र पुरुष रहा करते थे, जिनसे बोझा ढोने का काम लिया जाता था। अगडदत्तमुनि ने अपनी आत्मकथा में कहा है कि त्रिदण्ड परिव्राजक के पीछे-पीछे वह भी उज्जयिनी नगर में आया। वहाँ उस (परिव्राजक) ने बहुत ऊँचे महल में संध लगाई और उसके भीतर पैठ गया। थोड़ी देर में अनेक प्रकार की, धन से भरी पेटिकाएँ ले आया और वहाँ अगडदत्त को खड़ा करके चला गया। कुछ ही देर में वह परिव्राजक यक्ष-देवकुल से कतिपय दरिद्र पुरुषों को ढकड़कर साथ ले आया (‘ताव य सो आगतो ज्वखदेउलाओ सत्थिल्लए दरिहुपुरिसे घेतूण’; धम्मिल्लहिण्डी ; पृ. ४०)।

संघदासगणी द्वारा प्रस्तुत यक्ष-वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उस समय लोगों के शरीर पर यक्ष का आगमन होता था और यक्षाविष्ट मनुष्य मद्यपायी की तरह विभिन्न प्रकार के कायविक्षेप करने लगता था। कथाप्रसंगवश लौकिक उदाहरण का आश्रय लेते हुए श्रमणवादी कथाकार ने

नृत्य को यक्षाविष्ट पराधीन मनुष्य के कायविक्षेप और वाक्प्रलाप से विडम्बित किया है ('इत्थी पुरिसो वा जो जक्खाइडो परवत्तव्वो, मज्जे पीए वा जातो कायविकखेवजातीओ दंसेइ, जाणि वा वयणाणि भासति सा विलंबणा' नीलयशालम्भ : पृ. १६७)।

कथानायक वसुदेव के मुख से स्वयं उनके यक्षिणियों के चंगुल में फँसने की कल्पित कथा कहलवाकर कथाकार संघदासगणी ने तत्कालीन लोकजीवन में प्रचलित यक्षिणियों द्वारा आकाश में उड़ा ले जाने की धारणा की सम्पुष्टि की है। अंगारक ने वसुदेव को जिस अन्धकूप में फँक दिया था, उससे निकलकर जब वे अंग-जनपद की चम्पानगरी में पहुँचे, तब वहाँ उन्हें एक अधेड़ उग्र का आदमी दिखाई पड़ा। उसके जिज्ञासा करने पर वसुदेव ने अपने छद्म परिचय में कहा : 'सुनो, मैं मगधवासी गौतमगोत्रीय स्कन्दिल नाम का ब्राह्मण हूँ। मुझे यक्षिणी से प्रेम हो गया। वह मुझे आकाशमार्ग से अपने इच्छित प्रदेश में ले जा रही थी कि दूसरी यक्षिणी ने ईर्ष्यावश हमारा पीछा किया और जब दोनों यक्षिणियाँ आपस में लड़ने लगीं, तब मैं आकाश से गिर पड़ा।' उस मनुष्य ने बहुत गौर से रूपवान् वसुदेव को देखकर कहा : 'सम्भव है, आश्चर्य नहीं कि यक्षिणियाँ आपको चाहती हों।' इस उत्तर में यह ध्वनित है कि रूपोन्मादवती यक्षिणियाँ रूपवान् पुरुषों पर मुग्ध होकर उन्हें अपनी कामतृप्ति के लिए ईप्सित स्थानों में ले जाती थीं। आज भी यह लोकविश्वास है कि किच्चिन (डाकिनी या शाकिनी का रूपान्तर) जाति की भूतयोनि की महिलाएँ बलिष्ठ सुन्दर युवा के शरीर पर आती हैं और उन्हें आविष्ट कर अपनी कामतृष्णा शान्त करती हैं। यह 'किच्चिन' शब्द यक्षिणी > जक्खिनी > जक्खिन आदि से ही क्रमशः विकसित प्रतीत होता है। कहना न होगा कि यक्षिणी की चारित्रिक परम्परा आधुनिक लोकचेतना में 'किच्चिन' के रूप में जीवित है।

संघदासगणी ने कमलाक्ष, लोहिताक्ष, सुमन और सुरूप इन चार यक्षों का नामतः उल्लेख किया है। इन यक्षों के चरित्र-चित्रण से स्पष्ट है कि यक्ष-जाति के सदस्य भी बड़े रूपवान् होते थे। ललितकलाओं से सम्पन्न यक्ष-यक्षिणी के रूप-चित्रण की दृष्टि से कालिदास की पार्यन्तिक काव्यकृति 'मेघदूत' निश्चय ही संघदासगणी के लिए आदर्श रहा है। राजगृह के नागरिक, वसुदेव के रूप से विस्मित होकर उन्हें यक्षाधिपति कुबेर के भवनवासी कमलाक्ष यक्ष के तुल्य समझ बैठे थे। (ण एस माणुसो, अवस्सं धणदभवणचरो कमलक्खो जक्खो हवेज्ज; वेगवतीलम्भ : पृ. २४८)। इसी प्रकार, भद्रक महिष ने देहत्याग के बाद असुरेन्द्र चमर के महिषयूथपति लोहिताक्ष यक्ष के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण किया था (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७५)। लोहिताक्ष नाम से ही इसके अतिशय रूपवान् रहने की अभिव्यंजना होती है।

भारतीय साहित्य में यक्ष की चर्चा के क्रम में, मनोरमता प्रायः सर्वत्र जुड़ी हुई है। संघदासगणी ने भी मगध-जनपद के शालिग्राम गाँव के एक मनोरम नामक उद्यान की चर्चा की है, जहाँ अशोकवृक्ष के नीचे सुमन नामक यक्ष की सुमना नाम की शिला प्रतिष्ठित थी, जिसपर सुमन की प्रसन्नता के उद्देश्य से लोग पूजा करते थे (पीठिका : पृ. ८५)। सत्यवादी सत्य नाम के साधु ने सुमना शिला के निकट ही सार्वरात्रिक व्रतपूर्वक कायोत्सर्ग किया था (तत्रैव : पृ. ८८)। इसी प्रकार, एक अन्य कथा में कथाकार ने सुरूप, अर्थात् अतिशय रूपवान् यक्ष का उल्लेख किया है। प्रसंग है कि विद्याधर दमितारि बहुत काल तक इस संसार का भ्रमण करके इसी भारतवर्ष

में, अष्टापद पर्वत की तराई में, निकटी नदी के तटवासी तापस सोमप्रभ के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ और 'अज्ञानतप' या 'बालतप' करके परभव में सुरू नामक यक्ष बना (केतुमतीलम्भः पृ. ३३८)

संघदासगणी ने यक्ष के साथ ही गन्धर्वों का भी मनोरम वर्णन किया है। गन्धर्व-जाति के सदस्य संगीत-कला में निष्णात होते थे, इसलिए 'गन्धर्व' शब्द संगीत का पर्याय बन गया था। संगीत के प्रतिनिधि गन्धर्वों में तुम्बुरु, नारद, हंहा, हूहू और विश्वावसु का उल्लेख कथाकार ने किया है। इन गन्धर्वों ने क्रुद्ध विष्णुकुमार को प्रसन्न करने के लिए जो गीत गाया, वह 'विष्णुगीत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विद्याधरों ने नारद और तुम्बुरु से ही 'विष्णुगीत' ग्रहण किया था (गन्धर्वदत्तालम्भः : पृ. १३०)। विष्णुगीत के विषय में परिचय देते हुए वसुदेव ने चारुदत्त सेठ के सभासदों से कहा था कि 'देव-गन्धर्व के मुख से उद्गत जो गीत विष्णुकुमार के लिए निस्सृत हुआ और जिसे विद्याधरों ने धारण किया, उसे प्रधान राजकुलों में भी प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए, सप्ततन्त्री वीणा पर गेय इस गीत की जानकारी वसुदेव को थी; क्योंकि वे भी दस दशार्हों के प्रसिद्ध राजकुल के सदस्य थे। उन्होंने इस गीत को अपनी अन्य पत्नी श्यामली को भी सिखाया था।

इस प्रकार, शास्त्रगम्भीर कथाकार संघदासगणी द्वारा 'वसुदेवहिण्डी' में देवों और देवयोनियों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें उनकी न केवल कथाचेतनामूलक रचनात्मक प्रतिभा प्रतिबिम्बित हुई है, अपितु उनके द्वारा किये गये जैन और ब्राह्मण-ग्रन्थों के लोकविश्वासों के समेकित तलस्पर्शी अध्ययन का मर्म भी शब्दित हुआ है। देव-देवियों के प्रसंग में एक ध्यातव्य तथ्य यह है कि अन्य जैन कृतियों के सदृश 'वसुदेवहिण्डी' में भी तत्कालीन ब्राह्मण-परम्परा की अनेक पौराणिक देवों को भी मानुषीकृत करके समाविष्ट कर लिया गया है। उदाहरण के लिए, विष्णु-बलि-उपाख्यान को ले सकते हैं। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार, राक्षसों के राजा बलि को दण्डित करने के लिए विष्णु का पाँचवाँ वामनावतार हुआ। वामन-रूपी विष्णु ने बलि से तीन पग भूमि की याचना की। बलि की स्वीकृति के बाद वामन ने अपने शरीर का ऐसा विस्तार किया कि उन्होंने पहले पग में पूरी धरती और दूसरे से साश आकाश माप लिया तथा तीसरा पग बलि के सिर पर रखा और उसे पाताल जाने को विवश कर दिया।

'वसुदेवहिण्डी' और 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की विष्णु-बलिकथा का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि 'वसुदेवहिण्डी' के जैनमुनि विष्णुकुमार वैदिक परम्परा के वामन के ही प्रतिरूप हैं। इसी सन्दर्भ में 'वसुदेवहिण्डी' की इन्द्र की कथा को या वासव के उदाहरण को भी तुलनात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन का विषय बनाया जा सकता है। कथाकार द्वारा प्रस्तुत वैदिक देवों या देवियों के जैन रूपान्तर में वैचारिक भेदकता की न्यूनाधिकता के बावजूद कथा के ठाट की दृष्टि से आस्वाद की रमणीयता में पर्याप्त अभिनवता है। 'वस्तुतः, 'वसुदेवहिण्डी' की पौराणिक कथाओं का ब्राह्मण पुराणों की कथाओं के परिप्रेक्ष्य में तुलनामूलक या व्यतिरेकी अध्ययन एक स्वतन्त्र शोध का विषय है।

वैज्ञानिक चेतना :

‘वसुदेवहिण्डी’ में तत्कालीन लोकसांस्कृतिक चेतना में वैज्ञानिक चेतना का भी अद्भुत समन्वय उपलब्ध होता है। संघदासगणी ने कथा के व्याज से उस युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों में तकनीकी प्रविधि की भी उत्कृष्टतर विकासात्मक स्थिति की ओर इंगित किया है। अन्तरिक्ष में शब्द और प्रकाश की गति-सीमा का निर्धारण या फिर जाँघ में दवा डालकर लिंग-परिवर्तन की वैज्ञानिक चेतनामूलक कथा पर यथाप्रसंग प्रकाश डाला जा चुका है। इसके अतिरिक्त, उस युग में विमान या हवाई जहाज के निर्माण की प्रविधि के विकसित होने तथा भगवान् के भाषण के विभिन्न कर्णवन्त प्राणियों के लिए उनकी अपनी-अपनी भाषा में परिणत होने की चर्चा से सम्बद्ध विज्ञानशास्त्रीय कथाएँ भी अपने-आपमें पर्याप्त रोचक और विस्मयजनक हैं। इन प्रसंगों से कथाकार की वैज्ञानिक परिकल्पना के ततोऽधिक उत्कर्ष की सूचना प्राप्त होती है। यथावर्णित आकाशगामी यन्त्र, चक्रयन्त्र और घोटकयन्त्र उस युग की कथाओं में प्रसिद्ध उड़नखटोले की मिथकीय कल्पना के रोचक उदाहरण हैं। इसी सन्दर्भ में यन्त्रकपोत के भी मनोरंजक प्रसंग का उल्लेख हुआ है। इस सम्बन्ध में कोक्कास नामक बड़ई के पुत्र की कथा का अन्वीक्षण आनुषंगिक होगा।

कथा है कि ताम्रलिप्ति नगरी में रिपुदमन नाम का राजा रहता था। उसकी रानी का नाम प्रियमति था। उसी नगरी में धनपति नाम का एक धनाढ्य व्यापारी था। वह राजा का लैंगोटिया साथी था। उसी नगरी के धनद नाम के बड़ई के एक पुत्र हुआ। दरिद्रता के कारण चिन्ता करते-करते धनद और उसकी पत्नी दोनों मर गये। इस बड़ई का बेटा धनपति के घर पलने लगा। चूँकि, वहाँ वह भूसाधर में भूसा (कुक्कुस) खाता था, इसलिए उसका नाम ‘कोक्कास’ पड़ गया।

कुछ दिन बाद, कोक्कास धनपति सार्थवाह के पुत्र धनवसु के साथ समुद्र-पार यवनदेश चला गया। वहाँ वह पड़ोस के ही व्यापारी-कुल के एक बड़ई के घर जाकर समय बिताने लगा। उस बड़ई के बेटे अनेक प्रकार के, बड़ईगिरी के काम सीखते थे, किन्तु वे अपने पिता द्वारा दी जानेवाली शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाते थे। कोक्कास उन्हें मदद करता—‘ऐसा करो, ऐसा होना चाहिए’ बड़ई-पुत्रों के आचार्य (पिता) ने विस्मित होकर कोक्कास से कहा : ‘पुत्र ! तुम मुझसे विद्याएँ सीखो।’ आचार्य की शिक्षण-कुशलता से कोक्कास ने कम समय में ही सभी काष्ठकर्म सीख लिये और आचार्य की आज्ञा लेकर समुद्री नाव से ताम्रलिप्ति लौट आया।

ताम्रलिप्ति में कोक्कास के बड़ी कड़की के दिन चल रहे थे। उसने अपने जीवनोपाय के निमित्त राजा के समक्ष आत्मज्ञापन की बात सोची। उसने दो यन्त्रकपोत^१ (यन्त्र से उड़नेवाले कबूतर) बनाये। वे कबूतर प्रतिदिन राजा के महल की ऊपरी छत पर सूखनेवाले धान चुग लेते थे। रखवालों ने इसकी सूचना राजा, रिपुदमन को दी। राजा के नीतिकुशल रखवाले पता लगाकर कोक्कास के घर आये और दोनों यन्त्रकपोतों को पकड़कर ले गये। फिर राजाज्ञा से कोक्कास को भी बुलवाया गया। पूछने पर उसने राजा से अपनी निर्धनता की सारी बात बता दी। राजा ने सन्तुष्ट होकर उसे सम्मानित किया और उससे कहा कि तुम एक ऐसा आकाशचारी यन्त्र बना दो, जिसमें दो आदमी अभीप्सित देश की यात्रा कर सकें। कोक्कास ने राजाज्ञा के अनुकूल

१. कथाकार द्वारा वर्णित यन्त्रकपोत को वर्तमान ‘हेलिकॉप्टर’ का प्रतिकार्य कहा जा सकता है।—ले.

आकाशगामी यन्त्र (हवाई जहाज) तैयार कर दिया और कोवकास के साथ राजा उसपर चढ़कर अभीष्ट देश की यात्रा करने लगा (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ६२)।

यह आकाशगामी यन्त्र निर्धारित बोझ ही ढो सकता था और उसके संचालन की विशिष्ट प्रविधि थी। राजा की बेवकूफी के कारण, अधिक भार डाल दिये जाने से वह यन्त्र दुर्घटनाग्रस्त हो गया। कथा है कि एक बार रानी प्रियमति को भी अपने राजा रिपुदमन के साथ आकाशमार्ग से देशान्तर जाने की इच्छा हुई। राजा ने कोवकास से पूछा, तो उसने कहा कि तीसरे आदमी का अतिरिक्त भार यह आकाशयन्त्र नहीं ढो सकेगा। कोवकास के बार-बार मना करने पर भी राजा अपनी रानी के साथ विमान पर चढ़ गया। कोवकास ने राजा से कहा : 'आपको बाद में पछताना होगा। यह जहाज अवश्य गिर पड़ेगा।' यह कहकर कोवकास ने आकाशयन्त्र के तारों को खींचा और यन्त्र की कीलों को झटका दिया। विमान आकाश में उड़ चला ('आरूढेण कड्डियाओ तंतीओ, आहया जंतकीलिया गगनगमणकारिया, उप्पइया आकासं'; तत्रैव : पृ. ६३)।^१

विमान-रचना में निपुण कोवकास दुर्घटनाग्रस्त हवाई जहाज की मरम्मत करना भी जानता था। उक्त कथा के क्रम में आगे का प्रसंग है कि राजा और रानी को लेकर उड़नेवाला, कोवकास द्वारा परिचालित आकाशयन्त्र जब अनेक योजन दूर निकल गया, तभी अधिक भार के दबाव से यन्त्र के तार टूट गये। यन्त्र बिगड़ गया, उसकी कीलें ढीली होकर गिर पड़ीं और यान कोवकास की परिचालन-कुशलता से धीरे-धीरे धरती पर आकर ठहर गया। अब रानी-सहित वह राजा शिल्पी की बात नहीं मानने के पश्चात्ताप से तपने लगा। तब कोवकास ने राजा से कहा : 'क्षणभर आप यहाँ ठहरें। मैं तोसलि नगरी जाकर यन्त्र जोड़ने के उपकरण खोजता हूँ।' यह कहकर कोवकास चला गया और रानी-सहित राजा वहीं उसकी प्रतीक्षा करने लगा।

कोवकास ने तोसलि नगर के बड़ई के घर जाकर बसूले की माँग की। बड़ई समझ गया कि यह शिल्पिपुत्र है। बड़ई ने कहा कि मुझे अपने राजा का रथ बनाना है, इसलिए बसूला फुरसत में नहीं है। तब कोवकास ने कहा कि लाओ, मैं ही रथ बना दूँ। बड़ई ने उसे बसूला दे दिया। बड़ई जबतक दूसरी और मन लगाये रहा, तबतक क्षणभर में कोवकास ने रथ के दोनों चक्के जोड़ दिये। बड़ई विस्मित रह गया और वह कोवकास के लिए दूसरा बसूला लाकर देने के बहाने अपने राजा काकजंघ के पास चला गया और कोवकास के आने की सूचना उसे दे दी।

राजा काकजंघ ने शिल्पी कोवकास को पकड़ मँगवाया और उसका बड़ा सम्मान किया। कोवकास से उसके आने के अभिप्राय को जानकर राजा काकजंघ ने रानी-सहित राजा रिपुदमन को अपने यहाँ बुलवाया और उसे बन्दी बना लिया तथा रानी को अन्तःपुर में रख लिया। फिर, कोवकास से कहा : 'मेरे कुमारों को यन्त्र-निर्माण की शिक्षा दो।' कोवकास ने कहा : 'कुमारों को इस शिक्षा की क्या आवश्यकता है?' किन्तु राजा ने हठ पकड़ लिया और बलात् कोवकास को, कुमारों को शिक्षा देने के लिए, तैयार होना पड़ा। इसी क्रम में उसने दो आकाशगामी घोटकयन्त्र

१. प्रस्तुत सन्दर्भ में यथोल्लिखित तारों और कीलों के सन्दर्भ की तुलना आधुनिक वैमानिकी या विमान-विज्ञान (एयरोनॉटिक्स) में निर्दिष्ट वायुयान-चालन के नियन्त्रक यान्त्रिक उपकरणों 'कण्ट्रोल केबुल' तथा धिरनी (पुल्टी) से की जा सकती है।—ले.

बनाये। शिल्पाचार्य कोवकास जिस समय सो रहा था, उसी समय काकजंघ के दो पुत्र यन्त्रघोटक पर चढ़ गये। यन्त्रघोटक पर दबाव पड़ने के कारण वह (विमान) आकाश में उड़ गया।

सोकर उठने पर कोवकास को जब कुमारों को लेकर यन्त्रघोटक के उड़ जाने की सूचना मिली, तब उसने कहा कि 'महान् अनर्थ हुआ ! कुमार विनाश को प्राप्त होंगे। उन्हें यान लौटाने की कील के बारे में जानकारी नहीं है।' राजा ने जब यह बात सुनी, तब वह रुष्ट हो उठा और कोवकास के वध की आज्ञा दी। यह बात राजा के एक बेटे ने कोवकास से जा कही।

कोवकास ने ज्यों ही वध की राजाज्ञा सुनी, उसने एक चक्रयन्त्र का निर्माण किया और राजा के शेष कुमारों से कहा : 'तुम सभी इसपर चढ़ जाओ और जब मैं शंख बजाऊँ, तब सभी मिलकर एक साथ मध्यम कील पर झटका देना, तभी यान (चक्रयन्त्र) आकाश में उड़ेगा। वे सभी कुमार, 'यही करेंगे' कहकर चक्रयन्त्र पर चढ़ गये।

राजपुरुष कोवकास को वध के लिए पकड़ ले गये। मारे जाने के पूर्व उसने शंख बजा दिया। इधर कुमारों ने शंख की आवाज सुनकर यान की मध्यम कील को एक साथ झटका दे दिया। झटका देते ही सभी कुमार शूल से भिद गये। उधर कोवकास को मार डाला गया। राजा ने जब कुमारों के बारे में पूछा, तब उसके किंकरों ने कहा कि वे सभी-के-सभी चक्रयन्त्र के शूल चुभ जाने से मर गये। यह सुनते ही राजा काकजंघ स्याह और सुन्न पड़ गया और 'हाय-हाय !' कहकर शोकसन्तप्त हृदय से रोता हुआ मर गया (तत्रैव : पृ. ६३-६४)।

इस कथाप्रसंग से यह भी ज्ञात होता है कि यन्त्रनिर्माता कोवकास अपने युग का ख्यातिलब्ध शिल्पी था। तभी तो राजा काकजंघ ने उसे अपने यहाँ बुलवाकर उसका सम्मान किया था और इस प्रकार राजा ने एक उच्चतम कलाकर की उपलब्धि से अपने राज्य को गौरवशाली समझा था। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' (५.२०१-२७१) में भी कोवकास की भाँति पुक्वस नामक अन्तरराज्यीय ख्यातिप्राप्त यन्त्रशिल्पी का उल्लेख हुआ है। संघदासगणी का कोवकास बुधस्वामी के पुक्वस का ही प्रतिरूप है।

एक अन्य कथा (मित्रश्री-धनश्रीलम्प : पृ. १९५) में भी कृत्रिम विमान की चर्चा संघदासगणी ने की है। वसुदेव ने, रात्रि के समय, ऐन्द्रजालिक द्वारा निर्दिष्ट विद्यासिद्धि की विधि के अनुसार ज्यों ही अपना जप पूरा किया, एक दिव्य अलंकृत विमान आकाश से नीचे उतरा। निर्देशानुसार वसुदेव विमान पर जा बैठे। विमान धीरे-धीरे ऊपर उठने लगा। थोड़ा ऊपर उठने पर वसुदेव ने अनुमान किया, विमान पर्वतशिखर की बराबरी में उड़ रहा है। इसके बाद वह एक दिशा की ओर उड़ चला। फिर, वसुदेव को ऐसा प्रतीत हुआ कि विमान ऊबड़-खाबड़ प्रदेश में स्थलित होता हुआ चल रहा है। फिर, वसुदेव ने कुछ आदमियों के परिश्रम-जनित उच्छ्वास का शब्द सुना। तबतक सुबह हो चुकी थी। उन्होंने देखा कि वह विमान सर्वथा कृत्रिम विमान था, जो किसी की सलाह से किसी पुरुष द्वारा प्रयुक्त था और जिसे रस्सी से खींचकर लाया गया था। वसुदेव उस विमान से नीचे उतरकर चल पड़े।

इस प्रकार की वैज्ञानिक प्रविधि की प्रासंगिता के साथ प्रस्तुत काल्पनिक कथाओं से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उस काल के शिल्पी यन्त्रनिर्मित और कृत्रिम दोनों प्रकार के

विमानों या आकाशगामी सवारियों के निर्माण की कल्पना प्रायः करते थे। यन्त्रनिर्मित यानों में तारों और कीलों की चर्चा करके तो कथाकार ने अपनी वैज्ञानिक-प्राविधिक चेतना का सूक्ष्म परिचय दिया है। निस्सन्देह, कथाकार द्वारा चर्चित यन्त्रनिर्मित विमानों की परिकल्पना में, आधुनिक वैज्ञानिक विकास के युग में निर्मित होनेवाले विभिन्न विमानों की संरचना या संकल्पना के बीज निहित हैं।

तत्कालीन वैज्ञानिक विकास पर प्रकाश डालनेवाली कथाओं में शान्तिस्वामी के चरित से सम्बद्ध कथा (इक्कीसवाँ केतुमतीलम्भ : पृ. ३४२) का एक प्रसंग उल्लेख्य है। शान्तिस्वामी के प्रवचनकालीन वातावरण को प्रस्तुत करते हुए कथाकार ने कहा है कि शान्तिस्वामी, तीर्थंकर नाम-कर्म के उदय की वेला में यथायोजित धर्मपरिषद् में, भगवद्वाणी के श्रवणामृत को पान करने के लिए तृषित प्राणियों के निमित्त, परम मधुर स्वर में धर्मोपदेश देने लगे। प्रवचन के समय उनकी आवाज एक योजन (चार कोस = लगभग १३ कि.मी.) तक गूँज रही थी और जितने कानवाले जीव थे, सभी अपनी-अपनी भाषा में भगवान् की वाणी सुन रहे थे ('परममहुरेण ज्ञेयणीहारिणा कण्णवंताणं सत्ताणं सभासापरिणामिणा सरेण पकहिओ'; (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४२)।

निश्चय ही, तीर्थंकर की एक योजन तक गूँजनेवाली वाणी से उनकी वाचिक स्वरतन्त्री की ऊर्जातिशयता की सूचना मिलती है। (यद्यपि, आधुनिक भाषकों या गायकों की स्वरतन्त्री इतनी दुर्बल पड़ गई है कि सामान्य गोष्ठी में भी उनके भाषण या गान के लिए ध्वनिविस्तारक यन्त्र अनिवार्य हो गया है!) किन्तु, भगवान् के प्रवचन की भाषा के, सभी कानवाले, अर्थात् श्रवणशक्तियुक्त प्राणियों के लिए उनकी अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाने की कल्पना में, निश्चय ही, उस आधुनिक वैज्ञानिक व्यवस्था का बीज निहित है, जिसके द्वारा किसी एक भाषा में होनेवाले भाषण को विभिन्न भाषा-भाषी देशों के प्रतिनिधि अपनी-अपनी भाषा में सुनते हैं। सम्प्रति, वैज्ञानिक दृष्टि से समुन्नत अन्य महादेशों के अतिरिक्त, भारत जैसे विशाल देश की राजधानी नई दिल्ली के 'विज्ञान-भवन' में भी इस प्रकार की वैज्ञानिक व्यवस्था (कम्प्यूटर-सिस्टम) है।

'वसुदेवहिण्डी' के वैज्ञानिक अवधारणामूलक कथाप्रसंगों से स्पष्ट है कि बहुप्रज्ञ कथाकार ने सांस्कृतिक जीवन के उद्धार के क्रम में तत्कालीन वैज्ञानिक प्रगति को भी अपने वस्तु-वर्णन का लक्ष्य बनाया है, जिससे उनके द्वारा किये गये भारतीय सांस्कृतिक जीवन के सूक्ष्म दर्शन की व्यापकता का आभास मिलता है। साथ ही, सांस्कृतिक जीवन के मूलभूत सिद्धान्तों के व्यावहारिक समीक्षण की विविध प्रणालियों के समीकरण से कथाकार की सांस्कृतिक चेतना का व्यापक स्वरूप निर्मित हुआ है, जिसका कला और समाजशास्त्र की दृष्टि से सैद्धान्तिक अध्ययन मानव-समाज के तात्त्विक अन्तःसम्बन्धों की पारस्परिक विकासात्मक स्थिति की परख के लिए अतिशय मूल्यवान् है।

निष्कर्ष:

'वसुदेवहिण्डी' में चित्रित सामान्य सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारतीय संस्कृति कल्पनाभूयिष्ठ और वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के स्तोकसत्य आयामों की अनन्त अक्षय निधि है, साथ ही भारतीय चिन्तन की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं से परिपूर्ण भी। प्राचीनता के बावजूद उसमें आधुनिक एवं अत्याधुनिक विचारणाओं के बीज सुरक्षित हैं। कहना न होगा कि कथाविधि में भारतीय संस्कृति की अन्तरंगता समाहित करने

की कला पर संध्यासगणी का आधिपत्य स्पष्ट है। इस कथाकार द्वारा निरूपित संस्कृति के स्वरूप में ज्ञान-विज्ञान के विविध विकास को दर्साने तथा लोक-अवधारणा की विभिन्न शाखाओं के बीच समन्वयन या सन्तुलन स्थापित करने की विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

कथाकार संध्यासगणी ने अपनी रचना-प्रक्रिया में प्राचीन भारतीय संस्कृति के क्षेत्र की अतिशय विस्तीर्णता को निरन्तर ध्यान में रखा है, इसलिए इस कथाग्रन्थ में सांस्कृतिक तत्त्वों के विभिन्न पक्ष या विविध विषय, जैसे मिथकाधृत और शास्त्रनिष्ठ धार्मिक आस्थामूलक लोकतत्त्व, दर्शनशास्त्र, कला, सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान, विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल, राजनीति इत्यादि एक साथ समाहित हैं। अवश्य ही, 'वसुदेवहिण्डी' उक्त विषयों का आकर-स्रोत है। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' में प्रतिपादित प्राचीन भारतीय संस्कृति से पर्यावृत सामान्य लोकजीवन बड़ा व्यापक है, इसलिए इसके अन्तर्गत विषय-सामग्री के अनेक परिसर हैं। संध्यासगणी द्वारा कीर्तित संस्कृति में शोभा-सौन्दर्य, विशिष्ट चमत्कारी रूप-विधान, अनुकरण-अलंकरण, अभिव्यक्ति-माध्यम, सशक्त उपयुक्त अभिव्यंजना, कल्पनाप्रौढ़ि, प्रातिभ स्फुरण, वैदुषी विचक्षणता, शास्त्रदीक्षित आचार, सत्य-शिव-सुन्दर, सादृश्याभास, लोकमंगल या मानव-कल्याण, आनन्द, संवेग, रस, समानुभूति, औदात्य, वर्णन-विपुलता, व्यतिरेकी बिम्ब-विधान, अर्थातिशय, देहात्मज्ञान, प्रगाढ ऐन्द्रिय बोध इत्यादि अनेक ऐसे विषय हैं, जिनका सम्बन्ध विभिन्न भारतीय शास्त्रों से है।

उपर्युक्त विवेचनात्मक दृष्टि से स्पष्ट है कि अधीती कथाकार संध्यासगणी द्वारा 'वसुदेवहिण्डी' में अंकित सामान्य सांस्कृतिक जीवन अत्यन्त समृद्ध और कलावरेण्य है, जिससे वह आनुरक्षा तथा प्रतिरक्षा के लिए सतत सतर्क, ज्ञान-विज्ञान के प्रति अभिरुचिशील, साहसी और अध्यवसायी, नारी-पूजक, परलोक या पुनर्जन्म के प्रति दृढ़ आस्था से सम्पन्न, स्वर्ग-नरक, देव-देवी आदि के प्रति विश्वास के कारण दयादानशील, सामाजिक और राजनीतिक चेतना से अनुप्राणित, मानव और विद्याधरों की समकक्षता के लिए निरन्तर संघर्षशील, सम्यक्त्वाचार का आग्रही, साधुनिष्ठ, प्रकृति-जगत् के प्रति प्रीतिमान् आदि अपने अनेक भव्य-निर्मल रूपों की मनोरमता से मण्डित महान् लोकनायक कथाकार बन गये हैं।

(ग) प्रशासन एवं अर्थ-व्यवस्था

राज्य-प्रशासन प्रजा या लोकजीवन से सम्बद्ध है, साथ ही राजाओं द्वारा प्रशासित समाज से भी जनगत सांस्कृतिक चेतना के अनेक तत्त्वों का उद्भावन होता है, इसलिए 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित लोकजीवन के अध्ययन के सन्दर्भ में उसके महत्त्वपूर्ण अंगभूत राज्य-प्रशासन-विधि पर दृष्टात करना अपेक्षित है।

प्रजारंजन या लोकरंजन ही प्रशासन का पर्याय है। प्रकृतिरंजन के कारण ही 'राजा' संज्ञा अन्वर्थ होती है। कालिदास ने 'रघुवंश' में राजा रघु के लिए कहा भी है : 'तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्' (४.१२)। इसीलिए, प्रजापालन में अक्षम राजा प्रशासन नहीं कर सकता है। प्रजापालक ही सच्चा प्रशासक होता है। 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित प्रायः सभी राजा प्रकृतिरंजक या प्रजापालक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। राजगृह का राजा श्रेणिक प्रजासुख में ही

अपना सुख मानता था ('पयासुहे सुहं ति ववसिओ'; कथोत्पत्ति : पृ. २)। कुशाग्रपुर का राजा जितशत्रु अपने विभिन्न कुटुम्बीजनों, अर्थात् प्रजाजनों के मनोरथ की पूर्ति में ही श्रेष्ठ धन का वितरण करता था, इसीलिए उसे 'अन्नकुडुंकिजणमणोरहपत्थणिज्जविथिण्णविहवसारो' विशेषण से विभूषित किया गया है (तत्रैव : पृ. २७)। कंस भी प्रकृतिरंजक राजा था ('कंसेण य पगतीओ रंजेज्ज'; देवकीलम्भ : पृ. ३६८)। भारतवर्ष के छत्राकार नगर के राजा का प्रीतिकर नाम प्रजाओं में प्रीति उत्पन्न करने के कारण ही सार्थक हुआ था ('तत्थ पीडंकरो पयाणं पीडंकरो नाम राया'; बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५८)।

कथाकार ने राम के मुख से राजा के आदर्श गुणों का वर्णन कराया है। जब भरत की माँ कैकेयी ने राम से आग्रह किया कि वह जंगल जाना छोड़ दें और कलंक-पंक से उसके उद्धार के लिए कुलक्रमागत राज्यलक्ष्मी और भाइयों का परिपालन करें। तब राम ने कैकेयी से कहा : "माँ, तुम्हारा वचन मेरे लिए अनुल्लंघनीय है। फिर भी, उल्लंघन का कारण यह है कि जो राजा सत्यप्रतिज्ञ होता है, वही प्रजापालन में समर्थ होता है। लेकिन, सत्य से भ्रष्ट राजा तो अश्रद्धेय होता है और तब वह अपनी पत्नी के पालन में भी अयोग्य सिद्ध होता है (चौदहवाँ मदनवेगालम्भ : पृ. २४२)।"

'वसुदेवहिण्डी' में, पितृ-पितामह-परम्परागत राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति का ही सार्वत्रिक उल्लेख मिलता है।^१ वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में इस राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति को नियन्त्रित और अनियन्त्रित—इन दो रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन पद्धतियों से प्रशासन करनेवाले राजा का यह दावा रहा है कि उसकी उत्पत्ति दैवी है, जो या तो विना किसी प्रकार के विरोध के देश पर अधिकार कर लेता था अथवा विरोध को दबाकर बलात् सारे शासन को स्वायत्त कर लेता था। यह अनियन्त्रित राज्यतन्त्र का उदाहरण है। दूसरे, नियन्त्रण की दशा में तो वह जनता की अनुमति से ही जनता पर अधिकार करता था। वैदिक ग्रन्थों (ऋग्वेद : १.२४.८; १०.१७५.१; अथर्ववेद : ३.४.२) में यह भी देखने को मिलता है कि नियन्त्रित राज्यतन्त्र में राजा या तो चुना जाता था या स्वीकृत या मनोनीत किया जाता था। 'वसुदेवहिण्डी' में कथा है कि प्रजाओं की अनुमति से ही ऋषभस्वामी राजा के रूप में स्वीकृत हुए थे। कालदोष से लोग जब कुलकरों द्वारा प्रवर्तित दण्डनीति की मर्यादा का अतिक्रमण करने लगे, तब उत्पीडित प्रजाएँ भगवान् ऋषभस्वामी के निकट गईं। भगवान् ने उनसे कहा : 'इस समय जिस राजा की दण्डनीति उग्र होगी, वही प्रजा-पालन में समर्थ होगा।' प्रजाओं के पूछने पर भगवान् ऋषभदेव ने उनके अनुकूल राजा के लक्षण और राजसेवा की विधि को विशदता से बताया और उन्हें आश्चस्त किया कि चूँकि आप सभी योग्य प्रजा हैं, इसलिए आपको राजा भी अनुकूल मिलेंगे। इसके बाद उन्होंने प्रजाओं को अपने पिता नाभिकुमार के निकट भेज दिया। राजा नाभि ने कहा : 'आप सभी ऋषभदेव को राज्यासन पर बैठाइए।' प्रजाजन इस बात को स्वीकार कर चले गये (नीलयशालम्भ : पृ. १६२)।

१. (क) इहं सोमदेवो राया पिठ-पियामहपरंपरागयरायलच्छीं पडिपालेई। (सोमश्रीलम्भ : पृ. २२२)

(ख) तत्थ य राया पिठ-पियामहपरंपरागयं रायसिंरि परिपालेमाणो सजलमेघनाओ य मेघनाओ नाम आसी। (मदनवेगालम्भ : पृ. २३०)

इस कथाप्रसंग से यह महत्वपूर्ण सूचना मिलती है कि अनुकूल राजा की प्राप्ति के लिए प्रजाओं की अनुकूलता भी अनिवार्य थी। इससे 'यथा राजा तथा प्रजा' जैसे स्मृति-वचनों की भी सार्थकता सिद्ध होती है। साथ ही, यह भी स्पष्ट होता है कि तत्कालीन शासन-पद्धति राजतन्त्रात्मक होते हुए भी उसकी संघ-व्यवस्था प्रजातन्त्रात्मक थी।

वैदिक मान्यता के अनुसार, राजा के लिए प्राथमिक कर्तव्य राष्ट्रहित और प्रजाहित था। हिन्दुओं की एकराजता का यह महान् आदर्श, जिसका एकमात्र उद्देश्य प्रजा की भलाई था, संसार की तत्कालीन राजनीति के इतिहास में अपना सर्वोत्तम और अद्वितीय स्थान रखता था। वस्तुतः, वह एक नागरिक राज्य था, जिसके प्रान्तीय शासक या माण्डलिक सदा नागरिक ही हुआ करते थे। इस एकराज शासन की अनेक प्रणालियाँ प्रचलित थीं : जैसे राज्य, महाराज्य, आधिपत्य और सार्वभौम। सार्वभौम शासन-प्रणाली का विकास आगे चलकर चक्रवर्ती शासन-प्रणाली के रूप में प्रकट हुआ। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में, इस सम्बन्ध में कहा है कि 'सारी भारत-भूमि देश है। उसमें उत्तर से दक्षिण, हिमालय से समुद्र तक तथा एक हजार योजन विस्तृत पूर्व और पश्चिम की सीमाओं के बीच का भूभाग चक्रवर्ती-क्षेत्र है।'^१

'वसुदेवहिण्डी' में भी अरनाथ (केतुमती. पृ. ३४७), कुन्धुनाथ (तत्रैव), शान्तिनाथ (तत्रैव : पृ. ३१०), जय (सोमश्री. पृ. १८९), भरत (नीलयशा. पृ. १६२), मधवा (मदनवेगा. पृ. २३४), महापद्म (गन्धर्व. पृ. १२८), रत्नध्वज (केतुमती. पृ. ३२१), वज्रदत्त (कथोत्पत्ति : पृ. २३), वज्रनाभ (नीलयशा. पृ. १७७), वज्रसेन (तत्रैव : पृ. १७५), वज्रायुध (प्रभावती. पृ. ३२९), सगर (प्रियंगु. पृ. ३००), सनत्कुमार (मदनवेगा. पृ. २३३), सुभौम (सोमश्री. पृ. १८८) आदि चक्रवर्ती राजाओं की परम्परा का उल्लेख हुआ है। शास्त्र-व्यवस्था की दृष्टि से तत्कालीन समग्र राष्ट्र पुरों और जनपदों में विभक्त था। जनपद राज्य का और पुर राजधानी का प्रतिरूप था।

मन्त्रिपरिषद् :

राष्ट्र के प्रशासन के लिए, उस युग में मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था रहती थी। मन्त्रिपरिषद् की योजना का मुख्य उद्देश्य था प्रत्येक राजकीय समस्या पर विचार करना और राज्य की उन्नति के लिए योजनाएँ बनाना। कौटिल्य ने भी सभी राजकार्यों को मन्त्रणा के बाद ही क्रियान्वित करने का विधान किया है। इस मन्त्रणा को राजा एकाकी नहीं कर सकता था। अकेले में विचारित कार्यक्रमों की सफलता सन्दिग्ध होती है, इसलिए समुन्नित परामर्श के लिए मन्त्रिपरिषद् की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है।

'वसुदेवहिण्डी' में भी अनेक मन्त्रियों का वर्णन हुआ है। बलदेव की पुत्री सुमति के लिए ईहानन्द नामक मन्त्री के साथ विचार-विमर्श के बाद ही स्वयंवर का आयोजन किया गया था (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२७)। प्रौढव्रतपूर्वक, सिद्धायतन में जिन-पूजा करके स्वयम्भूषा जब निर्माल्य देने के निमित्त अपने पिता राजा ज्वलनजटी के सामने आई, तब उसके रूप-यौवन को देख सजा को उसकी शादी कर देने की चिन्ता हो गई। तब, उसने अपनी मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों से स्वयम्भूषा के लिए कुल, रूप और विशिष्ट ज्ञान के अनुरूप वर के विषय में विचार-विमर्श किया। कथाकार ने

१. देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणं तिर्यक् चक्रवर्तिक्षेत्रम्। (१.१)

राजा की मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों में सुश्रुत, बहुश्रुत, सुमति और श्रुतसागर नाम के मन्त्रियों का उल्लेख किया है। सब मन्त्रियों के सुझावों को सुनने के बाद राजा ने श्रुतसागर की सलाह मानकर स्वयंभ्रा के लिए स्वयंवर के आयोजन का निर्णय किया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३१०)। हस्तिनापुर के राजा कार्तवीर्य की पत्नी तारा के पुत्र सुभौम शिशु को, जो आगे चलकर युवा होने पर चक्रवर्ती राजा हुआ, राज्यविप्लव के समय राजा के दो मन्त्रियों—महर और शाण्डिल्य द्वारा कौशिक ऋषि के आश्रम में गुप्त रूप से संरक्षण प्रदान किया गया था। इससे स्पष्ट है कि मन्त्रिपरिषद् के सदस्य किसी भी सुविचारित गुप्त विषय के रहस्य को सुरक्षित रखने के लिए अपनी जान की बाजी लगा देते थे। मन्त्रियों द्वारा राजा के रहस्य को गुप्त रखने की बात पर कौटिल्य ने भी बहुत जोर दिया है। कौटिल्य का कहना है कि कार्यान्वित होने से पहले ही किसी गुप्त योजना का प्रकट हो जाना राजा और मन्त्रिपरिषद् दोनों के लिए अनर्थ या अनिष्टकर हो सकता है। इसीलिए कौटिल्य ने गुप्त मन्त्रणा के रहस्योद्घाटक के वध कर देने का प्रावधान रखा है ('अर्थशास्त्र': १.१४)।

संघदासगणी ने मन्त्रिपरिषद् की जहाँ चर्चा की है, वहाँ उसके सदस्यों में प्रायः चार मन्त्रियों का उल्लेख किया है। प्रतीत होता है, उस युग में राजा के लिए अपनी रूपयौवनवती पुत्री के स्वयंवर का आयोजन बहुत ही समस्या-प्रधान और संघर्षमूलक होता था, इसलिए राजा इस विषय पर अपने मन्त्रियों से विशेष विचार-विमर्श अवश्य करता था। कथा है कि त्रिपुष्ट वासुदेव ने अपनी बालिका ज्योतिष्मथा की युवावस्था को देखकर, अपनी मन्त्रिपरिषद् के विपुलमति, महामति, सुबुद्धि और सागर नाम के चारों मन्त्रियों की सलाह से स्वयंवर का आयोजन कर राजाओं को सूचना भिजवाई थी। ('दारियं ज्योत्वणे वट्टुमाणि एसिऊण विउलमति-महामई-सुबुद्धि-सायराण चउण्ह वि मंतीणं मयाणि गिण्हिऊण सयंवरं रोवेऊण सव्वरायविदितं करेइ'; केतुमतीलम्भ : पृ. ३१४)।

गन्धार-जनपद की राजधानी गन्धसमृद्ध नगर के राजा महाबल का मन्त्री सम्भिन्नश्रोत्र या सम्भिन्नश्रोता था, जिसके साथ राजा अनेक समस्याओं पर विचार करता और उसकी सलाह लेता था ('संभिण्णसोओ पुण मे मंती बहुसु कज्जेसु परिपुच्छणिज्जो'; नीलयशालम्भ : पृ. १६६)। सम्भिन्नश्रोत्र का अर्थ भी बड़ा मूल्यवान् है। 'प्राकृतशब्दमहार्णव' में इसका अर्थ किया गया है लब्धि-विशेषवाला। इस लब्धि से सम्पन्न व्यक्ति शरीर के किसी भी अंग से शब्द को स्पष्ट रूप से सुनने की शक्ति रखता है। सम्भिन्नश्रोत्र ने महाबल के बालसखा स्वयंबुद्ध के साथ भोगवाद के समर्थन में शास्त्रार्थ भी किया था (नीलयशालम्भ : पृ. १६७)। महाबल, स्वयंबुद्ध और सम्भिन्नश्रोत्र इन तीनों की मण्डली बराबर शास्त्रगम्भीर बनी रहती थी।

कदाचित् कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और 'मनुस्मृति' या 'याज्ञवल्क्यस्मृति' से प्रभावित होकर ही संघदासगणी ने यद्यपि एकराज्यीय शासन-प्रणाली का समर्थन किया है, जिसमें उन्होंने राजा को ही एकमात्र कर्ता, धर्ता और भर्ता माना है, तथापि मन्त्रिपरिषद् की अनिवार्यता को अस्वीकृत नहीं किया है। कौटिल्य की तरह संघदासगणी की दृष्टि से भी मन्त्री के बिना राजा का कोई अस्तित्व नहीं, यह स्पष्ट संकेतित है। साथ ही, कथाकार ने अपना यह दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है कि मन्त्री ही राजा का ऐसा सहायक है, जो विपत्ति के समय उसकी रक्षा करता है और प्रमाद के समय उसको सावधान भी करता है। इसी प्रकार के तथ्य का, अर्थात् राजा के लिए छोटे-बड़े सभी कार्यों में उत्तम मन्त्रियों की सहायता लेने का प्रस्तावन 'मनुस्मृति'

(७.३१, ५५-५६) और 'याज्ञवल्क्यस्मृति' (राजधर्मप्रकरण, १२) आदि स्मृतियों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों और धर्मसूत्रों में भी किया गया है।

अमात्य मन्त्री के ही समानान्तर नहीं थे, अपितु बौद्धिकता और कार्यप्रकार की दृष्टि से दोनों भिन्नपदीय थे। कौटिल्य के अनुसार, मन्त्री और अमात्य दो अलग-अलग पद थे। कौटिल्य ने कहा है कि 'इस प्रकार राजा को चाहिए कि वह यथोचित गुण, देश, काल और कार्य की व्यवस्था को देखकर सर्वगुणसम्पन्न व्यक्तियों को अमात्य बनाये; किन्तु सहसा ही उनको मन्त्रिपद पर नियुक्त न करे।^१ अपने 'अर्थशास्त्र' में आचार्य भरद्वाज का अभिमत उपस्थित करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि राजा अपने सहपाठियों को अमात्य-पद पर नियुक्त करे; क्योंकि उनके हृदय की पवित्रता से वह सुपरिचित होता है; उनकी कार्यक्षमता को वह जान चुका होता है। ऐसे ही अमात्य राजा के विश्वासपात्र होते हैं।^२ इस विवरण से स्पष्ट है कि अमात्य राजा के मित्रवत् होते थे, तो मन्त्री उसके राज्य-प्रशासन के नियन्त्रक और नियामक हुआ करते थे। यद्यपि, 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में बुधस्वामी ने नरवाहनदत्त के मित्रतुल्य अमात्यों को भी 'मन्त्री' शब्द से ही संज्ञित किया है।^३ राजा उदयन ने हरिश्चिख, गोमुख, मरुभूति और तपन्तक को युवराज नरवाहनदत्त के मन्त्री के रूप में नियुक्त करते हुए उन्हें निर्देश किया था कि वे नरवाहनदत्त को अपना प्रातर्वन्दनीय भर्ता या प्रभु समझकर निरन्तर उसकी रक्षा और मनोविनोद में तत्पर रहें। नरवाहनदत्त ने अपने उक्त चारों मन्त्रियों को बराबर 'सुहृद्' शब्द से विशेषित या सम्बोधित किया है। यद्यपि, कौटिल्य द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के अनुसार, उक्त चारों मित्र नरवाहनदत्त के अमात्य-तुल्य ही थे। इससे स्पष्ट है कि बुधस्वामी की दृष्टि में मन्त्री और अमात्य समानार्थक थे। उक्त सभी मित्र युवराज नरवाहनदत्त के उसी प्रकार सेनापति भी थे, जिस प्रकार शास्त्रज्ञ यौगन्धरायण राजा उदयन का मन्त्री भी था और सेनापति भी।

अमात्य का पर्याय सचिव भी माना गया है। कालिदास ने भी अमात्य और मन्त्री को समानार्थक ही माना है। 'रघुवंश' से सूचना मिलती है कि अमात्य या मन्त्री के पुत्र युवराज के समवयस्क होते थे : 'अमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः' (३.२८)। किन्तु, कौटिल्य ने अमात्य और मन्त्री के लिए जिन सूक्ष्म भेदक रेखाओं का अंकन किया है, वह उपेक्षणीय नहीं है।

कौटिल्य के विवरण से स्पष्ट है कि मन्त्री और अमात्य दो भिन्न पद थे और अमात्य की अपेक्षा मन्त्री का पद बड़ा था। मन्त्री, मन्त्रिपरिषद् का सदस्य^४ भी होता था और राजा को सुझाव भी दे सकता था, जबकि अमात्य मन्त्रिपरिषद् का सदस्य तो होता था, किन्तु मन्त्रिपद प्राप्त करने

१. विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।

अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मन्त्रिणः॥

—अर्थशास्त्र, अमात्यनियुक्ति, अधिकरण १, अध्याय ७

२. अर्थशास्त्र : १. ३. ७

३. तथा हरिश्चिखं राजा मुदाज्ञापितवानिति।

यत्र प्रत्याप्यते भर्ता गन्तव्यं तत्र निर्व्यथम्॥

सेनापतिश्च मन्त्री च भवान्भवतु सौघमः॥ (७. २४-२५)

४. कौटिल्य के अनुसार मन्त्रिपरिषद् के प्रमुख चार सदस्य होते थे। श्रेष्ठता के अनुसार इनका क्रम है : मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज। —अर्थशास्त्र : १. ७. ११

का अधिकारी नहीं था। इस विवेचन से यह समीकृत निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभिषिक्त राजा को विशिष्ट मन्त्रणा देनेवाले मन्त्री कहलाते थे और राजा या युवराज के केवल सहायक संरक्षक समवयस्क मित्र प्रायः अमात्य या अमात्यपुत्र शब्द से सम्बोधित होते थे। आधुनिक अर्थ में इन्हें 'अंगरक्षक' ('बॉडीगार्ड') और 'आप्तसचिव' भी कहा जा सकता है।

'वसुदेवहिण्डी' में भी मन्त्रियों के अतिरिक्त अमात्यपुत्रों, अमात्यों और सचिवों का उल्लेख हुआ है। जैसे : अर्चिमाली, पवनवेग (सचिव), आनन्द या नन्दन (अमात्यपुत्र), जाम्बवान् (अमात्य), यशोवन्त (अमात्य), मारीच (अमात्य), वसुमित्र या वसुपुत्र (अमात्य), सिंहसेन (अमात्य), सुचित्त (अमात्य), सुबुद्धि (अमात्य), सुषेण (अमात्य), हरिश्मश्रु (अमात्य) आदि। कथाकार द्वारा चित्रित इनके चरित्र-चित्रण से यह स्पष्ट होता है कि ये सभी राजा या युवराज के विभिन्न कार्यों में सहायता करते थे। इस प्रकार, ये आदेशपालक-मात्र थे। कथाकार ने इन्हें कहीं सचिव कहा है, तो कहीं अमात्य। अर्चिमाली और पवनवेग राजा अशनिवेग के सचिव थे, जो राजा के आदेश से वसुदेव को आकाशमार्ग से उड़ा ले आये थे ('राष्ट्रणो संदेसेण सचिवेहि पवनवेग-ऽच्चिमालीहि आणित त्व'; श्यामलीलम्भ : पृ. १२३)।

इसी प्रकार, आनन्द, जिसका दूसरा नाम नन्दन था, कौशाम्बी के राजा हरिषेण के अमात्य सुबुद्धि की पत्नी सिंहली का पुत्र था। सुबुद्धि अमात्य ने, राजा के कुष्ठ हो जाने पर, उसकी चिकित्सा के लिए, यवनदेश के दूत के निर्देशानुसार घोड़े के बछड़े को काटकर उसके लहू में राजा को डुबाकर रखा था (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ३९)। पुनः कथाकार ने हनुमान् और जाम्बवान् को सुग्रीव का अमात्य कहा है। बाली से पराजित सुग्रीव ने हनुमान् और जाम्बवान् नामक अपने अमात्यों के साथ जिनायतन में शरण ली थी (मदनवेगालम्भ : पृ. २४३)। कुबेरदत्त के घर में रहते समय वसुदेव के पास प्रातःकाल राजा सोमदेव का यशोवन्त नामक अमात्य महत्तरिकाओं के साथ आया था और उन्होंने कुबेरदत्त के परिजन के साथ मिलकर वसुदेव को दूल्हे के रूप में सजाया था (सोमश्रीलम्भ : पृ. २२४)। मारीच भी रामण का अमात्य था, जिसने रामण के निर्देशानुसार रत्नजटित मृग का रूप धारण कर सीता को लुभाया था (मदनवेगः पृ. २४३)। चन्दनपुर नगर के राजा अमोघरिपु के वसुमित्र या वसुपुत्र और सुसेन (सुषेण) नाम के दो अमात्य थे, जो राजा के सभी कामों को निबटाया करते थे ('वसुमित्तसुओ सुसेणो य से अमच्चो। ते य तस्स रण्णो सक्खकज्जवद्भावगाः'; प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९३)। यहाँ प्राकृत की शब्दावली कुछ भ्रमास्पद है। वाक्य के पूर्वांश से ऐसा प्रतीत होता है कि सुषेण वसुमित्र का पुत्र था; किन्तु उत्तरांश में बहुवचनान्त प्रयोग से ऐसा आभासित होता है कि वसुमित्र और सुषेण ये दो अमात्य थे।

'वसुदेवहिण्डी' से यह संकेत प्राप्त होता है कि अमात्य राजाओं का अभिभावकत्व भी करते थे। राजा पुण्ड्र (जो वस्तुतः पुण्ड्रा नाम की बालिका थी) के ओषधि-प्रयोग द्वारा कुमारीत्व के लक्षण स्पष्ट होने पर अमात्य सिंहसेन ने ही उसका वसुदेव के साथ प्राणिग्रहण कराया था (पुण्ड्रालम्भ : पृ. ११३)। संघदासगणी अमात्य और सचिव को समानार्थी मानते थे। पोतनपुर के राजा को अमात्य सुचित्त आत्मपरिचय के क्रम में अपने को सचिव कहता है। सुचित्त धार्मिक, प्रजाहितैषी और स्वामिभक्त था। ('एस् पोयणाहिक्खस्स अमच्चो सुचित्तो नामं धम्मिओ पयाहिओ

साभिपत्तो. . . ; ततो अमच्चो षणओ परिकहेइ सुणह, अहं सेयाहिवस्स विजयस्स रण्णो सहवड्ढिओ सचिवो'; भद्रमित्रा-सत्यरक्षितालम्भ : पृ. ३५३) । 'सहवड्ढिओ' विशेषण से राजा और अमात्य की समवयस्कता सिद्ध होती है और यह भी स्पष्ट होता है कि अमात्य राजा का मित्रस्थानीय ही होता था । इसी प्रकार, विद्याधरों के राजा अश्वग्रीव का विश्वासी अमात्य हरिश्मश्रु भी था, जो नास्तिकवादी होने के कारण धर्माभिमुख राजा को निरन्तर देहात्मवादिता की ओर प्रेरित करता रहता था (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७५) । इसी प्रकार, शाम्ब का विश्वस्त मित्र बुद्धिसेन भी अपने चरित्र से शाम्ब का नर्मसचिव सिद्ध होता है (पीठिका : पृ. १०४) ।

'वसुदेवहिण्डी' के उपर्युक्त विवरणों से यह समीकरण उपलब्ध होता है कि तत्कालीन राज्य-प्रशासन में मन्त्री, अमात्य और सचिव तीनों महत्त्वपूर्ण पद थे । सबका अपना-अपना उत्तरदायित्व बँटा हुआ था । मन्त्री सम्पूर्ण राज्य की प्रजाओं पर पड़नेवाले प्रभाव को ध्यान में रखकर राजा को मन्त्रणा देता था; किन्तु अमात्य और सचिव राजा की केवल व्यक्तिगत हितचिन्ता के दायित्व-बोध से सम्पन्न होते थे । इसी तथ्य को, अर्थात् सम्पूर्ण राज्य की रक्षा और केवल राजा की सुरक्षा को दृष्टिगत रखते हुए कौटिल्य ने मन्त्री और अमात्य के दो अलग-अलग पदों की सृष्टि का अभिस्ताव किया है । संघदासगणी द्वारा वर्णित मन्त्री और अमात्य के कर्तव्यों और अधिकारों से यथोक्त कौटिल्य की परम्परा का ही समर्थन होता है ।

कहना न होगा कि राज्य की सुरक्षा, संघटन और समुन्नति की दृष्टि से मन्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । राजा की प्रशासन-क्षमता की सिद्धि मन्त्रियों की योग्यता पर निर्भर रहती है । 'वसुदेवहिण्डी' के राजाओं के चरित्रांकन से स्पष्ट है कि मन्त्रियों की सहायता और मन्त्रणा के आधार पर ही उन्होंने जिस विराट् साम्राज्य की स्थापना की थी, उसकी शासन-सत्ता निरंकुश थी, उसके अतुल बल-वैभव के समक्ष किसी की भी सिर उठाने का साहस नहीं था, फिर भी उसकी प्रशासन-नीति के अन्तराल में लोक-कल्याण की एक व्यापक भावना सन्निहित थी, जिसका उल्लंघन तत्कालीन राजाओं ने कभी नहीं किया और सम्भवतः यही एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा है कि उन राजाओं की निरंकुश नीति में प्रजातन्त्रात्मक विचारों का आश्चर्यकारी समन्वय था । 'वसुदेवहिण्डी' में, इसी कौटिल्यानुमोदित प्रशासन-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में, संघदासगणी द्वारा प्रतिपादित राजनयिक प्रशासन-व्यवस्था के विभिन्न आयामों का हृदयावर्जक दिग्दर्शन उपलब्ध होता है ।

राज्यप्रशासन-विधि :

राज्यप्रशासन-विधि के अन्तर्गत तत्कालीन राजाओं और राजभवनों की संस्कृति का वर्णन भी अपना विशिष्ट महत्त्व और मूल्य रखता है । 'वसुदेवहिण्डी' से यह ज्ञात होता है कि उस समय के राजाओं की राज्यप्रशासन-विधि में हिंसा के लिए निषेधमूलक अभयघोषणा (अमाघात) अपना विशिष्ट स्थान रखती थी, साथ ही उत्तम शील, व्रत, सत्य, आर्जव, दया आदि राजाओं के उल्लेखनीय चारित्रिक गुण होते थे । राजाओं की माताएँ भी राज्य-प्रशासन में भाग लेती थीं । कथा है कि राजा रत्नायुध ने अपने राज्य में अभयघोषणा कराई थी और वह उत्तम शील आदि व्रत से सम्पन्न होकर माँ के साथ मिलकर राज्य का प्रशासन करता था ('घोसाविओ य रज्जे अमाघाओ, उत्तमसीलव्ययरओ सह जणणीय रज्जं पसासति'; बालचन्द्रालम्भ : पृ. २६१) । उस काल के

परम्परानुसार, राजा अन्तिम समय में अपने पुत्र को राज्य-संचालन का भार सौंपकर प्रव्रजित हो जाते थे।

उस समय, दो प्रतिपक्षी राजा युद्धभूमि में पारस्परिक पूर्व-सम्बन्ध का ज्ञान हो आने या मैत्रीभाव के उदय हो आने की स्थिति में, जब मिलते थे, तब शस्त्र का त्याग कर देते थे। रोहिणी के स्वयंवर के समय जब वसुदेव और उनके ज्येष्ठ भ्राता समुद्रविजय युद्धोद्यत हुए थे, तभी दोनों को पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान हो आया था और वे दोनों शस्त्रहीन होकर एक दूसरे के पास आये थे और आपस में गले-गले मिले थे (रोहिणीलम्भ : पृ. ३६५)। तत्कालीन युद्ध में बन्दी शत्रुओं को विजयी राजा के सेनापति के जिम्मे सौंप दिया जाता था। अपने ससुर अभग्नसेन की ओर से लड़ते हुए वसुदेव ने श्वशुर के अनुज मेघसेन को बन्दी बनाकर उसे विजयी ससुर के सेनापति को सौंप दिया था (पद्मालम्भ : पृ. २०३)।

संघदासगणी ने लिखा है कि उस युग में पुरोहित का राजा पर बड़ा गहरा प्रभाव रहता था। चक्रवर्ती राजा महापद्म का पुरोहित नमुचि नाम का था। वह एक बार जैन साधुओं से शास्त्रार्थ में हार गया। प्रतिक्रियावश उसने राजा को फुसलाकर उससे राजगद्दी हथिया ली और शास्त्रार्थजयी जैन साधुओं को निर्वासित कर देने की आज्ञा प्रचारित की (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १२८)।

तत्कालीन राज्य-प्रशासन-व्यवस्था में इस नियम का प्रावधान था कि यदि कोई विदेश के प्रवास से वापस आता था, तो वह राजा की अनुमति से ही नगर में प्रवेश कर सकता था। प्रवासी चारुदत्त, विद्याधर देव से प्राप्त सम्पत्ति के साथ जब चम्पापुरी लौटा, तब नगर के बाहर खच्चर, गधे, ऊँट आदि (सवारी के साधन) बाँध दिये गये और विविध वस्तुओं तथा उपस्करों से लदी गाड़ियाँ ठहरा दी गईं। विद्याधर देव द्वारा सन्दिष्ट चम्पापुरी का राजा भिनसार में ही अपने कतिपय परिजनों और दीपवाहकों (मशालचियों) के साथ आया। चारुदत्त ने राजा से अपना वृत्तान्त निवेदित किया और अर्घ्य से उसकी अभ्यर्थना की। उसके बाद राजा ने उससे कहा : “इतनी विंपुल सम्पत्ति और कन्या गन्धर्वदत्ता एवं दास-दासी के साथ विदेश से तुम्हारे लौटने पर राज्य-व्यवस्था की दृष्टि से मुझे कोई परेशानी नहीं है, बल्कि मैं तुमसे अपने को सबल अनुभव करता हूँ। तुम अपने घर में प्रवेश करो। मैं तुम्हें उन्मुक्ति देता हूँ (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५४)।”

उस समय राजा का अभिषेक बड़े ठाट-बाट से होता था। तीर्थंकर नाम-गोत्र के राजाओं का अभिषेक तो स्वयं इन्द्र करते थे। राजा ऋषभनाथ के राज्याभिषेक के समय लोकपाल-सहित इन्द्र स्वयं पधारे थे और उन्होंने पहले तो उन्हें अभिषिक्त किया, फिर सब प्रकार के अलंकारों से विभूषित भी किया। ऋषभनाथ के प्रजाजन उनके आदेशानुसार जब पद्मसरोवर से पद्मपत्र में जल लेकर लौटे, तब उन्होंने इन्द्र द्वारा अभिषिक्त ऋषभनाथ को देवों से घिरा हुआ देखा। ऐसी स्थिति में, उन प्रजाजनों ने पद्मपत्र के जल को भगवान् के चरणों में चढ़ा दिया और सभी मिलकर जय-जयकार करने लगे (नीलेशालम्भ : पृ. १६२)।

प्राचीन समय में, राजा के रथ पर स्वीकृत चिह्न-विशेष से अंकित ध्वज के लहराने की चिराचरित प्रथा रही है। वसुदेवहिण्डीकार संघदासगणी ने भी रुक्मिणी के कथाप्रसंग में कृष्ण

के रथ पर गरुडध्वज (गरुड से अंकित ध्वज) और बलदेव के रथ पर तालध्वज (तालवृक्ष से अंकित ध्वज) के लहराते रहने का उल्लेख किया है (पीठिका : पृ. ८१)।

संघदासगणी के अनुसार, उस युग में साधु-संघ के आदेश-निर्देश को राज्य-प्रशासन की ओर से मान्यता दी जाती थी और उसे विधिवत् कार्यान्वित किया जाता था। परम तपस्वी अनंगारधर्मा विष्णुकुमार ने राजा महापद्म को प्रशासन-कार्य में अयोग्य घोषित कर उसे बन्दी बनाने का निर्देश उसके पुत्र को दिया था और महापद्म के पुरोहित नमुंचि को, जो साधु-संघ को उत्पीड़ित करता था, जब राज्य-शासन की ओर से प्राणदण्ड की आज्ञा मिली, तब साधु-संघ ने मृत्युदण्ड रोककर उसे देश से निर्वासित करा दिया था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३१)।

उस समय राज्य-प्रशासन की ओर से अनाथस्तम्भ ('अणाहर्खभ') स्थापित रहता था। वह ऐसा स्तम्भ था, जिसके पास, सताये गये व्यक्ति अपनी फरियाद के लिए आ खड़े होते थे। कथा है कि श्रावस्ती के राजा जितशत्रु का पुत्र कुमार मृगध्वज एक दिन उद्यान की शोभा देखकर नगर लौट रहा था। उसने विश्वस्त भाव से विचरण करते हुए भद्रक भैंसे को देखा। भैंसे को देखते ही उसे क्रोध हो आया। उसने ध्यान से तलवार निकाली और एक ही वार में उसका एक पैर काट डाला। क्रोध में आकर जब उसने दुबारा प्रहार करना चाहा, तब पैर पड़कर उसके आंदमियों ने उसे रोका : 'युवराज ! हमारे आदरणीय महाराज ने इस भैंसे को अभयदान दिया है, इसीलिए इसका वध करना उचित नहीं है। इसे छोड़ दें।' मृगध्वज ने बड़ी कठिनाई से अपना क्रोध-संवरण किया। भैंसा भी तीन पैरों से लँगड़ाकर क्लेशपूर्वक चलता हुआ अनाथस्तम्भ के पास आ खड़ा हुआ। भैंसे को कष्टपूर्ण स्थिति में देख लोग दयाद्रवित हो उठे और हाहाकार करने लगे। कारण का पता लगाकर राजकीय अधिकारियों ने प्राप्त सूचना के साथ राजा जितशत्रु से निवेदन किया : 'स्वामी ! कुमार मृगध्वज के आदमियों द्वारा भैंसे की अभयदान-प्राप्ति के बारे में सूचित किये जाने के बावजूद उन्होंने तलवार के वार से भैंसे का एक पैर काट डाला। तीन पैरों से चलता हुआ भैंसा अनाथस्तम्भ के पास आ खड़ा हुआ है। इस विषय में न्याय के लिए स्वामी ही प्रमाण हैं।' राजकीय अधिकारियों से वस्तुस्थिति जानकर राजा ने कुमार के लिए वध की आज्ञा दी (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७०)।

संघदासगणी के अनाथस्तम्भ का परवर्ती समर्थन प्राचीन भारतीय इतिहास के न्यायप्रिय राजा जहाँगीर के प्रशासन-काल से होता है। जहाँगीर ने अपने महल में एक घण्टा टँगवा रखा था, न्याय का इच्छुक कोई भी व्यक्ति, किसी भी समय उसे बजाकर न्याय की माँग करता था और जहाँगीर, उसकी फरियाद की सुनवाई तत्क्षण करके अपना फैसला सुना देता था।

राजभवन में भोगविलासमूलक शीशमहल के प्रबन्ध का उल्लेख परवर्ती कालीन प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य में प्रायः उपलब्ध होता है।^१ किन्तु, 'वसुदेवहिण्डी' में चित्रित दर्पणगृह ('आयंसंघर') तत्कालीन राजाओं के लिए संसार-विरक्ति का भी कारण बनता था। कथा है कि एक बार दर्पणगृह में जाकर शान्तिस्वामी ने प्रव्रज्या लेने का संकल्प किया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४१)। इसी प्रकार कुन्धुस्वामी भी एक दिन जब दर्पणगृह में प्रविष्ट हुए, तभी वहाँ उन्हें

ऋद्धियों की अनित्यता की चिन्ता हो आई और उन्होंने प्रशस्तपरिणामी मार्ग को स्वीकार करने का निश्चय किया (तत्रैव : पृ. ३४५)। यहाँ परम्परागत अर्थ की दृष्टि से दर्पणगृह में विरक्ति का कारण होता था—अपने कानों के पास पके हुए बालों का दिखाई पड़ना। परवर्ती काल में गोस्वामी तुलसीदास ने भी राजा दशरथ के बारे में लिखा है कि राजा दशरथ ने स्वभाववश दर्पण हाथ में लिया और उसमें अपना मुँह देखकर मुकुट को सीधा किया। तभी उन्होंने देखा कि कानों के पास बाल सफेद हो गये हैं, और मानों बुढ़ापा ऐसा उपदेश कर रहा 'हो कि हे राजन् ! श्रीराम को युवराज-पद देकर अपने जीवन और जन्म को सुफल क्यों नहीं करते ?'^१ कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' में भी दर्पणगृह में उत्पन्न विरक्ति के कारण, राजाओं द्वारा अपने पुत्र को राज्य सौंपकर प्रव्रज्या ले लेने का वर्णन उपलब्ध होता है।

राजकुल :

राज्य-प्रशासन के वर्णन के क्रम में संधदासगणी ने राजकुल का भी भव्य चित्र अंकित किया है। राजकुल अन्तःपुर के राजदरबार (दीवाने-खास) का प्रतिरूप होता था। राजकुल को राजभवन भी कहा गया है। उसकी ड्योढ़ी राजद्वार कहलाती थी। राजद्वार पर पहुँचने के बाद राजा को सूचना देकर ही राजकुल के भीतर प्रवेश किया जाता था। राजा जरासन्ध के पुरुष (राजभट) वसुदेव को बन्दी बनाकर जब राजद्वार पर ले गये थे, तब उन राजभटों ने द्वारपाल से कहा था कि राजा को वसुदेव के आने की सूचना दे दी जाय (वेगवतीलम्भ : पृ. २४८)। राजकुल की अपनी मर्यादा होती थी, इसलिए वसुदेव राजभटों से झगड़ना नहीं चाहते थे ('न य विवदामि रायउत्ते, अवस्सं मज्जाया अत्थि त्ति'; तत्रैव)।

राजा राजकुल के भीतरी भाग में रहता था, जहाँ उसके लिए सिंहासन सजा रहता था। महल के इस भीतरी भाग को अभ्यन्तरोपस्थान (गर्भगृह) कहा जाता था। अभ्यन्तरोपस्थान में विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए स्त्री-प्रतिहारियों की नियुक्ति की जाती थी, जिनकी सहायता करनेवाली अनेक दासियाँ रहती थीं। वसुदेव जब वैताढ्य पर्वत-स्थित सिंहदंष्ट्र के राजोद्धान में पहुँचे, तब प्रतिहारी ने परिचारिकाओं के साथ मिलकर उन्हें पहले स्नान कराया, उसके बाद वे उन्हें नगरपथ से होकर राजभवन में ले गईं, जहाँ उनकी अर्घ्य आदि से पूजा की गई। तब, उन्हें अभ्यन्तरोपस्थान में ले जाया गया, जहाँ उन्होंने राजा सिंहदंष्ट्र को सिंहासन पर विराजमान देखा (नीलयशालम्भ : पृ. १७९)। राजकुल में अभ्यन्तरोपस्थान के साथ ही बाह्योपस्थान भी होता था। इन दोनों उपस्थानों के लिए अलग-अलग प्रतिहारियों की नियुक्ति होती थी। राजा अशनिवेग की पुत्री श्यामली के लिए नियुक्त, उद्यान आदि में साथ देनेवाली बाह्य प्रतिहारी का नाम मत्त-कोकिला था और नगर के द्वार पर कलहंसी नाम की प्रतिहारी नियुक्त थी, जो परिचारिकाओं की

१. रायें सुभायें मुकुर कर लीन्हा।

बदनु बिलोकि मुकुट सम कीन्हा ॥

श्रवन समीप भए सित केसा।

मनहु जठरपन अस उपदेसा ॥

नृप जुबराजु राम कहुं देहू।

जीवन जनम लाभ किन लेहू ॥ (रामचरितमानस : अयो. २. ३-४)

सहायता से वसुदेव को स्नान कराकर राजा अशनिवेग के अभ्यन्तरोपस्थान में ले गई थी (श्यामलीलम्भ : पृ. १२३) ।

राजकुल में स्त्री-प्रतिहारी के अतिरिक्त पुरुष-प्रतिहारी भी होते थे । कथाकार ने चक्रवर्ती राजा सनत्कुमार के राजकुल में पुरुष-प्रतिहारी के नियुक्त रहने का उल्लेख किया है (मदनवेगालम्भ : पृ. २२३) । स्त्री-प्रतिहारी के रूप और अलंकरण का अपना वैशिष्ट्य होता था । प्रतिहारी मत्त-कोकिला का वर्णन कथाकार ने वसुदेव के मुख से इस प्रकार कराया है : 'वह मध्यम वय की थी और सफेद बारीक रेशम के दुकूल तथा उत्तरीय धारण किये हुए थी ।' (श्याम-लीलम्भ : पृ. १२३) इसी प्रकार, वसुदेव जब सार्यवाह कुबेरदत्त के भवन के द्वार पर रथ से उतरे, तब उन्होंने वहाँ स्त्री-प्रतिहारी को देखा, जो कीमती कपड़ों और गहनों से सजी साक्षात् गृहदेवी जैसी प्रतीत हो रही थी । वह पादुका धारण किये हुए थी और उसके हाथ में स्वर्णजटित दण्ड था, जिससे वह कुतूहली लोगों की भीड़ पर नियन्त्रण कर रही थी (सोमश्रीलम्भ : पृ. २२२) ।

परम्परागत रूप से प्रतिहारी के अतिरिक्त कंचुकी की भी नियुक्ति राजकुल में की जाती थी । कंचुकी पुरुष होते हुए भी रानी के पार्श्वचरों में सम्मिलित था । वह जनानी ड्योढ़ी का द्वारपाल और अन्तःपुर का सेवक भी होता था । इसीलिए, उसे नाट्याचार्यों ने 'सर्वकार्यार्थकुशलः' की संज्ञा दी है । 'वसुदेवहिण्डी' में एक स्थल पर अन्तःपुर के सेवक के रूप में ही कंचुकी का उल्लेख हुआ है । अभग्नसेन का भाई मेघसेन और अन्तःपुर में स्थित वसुदेव के परस्पर मिलन के पूर्व, कंचुकी भेजकर वसुदेव से अनुमति ली गई थी (अश्वसेनालम्भ : पृ. २०७) ।

राजकुल में, उबटन (वर्णक) लगानेवाली तथा मालिश और स्नान करानेवाली दासियाँ तो नियुक्त रहती ही थीं, प्रत्येक राजा की परिचर्या में व्यक्तिगत धात्री का भी नियोजन होता था (श्यामाविजयालम्भ : पृ. ११९) । वसुदेव जब कुबेरदत्त सार्यवाह के भवन के भीतर गये, तब सार्यवाह के परिजनों ने उनका अभिनन्दन किया । वहाँ आसन पर सुखपूर्वक बैठने के बाद कुशल संवाहिकाओं ने वसुदेव के शरीर पर 'शतपाक तैल' चुपड़कर उनकी मालिश की और मंगल-कलश से उन्हें स्नान कराया (सोमश्रीलम्भ : पृ. २२२) ।

संघदासगणी ने राजकुल-वर्णन के प्रसंग में, अन्तःपुर का भी मनोरम अंकन किया है । अन्तःपुर में भी राजकन्याओं का अन्तःपुर अलग होता था और रानियों का अलग । कन्या के अन्तःपुर में नियुक्त महाद्वारपाल गंगरक्षित की कन्याओं द्वारा की जानेवाली दुर्दशा का रोचक वर्णन कथाकार ने किया है । कथा है कि राजा एणिकपुत्र द्वारा जब गंगरक्षित को उसके पिता गंगपालित की जगह महाद्वारपाल नियुक्त कर दिया गया, तब एक दिन दोपहर के बाद एक दासी उत्पलमाला पथरी में भात और दाहिने हाथ में एक मलिया लिये हुए आई और कुत्ते को आवाज देने के तरीके से उसे बुलाने लगी । गंगरक्षित दासी के पास गया और क्रोधाविष्ट होकर उससे बोला : यह मलिया मैं तुम्हारे माथे पर फोड़ूँगा । उसके बाद उसने दासी को अनेक प्रकार से खेदित और लज्जित किया । इस घटना को राजा ने छोटी खिड़की की जाली से छिपकर देख लिया । उसके बाद दासी ने एक गाथा के द्वारा गंगरक्षित को उपदेश किया : 'अरे पण्डित ! इस भात को लेकर तुम कुत्ते को दो अथवा फेंक दो । लेकिन, इतना खयाल रखो कि राजकुल में एक बार जो आ जाता है, उसका फिर छुटकारा नहीं है ।' तभी गंगरक्षित सोचने लगा कि उसके पिता ने द्वारपाल का बड़ा दुष्कर कार्य किया था । इस प्रकार उसका समय बीतने लगा ।

एक दिन उत्पलमाला गंगरक्षित को उलाहना देने लगी। तब गंगरक्षित ने 'तुमने आचार का उल्लंघन किया है,' ऐसा कहकर उसे ऐसा बोलने से मना किया। तब दासी बोली : 'तुम मृत्यु के निकट चले गये हो।' तभी राजकुल का अतिशय विश्वस्त और गंगरक्षित का बालसखा मर्कटक गंगरक्षित के पास आया और बोला : 'ओ मित्र ! तुमने राजा को सन्तुष्ट कर लिया है। जिस समय उत्पलमाला एकान्त में अंगचेष्टा का प्रदर्शन करते हुए तुम पर प्रणयाघात कर रही थी, उस समय राजा महल की खिड़की से देख रहे थे। उन्होंने तुम्हें अपने पास बुलाया है।' गंगरक्षित मर्कटक के साथ राजा के पास गया और उन्हें प्रणाम करके थोड़ी दूर पर खड़ा रहा। राजा ने उसका सत्कार किया और उसके आचरण से विश्वस्त होकर उसे कन्या के अन्तःपुर की व्यवस्था में नियुक्त कर दिया।

एक दिन गंगरक्षित प्रियंगुसुन्दरी के घर गया। उस समय प्रियंगुसुन्दरी का पूर्वाह्न-भोजन का समय था। उसने उससे भोजन करने का आग्रह किया। तभी दासियाँ गंगरक्षित को व्यंग्य-बाणों से बेधने लगीं। दासियाँ चारों ओर से उसे कहने लगीं कि यह अचेतन (= मूर्ख) है, और फिर हँसी के साथ उन्होंने उसे हाथ पकड़कर बैठा दिया। उसके बाद वे उसके पास भोजन-सामग्री ले आईं। उसी समय कौमुदिका नाम की दासी ने व्यंग्य करते हुए उससे कहा : 'हम आप जैसे पण्डित को भोजन करते देखना चाहती हैं, ताकि हम भी भोजन करने की विधि सीख सकें।' समृद्ध रीति से भोजन करने की बात सोचकर वह सभी भोजन-सामग्री को एक साथ मिलाकर बिल के समान अपने मुँह में कौर डालने लगा। तब दासियाँ कहकहे लगाती हुई बोलीं : 'ओह ! वेश्यालय में रहकर इसने परम्परागत रीति को अच्छी तरह जान लिया है।'

दासियों द्वारा की जानेवाली गंगरक्षित की दुर्दशा की यही इतिश्री नहीं हुई। जब वह प्रियंगुसुन्दरी के घर से वापस आ रहा था, तभी उन दासियों ने 'तुम्हारी भुजाली (बड़ी छुरी) देखूँ' कहकर उसकी भुजाली ले ली और एक ने तो उसकी तलवार भी छीन ली। फिर वे बोलीं : 'जहाँ बेंत की छड़ी पर्याप्त है, वहाँ अन्य हथियारों की क्या जरूरत?' तब गंगरक्षित ने उन दासियों को समझाया : 'सुन्दरियों ! त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के सम्बन्ध में तीन प्रकार के पुरुष विचारणीय होते हैं। जैसे: उत्तम, मध्यम और अधम। इनमें अधम के लिए शस्त्रधारण किया जाता है। उत्तम पुरुष तो आँख से देखे जाने पर ही अपराध-कर्म से निवृत्त हो जाता है। मध्यम कोटि का पुरुष कहने या मना करने से रुक जाता है; किन्तु अधम कोटि का पुरुष तो बिना प्रहार किये अपराध-कर्म नहीं छोड़ता। अन्त में उसके लिए हथियार की जरूरत पड़ती है।' यह कहकर गंगरक्षित ने एक गाथा में अपनी बात को समेटा कि इस प्रकार त्रिवर्ग की दृष्टि से पुरुष तीन प्रकार के होते हैं : शत्रु, मित्र और मध्यस्थ।

इसके बाद सुन्दरियों ने गंगरक्षित से कहा : 'मित्र और शत्रु की विशेषता हमें बताओ।' उसने कहा : 'मित्र हितकारी होता है और शत्रु अहितकारी। जो न हितकारी होता है, न ही अहितकारी, वह मध्यस्थ होता है।' सुन्दरियों ने पुनः प्रश्न किया : 'इन तीन प्रकार के पुरुषों में तुम हमारी स्वामिनी के लिए कौन हो?' 'मैं तो स्वामिनी का दास हूँ।' गंगरक्षित ने उत्तर दिया। तब दासियों ने उसे फटकारा : 'अरे ! तुम तो प्रताप करते हो। तुमने पुरुष तो तीन प्रकार के बतलाये, फिर चौथा 'दास' कहाँ से हो गये?' गंगरक्षित बड़े चक्कर में पड़ गया। बहुत देर तक सोचने के बाद बोला : 'मैं स्वामिनी का मित्र हूँ।' तब वे हँसती हुई बोलीं : 'मित्र क्या हित ही करता है

या दूसरा कुछ अप्रिय भी ?' गंगरक्षित बोला : 'मित्र अपना प्राण देकर भी हित करता है।' तब दासियों ने उसका सिर पकड़ लिया और कहा : 'यदि तुम स्वामिनी का मित्र हो, तो उनके लिए अपना सिर दे दो।' 'ले लो', उसने कहा। तब वे बोलीं : 'हमारे लिए यह वरदान तुम्हारे पास सुरक्षित रहा। काम पढ़ने पर ले लिया जायगा।'।

एक दिन कौमुदिका ने तो गंगरक्षित को भारी परेशानी में डाल दिया। वह प्रियंगुसुन्दरी का हार उसके घर में रख आई और इस प्रकार उसने हार चुराने के अभियोग में उसे राजा से दण्ड दिलवाने का षड्यन्त्र किया। विवश होकर गंगरक्षित प्रियंगुसुन्दरी के पैरों पर गिरकर गिड़गिड़ाते लगा : 'स्वामिनी ! प्रसन्न हों, आप हार यहाँ मैंगवा लें, तभी मैं समझूँगा कि आपने मुझे जीवनदान दिया।' तब प्रियंगुसुन्दरी से उसे आश्चस्त किया।

एक दिन किन्नरी नाम की दासी आई और गंगरक्षित को उलाहना देने लगी। कभी वह उसे गाली भी देती और उसका मजाक भी उड़ाती। गंगरक्षित को क्रोध हो आया। वह बेंत हाथ में लेकर उसे मारने दौड़ा, तो वह भागती हुई घर (कन्या के अन्तःपुर) में जा घुसी। वह भी उसके पीछे-पीछे गया। तब उसने उससे कहा : 'यह जगह कौन-सी है, पहले इसे जान लो, तभी मेरा स्पर्श करना।' उसकी इस बात से डरकर गंगरक्षित पीछे लौट आया।

दासियों को पता था कि प्रियंगुसुन्दरी वसुदेव को चाहती है। अतएव, उन्होंने गंगरक्षित से आग्रह किया कि वह वसुदेव को चुपके से कन्याओं के अन्तःपुर में ले आये। गंगरक्षित ने अशोकवनिका में जाकर, वहाँ ठहरे हुए वसुदेव से निवेदन किया। वसुदेव ने सोचा : अकुलोचित, अधर्ममूलक, अपयशकारक तथा जीवन के लिए सन्देहजनक होने के कारण परस्त्री-गमन उचित नहीं है। फिर, राजकन्या के साथ समागम तो कभी सुखद सम्भव नहीं। तब, गंगरक्षित प्रियंगुसुन्दरी को अशोकवनिका के नागघर में ले आया। वसुदेव वहीं प्रियंगुसुन्दरी के साथ गन्धर्व-विवाह करके उसके साथ रमण करने लगे और गंगरक्षित नागघर के द्वार की रखवाली करने लगा। पुनः गंगरक्षित ने वसुदेव को महिला का वेश धारण कराया और पालकी में बैठाकर उन्हें वह कन्या के अन्तःपुर में ले आया। वहाँ वसुदेव देवलोक के अनुरूप सुखभोग करने लगे।

जब गंगरक्षित ने प्रियंगुसुन्दरी से वसुदेव को अन्तःपुर से बाहर ले जाने की आज्ञा माँगी, तब प्रियंगुसुन्दरी ने उससे एक सप्ताह के लिए वसुदेव को अन्तःपुर में ही रखने का आग्रह किया। एक सप्ताह बीतने पर वसुदेव ने भी एक सप्ताह माँगा। दूसरा सप्ताह बीतने पर कौमुदिका गंगरक्षित को फटकारती हुई बोली : 'क्या हम दासियों से तुम्हें जूते खाने का मन है ? अगर इन दोनों को एक-एक सप्ताह रहने की अनुमति दी है, तो हमें भी दो।' इस प्रकार, कन्या के अन्तःपुर में प्रच्छन्न रूप से रहते हुए वसुदेव के इक्कीस दिन क्षण के समान बीत गये।

बाईसवें दिन, भय से सूखे होंठ-कंण्ठ लिये गंगरक्षित अन्तःपुर में आया और वसुदेव से कहने लगा : 'स्वामी। अन्तःपुरवासी अमात्य, दासी, श्रूत्यवर्ग और नगर के सर्वसाधारण जन में यह बात खुल गई है कि कन्या के अन्तःपुर में कोई दुर्जन घूम रहा है। इसके अतिरिक्त, मालाकार भी यही बोल रहे हैं और गन्धक (इत्रफरोश) भी गालियाँ दे रहे हैं।' तब, कौमुदिका ने दृढ़ भाव से कहा : 'अगर तमाम शहर में, अन्तःपुर में दुर्जन-प्रवेश की बात फैल गई है, तो क्या हुआ, स्वामिपाद तो यहाँ रहते ही हैं।' गंगरक्षित के दीन-करुण चेहरे को देखकर वसुदेव ने उससे

कहा : 'मत डरो । जाओ, राजा से कहो कि आर्या देवी ने जो भविष्य-भाषण किया था, तदनुसार कन्या (प्रियंगुसुन्दरी) का पति अन्तःपुर में आ गया है ।' गंगरक्षित चला गया ।

कुछ ही क्षणों के बाद किलकारियाँ भरती कौमुदिका आई । राजा एणिकपुत्र से सम्मानित गंगरक्षित भी आया । उसने राजा से प्रीतिदान में प्राप्त कड़े अपनी भुजाओं में पहन रखे थे । वह वसुदेव के पैरों पर गिरकर सन्तुष्ट भाव से उठ खड़ा हुआ और बोला : 'कन्या के पति के अन्तःपुर में पधारने की बात कहते ही राजा ने सम्मानित करते हुए मेरा आलिंगन किया !' (द्र. प्रियंगुसुन्दरीलम्भ)

इस प्रकार, कथाकार संघदासगणी ने आर्या देवी की भविष्य-वाणी की युक्ति उपस्थित कर अन्तःपुर के उपरिवर्णित रति-रहस्य को स्वीकृत्यात्मक सामाजिक मूल्य देने का प्रयास किया है और अन्तःपुर के इस रोमांस की औचित्य-सिद्धि की भी चेष्टा की है । किन्तु, इस कथा से तत्कालीन राजकुल के अन्तःपुरों में चलनेवाले प्रच्छन्न रंग-रभस का भी स्पष्ट संकेत हुआ है । इसके अतिरिक्त, कन्या के अन्तःपुर के निरीक्षक के साथ रतिप्रौढा दासियों की छेड़खानी और उनकी प्रगल्भता तथा चतुराई एवं नर्मक्रीड़ा-प्रवणता का जैसा उत्तेजक और यौनोष्मा से उदीप्त, साथ ही हृदयहर एवं नीतिगर्भ चित्रण किया गया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है ।

उक्त रसोच्छल कथाप्रसंग में संघदासगणी ने अन्तःपुर की सामाजिक संस्कृति का सातिशय प्राणवन्त प्रतिबिम्बन किया है । कथा से स्पष्ट है कि उस समय द्वारपाल अपने कर्तव्य के पालन के समय भुजाली, तलवार और बेंत एक साथ धारण करता था । राजा स्वयं अपनी आँखों परीक्षा करके, चरित्रवान् व्यक्ति को ही कन्या के अन्तःपुर में निरीक्षक नियुक्त करता था । फिर भी, कन्याएँ निरीक्षक को, अपने स्वभावज मायागुणों से यथायोजित रत्यात्मक षड्यन्त्र में सहायक बनने को विवश कर देती थीं । अन्तःपुर में निरीक्षक के अतिरिक्त अनेक अमात्य और भृत्यवर्ग भी रहते थे । राजकन्या की सहायक सखियाँ यद्यपि दासियाँ कहलाती थीं, तथापि वे प्रायः नर्मदूती की भूमिका का निर्वाह करती थीं । इनके अतिरिक्त भी अनेक दासियाँ होती थीं, जो सही मानी में सेविका का कर्तव्य निबाहती थीं ।

इसी प्रकार, राजकुल में रानियों का अन्तःपुर भी बड़ा रहस्यमय होता था और वहाँ सभी रानियों में सपत्नी-भाव की प्रबलता रहती थी और सभी सपत्नियाँ मिलकर प्रधान महिषी या पटरानी को उत्पीड़ित करने का षड्यन्त्र रचती थीं । बन्दी बनाई गई या युद्ध में हथियाई गई स्त्रियों को राजा अपने अन्तःपुर में ही रख लेता था । संघदासगणी द्वारा वर्णित ऐसे राजाओं में कालदण्ड (धम्मिल्लचरित : पृ. ६०) और काकजंघ (तत्रैव : पृ. ६३) एवं उनके अन्तःपुरों का उल्लेखनीय महत्त्व है ।

संघदासगणी ने लम्बी दाढ़ीवाले अतिक्रान्तवय जमदग्नि ऋषि की चर्चा की है । वह कन्या की भिक्षा माँगते हुए इन्द्रपुर के राजा जितशत्रु के राजभवन में आये । राजा ने मन्त्रियों से विचार-विमर्श करके यह निश्चय किया कि इस वृद्ध ऋषि को विवाह से विमुख कर देना चाहिए । राजा के निर्णय की सूचना मिलते ही जमदग्नि स्वयं कन्या के अन्तःपुर में चले गये और वहाँ उन्होंने कन्याओं से पसन्द करने का आग्रह किया । कन्याओं ने बूढ़े जमदग्नि को दुतकार कर भगा दिया, जिससे वे रुष्ट हो गये और कन्याओं को कुबड़ी हो जाने का अभिशाप दे दिया (मदन-वेगालम्भ : पृ. २३७) । इस कथा से स्पष्ट है कि ऋषियों का, कन्याओं के अन्तःपुर में भी अबाध प्रवेश था और सम्पूर्ण राजभवन उनकी तपःशक्ति से आतंकित रहता था ।

अन्तःपुर में कबूतर पाले जाने की प्रथा का संकेत 'वसुदेवहिण्डी' से मिलता है। कथा है कि पुत्रप्राप्ति का आकांक्षी राजा पुण्ड्र एक दिन अपने अन्तःपुर में गया। उसने देखा कि रानी, अपने बच्चों को दाना चुगाते हुए पारावत-मिश्रुन को एकटक देख रही है। राजा ने रानी से पूछा : 'क्या देख रही हो?' रानी बोली : 'स्वामी ! कृष्णागुरुधूप की तरह श्यामवर्ण, लाल-लाल पैर और आँखोंवाले कबूतरों को तो देखिए, जो अपनी भूख की परवाह न करते हुए, पुत्रस्नेहवश अपनी चोंच से दाना चुगकर बच्चों के मुँह में डाल रहे हैं' (रक्तवतीलम्भ : पृ. २१६)। इससे स्पष्ट है कि उक्त प्रकार के सहज सुन्दर कबूतर राजभवन की शोभा बढ़ानेवाले होते थे। इसीलिए, कथाकार ने राजमहल के कंगूरे या गुम्बद पर बैठे हुए कबूतरों के झुण्ड का बिम्बात्मक वर्णन किया है (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २६८)।

रानियों के अन्तःपुर में संन्यासियों के निर्बाध प्रवेश के कारण भी कभी-कभी अनर्थकारी घटनाएँ हो जाती थीं। कथाकार ने लिखा है कि वसन्तपुर का राजा जितशत्रु परिव्राजकों का बड़ा भक्त था। इसलिए, उसने अपने अन्तःपुर में उनके आने-जाने की खुली छूट दे रखी थी। एक दिन शूरसेन नाम के परिव्राजक ने जितशत्रु की रानी इन्द्रसेना को ही, जो राजा जरासन्ध की बेटी थी, अपने विद्याबल से वश में कर लिया। राजा को इसकी सूचना मिलने पर उसने परिव्राजक का वध करवा दिया (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४८)।

इस प्रकार, संघदासगणी ने तत्कालीन राजकुल और उसके राज्य-प्रशासन का जो वर्णन किया है, वह अपने-आप में विविध और विचित्र है। इस युग में राजकुल से सम्बद्ध लोग जहाँ राजपूजा से गर्वान्वित होते थे या राजा की ओर से प्राप्त होनेवाले सम्मान से कृतार्थ होते थे, वहीं उनपर निरन्तर वध और बन्धन के कालदूत मँडराते रहते थे। अनुग्रह और निग्रह का कार्य समानान्तर रूप से चलता था। सद्गति से सम्पन्न लोगों की जहाँ ततोऽधिक पूजा की जाती थी, वहीं असद्गतिवाले लोगों को कठोर-से-कठोर दण्ड देने में भी राजा हिचकते नहीं थे। प्रायः सभी राजा कलाकुशल और नीतिशास्त्रज्ञ होते थे। दूतों और गुप्तचरों का उस युग के राज्य-प्रशासन में बहुत अधिक महत्त्व था। नीतिकारों ने कहा भी है कि गुप्तचर ही राजा के नेत्र होते हैं। राजा गुप्तचर की आँखों से ही देखता है। अपनी आँखों से तो सामान्य मनुष्य देखते हैं : 'चारैः पश्यन्ति राजान्श्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः।'।

राजधानी के असामाजिक तत्वों या राज्यविप्लवकारी घटनाओं के प्रति गुप्तचरों की दृष्टि बहुत सतर्क रहती थी और दो राजाओं के परस्पर युद्ध के समय दूतों का उत्तरदायित्व अधिक बढ़ जाता था। इस सन्दर्भ में कथाकार द्वारा वर्णित चण्डसिंह (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७६; केतुमतीलम्भ : पृ. ३११), डिम्भक शर्मा (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४९; प्रभावतीलम्भ : ३५०), मरीचि (केतुमतीलम्भ : पृ. ३११; ३१९), मिश्रकपाद (प्रभावतीलम्भ : पृ. ३५०) आदि दूतों के नाम और कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विधि-व्यवस्था : अपराध और दण्ड :

संघदासगणी ने तत्कालीन राजकुलों की राज्य-प्रशासन-नीति के क्रम में ही विधि-व्यवस्था का विशद वर्णन उपन्यस्त किया है और इस विधि-व्यवस्था के सन्दर्भ में ही उस युग में होनेवाले

अपराधों और उनके लिए विहित दण्डविधान का भी प्रचुर उल्लेख किया है। ज्ञातव्य है कि विधि-व्यवस्था मानविकी के विभिन्न विषयों से जुड़ी हुई है। तत्कालीन न्यायभावना में भी व्यापक मानव-हित का प्रतिबिम्बन होता है, जो तत्त्वतः मानव-संस्कृति से ही अन्तःसम्बद्ध है। न्याय का सम्बन्ध अनादिकाल से ही मनुष्य की भावनाओं और उसके बाह्य आचरणों के साथ रहा है। प्रसिद्ध विधिवेत्ता पं. सतीशचन्द्र मिश्र ने कहा है कि मनुष्य की नैसर्गिक स्वार्थपरता और अहम्भाव के कारण एक के दूसरे के साथ संघर्ष की स्थिति में आ जाने की आशंका सतत बनी रहती है, जिसमें सामाजिक जीवन में उथल-पुथल होने या उसके छिन्न-भिन्न हो जाने का बीज निहित रहता है। इस परिस्थिति से बचाव के लिए मनुष्य के मन में जो भाव उत्पन्न होते हैं और जो सामान्यतः एक दूसरे को मान्य होते हैं, उन्हें ही न्यायभावना के नाम से पुकारा जाता है।^१ राजतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में भी मानव-समाज के संरक्षण और परिचालन में न्यायभावना बराबर क्रियाशील रही है।

प्रक्रियामूलक विधियों में मुकदमा और साक्ष्य-विधि ('लॉ ऑव इविडेंस') का उल्लेखनीय महत्त्व होता है। कथाकार संघदासगणी ने इन दोनों न्याय-प्रक्रियाओं का भी विशद वर्णन किया है। उदाहरण के लिए, 'वसुदेवहिण्डी' में उल्लिखित गाड़ीवान की कथा (धम्मिल्लचरितः पृ. ५७) द्रष्टव्य है। कथा है कि कहीं कोई गँवार गाड़ीवान रहता था। एक दिन वह गाड़ी में धान भरकर और पिंजरे में एक तीतर लेकर शहर गया। वहाँ गन्धिकपुत्र ने पूछा : 'गाड़ी-तीतर कितने में बेचोगे?' गाड़ीवान ने कहा : 'एक कार्षापण में।' गन्धिकपुत्र ने एक कार्षापण दिया और तीतर-समेत गाड़ी लेकर चल पड़ा। 'गाड़ी क्यों ले जा रहे हो?' गाड़ीवान ने टोका। गन्धिकपुत्र ने उत्तर दिया : 'मैंने मूल्य देकर खरीदा है।' इस बात पर दोनों में झगड़ा हो गया और मुकदमेबाजी भी हो गई। गाड़ीवान गन्धिकपुत्र के वाक्चातुर्य या वाक्छल (गाड़ी-तीतर, यानी गाड़ी-समेत तीतर) को नहीं समझ पाने के कारण स्वयं चूक गया था, इसलिए वह मुकदमे में भी हार गया और गन्धिकपुत्र गाड़ी-समेत तीतर ले गया।

किन्तु कुलपुत्र द्वारा प्रदर्शित उपाय से गाड़ीवान की गाड़ी लौट आई। कथा है कि गाड़ीवान की गाड़ी जब छिन गई, तब वह खाली बैल को साथ लिये रोता-चिल्लाता चला जा रहा था। कुलपुत्र के पूछने पर उसने अपने ठगे जाने की बात कही। दयार्द्र होकर कुलपुत्र ने उसे उपाय बता दिया। वह गन्धिकपुत्र के घर जाकर उससे बोला : "तुमने यदि मेरी भात-लदी गाड़ी ले ली, तो बैल भी ले लो और बदले में मुझे सत्तु-द्विपालिका (सामान्य अर्थः दो पैली सत्तु, श्लेषः सत्तु-सहित दो पैरोंवाली स्त्री) दे दो। मैं जिस किसी के हाथ से नहीं लूँगा। सभी अलंकारों से भूषित तुम्हारी प्यारी पत्नी जब देगी, तभी मुझे परम सन्तोष होगा।" गाड़ीवान और गन्धिकपुत्र द्वारा आमन्त्रित साक्षी के समक्ष गन्धिकपुत्र की पत्नी दो पैली सत्तु देने आई। गाड़ीवान सत्तु के साथ उसकी पत्नी को भी हाथ पकड़कर ले चला। 'ऐसा क्यों करते हो?' गन्धिकपुत्र ने टोका, तो उसने कहा कि 'सत्तु-द्विपालिका' ले जा रहा हूँ। अन्त में मुकदमा हुआ और गाड़ीवान के वाक्छल को न समझ पाने के कारण गन्धिकपुत्र से जो चूक हो गई थी, उसके कारण वह भी मुकदमे में हार गया। अन्त में, बड़ी कठिनाई से दोनों में समझौता हुआ। गाड़ीवान ने गन्धिकपुत्र की पत्नी छोड़ दी और गन्धिकपुत्र ने गाड़ीवान को गाड़ी लौटा दी।

तेईसवें भद्रमित्र-सत्यरक्षितालम्भ (पृ. ३५३-३५४) में, धन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में एक रोचक वाद-निर्णय का उल्लेख कथाकार ने किया है। कथा है कि पोतनपुर के एक सार्थवाह के दो पत्नियाँ थीं और एक पुत्र था। सार्थवाह किसी कारणवश मर गया। उसकी दोनों पत्नियों में धन के निमित्त झगड़ा हो गया। दोनों ही अपने को उस पुत्र की अपनी माँ घोषित कर रही थीं। दोनों झगड़ती हुई राजदरबार में पहुँचीं। राजा ने अपने मन्त्री सुचित से दोनों स्त्रियों के आपसी कलह की वस्तुस्थिति का पता लगाने के लिए आदेश दिया। मन्त्री ने कतिपय व्यापारियों के समक्ष दोनों स्त्रियों से पूछा कि आप दोनों का कोई ऐसा व्यक्ति है, जो पुत्र के जन्म के विषय में जानता हो। दोनों में कोई भी पुत्रजन्म का साक्षी नहीं उपस्थित कर सकी, जो यह बता सके कि अमुक स्त्री ने पुत्र को जन्म दिया है। लड़के ने भी अपनी वास्तविक माँ के बारे में अनभिज्ञता व्यक्त की। उसने कहा कि स्नेह के कारण मैं दोनों को माँ कहता हूँ। इस उत्तर से मन्त्री किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया और 'अच्छा तो विचार करूँगा', कहकर उन्हें विदा कर दिया।

कुछ दिनों के बाद वे दोनों पुनः राजदरबार में उपस्थित हुईं। राजा को जब इसकी सूचना मिली, तब वह रुष्ट हो उठा और मन्त्री से बोला : 'तुमने सामन्तों के बीच मुझे हलका कर दिया है। ऐसा भी मन्त्री क्या, जो बहुत दिनों के बाद भी विवाद को निबटाने में असमर्थ है। तो, विना इस विवाद को निबटाये तुम मुझे अपना मुँह मत दिखाना।' मन्त्री ने सोचा : राजा अप्रसन्न होने पर यम और प्रसन्न होने पर कुबेर के समान होता है ('जय-कुबेर-सरिसा रायाणो कोपे पसादे य'; तत्रैव)। इसके बाद वह (मन्त्री) भय से गोदावरी नदी के तटवर्ती आश्रम में चला गया और वहीं गुप्त रूप से रहने लगा।

घूमते हुए वसुदेव संयोग से उस आश्रम में पहुँचे। वहाँ रात में उनकी भेंट मन्त्री सुचित से हो गई। मन्त्री ने अपनी समस्या उनके सामने रखी और वसुदेव ने उसके समाधान का बीड़ा उठा लिया। वे मन्त्री के साथ पोतनपुर आये। सुबह होने पर वसुदेव बाह्योपस्थान (दीवानखाना, जहाँ राजा मन्त्रियों के साथ बैठकर मुकदमों का फैसला करता था) में पधारे। वहाँ कतिपय व्यापारी उपस्थित हुए और सार्थवाह की दोनों पत्नियाँ भी अपने पुत्र के साथ हाजिर हुईं। उन्होंने वसुदेव को प्रणाम किया। उसके बाद वसुदेव ने मुकदमे के फैसले के लिए उन दोनों स्त्रियों से पूछताछ की। उसके बाद उन्होंने आरा चलानेवालों को बुलवाया और उनसे गुप्त रूप से कहा : 'ऐसा करना कि बच्चे को तकलीफ न हो, लेकिन तीव्र भय का प्रदर्शन करना।' उन्होंने वैसा ही करना स्वीकार कर लिया।

उसके बाद वसुदेव महार्घ आसन पर बैठे और सार्थवाह की दोनों पत्नियों से कहा : 'विवाद करना व्यर्थ है। तुम दोनों स्त्रियाँ धन को आपस में बराबर-बराबर बाँट लो।' उनमें एक ने स्वीकार कर लिया कि ऐसा ही हो। लेकिन, दूसरी मूढ़ स्त्री ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब वसुदेव के निर्देशानुसार आराकशों ने लड़के को यन्त्र में जकड़ दिया और उसके माथे पर धागे से निशान बनाकर आरे को रखा। तब वसुदेव ने उनसे कहा : धागे के चिह्न का अतिक्रमण किये बिना लड़के को चीरो। तब वह बालक मृत्युभय से घबड़ाकर रोने लगा। लड़के को उस स्थिति में देखकर धनलाभ की इच्छावाली एक स्त्री को परपुत्र के वध का कोई दुःख नहीं हुआ, वरन् उसका मुख सूर्य की किरणों से खिले कमल की भाँति विकसित हो उठा। किन्तु, दूसरी स्त्री का हृदय

पुत्रवध के दुःख से काँप उठा। वह विषाद-विह्वल कण्ठ से बोली : 'यह मेरा पुत्र न सही, उसी (सपत्नी) का हो। मैं इस (पुत्र) का विनाश नहीं चाहती।' वसुदेव ने आराकशों के हाथ रोक दिये।

इसके बाद वसुदेव ने मन्त्री-सहित सभासदों से अपने निर्णय में कहा : 'आपसोंगों ने देखा, इन दोनों स्त्रियों में एक ने धन की आकांक्षा व्यक्त की, पुत्र की परवाह नहीं की। पर, दूसरी ने धन त्याग दिया, पुत्र को चाहा। तो, जिसने बालक के प्रति दया दिखाई, वही बालक की वास्तविक माँ है, इसमें सन्देह नहीं। और, जो निर्दय स्त्री है, वह माँ नहीं है।' वसुदेव का फैसला सुनकर सबने उनको शिरसा प्रणाम किया।

इस कथा में किसी उलझन-भरे मुकदमे को उपस्थितबुद्धि या युक्तिचातुरी से निबटाने का रोचक वर्णन तो है ही, साथ ही इससे प्राचीन राजकुल के प्रशासन-तन्त्र के कई महत्वपूर्ण अंगों की भी सूचना मिलती है : इस प्रकार, कथाकार ने व्यवहार (मुकदमा)-सम्बन्धी और भी कई कथाप्रसंगों (नीलयशालम्भ : पृ. १८१; केतुमतीलम्भ : पृ. ३२० आदि) की अवतारणा की है, जिनसे तत्कालीन प्राचीन न्याय-प्रक्रिया का प्रातिनिधिक आदर्शोद्भावन होता है, साथ ही विधिशास्त्र में भी कथाकार की पारगमिता की सूचना मिलती है। 'व्यवहार' शब्द आधुनिक विधिविज्ञान में विधि या कानून (लॉ) के अर्थ में प्रचलित है, किन्तु संघदासगणी ने उसे मुकदमा (वाद) और कानूनी फैसला—दोनों अर्थों की अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त किया है।^१ ('ततो ताणं व्यवहारो जाओ'; धम्मिल्लचरित : पृ. ५७; 'समागयज्जेणे य मज्झत्येण होऊण व्यवहारनिच्छओ सुओ'; तत्रैव : ५८) प्राचीन काल में आधुनिक काल की तरह न्यायालयों और न्यायाधीशों का प्रावधान नहीं था। व्यवहार, वाद या मुकदमे की उत्पत्ति राजकुल में निवेदन से होती थी।

न्यायाधीश के लिए संघदासगणी ने 'कारणिक' शब्द का प्रयोग किया है। ये न्यायाधीश न्यायतुला के प्रभारी होते थे। न्यायतुला भी अद्भुत और रहस्याधिष्ठित होती थी। साक्षी के अभाव में न्यायतुला का निर्णय मान्य होता था। इस प्रकार, उस युग की न्यायविधि में तुला-परीक्षा का भी प्रचलन था। यों, सामान्यतः तुला, न्याय के प्रतीक-रूप में परम्परागत रूप से स्वीकृत है। कथा है कि पोतनपुर में धारण और रेवती दो वणिक्-मित्र रहते थे। एक बार धारण ने रेवती के हाथ से एक लाख का माल खरीदा और शर्त रखी गई कि किस्त के हिसाब से एक लाख रुपये वापस कर देंगे। धारण उस माल से व्यापार करता हुआ समृद्धिशाली हो गया। तब, रेवती ने अपना धन वापस माँगा। लेकिन, धारण निश्चित शर्त से मुकर गया। रेवती ने राजा से लिखित अपील की और कहा कि मेरा कोई साक्षी नहीं है। तब, राजा ने अपने समक्ष न्यायाधीश द्वारा बारी-बारी से इस न्याय के साथ तुला-परीक्षा कराई कि अगर धारण देनदार होगा, तो तराजू झुक जायगा और यदि रेवती देनदार होगा, तो तराजू नहीं झुकेगा। धारण के साथ न्याय के समय

१. (क) मनुस्मृति में भी 'व्यवहार' शब्द मुकदमे के अर्थ में ही प्रयुक्त है :

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।

मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत् सभाम् ॥ (८.१)

(ख) याज्ञवल्क्य ने भी मुकदमा को ही 'व्यवहार' कहा है :

व्यवहारानृपः पश्येद विद्वद्ब्राह्मणैः सह।

धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविर्वर्जितः ॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति : भातृका-प्रकरण, श्लोक १

तराजू झुक गया, लेकिन रेवती के साथ न्याय करते समय नहीं झुका। (“रेवङ्गा रण्णे लेहवियं—नत्थि सक्खी मे। कारणिएहिं रण्णे समीवे तुला परिसाक्खि—जइ धारणो धरेई ततो तुला पडेउ। पडिया। पुणो—जइ रेवई न धरेइ तो तुला मा पड्ड। न पड्डइ”; प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९५)। राजा ने रेवती को एक लाख रुपये दिलवा दिये और धारण को मिथ्यावादी घोषित कर उसकी जीभ कटवा ली।

‘वसुदेवहिण्डी’ के विधि-विषयक कथाप्रसंगों से यह संकेतित होता है कि तत्कालीन विधि का सिद्धान्त नीतिशास्त्रानुमोदित था। विधि या कानून के आधार और नीतिशास्त्र के मौलिक सिद्धान्त एक दूसरे से सम्पत्तया अनुबद्ध थे। क्योंकि, विधिशास्त्री ऐसा मानते हैं कि केवल कानून पर चलनेवाला व्यक्ति (‘होमोजूरिडिक्स’) बहुत शोभनीय प्राणी नहीं होता, जबतक उसका व्यवहार नीतिशास्त्रानुमोदित न हो। इसीलिए, संघदासगणी ने ऐसे अनेक राजाओं के चित्रण किये हैं, जो केवल कानून पर चलनेवाले थे, किन्तु उनके मन्त्री उनके कानूनों को सतत नीतिसम्मत बनाकर क्रियान्वित करते थे।

भारतीय विधि-सिद्धान्त में प्रारम्भ से ही राजशक्ति धर्मानुशासित रही है और आततायी को दण्ड देना राजा का प्रधान धर्म माना गया है। ‘मनुस्मृति’ में उल्लेख है कि दण्ड सब प्राणियों पर राज्य करता है और दण्ड ही सब प्राणियों की रक्षा करता है, सबके सो जाने पर केवल दण्ड ही जागता रहता है और पण्डित जन दण्ड को ही धर्म कहते हैं।^१ एक स्मृतिकार कहता है कि न तो राज्य है, न राजा ; न तो दण्ड है, न दाण्डिक (दण्ड देनेवाला)। धर्म ही सब प्रजाओं की रक्षा करता है।^२ इसलिए, प्राचीन हिन्दू-विधिशास्त्र का सर्वप्रधान लक्ष्य था—धर्म की संस्थापना। मनुष्य के श्रेय के लिए धर्म के नियमों का पालन आवश्यक था और धर्म का उल्लंघन करनेवाला व्यक्ति राजा द्वारा दण्डनीय होता था। ‘मनुस्मृति’ का वचन है कि अदण्डनीय को दण्ड देने से और दण्डनीय को दण्ड न देने से राजा का बड़ा अपयश होता है और वह नरक में जाता है।^३ जो राजा सामाजिक व्यवस्था भंग करनेवाले को दण्ड नहीं दे सकता, उसे राजस्व-ग्रहण का अधिकार नहीं है। याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा है कि रक्षा न करने से प्रजा जो कुछ पाप करती है, उसमें आधे पाप का भागी राजा होता है; क्योंकि वह प्रजा की रक्षा के लिए उससे कर लेता है।^४ इसलिए, राजा का धर्म जहाँ लोकरंजन या प्रजारक्षण है, वहीं दण्ड द्वारा अपराध का परिमार्जन भी उसका कर्तव्य है।

अपराध और दण्ड पर प्राचीन भारतीय शास्त्रों में बड़ी विशदता से विचार किया गया है। प्रख्यात विधिशास्त्री पं. सतीशचन्द्र मिश्र^५ ने दण्डनीति पर विस्तार से विवेचन करते हुए कहा है

१. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्डः सुपेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ (७.१८)।

२. न राज्यं न च राजास्ति न दण्डो न च दाण्डिकः।

धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ते हि परस्परम् ॥

३. अदण्डधान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।

अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ (८.१२८)

४. अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किञ्चित्त्विषं प्रजाः।

तस्मात् नृपतेरर्द्धं यस्माद्गुल्फात्यसौ करम् ॥

—याज्ञवल्क्यस्मृति, राजधर्मप्रकरण, श्लोक ३७

५. विशेष विवरण के लिए द्र. ‘विधिविज्ञान का स्वरूप’, दण्डनीतिप्रकर्त : पृ. १५८

कि समाज ने औचित्य या न्याय का जो आदर्श या 'नॉर्म' स्वीकार कर लिया है, उसका जब कोई व्यक्तिविशेष उल्लंघन करता है, तब ऐसे कर्म को अपराध कहा जाता है। पं. मिश्र ने इस सम्बन्ध में ब्लैकस्टोन, ऑस्टिन, सैमोण्ड, विनफील्ड, जोलोविस्ज़, ग्लेनेविल, विलियम्स आदि अनेक पाश्चात्य अपराध-वैज्ञानिकों की परिभाषाओं का विवेचन किया है, किन्तु अन्त में उन्होंने मिथिला के प्रसिद्ध प्राचीन विधि-विमर्शक पं. वर्द्धमान उपाध्याय की परिभाषा को अधिक सटीक माना है। पं. उपाध्याय ने अपनी कृति 'दण्डविवेक' के 'दण्डनिमित्तानि' अध्याय में अपराध को परिभाषित करते हुए लिखा है: 'किं चामी दुष्टबुद्धिपूर्वकत्वनियमादुत्सर्गतो भ्रमादिमूलकेभ्योऽन्येभ्यो विशिष्यते इति लोकोद्वेजकत्वादेवैव प्राधान्येन दण्डपदप्रयोगः।' अर्थात्, जब व्यक्ति दुष्टबुद्धिपूर्वक नियम का उल्लंघन करके या भ्रम आदि फैलाकर समाज में उद्वेग उत्पन्न करता है, तब वही उसके लिए अपराध हो जाता है, जिससे वह दण्ड का भागी बनता है। निष्कर्ष यह कि लोकोद्वेजन का कार्य ही अपराध है, जिसके घटित होने से, जिसके प्रति अपराध किया जाता है, उसके चित्त में और समाज के अन्य व्यक्तियों के चित्त में भी क्षोभ या उद्वेग उत्पन्न हो जाता है। अपराध के साथ ही दण्ड भी जुड़ा हुआ है।

प्राचीन धर्मानुशासित राज्य में अधर्म ही अपराध का पर्याय था। परपीडन ही अधर्म था और दूसरे को दुःखहीन बनाना धर्म। संघदासराणी ने धर्म की परिभाषा में कहा भी है: 'परस्स अदुक्खकरणं धम्मो' (धम्मिल्लचरिय : पृ. ७६)। श्रमण-परम्परा में हिंसा को अधर्म और अहिंसा को धर्म माना गया है, इसलिए हिंसामूलक समस्त अधर्म कार्य अपराध के ही अन्तर्गणित हैं। शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'अपराध' शब्द विकृत या विपरीतार्थक 'अप' उपसर्गपूर्वक प्रसन्नार्थक 'राध्' धातु से घञ् प्रत्यय का योग होने पर बना है। इससे ध्वनित है कि किसी को अप्रसन्न करना ही अपराध हो जाता है।

अपराध की गुरुता और लघुता के आधार पर दण्ड का विधान या निर्धारण प्राचीन शास्त्रों में किया गया है। धातुपाठ में 'दण्ड्' धातु सजा देने के अर्थ में ही सूचीबद्ध किया गया है। प्राचीन स्मृतिकारों के अनुसार, दण्ड से केवल अपराध का निवारण ही नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण संसार दण्ड के भय से सुमार्ग पर प्रतिष्ठित रहता है। मनु महाराज ने कहा है: 'दण्डस्य हि भयात् सर्वं जगद् भोगाय कल्पते।' (७.२२) अर्थात्, चराचर जगत् दण्डभय से ही परिचालित रहता है। इसीलिए, दण्ड का सामाजिक महत्त्व बहुत अधिक है। महाभारत के शान्तिपर्व में अर्जुन ने युधिष्ठिर से दण्ड की अपरिहार्यता का वर्णन करते हुए कहा है कि दण्ड के भय से सभी सन्मार्ग पर चलते हैं, चाहे वह कुर्म करने के कारण राजा द्वारा दिया जानेवाला दण्डभय हो या यम के द्वारा दिया जानेवाला, या फिर परलोक का भय हो या परस्पर दण्डित होने का भय (एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम्, द्र. अ. १५)। 'मनुसंहिता' (८.३१८) में दण्ड का महत्त्व यहाँतक माना गया है कि अपराध के लिए दण्डित मनुष्य पवित्र हो जाता है और वह पुण्यात्मा की श्रेणी में आ जाता है। राजा द्वारा अपराधी दण्ड भुगतकर पापमुक्त हो जाता है। यह एक ध्यातव्य मनोवैज्ञानिक तथ्य है। और, प्राचीन राजकुलों में इसी सामाजिक भावना से दण्ड दिया जाता था, ताकि अपराध की मानसिकता पर अंकुश लग सके। वस्तुतः, अपराध को भारतीय दण्ड-विधान ने व्यक्ति की

आत्मा का पतन माना है और इसी कारण बहुत-से अपराधियों के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की गई है, जो अपराधियों के मानस को प्रभावित कर सके।^१

मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों तथा कौटिल्य आदि अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया अपराधों का वर्गीकरण भी अतिशय वैज्ञानिक है। जैसे: स्तेय, साहस, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य और स्त्री-संग्रहण। चोरी; साहस, यानी बलपूर्वक अपराध, जैसे किसी की वस्तु को छीन लेना या उसे शारीरिक कष्ट देना; वाक्पारुष्य, अर्थात् किसी को वाक्यों द्वारा मानसिक कष्ट पहुँचाना; दण्डपारुष्य, अर्थात् किसी को मारना-पीटना; स्त्री-संग्रहण, अर्थात् स्त्री का शीलहरण करना। इसके अतिरिक्त, मिथ्या साक्ष्य देना या तथ्य को जानते हुए भी साक्ष्य नहीं देना, ये सब अपराध माने गये हैं। कौटिल्य ने निन्दा और गाली-गलौज करना, धमकाना आदि को वाक्पारुष्य अपराध के अन्तर्गत माना है: 'वाक्पारुष्यमपवादः कुत्सनमभिभर्त्सनमिति' (३.७५.१८)। पुनः किसी को छूने, पीटने या चोट पहुँचाने को कौटिल्य ने दण्डपारुष्य कहा है: 'दण्डपारुष्यं स्पर्शनमवगुणं प्रहृतमिति।' (३.७६.१९)। कुल मिलाकर, ज्ञान रखते हुए अपराध करना दुष्प्रवृत्ति का द्योतक है। अतएव, उसके निवारण के लिए दण्डविधान आवश्यक माना गया है। दण्ड मुख्यतया दो प्रकार के होते थे: शारीरिक दण्ड और अर्थदण्ड।

प्रसिद्ध जैनग्रन्थ 'स्यानांग' में दण्ड को कई प्रकार से वर्गीकृत किया गया है। प्रथमतः, दण्ड को दो प्रकार का कहा गया है: अर्थदण्ड और अनर्थदण्ड (२.७६)। पुनः इसके पाँच भेद किये गये हैं, जो मुख्यतः श्रमणों के आचार से सम्बद्ध हैं: १. अर्थदण्ड, अर्थ या प्रयोजनवश अपने या दूसरों के लिए त्रस या स्थावर प्राणियों की हिंसा करना; २. अनर्थदण्ड, निष्प्रयोजन हिंसा करना; ३. हिंसादण्ड, यह मुझे मार रहा है, मारेगा, या इसने मुझको मारा था, इसलिए हिंसा करना; ४. अकस्मादण्ड, एक के वध के लिए प्रहार करने पर दूसरे का वध हो जाना और ५. दृष्टिविपर्यासदण्ड, मित्र को अमित्र जानकर दण्डित करना (५.१११)। पुनः दण्डनीति सात प्रकार की कही गई है: १. हाकार (हाय ! तूने यह क्या किया ?), २. माकार (आगे ऐसा मत करना), ३. धिक्कार (धिक्कार है तुझे, तूने ऐसा किया), ४. परिभाष (थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना, क्रोधपूर्ण शब्दों में 'यहीं बैठे रहो' का आदेश देना), ५. मण्डलबन्ध (नियमित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना), ६. चारक (कैद में डाल देना) और ७. छविच्छेद (हाथ-पैर आदि काटना)।

संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में यथोक्त प्राचीन भारतीय शास्त्रों और जैन आगमों के आधार पर प्रशासन-व्यवस्था से सम्बद्ध अपराध और दण्डनीति तथा दण्ड के प्राधिकारियों का वर्णन किया है। यहाँ तद्विषयक कतिपय सन्दर्भों का विवरण-विवेचन अपेक्षित है।

संघदासगणी की दृष्टि में किसी प्राणी का वध सबसे बड़ा अपराध है। वधापराध करने-वाले का हृदय बराबर आशंकित रहता है, उसे कभी चैन नहीं मिलता और पश्चात्ताप से उसका अन्तर्मन जलता रहता है। इसके अतिरिक्त, वधकर्ता के मस्तिष्क में निरन्तर स्वकृत वध का दृश्य ही नाचता रहता है

१. अपराध के विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए प्रसिद्ध अपराध-वैज्ञानिक डॉ. बदरीनारायण सिन्हा की, बिहार-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी द्वारा प्रकाशित एवं बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा पुरस्कृत पुस्तक 'आपराधिकी' द्रष्टव्य है।

“पुरिसवधासंकियहियओ रई अविदंतो . . . पच्छात्तावसंतत्तहियओ तं चेव चितयंतो अच्छइ”;
धम्मिल्लवरित : पृ. ७३) । दण्डमूलक प्रशासन-विधि मनुष्य को अधिकार और कर्तव्य से युक्त प्राणी मानती है। अधिकार की अवहेलना से मनुष्य का अपना अहित होता है और कर्तव्य की अवहेलना से उसे दण्डित होना पड़ता है। संघदासगणी ने मनुष्य की अधिकार और कर्तव्यमूलक चेतना को विधि, अपराध और दण्ड की व्यवस्था के उद्भावन का मूलकारण माना है। ऋषभस्वामी के चरित (नीलयशालम्भ : पृ. १५७) का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि आदिकाल में मिथुनसृष्टि के समय मिथुनों में परस्पर अधिकार के विभाजन की बात आई : ‘यह मेरी भूमि है, यह तुम्हारी; यह मेरा घर है, यह तुम्हारा ।’ इसी प्रकार उनमें पेड़-पौधे, फूल-फल, पोखर-तालाब आदि पर भी अधिकार की भावना जगी। सभी मिथुन अपने प्रधान विमलवाहन के पास पहुँचे और विभाजन की समस्या के समाधान के लिए आग्रह करने लगे। विमल-वाहन ने भूमि, पेड़ और पोखर-तालाब का आपस में बँटवारा कर दिया और उनसे कहा : तुम्हें इन सब वस्तुओं का उपयोग परस्पर की सहमति से ही करना चाहिए, बलपूर्वक नहीं। जो भी मिथुन इस मर्यादा का उल्लंघन करता था, उसके लिए अन्य मिथुनों के समक्ष विमलवाहन खेदमूलक ‘हा !’ शब्द (हाकार) का प्रयोग करता था। फलतः, मर्यादा का उल्लंघन करनेवाला मिथुन, हा-कारमूलक दण्ड का स्मरण करते हुए, आमरण पुनः मर्यादा की अवहेलना नहीं करता था।

कालक्रम से मिथुन ‘हा-कार’ की दण्डनीति का उल्लंघन करने लगे। तब, मिथुन-प्रधान यशस्विन् ने ‘मा-कार’ (मत करो) की दण्डनीति प्रारम्भ की। अर्थात्, ‘हा’ की जगह अब निषेधमूलक ‘मा’ शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। पुनः इससे उत्तरवर्ती काल में मिथुन-प्रधान प्रसेनजित् के शासनकाल में मिथुन-प्रजाएँ ‘मा-कार’ की दण्डनीति की मर्यादा का अतिक्रमण करने लगीं। तब उसने तीसरी, ‘धिक्कार’ की दण्डनीति प्रवर्तित की। अर्थात्, अब ‘हा’ और ‘मा’ शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त मर्यादाभंगक प्रजाओं को दण्डस्वरूप धिक्कारा भी जाने लगा।

ऋषभदेव के समय कालदोष से कुलकरोँ द्वारा प्रवर्तित उक्त तीनों दण्डनीतियों की मर्यादा का अतिक्रमण होने लगा। तब उत्पीडित प्रजाएँ ऋषभदेव के पास उपस्थित हुईं। भगवान् ऋषभनाथ ने उनसे कहा : ‘इस समय जिस राजा की दण्डनीति उग्र होगी, वही प्रजापालन में समर्थ होगा (नीलयशालम्भ : पृ. १६२)।’ इसी समय से, यानी ऋषभस्वामी के समय से राजा, राज्य-प्रशासन और शारीरिक दण्ड, यानी पूर्वोक्त चारक, छविच्छेद आदि का विधान प्रारम्भ हुआ।

संघदासगणी के एक कथाप्रसंग से यह ज्ञात होता है कि उस समय की, अर्थात् ऋषभोत्तर काल की दण्डनीति में माया या छल-कपट का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। किन्तु राजा सिंहसेन का पुत्र राजा पूर्णचन्द्र अपनी दण्डनीति में कपट-प्रयोग का प्रतिक्रमण (‘दंडनीईए य मायाप्रयोग-मपडिक्कमिन्ता’, बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५७) नहीं करता था। उसने अपने राज्य में अहिंसामूलक अभयघोषणा करा दी थी। वह विधिपूर्वक प्रौषधव्रत का पालन करता हुआ, श्रमण-ब्राह्मणों को दान देता हुआ तथा जिनपूजा में संलग्न रहकर राज्य-प्रशासन चलाता था।

उस काल में शारीरिक दण्ड के कई रूप थे। मृत्युदण्ड, देशनिर्वासन-दण्ड अंगच्छेद-दण्ड, कारावास-दण्ड आदि का प्रचुर वर्णन ‘वसुदेवहिण्डी’ में उपलब्ध होता है। सार्धवाह जब व्यापार के निमित्त देशान्तर-प्रवास में रहते थे, तब सार्धवाह की पत्नियों के संरक्षण और सुरक्षा का

उत्तरदायित्व राजा का होता था। मथुरा का सागरदत्त सार्थवाह जब विदेश में समुद्रयात्रा पर था, तभी एक वणिक्पुत्र नागसेन ने कुट्टनी परिव्राजिका अंजनसेना की सहायता से सार्थवाह की पत्नी मित्रश्री के शील का हरण कर लिया था। राजा शूरसेन को जब इसका पता चला, तब उसके द्वारा प्रेरित राजपुरुषों ने अचानक नागसेन को मित्रश्री के घर में ही पकड़ लिया। आचार का अतिक्रमण करनेवाले नागसेन को मृत्युदण्ड मिला और उसकी कुकर्म-सहायिका अंजनसेना के नाक-कान काट लिये गये; क्योंकि स्त्री के लिए वध का दण्ड वर्जित था। इस प्रकार, उसे विरूपित करने के बाद, देश से निर्वासित कर दिया गया। राजा का दण्डमूलक आदेश इस प्रकार है : “रज्जा भणियं—मया रक्खियव्वा वणियदारा, सत्थवाहा देसंतराणि समुहं संचरंति, एसो नागसेणो आधारातिवकंठो वज्झो, इत्थिगा परिव्वायगा कण्णनासविकप्पिया णिज्जुहियव्वा। ततो नागसेणो सुलं पोईआ” (मदनवेगालम्भ : पृ. २३३)।

इस कथा से यह स्पष्ट है कि उस समय भी स्त्री और परिव्राजिका को मृत्युदण्ड देने का प्रावधान नहीं था। परिव्राजिका अंजनसेना पर कठोर छविच्छेद-दण्ड की भीषण प्रतिक्रिया हुई। फलस्वरूप, उसने कनखल के निकट, हरद्वार में गंगातट पर घोर अनशन करके मृत्यु का वरण कर लिया। ऐसी ही स्थिति में दण्ड का सम्बन्ध प्रायश्चित्त से सहज ही जुड़ जाता है।

इसी प्रकार, एक कथा है कि पोतनपुर के राजा ने धारण नामक वणिक् की जीभ कटवा ली थी; क्योंकि धारण ने व्यापार करने के लिए उधार में प्राप्त अपने वणिक्-मित्र रेवती के एक लाख रुपये का माल हड़प लिया था और वह झूठ बोलकर एक लाख रुपये वापस करने की शर्त से मुकर गया था (त्रिगुणसुन्दरीलम्भ : पृ. २९५)। कौटिल्य ने इस प्रकार के अपराध के लिए बारह पण दण्ड वसूलने का विधान किया है (‘विक्रीय ण्यमप्रयच्छतो द्वादशपणो दण्डः’; ३.७१.१५)। इससे स्पष्ट है कि संघदासगणी द्वारा वर्णित राजकुल की दण्डनीति अतिशय उग्र थी। तत्कालीन राजन्य-वर्ग नमिस्वामी द्वारा प्रवर्तित चातुर्याम धर्म का पालन करता था, इसलिए उस वर्ग के सदस्य हिंसाकारियों, मिथ्यावादियों, व्यभिचारियों और परिग्रहियों को कभी सहन नहीं करते थे और वैसे अपराधियों के लिए कठोर-से-कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाती थी।

निक्षेप या न्यास (धरोहर) के रूप में रखे गये धन को हड़पनेवाले के लिए कौटिल्य ने यथोचित दण्ड देने का विधान किया है (अर्थशास्त्र : ३. ६८. १२)। संघदासगणी ने भी एक कथा में भद्रमित्र सार्थवाह की थाती हड़पनेवाले श्रीभूति पुरोहित के लिए राजा सिंहसेन द्वारा निर्वासन-दण्ड दिये जाने का उल्लेख किया है (‘भद्रमित्तो समक्खं पुरोहिस्स विक्कोसमाणो कयत्थो जाओ गणो निक्खेवेण। सिरिभूती य निव्वासिओ नयराओ’; बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५३)।

‘वसुदेवहिण्डी’ से यह सूचना मिलती है कि उस समय दण्ड वसूल करके राजकोष में जमा किया जाता था। पीठिका-प्रकरण (पृ. ९१) में एक कथा है कि हस्तिनापुर के राजा मधु ने आमलकल्पा नगरी के राजा कनकरथ के साथ प्रेम बढ़ाकर उसका विश्वास अर्जित किया, फिर धीरे-धीरे युक्तिकौशल से उसकी रानी चन्द्राभा को हथिया लिया। एक दिन चन्द्राभा चिन्तामग्न होकर नगर से बाहर खेत की ओर देख रही थी और अपने पति कनकरथ, जो राजा मधु के डर से घरबार छोड़कर तपस्वी हो गया था, की स्मृति से अन्तर्दग्ध थी। तभी मधु आया और उससे पूछा : ‘रानी, बहुत ध्यान से क्या देख रही हो?’ रानी ने बात बदलकर कहा :

‘राजन् ! नगर के बाहर रस्सी से विभक्त यह क्या दिखाई पड़ रहा है ?’ राजा मधु ने कहा : ‘ये नगरवासियों के खेत हैं ।’ चन्द्राभा ने पूछा : ‘हमारे कौन-से खेत हैं ?’ मधु ने कहा : ‘रस्सी से घिरे जितने खेत हैं, सभी हमारे हैं ।’ इतनी पतली रस्सी की क्या उपयोगिता है ?’ प्रश्न के स्वर में चन्द्राभा बोली । राजा ने कहा : ‘यह सिर्फ मर्यादा का प्रतीक है । जो इस रस्सी को तोड़ता है, वह अपराधी माना जाता है और शासन के निमित्त उससे दोषानुरूप दण्ड वसूला जाता है, जो हमारे कोष में जमा होता है । राजा मर्यादा के रक्षक होते हैं’ (‘ततो से विणयत्थं दण्डो दोसाणुरूपो, सो अहं कोसं पविसई, रायाणो भज्जायारक्खणा’) । प्रसंगतः यहाँ दण्ड शब्द अर्थदण्ड की ओर संकेत करता है । कदाचित् उस समय अर्थदण्ड का प्रावधान बहुत कम था, इसलिए उसका कादाचित्क उल्लेख मिलता है ।

संघदासगणी के काल में परदार-हरण के लिए भी दण्ड का प्रावधान था । उक्त कथा-प्रसंग में जब दण्ड की बात चली, तब चन्द्राभा ने परदार-हरण करनेवाले के लिए दण्डविधि के बारे में पूछा । मधु ने जब तद्विषयक दण्ड के बारे में बताया, तब चन्द्राभा ने उससे कहा कि आपने कनकरथ की पत्नी का (अर्थात्, मेरा) अपहरण करके अनुचित किया है । मधु ने इसे स्वीकार कर लिया और प्रायश्चित्त-स्वरूप राज्यश्री का परित्याग कर दीक्षा ले ली और तपस्या करके देहत्याग किया । इस प्रकार, कथाकार ने प्राचीन भारतीय शास्त्रानुमोदित प्रायश्चित्त और दण्ड का अद्भुत समन्वय उपस्थित किया है ।

‘मनुस्मृति’ में, दण्ड-व्यवस्था के प्रसंग में कहा गया है कि जिस अपराध पर साधारण मनुष्य को एक पण (कार्षापण) दण्ड होगा, यदि राजा स्वयं उसे करे, तो उसपर सहस्र पण दण्ड होने की शास्त्र-मर्यादा है ।^१ भारतीय धर्मशास्त्रों में राजा को ईश्वर या देवता का प्रतिनिधि माना गया है और दण्ड को ईश्वर का पुत्र ।^२ ‘गीता’ में तो श्रीकृष्ण ने स्वयं अपने को दमनकारी तत्त्वों में, दण्ड का प्रतिरूप कहा है : ‘दण्डो दमयतामस्मि’ (१०.३८) । फिर भी, मनु ने स्वयं राजा को ईश्वर का प्रतिरूप मानते हुए भी ‘द किंग कैन डू नो राँग’, यानी राजा कोई अपराध कर ही नहीं सकता और उसी कारण दण्ड का भागी नहीं हो सकता, इस सिद्धान्त को नहीं माना और इस प्रकार उन्होंने दण्ड-समता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया । संघदासगणी ने भी उक्त राजा मधु की कथा में मनु की दण्ड-समता का ही समर्थन किया है ।

भारतीय दण्डविधान के निरूपक याज्ञवल्क्य, मनु आदि ने किसी भी व्यक्ति को दण्ड से परे नहीं रखा है । यहाँतक कि स्वयं राजा या उसके निकट सम्बन्धी भी यदि दण्डनीय कार्य करें, तो राजा का कर्तव्य है कि वह उन्हें भी दण्डित करे । मनु ने लिखा है कि पिता, आचार्य, मित्र, माता, भार्या, पुत्र और पुरोहित को भी अपने धर्म में तत्पर न रहने से राजा दण्ड दे सकता है (८.३३५) । याज्ञवल्क्य ने भी व्यवस्था दी है कि राजा के भाई, पुत्र, गुरु, श्वशुर, मामा आदि धर्म या कानून की अवज्ञा करने पर दण्डनीय हैं (राजधर्म. श्लो. ५८) । कहना न होगा कि कथाकार

१. कार्षापणं भवेद्दण्डो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।

तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ (८.३३६)

२. ब्रह्मण्यः मनुस्मृति, ७८ तथा १४

संघदासगणी ने उक्त भारतीय स्मृतिकारों की दण्ड-व्यवस्था का गम्भीर अध्ययन किया था और तदनुसार ही उन्होंने अपनी कथा में चित्रित राजाओं से दण्डविधान का पालन कराया है।

अभयघोषणा का उल्लंघन करनेवाले अपने ज्येष्ठ पुत्र मृगध्वज को मृत्युदण्ड देने की घटना से यह सिद्ध है कि श्रावस्ती का राजा जितशत्रु दण्ड-समता के सिद्धान्त का समर्थक था। राजा सिंहसेन द्वारा श्रीभूति पुरोहित को प्रदत्त निर्वासन-दण्ड भी दण्ड-समता का ही प्रत्यक्ष उदाहरण है। वसन्तपुर के राजा जितशत्रु द्वारा शूरसेन परिवाजक को दिया गया मृत्युदण्ड भी तत्कालीन राजाओं की समतामूलक दण्डनीति को ही संकेतित करता है। इसी प्रकार, प्रशासनदुर्बल राजा महापद्म को उसके पुत्र द्वारा बन्दी बनाया जाना और पुरोहित नमुचि को निर्वासित किया जाना भी दण्ड-समता का ही निर्देशन है। पुनः मथुरा के राजा अजितसेन द्वारा जिनपालित स्वर्णकार के प्रति आसक्त अपनी पटरानी मित्रवती का त्याग भी तत्कालीन राजा की दण्ड-समता का ही संज्ञापक है। कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' में दण्ड-समतामूलक रोचक और रोमांचक उदाहरणों का ततोऽधिक प्राचुर्य है। यहाँ स्थालीपुलाकन्याय से कतिपय उदाहरण दिग्दर्शनार्थ उपन्यस्त किये गये हैं।

मृत्युदण्ड के तो विविध प्रसंग कथाकार ने उपस्थापित किये हैं। राम (परशुराम) ने सात बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया था और वह जिस क्षत्रिय का वध करता था, उसके दाँत उखाड़कर रख लेता था (मदनवेगालम्भ : पृ. २३८)। राज्य द्वारा अभयदान-प्राप्त मृग का वध करने के कारण वाराणसी के नलदाम बनिया के पुत्र मन्मन को फाँसी दे दी गई थी (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९५)। इसी प्रकार, उस युग में अदत्तादानवत में दोष करने के कारण भी मृत्युदण्ड की व्यवस्था थी। कथा है कि मगध-जनपद के वड्डक गाँव में अर्हदत्त का पुत्र मेरु रहता था। वह गाँव का मुखिया था। वहाँ उग्रसेन नाम का कोई दूसरा गृहस्थ रहता था। वह रात में पानी पड़ने पर खेत की ब्यारियों को बाँधकर उन्हें पानी से भर देता था। फिर जब संचित पानी की गहराई का अन्दाज लेने लगता, तभी ग्रामप्रमुख मेरु उस (उग्रसेन) की ब्यारियों को काटकर अपनी ब्यारियों में पानी भर लेता। उग्रसेन को जब इस बात का पता चला, तब उसने राजा से लिखित अपील की और मेरु के पिता अर्हदास को अपना साक्षी बनाया। राजा के पूछने पर अर्हदास ने यथावृत्त कह दिया। राजा ने सत्यवादी अर्हदास को सम्मानित किया और ग्रामप्रमुख मेरु को सूली पर चढ़वा दिया। साथ ही, ग्रामप्रमुख के अधीनस्थ खेत भी उग्रसेन को दिलवा दिये (तत्रैव : पृ. २९५)।

उक्त कथा में चित्रित न्यायविधि और दण्ड-व्यवस्था से स्पष्ट है कि पुत्र के दोषी होने पर पिता भी उसका साथ नहीं देता था। और इस प्रकार, सत्यवादी पिता न्यायाधिकरण की दृष्टि में सम्मान के योग्य माना जाता था। इसी प्रकार उग्र दण्डनीति धारण करनेवाले वसन्तपुर के राजा जितशत्रु ने अदत्तादान के विषय में मिथ्या भाषण करनेवाले कपटश्रावक जिनदास का तलवार से सिर काट लेने की आज्ञा दी थी। पुनः मैथुनदोष के कारण, वसन्तपुर के राजा नलपुत्र ने न चाहनेवाली स्त्री, पुण्ड्रदेव वणिक् की पत्नी को चाहनेवाले पुरोहित करालपिंग से दण्डस्वरूप गरम लोहे की स्त्री की प्रतिमा का आलिंगन करवाया था, जिससे वह मर गया।

'मनुस्मृति' में भी परस्त्री के साथ मैथुनदोष उत्पन्न करनेवालों के लिए प्रायः इसी प्रकार का दण्डविधान किया गया है। कहा गया है कि पापी परस्त्रीरत जार पुरुष को लोहे की तप्त शय्या

पर सुलाये और ऊपर से इतनी लकड़ी डालकर आग लगा दे कि वह (अपराधी) जलकर भस्म हो जाय ।^१

कथाकार ने तत्कालीन दण्ड-व्यवस्था में शासन की ओर से बन्दी बनाने की प्रथा का उल्लेख किया है, साथ ही नजरबन्द करने की दण्डनीति का निर्देश भी । वसुदेव को उनके ज्येष्ठ भ्राता राजा समुद्रविजय ने बड़ी गोपनीय रीति से नजरबन्द कराया था । वसुदेव बहुत रूपवान् थे । वह जब उद्यान-यात्रा आदि के लिए घर से बाहर निकलते थे, तब युवतियाँ उन्हें देखकर पागल हो उठती थीं और राज्य में एक प्रकार की लोकोद्वेजना और अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाती थी । अतएव, नगरपालों की सूचना के आधार पर राजा ने वसुदेव की उद्यान-यात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिया और राज-परिजनों को इस परमार्थ को गोपनीय रखने की चेतावनी दी । साथ ही, वसुदेव को बुलवाकर समझाया कि 'दिनभर बाहर घूमते रहते हो मुख की कान्ति धूसर दिखाई पड़ती है, इसलिए घर में ही रहो । कला की शिक्षा में भी ढिलाई नहीं होनी चाहिए ।' इस प्रकार, बड़ी चतुराई से वसुदेव को चुपके से घर में ही नजरबन्द ('हाउस-ऐरेस्ट') कर लिया गया था ।

'वसुदेवहिण्डी' में प्रशासन-व्यवस्था और दण्डविधि से सम्बद्ध कतिपय पदाधिकारियों का भी उल्लेख मिलता है । जैसे: माण्डलिक, महामाण्डलिक, गोमाण्डलिक, दण्डाधिकारी, नगरारक्षक (कोतवाल) आदि । कथाकार ने तीर्थंकर अरनाथ को माण्डलिक कहा है और राजा मेघरथ को महामाण्डलिक के रूप में स्मरण किया है (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४७ तथा तत्रैव : पृ. ३३६) । तीर्थंकर नाम-गोत्रवाले राजा ही माण्डलिक और महामाण्डलिक होते थे । आधुनिक अर्थ में जिलाधिकारी के लिए प्रचलित शब्द मण्डलाधीश या महामण्डलाधीश प्राचीन परम्परा के प्रशासकों के ही वर्तमान प्रतिरूप हैं । महामाण्डलिक मेघरथ ने ही अहमिन्द्रत्व-पद से ज्युत होने के बाद शान्तिस्वामी के पिता राजा विष्वक्सेन के रूप में हस्तिनापुर में पुनर्जन्म ग्रहण किया था । शान्तिस्वामी ने पन्द्रह हजार वर्षों तक माण्डलिक के रूप में प्रशासन किया था और अरस्वामी ने इक्कीस हजार वर्षों तक माण्डलिक का पद संभाला था (तत्रैव : पृ. ३४०, ३४७) ।

वसन्तपुर के राजा जितशत्रु के दो गोमण्डल थे, जिनमें अनेक प्रकार की उत्कृष्ट और निकृष्ट गायें थीं । इन दोनों मण्डलों की देखरेख के लिए दो गोमाण्डलिक नियुक्त थे, जिनमें एक का नाम चारुनन्दी और दूसरे का नाम फल्गुनन्दी था । चारुनन्दी ने उत्कृष्ट गायों को राजा के नाम से अंकित कर रखा था और निकृष्ट गायों को अपने नाम से । ठीक इसके विपरीत, फल्गुनन्दी ने निकृष्ट गायों को राजा के नाम से और उत्कृष्ट गायों को अपने नाम से अंकित किया था । फल्गुनन्दी-कृत गायों के वर्ग-विभाजन से राजा रुष्ट हो गया और उसका वध करवा दिया । इस प्रसंग से भी तत्कालीन उग्र दण्डनीति का संकेत प्राप्त होता है । पदे-पदे मृत्युदण्ड उस युग की सामान्य घटना थी ।

संघदासगणी ने दण्डाधिकारी या सेनाधिकारी के लिए 'दण्डभोगिक' और 'भटभोगिक' शब्दों का प्रयोग किया है । यों, भोगिक शब्द का स्वतन्त्र अर्थ 'पाइयसद्वमहणवो' के अनुसार ग्रामाध्यक्ष या गाँव का मुखिया है, किन्तु आप्ते महोदय ने भोगिक का अर्थ अश्वपाल या साईस

१. पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।

अभ्यादधुष काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥ (८.३७२)

लिखा है। कथाकार द्वारा यथाप्रस्तुत कथासन्दर्भ में प्रयुक्त 'दंड-भड-भोइए' शब्द दण्डाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष के अर्थ को ही संकेतित करता है। राजा शिलायुध ने आकाशवाणी सुनी, तो उसने आश्रम में भूमी द्वारा पालित शिशु को यह 'मेरा ही पुत्र है', ऐसा मानकर गोद में बैठा लिया, फिर उसका माथा सूँघने लगा। इसके बाद उसने अपने दण्डाध्यक्ष तथा सेनाध्यक्ष को उस पुत्र के संरक्षण का आदेश दिया। ज्ञातव्य है कि राजधानी की भीतरी सुरक्षा का प्रभारी दण्डाध्यक्ष होता है और बाहरी सुरक्षा का प्रभारी सेनाध्यक्ष। इसीलिए, राजा शिलायुध ने उक्त दोनों सुरक्षाधिकारियों को आदेश दिया, ताकि भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार के आक्रमणों से बालक की रक्षा हो सके। ('भणइ य दंड-भड-भोइए—एस मम पुत्त, सारकखह णं ति'; प्रियंगु-सुन्दरीलम्भ : पृ. २९९)।

इस प्रकार, संघदासगणी द्वारा उपन्यस्त विधि-व्यवस्था और दण्डनीति के विहंगावलोकन से यह स्पष्ट सूचित होता है कि उस युग में सामाजिक नियन्त्रण की केन्द्रीय व्यवस्था थी; क्योंकि राज्य-प्रशासन में राजा के हृदय में वर्तमान सामूहिक भावनाओं की केन्द्रीय अभिव्यक्ति का ही अधिक मूल्य होता है। मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों का समूहीकरण ही समाज का आधार है और राजा के अन्तःस्थित सामाजिक भावनाओं की सक्रियता मानव या प्रजा को इच्छापूर्वक सत्कर्म में नियोजित करने में व्यक्त होती है। इस नियोजन-कार्य में राज्य-प्रशासन को अनेक प्रकार की विधिसम्मत आज्ञाएँ प्रचारित-प्रसारित करनी पड़ती हैं और अन्ततोगत्वा दण्डशक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। राज्य यद्यपि समाज का ही एक अंग है, तथापि विधि-निर्माण और उसकी रक्षा तथा व्यवस्था के लिए हिंसापूर्ण दण्ड का एकाधिकार राज्य में ही निहित है और इस स्थिति में राज्य, समाज से अपने पृथक् अस्तित्व की उद्घोषणा करता है। प्राचीन भारतीय राजधर्म के नियामक स्मृतिकारों द्वारा विहित विधि-व्यवस्था और दण्डनीति के परिप्रेक्ष्य में देखें, तो यह स्पष्ट होगा कि हिंसा और दण्डशक्ति के प्रयोग करने के कारण ही राज्य, समाज की अपेक्षा अधिक व्यग्र, उग्र और रौद्र होता है, जब कि समाज अपेक्षाकृत अधिक नम्र, उदार और प्रशान्त प्रतीत होता है।

'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित विधि-व्यवस्था और दण्डविधि के अध्ययन से यह सिद्ध है कि उस समय के राजकुल राज्यप्रशासन-विधि के कुशलतापूर्वक संचालन के लिए सदा तत्पर रहते थे। उनमें एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ अनुकूल सम्बन्ध बनाये रखने की सहज प्रवृत्ति थी। वे सर्वजनीन शान्ति एवं सुव्यवस्था के संरक्षण के लिए ही दण्डशक्ति का आश्रय लेते थे। समाज-सेवा तथा नैतिक-धार्मिक मानवीय मूल्यों की रक्षा ही उनका मुख्य लक्ष्य था। उस समय के राज्य-प्रशासन की मूल धुरी चातुर्याम धर्म की रक्षा थी। इसलिए, हिंसा, चोरी, व्यभिचार और अनुचित ढंग से अर्थसंचय करनेवाले दण्डनीय अपराधी माने जाते थे। संघदासगणी का विधिशास्त्र मानविकी के अनेक आयामों से अन्तर्बद्ध परिलक्षित होता है। इसलिए, उन्होंने सृष्टिक्रम के पारम्परिक विकास के साथ-साथ मानवहित और मानवाधिकार की रक्षा के लिए विधिसंहिता और विधिशास्त्र की मूल संकल्पनाओं में समयानुसार आपेक्षिक परिवर्तन की ओर भी स्पष्ट संकेत किया है। साथ ही, किसी वाद के उपस्थित होने पर निष्पक्ष और उचित न्याय के लिए कुलवृद्धों की व्यवस्था का निर्देश भी कथाकार ने किया है। तत्कालीन वृद्ध आधुनिक काल के ज्यूरियों (पंचों) के प्रतिरूप थे। इस प्रकार, कहना न होगा कि कथाकार संघदासगणी द्वारा वर्णित तत्कालीन राज्य-प्रशासन में विधिक चेतना और सामाजिक प्रतिबोध का आदर्श समन्वय उपस्थित हुआ है।

अर्थ-व्यवस्था :

प्राचीन प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री कौटिल्य के अनुसार, अर्थ मनुष्यों की जीविका का पर्याय है। मनुष्यों से युक्त भूमि की संज्ञा भी अर्थ ही है। उस भूमि को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करनेवाले उपायों का निरूपक शास्त्र अर्थशास्त्र है।^१ यही अर्थशास्त्र धर्म, अर्थ तथा काम में प्रवृत्त करता है, उनकी रक्षा करता है और अर्थ के विरोधी अधर्मों का विनाश करता है।^२ कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' के प्रथम अध्याय के विद्यासमुद्देश-प्रकरण में कहा है कि लोकयात्रा की सम्पूर्णता के लिए लोकपोषण और संवर्द्धन ही अर्थशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। लोकपोषण और संवर्द्धन के लिए निर्धारित धर्मों में कृषि और वाणिज्य का महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। प्राचीन युग में अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्यों के स्वधर्म में परिगणित थे। ('वैश्यस्याध्ययनं यजनं दानं शस्त्राजीवो भूतरक्षणं च।' —अर्थशास्त्र, १.१.२)

'वसुदेवहिण्डी' में वैश्य-वर्ग के सदस्य अर्थ-व्यवस्था के प्रधान सूत्रधर के रूप में प्रतिष्ठित हैं। संघदासगणी ने भी कौटिल्य की भाँति लोकयात्रा के लिए त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की साधना का समर्थन किया है, किन्तु जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण को ही माना है। धर्म, दर्शन, काव्य, कला, अर्थ आदि मानव-संस्कृति के जितने भी अंग हैं, उनमें पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) की उपयोगिता पर अनेक प्रकार से विचार किया गया है। 'अर्थशास्त्र', चौँक ऐहिक जीवन के क्रिया-व्यापारों से सम्बद्ध है, इसलिए उसमें मोक्ष को छोड़कर त्रिवर्ग की सिद्धि पर बल दिया गया है। संघदासगणी के कृषि-वाणिज्य-विषयक कथा-प्रसंगों से यह आभासित होता है कि धर्म, अर्थ और काम में प्रमुखता अर्थ की है और शेष दोनों, धर्म तथा काम अर्थ पर ही निर्भर हैं। कहना न होगा कि संघदासगणी ने मानव-जीवन की सांगत के लिए धनैषणा को अनिवार्य मानते हुए भी उसे मानव का साध्य नहीं बनाया है, अपितु उनकी दृष्टि में अर्थ साधन है और मानव साध्य। उन्होंने मूलतः मानवत्व की सिद्धि में ही अर्थ की उपयोगिता का उद्घोष किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट आर्थिक संस्कृति मानव की चारित्रिकता, नीतिमत्ता, सर्वभूतहितैषिता आदि के उन्नयन और उत्कर्ष से जुड़ी हुई है।

मानव-जीवन की संसिद्धि के लिए अर्थ की आवश्यकता और महत्त्व को धर्मग्रन्थों में भी आदरणीय स्थान दिया गया है। 'गीता' (१०.४१) में श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो कुछ विभूतिमान और श्रीमान् हैं, वह सब मेरे तेज के ही अंश से उत्पन्न हुआ है। 'गीता' (६.४१) में यह भी उल्लेख है कि योगब्रह्म पुरुष पवित्र श्रीमान् के घर जन्म लेता है। उपनिषदों में वित्तैषणा के परित्याग का उपदेश होने पर भी याज्ञवल्क्य और सयुग्वा रैक्व धन के प्रति आग्रहशील हैं। 'वसुदेवहिण्डी' में भी याज्ञवल्क्य को एक परिग्रही परिव्राजक के रूप में चित्रित किया गया है। भारतीय संस्कृति में धन के महत्त्व की ज्ञापिका श्री या लक्ष्मी देवी की उपासना की चिराचरित प्रथा को अधिक-से-अधिक मूल्य प्राप्त है। उपनिषदों में अनेक ऐसे ऋषियों की चर्चा है, जिन्होंने प्रचुर धन मिलने पर ही शिक्षा देना स्वीकार किया है। इन सभी प्रसंगों से स्पष्ट है कि अर्थार्जन

१. मनुष्याणां वृत्तिरर्थः, मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः, तस्याः पृथिव्या

लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति। (१५.१.८०.१)

२. धर्ममर्थं च कामं च प्रवर्तयति पाति च।

अधर्मानर्थविद्वेषानिदं शास्त्रं निहन्ति च॥—उपरिवत्

मानव-जीवन के प्रधान लक्ष्यों में अन्यतम है। इसीलिए जीवन की पहली उम्र में विद्यार्जन, दूसरी उम्र में अर्थार्जन और तीसरी उम्र में तपस्या की प्राप्ति, नीतिकारों द्वारा निर्धारित इन मानव-कर्मों को पूरा न करनेवाला व्यक्ति अपनी चौथी उम्र में केवल पछताता ही रह जाता है।^१

संघदासगणी की 'वसुदेवहिण्डी' में भी वित्तैषणा को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में कथाकार की अर्थ-परिकल्पना की कुछ बातें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वैदिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में, संघदासगणी ने भी धन का उपार्जन मुख्यतः वैश्यों तक सीमित रखकर समस्त समाज के उद्योगोन्मुखी होने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया है और अर्थ के अत्यन्त स्वार्थपरक भोग को बुरा मानकर अस्तेय और दान को मनुष्य के उत्कृष्ट शील में परिगणित किया है। अर्थ का यज्ञों में प्रयोग करने का विधान वेदों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी पाया जाता है। इससे इतना स्पष्ट है कि साध्य या लक्ष्य के रूप में आर्थिक कर्म का परिग्रहण भारतीय संस्कृति में नहीं हुआ है।^२ यद्यपि व्यावहारिक जीवन और सांसारिक संघर्ष में धन के महत्त्वपूर्ण स्थान को अस्वीकार नहीं किया गया है। इसलिए, संघदासगणी द्वारा उपन्यस्त साम्राज्य-व्यवस्था का आर्थिक ढाँचा, व्यावसायिक या व्यापार की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित है। 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित आर्थिक आय के समस्त व्यावसायिक स्रोतों पर राज्य का स्वामित्व दिखलाया गया है और इस प्रकार की व्यावसायिक अर्थनीति का परोक्ष उद्देश्य एक सशक्त, आत्मनिर्भर और सर्वसाधनसम्पन्न राज्य की प्रतिष्ठा करना रहा है। तत्कालीन व्यापारों में समुद्रयात्रा के द्वारा होनेवाले व्यापार का प्रमुख स्थान है। यहाँ उस समय के व्यापार-वाणिज्य, कृषि आदि के माध्यम से होनेवाली अर्थ-व्यवस्था से सम्बद्ध कतिपय कथाप्रसंगों पर प्रकाश डालना अपेक्षित है।

संघदासगणी द्वारा वर्णित राज्य की अर्थ-व्यवस्था या राजकोष की वृद्धि के साधनों में, जिन्हें कौटिल्य ने आयशरीर (२.६) कहा है, व्यापार के पथों का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन राजाओं के लिए उनके शासनाधीन नवनिधि ही राजकोष का प्रतिनिधित्व करती थी। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' (२.६) में व्यापार के पथों को वणिक्पथ कहा है। उन्होंने इसके दो भेद किये हैं : स्थलपथ और वारिपथ। 'वसुदेवहिण्डी' के सार्थवाह समुद्र-संचरण में बड़े कुशल हैं। चूँकि जलमार्ग से व्यापार करने में दूना लाभ होता है ('भंडलग्गाओ ताओ जलपहगयाओ दुगुणाओ ह्वंति'; पृ. १४६)। इसलिए सार्थवाह व्यापार के लिए कष्ट की परवाह किये बिना दुर्गम स्थलपथों और समुद्रपथों की यात्रा करते हैं। चारुदत्त की आत्मकथा में स्थलपथ और समुद्रपथ से होनेवाली यात्राओं का रुचिकर और रोमांचकारी वर्णन संघदासगणी ने किया है। सच पूछिए तो, चारुदत्त की आत्मकथा जौबाज सार्थवाहों की समुद्रयात्रा की साहस-कथा है, जो बुधस्वामी के 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' की, सानुदास की आत्मकथा (सर्ग १८) का प्रतिरूप होते हुए भी अपूर्व और अद्वितीय है।

१. प्रथमे वयसि नाधीतं द्वितीये नार्जितं धनम्।

तृतीये न तपस्तप्तं चतुर्थे किं करिष्यति ॥ (नीतिश्लोक)

२. न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्वा।

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥

संघदासगणी ने चारुदत्त की आत्मकथा में लिखा है कि विदेश जाकर व्यापार करना बहुत ही कष्टकर कार्य है (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४४)। उस समय के व्यापारों में सूत और रुई के व्यापार को प्रमुखता प्राप्त थी। चम्पापुरी के सेठ भानुदत्त का पुत्र चारुदत्त उशीरावर्त के सीमावर्ती 'दिशासंवाह' नामक गाँव में अपनी सोने की अंगूठी से रुई और सूत का विनिमय करके, अपने मामा (सिद्धार्थ) के साथ मिलकर व्यापार करता था। एक दिन मध्यरात्रि में चूहे दीये की जलती हुई बत्ती खींच ले गये, जिससे रुई में आग लग गई। व्यापार करते-करते उसने पुनः सूत और रुई एकत्र कर ली। उसने उन्हें गाड़ियों में लादा और व्यापारियों के साथ वह उत्कलदेश चला गया। वहाँ भी उसने रुई खरीदी और उसे भी गाड़ियों में लादा। वहाँ से ताप्रलिप्ति की ओर प्रस्थान किया। यात्रा के क्रम में उसने मामा के साथ दुर्गम जंगल में प्रवेश किया। व्यापारियों ने गहन जंगली प्रदेश में पड़ाव डाला। साथ में मालवाहक लोगों का संख्याबल था, इसलिए सभी निश्चिन्त थे। सन्ध्या के समय चोर आ धमके। उन्होंने सिंगा फूँका और नगाड़े बजाये। कुछ देर तक वे चोर मालवाहकों से जूझते रहे, फिर व्यापारियों के साथ ही उनकी भी हत्या करना शुरू किया। अन्त में, उन्होंने गाड़ियों में आग लगा दी और सारे माल लूट ले गये। चोरों के उपद्रव की उस हड़बड़ी के समय चारुदत्त जंगल में भाग निकला।

चारुदत्त की आत्मकथा से यह भी स्पष्ट है कि उस समय सार्ववाहों को बाँस के सघन जंगल के अन्धकार से आच्छन्न और बाघ की गुर्राहट से व्याप्त प्रदेशों को पार करना पड़ता था। साथ ही, जंगली आग से भी उन्हें बराबर भय बना रहता था। ऐसी ही कठिन परिस्थिति में मामा से बिछुड़ा हुआ चारुदत्त 'अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्', इस नीतिवाक्य के अनुसार धनार्जन के कार्य में अपनी अमरता की आस्था के साथ हिम्मत बनाये रहा। उसने मन में सोचा : जो काम मैंने प्रारम्भ किया है, उसे छोड़कर मेरा घर वापस जाना उचित नहीं है। उत्साह में ही लक्ष्मी निवास करती है। दरिद्र व्यक्ति तो मृतक के समान है। स्वजन से अपमानित होकर जीनेवाले को धिक्कार है। इसलिए, परदेश में रहना ही श्रेयस्कर है।

चारुदत्त एक जनपद से दूसरे जनपद में घूमता हुआ क्रम से प्रियंगुपट्टण पहुँचा। वहाँ उसकी भेंट अपने पड़ोसी नौकायात्री (नावासंजतओ) सुरेन्द्रदत्त से हो गई। चारुदत्त ने उससे एक लाख रुपये उधार लिये। फिर, उसने भी नौका बनवाई। उसपर माल लादे गये और कुछ नौकर साथ रख लिये गये। उसके बाद उसने राज्यशासन से अनुमति (पारपत्र) प्राप्त की ('गहिओ य रायसासणेण पट्टओ')। हवा और सगुन की अनुकूलता देखकर वह नाव पर सवार हुआ। ध्रुव (लंगर) उठा दिया गया ('उक्खित्तो ध्रुवो')^१। नाव चीनस्थान के लिए चल पड़ी। जलमार्ग में सारा लोक जलमय प्रतीत होता था। वे सभी नौकायात्री चीनस्थान पहुँच गये। वहाँ व्यापार करने के बाद सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) गये। फिर, पूर्व-दक्षिण के शहरों का हिण्डन करके कमलपुर (ख्मेर), यवनद्वीप (जावा) और सिंहल (श्रीलंका) में उन्होंने सम्पत्ति अर्जित की और पश्चिम में बर्बर और यवनदेश जाकर आठ करोड़ कमाया। वस्तुओं में उन मुद्राओं को लगाकर उन्होंने जलमार्ग द्वारा व्यापार करके दूना लाभ उठाया। उसके बाद नाव सौराष्ट्र-तट से होकर चली। सौराष्ट्र का तट

१. ध्रुव को यदि ध्रुवदर्शक ('बृहत् ज्ञानकोश' के अनुसार, एक दिशा-सूचक यन्त्र या कुतुबनुमा, जिसकी सुई बराबर उत्तर दिशा की ओर रहती है) माना जाय, तो यह अनुमान सहज ही होता है कि तत्कालीन नावों में कुतुबनुमा लगा रहता होगा, जिससे नौकायात्री अथाह समुद्र में दिशा का ज्ञान करते होंगे। —ले.

दिखाई दे रहा था कि तभी सहसा औत्पातिक आँधी से आहत होकर चारुदत्त की नाव नष्ट हो गई। बहुत देर के बाद एक तख्ता उसके हाथ लग गया। उसी को पकड़कर लहर के सहारे बहता हुआ चारुदत्त सात रात के बाद उदुम्बरावती के तट पर आ लगा। वह समुद्र से बाहर आया। उसका सारा शरीर खारे पानी से सफेद पड़ गया था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४५-१४६)।

इस कथा-प्रसंग से समुद्रयात्रा के अनेक पक्ष उभरकर सामने आते हैं। सार्थवाह समुद्र की यात्रा पूरी तैयारी के साथ प्रारम्भ करते थे। यात्रा करने के पूर्व उन्हें राज्य-शासन से पट्ट प्राप्त करना पड़ता था। यह पट्ट आधुनिक पारपत्र का प्रतिरूप होता था। नाव खोलने के पूर्व अनुकूल मौसम और सगुन की प्रतीक्षा भी नाविकों के लिए आवश्यक होती थी। उस युग के सार्थवाह बृहत्तर भारत में जलमार्ग द्वारा व्यापार करते थे। इस क्रम में वे चीन, श्रीलंका, जावा, सुमात्रा, बर्बर, यवनदेश, सौराष्ट्र आदि दूर-दूर के देशों में जाया करते थे। कभी-कभी औत्पातिक आँधी में उनकी नावें डूब जाया करती थी और उन सार्थवाहों का सर्वनाश हो जाता था। फिर भी, सार्थवाह हिम्मत नहीं हारते थे। समुद्री तूफान से बच निकलने पर वे पुनः साहस और उत्साह के साथ अपना व्यापार खड़ा कर लेते थे।

चारुदत्त भी जब समुद्री तूफान से बच निकला, तब वह लोहे को सोना बनानेवाले एक त्रिदण्डी परिव्राजक के चक्कर में फँस गया। त्रिदण्डी ने सोना बनानेवाले रस की उपलब्धि के लिए उसे चर्मकूर्पासक पहनाकर, रात्रि में योगवर्तिका जलाकर, उसी के प्रकाश में कुएँ में उतारा। कुएँ के तल पर पहुँचते ही उसे रसकुण्ड दिखाई पड़ा। परिव्राजक ने मचिया-सहित तूँबा कुएँ में लटकाया। चारुदत्त ने करछुल से तूँबे में रस भरकर उसे मचिये पर रखा। परिव्राजक ने रस्सी खींचकर तूँबा तो ऊपर उठा लिया, पर चारुदत्त को कुएँ में ही छोड़कर वह चला गया। चारुदत्त निर्भीक, साहसी और महाप्राण व्यक्ति था। सुबह होने पर एक बहुत बड़ी गोह सुरंग के रास्ते कुएँ में पानी पीने आई। जब वह लौटने लगी, तब चारुदत्त ने उसकी पूँछ पकड़ ली। सुरंग के भीतर से वह गोह तीर की गति से उसे खींचती हुई दूर जाकर एक जंगल में निकल गई। चर्मकूर्पासक पहने रहने के कारण उसका शरीर छिला नहीं। जंगल में भयानक भैसे और अजगर के आक्रमण से बचता हुआ वह काँटों-की झाड़ियों में भटकता रहा। तभी अचानक उसका पड़ोसी रुद्रदत्त उसे दिखाई पड़ा। दोनों परस्पर मिलकर बड़े प्रसन्न हुए (तत्रैव : पृ. १४७-१४८)।

कथाकार ने संकेतित किया है कि उस समय के सार्थवाह इस सिद्धान्त में विश्वास करते थे कि व्यापार में भाग्य, पूँजी और उद्योग तीनों की समन्वित प्रतिष्ठा से ही धनागम होता है। तभी तो रुद्रदत्त ने चारुदत्त को आश्वस्त करते हुए कहा था: 'मा विसायं वच्चह, तुब्भं भागधिज्जेहि अपेण पक्खेवेण सरीरचिद्गुणेण बहुद्वं उवज्जेयव्वं'; (तत्रैव : पृ. १४८)। चारुदत्त का भाग्य और रुद्रदत्त की पूँजी (प्रक्षेप) तथा दोनों के शारीरिक उद्योग जब आपस में मिल गये, तब व्यापार ने पुनः एक नया मोड़ लिया। यहाँ कथाकार ने स्थलपथ में यात्रा करनेवाले सार्थवाहों के प्राणघाती कष्टों का मार्मिक वर्णन उपन्यस्त किया है। चारुदत्त अपने मित्र रुद्रदत्त की सहायता से राजपुर पहुँचा। वहाँ रुद्रदत्त ने व्यापार के लिए माला, आभूषण, अलक्तक (लाख), लाल कपड़े और कंकण प्रभृति वस्तुओं को खरीदा। फिर, वह चारुदत्त के साथ व्यापार के निमित्त यात्रा कर रहे सार्थवाहों में सम्मिलित हो गया। क्रम से वे सिन्धु-सागर-संगम नदी को पारकर डरते हुए

उत्तर-पूर्व दिशा की ओर चले। हृण, खस और चीनभूमि को पारकर वे वैताढ्य पर्वत की तराई में स्थित शंकुपथ पहुँचे। कथाकार ने शंकुपथ पार करने का विशद और रोमांचकारी वर्णन किया है।

सभी सार्थों ने पड़ाव डाला। रसोई तैयार की। जंगली फल भी भोजन में सम्मिलित किये गये। भोजन करने के बाद सार्थबन्धुओं ने तुम्बरु फल को कूटकर चूर्ण तैयार किया। मार्गदर्शक या अग्रगामी (पुरंगम) सार्थ ने निर्देश देते हुए कहा : सभी कोई पोटली में चूर्ण भरकर अपनी कमर से लटका लें और अपनी-अपनी वस्तुओं को थैले में भरकर काँख से बाँध लें। उसके बाद हम सभी पर्वत-शिखर की नुकीली कीलों को हाथ से पकड़कर, उसके नीचे बहनेवाली विजया नदी के अथाह हृद के शंकुपथ को पार करेंगे। जब हाथ पसीजने लगेंगे, तब तुम्बरु-चूर्ण लगाकर, हाथों को रुखड़ा कर कीलों को पकड़ेंगे, अन्यथा पत्थर की कील से हाथ छूटने पर हम सभी बेसहारा होकर दुस्तर हृद में गिर पड़ेंगे।

अग्रगामी की बात मानकर सभी सार्थों ने वैसा ही किया और शंकुपथ को पार करके वे किसी एक जगह में पहुँच गये। वहाँ से चलकर सभी सार्थवाह इषुवेगा नदी के तट पर पहुँचे और पड़ाव डाला। पके हुए जंगली फलों का भोजन किया। फिर, मार्गदर्शक ने निर्देश और चेतावनी देते हुए कहा : वैताढ्य-पर्वत से निकली इस अथाह इषुवेगा नदी में जो भी उतरेगा, उसे तीर की तरह बहनेवाली धारा बहा ले जायगी। इसलिए, तैरकर पार करने की इच्छा से इस नदी में पैठना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में वेत्रलता के सहारे इस नदी को पार किया जा सकेगा। जब उत्तर की हवा चलती है, तब, पहाड़ से होकर एक साथ निकलनेवाली, उस हवा के झोंके से गोपुच्छाकार एवं स्वभावतः लचीली और ठोस वेत्रलताएँ दाहिनी और झुकती हैं और झुककर इषुवेगा नदी के दायें तट पर पहुँचती हैं। इन्हीं वेत्रलताओं को पकड़कर यात्री नदी के दक्षिण तट पर पहुँच जाते हैं। फिर, जब दक्षिण की हवा चलती है, तब वेत्रलताएँ उत्तर की ओर झुकती हैं और पार जाने को इच्छुक यात्री वेत्रलताओं को पकड़कर उत्तरी तट पर पहुँच जाते हैं। इसलिए, हम सभी अनुकूल हवा की प्रतीक्षा करें। बुधस्वामी ने 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' (१८.४३३-३५) में इसे ही 'वेत्रपथ' कहा है।

मार्गदर्शक के निर्देशानुसार सभी सार्थवाहों ने अपनी-अपनी वस्तुएँ कमर से बाँध लीं और वेत्रलता के पोर के बिचले हिस्से को पकड़ लिया और जब दक्षिण की हवा चली, तब वे सभी नदी के उत्तरी तट पर उतर गये और वेत्रलता से सघन पर्वतशिखरों के बीच रास्ता खोजते हुए टंकणदेश जा पहुँचे गये। वहाँ से फिर एक पहाड़ी नदी के तीर पर पहुँचकर सीमान्त-क्षेत्र में उन्होंने पड़ाव डाला। वहाँ भोजन से निवृत्त होने के बाद, मार्गनिर्देशक के सूचनानुसार उन सभी ने अपनी-अपनी वस्तुओं को अलग रख दिया। फिर, लकड़ी के ढेर में आग लगाकर वे सभी एक ओर जा दुबके। आग देखकर टंकण (म्लेच्छजाति के लोग) वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने सार्थवाहों का सारा माल ले लिया और बदले में बकरे और फल छोड़कर अपने जाने के इशारे के लिए एक दूसरी आग जलाकर वापस चले गये। सभी सार्थवाहों ने वहाँ बँधे हुए बकरे और फल ले लिये। उसके बाद सीमा नदी के तट से प्रस्थान करके वे सभी अजपथ पहुँच गये। विश्राम और भोजन के बाद पुरोगामी के निर्देशानुसार वे सभी अपनी-अपनी आँखों पर पट्टियाँ बाँधकर बकरे पर सवार हो गये और तीखे चढ़ाववाले 'वज्रकोटि-संस्थित' पर्वत के पार चले गये। ठण्डी हवा की मार से

अपनी देह सिकोड़े हुए बकरे वहाँ रुक गये। सभी सार्थवाहों ने अपनी-अपनी आँखों से पट्टी उतार दी। पहाड़ के ऊपर समतल भूमिभाग पर सभी सार्थवाहों ने भोजन और विश्राम किया।

पुनः मार्गनिर्देशक ने सार्थवाहों को निर्देश दिया: बकरे को मारकर सभी कोई उसके मांस पकाकर खा लें और अपनी-अपनी कमर में छुरी बाँधकर लहू से सने उनके चमड़े के खोल में घुस जायें। रत्नद्वीप से विशाल शरीरवाले भारुण्ड पक्षी यहाँ विचरने के लिए आते हैं। वे यहाँ बाघ, रीछ और भालू के द्वारा मारे गये जीवों का मांस खाते हैं और बड़े-बड़े मांसपिण्ड अपने घोंसले में ले जाते हैं। लहू से सने चमड़े के खोल में घुसे हुए हमें बृहत् मांसपिण्ड समझकर वे रत्नद्वीप में उठा ले जायेंगे। ज्यों ही वे हमें जमीन पर रखेंगे, त्यों ही छुरी से चमड़े के खोल को चीरकर हम बाहर निकल आयेंगे। वहाँ हम रत्नद्वीप में रत्नसंग्रह करेंगे। पुनः हम वैताढ्य पर्वत के निकटवर्ती सुवर्णभूमि में जा पहुँचेंगे और वहाँ से नौका द्वारा पूर्वदेश में लौट आयेंगे (गन्धर्वदत्तालम्ब : पृ. १४८-४९)।

बुधस्वामी ने 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में उपर्युक्त 'अजपथ' का वर्णन (१८.४४९-६१) और भी अधिक भयानकता के साथ किया है। एक बकरे के जाने लायक सुरंगनुमा मार्ग होने के कारण ही उस मार्ग का नाम 'अजपथ' पड़ा था। बुधस्वामी ने लिखा है कि अजपथ का नाम सुनते ही भय हो आता है। भृगुपतन (पहाड़ के कगार से गिरकर आत्महत्या) करनेवालों के लिए ढलवाँ चट्टान की तरह उस अजपथ की चट्टान तो देखने में और अधिक भयानक प्रतीत होती है।^१ इसी संकीर्ण अजपथ में सानुदास को सामने से आनेवाले शत्रु को मारकर अपना पथ प्रशस्त करना पड़ा था। इसी क्रम में बुधस्वामी के वेणुपथ (१८.४३९-४६) और खगपथ (भारुण्ड पक्षी द्वारा उड़ा ले जाने का मार्ग) का वर्णन (१८.४९९-५०५) भी विशेष महत्वपूर्ण है।

चारुदत्त ने अपनी यात्रा में जो मार्ग अपनाया था, वही मार्ग गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' में रहा होगा, ऐसा अनुमान है। क्योंकि, चारुदत्त की इसी साहसिक यात्राकथा का प्रतिरूप 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में उपलब्ध है। यद्यपि, 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' के सानुदास की साहसिक यात्रा सुवर्णद्वीप तक ही सीमित है। किन्तु, चारुदत्त की यात्रा प्रियंगुपट्टण, जो कदाचित् पूर्वदेश, यानी बंगाल में होगा, से प्रारम्भ हुई। इस सन्दर्भ में, डॉ. मोतीचन्द्र^२ ने प्राचीन भारत की पथ-पद्धति के निर्देश के क्रम में, संघदासगणी द्वारा वर्णित चारुदत्त के यात्रामार्ग के विवरण का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि चारुदत्त प्रियंगुपट्टण से चीनस्थान, अर्थात् चीन गया और वहाँ से वह मलय-एशिया पहुँचा। रास्ते में वह कमलपुर भी गया था, जिसकी पहचान कम्बुज से की जा सकती है और जो मेरु अथवा अरबों के कमर (खेर) का रूपान्तर-मात्र है। वहाँ से वह जावा पहुँचा और फिर वहाँ से सिंहल (श्रीलंका)। संघदासगणी द्वारा उल्लिखित पश्चिम बर्बर से यहाँ सिन्धु के प्रसिद्ध बन्दरगाह 'बार्बरिकोन' का स्मरण आता है। यहाँ के बाद यवन, यानी सिकन्दरिया का बन्दरगाह आता है। चारुदत्त ने अपनी मध्य-एशिया की यात्रा सिन्धु-सागर-संगम, यानी प्राचीन बर्बर के बन्दरगाह से प्रारम्भ की। वहाँ से कदाचित् सिन्धु नदी के साथ चलते हुए वह हूणों के प्रदेश में पहुँचा। वैताढ्य

१. अयं चाजपथो नाम श्रयमाणो विभीषणः।

दृश्यमानो विशेषेण भृगुः पातार्थिनामिव ॥ (१८.४६१)

२. 'द्र. सार्थवाह', प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्र. सं., सन् १९५३ ई. : पृ. १३२-१३३

का सम्बन्ध डॉ. मोतीचन्द्र ने ताशकुरगन से जोड़ा है और विजया नदी का सम्बन्ध सीर दरिया से। इधुवेगा उनकी दृष्टि में वंक्षु नदी है। मध्य-एशिया के रहनेवालों में काशगर के खस, मंगोल के हूण और उसके बाद चीनियों से चारुदत्त की भेंट हुई। मध्य-एशिया के तंगणों (टंकणों) से उसने व्यापार भी किया था। उपर्युक्त यात्रापथों के विभिन्न नामों का उल्लेख पुराणों तथा बौद्धों के कथा-साहित्य में, विशेष कर 'महाभारत', 'महानिदेश' और 'मिलिन्दपञ्च' में भी हुआ है। पुराणों में 'वायुपुराण' और 'मत्स्यपुराण' ने उक्त यात्रापथों का विशेष रूप से उल्लेख किया है।^१

संघदासगणी ने अन्यत्र भी जलपथ के संचार-साधनों में नावों और जहाजों की चर्चा की है एवं कष्टप्रद समुद्र-यात्रा की निर्विघ्नता के लिए पूजा-विधान का उल्लेख किया है। कथा है कि एक दिन पद्मिनीखेट का निवासी सार्थवाह भद्रमित्र जहाज से समुद्रयात्रा करने की इच्छा से सिंहपुर पहुँचा। भद्रमित्र ने सोचा : समुद्रयात्रा अनेक विघ्नों से भरी होती है। सारा धन साथ लेकर जाना श्रेयस्कर नहीं होगा, इसलिए किसी विश्वासी घर में उसे रख देना उचित होगा। उसने श्रीभूति पुरोहित के घर अपने धन को रखने की इच्छा व्यक्त की। श्रीभूति ने बड़ी कठिनाई से धन रखना स्वीकार किया और सील-मुहर करके उसकी याती को सुरक्षित कर दिया। सार्थवाह भद्रमित्र विश्रस्त होकर चल पड़ा और 'वेलापत्तन' (बन्दरगाह पर) पहुँचा। जहाज चलने को तैयार हुआ। यात्रा की निर्विघ्नता के लिए पूजा की गई। समुद्री हवा की अनुकूलता से एक पत्तन (बन्दरगाह) से दूसरे पत्तन की यात्रा करते हुए भद्रमित्र ने सम्पत्ति अर्जित की (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५३)।

इस कथाप्रसंग से तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था के महत्वपूर्ण पक्ष धन को सील-मुहर करके ('मुह्रितो निक्खिण्णो निक्खेवो') सुरक्षित रखने का संकेत कथाकार ने किया है। उस युग में व्यापारियों द्वारा राजकोष की वृद्धि के लिए चुंगी चुकाने की भी प्रथा प्रचलित थी। धम्मिल्ल-चरित (पृ. ६२) में कथा है कि धनवसु (ताम्रलिप्ति के धनपति सार्थवाह का पुत्र) की समुद्री नाव जब चली, तब वह अनुकूल समुद्री हवा पाकर अभीप्सित देश पहुँच गई। वहाँ लंगर डाल दिया गया और पाल भी उतार दिया गया। समुद्री यात्री जहाज से नीचे उतरे और उसके भीतर से माल उतारा गया। चुंगी दे दी गई। उसके बाद समुद्री व्यापारियों (सांयात्रिकों) ने वहाँ व्यापार करना शुरू किया ('दिण्णा य रायदाणा। तत्थ य संजत्तववाणिथया ववहरिउं पवत्ता')।

संघदासगणी ने स्थलपथ के संचार-साधनों में बैलगाड़ी के अतिरिक्त खच्चर, ऊँट, गधे, हाथी, बकरे आदि का भी उल्लेख किया है। कथा है कि स्वाध्याय में उद्यत शास्त्र-समुद्र के पारंगत और अप्रतिबद्ध अनगर सिंहचन्द्र ने एक बार एक राज्य से दूसरे राज्य में चंक्रमण की इच्छा से शकटवाही व्यापारी के साथ अटवी में प्रवेश किया। वहाँ व्यापारी ने पटमण्डप (तम्बू) खड़ा कर पड़ाव डाला। गाड़ियों से बैलों को खेलकर उनके आगे घास-पुआल डाल दिये। व्यापारी की आवाज सुनकर एक हाथी उस प्रदेश में आ पहुँचा। वह गाड़ियों को उलटाता और पटमण्डप को फाड़ता हुआ विचरण करने लगा (तत्रैव : पृ. २५६)। इस कथा से यह स्पष्ट है कि व्यापारी तम्बू खड़ा करके पड़ाव डालते थे। इसी प्रकार, चारुदत्त जब अपना देश लौटा था, तब चम्पापुर के बाहर विद्याधर देव से प्राप्त खच्चर, गधे, ऊँट आदि सवारी के साधन बाँध दिये गये थे और विविध वस्तुओं और उपस्करों से लदी गाड़ियाँ ठहरा दी गई थीं (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५४)।

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : 'सार्थवाह' (वही) : पृ. १३९-१४०

उस युग में दूध और घी का व्यापार भी बड़े पैमाने पर होता था। वसुदेव दुग्धवाहकों द्वारा बनाई गई पगडण्डी का अनुसरण करते हुए ही गिरिकूट गाँव में पहुँचे थे। ('जा दुग्धवाहिर्हि पदपञ्चा कया तीएऽणुसज्जमाणो वच्चसु त्ति'; सोमश्रीलम्भ : पृ. १८२)। अंग-जनपद का एक गोपबालक जब युवा हुआ, तब वह गाड़ियों में घी के बरतन भरकर चम्पापुरी ले जाने और वहाँ घी का व्यापार करने लगा ('सो य से दारओ वयवड्ढिओ जोव्वणत्थो जातो, वयस्स सग्गड्डाणि भरेउण चंपं गतो। विवकीयं वयं'; कथोत्पत्ति : पृ. १३)।

संघदासगणी ने तत्कालीन दुकानों की सजावट की विधि, विक्रेताओं और ग्राहकों की चहल-पहल एवं ग्राहकों से दुकानदारों के व्यवहार पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। वसुदेव से मलयदेश के एक नगर के बाजार में भ्रमण का अनुभव सुनाते हुए अंशुमान् ने बताया था कि जब वह सुशोभित नगर के बाजार की गलियों से गुजरा, तब उसे वहाँ विभिन्न दिशाओं, नगरों और पर्वतों से प्राप्त वस्तुओं से सजी दुकानें दिखाई पड़ीं। बाजार की गलियाँ तो विक्रेताओं और खरीदारों, साथ ही कुतूहली व्यक्तियों से खचाखच भरी हुई थीं। वह जब एक सार्थवाह की दुकान पर पहुँचा, तब उसने उसे प्रणाम किया और बैठने के लिए आसन दिया और यह भी कहा कि आपको जिस चीज की जरूरत हो, निस्संकोच कहिए (पुण्डालम्भ : पृ. २१०)। इसी प्रकार, वसुदेव जब एक सार्थवाह की दुकान पर पहुँचे थे, तब उसने उनका स्वागत करते हुए बैठने के लिए आसन दिया था (रक्तवतीलम्भ : पृ. २१८)। इस कथाप्रसंग से स्पष्ट है कि तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था में दुकानों और बाजारों की समृद्धि का उल्लेखनीय महत्त्व था। दुकानों में दूर-दूर के देशों में स्थित पर्वतों और नगरों से माल लाकर क्रय-विक्रय के निमित्त एकत्र किये जाते थे।

संघदासगणी ने माल के लिए भंड (< भाण्ड) शब्द का सार्वत्रिक प्रयोग किया है। ('बहुविहं भंडं घेतूण गाम-नगराईणि ववहरंता हिंडंति'; केतुमतीलम्भ : पृ. ३३३)। उपकरण के अर्थ में भी 'भंड' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वसुदेव ने श्रावस्ती की अशोकवनिका में पहले से ही सजाकर रखे गये मृदंग, मुकुन्द (मृदंगविशेष), बाँसुरी, कांस्यतालिका (मँजीरा) आदि आतोद्य के उपकरण (वाद्ययन्त्र) देखे थे ('तथ य अहं पुव्वसारवियाइं आउज्जभंडाइं पासामि मुख-मुकुन्द-वस-कंसालियानिनायओ'; प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २८२)।

कथाकार ने व्यापारियों द्वारा माल बेचने के एक अनोखे तरीके का उल्लेख किया है। कथा है कि बिलपत्तिका अटवी में बाघ से मारे गये जिनदास ने उसी जंगल में वानर के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण किया। वहाँ उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। एक दिन कुछ सार्थ उस जंगल में आये। उनके बीच मृदंग आदि वाद्यों को देखकर वानर ने उन्हें बजाया और नाच भी दिखाया। परितुष्ट वणिक् उस वानर को अपनी आजीविका का माध्यम बनाने के निमित्त पकड़कर मथुरा नगरी ले गये। वहाँ वे उससे बाजा बजवाते और माल का विक्रय करते। बाद में, उसे उन्होंने एक हजार आठ मुद्राएँ लेकर राजा के हाथों बेच दिया (तत्रैव : पृ. २८५)। माल बेचने का यह ढंग आधुनिक काल में भी विभिन्न नगरों की सड़कों पर यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

उस युग में आदान-प्रदान या व्यय-विनिमय के निमित्त सिक्के के रूप में स्वर्णमुद्राओं का प्रचलन था। यद्यपि, मुद्रा शब्द का स्पष्ट उल्लेख कथाकार संघदासगणी ने नहीं किया है। उन्होंने कहीं हिरण्य, सुवर्ण, द्रव्य, धन आदि अर्जन करने की चर्चा की है, तो कहीं केवल संख्या का संकेत

कर दिया है। जैसे : 'अस्थि कुटुंबिणो, जेहिंतो सक्का हिरण्णं घेतुं' (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४५); 'बब्बर-जवणे य अज्जियाओ अट्ट कोडीओ' (तत्रैव : पृ. १४६); 'उवणीया बत्तीस कोडीओ विलिण्ण कविलेण' (कपिलात्मभ : पृ. २००); 'पड़ दिवसं अद्धसहस्सं वसंततिलयामाऊए विसज्जति' (धम्मिल्लचरित : पृ. २९) आदि। संघदासगणी ने एक जगह 'दीनार' का स्पष्ट उल्लेख किया है। कथा है कि उज्जयिनी जाते हुए सार्थवाहों में एक सार्थमहत्तरक को त्रिदण्डी परिव्राजक ने, जो वस्तुतः चोर था, अलग ले जाकर उससे कहा : 'मुझे एक भिक्षादाता ने देवता के लिए धूप के मूल्यस्वरूप पच्चीस दीनार दिये हैं।' यह कहकर धूर्त त्रिदण्डी ने नकली दीनार सार्थ को दिखलाये। तब सार्थवाह ने कहा : 'भगवन्! आप डरें नहीं। हमारे पास भी बहुत पारे दीनार हैं। यात्रा में जो दशा आपकी होगी, वही हमारी भी होगी।' ('भयवं मा बोहेह, अम्हं बहुतरा दीणारा अस्थि, जं अम्हं होहिंति तं तुब्भं पि होहिंति', धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४३)। बृहत् हिन्दी (ज्ञान)-कोश के अनुसार, दीनार सोने के विशिष्ट सिक्के का नाम था। यह सिक्का प्राचीन समय में एशिया और यूरोप में चलता था। देश और कालभेद से इसकी तौल और मूल्य में भिन्नता होती थी। सोने की मुद्रा या अशर्फी को भी दीनार कहा जाता था।

कथाकार के वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस प्राचीन युग में पूँजी को 'प्रक्षेप' और धाती या धरोहर को 'निक्षेप' कहने की सामान्य प्रथा थी। उस युग में व्यापारी करोड़ों का माल साथ लेकर चलते थे। लेन-देन के लिए पण या सिक्के का ही प्रयोग प्रचलित था। व्यापारी अपने माल को गाड़ियों में तथा पणों या सिक्कों को बोरों में भरकर और उन्हें खच्चरों पर लादकर ले जाते थे। कथोत्पत्ति-प्रकरण की एक कथा है कि कोई बनिया गाड़ियों में एक करोड़ का माल और खच्चरों पर बोरों में भरे सिक्के लादकर व्यापार के लिए जा रहा था, तभी जंगल में खच्चर के ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर चलने से बोरा फट गया और सिक्के गिरकर बिखर गये। बनिया जबतक सिक्कों को बटोरने में लगा रहा, तबतक चोर उसके सारे माल चुराकर चल दिये (पृ. १५)।

उक्त कथाप्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि स्थलपथ के सार्थवाह यात्रियों को भी मार्ग में चोरों या डाकुओं से लूटे जाने का भय बराबर बना रहता था। इतना ही नहीं, चोर अपने घातक अस्त्रों से व्यापारियों की हत्या तक कर डालते थे। रास्ते में चोरों और लुटेरों के अतिरिक्त जंगली हिंस्रक जानवरों के भय से भी सार्थवाह निरन्तर आतंकित रहते थे। इसीलिए, 'अथर्ववेद' के पृथ्वीसूक्त में सार्थवाह के मार्गों के तस्कर-विहीन और कल्याणकारी होने की प्रार्थना की गई है : 'यैः सञ्चरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमिन्नमतस्करं, यच्छिवं तेन नो मृड' (अथर्व. १२.१.४७)।

व्यापार और अर्थ-व्यवस्था के क्रम में माप-तौल का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। संघदासगणी ने पालिया (धम्मिल्लचरित : पृ. ५७) और कुम्भाय (तत्रैव : पृ. ६४) जैसे विशिष्ट परिमाणों का उल्लेख किया है। 'पाइयसदमहण्णवो' में 'पालि' का अर्थ, धान्य मापने की नाप दिया गया है। बृहत् हिन्दी-कोश के अनुसार, 'पाली' 'प्रस्थ' नामक परिमाण है। प्रस्थ बत्तीस पल या आढक के चतुर्थांश का एक प्राचीन परिमाण है। लोक-प्रचलित परिमाण-विशेष 'पैली' से भी यह तुलनीय है। आटे महोदय ने भी बत्तीस पल के परिमाण को 'प्रस्थ' कहा है। 'अमरकोश' की मणिप्रभा नाम की हिन्दी-टीका के कर्ता पं. हरगोविन्द मिश्र ने कोशकार अमरसिंह द्वारा संकेतित तीन प्रकार के मानों (तुला, अंगुलि और प्रस्थ) के अन्तर्गत 'प्रस्थ' की विवृति में पौवा, सेर, पसेरी

आदि को ही 'प्रस्थ' कहा है (२.९.८५)। कुम्भाग्र का अर्थ, 'पाइयसहमहणवो' के अनुसार, मगध देश में प्रसिद्ध परिमाण-विशेष है। प्रसंगवश, कुम्भाग्र का अर्थ टोकरी या ढाकी या छैटी है : 'कुम्भगसो विड्नो कुसुमोवयारो' (तत्रैव : पृ. ६४)। अर्थात्, युवराज की ललितगोष्ठी में टोकरियों या ढाकियों या छैटियों से फूल बिखरे गये।

संघदासगणी ने यह सूचित किया है कि उस युग की अर्थ-व्यवस्था में कृषि का ततोऽधिक महत्त्व था। धान की उपज उस समय अधिक होती थी। इसलिए, कथाकार ने कलम चावल, धान्य, व्रीहि और शालि की विशेष चर्चा की है। भगवान् शान्तिनाथ के विशेषण में कथाकार ने लिखा है कि देव और मनुष्यों की परिषद् के बीच वह फलभार से झुके शालिक्षेत्र की उन्नत भूमि के समान ('फलभारगरूप्यशालिवपसमुग्ग इव') विराजमान थे। इससे स्पष्ट है कि उस काल में शालिक्षेत्रों (धनखेतों) का प्राचुर्य था। किसान रात-रातभर खेतों की क्यारियाँ पटाया करते थे (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९५)। तृण या घास-फूस को उड़ानेवाली संवर्तक नामक वायु (नीलयशालम्भ : पृ. १५९) के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि अनाज ओसाने के कामों में इस हवा का विशेष महत्त्व था। नैर्ऋत्यकोण की हवा से वर्षा के रुक जाने का संकेत कथाकार ने किया है। वसुदेव जब कालमेघ के समान मेघसेन से लड़ रहे थे, तब उसने वसुदेव पर बाणों की वर्षा से दुर्दिन जैसा कर दिया, किन्तु नैर्ऋत्यकोण की हवा से जिस प्रकार वर्षा रुक जाती है, उसी प्रकार वायुवेग से बाण फेंककर वसुदेव ने मेघसेन की बाण-वर्षा को रोक दिया। (अश्वसेनालम्भ : पृ. २०७) इससे स्पष्ट है कि कथाकार संघदासगणी उस मौसम-विज्ञान से भी पूर्ण परिचित थे, जो कृषि की दृष्टि से अपना विशेष मूल्य रखता है।

निष्कर्ष :

उपरिविवृत सन्दर्भों से यह समुद्भासित होता है कि तत्कालीन प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था में कृषक तथा वाणिज्य के सूत्रधर व्यापारी या सार्थवाह मूलाधार के रूप में प्रतिष्ठित थे। सार्थवाह शब्द में स्वयं उसके अर्थ-प्रतिनिधित्व-विषयक अर्थ की व्याख्या निहित है। 'अमरकोश' के टीकाकार क्षीरस्वामी ने लिखा है कि पूँजी द्वारा व्यापार करनेवाले पान्थों या सार्थों का जो अगुआ हो, वह सार्थवाह है ('सार्थान् सधनान् सरतो वा पान्थान् वहतीति सार्थवाह'; अमर. २.९.७८)। अमरकोशकार ने सार्थ का अर्थ यात्रा करनेवाले पान्थों का समूह ('अध्वनवन्द') किया है। वस्तुतः, सार्थ का अर्थ था—समान या सहयुक्त अर्थ (पूँजी) वाले व्यापारी। सामान्य व्यापारी 'सार्थ' कहलाते थे और उनका नेता ज्येष्ठ व्यापारी 'सार्थवाह'। संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में सार्थ, सार्थवाह, सार्थमहत्तरक आदि शब्दों का प्रायः यथास्थान और यथायथ प्रयोग किया है। उनकी दृष्टि में ये सभी इभ्य (वणिक्)-कुल के सदस्य थे। फिर भी, कथाकार द्वारा यथोपन्यस्त वर्णनों से यह संकेतित होता है कि सार्थ वणिक् या वणिक्-संघ का अर्थवाची था और उसका प्रमुख, वणिक्पति या सार्थवाह। धार्मिक तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थित संघ में जो स्थान उनके नेता संघपति का होता था, वही स्थिति व्यापारिक यात्रा में सार्थवाह की थी। सार्थवाह का ही निकटतम आँगरेजी-पर्याय 'कारवान-लीडर' है। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि व्यापारिक जगत् में जो सोने की खेती हुई, उसके खिले पुष्प चुननेवाले व्यक्ति सार्थवाह थे।^१

१. सार्थवाह के सम्बन्ध में मूल्यवान् अध्ययन के लिए डॉ. मोतीचन्द्र की कृति 'सार्थवाह' (वही) में डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल की विशद भूमिका द्रष्टव्य है।

संघदासगणी ने तो सृष्टि के आदिपुरुष के रूप में भी दो सार्थवाह-पुत्रों ('दुवे सत्यवाहपुत्ता') की ही परिकल्पना की है (नीलयशालम्भ : पृ. १५७)।

'वसुदेवहिण्डी' के सार्थवाह बुद्धि के धनी, सत्यनिष्ठ, अतुल साहसी, व्यावहारिक सूझ-बूझ से सम्पन्न, अतिशय उदार, महान् दानी, धर्म और संस्कृति में रुचि रखनेवाले, प्रत्येक नई स्थिति-परिस्थिति के स्वागत में कुशल, देश-विदेश की जानकारी के महाकोष, यवन, बर्बर, खस, हूण आदि विदेशियों के साथ आँख मिलानेवाले और उनकी भाषा और रीति-नीति के पारखी थे। ये सार्थवाह महासागर के तट पर स्थित मध्य-एशिया और मलय-एशिया के देशों—ताम्रलिपि से यवद्वीप तक तथा पश्चिम में यवन-बर्बर देशों तक के विशाल जल और स्थल पर छाये हुए थे। इन्हीं सार्थवाहों के नेतृत्व में एक ही जलयान या प्रवहण पर यात्रा करनेवाले सब व्यापारी, चाहे उनमें पूँजी का साझा या कौटिल्य के शब्दों में 'सम्भूयसमुत्थान' हो या न हो, सांघातिक कहे जाते थे। वस्तुतः, वैधानिक दृष्टि से उनके पारस्परिक उत्तरदायित्व और साझेदारी के समझौतों की सीमाएँ और स्वरूप क्या थे, यह विषय अभी तक कुहेलिकाच्छन्न है। इस ओर संघदासगणी ने भी किसी निर्णायक बिन्दु की ओर संकेत नहीं किया है। किन्तु, तत्कालीन राजाओं के साम्राज्य की मूलभूति—अर्थ-व्यवस्था की आधारशिला ये सार्थवाह ही थे, इसमें कोई सन्देह नहीं।

(घ) भौगोलिक एवं राजनीतिक आसंग तथा ऐतिहासिक साक्ष्य

'वसुदेवहिण्डी' भौगोलिक और राजनीतिक इतिहास का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस महाग्रन्थ के रचयिता संघदासगणी ने कथा के व्याज से भौगोलिक और राजनीतिक इतिहास के अनेक तथ्यों को उपन्यस्त किया है। ज्ञातव्य है कि भारतीय साहित्य में प्रवहमाण ब्राह्मण, जैन और बौद्धों की संस्कृत, प्राकृत और पालि की धाराएँ एक ही संस्कृति के महाक्षेत्र को सींचती हैं। उनमें परस्पर अविच्छिन्न सम्बन्ध है। ऐतिहासिक सामग्री और शब्दरत्न सबमें बिखरे पड़े हैं। 'वसुदेवहिण्डी' के अध्ययन से यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि इस कथा-महार्णव से न केवल भारतीय साहित्य या संस्कृति के विविध अंगों का, अपितु, चीन से यूनान तक की भौगोलिक एवं राजनीतिक सामग्री का भी, राष्ट्रीय इतिहास के निर्माण के निमित्त, दोहन किया जा सकता है। इसलिए, इस कथाग्रन्थ को राष्ट्रीय इतिहास के तत्त्वों की उपलब्धि की दृष्टि से कल्पवृक्ष या कामधेनु कहना औचित्य के अधिक निकट होगा।

प्राचीन परम्परा से प्राप्त उपाख्यान-समूह को इतिहास कहते हैं। इतिहास की, प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित परिभाषा के अनुसार, पुरुषार्थचतुष्टय के उपदेश से संवलित कथाओं से परिपूर्ण पूर्ववृत्त को इतिहास कहते हैं^१। इस प्रकार के इतिहास या ऐतिहासिक साक्ष्य-प्रधान ग्रन्थों में 'महाभारत' का सर्वाग्रणी स्थान है। 'वसुदेवहिण्डी' भी इसी अर्थ में इतिहास की संज्ञा आयत्त करने की विशेषता रखती है। बहुश्रुत कथाकार संघदासगणी ने पूर्ववृत्त के वर्णन के क्रम में ऐतिहासिक साक्ष्य का विन्यास तो किया ही है, भौगोलिक और राजनीतिक आसंग भी प्रचुर रूप में प्रस्तुत किये हैं। संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' की इतिहासगन्धी या ऐतिहासिक आच्छादनवाली कथाओं के पात्रों और देशों की नामावली पुराण, इतिहास एवं ऐतिहासिक परम्परा से आयत्त की है।

१. धर्मार्थकाममोक्षानामुपदेशसमन्वितम्।

पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥ —आपटे : संस्कृत-हिन्दी-कोश

संघदासगणी इतिहासकार नहीं, अपितु कथाकार थे। इसलिए, उन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों को बहुरंगी कल्पनाओं से कमनीय बनाकर उपस्थापित किया है। प्राकृत-कथाकारों की विशेष दृष्टि यह रही है कि वे मनुष्य को अनादि काल से प्रवर्तित कर्म-परम्परा या 'यथानियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' की समर्पित भावना का वंशवद नहीं मानते, अपितु उसे आत्मनिर्माता और आत्मनेता समझते थे। इसीलिए, प्राकृत-कथाओं में केवल स्थापत्य की ही नवीनता नहीं है, वरन् उनके विचार, वस्तु और भावनाएँ भी नवीन हैं। 'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं में ऐतिहासिक का आभास एक विशिष्ट स्थापत्य बन गया है। इसलिए, इस कथाग्रन्थ में इतिहास के कई ऐसे सूत्र मिलते हैं, जो मनोरम कथाओं के साथ प्रामाणिक इतिहास के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। संघदासगणी ने ऐतिहासिक साक्ष्य के परिप्रेक्ष्य में अपनी कल्पना की समीचीन विनियुक्ति करके कथाओं में आप्तत्व या प्रामाण्य की प्रतिष्ठा की है, और इस प्रकार इतिहास के आवरण में उपन्यस्त 'वसुदेवहिण्डी' की चरितकथाएँ अर्द्ध-ऐतिहासिक बन गई हैं। संघदासगणी स्वयं वीतराग कथाकार और प्रामाणिक वक्ता हैं। इसलिए उनकी कथा में स्वयं ही आप्तत्व आहित है और फिर कथा के श्रोता और वक्ता के रूप में सम्राट् श्रेणिक और तीर्थंकर महावीर की साक्षिता स्थापित हो जाने से उसकी ऐतिहासिकता ततोऽधिक विश्वसनीय हो गई है।

भौगोलिक और राजनीतिक तत्त्वों से अनुप्राणित 'वसुदेवहिण्डी' की ऐतिहासिक साक्ष्यमूलक कथाओं का अपना विशिष्ट मूल्य है, और इसीलिए ये कथाएँ इतिहासाधृत भौगोलिक और राजनीतिक तत्त्वों से सहज ही जुड़ी हुई हैं। इतिहास और राजनीति का मानव-समाज और संस्कृति से गहरा सम्बन्ध है, इसलिए सामाजिक एवं सांस्कृतिक विषय के विशिष्ट अंगभूत भूगोल का अनुशीलन भी इस सन्दर्भ में अपेक्षित हो जाता है। यही कारण है कि प्राचीन मानवशास्त्रियों ने मानव-जाति या मानव-समाज के विकास के लिए भौगोलिक वातावरण के प्रभावों को स्वीकार किया है। 'वसुदेवहिण्डी' के सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से भौगोलिक सीमा और राजनीतिक मर्यादा के निर्धारण और विश्लेषण के माध्यम द्वारा ही ऐतिहासिक मूल्यविषयक तत्त्वस्थानीय तत्कालीन राष्ट्रवादी सांस्कृतिक चेतना का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए, यहाँ भौगोलिक एवं राजनीतिक महत्त्व से संवलित ऐतिहासिक तत्त्वों का दिग्दर्शन अपेक्षित होगा।

द्वीप :

संघदासगणी द्वारा संकेतित द्वीप, क्षेत्र, पर्वत, नदियाँ आदि तत्कालीन भौगोलिक तत्त्वों को उद्घाटित करते हैं, तो देश, जनपद, नगर, ग्राम, सन्निवेश आदि के वर्णन से तत्सामयिक राष्ट्रमूलक राजनीतिक स्थितियाँ उजागर होती हैं। कथाकार ने अपनी इस महत्कथा में आगम-ग्रन्थ के आधार पर अनेक भौगोलिक स्थलों का वर्णन किया है। यथावर्णित द्वीपों के नाम इस प्रकार हैं: कण्ठकद्वीप, किजल्पिद्वीप, यवनद्वीप, जम्बूद्वीप, धात्री या धातकीखण्डद्वीप, नन्दीश्वरद्वीप, पुष्पकरवरद्वीप, रत्नद्वीप, रुचकद्वीप, लंकाद्वीप, सुवर्णद्वीप और संहलद्वीप। इन द्वीपों में अनेक क्षेत्रों या अन्तर्द्वीपों की स्थिति की चर्चा की गई है, जिनके नाम इस प्रकार हैं: अर्द्धभरत, अपरविदेह, उत्तरकुरु, उत्तरार्द्धभरत, ऐरवत, दक्षिणार्द्धभरत, दक्षिणभरत, देवकुरु, पुष्करार्द्ध, पूर्वविदेह, भारत, भारतवर्ष, महाविदेह, विजयार्द्ध, विदेह और हरिवर्ष। द्वीपों और क्षेत्रों

के वर्णन-क्रम में कथाकार ने कई विजयों (प्रदेशों) का भी उल्लेख किया है। जैसे : नलिनीविजय, मंगलावतीविजय, रमणीयविजय, वत्सावतीविजय, सलिलावतीविजय और सुकच्छविजय।

उपर्युक्त द्वीपों, क्षेत्रों और विजयों के विशद भौगोलिक विवरण आगमों में उपलब्ध होते हैं। इन प्राचीन भौगोलिक स्थानों की आधुनिक भूगोल की दृष्टि से पहचान बहुत ही स्वल्प मात्रा में सम्भव हो पाई है। यद्यपि इनकी पहचान की मौलिक और मनोरंजक विशेषता प्राचीन भूगोल की मिथकीय सीमा में ही अधिक आस्वाद्य और प्रीतिकर प्रतीत होती है। कथाकार द्वारा उल्लिखित कण्ठकद्वीप (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५०) विद्याधरों के साम्राज्य का कोई विशिष्ट द्वीप था। इस द्वीप में कर्कोटक नाम का पर्वत था। विद्याधर प्रायः तप के लिए इस पर्वत का आश्रय लेते थे। अमितगति विद्याधर सूत्रों का ज्ञान प्राप्त कर कण्ठकद्वीप में स्थित कर्कोटक पर्वत पर दिन में आतापना लेता था और रात्रि में उस पर्वत की गुफा में रहता था। कथाकार द्वारा केवल नामतः वर्णित किजल्पीद्वीप (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९६) में किजल्पी नामक पक्षियों का निवास था। वे पक्षी बड़ी मोटी आवाज करते थे। इस द्वीप की भौगोलिक स्थिति का संकेत कथाकार ने नहीं किया है।

कथाकार के निर्देशानुसार, सुवर्णार्थी चारुदत्त समुद्रयात्रा के क्रम में पूर्वदक्षिण के पत्तनों का हिण्डन करने के बाद यवनद्वीप पहुँचा था (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४६)। यह प्राचीन यवनद्वीप ही यवद्वीप था, आज जिसकी पहचान जावा से की जाती है। डॉ. मोतीचन्द्र ने लिखा है कि दक्षिण से द्वीपान्तर के सीधे रास्ते पर यात्री निकोबार, नियास, सिबिर, नसाऊद्वीप और इबाडियु (यवद्वीप) पहुँचते थे। यवद्वीप में काफी सोना मिलता था और जिसकी राजधानी का नाम आरगाथर था।^१

‘वसुदेवहिण्डी’ के आगमविद् लेखक ने प्राकृत-कथासाहित्य में सातिशय चर्चित आगमोक्त जम्बूद्वीप का व्यापक वर्णन किया है। आटे महोदय के अनुसार, जम्बूखण्ड या जम्बूद्वीप मेरुपर्वत के चारों ओर फैले हुए सात द्वीपों में एक है। ब्राह्मणपुराणों के अनुसार यह द्वीप धरती के सात महाद्वीपों या प्रधान विभागों में एक है, जिसके नौ खण्डों में एक भारतवर्ष भी है। पुराणों में जम्बूद्वीप का भी उल्लेख हुआ है, जो जम्बूद्वीप के नामकरण के हेतुभूत, जामुन के पेड़ से चूनेवाले जामुनों के रस से नदी बनकर प्रवाहित होती है। इसे ब्रह्मलोक से निकली हुई सात नदियों में एक माना गया है। ‘वाल्मीकिरामायण’ में जम्बूप्रस्थ नाम से एक नगर का भी वर्णन आया है, जो ननिहाल से लौटते समय भरत के रास्ते में पड़ा था (अयोध्याकाण्ड : ७१.११)। जैनों के छठे उपांग ‘जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति’ (प्रा. ‘जम्बूद्वीपपण्णत्ति’) के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों विभागों में, भरतक्षेत्र तथा उसके पर्वतों, नदियों आदि के साथ ही उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल-विभागों एवं कुलकरों, तीर्थकरों एवं चक्रवर्ती राजाओं आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। प्राचीन भारतीय भूगोल के अध्ययन की दृष्टि से ‘जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति’ का ततोऽधिक महत्त्व है। इस ग्रन्थ से संघदासगणी-वर्णित द्वीपों का समर्थन प्राप्त होता है।

‘स्थानांग’ में प्राप्य जम्बूद्वीप का वर्णन नैबन्धिक महत्त्व रखता है। ऊपर ‘वसुदेवहिण्डी’ में वर्णित जितने क्षेत्रों का नामोल्लेख हुआ है, सभी जम्बूद्वीप के ही क्षेत्र हैं। ‘स्थानांग’ (२.२६८-२७२) में मन्दर पर्वत को जम्बूद्वीप के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसे : जम्बूद्वीप में

मन्दर पर्वत के उत्तर-दक्षिण में दो क्षेत्र हैं—दक्षिण में भरत और उत्तर में ऐरवत। इसी प्रकार हैमवत, हैरण्यवत, हरि और रम्यक क्षेत्र की स्थिति भरत और ऐरवत के समान है— दक्षिण में हैमवत और हरि तथा उत्तर में हैरण्यवत और रम्यक। पुनः मन्दर पर्वत के पूर्व में पूर्वविदेह तथा पश्चिम में अपरविदेह क्षेत्र हैं। पुनः मन्दर पर्वत के उत्तर में उत्तर कुरुक्षेत्र है तथा दक्षिण में देवकुरु। देवकुरु में ही कूटशाल्मली और सुदर्शनाजम्बू नाम के दो महाद्रुम हैं। इसी मन्दर पर्वत के दक्षिण में क्षुल्ल हिमवान् तथा उत्तर में शिखरी नाम के दो वर्षधर पर्वत हैं। इन दो वर्षधर पर्वतों के समान ही चार और पर्वत हैं—दक्षिण में महाहिमवान् और निषध तथा उत्तर में रुक्मी और नीलवान्। इन पर्वतों के अतिरिक्त, वृत्तवैताढ्य और दीर्घवैताढ्य तथा वक्षार पर्वतों की स्थिति भी मन्दर पर्वत के पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में बताई गई है। ये सभी क्षेत्र, वृक्ष और पर्वत आकार और प्रकार में एक समान हैं। अनादृत देव जम्बूद्वीप के अधिपति माने गये हैं। इसका समर्थन संघदासगणी ने भी किया है: 'आराहियपइत्रो कालं काऊण जम्बुदीवाहिवाई जातो' (कथोत्पत्ति : अनादृत देव की उत्पत्ति-कथा : पृ. २६)। 'स्थानांग' के द्वितीय स्थान के अनुसार, जम्बूद्वीप में छह अकर्म भूमियों, छह वर्षों (क्षेत्रों), छह वर्षधर पर्वतों, दक्षिणोत्तर में स्थित छह-छह कूटों (चोटियों), छह महाहदों, छह देवियों, दक्षिणोत्तर-स्थित छह-छह महानदियों, पुनः पूर्व-पश्चिम में स्थित छह-छह अन्तर्नदियों की अवस्थिति का निर्देश किया गया है। इसी से इस द्वीप की विशालता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

कहा गया है कि जम्बूद्वीप मध्यलोक में, असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बीच, एक लाख महायोजन व्यासवाला गोल वलयाकार रूप में अवस्थित है। बौद्धों के 'दिव्यावदान' (पृ. ४०-४१) में भी जम्बूद्वीप का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' (३.४३) में, इस द्वीप में अट्टारह विभिन्न श्रेणियों के पेशेवर लोगों का निवास बताया गया है। जैसे: कुम्हार, सोनार, रेशम बुननेवाला, रसोइया, गायक, नाई, मालाकार, कच्छकार, तमोली, मोची, तेली, अँगोछे बेचनेवाले, कपड़े छापनेवाले, ठठेरे, दरजी, ग्वाले, शिकारी और मछुए।^१ इस प्रकार, जम्बूद्वीप तत्कालीन बृहत्तर भारत का ही पर्याय था। यह जम्बूद्वीप दो लाख योजन विस्तारवाले लवणसमुद्र से वलयाकार वेष्टित है।

'वसुदेवहिण्डी' में धात्रीखण्ड या धातकीखण्डद्वीप का भी प्रचुर वर्णन हुआ है। 'स्थानांग' (४.३३६) के अनुसार, धातकीखण्डद्वीप की वलयसीमा चार लाख योजन की है। धातकीखण्डद्वीप के पूर्वार्द्ध में धातकीवृक्ष आठ योजन ऊँचा है। वह बहुमध्यदेशभाग में आठ योजन चौड़ा है और सर्वपरिमाण में आठ योजन से भी अधिक है (तत्रैव : ८.८६)। लवणसमुद्र धातकीखण्डद्वीप से वेष्टित है और धातकीखण्ड आठ लाख योजन विस्तारवाले कालोदधि समुद्र से आवेष्टित है। इसमें भी मन्दर पर्वत की स्थिति मानी गई है। यह जम्बूद्वीप से चौगुना बड़ा है।

पुष्करार्द्ध या अर्द्ध-पुष्करवरद्वीप अथवा पुष्करवरद्वीप भी 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित हुए हैं। अर्द्ध-पुष्करवरद्वीप, संक्षिप्त नाम पुष्करद्वीप की भौगोलिक महत्ता और विशेषता जम्बूद्वीप और धातकीखण्ड के ही समान है। किन्तु, आकार में धातकीखण्ड से चौगुना, अर्थात् सोलह लाख योजन विस्तारवाला है।

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : 'सार्यवाह' (वही) : पृ. १८०

‘वसुदेवहिण्डी’ में भी धातकीखण्ड का भौगोलिक वर्णन आया है। प्रद्युम्न एक दिन अपने दादा वसुदेव का रूप धरकर उनके आस्थानमण्डप में जा बैठे। दादियों के पूछने पर प्रद्युम्न ने चारणश्रमण मुनि द्वारा वर्णित अलौकिक धातकीखण्डद्वीप के बारे में बताया कि, जो व्यक्ति अपनी मोटी आँखों से कतिपय खेत या पहाड़ को ही देख पाता है, वह धातकीखण्ड की लम्बाई-चौड़ाई को नहीं जान सकता। लवणसमुद्र, कालोदधि, इषुकार और चुल्लहिमवन्त (लघुहिमालय) पर्वत से घिरी (जल-स्थल-रूप दो प्रकार की) भारतभूमि की लम्बाई और चौड़ाई चार-चार लाख योजन की है। लवणसमुद्र तक इसका विस्तार ६६, १४, ११९ योजन का दो सौ बारहगुना है और कालोदधि तक का भी इसका विस्तार १९, ३९, १६९ योजन का दो सौ बारहगुना है। यही भरत क्षेत्र है (प्रतिमुख : पृ. ११०)।

नन्दीश्वरद्वीप की कल्पना भी अतिशय अद्भुत है। ‘स्थानांग’ के चतुर्थ स्थान में (सूत्र-सं. ३३८, ३३९ आदि) इस द्वीप का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। नन्दीश्वरद्वीप के अन्तराल में सात समुद्रों से वेष्टित उत्तरोत्तर चौगुने विस्तारवाले सात द्वीप हैं। जैसे : लवण-समुद्र से वेष्टित जम्बूद्वीप, कालोदधि नामक समुद्र से वेष्टित धातकीखण्डद्वीप, पुष्करवर समुद्र से आवेष्टित पुष्करवरद्वीप, वरुणवर समुद्र से वेष्टित वरुणवरद्वीप, क्षीरवर समुद्र से वेष्टित क्षीरवरद्वीप, घृतवर समुद्र से वेष्टित घृतवरद्वीप और क्षौद्रवर समुद्र से वेष्टित क्षौद्रवरद्वीप। जम्बूद्वीप से आठवाँ द्वीप है नन्दीश्वरद्वीप। इस वलयाकार द्वीप की पूर्व आदि चारों दिशाओं में चार अंजनगिरि पर्वत हैं। प्रत्येक अंजनगिरि की चारों दिशाओं में एक-एक चौकोर वापिका है। इन वापिकाओं के चारों ओर अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र वृक्षों के चार-चार वन हैं। चारों वापियों के मध्य में एक-एक पर्वत है, जो दधि के समान श्वेत वर्ण होने से दधिमुख कहलाता है। वह पर्वत गोलाकार है और उसके ऊपरी भाग में तटवेदियाँ और वन हैं। उक्त चारों वापियों के दोनों बाहरी कोनों पर एक-एक सुवर्णमय गोलाकार रतिकर नामक पर्वत है। इस प्रकार, एक-एक दिशा में एक अंजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर, ये कुल तेरह पर्वत हुए और चारों दिशाओं के पर्वतों को मिलाकर कुल पर्वतों की संख्या बावन हो जाती है। इनपर एक-एक जिनायतन प्रतिष्ठापित है और ये ही नन्दीश्वरद्वीप के बावन मन्दिर या चैत्यालय प्रसिद्ध हैं।^१

‘वसुदेवहिण्डी’ में, आगमिक द्वीपों में अन्यतम रुचकद्वीप का भी उल्लेख मिलता है। कथाकार संघदासगणी ने रुचकद्वीप को दिक्कुमारियों के निवास के रूप में चित्रित किया है। ऋषभस्वामी के जन्म ग्रहण करने पर दिक्कुमारियाँ रुचकद्वीप की विभिन्न दिशाओं से आई थीं और उन्होंने विभिन्न उपकरणों [गन्धोदक, दर्पण, भृंगार (झारी), तालवृन्त, चामर, दीपिका आदि] से उनका भक्तिभाव-पूर्वक जन्मोत्सव मनाया था (नीलथशालम्भ : पृ. १५९-६०)।

जैनागम की भौगोलिक परिकल्पना है कि यह पृथ्वी गोलाकार असंख्य द्वीपों, अन्तर्द्वीपों, सागरों और उपसागरों में विभक्त है। पुष्करवरद्वीप के मध्य भाग में एक महान् दुर्लभ पर्वत है, जो ‘मानुषोत्तर’ (‘स्थानांग’ : ४.३०३) कहलाता है। इस प्रकार, जम्बूद्वीप धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध ये ढाई द्वीप मिलकर मनुष्यलोक का निर्माण करते हैं। जम्बूद्वीप सात क्षेत्रों में विभक्त है, जिसकी सीमा निर्धारित करनेवाले छह कुलपर्वत हैं। क्षेत्रों और कुलपर्वतों के नामों का

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य : ‘भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान’ (वही) : पृ. २९४-२९५

उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन क्षेत्रों में मध्यवर्ती विदेह-क्षेत्र सर्वाधिक विशाल है और उसी के मध्य में मेरुपर्वत है। भरतक्षेत्र में हिमालय से निकलकर गंगानदी पूर्व समुद्र की ओर तथा सिन्धु पश्चिम समुद्र की ओर बहती है। मध्य में विन्ध्यपर्वत है। इन नदी-पर्वतों के द्वारा भरत-क्षेत्र के छह खण्ड हो गये हैं, जिनको जीतकर अपना वंशवद बनानेवाला सम्राट् ही षट्खण्ड-चक्रवर्ती कहलाता है।^१

संघदासगणी ने आगम-प्रोक्त इस विशाल नन्दीश्वरद्वीप तथा पूर्वोक्त कण्ठकद्वीप आदि के अतिरिक्त भी अन्य कई द्वीपों का वर्णन किया है। जैसे : रत्नद्वीप, सुवर्णद्वीप, सिंहलद्वीप, लंकाद्वीप आदि। कथाकार ने लिखा है कि रत्नद्वीप से भारुण्ड पक्षी आते हैं और रत्नद्वीप से ही यात्री वैताढ्यपर्वत के निकटवर्ती सुवर्णद्वीप या सुवर्णभूमि जाते हैं। इसके अतिरिक्त, चारुदत्त सम्पत्ति अर्जित करने के निमित्त सिंहलद्वीप भी गया था। डॉ. मोतीचन्द्र ने रत्नद्वीप को ही सिंहलद्वीप तथा सुवर्णद्वीप को ही सुमात्रा या मलय-एशिया मानते हुए लिखा है कि जातकों में समुद्रयात्राओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं। बहुत-से व्यापारी सुवर्णद्वीप, यानी मलय-एशिया और रत्नद्वीप, अर्थात् सिंहल की यात्रा करते थे।^२ सिंहलद्वीप ही लंकाद्वीप था, जहाँ से नीलम का आयात होता था। यह स्पष्ट है कि सुवर्णद्वीप और रत्नद्वीप अपने नामों के अनुसार ही सोने और रत्नों की आकरभूमि थे। प्राचीन काल में लंकाद्वीप जाकर रत्न अर्जित करने की कथाएँ भी मिलती हैं। संघदासगणी ने भी लिखा है कि कंचनपुर के दो वणिक् रत्न अर्जित करने के निमित्त लंकाद्वीप गये थे (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १११)। इसलिए, लंकाद्वीप ही सही अर्थ में रत्नद्वीप था। इसके अतिरिक्त, संघदासगणी ने सोम, यम आदि अपने सौतेले भाइयों के विरोध के कारण ऊबे हुए विद्याधर रामण (रावण) के भी लंकाद्वीप में जाकर रहने का उल्लेख किया है (मदनवेगालम्भ : पृ. २४०)। इससे यह संकेतित होता है कि रामण ने रत्न और सुवर्ण की प्रचुरता तथा सुलभता को दृष्टि में रखकर ही लंका में रहना पसन्द किया था। यह तो पुराण-प्रसिद्ध है कि रावण की राजधानी लंकापुरी सोने से ही निर्मित थी।

इस तरह कथाकार ने लौकिक और अलौकिक, दोनों प्रकार के द्वीपों का मनोरम वर्णन उपस्थित करते हुए अपनी कथा-रचना की प्रक्रिया में काल्पनिकता और वास्तविकता के अद्भुत सम्मिश्रण से काम लिया है। और इस प्रकार, उनके द्वारा उपन्यस्त कथा में निहित भौगोलिकता के तत्त्व में दिव्यादिव्यता का अतिशय चमत्कारी रूप-विधान हुआ है।

पर्वत :

भौगोलिक तत्त्वों में पर्वतों का पाक्तेय स्थान है। संघदासगणी ने अपनी महत्कथा में भौगोलिक वातावरण प्रस्तुत करने के क्रम में अनेक (लगभग ४३) दिव्यादिव्य पर्वतों का उल्लेख किया है, जिनमें यहाँ कतिपय प्रसिद्ध पर्वतों का विवरण अपेक्षित होगा। 'वसुदेवहिण्डी' में अंगमन्दर (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. २२९) या मन्दर (नीलयशालम्भ : पृ. १६१) पर्वत को मेरुपर्वत का प्रतिरूप कहा गया है। कथाकार ने लिखा है कि मन्दर पर्वत की गुफाएँ कल्पवृक्षों से आच्छादित

१. द्रष्टव्य : 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' : पृ. २९४-९५

२. द्रष्टव्य : 'सार्धवाह' (वही) : पृ. ५९

रहती थीं। प्राचीन अंग-जनपद के चम्पामण्डल के अन्तर्गत वर्तमान भागलपुर जिले के बौसी नामक स्थान में अवस्थित मन्दराचल से उक्त मेरु-प्रतिरूप मन्दर या अंगमन्दर की पहचान की जाती है। प्राचीन समय में हस्तिनापुर के राजा पद्मरथ का ज्येष्ठ पुत्र विष्णुकुमार अंगमन्दर पर्वत पर ही तप करता था। वह लब्धि-सम्पन्न आकाशचारी अनगर था। विष्णुकुमार ने ही विराट् रूप धारण करके दुरात्मा नमुचि पुरोहित को पदावनत किया था। नमुचि पुरोहित राजा पद्मरथ को फुसलाकर, उससे राज्य प्राप्त कर लिया था और स्वयं राजा बन बैठा था। वह साधुओं पर अत्याचार करने के कारण कुख्यात था। जैनागम में वर्णित मन्दराचल का व्यापक विवरण स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है।

आगम में प्रसिद्ध है कि श्रेष्ठ मन्दराचल की चूलिका के दक्षिण भाग में अतिपाण्डुकम्बल-शिला प्रतिष्ठित थी, जिसपर नवजात शिशु ऋषभस्वामी को इन्द्र ने ले जाकर रखा था। वेदश्यामपुर से तीर्थकरों की वन्दना के निमित्त सम्पेदशिखर जाने के मार्ग में राजा कपिल की भिक्षुणी बहन मन्दर पर्वत पर ही विश्राम के लिए ठहरी थी। कथाकार ने संकेत किया है कि मन्दरगिरि-स्थित नन्दनवन नामक सिद्धायतन में विद्याधरनरेश भी तीर्थकर की वन्दना के लिए आते थे। एक बार परिवार-सहित विद्याधरनरेश गरुडवेग जिन-प्रतिमा की वन्दना के निमित्त वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी से चलकर मन्दरशिखर पर गया था (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३४)। 'स्थानांग' (४.३१८) में मन्दरपर्वत की चूलिका (ऊपरी भाग) की चौड़ाई चार योजन की मानी गई है। 'स्थानांग' (४.३०९; ५.१५०) में ही वर्णित वक्षस्कार और वर्षधर पर्वतों की स्थिति मन्दरपर्वत के चारों ओर थी। मन्दरपर्वत के ही चारों ओर शीतोदा महानदी बहती थी।

सम्प्रति, मन्दारपर्वत चन्दन (चानन) नदी के पूर्व में तथा भागलपुर के दक्षिण-पूर्व, लगभग अड़तालीस कि.मी. की दूरी पर अवस्थित है। इस पर्वत पर वास्तुविद्या तथा मूर्तिकला-विषयक अनेक अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिन्से पर्वत के वास्तविक महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। यह पर्वत वर्तमान स्थिति में केवल सात सौ फीट ऊँचा है तथा इसके मध्य में एक कटिका है, जिसे वासुकिनाग का कुण्डल कहा जाता है। पौराणिक कथा के अनुसार, समुद्र-मन्थन के लिए इसी मन्दर पर्वत को मथानी बनाया गया था और वासुकिनाग को मथानी की रस्सी। उक्त कटिका या कुण्डल मन्थन के समय रस्सी के घर्षण से ही बना। चम्पामण्डल के वासुपूज्य-क्षेत्र का तीर्थकर-पीठ होने के कारण ही जैन साहित्य में इसकी चर्चा बड़े आदर और आग्रह के साथ विस्तारपूर्वक की गई है।

इस पर्वत की प्राचीनता इससे भी स्पष्ट है कि इसका उल्लेख 'कूर्म', 'वामन' और 'वाराहपुराण' में भी उपलब्ध होता है। 'महाभारत' तथा जैनागमों में वर्णित प्रसंगों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह हिमालय-श्रेणी का कोई पर्वत था। मेगास्थनीज ने इस पर्वत को 'माउण्ट भेलियस' की संज्ञा प्रदान की है।^१

श्रीसिलवाँ लेवी मेरु की पहचान पामीर, और मन्दर की पहचान उपरली इरावदी पर पड़ने वाली पर्वत-शृंखला से करते हैं। पर, 'महाभारत' से तो मन्दर की पहचान कदाचित् 'क्वेन-लुन' पर्वतश्रेणी से की जा सकती है, जो मध्य-एशिया के रास्ते पर पड़ती है।^२ जो भी हो, इतना

१. द्र. 'परिषद्-पत्रिका' : वर्ष १८ : अंक ३ (अक्टूबर, १९७८ई.), : पृ. ३१

२. 'सार्थवाह' (वही) : पृ. १३८

निर्विवाद है कि मेरुपर्वत की समानता रखनेवाला मन्दरपर्वत जैनों और ब्राह्मणों की दृष्टि में भारतवर्ष के श्रेष्ठ पर्वतों में परिगणनीय रहा है।

संघदासगणी ने विन्ध्यगिरि की भी साग्रह चर्चा की है। उनके द्वारा निर्दिष्ट कथा-प्रसंगों से स्पष्ट है कि विन्ध्यगिरि की वनाकीर्ण तराई में चोर-पल्लियाँ बसी हुई थीं : (विंझगिरिपायमूले सीहगुहा नाम चोरपत्नी आसि' (श्यामा-विजयालम्भ : पृ. ११४); 'विंझगिरिपायमूले विसम-पण्से सन्निवेशं काऊणं चोरियाए जीवइ' (कथोत्पत्ति : पृ. ७)। यह प्रसिद्ध सात कुलपर्वतों में अन्यतम है।^१ इसकी विस्तृत श्रेणी मध्यभारत के उत्तर-पश्चिम में फैली हुई है। विन्ध्यश्रेणी ही उत्तर और दक्षिण भारत की विभाजक रेखा का काम करती है। आधुनिक भूगर्भशास्त्री के अनुसार, छोटानागपुर-प्रमण्डल तथा दक्षिणी बिहार की पहाड़ियाँ विन्ध्यपर्वत की शाखाएँ हैं। आधुनिक समय में यह पर्वतश्रेणी बिहार के राजमहल से गुजरात तक फैली हुई है। 'देवीभागवत' (१०.३.७) तथा 'मार्कण्डेयपुराण' (५७.५१.५५) में भी इसका वर्णन मिलता है। 'मार्कण्डेयपुराण' में तो इस पर्वत के मध्यभाग में नर्मदा के तट तक दक्षिण तराई में असभ्य जातियों के बसने का उल्लेख है। 'मनुस्मृति' (२.२१-२२) में हिमालय और विन्ध्य के मध्यवर्ती प्रदेश को मध्यदेश माना गया है। 'अर्थशास्त्र' के अनुसार, बिल्लौर पत्थर का आयात विन्ध्यपर्वत से होता था। डॉ. मोतीचन्द्र के कथनानुसार, विन्ध्यपर्वत का गूजरीघाट तथा सतपुड़ा का सैन्धवघाट विन्ध्य के दक्षिण जाने के लिए प्राकृतिक मार्ग का काम करते थे।^२ विन्ध्यपर्वत की पथ-पद्धति दक्षिण में जाकर समाप्त हो जाती है। जैन साक्ष्य के अनुसार, चामुण्डराय ने मैसूर के श्रमणबेलगोल की विन्ध्यगिरि पर बाहुबलि की प्रख्यात मूर्ति की प्रतिष्ठा (शक-सं. ९५१) कराई थी, जो अपनी विशालता (ऊँचाई : सत्तावन फुट : अष्टारह मीटर) और कलात्मक सौन्दर्य के लिए भी सुख्यात है।

इस प्रकार, श्रमणों और ब्राह्मणों में विन्ध्यपर्वत की समानान्तर चर्चा और अर्चा उपलब्ध होती है; क्योंकि यह न केवल भौगोलिक दृष्टि से, अपितु वाणिज्य-व्यवसाय एवं धर्मभावना के विचार से भी प्रागैतिहासिक महत्त्व से परिमण्डित है।

संघदासगणी ने अपनी कथा में यथाप्रसंग हिमालय पर्वत की भी चर्चा प्रस्तुत की है। ब्राह्मणों की दृष्टि से यह कुलपर्वत या कुलाचल से कम महत्त्व नहीं रखता। जैनागमों में इसे वर्षधर पर्वतों में परिगणित किया गया है। सम्पूर्ण श्रमण और ब्राह्मण-वाङ्मय ऋद्धि और सिद्धि के अप्रतिम प्रतीक एवं देव और मनुष्य के लिए समान रूप से प्रिय और उपास्य हिमालय के वर्णन की विविधता और विशालता से परिव्याप्त है। संघदासगणी के संकेतानुसार भी हिमालय चारणश्रमणों की तपोभूमि था। विद्याधरों के राजा अपनी रानियों के साथ हिमालय-शिखर पर श्रमणार्थ जाते थे (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३२)। 'स्थानांग' (६.८५) के अनुसार, जम्बूद्वीप के छह वर्षधर पर्वतों में क्षुद्रहिमवान् और महाहिमवान् (प्रा. चुल्लहिमवन्त और महाहिमवन्त) को ही प्राथमिकता प्राप्त थी। जैनों की भौगोलिक मान्यता के अनुसार, भारत जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में अवस्थित है। इसके उत्तर में हिमालय है और मध्य में विजयाई पर्वत। सामरिक भूगोल की दृष्टि से आज भी हिमालय का मूल्य अक्षुण्ण है। यह भारत का सन्तरी या प्रहरी के रूप में प्रसिद्ध है।

१. महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।

विन्ध्यः पारियात्रः सप्तैते कुलपर्वताः॥ (आप्टे के 'संस्कृत-हिन्दी-कोश' से उद्धृत)

२. 'सार्धवाह' (वही) : पृ. २४

संघदासगणी ने कुशाग्रपुर (राजगृह) की चर्चा के क्रम में वैभारगिरि का दो बार उल्लेख किया है। संघदासगणी के वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैभारगिरि के शिखर, पादमूल तथा गुफाओं में तपःशुष्क श्रमणों का निवास था। वहाँ बराबर चारणश्रमणों का पदार्पण होता रहता था। दिगम्बरों के मान्यतानुसार, भगवान् महावीर का प्रथम उपदेश राजगृह के विपुलाचल पर हुआ था। 'महाभारत' (२.२१.२) में राजगृह के पाँच पर्वतों में विपुल और वैभार (वैभार) का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है।^१ बौद्धों के 'इसिगिल्लिसुत' में भी इसिगिल्लि, वेपुल, वेभार, पाण्डव और गिज्झकूट, इन पाँच पर्वतों का संकेत मिलता है। 'सुत्तनिपातभाष्य' (पृ. ३८२) में पाण्डव, गिज्झकूट, वेभार, इसिगिल्लि एवं वेपुल यह क्रम मिलता है, जब कि 'विमानभट्टभाष्य' में (पृ. ८२) इसिगिल्लि, वेपुल, वेभार, पाण्डव तथा गिज्झकूट इस क्रम से इन पर्वतों का निर्देश मिलता है।^२ 'मार्कण्डेयपुराण' तथा 'वायुपुराण' में भी वैभार पर्वत का उल्लेख हुआ है। बौद्ध साहित्य की पिप्पलकन्दरा तथा सप्तपर्णी गुफा, जहाँ बौद्धों की प्रथम संगीति आयोजित हुई थी, वैभार पर्वत की उत्तरी-पूर्वी ढलान पर स्थित है। इस प्रकार, वैभारगिरि बौद्धों, जैनों तथा ब्राह्मणों में समान रूप से आदृत है।

संघदासगणी ने कथाक्रम में सम्मेदशिखर का पाँच-छह स्थलों पर उल्लेख किया है। इसका आधुनिक नाम पारसनाथ पर्वत है। इसपर चौबीस तीर्थंकरों में उन्नीस तीर्थंकरों ने निर्वाण प्राप्त किया था। ('तत्थ य एगुणवीसाए वीसुत्तज्जसाणं तित्थयराणं परिनिव्वाणभूमि' — ; केतुमतीलम्प : पृ. ३०९)। इस पर्वत का नामकरण प्रसिद्ध जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ से सम्बद्ध है। संघदासगणी ने सम्मेदशिखर को तीर्थंकरों के अतिरिक्त अनेक विद्याधरों की भी निर्वाणभूमि बताया है। 'सम्मेद' शब्द समवेत का विकसित रूप प्रतीत होता है। एक साथ, समवेत रूप में उन्नीस तीर्थंकरों के निर्वाण की भूमि होने के कारण उक्त अनुमान सहज ही होता है, यद्यपि 'समेतशिखर', 'समिदगिरि', 'समाधिगिरि', 'मलपर्वत' आदि अन्य कई नामों से भी इसे स्मरण किया जाता है। डॉ. हीरालाल जैन के सूचनानुसार, सम्मेदशिखर पहाड़ी के समीप पूर्ववर्णित नन्दीश्वरद्वीप की वास्तुरचना की गई है।

संघदासगणी द्वारा कल्पित और परिवर्णित बहुविध पर्वतों में वैताढ्य और अष्टापद पर्वतों का अपना वैशिष्ट्य है। उन्होंने अपने कथाक्रम में वैताढ्य पर्वत की भूरिशः चर्चा की है। वैताढ्य का दूसरा नाम विजयाई है। यह विद्याधरों की आवासभूमि माना गया है। यह दक्षिण और उत्तर, दो श्रेणियों में विभक्त था। 'स्थानांग' (२.२७४.८०) के अनुसार जम्बूद्वीप में, मन्दरपर्वत के दक्षिण में, हैमवत क्षेत्र में शब्दापाती नाम का वृत्तवैताढ्य पर्वत है और उत्तर में, ऐरण्यवत (हैरण्यवत) क्षेत्र में विकटापाती नामक वृत्तवैताढ्य पर्वत है। ये दोनों क्षेत्र-प्रमाण की दृष्टि से सर्वथा सदृश हैं। इनमें कोई भेद नहीं है। कालचक्र के परिवर्तन की दृष्टि से उनमें नानात्व नहीं है। वे लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, गहराई, संस्थान और परिधि में एक दूसरे का अतिक्रमण नहीं करते। इसी प्रकार, मन्दर पर्वत के दक्षिण में, हरिक्षेत्र में गन्धापाती और उत्तर में, रम्यक क्षेत्र में माल्यवत्पर्याय नाम के वृत्तवैताढ्य पर्वत हैं। पुनः मन्दरपर्वत के दक्षिण में भरत-क्षेत्र में और उत्तर में ऐरवत-क्षेत्र में दो दीर्घवैताढ्य पर्वत हैं। इस प्रकार, वैताढ्य पर्वत के छह खण्ड माने गये हैं। दक्षिण के भरत-क्षेत्र

१. वैहारो विपुलः शैलो काराहो वृषभस्तथा।

तथैभिर्गिरिविस्तारः शुभचैत्यकपञ्चमः ॥ (२.२१.२)

२. विशेष विवरण के लिए द्र. 'परिषद्-पत्रिका' : वर्ष १८ : अंक ३ (अक्टू. १९७८ ई.) : पृ. २२, २४

के दीर्घवैताढ्य में तमिस्रा और खण्डप्रपात नाम की दो गुफाएँ हैं तथा उत्तर के ऐरवत क्षेत्र के दीर्घवैताढ्य में भी तन्नामक दो गुफाएँ हैं। विद्याधरनगरों की प्रत्येक श्रेणी दस-दस योजन चौड़ी है। दक्षिण के भरतक्षेत्र में गंगा और सिन्धु नाम की दो महानदियाँ प्रवाहित होती हैं। उत्तर के ऐरवत-क्षेत्र में रक्ताप्रपात और रक्तवतीप्रपात नाम के दो हृद हैं। इस प्रकार, 'स्थानांग' में वैताढ्य का विपुल वर्णन उपलब्ध होता है, जिसका स्वतन्त्र नैबन्धिक महत्त्व है।

वैताढ्य पर्वत की वर्णन-परम्परा 'वसुदेवहिण्डी' के पूर्ववर्ती 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' तथा परवर्ती 'कथासरित्सागर' में भी प्राप्त होती है। ऋषस्वामी ने वैताढ्य (प्र. वेयङ्गु) का 'वैतर्द्ध' के रूप में उल्लेख किया है : 'वैतर्द्ध' का नाम सुनते ही मदनमंजुका मुसकराई और उसकी आँखों में आँसू छलछला आये। पुनः उसके प्रति प्रीति प्रदर्शित करती हुई वह बोली (१३.१९)। और, सोमदेवभट्ट ने भी 'कथासरित्सागर' में 'वेद्यर्द्ध' (= वैतर्द्ध = वैताढ्य) की चर्चा करते हुए नरवाहनदत्त को 'उभयवेद्यर्द्धचक्रवर्ती' (८.१.१०) के रूप में स्मरण किया है। इसपर टिप्पणी करते हुए 'कथासरित्सागर' के अनुवादक पं. केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने लिखा है कि 'उभयवेद्यर्द्ध' उत्तरध्रुव और दक्षिणध्रुव-स्थित देवस्थान-विशेष है। दक्षिणध्रुव पितृयानमार्ग और उत्तरध्रुव देवयान-मार्ग कहलाता है। इन दोनों स्थानों में विद्याधरों का राज्य था।^१

संघदासगणी ने वैताढ्य पर्वत के क्रम में ही अष्टापद पर्वत का भी उल्लेख किया है। ऋषभ-स्वामी ने दस हजार साधुओं, निन्यानब्ध पुत्रों तथा आठ पौत्रों के साथ एक समय अष्टापद पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८५)। अष्टापद पर्वत पर नागराज धरण ने विद्याधरनरेश विद्युहंष्ट के आज्ञापालक विद्याधरों को साधु के वधकार्य से विरत किया था (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५२)। राजा सगर के पुत्र भागीरथि (भगीरथ) महानदी गंगा के प्रवाह को अष्टापद पर्वत पर ले गये थे और वहीं से गंगा विभिन्न जनपदों को आप्लावित करती हुई समुद्र में मिली थी। जह्नुकुमार भृषति साठ हजार सगरपुत्रों ने अष्टापद पर्वत पर प्राचीन जिनायतन देखा था, जो अष्टापद तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित था। सगरपुत्रों ने अष्टापद पर्वत की रक्षा के निमित्त उसके चारों ओर खाई खोदकर उसे गंगा की धारा से भरने का साहसपूर्ण कार्य किया था। कथाकार ने लिखा है कि खाई खोदने के बाद सगरपुत्र पूरब की ओर बहनेवाली गंगा नदी के पास गये और दण्डरत्न से जमीन खोदकर गंगा की धारा को उलटा प्रवाहित करके अष्टापद पर्वत की खाई तक ले आये (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३०३)।

संघदासगणी ने लिखा है, यह अष्टापद वैताढ्य पर्वत की तराई से सम्बद्ध था। यह (अष्टापद) आठ योजन ऊँचा और विविध धातुओं के अंगराग से अनुरंजित था। वहाँ परमगुरु तीर्थंकर ऋषभस्वामी की परिनिर्वाण-भूमि में प्रथम चक्रवर्ती भरत के आदेश से दैवी शक्ति से सम्पन्न श्रेष्ठ वास्तुकारों ने जिनायतन का निर्माण किया था। वह जिनायतन सभी प्रकार के रत्नों से जटित था और वहाँ देव, दानव और विद्याधर आग्रहपूर्वक अर्चना-वन्दना के लिए आते थे (केतुमतीलम्भ : पृ. ३०९)।

इस प्रकार, उपर्युक्त कथाप्रसंग के विवरण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस युग में अष्टापद पर्वत, अपनी सांस्कृतिक गरिमा की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता था। भरत के दिग्विजय के क्रम

में कथा प्रस्तुत करते हुए संघदासगणी ने भारतवर्ष के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों का समीचीन समाहार ही उपस्थित कर दिया है :

“राजा भरत भारतवर्ष के चूडामणि थे। उनके ही नाम पर यह देश भारतवर्ष कहा जाता है। वह अयोध्या के अधिपति थे और उनके भाई बाहुबली हस्तिनापुर-तक्षशिला के स्वामी। भरत के शस्त्रागार में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। भरत ने चक्ररत्न द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से गंगा महानदी के दक्षिण तट से भारतवर्ष पर विजय प्राप्त की; पूर्व में मागध तीर्थकुमार (मगधतीर्थ के अधिष्ठाता देव) ने ‘मैं महाराज का आज्ञाकारी अन्तपाल (सीमारक्षक) हूँ’, कहकर भरत का सम्मान किया; दक्षिण में वरदाम तीर्थकुमार ने अपनी प्रणति निवेदित की और पश्चिम में प्रभास ने भरत की पूजा की। इसके बाद सिन्धुदेवी और वैताढ्यकुमार ने प्रणाम निवेदित किया; तमिस्रागुफा के अधिपति कृतमालदेव ने भरत को मार्ग प्रदान किया; उत्तरार्द्ध भरत-क्षेत्र के निवासी चिलात (भील) लोगों के पक्षधर मेघमुख देव ने मेघवर्षा-रूप उपसर्ग के निवारणार्थ तथा स्कन्धावार (सैन्य) की रक्षा के निमित्त छत्र और चर्मरत्न का सम्पुट प्रस्तुत किया; हिमवन्तकुमार ने भरत को विनयपूर्वक सम्मान और प्रणति अर्पित की ऋषभकूट पर भरत ने अपना नाम अंकित करवाया; भरत के सेनापति ने सिन्धु और हिमालय के बीच के प्रदेश पर विजय लाभ किया; नमि और विनमि विद्याधरनरेश ने उत्तम युवतियाँ उपहार में दीं; गंगादेवी ने प्रणाम किया; हिमालय, वैताढ्य की गुफा और गंगानदी के पूर्व भाग को भी भरत ने जीता; फिर खण्डप्रपात गुफा से निकलकर भरत ने नवनिधि की पूजा प्राप्त की और फिर गंगा तथा वैताढ्य के मध्यवर्ती प्रदेश के राजाओं ने रत्नपूर्ण कोष भेंट किया। इस प्रकार, दिग्विजय करके भरत अयोध्या लौट आये” (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८६)।

संघदासगणी-वर्णित पर्वतों का आधुनिक भौगोलिक दृष्टि से अध्ययन स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध का विषय है और बहुत सम्भव है कि इससे भारतीय भूगोल के अनेक अज्ञात सूत्रों का उद्घावन और तद्विषयक अनुसन्धान के क्षेत्र में विविध नये क्षितिजों का उद्घाटन हो। कथाकार द्वारा उल्लिखित पर्वतों में प्रायः सभी आगमिक हैं, किन्तु कुछेक ऐतिहासिक हैं और कुछ काल्पनिक भी हैं। कहना न होगा कि पर्वतों के वर्णन में कथाकार ने इतिहास और कल्पना के अद्भुत मिश्रण का आवर्जक परिचय दिया है।

नदियाँ, समुद्र और हृद :

संघदासगणी ने कुल तीस जलप्रवहण-क्षेत्रों का वर्णन किया है, जिनमें कुछ तो नदियाँ हैं और कुछ समुद्र तथा कुछ हृदों का भी निर्देश हुआ है। यहाँ संक्षिप्त टिप्पणी के माध्यम से उन पर प्रकाश-निक्षेप किया जा रहा है।

कथाकार ने उत्तर कुरु-स्थित आगमिक हृद का उल्लेख किया है। उनके वर्णनानुसार इस हृद के तट पर छायादार अशोक के वृक्ष होते थे और मक्खन की भाँति मुलायम वैदूर्यमणि की शिलाएँ भी प्रचुर मात्रा में थीं। यह क्षेत्र देवलोक के समान था। यहाँ दस प्रकार के कल्पवृक्ष से उत्पन्न भोगोपभोग की सामग्री सुलभ रहती थी (नीलयशालम्भ : पृ. १६५)। ‘स्थानांग’ (५.१५५) में भी उल्लेख है कि जम्बूद्वीप-स्थित मन्दरपर्वत के उत्तर भाग में उत्तरकुरु नामक कुरुक्षेत्र में पाँच महाहृद थे। ‘स्थानांग’ के ही अनुसार (१०.१६५) सभी महाहृद दस-दस योजन गहरे थे।

कथाकार द्वारा वर्णित इषुवेगा नदी, नाम के अनुसार ही, तीर की तरह वेगवाली थी। इसलिए, इसे तैरकर पार करना सम्भव नहीं होता था (मन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४८)। आधुनिक भूगोलवेत्ताओं ने इस नदी की पहचान मध्य-एशिया में बहनेवाली प्रखरधारवती वंक्षु नदी से की है। कथाकार के अनुसार, इरावती नदी भूतरत्ना अटवी में प्रवाहित होती थी, जहाँ जटिलकौशिक तपस्वी का आश्रम था (केतुमतीलम्भ : पृ. ३२३)। डॉ. मोतीचन्द्र के अनुसार, यह नदी मलय-प्रायद्वीप में बहती थी और इसके मुहाने पर मिलनेवाली कछुए की खपड़ियों की, रोम में बड़ी माँग थी।^१ उन्होंने यह भी लिखा है कि फाहियान के साथी घूमते-घामते पामीर के रास्ते चीन पहुँचे थे। शायद वे असम तथा इरावती की ऊपरी घाटी और यूनान के रास्ते वहाँ पहुँचे होंगे।^२ कथाकार संघदासगणी के संकेतानुसार, धम्मिल्ल, चम्पापुरी के राजा कपिल के घोड़े पर चढ़कर उसका दमन करने के क्रम में ऊबड़-खाबड़ भूमिवाली कनकबालुका नदी के तट पर पहुँच गया था। इस नदी के तट पर स्थित वनखण्ड में विद्याधर विद्या की सिद्धि के लिए आते थे। यहाँ के वनखण्ड में सघन वंशगुल्मों की प्रचुरता थी, जिसमें पैठकर विद्याधर विद्या सिद्ध करते थे (धम्मिल्लचरित : पृ. ६७-६९)। इस नदी के नाम से यह अनुमान होता है कि इसकी बालू में स्वर्णकण मिले रहते थे।

कथाकार द्वारा निर्दिष्ट लवणसमुद्र (प्रतिमुख : पृ. ११०; बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५१; केतुमतीलम्भ : पृ. ३४५) तथा कालोद (कालोदधि) समुद्र (प्रतिमुख : पृ. ११०) तो स्पष्ट ही आगमिक हैं, जिनकी चर्चा द्वीप-प्रकरण में की जा चुकी है। क्षीरोदसमुद्र भी 'स्थानांग' में वर्णित है, जिसका विवरण भी द्वीप-प्रकरण में द्रष्टव्य है। उदधिकुमार देवों ने ऋषभस्वामी की चिता क्षीरोदसमुद्र के जल से ही बुझाई थी (नीलयशालम्भ : पृ. १८५)।

संघदासगणी ने तो गंगावतरण का विशद वर्णन किया है। उसी क्रम में गंगा के मार्ग का भी निर्देश किया है : कुमार भागीरथि (भगीरथ) रथ पर चढ़कर दण्डरत्न से नदी की धारा को मोड़ने लगा और उसे कुरु-जनपद के बीच से होकर हस्तिनापुर ले आया, फिर दक्षिण में कोसल-जनपद से होते हुए पश्चिम में, जहाँ नागभवन था, वहाँ खींच लाया। वहाँ कुमार ने नागराज ज्वलनप्रभ को नागबलि अर्पित की। उसी समय से नागबलि की प्रथा प्रारम्भ हुई। फिर, कुमार भागीरथि (बाह्यपुराणों द्वारा स्वीकृत नाम भगीरथ) गंगा को प्रयाग के उत्तर और काशी के दक्षिण से होकर विन्ध्यप्रदेश की ओर ले गया और फिर महानदी गंगा मगध के उत्तर और अंग के दक्षिणवर्ती हजारों-हजार नदियों को समृद्ध करती हुई समुद्र में मिल गई। गंगा जहाँ समुद्र में मिली, वहाँ 'गंगासागर' तीर्थ प्रतिष्ठित हो गया। चूँकि, पहले-पहल जह्नुकुमार ने गंगा का आकर्षण किया था, इसलिए उसे 'जाह्नवी' कहा जाता है। बाद में, भागीरथि (भगीरथ) ने आकर्षण किया, इसलिए वह गंगा 'भागीरथी' कहलाई (त्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३०५)।

'स्थानांग' (पृ. २३०) में भी भरत-क्षेत्र में बहनेवाली गंगा को महानदी कहा गया है। गंगा नदी की महत्ता बड़ी प्राचीन है। इसलिए सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय गंगा के वर्णन-वैविध्य से विमण्डित है। कथाकार संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में गंगा नदी का एक नहीं, अपितु अनेक स्थलों पर साग्रह वर्णन किया है।

१. द्र. 'सार्धवाह' (वही) : पृ. १२४

२. उपरिवत् : पृ. १८७

कथाकार ने गोदावरी नदी का भी उल्लेख किया है (भद्रमित्रा-सत्यरक्षितालम्भ : पृ. ३५३-५४)। भारत के दक्षिण में बहनेवाली यह नदी भूगोलविदों के लिए बहुपरिचित है तथा भारतीय प्राचीन-अर्वाचीन साहित्य में बहुवर्णित भी। कथाकार ने चम्पानगरी के निकट बहनेवाली एक नदी चन्दा की चर्चा की है (धम्मिल्लचरित : पृ. ५८)। इस नदी में कमलवन भी था। नदी में कमलवन की स्थिति की चर्चा कविप्रसिद्धि के अनुरूप है, वास्तविक नहीं। सम्भव है, यह कोई झील रही हो। भागलपुर के आधुनिक 'चम्पानाला' से इसकी पहचान सम्भव है।

कथाकार ने मथुरा के पास बहनेवाली भूगोलप्रसिद्ध यमुना का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है, जिसे 'स्थानांग' ने गंगा महानदी में मिलनेवाली पाँच महानदियों (यमुना, सरयू, आवी, कोशी और मही) में परिगणित किया है। मथुरा के राजा उग्रसेन ने अपने सघोजात पुत्र कंस को कुलविनाशक मानकर उसे काँसे की पिटारी में रखकर यमुना में प्रवाहित कर दिया था (देवकीलम्भ : पृ. ३६८)। इसी प्रकार, मथुरानगरी की प्रसिद्ध गणिका कुबेरसेना की नवजात यमज सन्तान को, जन्म के दिन से दस रात बीतने के बाद गणिका-माता ने, सोने और रत्न से भरी छोटी नाव में रखकर यमुना नदी में प्रवाहित करवा दिया था (कथोत्पत्ति : पृ. ११)। कथाकार ने गंगा-यमुना के संगम का भी निर्देश किया है। हिंसावादी बाह्यण पर्वतक और शाण्डिल्य ने मिलकर राजा सागर से प्रयाग और प्रतिष्ठान (झूँसी) के बीच यज्ञवेदी बनवाकर पशुयज्ञ करवाया था। फिर, राजा सागर को जब पशुहिंसामूलक राजसूय यज्ञ में दीक्षित किया गया, तब हिंसा-विरोधी नारद के कथनानुसार, राजपुत्र दिवाकरदेव ने गंगा-यमुना-संगमक्षेत्र की गंगा में यज्ञ-सामग्री फेंक दी थी (सोमश्रीलम्भ : पृ. १९२)। इस कथा से स्पष्ट है कि गंगा-यमुना की संगमभूमि पर उस युग में भी यज्ञ-याजन, पूजा-पाठ आदि धार्मिक कृत्य निरन्तर होते रहते थे।

कथाकार ने भारतवर्ष में बहनेवाली यावकी नदी का निर्देश किया है। उसके तट पर अनेक ऋषियों के आश्रम थे। वहाँ एकशृंग नामक तपस्वी रहते थे, जिन्होंने नटजाति की स्त्री स्कन्दमणि से विवाह किया था (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २६१)। इसी प्रकार, कथाकार ने अष्टपद पर्वत की तराई में बहनेवाली निकटी नदी का उल्लेख किया है। इस नदी के तट पर भी अनेक तापसों के आश्रम थे (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३८)। चम्पानगरी (अंगदेश) के निकट बहनेवाली कनकबालुका की भाँति रजतबालुका नदी का निर्देश कथाकार ने किया है। इसके वर्णन में लिखा गया है कि इस नदी का तट वृक्षों और लताओं के कुंजों से आकीर्ण था, इसका पानी बहुत स्वच्छ था। इसकी बालू चिकनी और उजली थी (पृ. १३४)। नाम के अनुसार, अनुमानतः इस नदी की बालू में रजतकण उपलब्ध रहते होंगे।

कथाकार ने विदर्भ-जनपद के राजा भीष्मक की राजधानी कुण्डिनपुर के पास बहनेवाली वरदा नदी का निर्देश किया है। इस नदी के तट पर नागगृह प्रतिष्ठित था, जहाँ कृष्ण के संकेतानुसार रुक्मिणी पूजा के लिए आई थी और कृष्ण ने वहाँ से उसका हरण कर लिया था। रुक्मिणी के स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए आया हुआ शिशुपाल वरदा नदी के पूर्वी तट पर ठहरा था (पीठिका : पृ. ८०-८१)।

कथाकार द्वारा निर्दिष्ट विजया नामक नदीहृद वैताढ्य पर्वत की तराई में अवस्थित था। शंकुपथ को पार करने के मार्ग में यह अथाह हृद स्थल-व्यापारियों के लिए भीषण समस्या उत्पन्न

करता था। डॉ. मोतीचन्द्र ने विजया नदी की आनुमानिक पहचान मध्य-एशिया की सीरदरिया से की है।^१

कथाकार ने विद्याधर-क्षेत्र में बहनेवाली एक अद्भुत नदी वरुणोदिका का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि राजगृह से यात्रा करते हुए वसुदेव अपनी विद्याधरी पत्नी वेगवती के साथ वरुणोदिका नदी के निकटवर्ती आश्रम में गये। आश्रम के पास उस नदी में पाँच नदियों का संगम होता था। वसुदेव वरुणोदिका नदी के सैकत तट पर उतरे और सपलीक उन्होंने पाँचों नदियों की धाराओं में पैठकर स्नान किया। फिर, वे दोनों सिद्धों को प्रणाम कर बाहर आये। वहाँ उन दोनों ने मिलकर स्वादिष्ट फल का भक्षण किया, पुनः जल का पान और आचमन किया। ऋषि के सात्रिष्य में रात बिताकर प्रातः सूर्योदय होने पर वे दोनों आश्रम से निकल पड़े और वहाँ से चलकर पुनः वरुणोदिका नदी के तट पर पहुँचे। उस नदी का जल अतिशय निर्मल था। उसका पुलिन बड़ा रमणीय था। नदी की सीमा पर एक पर्वत था, जो विविध धातुओं के अंगराग से अनुरजित था। उसके शिखर आकाश छू रहे थे और उसकी तलहटी को वरुणोदिका नदी अपने जल से पखार रही थी (वेगवतीलम्भ : पृ. २५०)। इस प्रकार, उस युग की पाँच नदियों के संगमवाली यह नदी अवश्य ही महत्त्वपूर्ण रही होगी। आज इस नदी की पहचान के लिए भूगोलविदों की शोध-सूक्ष्मेक्षिका की प्रगति प्रतीक्षित है।^२

कथाकार द्वारा निर्दिष्ट हृदरूप शंखनदी के तट पर रत्नों का व्यापार होता था। कथा है कि जम्बूद्वीप के ऐरवत-क्षेत्र के पद्मिनीखेट के निवासी सागरदत्त वणिक् के पुत्र धन और नन्दन नागपुर की शंखनदी के तट पर व्यापार करते थे। एक दिन दोनों शंखनदी के तट पर रत्न के लिए झगड़ने लगे और झगड़ने के क्रम में हृद में जा गिरे (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३८)। अनुमानतः, यह नदी-हृद दक्षिण भारत का कोई प्रसिद्ध व्यापार-क्षेत्र था। संघदासगणी ने चक्रवर्ती भरत के दिग्विजय-प्रसंग में सिन्धुनदी (सोमश्रीलम्भ : पृ. १८६) का उल्लेख किया है, साथ ही चारुदत्त की कथा में सिन्धु-सागर-संगम (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १४८) का भी निर्देश किया है। चारुदत्त ने अपनी मध्य-एशिया की यात्रा सिन्धु-सागर-संगम, यानी प्राचीन बर्बर के बन्दरगाह से शुरू की थी।^३

जैनागम 'स्थानांग' (५. २३१) के अनुसार, सिन्धु जम्बूद्वीप के मन्दरपर्वत के दक्षिण भाग (भरत-क्षेत्र) में बहनेवाली महानदी है। इसमें पाँच महानदियाँ मिलती हैं : शतद्रु (सतलज), वितस्ता (झेलम), विपासा (व्यास), ऐरावती (रावी) और चन्द्रभागा (चिनाब)। सिन्धुनदी से ही भारत की सिन्धु-सभ्यता की स्वतन्त्र पहचान स्थापित हुई है। पुरातत्त्वज्ञों की यह मान्यता सुविदित है कि पाँच-छह सहस्र वर्ष पूर्व सिन्धु-घाटी में एक अत्यन्त समुन्नत सभ्यता विकसित हुई थी। यह सभ्यता दक्षिण में काठियावाड़ और पश्चिम में मकरान से हिमालय तक विस्तृत थी। कथाकार द्वारा निर्दिष्ट सुवर्णकूला नदी भी आगमिक है। 'स्थानांग' (६.९०) के अनुसार, यह जम्बूद्वीप के

१. ड. 'सार्धवाह' (वही) : पृ. १३३।

२. प्रसिद्ध पुरातत्त्वैतिहासज्ञ डॉ. योगेन्द्र मिश्र ने श्वेतपुर (चेचर : उत्तर बिहार का ग्रामसमूह) के अनुसन्धान के क्रम में वहाँ पाँच धाराओं के संगमवाली नदी (पंचनदीसंगम) की अवस्थिति का उल्लेख किया है। (ड. 'श्वेतपुर की खोज और उसका इतिहास'; प्र. वैशाली भवन, टिकियाटोली, पटना)। श्वेतपुर के परिचय के क्रम में 'वसुदेवहिण्डी' का यह सन्दर्भ विचारणीय है। —ले.

३. ड. 'सार्धवाह' (वही) : पृ. १३३

मन्दरपर्वत की उत्तरवाहिनी छह महानदियों (नरकान्ता, नारीकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता और रक्तवती) में अन्यतम है और स्थानांग (३.४५७) के ही अनुसार यह नदी मन्दरपर्वत के उत्तर में, शिखरी वर्षधर पर्वत के पुण्डरीक महाह्रद से प्रवाहित होनेवाली तीन महानदियों (सुवर्णकूला, रक्ता और रक्तवती) में एक है। कथाकार संघदासगणी के संकेतानुसार, सुवर्णकूला नदी ऐरवत-क्षेत्र में अवस्थित है और इसके तटवर्ती जंगलों में हाथी प्रचुरता से पाये जाते हैं।

कथाकार द्वारा उल्लिखित हंसनदी जयपुर के पास बहती थी। कथा है कि राजा सुबाहु के दो पुत्र थे—अभग्नसेन और मेघसेन। मेघसेन बड़ा था। राजा सुबाहु ने हंसनदी को सीमा मानते हुए अपने राज्य को दो भागों में बाँटकर दोनों पुत्रों को दे दिया था। वे दोनों भाई जयपुर में रहते थे। बाद में बड़े भाई मेघसेन से उत्पीडित होने के कारण अभग्नसेन जयपुर छोड़कर शालगुहा में जाकर रहने लगा था। संकेतानुसार, यह जयपुर की सीमा के बीचो-बीच बहनेवाली नदी प्रतीत होती है।

संघदासगणी ने शीता और शीतोदा नदियों की कई बार आवृत्ति की है। यह भी आगमोक्त नदी है। 'स्थानांग' (१०.१६७) के अनुसार, इन दोनों महानदियों का मुखमूल (समुद्रप्रवेश-स्थान) दस-दस योजन गहरा है। 'स्थानांग' (६.९१-९२) में उल्लेख है कि मन्दरपर्वत की पूर्ववाहिनी शीता महानदी के दोनों तटों से मिलनेवाली छह अन्तर्नदियाँ हैं : ग्राहवती, ह्रदवती, पंकवती, तप्तजला, मत्तजला और उन्मत्तजला। इसी प्रकार शीतोदा महानदी में मिलनेवाली अन्तर्नदियाँ भी छह हैं : क्षीरोदा, सिंहस्रोता, अन्तर्वाहिनी, ऊर्मिमालिनी, फेनमालिनी और गम्भीरमालिनी।

'वसुदेवहिण्डी' में उल्लिखित अन्तस्साक्ष्य के अनुसार, शीतोद नद (शीतोदा नदी) धातकी-खण्डद्वीप के पश्चिम विदेह-क्षेत्र में बहता है। इस नद के उत्तर तट पर सुवर्ग (सुवर्ण) विजय (प्रदेश) का खड्गपुर नगर बसा है, जहाँ विद्याधरों का निवास था (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३६)। एक उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि पुष्करद्वीप के आधे पश्चिमी भाग में शीतोदा नदी बहती है। इस नदी के दक्षिण में सलिलावती नामक विजय (प्रान्त) है। वहाँ उज्ज्वल और उन्नत प्रकारवाली बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी वीतशेका नाम की नगरी है। उस नगरी में चौदह रत्नों तथा नौ निधियों का अधिपति रत्नध्वज नाम का चक्रवर्ती राजा रहता था (तत्रैव : पृ. ३२१)।

कथाकार के संकेतानुसार, जम्बूद्वीप के महाविदेह-क्षेत्र में शीता महानदी बहती है। इस महानदी के उत्तर में पुष्कलावती नाम का विजय (प्रान्त) है। यहीं वैताढ्य नाम का पर्वत है, जहाँ विद्याधर और चारणभ्रमण रहते हैं (तत्रैव)। जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह-क्षेत्र में भी शीता महानदी बहती है, जिसके दक्षिण तटवर्ती सुभगा नगरी में राजा स्तिमितसागर की दो रानियों—वसुन्धरी और अणुन्धरी के गर्भ से अपराजित और 'अनन्तवीर्य' नाम के कुमार उत्पन्न हुए थे (तत्रैव : पृ. ३२४)। शीता महानदी के दक्षिण तट पर ही मंगलावती विजय है, जहाँ रत्नसंचयपुरी बसी हुई है। इस पुरी में राजा क्षेमकर राज्य करता था (तत्रैव : पृ. ३२९)। रमणीय नामक प्रान्त भी पूर्वविदेह में प्रवाहित शीता नदी के दक्षिण तट पर ही बसा था। जिसकी शुभा नाम की नगरी राजा स्तिमितसागर की राजधानी थी (तत्रैव : पृ. ३३८)। धातकीखण्डद्वीप के पश्चिमविदेह-क्षेत्र के पूर्वभाग में भी शीता नदी बहती थी, जिसके दक्षिण तट पर स्थित नलिनीविजय की अशोकानगरी राजा अरिजय की राजधानी थी (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २६१)।

चौथे नीलयशालम्भ में कथाकार ने लिखा है कि मन्दर, गन्धमादन, नीलवन्त और माल्यवन्त पर्वतों के मध्य बहनेवाली शीता महानदी द्वारा बीचोबीच विभक्त उत्तर कुरुक्षेत्र बसा हुआ था (पृ. १६५)। शीता महानदी समुद्र के प्रतिरूप थी। कथा है कि पुष्कलावतीविजय पुण्डरीकिणी नगरी के चक्रवर्ती राजा वज्रदत्त की रानी यशोधरा को जब समुद्र में स्नान करने का दोहद उत्पन्न हुआ, तब राजा बड़ी तैयारी के साथ समुद्र जैसी शीता महानदी के तट पर पहुँचा (ततो राया महया इड्डीए सीयं महानइं समुहभूयं गतो, कथोत्पत्ति : पृ. २३)। रानी यशोधरा ने उस महानदी में स्नान करके अपने दोहद की पूर्ति की।

इस प्रकार, कथाकार द्वारा उपन्यस्त वर्णन से स्पष्ट है कि जम्बूद्वीप में व्यापक रूप से प्रवाहित शीता महानदी का उस युग में अतिशय महत्त्व था। पुराणों में भी सीता (शीता) नदी का उल्लेख है। 'भक्त्यपुराण' (१२०.१९-२३) के अनुसार, शैलोदा का उद्गम अरुणा पर्वत से हुआ है, परन्तु 'वायुपुराण' (४७.२०-२१) के अनुसार, वह नदी मुंजवत् पर्वत की तराई में स्थित एक हृद से निकलती थी। वह चक्षुस् और सीता के बीच बहती थी और लवणसमुद्र में गिरती थी। डॉ. मोतीचन्द्र के अनुसार, चक्षुस् वंक्षु नदी है और सीता कदाचित् तारीम। तारीम की घाटी के उत्तरी नखलिस्तानों में भारतीय प्रभाव बहुत मजबूत था। वहाँ स्थानीय ईरानी बोली के अतिरिक्त भारतीय प्राकृत का व्यवहार होता था। वहाँ की कला पर भारतीय संस्कृति की छाप स्पष्ट है।^१

उपर्युक्त नदी-प्रसंगों के विवरण से स्पष्ट है कि कथाकार संघदासगणी द्वारा कथा के माध्यम से उपन्यस्त नदियाँ भारतीय सभ्यता और संस्कृति के चरम उत्कर्ष की सन्देशवाहिका हैं। यथा-वर्णित नदियों का महत्त्व केवल सांस्कृतिक और ऐतिहासिक न होकर राजनीतिक और व्यापारिक भी है। कथाकार ने द्वीपों, पर्वतों, क्षेत्रों और नदियों के माध्यम से न केवल आसेतुहिमाचल भारत का, अपितु सम्पूर्ण मध्य-एशिया का प्राकृतिक और राजनीतिक भूगोल उपस्थित किया है, जिसमें अनेक ऐतिहासिक आयाम अपनी ऐतिहासमूलक विशेषताओं के साथ जुड़े हुए हैं। भारत का अपना कुछ ऐसा भौगोलिक वैशिष्ट्य रहा है कि बलखखण्ड, हिन्दुकुशखण्ड तथा भारतीय खण्ड, यानी महाजनपथ, कौटिल्य के शब्दों में हैमवतपथ के तीनों खण्ड एक दूसरे से अनुबद्ध हैं। महान् भूगोलविद् कथाकार ने अपने कथा-परिवेश में बृहत्तर भारत की इसी भौगोलिक अनुबद्धता का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया है।

जनपद, नगर, ग्राम, सन्निवेश आदि :

संघदासगणी द्वारा उपन्यस्त जनपद, नगर, ग्राम, सन्निवेश आदि के वर्णनों से तत्कालीन भौगोलिक अवस्थिति का ज्ञान तो होता ही है, राजनीतिक परिस्थिति का भी पता चलता है। भारत के प्रसिद्ध प्राचीन सोलह जनपदों में संघदासगणी ने दस जनपदों का वर्णन किया है : अंग, अवन्ती, काशी, कुरु, कौशल, गन्धार, चेदि, मगध, वत्स और शूरसेन। कथाकार ने इनके अतिरिक्त और भी कई प्राचीन स्थानों का जनपद के नाम से उल्लेख किया है। जैसे : आनर्त, कुशार्थ (कुशावर्त), सुराष्ट्र, शुकराष्ट्र, उत्कल, कामरूप, कोंकण, खस, चीनस्थान, चीनभूमि, यवन, टंकण, बर्बर, विदर्भ, शालिग्राम, सिंहलद्वीप, सिन्धु, सुकच्छ, श्वेता और हूण। इन जनपदों के वर्णन के क्रम में

१. ड. 'सार्थवाह' (वही), : पृ. १७५

कथाकार ने शताधिक नगरों का निर्देश किया है, साथ ही इनके अन्तर्वर्ती बीस ग्रामों का भी उल्लेख किया है, जिनमें कतिपय सन्निवेश, कर्बट और खेट कोटि के ग्राम या बस्तियाँ थीं। उक्त सभी जनपदों, नगरों आदि में कुछ के तो केवल नामों का उल्लेख मिलता है और कुछ के वर्णन-विवरण भी, जिनसे उनके भौगोलिक और राजनीतिक वैशिष्ट्य की जानकारी प्राप्त होती है।

कथाकार द्वारा यथाप्रस्तुत वर्णन से तत्कालीन अंग-जनपद की कई सांस्कृतिक विशेषताओं की सूचना उपलब्ध होती है। प्राचीन अंग-जनपद में गाय-धैस पालनेवाले गोपों की बहुलता थी। फलतः, धी का व्यापार बड़े पैमाने पर होता था। चम्पापुरी इस जनपद की राजधानी थी। इस नगरी के आसपास अनेक उद्यान थे और नगरी के निकट ही गंगा में मिलनेवाली चन्दा नाम की नदी बहती थी। चम्पा के पास चूँकि यह नदी झील के रूप में थी, इसलिए कमलवनों से आच्छादित भी रहती थी। इस नगरी का तत्कालीन राजा कपिल था, जिसके युवराज का नाम था रविसेन (< रविषेण)। युवराज की ललितगोष्ठी के सदस्यों में अनेक कलावन्त कुमार सम्मिलित थे। एक बार सभी सदस्य अपनी-अपनी पत्नी के साथ रथ पर सवार होकर उद्यान-यात्रा के निमित्त निकले थे। 'धम्मिल्लहिण्डी' के मगधवासी कला-कुशल नवयुवा चरित्रनायक धम्मिल्ल को अपनी चहेती विमलसेना के साथ चम्पापुरी का अतिथि होने के नाते उक्त ललितगोष्ठी की ओर से आयोजित उद्यान-यात्रा में सम्मिलित होने का अवसर मिला था। इतना ही नहीं, राजा कपिल की रूपवती पुत्री कपिला से विवाह करने का भी सौभाग्य उसे प्राप्त हो गया था। राजा कपिल घुड़सवारी का बहुत शौकीन था। राजा कपिल का विद्वेषपात्र भाई सुदत्त चम्पा-प्रदेश में ही बहनेवाली कनकबालुका नदी के तटवर्ती संवाह अटवी-कर्बट (जांगल ग्राम) का अधिपति था। धम्मिल्ल ने ही दोनों भाइयों में मेल कराया था।

उस समय की चम्पानगरी श्रेष्ठियों एवं सार्थवाहों का प्रसिद्ध और प्रमुख केन्द्र थी। उस काल के इन्द्रदम सार्थवाह के पुत्र सागरदत्त की कीर्ति दिगन्त-व्यापिनी थी। सागरदत्त ही चम्पानगरी की प्रख्यात लोककथा 'बिहुला-विषहरी' के चरितनायक चाँदो सौदागर का प्रतिरूप है। उस समय के यहाँ के श्रेष्ठियों में भानुदत्त सेठ के पुत्र चारुदत्त की बड़ी ख्याति थी। इसे दुर्गम समुद्रमार्ग के माध्यम से अन्तर्देशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार करने का श्रेय प्राप्त था। चारुदत्त की पालिता विद्याधरपुत्री गन्धर्वदत्ता परम रूपवती तथा गन्धर्ववेद (संगीतविद्या) की पारगाभिनी थी (इहं चारुदत्तसिद्धिणो धूया गन्धर्वदत्ता परमरूपवती गन्धर्ववेदपारंगया; गन्धर्वदत्तालम्बः पृ. १२६)।

चम्पापुरी में तीर्थंकर वासुपूज्य का उनके नाम से अंकित पादपीठ प्रतिष्ठित था, चम्पामण्डल में ही प्रतिष्ठित मन्दरपर्वत की पूज्यातिशयता की भावना तत्सामयिक जन-जन में व्याप्त थी। मन्दरपर्वत पर रहनेवाला अनगर विष्णुकुमार विष्णु का ही प्रतिरूप माना जाता था। चम्पानगरी की रजतबालुका नदी के तीर पर स्थित अंगमन्दर के उद्यान का धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्व था। अंगमन्दर में जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित थी, जिसपर फूल चढ़ाने के लिए भक्तों की भीड़ जुटती थी। वहाँ समय-समय चैत्य-महोत्सव तथा संगीत-प्रतियोगिता-सभा का आयोजन होता था। सुग्रीव और जयग्रीव की जोड़ी वहाँ के संगीतविद्या में निपुण आचार्यों में सातिशय प्रतिष्ठित थी।

चम्पापुरी-स्थित प्राचीन सुरवन की 'सूराबाँध' के रूप में पूर्वस्मृति की परम्परा आज भी सुरक्षित है। मेष-संक्रान्ति (सतुआनी) के अवसर पर इस बाँध पर पतंग या गुड़ी उड़ाने की

औत्सविक प्रथा भी बड़ी प्राचीन है। कथाकार ने लिखा है कि पुराकाल में चम्पानरेश राजा पूर्वक अपनी रानी के समुद्र-स्नान के दोहद की पूर्ति के लिए युक्तिपूर्वक प्रवाहशील जल से परिपूर्ण सरोवर का निर्माण कराया और उसे ही समुद्र बताकर रानी को दिखलाया। रानी ने उसमें स्नान करके अपनी दोहद-पूर्ति की और पुत्र प्राप्त करके वह प्रसन्न हुई। तब से रानी अपने मनोविनोद के लिए पुत्र और पुरवासियों के साथ सरोवर के पार्श्ववर्ती सुरवन की यात्रा करती रही और उसी यात्रा का अनुवर्तन बहुत दिनों तक होता रहा (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १५५)।

उस महासरोवर के ही तट पर भगवान् वासुपूज्य का मन्दिर प्रतिष्ठित था। चम्पानगर में वह मन्दिर आज भी यथापूर्व प्रतिष्ठित है। गन्धर्वदत्ता के लिए आयोजित होनेवाली भासिकी संगीत-सभा में एक बार वसुदेव पहुँचे और उन्होंने अपनी संगीत-निपुणता से गन्धर्वदत्ता को पराजित कर शर्त के अनुसार, उसे पत्नी के रूप में प्राप्त किया। विवाह के बाद एक दिन वसुदेव गन्धर्वदत्ता और चारुदत्त सेठ के साथ वहाँ की उद्यानश्री को देखने और वासुपूज्यस्वामी की वन्दना के लिए गये थे, जहाँ उन्हें मातंगकन्या विद्याधरी नीलयशा से भेंट हुई थी, जो बाद में उनकी पत्नी बनी। इस प्रकार, कथाकार ने अंग-जनपद तथा उसकी राजधानी चम्पापुरी एवं प्राचीन चम्पामण्डल के आधुनिक स्थान 'बौसी' में अवस्थित, मेरुगिरि के समकक्ष मन्दरपर्वत की सांस्कृतिक समृद्धि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

कथाकार ने बिहार-राज्य के दो प्राचीन जनपदों—अंग और मगध की विशद चर्चा उपन्यस्त की है। 'वसुदेवहिण्डी' की कथा मगध-जनपद की राजधानी राजगृह नगर से ही प्रारम्भ होती है। कुशाग्रपुर और मगधपुर (प्र. मगहापुर) राजगृह के ही पर्यायवाची (नाम) थे। कथाकार के अनुसार, तत्कालीन, मगध-जनपद धन-धान्य से समृद्ध था। वह जनपद वन-उपवन तथा कमल-सहित तडागों और पुष्करिणियों से सुशोभित था। उस राजधानी के शासन-क्षेत्र में बड़े-बड़े गृहपतियों से युक्त सैकड़ों ग्राम बसे हुए थे। वह जनपद अनेक वनखण्डों के विमण्डित था, जिनमें अनेक भोज्य फूल-फल से लदे छायादार पेड़ भरे हुए थे। राजगृह नगर जल से भरी विशाल खाइयों और शत्रुओं के लिए दुर्लभ ऊँचे-ऊँचे परकोटों से आवेष्टित, गगनचुम्बी महलों से मण्डित तथा अतिशय उन्नत पर्वतों से परिवेष्टित होने के साथ ही व्यापार का केन्द्रस्थल भी था। वह नगर ब्राह्मण, श्रमण और सज्जनों का समभाव से सम्मान करनेवाले वणिग्जनों से परिपूर्ण और रथ एवं घोड़ों से व्याप्त तथा हाथियों के मदजल से सिंचित विस्तृत राजमार्गों से सुशोभित था (कथोरत्पत्ति : पृ. २)।

राजगृह में राजा श्रेणिक (बिम्बिसार) का राज्य था, जिसकी रानी का नाम चेलना और पुत्र का नाम कोणिक (अजातशत्रु) था। राजगृह का गुणशिलक चैत्य (आश्रम : साधुओं का प्रवचन-स्थल) अतिशय प्रतिष्ठित था। महावीरस्वामी और उनके प्रधान गणधर सुधर्मास्वामी एक बार गुणशिलक चैत्य में पधारे थे, जहाँ जम्बूस्वामी ने सुधर्मास्वामी का शिष्यत्व प्राप्त किया था। सम्पूर्ण जैनागम के वक्तुबोद्धव्य (वक्ता और जिज्ञासु श्रोता) के रूप में सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी के नामों को आगमिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। और, यह प्रतिष्ठा देने का श्रेय बिहार के मगध-जनपद के राजगृह नगर को ही है।

कथाकार संघदासगणी ने बृहद्रथ-पुत्र जरासन्ध के समय के पौराणिक मगध-जनपद को उपजीव्य बनाकर अनेक कथाओं का विन्यास किया है। किन्तु, उनके द्वारा वर्णित मगध-जनपद

उनके समय का ही प्रतिनिधित्व करता है। कथाकार ने पौराणिक संकेतों के आधार पर प्रबन्ध-कल्पना की है कि एक बार जरासन्ध ने वसुदेव के बड़े भाई समुद्रविजय को यह मैत्री-सन्देश भेजकर उनसे सहायता की प्रार्थना की : 'आप यदि मेरे प्रबल प्रतिपक्षी सिंहपुर के राजा सिंहरथ को बन्दी बना लेंगे, तो मैं आपको अपनी पुत्री जीवद्यशा और अपना प्रधान नगर प्रदान कर दूँगा।' जरासन्ध की प्रार्थना सुनकर वसुदेव ने अपने बड़े भाई से निवेदन किया कि कंस के साथ मुझे ही युद्ध में जाने दीजिए। किन्तु, समुद्रविजय ने नहीं माना, इसलिए कि उन्हें विश्वास था कि वसुदेव ने कभी लड़ाई देखी तक नहीं। परन्तु, वसुदेव के बार-बार आग्रह करने पर समुद्रविजय ने उन्हें कंस एवं अनेक अन्य लोगों के साथ युद्ध में भेज दिया। कंस वसुदेव का सारथी बना था। इस युद्ध में वसुदेव ने हस्तकौशल और कंस ने गदाकौशल का अद्भुत प्रदर्शन किया। अन्त में, वसुदेव युद्धधुरन्धर सिंहरथ को बन्दी बनाकर द्वारवती ले आये। समुद्रविजय ने वसुदेव का बड़ा सम्मान किया और कंस को जरासन्ध की पुत्री जीवद्यशा दे दी गई। वसुदेव को यह कहकर मना लिया गया कि क्रौष्टिकनैमित्तिक के वचनानुसार जीवद्यशा दोनों कुलों का नाश करनेवाली है।

इसके बाद, समुद्रविजय और वसुदेव ने जीवद्यशा के भावी पति कंस के क्षत्रियत्व की जानकारी के निमित्त उसकी उत्पत्ति-कथा जाननी चाही। इसके लिए रसवणिक को बुलाया गया, जिसने शिशु कंस को कौंसे की पिटारी में यमुना में बहते हुए पाया था, और जिस शिशु के साथ उग्रसेन नाम से अंकित मुद्रा बँधी थी। वसुदेव कंस को उग्रसेन का पुत्र जानकर राजगृह ले आये और जरासन्ध से उन्होंने उसके वंश और पराक्रम की बात कही। उग्रसेन के पुत्र के रूप में कंस का समर्थन हो जाने पर जरासन्ध ने अपनी पुत्री उसे दे दी। कंस ने जब सुना कि जन्म लेते ही उसे उसके पिता ने प्रवाहित करा दिया था, तब वह बड़ा रुष्ट हुआ और जरासन्ध से वरदान में उसने मथुरा नगरी माँग ली। फिर द्वेषवश उसने अपने पिता उग्रसेन को बन्दी बना लिया और स्वयं वह राज्य का शासन सँभालने लगा। इससे स्पष्ट है कि जरासन्ध का प्रताप और प्रशासन राजगृह से मथुरा तक, अर्थात् दूर-दूर तक व्याप्त था।

भरत-क्षेत्र के तत्कालीन मगध-जनपद में अवस्थित शालिग्राम नामक गाँव के मनोरम उद्यान की सुमना नाम की यक्षशिला पर पूजा के लिए जनपदवासियों की भीड़ लगती थी। यह शिला, सुमन यक्ष के नाम पर स्थापित की गई थी। मगध-जनपद के सुग्राम नामक गाँव की भी बड़ी महत्ता थी, जिसकी अनेक घटनाओं को कथाकार ने कथाबद्ध किया है। उस जनपद का पलाशपुर ग्राम भी अपना महत्त्व रखता था। सुग्राम और पलाशपुर के स्कन्दिल ब्राह्मणों की अपने समय में बड़ी चर्चा रही होगी, तभी तो जैन कथाओं के प्रतिनिधि एवं निधिग्रन्थ 'वसुदेवहिण्डी' में उनका बार-बार कीर्तन किया गया है। वसुदेव अपने भ्रमणकाल में अपना छद्म-परिचय मगध के गौतमगोत्रीय स्कन्दिल ब्राह्मण के रूप में ही प्रस्तुत करते थे। उस समय सुग्राम के बाहर प्रतिष्ठित आयतन की बड़ी महिमा थी। वहाँ के निवासी गन्ध और माल्य के साथ आयतन में पूजा के लिए आते थे।

कथाकार द्वारा उपन्यस्त कथाओं से यह ज्ञात होता है कि उस समय मगध-जनपद में अनेक धर्माचार्य तपोविहार के लिए आया करते थे। जैसा पहले कहा गया, मगध का राजा जरासन्ध बड़ा प्रतापी था। संघदासगणी ने उसके लिए 'सामंतपत्त्रिवपण्यमउडमणिकराऽऽरजियपायवीढो'

विशेषण (वेगवतीलम्भ : पृ. २४७) का प्रयोग किया है। अर्थात्, प्रणतिनम्र सामन्त नरेशों के मुकुटों की मणियों के किरणपुंज से उसका पादपीठ अनुरंजित रहता था। एक बार उसने वसुदेव को, यानी अपने शत्रु कृष्ण के पिता को बन्दी बनाकर और चमड़े के थैले में बन्द कराकर राजगृह के पहाड़ से नीचे फेंकवा दिया था। किन्तु, वसुदेव की विद्याधरी पत्नी वेगवती ने उन्हें बचा लिया था।

कथाकार के संकेतानुसार, तत्कालीन राजगृह नगर की द्यूतशाला का अपना वैशिष्ट्य था। अमात्य, सेठ, सार्यवाह, पुरोहित, नगरपाल (प्रा. तलवर), और दण्डनायक लाखों के मूल्य की मणि, रत्न और सुवर्णराशि के साथ दौंव लगाने को उस द्यूतशाला में जुटते थे। वसुदेव ने, जिन्हें विद्याधर मानसवेग एक विद्याधरी का छद्मरूप धरकर आकाश में उड़ा ले गया था और उसी क्रम में वह मगध-जनपद के राजगृह नगर में पुआल की टाल पर आकाश से आ गिरे थे, अपनी एक लाख के मूल्य की अंगूठी दौंव पर लगाकर एक करोड़ जीत लिया था और उसे गरीबों में बाँट दिया था। प्रजापति शर्मा नामक ज्योतिषी ने जरासन्ध से कहा था कि इस प्रकार के उदार आचरण करनेवाले को आप अपने शत्रु कृष्ण का पिता समझेंगे। इसी सूचना के आधार पर जरासन्ध ने वसुदेव को, गरीबों में द्यूतार्जित धन बाँटते समय, द्यूतशाला के द्वार पर अपने पुरुषों से बन्दी बनवाकर सीधे कारागार में डलवा दिया था और रातों-रात चुपके से उन्हें, जैसा पहले कहा गया, राजगृह के छिन्नकटक पर्वत (विपुलाचल) से नीचे छोड़वा दिया था।

कथाकार ने मगध-जनपद के वड्डुक ग्राम का उल्लेख किया है। इस ग्राम के किसान बड़े परिश्रमी थे। वे रात-रात भर ब्यारी पटाने के काम में लगे रहते थे। मगध-जनपद का अचलग्राम तो वेदपाठी ब्राह्मणों से भरा रहता था। वहाँ धरणिजड ब्राह्मण ब्राह्मणपुत्रों को वेद पढ़ाता था। वसुदेव जब दुबारा मगध-जनपद पहुँचे थे, तब वहाँ (राजगृह) के एक सन्निवेश (नगर का बहिः-प्रदेश) में ठहरे थे। वहीं से जरासन्ध के दूत डिम्भक शर्मा के संकेतानुसार सोलह राजपुरुष उन्हें पकड़कर ले गये थे। उनका अपराध यही था कि उन्होंने जरासन्ध की पुत्री इन्द्रसेना (वसन्तपुर के राजा जितशत्रु की पत्नी) को पिशाचावेश से मुक्त कराया था और ज्योतिषी ने जरासन्ध से बताया था कि ऐसा करनेवाला व्यक्ति तुम्हारे शत्रु (कृष्ण) का पिता होगा।

संघदासराणी ने पाटलिपुत्र की चर्चा नहीं की है। इससे यह संकेत मिलता है कि मगध की राजधानी के रूप में पाटलिपुत्र की मान्यता बाद में स्थापित हुई। बुद्धकालीन इतिहास से पता चलता है कि बुद्ध के समय में अवन्ती और मगध के राज्य उत्तर भारत में अपनी धाक जमा लेने के फ़िराक में थे, किन्तु वज्जियों के (संघदासराणी ने वैशाली और वहाँ के निवासी वज्जियों का कोई जिक्र नहीं किया है) हारने के बाद अजातशत्रु का पलड़ा भारी हो गया और इस तरह मगध उत्तर भारत में एक महान् साम्राज्य बन गया।^१ अजातशत्रु के पुत्र और उत्तराधिकारी उदयिभद्र ने गंगा के दक्खिन में कुसुमपुर अथवा पाटलिपुत्र बसाया। यह नया नगर कदाचित् अजातशत्रु के किले के आसपास ही कहीं बसाया गया था। वर्तमान पटना के कुम्हार में प्राप्त भवन के पुरावशेष की पहचान पुरातत्वविदों ने तत्कालीन पाटलिपुत्रनरेश चन्द्रगुप्त के सभा-भवन के रूप में की है। विधिवत् बसने के बाद से ही पाटलिपुत्र नगर व्यापार और राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था।

१. मध्यस्थित राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'मज्झिमनिकाय', भूमिका : पृ. ३

संधदासगणी द्वारा चित्रित अवन्ती-जनपद की राजधानी उज्जयिनी थी। यह जनपद धन-धान्य से समृद्ध था और यहाँ के नागरिक बड़े सुखी थे। विद्या और ज्ञान-विज्ञान का यहाँ बड़ा आदर था। उज्जयिनी के तत्कालीन राजा जितशत्रु का कोष और कोष्ठागार बहुत सम्पन्न था। साधन और वाहनों की प्रचुरता थी। भृत्य और मन्त्री राजा के प्रति अतिशय अनुरक्त थे। राजा का साथी अमोघरथ धनुर्वेद में पारंगत था। बाद में, अमोघरथ का पुत्र अगडदत्त अपने पिता के स्थान पर सारथी नियुक्त हुआ था। उज्जयिनी के तत्कालीन सारथवाह सागरचन्द की ख्याति दिग्दिगन्त में व्याप्त थी ('दसदिसिपयासो इब्धो सागरचंदो नाम'; धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४९)। उज्जयिनी के व्यापारी कौशाम्बी जाकर व्यापार करते थे। तत्कालीन उज्जयिनी से कौशाम्बी की ओर जानेवाला मार्ग बड़ा दुर्गम था। बीहड़ पहाड़ी जंगलों में चारों ओर जंगली जानवरों का सामना व्यापारियों को करना पड़ता था। कथाकार ने उज्जयिनी और कौशाम्बी की बार-बार चर्चा की है।

काशी-जनपद का वर्णन करते हुए कथाकार ने वाराणसी की भूरिशः चर्चा की है। वाराणसी मुख्यतः धार्मिक संस्कृति की पुण्यभूमि रही है। इसलिए, विभिन्न साधु-सन्तों, भिक्षु-भिक्षुणियों और परिव्राजक-परिव्राजिकाओं का जमघट वहाँ लगा ही रहता था। वहाँ समुद्रयात्री व्यापारियों एवं स्थलयात्री सारथवाहों की भी प्रचुरता थी। वाराणसी की परिव्राजिका सुलसा व्याकरण और सांख्यशास्त्र की पण्डिता थी। एक बार वह याज्ञवल्क्य नामक त्रिदण्डी परिव्राजक से शास्त्रार्थ में पराजित हो गई। शर्त के अनुसार, उसे आजीवन याज्ञवल्क्य मुनि की खड़ाऊँ ढोने के लिए विवश होना पड़ा। इसी क्रम में याज्ञवल्क्य से दैहिक सम्बन्ध हो जाने के कारण वह गर्भवती हो गई और उसने पिप्पलाद नामक बालक को जन्म दिया। पिप्पलाद ने पशुमेघ तथा नरमेघ-यज्ञपरक अथर्ववेद की रचना की। अपनी अवैध उत्पत्ति का पता चलने पर उसने अपने माता-पिता को खण्ड-खण्ड करके गंगा में फेंक दिया।

कथाकार ने वाराणसी की भौगोलिक स्थिति अर्द्धभरत के दक्षिण में मानी है। दक्षिण में कोशल की सीमा काशी तक पहुँचती थी, जहाँ कदाचित् काशी के लोगों की मानरक्षा के लिए प्रसेनजित् का छोटा भाई परम्परागत रूप से काशिराज बना हुआ था, जैसे मगध द्वारा अंग पर अधिकार हो जाने के बाद ही चम्पा में 'अंगराज' नामक राजाओं की परम्परा बनी हुई थी।

कथाकार द्वारा वर्णित कुरु-जनपद की राजधानी हस्तिनापुर थी। हस्तिनापुर को ही गजपुर भी कहा गया है। कथाकार ने हस्तिनापुर में राज्य करनेवाले अनेक राजाओं का उल्लेख किया है। शान्तिस्वामी, कुशुस्वामी और अरस्वामी हस्तिनापुर के ही तीर्थकर-रत्न थे। ब्राह्मणों के वामनावतार के प्रतिरूप विष्णुकुमार की जन्मभूमि भी हस्तिनापुर ही थी। भरत के छोटे भाई बाहुबली हस्तिनापुर और तक्षशिला के स्वामी थे। चक्रवर्ती राजा सनत्कुमार हस्तिनापुर में ही उत्पन्न हुआ था। सनत्कुमार व्यायाम का अभ्यासी था। परशुराम ने राजा कार्तवीर्य का वध हस्तिनापुर में ही किया था। जमदग्निपुत्र परशुराम ने सात बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय किया था, तो कार्तवीर्यपुत्र सुभौम ने इक्कीस बार पृथ्वी को निर्बाहण करके उसका भयंकर बदला चुकाया था। सगरपुत्र भगीरथ (भगीरथ) गंगा की घारा को कुरु-जनपद के बीच से हस्तिनापुर लाया था। बौद्ध साहित्य के आधार पर डॉ. मोतीचन्द्र ने लिखा है कि बुद्ध के समय महाजनपथ कुरु-प्रदेश

से ही प्रारम्भ होता था तथा उत्तरप्रदेश में उत्तरप्रांचाल, यानी बरेली जिले में धँसता हुआ वह कोशल-प्रदेश से होकर सीधे कपिलवस्तु पहुँचता था।^१

कथाकार द्वारा वर्णित कोशल-जनपद की राजधानी अयोध्या थी। विनीता और साकेत अयोध्या के ही पर्यायवाची (नाम) थे। विनीता नाम के अनुसार ही यहाँ की प्रजाएँ विनीत थीं। प्रजाओं की विनम्रता को देखकर ही इन्द्र द्वारा सन्दिष्ट वैश्रवण ने विनीता नाम की राजधानी का निर्माण कराया था, जो बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी। पुराकाल में नाभिकुमार के बाद ऋषभस्वामी यहाँ के राजा हुए थे। यहाँ की प्रजाएँ उग्र, भोग, राजन्य और नाग इन चार गणों में विभक्त थीं। परवर्ती-कालीन कोशल-जनपद का संगम नामक सन्निवेश ब्राह्मणों की आवासभूमि के रूप में प्रतिष्ठित हुआ था। कोशल के पद्मिनीखेट का निवासी भद्रमित्र श्रेष्ठ सारथवाहों में परिगणनीय था। कथाकार ने कोशल-जनपद की भौगोलिक अवस्थिति श्रावस्ती-जनपद के उत्तर में मानी है। इस जनपद को कथाकार ने 'सव्वज्जणवयण्णहाणो' (सभी जनपदों में प्रमुख) कहा है। वसुदेव की पत्नी रोहिणी कोशल-जनपद के रिष्टपुर के राजा रुधिर की पुत्री थी। रोहिणी के स्वयंवर में विभिन्न जनपदों के राजा एकत्र हुए थे, जिनमें जरासन्ध, कंस, पाण्डु, दमघोष, भीष्मक, द्रुपद, शल्य, कपिल, पद्मरथ, समुद्रविजय आदि राजाओं के नाम उल्लेख्य हैं। अयोध्या नगरी के राजा दशरथ और उनके पुत्र राम की कथा का वर्णन भी कथाकार ने किया है। प्रसेनजित् को कथाकार ने कुलकर के रूप में स्मरण किया है, जिन्होंने 'हाकार'- 'माकार' का अतिक्रमण करनेवाली प्रजाओं के लिए 'धिवकार' की दण्डनीति चलाई थी। बुद्ध के समय, प्रसेनजित् कोशल के राजा थे। अजातशत्रु ने उन्हें एक बार हराया था। पर, उन्होंने उस हार का बदला बाद में ले लिया। प्रसेनजित् को उसके बेटे विडूढभ ने गद्दी से उतार दिया। वह अजातशत्रु से सहायता माँगने राजगृह गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई।

कथाकार के संकेतानुसार, गन्धार-जनपद की राजधानी पुष्कलावती नगरी का राजा नग्नजित् था। उसकी रूपवती और संगीत-कलाकुशला पुत्री गन्धारी का कृष्ण ने हरण करके उसे अपनी पत्नी बना लिया था। कथाकार ने भौगोलिक दृष्टि से गन्धार-जनपद की अवस्थिति जम्बूद्वीप के अपरविदेह-क्षेत्र के गन्धिलावती विजय के गन्धमादन और वक्षार (वक्षस्कार) पर्वत के निकटवर्ती वैताढ्य पर्वत पर मानी है, जहाँ की राजधानी गन्धसमृद्ध नाम का नगर था। यहाँ के नागरिक बड़े समृद्ध थे। यहाँ का राजा महाबल था, जो अपने जनपद का बड़ा हितैषी था। इसे पितृ-पितामह-परम्परा से राज्यश्री प्राप्त हुई थी। निश्चय ही, यह गन्धार-जनपद आगम-प्रसिद्ध था। बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि गन्धार के राजा पुष्करसारि थे। इस सम्बन्ध में डॉ. मोतीचन्द्र ने कई नये ऐतिहासिक और राजनीतिक साक्ष्यों या तथ्यों का अनुमान किया है।^२

कथाकार के वर्णनानुसार, चेदि-जनपद का राजा शिशुपाल था। रुक्मिणी-हरण के बाद कृष्ण ने युद्ध में इसका वध किया था। 'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश' के अनुसार, हूणवंशी तोरमाण ही शिशुपाल था। कथाकार ने चेदि-जनपद में अवस्थित शुक्तिमती नगरी का उल्लेख किया है। यहाँ के राजा का नाम उपरिचर वसु था। इसी नगरी में क्षीरकदम्ब नामक वेदपाठी उपाध्याय रहते थे,

१. द्र. 'सारथवाह' (वही) : पृ. ५०

२. उपरिचर

जिनके पुत्र का नाम पर्वतक था और नारद नाम का ब्राह्मण उनका शिष्य था। पर्वतक द्वारा आयोजित हिंसायज्ञ में सम्मिलित होने के कारण उपरिचर वसु को नरकगामी होना पड़ा था।

वत्स-जनपद की राजधानी कौशाम्बी थी। हरिवंश-कुल की उत्पत्ति, जिसे 'स्थानांग' (१०.१६०) में दस आश्वयों में एक माना गया है, यहीं हुई थी। सम्मुख यहाँ का राजा था। कहा जाता है, उसने वीरक नाम के बुनकर की पत्नी वनमाला का अपहरण कर लिया था। एक दिन बिजली गिरने से सम्मुख और वनमाला की मृत्यु हो गई। अगले जन्म में ये दोनों हरिवर्ष में मिथुन के रूप में उत्पन्न हुए। हरिवर्षवासी मिथुन में पुरुष हरि नाम का राजा हुआ और स्त्री हरिणी नाम की रानी हुई। उनका ही पुत्र पृथिवीपति हुआ। पृथिवीपति से ही वंश-परंपरागत रूप में क्रमशः महागिरि—हिमगिरि—वसुगिरि—नरगिरि और इन्द्रगिरि का जन्म हुआ। हरि के वंशज इन्द्रगिरि के कुल में इसी क्रम से अनेक राजा हुए। इन्द्रगिरि का पुत्र दक्ष हुआ, जो प्रजापति कहलाता था। उसकी पत्नी इलादेवी से इल नामक पुत्र हुआ। पुत्र के किसी कारण से इलादेवी दक्ष प्रजापति से रूठ गई। अतएव, वह सपरिवार पुत्र इल को लेकर अन्यत्र चली गई। इला ने ताम्रलिप्ति में इलावर्द्धन नाम का नगर बसाया और इसके पुत्र इल ने माहेश्वरी नगरी बसाई। इल का पुत्र पुलिन नाम का हुआ। कुण्ठी (कुबड़ी) मृगी को बाघ के सम्मुख खड़ी देखकर पुलिन ने सोचा कि यह इस क्षेत्र का प्रभाव है। बस उसने वहाँ 'कुण्ठिनी' नगरी बसा दी।

उसी वंश में इन्द्रपुर का अधिपति राजा वरिम हुआ। उसने संयती तथा वनवासी नाम से दो नगरियाँ बसाईं। उसी के वंश में कोल्लिकिर नगर में कुणिम नाम का राजा हुआ, जिसका वंशज महेन्द्रदत्त हुआ। महेन्द्रदत्त के पुत्र रिष्टनेमि और मत्स्य हुए। उनके आधिपत्य में गजपुर और भद्रिलपुर नगर थे। इन दोनों के सौ पुत्र हुए। इन्हीं के वंश में अयोधनु हुआ, जिसने 'शोध्य' नगर की स्थापना की। अयोधनु के वंश में मूल राजा हुआ, जिसका पुरोहित वन्ध्य हुआ। मूल के वंश में विशाल हुआ, जिसने मिथिला नगरी बसाई।^१

विशाल के कुल में हरिषेण हुआ और उसके कुल में नभःसेन। नभःसेन के कुल में शंख हुआ, जिसके कुल में भद्र और भद्र के कुल में अभिचन्द्र हुआ। उसके बाद उपरिचर (धरती के ऊपर-ऊपर चलनेवाला) राजा वसु हुआ, जिसका चेदिदेश की शुक्तिमती नगरी में, यज्ञ में पशुवध के विषय में 'अजैर्यष्टव्यम्' प्रयोग के 'अज' शब्द का 'बीज' के बजाय 'बकरा' अर्थ लगाने की बात पर पर्वतक और नारद के बीच विवाद हुआ और पशुहिंसा के निमित्त मिथ्या साक्ष्य उपस्थित करने के कारण वह देवों द्वारा निपातित होकर नरकगामी हुआ। राजा वसु के छह पुत्र राज्याधिपति हुए। किन्तु अभिनिविष्ट देवों ने उनका विनाश कर दिया। शेष बचे हुए, सुवसु और पृथग्ध्वज भी नष्ट हो गये। सुवसु मथुरा में राज्य करता था। राजा पृथग्ध्वज के वंश में सुबाहु हुआ, उससे दीर्घबाहु और फिर उससे वज्रबाहु हुआ। वज्रबाहु के कुल में अर्द्धबाहु और उससे भानु हुआ। भानु के वंश में सुभानु और उससे यदु हुआ।

१. संघदासगणी ने वैशाली की चर्चा नहीं की है। 'वाल्मीकिरामायण' (१.४.११-१२) तथा 'विष्णुपुराण' (४.१.४८-४९) के अनुसार इक्ष्वाकुवंशीय राजा विशाल ने विशालापुरी, अर्थात् वैशाली नगरी बसाई। बौद्ध साहित्य के अनुसार, इस नगरी को परिस्थितिबश कई बार विशाल करना पड़ा, इसलिए इसका नाम वैशाली हो गया। अनुमान है कि संघदासगणी के काल में वैशाली के बदले मिथिला नगरी ही लोक-प्रचलित थी, इसलिए उन्होंने राजा विशाल द्वारा मिथिला नगरी बसाने का उल्लेख किया है।—ले.

यदु के वंश में शौरि और वीर राजा हुए। शौरि ने शौरिपुर या शौर्यपुर बसाया और वीर ने सौवीर नगर की स्थापना की। राजा शौरि के दो पुत्र हुए : अन्धकवृष्णि और भोजवृष्णि। अन्धकवृष्णि के दस पुत्र हुए : समुद्रविजय (वसुदेव के सबसे बड़े भाई), अक्षोभ, स्तिमितसागर, हिमवन्त, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द्र और वसुदेव। ये दस दशार्ह कहलाये। दो पुत्रियाँ भी अन्धकवृष्णि के हुई—कुन्ती और माद्री। भोजवृष्णि के पुत्र का नाम उग्रसेन हुआ। इस प्रकार, हरिवंश का विस्तारोल्लेख कथाकार ने विशद रूप से किया है।

मथुरा शूरसेन-जनपद की राजधानी थी। वहाँ के सुदित सन्निवेश में ब्राह्मणों की आबादी थी। कंस ने शूरसेन देश पर वसुदेव के अधिकार को स्वीकार कर स्वयं उनका आरक्षी-मात्र बने रहने की आश्वस्ति दी थी। एक बार कंस वसुदेव को अतिशय सम्मान के साथ मथुरा ले गया था और वसुदेव वहाँ कुछ दिनों तक रहे थे। कंस की अनुमति (राय) से ही वसुदेव ने मृत्तिकावती के राजा देवक की पुत्री देवकी से विवाह किया था। यहाँ कथाकार ने कंस द्वारा वसुदेव के सात पुत्र माँगकर उन नवजात शिशुओं को मार डालने की मनोरंजक प्रबन्ध-कल्पना की है।

इस प्रकार, कथाकार द्वारा उपस्थापित दस भारतीय महाजनपदों का वर्णन ऐतिहासिकों एवं राजनीति के पर्यवेक्षकों के लिए अनेक अभिनव आयामों का उद्घाटन करता है। इसलिए, 'वसुदेवहिण्डी' के ऐतिहासिक एवं राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र मूल्यांकन की महत्ता शोध-अध्येताओं की प्रतीक्षा कर रही है।

कथाकार ने पूर्ववर्णित दस महाजनपदों के अतिरिक्त निम्ननिर्दिष्ट जनपदों का भी विशद और प्रामाणिक उल्लेख किया है :

प्राचीन जनपदों में आनर्त, कुशार्थ (कुशावर्त), सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) और शुकराष्ट्र का भी उल्लेखनीय महत्व था। ये चारों जनपद पश्चिम समुद्र (हिन्द महासागर) से संश्रित थे। कथाकार ने द्वारवती नगरी को इन चारों जनपदों की अलंकारभूता कहा है। यह भी विनीता नगरी की भाँति नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी थी। इसके परकोटे सोने के थे। इसे भी कुबेर ने अपनी वास्तुक मति से निर्मित किया था। लवणसमुद्र के बीच में बनी इस नगरी में जाने-आने के लिए 'सुस्थित' संज्ञक लवणाधिप देव रास्ता बनाते थे। यहाँ रत्न की वर्षा होने से कोई भी व्यक्ति दरिद्र नहीं था। रत्नों की प्रभा से यहाँ निरन्तर प्रकाश फैला रहता था। देवभवन के प्रतिरूप प्रासादों से मण्डित यह नगरी विशिष्ट चक्राकार भूमि पर बनी थी। इस नगरी के नागरिक विनीत, विज्ञानी, मधुरभाषी, दानवीर, दयालु, शीलवान्, सज्जन एवं सुन्दर वेशभूषा से अलंकृत थे। इसी नगरी के बाहर रैवतक पर्वत था। इस पर्वत के गगनचुम्बी शिखर रत्न की कान्ति से जगमगाते रहते थे। हरिवंश-कुल के प्रसिद्ध दस दशार्ह धर्म के दस भेद की तरह इसी द्वारवती नगरी में रहते थे।

चारुदत्त की यात्राकथा में जनपद के रूप में वर्णित खस, चीन, हूण, बर्बर, यवन, टंकण, उत्कल आदि का केवल नामतः उल्लेख हुआ है। सौराष्ट्र-जनपद का गिरिनगर सार्यवाहों के लिए व्यापार-केन्द्र था। उस समय सौराष्ट्र देश के प्रभासतीर्थ की बड़ी भारी महिमा थी। शाम्ब की उद्दण्डता के लिए कृष्ण ने उसे जब देश-निर्वसन का दण्ड दिया था, तब द्वारवती से वह सौराष्ट्र देश में जाकर रहने लगा था। यह राष्ट्र भी उक्त हरिवंशियों के ही अधीन था।

विदर्भ-जनपद की राजधानी कुण्डिनिपुर थी, जिसे हरिवंशियों ने ही बसाया था। यहाँ के राजा का नाम भीष्मक था, जिसकी परम रूपवती पुत्री रुक्मिणी का कृष्ण ने हरण कर लिया था। राजा भीष्मक का पुत्र रुक्मी धनुर्वेद में पारंगत था। कृष्ण ने जब उसकी बहन रुक्मिणी का हरण कर लिया था, तब उसने प्रतिज्ञा की थी कि बहन को मुक्त किये बिना कुण्डिनिपुर नहीं लौटूँगा। किन्तु कृष्ण ने उसे युद्ध में पराजित कर उसका दायाँ अँगूठा काट लिया। इस प्रकार, उसकी सारी धनुर्विद्या विफल हो गई। प्रतिज्ञानुसार रुक्मी कुण्डिनिपुर नहीं लौटा, अपितु एक स्वतन्त्र भोजकट नगर बसाकर वहीं रहने लगा।

कथाकार के अनुसार, कोंकण-विषय (जनपद) की राजधानी शूर्पारक थी। वहाँ के निवासी काश्यप नामक काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण के चरित्र-चित्रण से ऐसा प्रतीत होता है कि कोंकणी ब्राह्मण षट्कर्म (अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन एवं दान-प्रतिग्रह) में निरत रहते थे और उच्छ्रवृत्ति (खेत में गिरे अन्नकण को चुनकर उदरपूर्ति करना) से जीवन-यापन करते थे। ये ब्राह्मण जैन साधु के प्रति अगाध भक्ति रखते थे। काश्यप के घर जब मासोपवासी एक साधु आया था, तब उसने उसे ब्राह्मणों के लिए उपकल्पित भोजन से श्रद्धापूर्वक पारण कराया था। फलतः, उस (काश्यप ब्राह्मण) के घर में पंचदिव्य उत्पन्न हुआ था। इतना ही नहीं, साधु को पारण कराने के फलस्वरूप, उसे अगले जन्म में भी मनुष्य-यौनि की ही आयु प्राप्त हुई।

कथाकार ने कामरूप-जनपद का भी वर्णन किया है। चम्पा के राजा कपिल ने अपने महाश्वपति वसुपालित को कामरूप में अपना दूत नियुक्त किया था। इसी क्रम में वसुपालित ने अपनी रूपवती पुत्री वनमाला, कामरूप के राजा वसुदेव को अर्पित कर दी थी। संयोगवश, राजा मर गया और वनमाला कामरूप से आकर चम्पा-स्थित अपने घर वेदश्यामपुर में रहने लगी। वसुदेव जब भ्रमण करते हुए वेदश्यामपुर पहुँचे थे, तब वह उन्हें अपना देवर सहदेव मानकर, उनके गले से लगकर खूब रोई थी और अन्य लोगों को भी अपने देवर के रूप में ही उनका परिचय देकर उन्हें अपने घर ले आई थी, जहाँ उसने उनके लिए प्रीतिपूर्वक स्नान-भोजन की व्यवस्था कराई थी। कथाकार ने स्पष्ट किया है कि वसुदेव वनमाला के इस नाटक को समझ गये थे, किन्तु उन्हें तो यायावर स्थिति में कहीं भी अनुकूल आश्रय की अपेक्षा थी, इसलिए तत्काल वनमाला के सरस सान्निध्य में ही रहना उन्होंने नीतिसंगत समझा। इस वर्णन से कामरूप में मोहन-मन्त्र का प्रयोग करनेवाली स्त्रियों के रहने की लोकविश्रुत किंवदन्ती की भी व्यंजना होती है।

कथाकार ने श्रावस्ती को कहीं जनपद कहा है, कहीं नगरी। वास्तु की दृष्टि से श्रावस्ती नगरी सुप्रशस्त थी ('अखि सुष्यसत्त्व-वत्सुनिवेसा सावत्थी नगरी,' बन्धुमतीलम्प : पृ. २६५)। और, श्रावस्ती-जनपद के निकट ही उत्तर में सभी जनपदों में प्रमुख कोसल-जनपद था ('सावत्थी जनवयस्स उत्तरे दिसाभाए अणंतरिओ कोसला नाम जणवयो सव्वजणवयणहाणो'; प्रियंगुसुन्दरीलम्प : पृ. २८३)। यहाँ का राजा जितशत्रु था। वसुदेव की पत्नी बन्धुमती, श्रावस्ती नगरी के ही कामदेव सेठ का बेटी थी। श्रावस्ती का चौक उस युग में बड़ा मशहूर था। उस चौक पर रहनेवाली रंगपताका और रतिसेना नाम की गणिकाएँ मुरगे लड़वाने में बहुत रस लेती थीं। श्रावस्ती के राजा एणिकपुत्र के महाद्वारपाल गंगरक्षित पर रंगपताका की दासी ने एक

बार व्यंग्य भी कसा था कि वह गणिका के रसविशेष को नहीं जानता है। इस प्रकार, कथाकार द्वारा वर्णित श्रावस्ती नगरी की अनेक सांस्कृतिक विशेषताएँ 'वसुदेवहिण्डी' में कथाबद्ध हुई हैं।

कथाकार ने मिथिला-जनपद का भी वर्णन किया है, जो यथाप्राप्त वैदिक वर्णनों से भिन्न है। इस जनपद या नगरी के राजा जनक थे। इनका पुरोहित शुनकमेघ था, जो राजा की शान्ति के निमित्त छागमेघ करता था। राजा जनक के ही उद्यान की जुताई के समय, हल की नोक के आगे शिशु सीता मिली थी, जिसे मन्दोदरी के अमात्य चुपके से (तिरस्करिणी विद्या द्वारा) जनक की फुलवारी में रख आये थे। मिथिलानगरी का ही एक राजा पद्मरथ नाम का था। वह वासुपूज्य साधु का अनुयायी था। एक बार वासुपूज्य मुनि जब चम्पा में विहार कर रहे थे, तब उनकी वन्दना के लिए पद्मरथ मिथिला से चलकर चम्पापुरी गया था। मिथिला का ही एक दूसरा राजा सुमेरु था, जिसके तीन पुत्र थे : नमि, विनमि और सुनमि। ब्राह्मणों की मान्यता के अनुसार, नमि ने मिथिला की स्थापना की थी। कथाकार संघदासगणी के अनुसार, नमि ने पेशावर (पुरुषपुर) की लड़की अलम्बुषा से ब्याह किया था, जिससे शंखरथ नामक पुत्र हुआ था और शंखरथ से देवपुत्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अन्य सूचनानुसार, देवपुत्र, शंखरथ का ही दूसरा नाम था। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ (श्वेताम्बर मतानुसार स्त्री-तीर्थंकर मल्ली) मिथिला के ही रत्न थे, जिन्होंने सम्पेदशिखर पर निर्वाण प्राप्त किया था।

इन जनपदों के अतिरिक्त कथाकार ने कुणाल, शालिग्राम, सिंहलद्वीप, सिन्धु, सुकच्छ, श्वेता आदि और भी कई जनपदों की विषयबहुल विविध-विविन्न कथाओं का वर्णन किया है। वस्तुतः, कथाकार द्वारा प्रयुक्त विजय, विषय, जनपद, देश, नगर आदि प्रायः समानार्थी प्रतीत होते हैं और उन्होंने इनके प्रयोग में किसी सूक्ष्म भेदकता का विनियोग बहुत कम किया है। वर्णन की दृष्टि से, कुछ नगरों की तो उन्होंने इतनी अधिक चर्चा की है कि, उसकी महत्ता जनपद से भी अधिक हो उठी है। एक-एक नगर अपने-आपमें एक जनपद या देश की गरिमा से सम्पन्न हो उठा है। उदाहरण के लिए, मुख्यतया पोतनपुर, भद्रिलपुर, कम्पिल्लपुर, कुशाग्रपुर, अयोध्या, चम्पा, वाराणसी, हस्तिनापुर, ताम्रलिप्ति, चम्पूरचंचा, रथनूपुरचक्रवाल, गगनवत्सल आदि नगर विशेष उल्लेख्य हैं।

विद्याधरों का गगनवत्सल नगर तो अतीव विस्मयजनक था। कथाकार ने लिखा है : इसी प्रदेश में वैताढ्य नाम का पर्वत है। भारतवर्ष से पृथक्, इसके पूर्व और पश्चिम भाग की तलहटी को लवणजल का समुद्र पखारता रहता है। आकाशचारी विद्याधरों द्वारा अधिकृत इसकी उत्तर और दक्षिण दो श्रेणियाँ हैं। उत्तर श्रेणी में नभोविहार में समर्थ देवों के लिए भी विस्मयजनक गगनवत्सल नाम का नगर है। उसमें विद्याधरों के बल और माहात्म्य का मधन करनेवाला विद्युद्गुह्य नाम का राजा रहता था। उसने सभी विद्याधरों को अपने वश में कर लिया था। एक सौ दस नगरों से सुशोभित दोनों विद्याधर-श्रेणियों का उपभोग वह अपने पराक्रम से करता था।

कथाकार संघदासगणी ने जिन जनपदों और नगरों का वर्णन किया है, वे प्रायः सभी 'बृहत्कल्पसूत्रभाष्य' में भी उल्लिखित हैं। जैन उल्लेख के अनुसार, प्राचीन भारत में साढ़े पच्चीस राज्यों (भुक्तियों या जनपदों) का अस्तित्व भूगोल, इतिहास, राजनीति और धर्म की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखता था। तत्कालीन जनपदों और उसकी राजधानियों की स्थिति इस प्रकार थी :

भगध : राजगृह; अंग : चम्पा; वंग : ताम्रलिप्ति; कलिंग : कंचनपुर; काशी : वाराणसी ; कोशल : साकेत (अयोध्या, विनीता); कुरु : हस्तिनापुर (गजपुर) ; कुशार्थ : शौरि (शौर्य) ; पंचाल : कम्पिलपुर; जंगल : अहिच्छत्रा; सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) : द्वारवती (द्वारका) ; विदेह : मिथिला; वत्स : कौशाम्बी; शाण्डिल्य : नन्दिपुर; मलय : भद्रिलपुर; मत्स्य : वैराट; वरणा (वरुण) : अच्छा; दशार्ण : मृत्तिकावती; चेदि : शुक्तिमती; सिन्धु-सौवीर : वीतिभय; शूरसेन : मथुरा; भंगि : पावा; पुरुवर्त (प्रा. पुरिवट्ट) : मासपुरी; कुणाल : श्रावस्ती; लाट : कोटिवर्ष एवं केकयाद्व : श्वेतविका ।

कथाकार संघदासगणी ने बृहत्कल्पसूत्रभाष्योक्त जनपदों और नगरों की भौगोलिक सीमा के आधार पर भूगोलशास्त्रियों द्वारा यथापरिकल्पित महाजनपथ को ही वसुदेव के हिण्डन की पथ-पद्धति के रूप में चित्रित किया है । और इस प्रकार, उन्होंने 'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं के माध्यम से प्राचीन भारत की पथ-पद्धति का भी निर्देश कर दिया है ।

निष्कर्षतः, ज्ञातव्य है कि वसुदेव की यात्रा या परिभ्रमण-वृत्तान्त में वर्णित सुख और दुःख प्राचीन युग की पथ-पद्धति की भौगोलिक स्थिति और उसकी सुरक्षा से सम्बद्ध हैं । इस क्रम में कथाकार ने उन प्राचीन पथों की कल्पना की है, जिनका व्यवहार हमारे विजेता राजे-महाराजे, तीर्थयात्री, सार्ववाह और पर्यटक या घुमक्कड़ समान रूप से करते थे । प्राचीन भारत में कुछ बड़े शहर अवश्य थे, पर देश की अधिक बस्तियाँ गाँवों में थीं और देश का अधिक भाग जंगलों से आच्छादित था, जिनसे होकर सड़कें निकलती थीं । इन सड़कों पर जंगली जानवरों और लुटेरों का भय बराबर बना रहता था । यात्रियों को स्वयं पाथेय का प्रबन्ध करके चलना पड़ता था । इन पथों पर अकेले यात्रा करना खतरनाक था, इसलिए सार्थ साथ चलते थे । इनके साथ यात्री निर्भय होकर यात्रा कर सकते थे । सार्थ केवल व्यापारी ही न थे, अपितु भारतीय संस्कृति के प्रसारक भी थे । कथाकार ने वसुदेव की यात्रा के व्याज से तत्कालीन भौगोलिक और राजनीतिक आसंग को कथा की आस्वाद्यता के साथ रुचिर-विचित्र शैली में उपन्यस्त तो किया ही है, अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों की अध्ययन-सामग्री भी परिवेष्टित की है, जिसका सांस्कृतिक दृष्टि से अनुशीलन स्वतन्त्र शोध का विषय है ।

(ड) दार्शनिक मतवाद

भारतीय सांस्कृतिक चेतना में धार्मिक और दार्शनिक चिन्तनधारा का प्रासंगिक महत्त्व है । सांस्कृतिक इतिहास की पूर्णता, समसामयिक दार्शनिक मतवाद की विवेचना से सहज ही जुड़ी रहती है । दर्शन-दीप्त मनीषा से मण्डित कथाकार संघदासगणी ने तत्कालीन दार्शनिक जगत् का, बड़ी विचक्षणता से, वर्णन उपन्यस्त किया है । कथाकार ने अनेक दार्शनिकों, सम्प्रदायों और भिक्षुओं के नामों की चर्चा की है, जो उस समय के धार्मिक आन्दोलनों में प्रमुख भाग ले रहे थे ।

संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' में ब्राह्मणों और श्रमणों के दार्शनिक मतवादों के बीच संघर्ष या शास्त्रार्थमूलक स्थिति को दरसाते हुए श्रमणों की दार्शनिक चिन्तनधारा को उत्कृष्ट घोषित किया है । इसी क्रम में उन्होंने ब्राह्मणों के वेद को अनार्यवेद और जैन श्रमणों के वेद को आर्यवेद कहा है । 'वसुदेवहिण्डी' में प्रतिपादित अथर्ववेद भी अनार्यवेद का ही प्रतिकल्प है । हिंसामूलक यज्ञ का समर्थक होने के कारण ब्राह्मणों के वेद की संज्ञा 'अनार्यवेद' हुई और अहिंसापरक तप, स्वाध्याय आदि का समर्थक श्रमणों का वेद 'आर्यवेद' के नाम से समुद्धोषित हुआ । कुल मिलाकर,

‘कथाकार’ ने अहिंसा को ही जैनदर्शन की मूल धुरी सिद्ध की है। ज्ञातव्य है कि धर्म आचारपरक होता है और दर्शन विचारपरक। कथाकार संघदासगणी के दार्शनिक विचारों का आभास उनके द्वारा वर्णित धार्मिक आचारों के माध्यम से ही मिलता है। इस प्रकार, उनकी दृष्टि में धर्म और दर्शन अन्योन्याश्रित हैं।

संघदासगणी ने कुल सात धर्म-सम्प्रदायों का उल्लेख किया है और कथा के सूत्र में ही यत्र-तत्र दार्शनिक तथ्यों को पिरो दिया है। फलतः, उनकी विचारधारा में धर्म और दर्शन साथ-साथ चलते हैं। और इस प्रकार, उनका साम्प्रदायिक मतवाद ही दार्शनिक मतवाद का प्रतिरूप हो गया है। प्रत्येक सम्प्रदाय का एक सिद्धान्त या दर्शन होता है। विना दार्शनिक दृष्टिकोण के कोई सम्प्रदाय पनप नहीं सकता। परवर्ती काल में, आचार-पक्ष से सर्वथा स्वतन्त्र रूप में, विचार-पक्ष पर जोर डाला गया, जो जैन दर्शन के उत्तरोत्तर चिन्तन-विकास या प्रगति का साक्ष्य है। प्रायः प्रत्येक भारतीय धर्म और सम्प्रदाय में आचार से विचार-पक्ष की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। बौद्धों का हीनयान मुख्यतया आचारपक्ष-प्रधान है, तो महायान विचारपक्ष-प्रधान। महायान-परम्परा के शून्यवादी माध्यमिकों तथा योगाचारी विज्ञानाद्वैतवादियों ने बौद्ध विचारधारा को अधिक पुष्ट और प्राणवन्त बनाया। इसी प्रकार, वेदान्तियों की पूर्वमीमांसा में आचारवाद का आग्रह है, तो उत्तरमीमांसा में विचार-पक्ष की प्रबलता। सांख्य और योग में भी सांख्य का मुख्य वैचारिक प्रयोजन तत्त्व-निर्णय है, तो योग का मुख्य आचारिक ध्येय है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इन अष्टांगमूलक यौगिक क्रियाओं द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध। इसी प्रकार, जैन परम्परा को भी आचार और विचार की भेदकता के साथ स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार के दो भेद स्पष्टतया उल्लिखित नहीं हैं। आचार और विचार की धाराएँ युगपत् प्रवाहित होती हैं। संघदासगणी का दृष्टिकोण यही है। इसलिए, उन्होंने परम्परागत रूप से आचार के नाम पर अहिंसा का ततोऽधिक व्यापक धर्म-दर्शन के समेकित रूप में विचार किया है। क्योंकि, अहिंसा ही जैनधर्म के महार्णव का प्राणतरंग है।

जैनाचार्य संघदासगणी ने जैन धर्म और दर्शन का आधिकारिक विचार किया है और उसी क्रम में सात जैनैतर सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। जैसे : चोक्ष या चौक्ष-सम्प्रदाय, त्रिदण्डी-सम्प्रदाय, दिशाप्रोक्षित-सम्प्रदाय, नास्तिकवादी सम्प्रदाय, भागवत-सम्प्रदाय, ब्राह्मण-सम्प्रदाय और सांख्य-सम्प्रदाय। धर्म की दृष्टि से इन सम्प्रदायों पर यथास्थान पंहेले विवेचन किया जा चुका है। यहाँ केवल दार्शनिक मतवादों पर ही नातिदीर्घ चर्चा अपेक्षित होगी।

कथाकार ने जगह-जगह अनात्मवादी नास्तिकों को आड़े हाथों लेने की गुंजाइश निकाली है। नास्तिकवादियों में हरिश्मश्रु नामक दार्शनिक की तो विशेष चर्चा कथाकार ने की है। हरिश्मश्रु नास्तिकवादी था। वह भारतवर्ष के वैताद्व्य पर्वत की उत्तर श्रेणी में स्थित चमरचंचा नगरी के विद्याधरराज मयूरीव के पुत्र राजा अश्वग्रीव का अमात्य था। अश्वग्रीव सभी विद्याधरों और भारतवासी राजाओं को जीतकर रत्नपुर में राज्यश्री का भोग करता था। हरिश्मश्रु ने राजा अश्वग्रीव को नास्तिक-धर्म में दीक्षित किया था।

भारतीय दार्शनिकों ने कर्म-सिद्धान्त के विवेचन के क्रम में नास्तिकवादी सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है। भूतवादी, भूतचैतन्यवादी, अनात्मवादी आदि नास्तिकवादियों, यानी शरीर से भिन्न आत्मा

को स्वीकार न करनेवालों के ही अपर पर्याय हैं। भूतवादियों की मान्यता के अनुसार, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों भूतों (भूतचतुष्टय से ही सभी जड़-चेतन पदार्थ उत्पन्न होते हैं) के अतिरिक्त चेतन या अचेतन नामक तत्त्व की सत्ता इस संसार में नहीं है। भूतवादियों की दृष्टि में नास्तिकेतर दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत आत्मतत्त्व या चेतन तत्त्व भौतिक ही हैं। अवस्था-विशेष में भूतों के माध्यम से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है। जैसे : पान, सुपारी, कत्था, चूना आदि के संयोग से मुख में स्वयं लाली उत्पन्न हो जाती है।^१ या फिर, जिस प्रकार किण्व (मदिरा के निर्माण में खमीर उठानेवाला बीज या अन्य जड़ी-बूटी) आदि द्रव्यों में मादक शक्ति नहीं होती, अपितु उनके मिश्रण से मदिरा में मादकशक्ति स्वतः उद्भूत हो जाती है ('किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् तेभ्यश्च चैतन्यम्')। इसी प्रकार, भूतवादियों या भूतचैतन्यवादियों की दृष्टि में आत्मा भौतिक शरीर से भिन्न तत्त्व सिद्ध न होकर शरीर-रूप ही सिद्ध होता है। इसीलिए, चार्वाक ने चैतन्य-विशिष्ट शरीर को ही आत्मा कहा है ('चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः')।

'सूत्रकृतांग' (२.१) में वर्णित 'तज्जीवतच्छरीरवाद' तथा 'पंचभूतवाद' भी भूतवादी मान्यता से सम्बद्ध हैं। 'तज्जीवतच्छरीरवाद' का मन्तव्य है कि शरीर और जीव या आत्मा एक हैं, दोनों में कोई भेद नहीं है। इसे ही अनात्मवाद या नास्तिकवाद कह सकते हैं। पंचभूतवाद की मान्यता के अनुसार, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच भूत ही यथार्थ हैं और इन्हीं से जीव या आत्मा की उत्पत्ति होती है। 'सूत्रकृतांग' के इन दोनों वादों में सूक्ष्म अन्तर यह प्रतीत होता है कि पहले, तज्जीवतच्छरीरवादियों के मत से शरीर और जीव एक ही है, अर्थात् दोनों में अभिन्नत्व-सम्बन्ध है और दूसरे, पंचभूतवादियों के मत से पंचभूत के मिश्रण से निर्मित शरीर में जीव स्वयं उद्भूत होता है और शरीर के नष्ट होने पर वह (जीव) भी नष्ट हो जाता है।

भूतवादी, चूँकि शरीर से आत्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करते, इसलिए वे पुनर्जन्म तथा परलोक की सत्ता में विश्वास नहीं रखते। उनकी दृष्टि में जीवन का एकमात्र लक्ष्य ऐहलौकिक या भौतिक सुख की प्राप्ति है। इसी विचार को दृष्टि में रखकर वैयाकरणों या शब्दशास्त्रियों ने भौतिकवादी नास्तिक-दर्शन के प्रवर्तक 'चार्वाक'^२ के नाम की व्याख्या इस प्रकार की है : 'चार्वाक' शब्द की व्युत्पत्ति 'चर्व्' अदने धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ चबाना या भोजन करना होता है। चूँकि, इस सम्प्रदाय में खान-पान और भोग-विलास पर अधिक आग्रह प्रदर्शित किया गया है, इसलिए इसका 'चार्वाकदर्शन' नाम उपयुक्त प्रतीत होता है।^३ आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार, जो पुण्य-पाप आदि रूप परोक्ष फल का चर्वण (नाश) करते हैं, अर्थात् तत्त्वतः इसे स्वीकार नहीं करते, वे चार्वाक हैं। 'शब्दकल्पद्रुम' में राधाकान्तदेव ने चारु + वाक् से चार्वाक की निष्पत्ति मानी है। चार्वाकों के वचन (उपदेश) लोगों को स्वभावतः चारु, मधुर या आपातमनोरम प्रतीत होते हैं, इसलिए उन्हें चार्वाक कहा जाता है (चारु, आपातमनोरमः लोकचिन्ताकर्षकः वाकः वाक्यमस्य)। काशिकावृत्ति के अनुसार, 'चार्वा' शब्द से भी 'चार्वाक' के निष्पन्न होने का संकेत मिलता है।

१. जड़भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।

ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम् ॥—सर्वसिद्धान्तसंग्रह : २.७

२. चर्वन्ति भक्षयन्ति तत्त्वतो न मन्यन्ते पुण्यपापादिकं परोक्षजातमिति चार्वाकः । —उणादिसूत्र

३. पिब खाद च जातशोभने ... । —षड्दर्शनसंग्रह : पृ. ३

चार्वी, बुद्धि को कहते हैं और बुद्धि से सम्बद्ध आचार्य को भी 'चार्वी', कहा जाता था।^१ चार्वाकदर्शन को लोकख्याति अधिक प्राप्त हुई, इसलिए इसे 'लोकायत', भी कहा जाता है।

डार्विन के प्रसिद्ध विकासवादी सिद्धान्त भी चार्वाक के भूतवाद से ही प्रतिरूपित है। डार्विन के सिद्धान्त का सार यही है कि प्राणियों की शारीरिक तथा जैविक शक्ति का विकास क्रमशः होता है। जड़तत्त्व के साथ ही चैतन्य का भी विकास होता चलता है। चैतन्य जड़तत्त्व का ही एक अंग है, उससे भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। चेतना-तत्त्व का विकास जड़तत्त्व के विकास से अनुबद्ध है।

जैनदर्शन, अनेकान्तवादी विचारधारा का समर्थक होने के कारण न तो एकान्ततः भूतवादी है, न ही अभूतवादी, अपितु वह भूताभूतवादी है। इसलिए, कर्म-सिद्धान्त का विचार करते समय उसने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि पुद्गल और आत्मा, अर्थात् जड़ और चेतन तत्त्वों के सम्मिश्रण से ही कर्म का निर्माण होता है। अनेकान्तवादी जैन सिद्धान्त में चेतन और जड़ पदार्थों के नियन्त्रक एवं नियामक रूप में पुरुषविशेष, अर्थात् ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। उसके मत से विश्व अनादि एवं अनन्त है। प्राणी स्वकृत कर्मों के अनुसार ही संसार में जन्म-मरण का अनुभव करते हैं। यह संसार-चक्र बिना किसी पुरुषविशेष की सहायता के स्वभावतः स्वतः चलता रहता है। कर्म से ही प्राणी के जन्म, स्थिति, मरण आदि की सिद्धि होती है। कर्म अपने नैसर्गिक या स्वाभाविक गुण के अनुसार स्वतः फल देता है। इसलिए पुद्गल और आत्मा की प्रधानता और अप्रधानता के कारण कर्म के दो रूप हो जाते हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। भावकर्म में आत्मिक या चैतन्य-तत्त्व और द्रव्यकर्म में पौद्गलिक या जड़तत्त्व की प्रधानता रहती है। तात्त्विक दृष्टि से आत्मा और पुद्गल के सम्मिश्रण से ही संसारी आत्मा का निर्माण होता है। कर्म का कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि का सम्बन्ध इसी संसारी आत्मा से है।

जैनदर्शन के सिद्धान्त के अनुसार, भौतिक तत्त्वों के विशिष्ट संयोग से आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, अपितु उस (आत्मा) का स्वतन्त्र अस्तित्व है और वह चैतना-लक्षण-रूप है, अर्थात् चैतन्य ही आत्मा का धर्म है। जीव का वाच्य अर्थ ही आत्मा है और यह व्युत्पत्तियुक्त और शुद्ध पद है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में जीव का लक्षण प्रस्तुत करते समय 'उपयोग' शब्द का प्रयोग किया गया है।^२

'उपयोग' का अर्थ है—बोधरूप व्यापार। बोध का कारण चेतनाशक्ति है। बोध या चेतनाशक्ति आत्मा में ही होती है, जड़ में नहीं। 'आचारांगसूत्र'^३ में ज्ञान को ही आत्मा कहा गया है। ज्ञानात्मक जीव या आत्मा ही ज्ञाता है और अजीव ज्ञेय है।

संघदासगणी ने जैनदृष्टि से आत्मा का बहुत ही प्रांजल और प्रामाणिक विवेचन कथा के माध्यम द्वारा (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५९) उपस्थापित किया है। अयोध्यानगर के राजा सुमित्र की पुत्री बुद्धिसेना (जो सुप्रबुद्धा नाम की गणिका से उत्पन्न हुई थी) की आत्मा-विषयक जिज्ञासा की पूर्ति के क्रम में छत्राकारनगर के प्रीतिकर नामक राजर्षि (पहले राजा, बाद में प्रव्रजित साधु) के मुख से कथाकार ने कहलवाया है कि जीव-अजीव और बन्ध-मोक्ष के विधान के सम्यग्दृष्टा आर्हतों

१. नयते चार्वी लोकायते चार्वी बुद्धिः तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी, स च लोकायते शास्त्रे ... । (१.३.३९)

२. उपयोगो लक्षणम् । —उमास्वामिः : तत्त्वार्थसूत्र : २.८

३. जे आया से विण्णाणे जे विण्णाणे से आया । (आचारांगसूत्र)

के उपदेशानुसार, आत्मा युवा, वृद्ध आदि पर्यायों से युक्त है। जीव, आत्मा, प्राणी, भूत, सत्त्व, स्वयम्भू आदि उसके नाम हैं। यदि आत्मा न रहे, तो पुण्य-पाप के फल का कोई मूल्य नहीं। आत्मा है, इसलिए तो विविध कर्मानुभागी देहधारियों में सुकृत-दुष्कृत के फल का प्रत्यक्ष परिणाम उपलब्ध होता है। इसीलिए, जीवों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। द्रव्यार्थ की दृष्टि से जीव नित्य है। संसाराश्रित होने पर उसका स्त्री-पुरुष के रूप में उत्पाद होता है और फिर भाव (वस्तु) के विनाश की स्थिति में वह अशाश्वत या अनित्य है। विभिन्न व्यापारों को प्राप्त कर आत्मा प्रमत्त हो जाता है, करण-सहित होने पर कर्ता कहलाता है और वह स्वयंकृत शुभाशुभ कर्म के फलोदय का भोग करनेवाला है। अपने कर्मानुसार ही उसका शरीर सूक्ष्म और बादर (छोटा और बड़ा) आकार धारण करता है। राग-द्वेषवश तथा कर्ममल से कलंकित होने पर वह नारकी, तिर्यच, मनुष्य और देवत्व में भ्रमण करता है और सम्यक्त्व-ज्ञान होने पर वह तपोजल से प्रक्षालित होकर मुक्त हो जाता है। स्पष्ट ही, कथाकार द्वारा निर्धारित आत्मा की मुक्ति का यह प्रसंग 'तत्त्वार्थसूत्र' की 'सर्वार्थसिद्धिटीका' (देवनादि पूज्यपाद : चतुर्थ-पंचम शती) में प्रतिपादित मोक्ष के लक्षण पर आश्रित है। लक्षण इस प्रकार है: 'निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलंकस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति।'

'श्रीमद्भगवद्गीता' के आलोक में जैन सिद्धान्त पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि किसी असत् का सत् रूप से उत्पाद नहीं होता और न किसी सत् का अत्यन्त विनाश या अभाव ही होता है।^१ जितने सत् हैं, उनमें न तो एक की वृद्धि होती है, न ही एक की हानि। हाँ, रूपान्तर या पर्यायान्तर प्रत्येक का होता रहता है। यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार, आत्मा एक स्वतन्त्र सत् है। संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि संसारी आत्मा शुद्ध होता, तो शरीर-सम्बन्ध का कोई कारण नहीं था। राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि के भाव ही शरीर-सम्बन्ध या पुनर्जन्म के कारण हैं। जैनदर्शन में अमूर्त आत्मा को व्यवहार-नय से मूर्त माना गया है; क्योंकि अनादिकाल से यह जीव शरीरानुबद्ध ही दृष्टिगत होता आया है। स्थूल शरीर छोड़ने पर भी सूक्ष्म कर्मशरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्मशरीर के नाश को मुक्ति कहते हैं। नास्तिक-सम्प्रदाय के प्रवर्तक चार्वाक का देहात्मवाद देह के साथ ही आत्मा की भी समाप्ति मानता है। किन्तु जैनों के देहपरिमाण-आत्मवाद में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता होकर भी उसका विकास, अशुद्ध दशा में, देहाश्रित या देहनिमित्तक माना गया है।^२

उपर्युक्त अनात्मवादी या देहात्मवादी नास्तिकों तथा देहपरिमाण-आत्मवादी जैनों के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में यहाँ जैन कथाकार द्वारा प्रतिपादित हरिश्मश्रु के नास्तिकवादी सिद्धान्त का पर्यालोचन प्रासंगिक एवं समंजस होगा।

संघदासगणी ने हरिश्मश्रु तथा अश्वघोष के कथोपकथन के माध्यम से नास्तिकवादी सिद्धान्त या धारणा का उल्लेख इस प्रकार किया है: 'शरीर से भिन्न आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है; न पुण्य है, न पाप और उसका फल भोगनेवाला भी कोई नहीं है। नरक भी नहीं है, न देवलोक

१. (क) नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।—श्रीमद्भगवद्गीता : २. १६.

(ख) भावस्य णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।—पंचास्तिकाय : १५

२. विशेष विवरण के लिए ड्र. 'जैनदर्शन' : प्रो. महेन्द्रकुमार जैन : पृ. २२७

ही है। यह सब केवल सुनने की वस्तु है।' इसपर अश्वघोष ने हरिश्मश्रु से पूछा : 'हमें जो बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त है, वह तो अवश्य ही किसी पुण्यफल से अर्जित है। मैं सम्प्रति श्रमण, ब्राह्मण और दीनजनों को दान देता हूँ तथा शील और काल को उद्दिष्ट कर तप करता हूँ, इससे मेरा परलोक सिद्ध होगा। तब, हरिश्मश्रु बोला : स्वामी ! कोई ऐसा जीव नहीं है, जिसके लिए परलोक में हित खोजा जाय। देह के भिन्न कोई जीव होता, तो जीस प्रकार पिंजरे से पंछी को बाहर निकलते देखा जाता है, उसी प्रकार देह के जीव को निकलते हुए देखा जाता। ऐसा जानिए कि पांच महाभूतों का, मनुष्य संज्ञा से कोई संयोग घटित होता है, इसी को लोग अज्ञानतावश जीव कहते हैं। जिस प्रकार दर्शनीय इन्द्रधनुष्य यदृच्छा (संयोग)-वश उत्पन्न होता है और फिर वही यदृच्छावश नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस संसार में कोई ऐसी सारभूत वस्तु नहीं है, जो नष्ट होने पर परभव में संक्रमण करे। पंडितों (ज्ञानी पुरुषों ने न पाप का वर्णन किया है, न ही पुण्यफल का, इसी प्रकार न तो नरकभय और न देवलोक के सौख्य का ही वर्णन किया है। इसलिए, परलोक के (काल्पनिक) हेतु का परित्याग करें। परीक्षक की दृष्टि से यह विश्वास रखें कि देह से भिन्न जीव नहीं है। इस प्रकार, हरिश्मश्रु ने धर्मान्मुख अश्वघोष को देहात्मवादी नास्तिक धारणा के विषय में अनेक प्रकार से समझाया (पृ. २७५)।

कथाकार के संकेत से यह ज्ञात होता है कि हरिश्मश्रु की नास्तिकवादी अवधारणा का तत्कालीन राजकुलों पर व्यापक प्रभाव पड़ा था और उसी आधार पर राजे-महाराजे अपनी बेटियों से भी यौन सम्बन्ध की स्थापना में किसी प्रकार की हिचक का अनुभव नहीं करते थे। कथा है कि पोतनपुर के राजा दक्ष ने, अपनी पुत्री भृगावती के रूप-सौन्दर्य पर मोहित होकर, जब उसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा, तब वह बोली : 'तात ! मुझे अपवचन कहना आपके लिए उचित नहीं है। क्या आप पाप से नहीं डरते ? इस प्रकार सज्जनों द्वारा निन्दनीय वचन बोलना बन्द करें। आप न ऐसा बोलें और न मैं ऐसा सुनूँ।' इस प्रकार पुत्री के इनकार करने पर राजा दक्ष ने हरिश्मश्रु के नास्तिकवादी सिद्धान्त का साक्ष्य उपस्थित करते हुए उससे कहा : 'तुम परमार्थ नहीं जानती हो। क्या तुमने महापण्डित हरिश्मश्रु द्वारा पूर्वकथित मत नहीं सुना ? देह से भिन्न कोई जीव नहीं है, जो विद्वानों द्वारा वर्णित पुण्य या पाप का फल भोगे। इसलिए, पाप नाम की कोई वस्तु नहीं है।' अन्त में, भृगावती राजा के फुसलावे में आ गई और अपने पिता की ही अंकशायिनी बन गई (तत्रैव : पृ. २७६)। इस प्रकार, कथाकार ने नास्तिकवादियों के विकृत भोगवाद के असम्बोध्य एवं सातिशय घृणित पक्ष का परदाफाश किया है।

कथाकार ने, पापाचारी नास्तिकों के दारुण दुःख भोगने के प्रसंग द्वारा नास्तिकवादी अवधारणा को त्याज्य सिद्ध किया है। हरिश्मश्रु को नास्तिकवाद के प्रचार के कारण, दर्शनमोहनीय (अनाप्त में आप्त या आप्त में अनाप्त बुद्धि तथा अपदार्थ में पदार्थ या पदार्थ में अपदार्थ बुद्धि का उदय) कर्म का संचय होने से दीर्घकाल तक दुःख-परम्परा का अनुभव करना पड़ा और असंख्य वर्षों तक अनेक तिर्यक् योनियों में भटकना पड़ा। इसलिए कि जैनों के देह-परिमाण-आत्मवादी सिद्धान्त के अनुसार हरिश्मश्रु का स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर भी कर्मशरीर बराबर उसके साथ लगा रहा। इसी प्रकार, हरिश्मश्रु के अनुयायी राजा अश्वघोष को भी, नास्तिकवादी मत के आचरण से संचित पाप के फलस्वरूप, तमतमा नाम की नरक की छठी भूमि में तैंतीस सागरोपम काल तक दुःख भोगना पड़ा और तिर्यक्, नारकीय एवं कुमनुष्य के भव से अनुबद्ध संसार में चक्कर काटना पड़ा (तत्रैव : पृ. २७८)।

इस प्रकार, कथाकार संघदासगणी ने अपनी महत्कृति 'वसुदेवहिण्डी' में यथाप्रसंग नास्तिकवादी धारणा की आलोचना उपस्थित करते हुए अनेकान्तवादी जैन धारणा का पक्ष-समर्थन किया है। चौथे नीलयशालम्भ (पृ. १६९) में कथाकार ने नास्तिकवादी सिद्धान्त के स्वरूप का निरूपण करते हुए नास्तिकवादिता के कारण होनेवाली जघन्य मृत्यु की कथा का उल्लेख किया है। गन्धार-जनपद के गन्धिलावती विजय की राजपरम्परा में कुरुचन्द्र नाम का राजा था। उसकी रानी का नाम कुरुमती और पुत्र का नाम हरिश्चन्द्र था। राजा नास्तिकवादी था। उसकी धारणा थी : इन्द्रियों के समाहार से ही पुरुष की रचना होती है, जिस प्रकार मद्य के अंगभूत पदार्थों के मिलने से मद की उत्पत्ति होती है। एक भव से दूसरे भव में संक्रमण भी नहीं होता है। देवों और नारकियों में कोई भी सुकृत और दुष्कृत का फल नहीं भोगता। इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने अनेक जीवों का वध करना प्रारम्भ किया। छुरे की पैनी धार की तरह क्रूर वह राजा शीलरहित और व्रतविहीन था। जीव-वध करते हुए उसके बहुत वर्ष बीत गये। मृत्यु के समय असात-वेदनीय (दुःख के कारणभूत कर्म) की बहुलता से नरक-गति के अनुरूप पुद्गल-परिणाम हुआ, फलतः दर्शनमोहनीयवश उसे आप्त में अनाप्त तथा पदार्थ में अपदार्थ बुद्धि का उदय हो आया— श्रुतिमधुर गीत को वह आक्रोश (चीख-चिल्लाहट) समझने लगा। मनोहर रूप भी विकृत दिखाई पड़ने लगे। दूध और शक्कर में उसे बदबू आने लगी। चन्दन का लेप गोइटे के अंगारे जैसा लगता। हंस के रोए की तरह मुलायम रुई के बिछावन काँटों की झाड़ी के समान मालूम होते। राजा के इस विपरीत भाव को जानकर रानी कुरुमती और पुत्र हरिश्चन्द्र उसकी प्रच्छन्न परिचर्या में लग गये। अन्त में, परम दुःखी राजा कुरुचन्द्र तड़प-तड़पकर मर गया। इस प्रकार, जैनों के कर्मसिद्धान्त के अनुसार, राजा को स्वकृत दुष्कर्म का फल भोगना पड़ा।

कथाकार ने आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता या देहपरिमाण-आत्मवाद की जैन धारणा को भी कथा में निबद्ध किया है। चमरी मृग के भव में स्थित श्रीभूति का शरीर जंगली आग से झुलस जाने के कारण वह मरकर वैरानुबन्ध-जनित जन्म-परम्परा में कुक्कुटसर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। बीच जंगल में पहुँचने पर उस सर्प की दृष्टि हाथी (पूर्वभव का वैरी सिंहसेन) पर पड़ी। रुष्ट होकर साँप ने हाथी को काट खाया। जब विष पूरा चढ़ गया, तब हाथी नमस्कार-मन्त्र जपने लगा और सोचने लगा : 'यही उत्तम समय है, मेरा शरीर मुझसे भिन्न है और मैं शरीर से भिन्न हूँ। इस प्रकार, प्रशस्त ध्यान में अवस्थित हाथी मृत्यु को प्राप्त कर महाशुक्र कल्प के श्रीतिलक विमान में सत्रह सागरोपम कालावधि तक के लिए देव हो गया (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५७)। यहाँ कथाकार ने आत्मा का रूपान्तरण प्रदर्शित करके उसे 'स्वतन्त्र सत्' के रूप में उपन्यस्त किया है।

कथाकार ने कथा के माध्यम से जैनों के पुनर्जन्मवाद और परलोकसिद्धि के विविध प्रसंग उपवर्णित किये हैं। पुनर्जन्म और परलोक-गमन के सन्दर्भ में, 'राजवार्त्तिक' आदि जैनशास्त्रों में 'मरणान्तिक समुद्घात' नामक क्रिया का वर्णन किया गया है। इस क्रिया में, मरणकाल के पहले आत्मा के कुछ प्रदेश अपने वर्तमान शरीर को छोड़कर भी बाहर निकलते हैं और अपने आगामी जन्म के योग्य क्षेत्र का स्पर्श कर वापस आ जाते हैं। आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म-शरीर भी जाता है। जब कोई प्राणी अपने पूर्व शरीर को छोड़ता है, तब उसके जीवन-भर के विचारों, वचन-व्यवहारों और शरीर की क्रियाओं से जिस-जिस प्रकार के संस्कार आत्मा पर और आत्मा से चिरसंयुक्त कर्म-शरीर पर पड़े हुए होते हैं, अर्थात् कर्मशरीर के साथ संस्कारों के प्रतिनिधिभूत

पुद्गल द्रव्यों का, जिस प्रकार के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि परिणामों से युक्त होकर सम्बन्ध हुआ रहता है, कुछ उसी प्रकार के अनुकूल परिणामवाली परिस्थिति में आत्मा नूतन जन्म ग्रहण करता है।^१ इसीलिए, जिसके जीवन में सदा धर्म और सदाचार की परम्परा सम्बद्ध होती है, उसके कर्मशरीर में प्रकाशमय, लघु और स्वच्छ परमाणुओं का प्राचुर्य रहता है और उसका गमन लघु होने के कारण स्वभावतः प्रकाशमय ऊर्ध्वलोक की ओर होता है। फिर जिसके जीवन में पापमूलक, तमोयुक्त गुरु परमाणुओं की बहुलता होती है, वह स्वभावतया नीचे तमोलोक की ओर जाता है। इसी तथ्य को सांख्य ने भी कहा है : 'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण' (सांख्यकारिका : ४४)।'

संघदासगणी ने नन्दिसेन की आत्मा के वसुदेव की आत्मा के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण करने के क्रम में 'मरणांतिक समुद्घात' की क्रिया का निरूपण किया है। साधुओं की सेवावृत्ति के साथ श्रामण्य का अनुपालन करते हुए नन्दिसेन के पचपन हजार वर्ष बीत गये। मृत्यु के समय, उसे मामा की तीनों कन्याओं द्वारा दुर्भाग्यवश न चाहने की बात ध्यान में आ गई। उसने निदान (संकल्प) किया : 'तप, नियम और ब्रह्मचर्य के फलस्वरूप आगामी मनुष्य-भव में, मैं रूपसी स्त्रियों का प्रिय होऊँ।' यह कहकर वह मर गया और महाशुक्र स्वर्ग में इन्द्रतुल्य देव हो गया और वही पुनः महाशुक्र से च्युत होकर परमरूपवान् वसुदेव के रूप में उत्पन्न हुआ, जिनके रूप से स्त्रियाँ विमोहित हो जाती थीं (श्यामा-विजयालम्भ : पृ. ११८)। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' 'मरणांतिक समुद्घात' की क्रिया द्वारा पुनर्जन्म या आत्मा के नूतन शरीर धारण करने की प्रक्रिया से सम्बद्ध कथाओं से परिव्याप्त है।

पुनर्जन्मवादी, कथाकार ने पूर्वजन्मार्जित संस्कार, परलोक के अस्तित्व की सिद्धि और धर्म के फल की प्राप्ति के प्रति विश्वास उत्पन्न करनेवाली सुमित्रा की कथा को विशेष रूप से शीर्षीकृत किया है। इस कथा का संक्षेप यह है कि वाराणसी के राजा हतशत्रु की पुत्री सुमित्रा बचपन में एक दिन सोई हुई थी कि सहसा 'णमो अरिहंताणं' कहती हुई जाग उठी। सेवा में नियुक्त दासियों ने उससे पूछा : 'अरिहन्त कौन हैं, जिन्हें आपने नमस्कार किया?' सुमित्रा ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। तब, भिक्षुणियों से पूछने पर उन्होंने बताया कि इस बालिका ने पूर्वभावना के संस्कारवश अरिहन्त को नमस्कार किया है। इसके बाद सुमित्रा जिन-मार्ग की अनुयायिनी और प्रवचन में कुशल हो गई। उसे परलोक के अस्तित्व और धर्मफल की प्राप्ति के प्रति जिज्ञासा हुई, जिसकी पूर्ति सुप्रभ नामक पण्डित पुरुष ने एक कथा के माध्यम से की। कथा है कि दो इष्यपुत्रों में परस्पर बाजी लगी कि जो अकेला बाहर जाकर, बहुत धन अर्जित करके बारह वर्ष के पूर्व ही लौट आयगा, दूसरे को अपने मित्रों के साथ उसका दास होना पड़ेगा। शर्त के अनुसार, एक इष्यपुत्र तो बाहर निकलकर जहाज के द्वारा समुद्रयात्रा करके अपना व्यापार बढ़ाने लगा, किन्तु दूसरा मित्रों से प्रेरित होने पर भी बाहर नहीं निकला। बारहवें वर्ष में, पहले वणिक्पुत्र के प्रचुर धन कमाकर विदेश से वापस लौटने का समाचार सुनकर दूसरा वणिक्पुत्र बड़ा चिन्तित हुआ और वह घर से निकला। एक वर्ष की शेष अवधि में कितना कमाया जा सकता है, यह सोचकर वह धन कमाने की अपेक्षा साधु के समीप दीक्षित हो गया और अतिशय विलास तपःकर्म द्वारा नौ महीने के बाद मरण को प्राप्त कर सौधर्म स्वर्ग में देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

१. तुलनीय : यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ (गीता : ८.६)

देवता के भव में अवधि-ज्ञानी होने के कारण वह अपने देश की सीमा पर अपनी दिव्य शक्ति से एक सार्थ के प्रतिरूप में अवतीर्ण होकर व्यापार करने लगा और तीन ही महीने में उस देव-सार्थवाह ने पहले मित्र से कई गुना अधिक देवद्रव्य अर्जित किया। बारह वर्षों तक लगातार क्लेश उठाकर धन कमानेवाला वणिक्पुत्र बाजी हार गया। देव-सार्थवाह ने मित्रों से कहा : 'आप आश्चर्यित न हों, मैंने तपस्या के बल से यह धन अर्जित किया है।' कथा सुनाकर सुप्रभ ने कहा : इसी कारण से तपस्वियों को अतिशय लाभ देनेवाली तपस्या प्रिय है। शरीर नष्ट होने पर भी देवलोक में तपस्या का फल प्राप्त होता है। दूसरे तपोहीन व्यक्ति का कर्म अल्प लाभ देनेवाला है तथा वह शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है। सुप्रभ से यह कथा सुनकर सुमित्रा को विश्वास हो गया कि परलोक है और धर्म का फल भी है (पुण्ड्रालम्ब : पृ. २१५-२१७)।

इस कथा से स्पष्ट है कि देवलोक या परमात्मा का लोक ही परलोक है और सामान्य भौतिक श्रम से धर्म या तपस्या का श्रम अल्पकाल में ही अधिक फलदायक है। 'जैनेन्द्रसिद्धान्त-कोश' में परलोक की परिभाषा उपस्थापित करते हुए कहा गया है, जिसके परमात्मस्वरूप में जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं, या केवलज्ञान द्वारा, जिसकी अनुभूति होती है, उसका नाम परलोक है।^१ अथवा पर, अर्थात् उत्कृष्ट वीतराग चिदानन्द शुद्धस्वभाव आत्मा का लोक ही परलोक है। इस प्रकार, कथाकार ने आगमोक्त पद्धति से प्रमाणित परलोक के अस्तित्व और धर्मफल की प्राप्ति की गूढ़ भावना को कथा के माध्यम से सहजग्राह्य बना दिया है।

कथाकार ने योगमार्ग में प्रचलित परकाय-प्रवेश से सम्बद्ध कथा का भी उल्लेख किया है। चन्दनतिलक और विदिततिलक नामक दो विद्याधर राजपुत्रों ने दो कुक्कुटों में अपनी-अपनी आत्मा को संक्रान्त कर दिया था (केतुमतीलम्ब : पृ. ३३५)। इसी प्रकार, सूरूप यक्ष ने मेघरथ को धर्म से विचलित करने के लिए कबूतर और बाज पक्षियों की आत्माओं में, मनुष्यभाषी के रूप में अपने को संक्रान्त किया था (तत्रैव : पृ. ३३८)। इस प्रकार के कार्य प्रायः पूर्वजन्म के वैर या स्नेह के अनुबन्धवश ही किये जाते थे। और फिर, इस प्रकार के पात्र, किसी साधु या चारणश्रमण द्वारा पूर्वभव का स्मरण कराने पर वैर या स्नेह से मुक्त होकर देवत्व या मोक्ष के लिए प्रयत्न करते थे।

मोक्ष, निर्वाण या सिद्धि के कथा-प्रसंगों से 'वसुदेवहिण्डी' आपाततः परिपूर्ण है। दिगम्बर-सम्प्रदाय में स्त्रियों को मोक्ष का अधिकार प्राप्त नहीं है। वे पुरुष-भव में आने पर ही मोक्षलाभ की अधिकारिणी होती हैं। किन्तु, श्वेताम्बर-सम्प्रदायानुयायी कथाकार ने स्त्रियों की सिद्धि की भी अनेक कथाएँ परिनिबद्ध की हैं। स्पष्ट है कि दिगम्बरों के कट्टरपन की तुलना में श्वेताम्बर बहुत अधिक उदार हैं। मोक्ष के सन्दर्भ में जैनदृष्टि यह है कि आत्मा परिणामी होने के कारण, प्रतिसमय, अपनी मानसिक, वाचिक और शारीरिक क्रियाओं से तत्तत् प्रकार के शुभाशुभ संस्कारों में स्वयं परिणत होता जाता है और वातावरण को भी उसी प्रकार से प्रभावित करता है। ये आत्मसंस्कार अपने पूर्वबद्ध कर्मशरीर में कुछ नये कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध कराते हैं, जिनके परिपाक से वे संस्कार, आत्मा में अच्छे या बुरे भाव उत्पन्न कर देते हैं। आत्मा स्वयं उन संस्कारों का कर्ता है और स्वयं ही उनके फलों का भोक्ता भी है। जब वह अपने मूल स्वरूप की ओर दर्शनोन्मुख

१. (क) लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोकः।

(ख) पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानन्दैकस्वभाव आत्मा तस्य लोकः (तत्रैव)

होता है, तब स्वरूप-दर्शन द्वारा धीरे-धीरे पुराने कुसंस्कारों को काटकर स्वरूप-स्थिति-रूप मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

कभी-कभी किसी विशेष आत्मा में स्वरूप-ज्ञान की इतनी तीव्र ज्योति जग जाती है, या ब्राह्मण आगमिकों के शब्दों में, इतना तीव्र शक्तिपात होता है कि उसके महाप्रकाश में कुसंस्कारों का पिण्ड क्षण-भर में ही विलीन हो जाता है और वह आत्मा वर्तमान शरीर में ही पूर्णवीतराग और पूर्णज्ञानी बन जाता है। यही जीवनमुक्त की अवस्था है। इस अवस्था में आत्मगुणों के घातक संस्कारों का समूल नाश हो जाता है। केवल शरीर धारण करने के कारणभूत कुछ अघातिया (संसार की निमित्तभूत सामग्री से सम्बद्ध) संस्कार शेष रहते हैं, जो शरीर के साथ समाप्त हो जाते हैं और तब वह आत्मा पूर्णतया सिद्ध होकर अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगमन करके लोकान्त में जा पहुँचता है। यही आत्मा की मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण है।

कथाकार संघदासगणी ने भी अपनी सहज जैनदृष्टि से मोक्ष का विपुल वर्णन किया है। उन्होंने यथासन्दर्भ विभिन्न कथाप्रसंगों में मोक्ष को परिभाषित भी किया है। जैसे : 'निर्वाण क्षीणकर्माश और लघु होता है' (धम्मिल्लचरित : पृ. ७५)। 'विराग-मार्ग में प्रतिपन्न, तपःशोषित कलिकलुषवाले तथा संयम द्वारा निरुद्धास्रव ज्ञानी का लघुकर्मता के कारण ऊर्ध्वगमन ही निर्वाण है' (ललितश्रीलम्भ : पृ. ३६१)। 'निर्वाण की दशा में आत्मा बाह्याभ्यन्तर घाति-अघाति कर्मों से रहित, केवलज्ञान से सम्पन्न तथा विधूतरज हो जाता है' (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४२) आदि। जैनदर्शन की, मोक्षगमन की प्रक्रिया के अनेक प्रसंग कथा-विकास की दृष्टि से कथाकार ने उपन्यस्त किये हैं और इस क्रम में उन्होंने जैनदर्शन का सार-संक्षेप ही उपस्थापित कर दिया है, जिसका सर्वोत्तम उदाहरण शान्तिस्वामी का प्रवचन (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४२) है। इसमें संघदासगणी ने जैनदर्शन के समस्त तत्त्वों का एकत्र समाहार किया है, जिससे पाठकों को जैनदर्शन का समग्र तत्त्व एक दृष्टि में ही हस्तामलक हो जाता है।

कथाकार ने वनस्पतियों में भी जीवसिद्धि (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २६७) का प्रदर्शन करके प्राणियों के वनस्पति से मनुष्ययोनि में जन्मग्रहण का निरूपण किया है और इस प्रकार, आत्मा की व्यापकता को शास्त्रीय विचक्षणता के साथ प्रमाणित किया है। हिंसा और अहिंसा के विवेचन में तो कथाकार ने शास्त्रार्थ-शैली द्वारा अपनी तलस्पर्शी सूक्ष्मेक्षिका का परिचय देते हुए, उस विषय के विशिष्ट तार्किक व्यालोचन के निमित्त उसे 'मांसभक्षण-विषयक वादस्थल' ('मांसभक्षणाविसयं वायत्थलं') नाम से शीर्षित किया है (बालचन्द्रालम्भ : पृ. २५९)।

कथाकार ने दार्शनिक मतवाद की विवेचना के क्रम में सांख्यदर्शन के प्रकृति-पुरुषविषयक विचार का भी अपनी जैन दृष्टि से नव्योपस्थापन किया है। सांख्यदर्शन में दो प्रमुख तत्त्व माने गये हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति संसार का मूल कारण है, अतः इसे मूलप्रकृति कहते हैं। 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (४.५) के अनुसार, प्रकृति अजा (किसी से न उत्पन्न होनेवाली) और एका (अकेली) है, साथ ही लोहित (रजस्)-शुक्ल (सत्त्व)-कृष्ण (तमस्)-रूपा त्रिगुणात्मिका है। सत्त्व-रजस्तमोरूप तीन गुणों की सांम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। यह अपने अनुकूल त्रिगुणात्मक अनेक पदार्थों की सृष्टि करती है। बद्ध पुरुष इसी प्रकृति की परिचर्या में आसक्त रहता है और उसके सुख-दुःख-मोहात्मक कार्य महत् आदि (विकारों) को अपना समझकर उसी के बीच परिभ्रमण करता रहता है। दूसरा मुक्त पुरुष इसे छोड़ देता है। पुरुष द्वारा भुक्ता होने के कारण इसे 'भुक्तभोगा'

कहते हैं और इसी को प्रधान तथा अव्यक्त भी कहते हैं। यह व्यापक, अचेतन और प्रसवधर्मी है।

पुरुष-तत्त्व व्यापक, निष्क्रिय, कूटस्थ नित्य और ज्ञानादि परिणाम से शून्य, केवल चेतन है। पुरुष-तत्त्व अनन्तात्मक तथा स्वतन्त्र-सत्तात्मक है। प्रकृति, परिणामी-नित्य है, इसलिए उसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है। कारण रूप में यह 'अव्यक्त' तथा कार्यरूप में 'व्यक्त' कहलाती है। पुरुष के संयोग से ही प्रकृति में व्यापार होता है, जैसे चुम्बक के संयोग से लोहे में क्रियाशक्ति आ जाती है। 'सांख्यकारिका' के अनुसार, प्रकृति पुरुष का संयोग, पंग्वन्धन्याय से, परस्परापेक्षा-प्रयुक्त होता है। अर्थात्, पुरुष क्रियाशक्ति से रहित होने के कारण पंगुवत् है और प्रकृति अचेतन होने के कारण अन्धवत्।^१ जिस प्रकार अन्धे के कन्धे पर बैठे लँगड़े के द्वारा निर्देश पाकर अन्धा राह चलने लगता है, उसी प्रकार प्रकृति-पुरुष के परस्पर संयोग से ही सृष्टि-शक्ति का विस्तार होता है। प्रकृति से उत्पन्न या विपरिणत सृष्टि प्रलय-काल में पुनः प्रकृति में ही विलीन हो जाती है। पुरुष जल में कमलपत्र की भाँति निर्लिप्त है, साक्षी है, चेतन और निर्गुण है।

प्रो. महेन्द्रकुमार जैन ने अपनी पुस्तक 'जैनदर्शन' में, योगसूत्र की 'तत्त्ववैशारदी टीका' (२.२०) के परिप्रेक्ष्य में, पुरुष के भोगवाद को विशदता से उपस्थित किया है। प्रो. जैन ने कहा है कि प्रकृति-संसर्ग के कारण पुरुष में जो भोग की कल्पना की जाती है, उसका माध्यम बुद्धि है। बुद्धि पारदर्शी शीशे के समान है। उस मध्यस्थित बुद्धिरूप शीशे में एक ओर से इन्द्रियों द्वारा विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ता है और दूसरी ओर से पुरुष की छाया। इस छायापत्ति के कारण पुरुष में भोगने का भान होता है, यानी परिणमन बुद्धि में होता है और भोग का भान पुरुष में होता है। वही बुद्धि पुरुष और पदार्थ दोनों की छाया को एक साथ ग्रहण करती है। इस प्रकार, बुद्धि के शीशे में ऐन्द्रियिक विषय और पुरुष के समेकित रूप में प्रतिबिम्बित होने का नाम भोग है। अन्यथा, पुरुष तो नित्य कूटस्थ है, इसलिए अविकारी और अपरिणामी है।

प्रकृति ही स्वयं पुरुष से बँधती है और फिर स्वयं छोड़ देती है। प्रकृति एक वेश्या या व्याभिचारिणी स्त्री के समान है। जब वह जान लेती है कि इस पुरुष को मैं प्रकृति का नहीं, प्रकृति मेरी नहीं, इस प्रकार का तत्त्वज्ञान हो गया है और यह मुझसे विरक्त है, तब वह स्वयं हताश होकर पुरुष का संसर्ग छोड़ देती है। यही पुरुष का मोक्ष है।

उपर्युक्त सांख्यदर्शन के मूल सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में यहाँ संधदासगणी द्वारा कथा-संलाप-शैली में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के साथ प्रतिपादित प्रकृति-पुरुष-विषयक विचार (ललितश्रीलम्भ : पृ. ३६०) का अवलोकन प्रासंगिक होगा।

कंचनपुर के एक उपवन में वसुदेव को एक परिव्राजक के दर्शन हुए। वह अपनी नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगाये हुए था। सारा शरीर निश्चल था और मुँह थोड़ा खुला हुआ था। बहुत देर के बात उसकी दृष्टि वसुदेव पर पड़ी। 'दीक्षित वृद्ध' समझकर वसुदेव ने उसकी वन्दना की। परिव्राजक ने उन्हें बैठने को कहा। वसुदेव के बैठने के बाद दोनों में बातचीत प्रारम्भ हुई।

वसुदेव ने वृद्ध परिव्राजक से पूछा : 'भगवन् ! आप क्या चिन्तन कर रहे हैं ?' परिव्राजक वृद्ध ने उत्तर दिया : 'भद्रमुख ! मैं प्रकृति-पुरुष की चिन्ता कर रहा हूँ।' वसुदेव ने अपनी जिज्ञासा

दुहराई: 'आपका प्रकृति-पुरुषविषयक चिन्तन किस प्रकार का है?' परिव्राजक कहने लगा : 'पुरुष चेतन है, नित्य, निष्क्रिय, भोक्ता और निर्गुण है। शरीर के आश्रय से वह बन्धन में पड़ता है और ज्ञान से उसका मोक्ष होता है। प्रकृति अचेतन, गुणवती (सत्त्व, रज, तम से युक्त), सक्रिय और पुरुष का उपकार करनेवाली है।'

वसुदेव ने अपनी जिज्ञासा आगे बढ़ाई: 'इस प्रकार का चिन्तन कौन करता है?' वृद्ध परिव्राजक ने कहा : 'मन, जो प्रकृति का विकार है।' वसुदेव ने अपनी जैन दृष्टि उपस्थित करते हुए कहा : 'अगर आपको आपत्ति न हो, तो इस सन्दर्भ में विचार की अपेक्षा है। सुनें : पुरुष अथवा प्रकृति को आश्रित करके अचेतन मन के द्वारा चिन्तन सम्भव नहीं है। पुरुष में रहनेवाली चेतना निष्क्रिय (असम्परणशील) होने के कारण मन को प्रभावित करने में असमर्थ है। यदि चेतना मन को प्रभावित करनेवाली हो जायेगी, तब तो मन ही पुरुष हो जायेगा। परन्तु, ऐसा होता नहीं है। अनादिकाल से विद्यमान अपरिणामी (नित्य) पुरुष को यदि चिन्ता उत्पन्न होगी, तो पूर्वभाव के परित्याग और उत्तरभाव के ग्रहण-रूप भावान्तर को प्राप्त करके वह अनित्यत्व की स्थिति में पहुँच जायगा। यदि ऐसा (पुरुष का अनित्यत्व) सिद्ध हो जायगा, तो आपके सिद्धान्त (पुरुष नित्य और अपरिणामी है) में विरोध पड़ेगा। मन की चिन्तनधर्मिता को आश्रित करके जिस प्रकार आपने विचार किया, उसे आप प्रकृति के सम्बन्ध में भी जानें। (क्योंकि, आपने कहा है कि मन प्रकृति का विकार है।) यह देखने में आता है कि अचेतन घट आदि पदार्थों में पुरुष अथवा प्रकृति के प्रति अथवा दोनों के प्रति चिन्तन की क्रिया घटित नहीं होती।"

इसपर अपना सांख्यमतोक्त तर्क उपस्थित करते हुए परिव्राजक ने कहा : "प्रकृति-पुरुष के संयोग होने पर यह सब सम्भव है। प्रकृति और पुरुष, दोनों के एकाकी रहने की स्थिति में, दोनों की, नियतपरिणामिता के कारण, परस्पर क्रियाकारित्व में असमर्थता रहती है। प्रकृति अचेतन है और पुरुष सचेतन। इन दोनों के संयुक्त होने पर, सारथी और अश्व के सामर्थ्य-संयोग से रथ की गति की भाँति चेतना उत्पन्न होती है।"^१

वसुदेव ने पुनः अपना तर्क उपस्थित किया : "जो परिणामी द्रव्य है, उनमें यह विशेषता (क्रियाधर्मिता) सहज ही सम्भव है। जिस प्रकार, आकुंचन (जामन) और दूध के संयोग से दही का परिणमन होता है। और फिर, आपने जो सारथी तथा घोड़े के संयोग से रथ की गति की बात कही है, वह चेतना-प्रेरित प्रयत्न का परिणाम है, अर्थात् आत्मा या पुरुष में भी चेतना की प्रेरणा से ही क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है, अतः पुरुष सचेतन होने के साथ ही सक्रिय भी है।

अपने सांख्यमत को पल्लवित करते हुए वृद्ध परिव्राजक ने कहा : 'अन्ध और पंगु (अन्धे और लँगड़े) के संयोग से इच्छित स्थान में गति के समान, ध्यान करनेवाले पुरुष में (प्रकृति के विकार मन के संयोग से) चेतना उत्पन्न होती है।'

* उक्त सांख्यमत का उपसंहार करते हुए वसुदेव ने जैन दृष्टि उपस्थित की : "लँगड़े और अन्धे दोनों सक्रिय, अथवा सचेतन हैं (जिसकी चर्चा आपने भी की है)। चेतना परिस्पन्दलक्षणात्मक

१. बुधस्वामी ने 'बृहत्कथारलोकसंग्रह' (१८.३२८) में इसी सांख्यमतोक्त सैद्धान्तिक तथ्य को 'नष्टाश्वदग्धरथ' के उदाहरण या दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। दो रथी थे, जिनमें एक का घोड़ा मर गया और दूसरे का रथ जल गया। ऐसी स्थिति में दोनों के सहयोग (एक के रथ से दूसरे के घोड़े को जोड़ने) से पुनः रथ तैयार हो गया और फिर दोनों की यात्रा सम्भव हुई ('नष्टाश्वदग्धरथयोगः श्लाघ्योऽयमाख्योः')।

क्रिया है। ज्ञान अवबोधलक्षणात्मक है। अन्धा श्रोत्रेन्द्रिय से सम्पन्न होने के कारण शब्द से जानता है कि यह देवदत्त है और यह यज्ञदत्त। दृष्टान्त द्वारा इस विषय को मैं विशेष रूप से बताना चाहूँगा कि विशुद्धहृदय ज्ञानी पुरुष में विपरीत ज्ञान सम्भव नहीं है। प्रकृति की निश्चेतनता के कारण केवलज्ञान भी कार्यसाधक नहीं होता। जैसे, विकार को जान लेने से ही रोग का नाश नहीं होता। अपितु (वैद्य के) उपदेशानुसार अनुष्ठान (औषधि-सेवन, पथ्य आदि उपचार) से ही रोग-निवारण होता है। सचमुच, आत्मा ज्ञानस्वभावात्मक है। वह जब स्वयंकृत ज्ञानावरणीय कर्म के अधीन हो जाता है, तभी उसे विपरीतज्ञान या संशय होता है। जैसे, रेशम का कीड़ा स्वयंकृत तन्तु से परिवेष्टित होकर गतिरुद्ध हो जाता है। आत्मा के ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर ही उसमें देशज्ञता (मति, श्रुत आदि ज्ञान) और सर्वथा क्षय होने पर सर्वज्ञता आती है। वही (सर्वज्ञ ही) सिद्ध कहलाता है। आवरण-हीन या कर्मरहित होने से आत्मा में विपरीत ज्ञान सम्भव नहीं होता। एकदेशज्ञ को ही क्रमशः सर्वज्ञत्व की विशेषता और पूर्वगति का ज्ञान उपलब्ध होता है, जैसे लाक्षानिर्मित कपोत आदि द्रव्यों में लम्बाई-चौड़ाई आदि सामान्य धर्म तथा कृष्णत्व, स्थिरत्व, चित्रलत्व (रंग) आदि विशिष्ट धर्म रहते हैं। धीमी रोशनी में या अत्यन्त परोक्ष या प्रत्यक्ष न होने की स्थिति में उस कपोत की वास्तविकता के विषय में संशय या विपरीत ज्ञान सम्भव है। इसलिए, आपका मोक्षोपदेश शुद्ध नहीं है। व्यापार—मन, वचन और शरीर की चेष्टा से युक्त, रागद्वेष से अभिभूत तथा विषय-सुख के अभिलाषी जीव का उसी प्रकार कर्म-ग्रहण होता है, जिस प्रकार दीपक तैल आदि को ग्रहण करता है। यह संसार कर्म से उत्पन्न होता है। लेकिन, विराग-मार्ग को स्वीकार करनेवाले, संयम से आस्रव को रोकनेवाले तथा तपस्या से कलिकलुष (घाति-अघाति कर्म) को विनष्ट करनेवाले क्षीणकर्मा ज्ञानी को निर्वाण प्राप्त होता है, यही मेरे कहने का आशय है।”

वसुदेव के जैनमार्गोक्त वचनों से वृद्ध परिव्राजक सन्तुष्ट हो गया और उन्हें अपने मठ (आश्रम) में ले गया। इस प्रकार, दार्शनिक प्रौढ़ि से सम्पन्न कथाकार संघदासगणी ने ब्राह्मणोक्त सांख्यमत का निराकरण करके जैनमत की स्थापना की है। जैन दार्शनिक सांख्यमत को सामान्यवाद में इसलिए सम्मिलित करते हैं कि उन्हें भी सांख्यमत के अनुसार, प्रकृति की परिणामी-नित्यता, व्यापकता, अखण्डतत्त्वता आदि पौद्गलिक गुण स्वीकार्य हैं और वे भी प्रकृति को ही मूर्त, अमूर्त आदि विरोधी परिणमनों का सामान्य आधार मानते हैं।

‘वसुदेवहिण्डी’ में उल्लिखित यथोक्त सात धार्मिक सम्प्रदायों में नास्तिकवादी और सांख्यवादी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का कथाकार ने जितना विशद और शास्त्रसम्मत दार्शनिक विवेचन किया है, उतना शेष पाँचों के सिद्धान्तों का नहीं। यद्यपि भागवत-सम्प्रदाय समस्त दक्षिण और उत्तर भारत में अपना विशिष्ट दार्शनिक मूल्य रखता आया है। भागवत-सम्प्रदाय के दार्शनिक आचार्यों में तीर्थस्वरूप श्रीरामानुजाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य और श्रीनिम्बार्काचार्य की त्रिवेणी अविस्मरणीय है। रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद, वल्लभाचार्य का द्वैताद्वैतवाद, और निम्बार्काचार्य का शुद्धाद्वैतवाद जैनों के अनेकान्तवाद के विवेचन में, तुलनात्मक पौर्वापर्य दार्शनिक विकास के अध्ययन की दृष्टि से सातिशय महत्व रखते हैं।

कथाकार द्वारा उल्लिखित ब्राह्मणों और त्रिदण्डियों के सम्प्रदाय भी वैष्णव-सम्प्रदाय के ही दार्शनिक मतवाद के पोषक हैं। इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त, कथाकार ने प्राचीन दार्शनिकों की

परम्परा में प्रायोविस्मृत 'चोक्षवादी' और 'दिशप्रोक्षित' सम्प्रदायों का नामोल्लेख-मात्र किया है। पवित्रात्मा वैष्णव कहलानेवाले चोक्षवादी, अपने को वैष्णव-परम्परा के अन्तर्गत मानते थे। कथाकार ने एक चोक्षवादिनी पर व्यंग्य करते हुए लिखा है कि ताम्रलिपि नगरी के महेश्वरदत्त सार्यवाह की चोक्षवादिनी माता बहुला ऊपर से अपने को पवित्रात्मा प्रदर्शित करती थी, किन्तु भीतर से वह माया-कपट के प्रयोग में कुशल थी (कथोत्पत्ति : पृ. १४) इसी प्रकार, 'दिशाप्रोक्षित' नामक धार्मिक सम्प्रदाय, विशिष्ट तापस-जातियों का सम्प्रदाय था, अथवा यह भी सम्भव है कि दिग्बलि-प्रथा के समर्थक होने के कारण तथाकथित तापसों को जैनागमों ने स्वतन्त्र अभिधा दे डाली हो। 'पाइयसद्महण्णवो' के अनुसार 'दिशाप्रोक्षी' शब्द का प्रयोग एक प्रकार के वानप्रस्थी साधु के अर्थ में किया गया है। वैदिक कर्मकाण्ड की शब्दावली में 'प्रोक्षण' शब्द का व्यवहार यज्ञ में पशुवध के लिए भी होता है। पुनः यज्ञ के अवसर पर 'बलि' के लिए समर्पित अर्थ में 'प्रोक्षित' का प्रयोग उपलब्ध है (द्र. आष्टे-कोश)। इस प्रकार, यह 'दिशाप्रोक्षित' सम्प्रदाय उन वानप्रस्थी साधुओं की ओर संकेत करता है, जो यज्ञ के अवसर पर दिग्बलि अर्पित करते थे। ज्ञातव्य है कि कथाकार संघदासगणी ने यथोल्लिखित जैनेतर सभी धार्मिक सम्प्रदायों को पशुवध-मूलक यज्ञ के प्रवर्तक-प्रचारक के रूप में उपस्थित कर उन्हें अपने तीक्ष्ण आक्षेप का लक्ष्य बनाया है। भूतचैतन्यवादी या देहात्मवादी नास्तिक दार्शनिकों के हिंसापरक भोगवाद की तो उन्होंने सर्वाधिक भर्त्सना की है।

इस प्रकार, शास्त्रप्रज्ञ कथाकार संघदासगणी द्वारा परिचर्चित दार्शनिक मतवादों में चार्वाक या लोकायत (नास्तिक), सांख्य और जैन दर्शनों की ही गणना की जा सकती है। शेष सभी दर्शन सुनिश्चित सैद्धान्तिक विचारों की अपेक्षा केवल सम्प्रदाय-विशेष से ही अधिक अनुबद्ध होने के कारण विशुद्ध सम्प्रदायवादी ही हैं।

इस प्रकार, महान् मानवतावादी कथाकार आचार्य संघदासगणी ने अपनी महत्कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में लोकजीवन का एक विराट् संसार ही उपन्यस्त कर दिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत लोकजीवन में जीवन की समष्टि या संस्कृति से समृद्ध समाज की मर्मोद्भावना व्यापक रूप से हुई है, जिसमें सामाजिक यथार्थ की बहुलता और विविधता का विनियोग अतिशय प्रभावकारी ढंग से हुआ है। कथाकार संघदासगणी की, लोकजीवन के प्रस्तवन की पद्धति का लक्ष्य करने योग्य वैशिष्ट्य यह है कि इसमें सामाजिक तत्त्व और कला-तत्त्व का सफल और समानान्तर समन्वय हुआ है। कहना न होगा कि कथाकार द्वारा प्रतिबिम्बित लोकजीवन में समाज का सर्वांगपूर्ण चित्रण सुलभ हुआ है, जिससे उनकी यह महत्कथा सच्चे अर्थ में भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा बन गई है।

‘वसुदेवहिण्डी’ : भाषिक और साहित्यिक तत्त्व

‘वसुदेवहिण्डी’ में भाषिक तत्त्वों की दृष्टि से अध्ययन के अनेक आयाम सुरक्षित हैं। इसलिए इस महत्त्वकाङ्क्षित का भाषाशास्त्रीय अनुशीलन एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध का विषय है। यहाँ केवल-मात्र तद्विषयक दिग्दर्शन ही प्रस्तुत है। लगभग साढ़े दस हजार श्लोकप्रमाण प्रस्तुत प्राकृत-कथाग्रन्थ, गद्य में निबद्ध होने के कारण भाषा-विषयक गवेषणा की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखता है। प्रवाहमयी भाषा और मिताक्षरा शैली में लिखी गई ‘वसुदेवहिण्डी’ में कथा की योजना और उसके विस्तार में सघन साहित्यिक शिल्पिता के जिस रूप के दर्शन होते हैं, वे अन्य प्राचीन प्राकृत जैनकथा-साहित्य में प्रायोदुर्लभ हैं। कहना न होगा कि इस कथाकृति में प्राकृत-भाषा और उसकी मोहक साहित्यिक शैली का मणिप्रवाल-संयोग हुआ है। भाषा की तरुणता, सरसता और लाक्षणिक चेतना के द्वारा कथाकार **संघदासगणी** ने अद्भुत चित्रसृष्टि की है। वह निश्चय ही, सरल रसपेशल नैसर्गिक भाषा के सफल प्रयोक्ता हैं और अपनी इस भाषा के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन जनमानस को ही मुखर किया है। ‘वसुदेवहिण्डी’ के कथापात्रों की बातचीत की भाषा कहीं भी कृत्रिम नहीं मालूम होती। प्रसंग की अनुकूलता को ध्यान में रखकर कथाकार ने अपनी भाषा में यत्न-तत्र अलंकार-भूयिष्ठ समासबहुला गौड़ी रचना-रीति के प्रयोग द्वारा मानों अपनी कथा-नायिका के लहराते केशपाश को रमणीय शब्दों के पुष्पगुच्छ से सजाकर उसे सातिशय ललित और कलावरेण्य बना दिया है। आगे यथाप्रस्तुत ‘साहित्यिक सौन्दर्य के तत्त्व’ शीर्षक प्रकरण में प्रत्यासत्त्या इस कथाकृति के भाषिक सौन्दर्य पर भी दृष्टि-निक्षेप किया जायगा।

‘वसुदेवहिण्डी’ यद्यपि गद्यग्रन्थ है, तथापि बीच-बीच में यथावसर विविध-वृत्तपरक गाथाओं का भी उल्लेख हुआ है। संख्या की दृष्टि से कुल १३८ गाथाएँ हैं। इन गाथाओं में कुछेक ही सुभाषित हैं, शेष सभी गाथाएँ कथा-प्रसंग के नैरन्तर्य से अनुबद्ध हैं। गद्य में प्रयुक्त बहुत सारे वाक्य पद्यगन्धी हैं, जो विविध वार्णिक एवं मात्रिक छन्दों के चरण के समान प्रतीत होते हैं। और वे पढ़ने के क्रम में ऐसा भान कराते हैं, जैसे मूलतः यह ग्रन्थ पद्यबद्ध रहा हो, और कालान्तर में गद्यान्तरित हो गया हो। जो भी हो, किन्तु सम्प्रति, इस ग्रन्थ की यथाप्राप्त प्रति में गद्य का जो प्राञ्जल रूप दृष्टिगत होता है, उससे कथाकार के प्राकृत-गद्य के अतिशय समर्थ लेखक होने का संकेत मिलता है। प्रो. भोगीलाल जयचन्दभाई साण्डेसरा ने लिखा है कि ‘वसुदेवहिण्डी की रचना के पूर्व लोक में या अनुयोगधर आचार्यों की मौखिक कथा-परम्परा में कोई पद्यात्मक ‘वसुदेवचरित’ या उसका कोई अंश प्रचलित रहा होगा। ‘इसलिए’, यह अनुमान असहज नहीं कि बाद में **संघदासगणी** ने उसी पूर्वप्रथित पद्यमय ‘वसुदेवचरित’ का गद्यान्तरण किया हो। प्रस्तुत कथाग्रन्थ की प्रासादिक भाषा में परिनिबद्ध गद्य-योजना में पद्यगन्धी (छन्दोबद्ध) वाक्यांशों के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं:

मूलपृष्ठ पंक्ति

वाक्यांश

६ : १७ : एवं भणंता कलुणं परुण्णा। (उपजाति, प्रथम चरण)

८ : १० : हत्थी हत्थेण केसगगे परामुसति।

तम्मिय. . . (अनुष्टुप के दो चरण)

- ९ : ७ : मन्ने देवी पस्समाणी चित्तकम्प (जु) वई विव । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- १९ : १६ : गया य आसमपयं रिसिणो च निवेइयं (मूलः निवेइयं च रिसिणो) ।
(अनुष्टुप् के दो चरण)
- २८ : १३ : ऊज्जाण-काणण-सभा (सु) वणंतरेसु । (वसन्ततिलका का एक चरण)
- ३१ : २१ : पिउमाउक्खित्तिकारणं । (वियोगिनी का एक चरण)
- ३६ : १३ : पच्चक्खकडुयं दडुं पिउ उवरमं च ते । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- ४८ : १७ : तस्स भज्जा (य) सप्पेण खइया, उवरया य सा । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- ५७ : २७ : पाणेहि वि पिययरी सव्वालंकारभूसिया । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- ७५ : १९ : महल्लदुग्गकंदरा । (पंचचामर का चरणांश)
- ७७ : ९ : सुवेसभूत-सीलसालिसज्जण (णा) समाउला । (पंचचामर का एक चरण)
- ८८ : २३ : पमाणं कुणंता निसीहे गया तं । (भुजंगप्रयात का एक चरण)
- १०६ : २९ : वच्छत्थलो सोभिओ : विज्जुल्लयालंकिओ । (शार्दूलविक्रीडित के चरणांश)
- ११३ : १४ : अपरिवडिडियेवग्गस्स चत्तारि लद्धी । (मालिनी का एक चरण)
- १२३ : ८ : दाहिणावत्तनाही । (मन्दाक्रान्ता या मालिनी का चरणांश)
- १२८ : २३ : सट्ठि वाससहस्साइं । परमं दुच्चरं तव्वं । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- १३६ : १४ : अवगासे (य) चत्तारि पदाणि दंसियाणि से । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- १५० : २४ : विज्जाहररायसुया कण्णा नाम मणोरमा । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- १५४ : ४ : चित्तिओ य मया देवो (स) णियमेण उवागतो । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- १६१ : ५ : सीहासणसुहासीणो सहस्सणयणो ठितो । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- १६७ : १५ : तहा रूवे रत्तो... रक्खणपरो... । (शिखरिणी का चरणांश)
- २३४ : २४ : कासे सासे जरे दाहे कुच्छिसूले भगंदरे । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- २३९ : ५ : सहस्सपरिवेसणं... । (पृथ्वी का चरणांश)
- २५२ : २३ : उप्पण्णं केवलं नाणं... मोहणीए खयंगए । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- २६९ : २१ : जा वल्लहस्स आसस्स वित्ती तं भग्गस्स वि । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- ३०० : १४ : तेसिं दोण्हं पि दुवे भज्जाओ विज्जया वेजयंती य । (गाथा की अर्द्धांती)
- ३०६ : १६ : जिघाए मे परायाणो पुत्तं जुद्धे उवड्डिया । (अनुष्टुप् के दो चरण)
- ३३४ : १८ : जंबुहीवे भरहे वेयड्डुमुत्तरिल्लसेवीए ।
नयरं सुवण्णणार्थं राया तत्थ गरुल्लवेगो ॥ (गाथा)
- ३३८ : ३ : एयम्मि देस-याले देवो दिव्वस्सवारी दरिसेइ ।
लाभा हु ते सुलद्धा जं सि एव दयावंतो ॥ (गाथा)

इस प्रकार, स्थाली-पुलाकन्याय से 'वसुदेवहिण्डी' के गद्य-सरोवर से संकलित छन्दोबद्ध वाक्यांशों के कतिपय उद्धरणों से यह सुतरा स्पष्ट है कि कथाकार ने पूर्व-प्रचलित पद्यबद्ध 'वसुदेवचरित' का ही गद्यान्तरण किया है। यहाँ यह भी स्पष्ट है कि गद्यान्तरण करने के क्रम में कथाकार ने अनेक विभिन्न स्रोतों से प्राप्त तत्कालीन ऐतिहासमूलक कथोपकथाओं को भी स्वनिर्मित प्राञ्जल गद्य में सुविन्यस्त किया है। इसलिए, इस महत्कथाकृति में जहाँ पद्यगन्धी गद्य का गुम्फन हुआ है, वहीं विशुद्ध परिष्कृत गद्य का आस्वाद भी सुलभ हुआ है।

'वसुदेवहिण्डी' का यथाप्राप्त भावनगर—संस्करण, इस लुप्तप्राय ग्रन्थ के उद्धार के बाद निर्मित रूप है। इसलिए, इसके कतिपय लम्बे अप्राप्य हैं और कतिपय पाठ भी खण्डित हैं। और, यही कारण है कि, अद्भुतहवे प्रियंगुसुन्दरीलम्ब और इक्कीसवें केतुमतीलम्ब के बीच के उन्नीसवें और बीसवें लम्बों के लुप्त हो जाने से अर्थ की सन्दर्भगत आनुक्रमिकता को क्रमबद्ध करने में भी कठिनाई उपस्थित हो गई है। 'वसुदेवहिण्डी' में प्रयुक्त अनेक ऐसे शब्द हैं, जो कोशलभ्य नहीं हैं अथवा कालान्तर में अपभ्रष्ट हो जाने से उनके मूलस्वरूप की कल्पना भी सम्भव नहीं रह गई है। इससे वैसे शब्दों के अर्थ अनुमान के आधार पर ही किये जा सकते हैं और ऐसी स्थिति में यह ग्रन्थ, भाषा की दृष्टि से, सहज ही दुर्गम हो गया है। फलतः, इस प्रागैतिहासिक ग्रन्थ का वर्तमान काल में अध्ययन बहुत ही श्रमसाध्य है। भाषा की संरचना-शैली और साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से अतिशय समृद्ध इस कथाग्रन्थ के भाषाशास्त्रीय परीक्षण का कार्य अपना ततोऽधिक विशिष्ट महत्त्व रखता है। कहना न होगा कि जिस ग्रन्थ का भाषिक तत्त्व जितनी ही अधिक संप्राप्ता से संवलित होता है, उसमें उतनी ही अधिक अमरता या शाश्वती प्रतिष्ठा के बीज निहित रहते हैं। 'वसुदेवहिण्डी' की अमरता का मूल कारण इसका भाषातत्त्व ही है। इसलिए, यहाँ इस ग्रन्थ की भाषा पर एक विहंगम दृष्टि डालना अपेक्षित होगा।

(क) भाषिक तत्त्व

'वसुदेवहिण्डी' प्राकृत-भाषा में निबद्ध महान् कथाग्रन्थ है। प्रो. भोगीलाल जयचन्द्रभाई साण्डेसरा ने 'वसुदेवहिण्डी' के, अपने गुजराती-भाषा में अन्तरित संस्करण की भूमिका (पृ. ९६) में, प्रसिद्ध जर्मन-पण्डित डॉ. ऑल्सडोर्फे के मत के परिप्रेक्ष्य में, इस कथाकृति की भाषा को, चूर्णिग्रन्थ आदि की भाषा के साँध्य के आधार पर, आर्ष जैन महाराष्ट्री प्राकृत कहा है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक कृति (पृ. ४६२) में प्रो. साण्डेसरा के ही मत की आवृत्ति करते हुए, 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा को चूर्णिग्रन्थों की प्राकृत-भाषा के समान महाराष्ट्री प्राकृत बताया है। डॉ. हीरालाल जैन ने 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान' नामक अपनी कृति (पृ. १४३) में 'वसुदेवहिण्डी' का परिचय प्रस्तुत करते समय इस कथाकृति की प्राकृत-भाषा को कोई विशिष्ट आख्या तो नहीं दी है, किन्तु अपने उक्त ग्रन्थ (पृ. १३०) में ही उन्होंने, लगभग ई. की दूसरी शती को महाराष्ट्री का विकास-काल माना है तथा 'वसुदेवहिण्डी' को छठी शती से पूर्व की रचना कहा है। इससे उनका यह दृष्टिकोण स्पष्ट होता है कि महाराष्ट्री के विकास-काल के आसपास लिखी गई 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास' के लेखक डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने भी वसुदेवहिण्डी की भाषा में जैन महाराष्ट्री प्राकृत का प्राचीनतम स्वरूप परिलक्षित किया है। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी'

के महाराष्ट्री प्राकृत-भाषा में निबद्ध होने की मान्यता का बहुमत है। फिर भी, यह मान्यता पुनर्विचार की अपेक्षा रखती है।

जैन वाङ्मय के इतिवृत्त-लेखकों के मतानुसार, कथा, काव्य, चरित, अर्थात् सम्पूर्ण कथा-वाङ्मय, चाहे वह गद्य में निबद्ध हो या पद्य में, प्रथमानुयोग में परगणित है और प्रथमानुयोग में निबद्ध समग्र साहित्य की भाषा सामान्यतया महाराष्ट्री प्राकृत मानी गई है। इस सामान्य नियम के अनुसार ही प्रथमानुयोग में परिगणित 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत स्वीकृत हुई है। किन्तु, सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा बहुलांशतः आगमिक भाषा का प्रतिनिधित्व करती है, इसलिए यह आपाततः 'आर्ष प्राकृत' जैसी प्रतीत होती है। और फिर, भाषागत प्रयोग-विकल्पता के बाहुल्य की दृष्टि से यह प्रतीति असंगत नहीं है।

'वसुदेवहिण्डी' की भाषा से यह संकेत मिलता है कि इस कथाग्रन्थ के रचयिता संघदासगणी वैदिक भाषा, संस्कृत, पालि तथा प्राकृत-भाषाओं की शास्त्रीय और लौकिक परम्परा के गहन अध्येता थे। विशेषकर प्राकृत-भाषा को तो उन्होंने उसके समस्त भेदोपभेदों की सूक्ष्मता के साथ स्वायत्त किया था। इसलिए, 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में विभिन्न प्राकृतों की सघन बहुरंगी बुनावट दृष्टिगत होती है। भाषिक बुनावट की यह विचित्रता कहीं-कहीं ही नहीं, प्रायः सर्वत्र उपलब्ध होती है और इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार के मस्तिष्क में, रचना-प्रक्रिया के समय प्राच्य भाषाओं की भारी भीड़ की टकराहट जैसी स्थिति रहती होगी और ऐसे क्षणों में कथाकार को कथा-प्रवाह की सुरक्षा की चिन्ता स्वभावतः अधिक होती होगी। यही कारण है कि 'वसुदेवहिण्डी' में कथा के प्रवाह की समरूपता जितनी अधिक मिलती है, भाषा की एकरूपता उतनी ही कम। और इसीलिए, एक ही वाक्य में प्रयोग की अनेकता का समावेश हो गया है और शब्दों के प्रयोग की अनेकरूपता तो पदे-पदे दृष्टिगत होती है। उदाहरण के लिए, कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं :

१. मितबलेण य कयाई च अम्हेहिं पुच्छिओ नेमिती। (पुण्डालम्भ : पृ. २११)
२. तं च छुहावसेण परिचयवसेण य तन्भाविओ अहिलसति। (कथोत्पत्ति : पृ. १०)
३. तओ अ णाए दुवे मुदाओ कारियाओ नामंकियाओ। (तत्रैव : पृ. ११)
४. वरस्स हत्थे दो वि मुदाउ ठावियाओ। (तत्रैव : पृ. ११)
५. राया पुणो वि पुच्छइ—कहं देवो केवली होहिती। (तत्रैव : पृ. २०)
६. तं च धम्मिल्लेण सुणत्तेणं तुण्हक्केण जोइया तुरया। (धम्मिल्लचरिय : पृ. ५३)
७. तेहिं वि बंधुववहारेण पूइओ गतो सपुरं। (पीठिका : पृ. ८०)
८. गन्धत्थस्स य पिया भतो। (प्रतिमुख : पृ. ११३)
९. ततो चितापरायणाए मे सुमरिया देवजाती। (नीलयशालम्भ : पृ. १७१)
१०. ततो ठाई इच्छति, तं वहिउमारद्धो। (कपिलालम्भ : पृ. २००)
११. संजयंतो ति पुत्तो जाओ तस्सेव कणीयसो जयंतो नाम जातो।

(बालचन्द्रालम्भ : पृ. २६२)।

१२. तओ पुणो एइ सत्ताहे। ततो णं पुणो कोमुइया लवइ। (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. ३०७)

उपर्युद्धत वाक्यों और वाक्यांशों से यह स्पष्ट है कि कथाकार ने 'आर्ये हि सर्वे विद्यथो विकल्प्यन्ते' इसी सिद्धान्त को आधार मानकर अपने प्राकृत-प्रयोगों में पर्याप्त स्वतन्त्रता से काम लिया है। इसीलिए उन्होंने 'और' के अर्थ में प्रयुक्त 'च' का एक ही वाक्य में मूल रूप 'च' और विकृत रूप 'य' दोनों का प्रयोग किया है (द्र. उद्धरण-वाक्य-सं. १ और २)। पुनः 'च' के लिए 'अ' का भी प्रयोग किया है (द्र. उद्धरण-वाक्य-सं. ३)। आचार्य हेमचन्द्र ने एक सूत्र का विधान किया है : 'क-ग-च-ज-त-द-प-य-बां प्रायो लुक्' (८.१.११७)। इसके अनुसार प्राकृत में क, ग, च, ज, त, द, प, य और ब का प्रायः लोप रहता है। अतएव, 'च' का लोप होकर उद्धृत रूप 'अ' रह जाता है और 'य' श्रुति के कारण 'अ' को 'य' भी लिखा जाता है। कथाकार ने तीनों प्रकार से 'च' का प्रयोग किया है। इसी प्रकार मूलरूप 'त' और उद्धृत रूप 'अ' या फिर 'ति' और 'इ' दोनों का प्रयोग एक ही वाक्य में उपलब्ध होता है (द्र. उद्धरण-वाक्य-सं. ५, ७, ८, ९, ११, और १२)। ज्ञातव्य है कि प्राकृत में व्यंजन के लुप्त होने पर जो स्वर शेष रहता है, उसे उद्धृत स्वर कहते हैं। इसी प्रकार, कथाकार ने सन्धि के प्रयोग में भी स्वतन्त्रता से काम लिया है। (द्र. उद्धरण-वाक्य-सं. १०)।

पुनः बहुवचनान्तसूचक शब्दों के अन्त में एक ही वाक्य में 'उ' और 'ओ' दोनों का प्रयोग किया गया है। जैसे 'मुद्दाओ ठावियाओ' की जगह 'मुद्दाउ ठावियाओ' (द्र. उद्धरण-वाक्य-सं. ४)। निष्कर्ष यह कि कथाकार ने प्रायोगिक एकरूपता को कोई भी मूल्य नहीं दिया है। कहना न होगा कि कथाकार ने अपने प्राकृत-प्रयोगों द्वारा प्रायः सर्वत्र अपनी इस परम्परागत मान्यता को ही उद्भाविता किया है कि प्राकृत संस्कृत-योनि है। 'कर्पूरमंजरी' के बम्बई-संस्करण में वासुदेव की संजीवनी टीका में यह उल्लेख भी मिलता है कि 'प्राकृतस्य तु सर्वम् एव संस्कृतं योनिः'। (९.१२)

भारतीय वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों के मतानुसार, 'प्राकृत' कई साहित्यिक भाषाओं के समूह से निर्मित है और इसकी प्रकृति अथवा मूलाधार संस्कृत है। आचार्य भरत ने संस्कृत के ही विपर्यस्त, संस्कार-गुणवर्जित तथा नानावस्थान्तरात्मक रूप को प्राकृत कहा है।^१ इसकी सम्पुष्टि आचार्य हेमचन्द्र 'दशरूपक' के टीकाकार धनिक, 'वाग्भटालंकार' के टीकाकार सिंहदेवगणी, 'प्राकृतशब्दप्रदीपिका' के कर्ता नरसिंह आदि के आप्तवचनों से स्पष्टतया होती है।^२ उक्त भारतीय मनीषियों की, प्राकृत के संस्कृत-मूलक होने की अवधारणा, अवश्य ही, जैनागमों, चूर्णिग्रन्थों तथा 'वसुदेवहिण्डी' जैसे कथाग्रन्थ में प्राप्य प्राकृत-भाषा के स्वरूप को देखकर ही बनी होगी। कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' की प्राकृत, भाषा-समूह का युगपत् प्रतिनिधित्व करनेवाली तथा आगमिक जैनसूत्रों की अत्यधिक निकटवर्तिनी भाषा है। इसीलिए, यानी प्राचीन जैनसूत्रों के सामीप्य के कारण ही 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा को भाषिक तत्त्वान्वेषकों ने 'आर्य प्राकृत' की संज्ञा दी है। आर्य का तात्पर्य है—ऋषिप्रोक्त भाषा। मूल आगम में इसे ही 'ऋषिभाषित' कहा गया है। हेमचन्द्र द्वारा निर्दिष्ट आर्यभाषा की समस्त विशेषताएँ 'वसुदेवहिण्डी' की, विकल्पों की प्रचुरता से परिपूर्ण भाषा में विद्यमान हैं। हेमचन्द्र (१.३) ने लिखा है कि प्राकृत-व्याकरण के सभी नियम आर्य

१. एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।

विज्ञेयं प्राकृतं पादयं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ (नाट्यशास्त्र : १८.२)

२. विशेषण विवरणों के लिए द्रष्टव्य : 'प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण' : डॉ. रिचर्ड पिशाल; अनुवादक : डॉ. हेमचन्द्र जोशी : प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, प्र. सं. सन् १९५८ ई., पृ. १ (विषय-प्रवेश)

भाषा में लागू नहीं होते, इसलिए इसमें बहुत सारे विकल्प या अपवाद अथवा प्रयोग-स्वातन्त्र्य दृष्टिगत होते हैं।

डॉ. पिशाल-कृत विवेचन के आधार पर, 'वसुदेवहिण्डी' में प्रयुक्त प्राकृत के 'आर्ष प्राकृत' सिद्ध होने के सम्बन्ध में अनेक प्रामाणिक पक्ष प्राप्त किये जा सकते हैं; क्योंकि उन्होंने अपने विवेचन में 'आर्ष प्राकृत' के स्वरूप को विभिन्न दृष्टिकोणों से, श्लाघ्य प्रतिपादन के साथ, निरूपित किया है। 'आर्ष प्राकृत' के प्रायोगिक स्वातन्त्र्य को देखकर ही त्रिविक्रम (१३वीं शती) ने अपने प्राकृत-व्याकरण में आर्ष और देश्य भाषाओं को व्याकरण के नियमों से मुक्त घोषित किया है। आनुशासनिक उन्मुक्तता के कारण ही 'आर्ष प्राकृत' में एक ओर जहाँ संस्कृतमूलकता का स्वरूप दृष्टिगत होता है, वहीं दूसरी ओर अनेक स्वतन्त्र उत्पत्तिमूलक जनरूढ शब्दों के भी दर्शन होते हैं। इस प्रकार, रूढत्व और स्वातन्त्र्य, ये दोनों प्रायोगिक विशेषताएँ 'आर्ष प्राकृत' या 'ऋषिभाषित' में उपलब्ध होती हैं।

प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने दण्डी के 'काव्यादर्श' (१.३३) की टीका करते हुए प्राकृत के दो प्रकारों का निर्देश किया है : आर्षोत्थ और आर्षतुल्य। अर्थात्, एक प्रकार की प्राकृत वह है, जो आर्षभाषा से निकली है और दूसरी प्राकृत वह है, जो आर्षभाषा के समान है : 'आर्षोत्थ आर्षतुल्यं च द्विविधं प्राकृतं विदुः।' रुद्रट के 'काव्यालंकार' (२.१२) के टीकाकार नमिसाधु (११वीं शती) के मतानुसार, प्राकृत-भाषा की प्रकृति, अर्थात् आधारभूत भाषा प्राकृतिक है, जो सब प्राणियों की बोलचाल की भाषा है तथा जिसे व्याकरण आदि के नियम नियन्त्रित नहीं करते। इसका तात्पर्य यह भी है कि प्राकृत-भाषा प्राकृत या प्राक्कृत शब्दों से बनी है। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि प्राकृत, आर्षशास्त्रों में पाई जानेवाली अर्द्धमागधी भाषा है, जिसे देवताओं की वाणी कहा गया है : 'आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अर्द्धमागहा वाणी।' अतः, नमिसाधु के विचारानुसार, संस्कृत की आधारभूत भाषा प्राकृत है, अथवा संस्कृत की व्युत्पत्ति प्राकृत से हुई है। बौद्धों ने जिस प्रकार मागधी (पालि) को सब भाषाओं का मूलधार माना है ('सा मागधी मूलभाषा') उसी प्रकार जैनों ने अर्द्धमागधी (प्राकृत) को, अर्थात् वैयाकरणों द्वारा निर्दिष्ट आर्षभाषा को अन्य भाषाओं और बोलियों का मूलस्थानीय माना है। यद्यपि भाषिकी की दृष्टि से पालि मूलतः प्राकृत का ही एक भेद है।

अर्द्धमागधी की विशेषता उसकी सर्वप्राणिसम्बोध्यता है। नमिसाधु के मतानुसार, प्राकृत को स्त्रियाँ, बच्चे आदि भी अनायास समझ लेते हैं, इसलिए यह सब भाषाओं का मूल है। 'समवायांगसूत्र' (समवाय-सं. ३४) में तो यहाँ तक लिखा गया है कि भगवान् महावीर ने अर्द्धमागधी की सर्वजीव-सम्बोध्यता-रूप वैशिष्ट्य को देखकर ही इस भाषा में अपने धर्म का प्रचुर प्रचार किया : 'भगवं च णं अर्द्धमागहीए भासाए धममाइक्खइ। सावि य णं अर्द्धमागही भासा भासिज्जमाणीं तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसुणक्खिसिरीसिवाणं अण्णो हिय-सिक्ख-सुह्माए भासत्ताए परिणमइ।' अर्थात्, भगवान् यह धर्म (जैनधर्म) अर्द्धमागधी भाषा में प्रचारित करते हैं और यह अर्द्धमागधी भाषा जब बोली जाती है, तब आर्य, अनार्य, द्विपद-चतुष्पद, मृग, पशु आदि जंगली और घरेलू जानवर तथा पक्षी, सरीसृप आदि सब प्रकार के कीड़ों-मकोड़ों के लिए आत्महित, कल्याण और सुख देनेवाली भाषा के रूप में परिणत हो जाती है। यही बात 'औपपातिकसूत्र' में भी कही गई है।

‘वसुदेवहिण्डी’ के रचयिता **संघदासगणी** ने भी शान्तिनाथ तीर्थंकर के प्रवचन की भाषा के बारे में इसी आगमिक तथ्य को पुनरुद्भावित किया है कि शान्तिस्वामी ने, धर्म-परिषद् में श्रवणामृत-पिपासितों के लिए जिस धर्म का प्रवचन किया, उसकी भाषा का स्वर परम मधुर था और वह एक योजन (१२. ८ कि. मी.) की दूरी तक गूँजता था। पुनः जितने कानवाले जीव थे, उनके लिए प्रवचन में प्रयुक्त भाषा उन (जीवों) की अपनी-अपनी भाषा में परिणत हो जाती थी : ततो संतिसामी तित्थयरनामवेदसमए तीसे परिसाए धम्मं सवणामयपिवासियाय परममहुरेण जेयणनीहारिणा कण्णवंताणं सत्ताणं सभासापरिणामिणा सरेण पक्कहिओ (केतुमतीलम्प : पृ. ३४२)।^१

यथोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि सर्वप्राणिगम्य आर्ष प्राकृत और अर्द्धमागधी दोनों भाषाएँ एक ही हैं और आगमिक भाषाओं के सामीप्य, सरलता, प्रायोगिक स्वतन्त्रता तथा देश्य भाषाओं के मिश्रण के आधार पर ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा में आर्ष प्राकृत के अन्तर्गत अर्द्धमागधी के स्वरूप की उपलब्धि सहज ही सम्भावित है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथा की उत्पत्ति-भूमि मगध है और मगध देश के अर्द्ध प्रदेश की भाषा में ही निबद्ध होने के कारण प्राचीन सूत्रग्रन्थ ‘अर्द्धमागध’ कहलाते हैं : ‘मगहद्धविसयभासानिबद्धं अर्द्धमागहं।’ साथ ही, अर्द्धमागधी में अट्टारह देशी भाषाओं का मिश्रण माना गया है : ‘अट्टारसदेसीभासानियथं वा अर्द्धमागहं।’ तो, अर्द्धमागधी भाषा के देश में आविर्भूत ‘वसुदेवहिण्डी’ की आगम-शैली, यानी महावीर-श्रेणिक, सुधर्मा-जम्बू या फिर प्रसन्नचन्द्र-कूणिक की संवाद-शैली पर आधृत कथा की भाषा का अर्द्धमागधी से प्रभावित होना अस्वाभाविक नहीं है। इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण ध्यातव्य तथ्य यह भी है कि आगम-ग्रन्थों का संकलन-काल तथा ‘वसुदेवहिण्डी’ का रचनाकाल प्रायः एक है, इसलिए भी ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषिक वचोभंगी या शब्द-विन्यास या पदरचना-शैली अर्द्धमागधी के ही समीप पड़ती है। अतएव, मगधभूमि की देश्यभाषाबहुल अर्द्धमागधी के परिवेश से अनुबद्ध ‘वसुदेवहिण्डी’ की ‘आर्ष प्राकृत’ भाषा को मिश्रित प्राकृत-भाषा का कथाग्रन्थ कहना अत्युक्ति नहीं। वस्तुतः, ‘वसुदेवहिण्डी’ सर्वभाषामयी कथाकृति है।

‘वसुदेवहिण्डी’ में संस्कृतमूलक शब्दों का बाहुल्य है और कहीं-कहीं तो विशेषतया सार्वनामिक प्रयोगों में, प्राकृत-व्याकरण के नियमों की उपेक्षा करके संस्कृत-व्याकरण के नियमों का अनुसरण भी कथाकार ने किया है। व्याकरण के विद्वानों का एक मत यह भी है कि महाराष्ट्री संस्कृत के निकट है, इसी आधार पर वसुदेवहिण्डी की भाषा को महाराष्ट्री प्राकृत कहा जाता है और इसीलिए कतिपय मनीषी इस कथाग्रन्थ की भाषा को आर्ष जैन महाराष्ट्री प्राकृत कहते हैं, तो कतिपय विद्वान् महाराष्ट्री प्राकृत का प्राचीनतम रूप। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि महाराष्ट्री, शौरसेनी का एक शैलीगत भेद है। यह कोई स्वतन्त्र प्राकृत नहीं है। भेद की दृष्टि से शौरसेनी को ही स्वतन्त्र भाषा मानना चाहिए, जो एक प्रकार से दिगम्बर जैनागमों की मूलभाषा बन गई और दिगम्बरों के मत से यह शौरसेनी अर्द्धमागधी से भी तीन सौ वर्ष प्राचीन है। ज्ञातव्य है कि **संघदासगणी**, चूँकि श्वेताम्बर जैन थे, इसलिए भी उन्होंने शौरसेनी-महाराष्ट्री की अपेक्षा अर्द्ध-मागधी-आर्ष प्राकृत में अपनी कथा का गुम्फन अपने सम्प्रदाय के अनुकूल माना होगा।

१. तुलनीय : अर्द्धमागहा भासा तेसि सव्वेसि आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ।
(औपपातिकसूत्र : अनच्छेद ५६)

इसीलिए, 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा महाराष्ट्री की अपेक्षा अर्द्धमागधी के अधिक निकट है। इसके प्रायोगिक प्रमाण आगे उपन्यस्त होंगे।

डॉ. पिशाल^१ ने कोलहुक के मत के परिप्रेक्ष्य में अपनी भाषिक विवेचना को विस्तार देते हुए यह लिखा है कि मागधी-प्राकृत संस्कृत से निकली है और यह वैसी ही भाषा है, जैसी सिंहलदेश की पालि-भाषा। मागधी और अर्द्धमागधी ये दो नाम स्थान-भेद से पड़े हैं। तीर्थंकरों की भाषा अर्द्धमागधी का मूलस्थान पश्चिम मगध और शूरसेन (मथुरा) का मध्यवर्ती क्षेत्र अयोध्या मानी गई है; क्योंकि आदि तीर्थंकर ऋषभदेव अयोध्या के निवासी थे। प्रदेश की दृष्टि से अधिकांश विचारक इसे काशी-कोशल-प्रदेश की भाषा स्वीकार करते हैं। मागधी विशुद्ध मगध-प्रदेश या पूर्वमगध की भाषा थी। सिंहल में पालि को ही मागधी माना गया है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री^२ के अनुसार, अर्द्धमागधी की भाँति, पालि का रूप-गठन अनेक बोलियों के मिश्रण से हुआ है और इसपर छन्दस प्रभाव भी पूर्णतया सुरक्षित है। जैसा पहले कहा गया, पालि मूलतः प्राकृत का ही एक प्रकार है।

मागधी-प्राकृत या अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री की भिन्नता और अभिन्नता के सम्बन्ध में विरोधी और समर्थक मतों का बाहुल्य है। लास्सन का मत है कि मागधी-प्राकृत और महाराष्ट्री एक ही भाषाएँ हैं। याकोबी का सिद्धान्त है कि जैनशास्त्रों की भाषा बहुत प्राचीन महाराष्ट्री है। वेबेर का कहना है कि अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री के बीच कोई निकटतर सम्बन्ध नहीं है। ई. म्यूलर अर्द्धमागधी को प्रस्तर-लेखों की मागधी से सम्बद्ध मानता है। डॉ. पिशाल^३ ने अर्द्धमागधी पर महाराष्ट्री का प्रभाव पड़ने की चर्चा करते हुए लिखा है कि सम्भव है, देवर्द्धिगणी की अध्यक्षता में वलभी में जो सभा जैनशास्त्रों को एकत्र करने के लिए बैठी थी या स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में जो सभा हुई थी, उसने मूल अर्द्धमागधी भाषा पर पश्चिमी प्राकृत-भाषा महाराष्ट्री का रंग चढ़ा दिया हो। यह बहुत सम्भव है कि अर्द्धमागधी पर महाराष्ट्री का रंग वलभी में गहरा जम गया हो। फिर भी, ऐसा नहीं मालूम होता कि महाराष्ट्री का प्रभाव विशेष महत्वपूर्ण रहा होगा; क्योंकि अर्द्धमागधी का जो मूल रूप है, महाराष्ट्री से अस्पष्ट है। इसके अतिरिक्त, डॉ. पिशाल ने यह भी लिखा है कि जैन महाराष्ट्री पर अर्द्धमागधी ने अपना पूरा प्रभाव डाला है; क्योंकि अर्द्धमागधी की अधिकांश भाषिक विशेषताएँ जैन महाराष्ट्री में मिलती हैं।^४ इससे स्पष्ट है कि डॉ. पिशाल अर्द्धमागधी को जैन महाराष्ट्री का उपजीव्य मानते हैं और यही कारण है कि भाषाशास्त्रियों ने 'वसुदेवहिण्डी' की अर्द्धमागधी में जैन महाराष्ट्री की भाषिक विशेषताओं को देखकर उसकी भाषा को प्राचीन जैन महाराष्ट्री कहा है।

डॉ. हॉर्नले के अनुसार अर्द्धमागधी ही प्राचीन आर्य प्राकृत है, जिसका अर्वाचीन रूप महाराष्ट्री है। इसलिए, 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में प्राप्त भाषिक प्रकृति के आधार पर इसे 'आर्य प्राकृत, का प्राचीन रूप कहना अधिक उपयुक्त होगा। हाँ, यह और बात है कि इसमें अर्वाचीन महाराष्ट्री की भी प्रकृति उपलब्ध होती है।

डॉ. पिशाल के ही अनुसार, यह महत्वपूर्ण तथ्य भी उभरकर सामने आता है कि श्वेताम्बरों के आगमेतर ग्रन्थों की भाषा अर्द्धमागधी से बहुत भिन्नता रखती है। इसीलिए, याकोबी ने इस

१. 'प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण' (वही) : पृ. ३१ (विषय-प्रवेश)

२. 'प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (वही) : पृ. २८

३. 'प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण' (वही) : पृ. ३२-३३ (विषय-प्रवेश)

४. उपरिवत् : पृ. ३६-३७

प्राकृत को जैन महाराष्ट्री नाम से सम्बोधित किया है।^१ इसी आधार पर भाषा-विचारकों ने 'वसुदेवहिण्डी' को आगमेतर ग्रन्थ मानकर उसकी भाषा को प्राचीन जैन महाराष्ट्री की आख्या दी है। इसके अतिरिक्त, महाकाव्यों या महत्कथाकृतियों की भाषा भी सामान्यतः महाराष्ट्री-प्राकृत है। इसलिए भी, 'वसुदेवहिण्डी' जैसी कथाकृति की भाषा को भी महाराष्ट्री मान लिया गया है। 'गडडवहो' (वाक्पतिराज), 'गाहासत्तसई' (हाल सातवाहन) तथा 'रावणवहो' ('सेतुबन्ध': प्रवरसेन) ये तीनों काव्य महाराष्ट्री प्राकृत के प्रतिनिधि ग्रन्थ माने गये हैं। किन्तु 'वसुदेवहिण्डी' को, उसकी भाषा और साहित्य की दृष्टि से, इन तीनों से भिन्न आगमिक कोटि से ग्रन्थों में पंक्तिबद्ध करना युक्तियुक्त होगा। और, इस प्रकार की कोटि का निर्धारण होने पर 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा आर्षतुल्य ही नहीं, अपितु आर्षोत्थ प्राकृत के समकक्ष प्रतीत होगी।

डॉ. पिशल के ही विचार के आधार पर, 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा को महाराष्ट्री-प्राकृत मानने में एक विचिकित्सा उठ खड़ी होती है। विद्वानों का अभिमत है कि महाराष्ट्री को काव्योचित या गीतोचित कर्णमधुर भाषा बनाने के लिए, इससे व्यंजनों का ततोऽधिक बहिष्कार किया गया। इससे श्रोताओं को कोमलकान्त पदावली तो मिली, लेकिन इसका एक फल यह हुआ कि इसके शब्दों में अर्थगत भाषिक अनिश्चितता आ गई। एक शब्द कई संस्कृत-शब्दों का अर्थ देनेवाला बन गया। जैसे : कइ = कति, कपि, कवि, कृति ; काअ = काक, काच, काय ; गआ = गता, गदा, गजा; मअ = मत, भद, मय, मृग, मृत; वअ = वचस्, वयस्, व्रत; सुअ = शुक, सुत, श्रुत आदि-आदि। इसी अर्थगत अनिश्चयता को देखकर, बीम्स महोदय ने महाराष्ट्री को पुंस्त्वहीन (इमेस्वयुलेटेड स्टाफ) भाषा की संज्ञा दी है।^२ किन्तु, संघदासगणी द्वारा रचित 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में व्यंजनों का बहिष्कार बहुत ही कम किया गया है; इसलिए प्रसिद्ध शब्दशास्त्री क्रमदीश्वर के लक्षण में लक्ष्य की संगति करते हुए यह कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी कि 'वसुदेवहिण्डी' की पौरुषोत्तेजक भाषा महाराष्ट्री-मिश्रित अर्द्धमागधी^३ है, जो आर्ष प्राकृत से सादृश्य रखती है। चूँकि, आर्ष प्राकृत में अर्द्धमागधी और शौरसेनी दोनों की गणना की जाती है, इसलिए 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में शौरसेनी का भी कुछ प्रभाव सहज ही सम्मिलित है। निष्कर्ष यह कि 'वसुदेवहिण्डी' की आर्ष प्राकृत में अर्द्धमागधी की बहुलता के साथ ही महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि के अतिरिक्त पैशाची, अपभ्रंश आदि अन्य प्राकृत-भाषाओं की भी प्रकृति परिलक्षित होती है।

'वसुदेवहिण्डी' में उपलब्ध प्राचीन आर्ष प्राकृत या अर्द्धमागधी की रूप-रचना के उदाहरण स्थालीपुलाकन्याय से यहाँ उपन्यस्त हैं। यथोद्धृत शब्दों या वाक्यों में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियापद आदि सभी व्याकरण के अंग यथायथ द्रष्टव्य हैं।

१. अर्द्धमागधी में, दो स्वरों के मध्यवर्ती असंयुक्त 'क' के स्थान में प्रायः 'ग' और अनेक स्थलों में 'त' और 'य' तथा कहीं-कहीं विना य-श्रुति के 'अ' होते हैं। कहीं-कहीं 'क' का 'ख' भी होता है। वसुदेवहिण्डी में भी इस प्रकार के ध्वनि-परिवर्तन प्राप्य हैं।^४ जैसे :

१. 'प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण' (वही) : पृ. ३६ (विषय-प्रवेश)

२. उपरिवत् : पृ. १८

३. संक्षिप्तसार : पृ. ३८

४. पृष्ठ-संख्या सर्वत्र भावनगर-संस्करण के अनुसार है।—ले.

एगो < एकः (पृ.४); लोगधम्मो < लोकधर्मः (पृ.१४); सगडाणि < शकटानि (पृ.१५); कागिणी-
निमित्तस्स < काकिणीनिमित्तस्य (पृ.१५); उपयारो < उपकारः (पृ.१८); परलोयहिअं < परलोकहितं
(पृ.२३); पारणकाले < पारणकाले (पृ.२५); परिचत्तो < परित्यक्तः (पृ.२५); मिगपोयतो < मृग-
पोतकः (पृ.२४३); वागरिए < व्याकृते (पृ.२६); पगारेण < प्रकारेण (पृ.२८); बिब्बोय < बिब्बोक
(पृ.२८); निययाणं < निजकानां (पृ.३१); असोगवरपायवस्स < असोकवरपादपस्य (पृ.३५);
पगयं < प्रकृतं (पृ.३८); खिंखिणिमुह < किंकिणीमुख (पृ.१३६); खीलेहि < कीलैः (पृ.१३८);
वियड < विकट (पृ.४५); वयणीययं < वचनीयकं (पृ.८०); सत्ताहिगा < सत्त्वाधिकाः (पृ.८६); पडि-
यारं < प्रतिकारं (पृ.८७); सावया < श्रावकाः (पृ.८९); कोउगाणि < कौतुकानि (पृ.९५); पगासिय-
भावो < प्रकाशितभावः (पृ.११५); कडगमाणेरुण < कटकमानीय (पृ.१२७); लोकसुई < लोकश्रुतिः
(पृ.१३२); आगासउप्पयणेण < आकाशोत्पत्तेन (पृ.१३७); णागरया < नागरकाः (पृ.१५५); अम्बर-
तिलओ < अम्बरतिलकः (पृ.१७४); पच्चलो < पक्वलः (पृ.२०७); तिगिच्छियं < चिकित्सितं
(पृ.२११); अंगारओ < अंगारकः (पृ.२१७); तित्थयरदंसणं < तीर्थकरदर्शनं (पृ.५); विवाह को-
उयं < विवाहकौतुकं (पृ.२२५); एगागी < एकाकी (पृ.२३८); धनपुंजतो < धनपुंजकः (पृ.४४); नारतो
नारतेण < नारकः नारकेण (पृ.२७१); मूअत्तणं < मूकत्वं (पृ.२२३); सेणियो < श्रेणिकः (पृ.२५); काम-
पडागा < कामपताका (पृ.२९३); कामपडाया < कामपताका (पृ.२९४); नेरइयावास < नैरयिकावास
(पृ.२७१); इयर < इतरके (बहुव. पृ. ३०७); सुत्तिमतीए < शुक्तिमत्याः (पृ.१९१) आदि-आदि ।

इस नियम का कथाकार ने बहुशः उल्लंघन भी किया है और 'क' को अपरिवर्तित रखा है ।
जैसे : एक्कं (पृ.३४); दिवाकरदेवेणं (पृ.१९३); जणकस्स (पृ.२४१); गुलिकाओ (पृ.२१८);
णीयकगुणो = निजकगुणः (पृ.२०२); साकेए नयरे (पृ.१८५); विमलोदकं, वरुणोदकं, वरुणोदिका
(पृ.२५०); कारवत्तिका < कारपत्रिका (पृ.३५४); रेणुका, रेणुकाए (पृ.२३८); अंगारको (पृ.२१७);
केकईए < कैकेय्या (पृ.२४१) आदि-आदि । इस प्रकार कथाकार ने अनेकानेक शब्दों का संस्कृत
मूलवत् प्रयोग किया है । इससे स्पष्ट ही 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में महाराष्ट्री की भाँति
व्यंजन-बहिष्कार की प्रचुरता नहीं है, अपितु उसकी अल्पता की ओर ही प्रायः सहज झुकाव दिखाई
पड़ता है ।

२. अर्द्धमागधी में व्याकरणिक अनुशासन के अनुसार, दो स्वरों के बीच का असंयुक्त 'ग'
यथावत् रहता है और कहीं-कहीं 'य' और 'य'-श्रुतिरहित 'अ' भी होता है । 'वसुदेवहिण्डी' में
प्रायः इसके कतिपय उदाहरण निम्नांकित हैं :

आगओ < आगतो (पृ.६०); आगतमगेण < आगतमार्गेण (पृ.३); नगरमागतो < नगरमागतः
(पृ.३); उवगयं < उपगतं (पृ.३९); नयरस्स < नगरस्य (पृ.३९); आगमणं < आगमनं (पृ.३६);
पयागं < प्रयागं (पृ.४३); नयरीए < नगर्याम् (पृ.७९); आगतो < आगतः (पृ.७९); सागरचंदो < सागर-
चन्द्रः (पृ.४९); गिरिनयरं < गिरिनगरं (पृ.५०); सायरसेण < सागरसेन (पृ.१७६); सुगंध-
मुहिं < सुगन्धमुखीम् (पृ.२२०); वरतुरगकुंजरे < वरतुरगकुंजराः (पृ.२४६); णागराया < नागराजः
(पृ.२५२); मिगो < मृगः (पृ.२५५); संगमं < संगमं (पृ.२५५); पोराममसत्थं < पौराममशास्त्रं (पृ.२५९);
गगणवत्तहे < गगनवत्तभे (पृ.२६२); उरगो < उरगः (पृ.२७७); छगलो < छगलः (पृ.२७८);
अणगारो < अनगरः (पृ.२८६); अरोगो < अरोगः (पृ.२९५); सगरो < सगरः (पृ.३००); धरणि-
गोयरस्य < धरणिगोचरस्य (पृ.३११); आगमे < आगमे (पृ.३१४); जोइसविज्जापारगो < ज्योतिर्वि-

छा-पारगः (पृ.३१५); अमियवेओ<अमितवेगः (पृ.३१८); नागपुरं<नागपुरं (पृ.३३८); हेष्फओ<हेष्फगः (पृ.३५८) आदि-आदि । ग का त में परिवर्तन भी 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में प्राप्य है । यथा : कयदेहच्चातो<कृतदेहत्यागः (पृ.२२) ।

३. अर्द्धमागधी में दो स्वरों के बीच आनेवाले असंयुक्त 'च' और 'ज' के स्थान में 'त' और 'य' होने की प्रकृति पाई जाती है । ऐसे शब्द 'वसुदेवहिण्डी' में भी प्राप्य हैं । उदाहरण :

पयासुहे<प्रजासुखे (पृ.२); रायगिहं<राजगृहं (पृ.२); पव्वयामि<प्रव्रजामि (पृ.४); सरय-
पुणिणमायंदो<शरत्पूर्णिमाचन्द्रः (पृ.७); पओयणं<प्रयोजनं (पृ.७); मणुयलोयसारा<मनुजलोकसाराः
(पृ.७); धम्ममायरंतो<धर्ममाचरन्तः (पृ.८); अयगरो<अजगरः (पृ.८); नियगविण्णाणं<निजकविज्ञानं
(पृ.१०); वाणियओ<वाणिजकः (पृ.१५); सूइयारोगेण < सूचिकारोगेण (चि का इ : पृ.१७);
वयणेहि<वचनैः (पृ.१८); राया<राजा (पृ.२०); पाणभोयणेणं<पानभोजनेन (पृ.२५); उपय-
रेण<उपचारेण (पृ.२७); तेयस्सी<तेजस्वी (पृ.१५८); आयरिया<आचार्याः (पृ.२८); वायाए<वाचा
(पृ.३२); सोयमाणा<शोचन्ती (पृ.३६); परियण<परिजन (पृ.३९); रायसिरिं<राजश्रीं (पृ.३९);
पूया<पूजा (पृ.४१); सयण<स्वजन (पृ.४६); पोत्थयवायणकुसला<पुस्तकवाचनकुशला
(पृ.६८); साहु- वयणं<साधुवचनं (पृ.६९); रायमगं<राजमार्गं (पृ.६९); आयंबिलतवफलवि-
सेसे<आचाम्लतपःफलविशेषे (पृ.७२); अयलो<अचलः (पृ.७७); जुयराया<युवराजः (पृ.७९);
नमुइं<नमुचिं (चि का इ : पृ.७९); गयपुरं<गजपुरं (पृ.८९); पओअणं<प्रयोजनं (य-श्रुतिरहित,
पृ.१२७); रायतं<राजत्वं (पृ.१२८); रयतवालुयं<रजतवालुकं (पृ.१३४); रायपुरं<राजपुरं
(पृ.१४८); सक्कज्जयं<शक्रध्वजं (पृ.१५९); रुयगसहा<रुचकसहा (पृ.१६०); णवजोयण-
वित्थिण्णा<नवयोजन-विस्तीर्णा (पृ.१६२); रायभवणं<राजभवनं (पृ.१७९); वातिगजणपरि-
वुडो<वाचिकजनपरिवृतः (पृ.२०१); कयातिं<कदाचित् (पृ.४९); तिगिच्छियं<चिकित्सितं
(पृ.१०३); मिगद्धओ<मृगध्वजः (य-श्रुतिरहित, पृ.२७०-२७१); पयावई<प्रजापतिः (पृ.२७६);
पव्वतितो<प्रवजितः (पृ.२९८) आदि-आदि ।

'वसुदेवहिण्डी' में प्राप्य अर्द्धमागधी की भाषिक प्रवृत्ति और प्रकृति के अन्य उदाहरण इस प्रकार हैं ।

४. दो स्वरों के मध्यवर्ती त की यथावत् स्थिति और कहीं-कहीं त का य में परिवर्तन :

अणुजाणंतु<अनुजानन्तु (पृ.१); भयवन्तं<भगवन्तं (पृ.३); सुणंति<शृण्वन्ति (पृ.५);
अंतरा<अन्तरा (पृ.५); विदितं<विदितं (पृ.६); वातविधूया<वातविधूताः (पृ.८); भणितो<भणितः
(पृ.९); पिता पितामहो वा<पिता पितामहो वा (पृ.१४); पियरं<पितरं (पृ.१४); गतो<गतः (पृ.१५);
प्रायः सर्वत्र; ततो<ततः (पृ.१७); प्रायः सर्वत्र; धम्मदूतो<धर्मदूतः (पृ.१७); निवसति<निवसति
(पृ.१९); क्रियापदों में त की अनेक यथास्थिति; सुमरति<स्मरति (पृ.१९); सहितो<सहितः
(पृ.२३); संपुइया सम्पूजिता (पृ.२९); निवेदेति<निवेदयति (पृ.२९); परिवसति<परिवसति (पृ.२९);
होति<भवति (पृ.३१); आगतो, जातो<आगतः, जातः (पृ.३१); प्रायः सर्वत्र; कतो<कृतः (पृ.३५);
पडिसुयं<प्रतिश्रुतं (पृ.३९); गंतुं<गन्तुम् (पृ.५५); परिसंठवेति<परिसंस्थापयति (पृ.५६);
तिप्पति<तृप्यति (पृ.६४); सेता<श्वेता (पृ.६९); अच्छति<अस्ति (पृ.६९); विसज्जेति<विसर्जति
(पृ.७५); रुक्वती<रूपवती (पृ.७८); विणयवती<विनयवती (पृ.७९); उवदिसति<उपदिशति

(पृ.८७); सिलायले<शिलातले (पृ.९१); रसातलं<रसातलं (पृ.१९१); भणति<भणति (पृ.९३); णिगगतो<अङ्गतो<निर्गतः अतिगतः (पृ.९५); वज्जति<वज्जति (पृ.९५); द्वितो<स्थितः (पृ.९७); कयरी<कतरी (पृ.१०३); ठितो<स्थितः (पृ.११२); पिषा मतो<पिता मृतः (पृ.११३); सोचिहिति<शोचिष्यति (पृ.१६८); सचेयणो<सचेतनः (पृ.१६७); ठिया<स्थिता (पृ.१६८); अतिगया<अतिगता (पृ.१६८); संकुचितो<संकुचितः (पृ.१६८); सुद्वयरं<सुष्ठुतरं (पृ.२०६); रायमाया<राजमाता (पृ.३१७); पुच्छति<पृच्छति (पृ.२०४); कहिओ<कथितः (पृ.२०६ : य-श्रुति-रहित); पच्चुगगतो<प्रत्युद्गतः (पृ.२०६); पुरतो<पुरतः (पृ.३६९); मातं<मातरं (पृ.६०); जीवियं<जीवितं (पृ.२९); अयिरिभूतचित्तपडियारा<अजरीभूतचित्तप्रतिकारा (पृ.१६३); परिहायति<परिजहाति या परिजहति (पृ.२२९); अहिजातीय<अभिजात्या या आभिजात्या (पृ.२२९); बंधुमती<बन्धुमती (पृ.२८२); रतिसेणिया<रतिसेनिका (पृ.२२९); कयनाडयं<कृतनाटकं (पृ.२९२); कतंजली<कृतांजलिः (पृ.१४३); नरवती<नरपतिः (पृ.२९३); सुरवती<सुरपतिः (पृ.१६२); चिद्धति<तिष्ठति (पृ.२२८); मियावती<मृगावती या मृगवती (पृ.२७५); देवगतीते<देवगत्या (पृ.१५९) आदि-आदि ।

कहना न होगा कि अर्द्धमागधी की, 'त' की यथावत् स्थिति या 'त' का 'य' में परिवर्तन की प्रकृति 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में व्यापक रूप में प्रचुरता से विद्यमान है। कहना तो यह चाहिए कि 'त' की यथास्थिति 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा की अपनी विशेषता है। इसके अतिरिक्त, अर्द्धमागधी की 'द' की यथास्थिति या फिर 'द' का 'त' में परिवर्तन भी 'वसुदेवहिण्डी' में भूरिशः उपलब्ध होता है। यहाँ कतिपय, इस प्रकार के संयुक्त और असंयुक्त ध्वनियों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

५. विदियसारो<विदितसारः (पृ.४); विदारियमुहो<विदारितमुखः (पृ.९); मेहोदण<मेघो-दयेन (पृ.१०); ललियंगतो<ललितांगदो (पृ.१० तथा १६६, १७४, १७५); वमणिविरेयणा-दीहि<वमणिविरेचनादिभिः (पृ.१३); पदेसे<प्रदेशे (पृ.१४); अभिवादयामि<अभिवादये (पृ.१८); तदावरणिज्जखओवसमेण<तदावरणीयक्षयोपशमेन (पृ.२२); अद्दसहस्सं<अर्द्धसहस्रं (पृ.२९); वुद्धेहि<वृद्धैः (पृ.७८); वदिता<वदित्वा (पृ.३९); सामिपादमूलं<स्वामिपादमूलं (पृ.३९); पसादेण<प्रसादेन (पृ.३९); अच्चादरेण<अत्यादरेण (पृ.४१); मदभिभलस्स<मदविह्वलस्य (पृ.६४); कम्मावदायं<कर्मावदातं (पृ.६९); मदनसर<मदनशर (पृ.८०); वरदानदीतीरे<वरदानदीतीरे (पृ.८०); दामोदरेण<दामोदरेण (पृ.८१); वादत्थी<वादाथी (पृ.८५); अवदायसामो<अवदातश्यामः (पृ.८६); नारदो<नारदः (पृ.९३, १९०); बदरमुण्डं<बदरमुण्डं (पृ.९५); आदीवियाणी<आदीपितानि (पृ.११३); गंधव्वेदपारंगया<गन्धर्व्वेदपारंगता (पृ.१२६); पदाणि<पदानि (पृ.१३६); इदाणि<इदानीं (पृ.१४२); आच्छादनालंकार<आच्छादनालंकार (पृ.१४५); आसंदए<आसन्दके (पृ.१४७); करगोदयं<करकोदकं (पृ.१४८); नदिं<नदीं (पृ.१४८); उदंतं<उदन्तं (वृत्तान्तं : पृ.१५२); धम्मोवदेसगो<धर्मोपदेशकः (पृ.१५३); विसंवदितदेहबंधो<विसंवदितदेहबन्धः (पृ.१६८); वेदपरिच्चयं<वेदपरिचयं (पृ.१८२); खीरकदंबो<क्षीरकदम्बः (पृ.१९०); जीह-च्छेदो<जिह्वाच्छेदः (पृ.१९१); हितयरुइता<हृदयरोचिताः (पृ.२२१); पदुट्टो<प्रदुष्टः (पृ.२९३); मह-नदीं<महानदीं (पृ.३०५); तदागतो<तदागतः (पृ.३३२); कदायि<कदाचित् (पृ.३३४); अण्णता<अन्यदा (पृ.३३१); भूयवातिएहि<भूतवादिभिः (पृ.३१३); मदीएहि<मदीयैः (पृ.२८५);

पवादिआणि< प्रवादितानि (पृ.१३०); पादवसंधरिस-समुद्भिओ< पादपसंधर्ष-समुत्थितः (पृ.१६१); पिप्पलादेण< पिप्पलादेन (पृ.१५२); कयपादसोओ< कृतपादशौचः (पृ.२०५); पादवसंकुलो< पाद-पसङ्कुलः (पृ.१७२); पीणुण्यहारहरसहितयहरसंहितपयोहरा< पीनोन्नतहारहासशीलहृदयहरसंहित-पयोधरा (पृ.१२३); कतलीखंभसन्निभोरु< कदलीस्कम्भस्तम्भ) -सन्निभोरु (पृ.१२३); विविधसत्यविसारतो< विविधशास्त्रविशारदः (पृ.२५५); धणतोवमानं< धनदोषमानं (पृ.२१८); चोदेहि< चोदय (पृ.२०७); कविलातीहि< कपिलादिभिः (पृ.२०६) आदि-आदि। इस सन्दर्भ से यह बात अधिक स्पष्ट होती है कि 'वसुदेवहिण्डी' की भाषिक प्रवृत्ति में अर्द्धमागधी के तत्सम-प्रयोग की सहज प्रवृत्ति का बाहुल्य है।

६. 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में अर्द्धमागधी की भाँति प के स्थान पर व की सहज प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। कतिपय उदाहरण :

कूवो< कूपः (पृ.८); उवगारं< उपकारं (पृ.१४); खवियं< क्षपितं (पृ.१७); पिउसमीवे< पितृ-समीपे (पृ.१८); उवायपुव्वं< उपायपूर्वं (पृ.२१); दससागरोवम< दशसागरोपम (पृ.२५); जण-वओ< जनपदः (पृ.२९); उवणिज्जउ< उपनयतु (पृ.२९); सहाविओ< शब्दापितः (पृ.३३); भोयणमंडवे< भोजनमण्डपे (पृ.३३); काहावणेणं< कार्वाणणेन (पृ.५७); लवियं< लपितं (पृ.६६); पावजणावासकम्मनिलए< पापजनावासकर्मनिलये (पृ.७५); रूवस्सिणी< रूपवती (पृ.७८); तवस्सी< तपस्वी (पृ.१०१); ण्हाविओ< स्थापितः (पृ.१०७); वावि< वापी (पृ.१२३); वीणा-कावारो< वीणाव्यापारः (पृ.१३२); पायवं< पादपं (पृ.१३५); अहमवि< अहमपि (पृ.१४७); रिक्-दमनो< रिपुदमनः (पृ.५९); तावसा< तापसाः (पृ.१६३); पडिमापडिवण्णो< प्रतिमाप्रतिपन्नः (पृ.१७७); दीवमणिपगासियं< दीपमणिप्रकाशितं (पृ.१७८); कोवपसायणोवायचितापरो< कोपप्रसादनो-पायचिन्तापरः (पृ.१७८); विवागकहा< विपाककथा (पृ.२१९); रूवसिरी< रूपश्रीः (पृ.२३३); उव-वण्णो< उपपन्नः (पृ.२३५); ठवेइ< स्थापयति (पृ.२३९); समणोवासओ< श्रमणोपासकः (पृ.२४); कुवियाणणा< कुपितानना (पृ.२४१); वेविरकोवणा< वेपिरकोपना (पृ.२४७); पावाए< पापया (पृ.२५०); दयावरो< दयापरः (पृ.२६१); मरुप्पवाया< मरुत्पवाताः (पृ.२६६); निरुवलेवेण< निरुप-लेपेन (पृ.२६६); महुरपलाविणो< मधुरप्रलापिनः (पृ.२६९); तवोकम्मेण< तपःकर्मणा (पृ.२७४); पयावइस्स< प्रजापतेः (पृ.२७६); तिविडु< त्रिपृष्ठः (पृ.२७६); विणिवायं< विनिपातं (पृ.३२८); अरिजयपुराहिवेण< अरिजयपुराधिपेन (पृ.३६५); कवटमरण< कपटमरण (पृ.३६६); नंदगोव-गोठे< नन्दगोपगोष्ठे (पृ.३७०); उवज्झायो< उपाध्यायः (पृ.३७०) आदि-आदि। कहना न होगा कि प के व में परिवर्तन की प्रवृत्ति वसुदेवहिण्डी की भाषा में आद्यन्त दृष्टिगत होती है। साथ ही, प की यथास्थिति भी बहुलता से उपलब्ध होती है।

७. 'वसुदेवहिण्डी' की भाषिक प्रवृत्ति में स्वरमध्यवर्ती 'य' की यथास्थिति मिलती है, किन्तु 'य' का 'त' भी अपनी विकृति के साथ अनेकत्र प्रयुक्त है। उदाहरणस्वरूप कतिपय प्रयोग द्रष्टव्य हैं :

(क) जिब्बिदिय< जिह्वेन्द्रिय (पृ.६); विणयपणओ< विनयप्रणतः (पृ.७); पलायमाणेण-
< पलायमानेन (पृ.८); हिययगहण< हृदयग्रहण (पृ.१३); पायसं< पायसं (पृ.२२); रूवातिसयं< रूपा-
तिशयं (पृ.३८); सयणिज्जं< शयनीयं (पृ.४१); पयागं< प्रयागं (पृ.४३); विपलातो (विपलायो अथवा
य-श्रुतिरहित विपलाओ) < विपलायितः (पृ.४४); वायामकठिणगतो< व्यायामकठिणगात्रः (पृ.४५);
आहाइतो (आहाइओ-यो) < आधावितः (पृ.४५); सोयपुण्णहियतो< शोकपूर्णहृदयः (पृ.४७); ठितो

(ठियो-ओ) < स्थित, पडिलाभितो (पडिलाभियो-ओ) < प्रतिलाभित; निग्गतो (निग्गयो-ओ) < निर्गत; (पृ.४७) आदि-आदि । यहाँ ज्ञातव्य है कि अतीतकालीन कृ-प्रत्ययान्त क्रियापदों में या फिर 'पुरओ', 'तओ-तयो' आदि अव्ययों में इस प्रकार 'य' का 'त' में परिवर्तन प्रचुरता से प्राप्त होता है । इस सन्दर्भ में ग्राहितो, ठवितो, ठावितो, आणीतो, पेसितो, पतितो, जातो, निवारितो, भणितो, पुच्छितो, कारितो, मारितो, आगतो, आगता, गतो, उपगतो, मतो, कतो, कतं, चितितं, अवधारितं, वंदितो, पव्वितो, निवेदितं, पच्छादिते, पूजितो, मिलितो, चुतं, अम्हितो, अम्हियो-ओ < आश्चर्यित; विस्मित: (पृ.२४८) आदि-आदि । विभिन्न क्रियापदों के तीनों लिंगों तथा ततो, पुरतो आदि अव्ययों के प्रयोगों की सघनता 'वसुदेवहिण्डी' में यत्र-तत्र-सर्वत्र द्रष्टव्य है । इसलिए यहाँ तदितर विशिष्ट प्रयोगों को ही उपन्यस्त करना समीचीन होगा ।

(ख) 'य' की यथास्थिति और 'य' का 'त': मातं (मायं) < मातरं (पृ.६०); भयवता (भयवया) < भगवता (पृ.३६८); पतिणो (पडिणो) < पत्यु: (पृ.३६९); नयणविसयं < नयनविषयं (पृ.३६५); पंचिदिय < पंचेन्द्रिय (पृ.२७८); हियतेण < हृदयेन (पृ.३२); हियते < हृदये (पृ.२२८); अडवीते (ये-ए) < अटव्यां (पृ.४३); चातिओ (चाइयो : य-श्रुतिरहित) < पारित; शक्त: (पृ.१९५); सुगतिइ (गमन) < सुगतिगमन (पृ.१८४); संजतो (यो) < संयत: (पृ.२७३); जत्तातो (यो-ओ) < यात्रात: (पृ.११); भीतो (यो-ओ) < भीत: (पृ.२७३); अतीते (ये) सु < अतीतेषु (पृ.३६६); समंततो (ओ-यो) < समन्तत: (पृ. ३६२) आदि-आदि । 'ते' के स्थान पर 'ए' भी । जैसे : गएसु < गतेषु (३६९); उवागए < उपागते (तत्रैव) आदि ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि संघदासगणी ने अव्यय और संज्ञापदों में, विशेषतया क्रियापदों में 'य' की जगह 'त' की स्थिति या 'त' को तत्सम रूप में ही छोड़ देने की स्थिति स्वीकार की है । 'य' के स्थान में 'त' की तत्समबहुलता अर्द्धमागधी की विशिष्ट प्रकृति है ।

८. अर्द्धमागधी की भाषिक प्रवृत्ति में स्वरमध्यवर्ती व की यथास्थिति होती है, कहीं-कहीं उसका य में या य-श्रुतिरहित 'अ' में भी परिवर्तन होता है । 'वसुदेवहिण्डी' की भाषिक प्रकृति की भी बहुधा यही प्रवृत्ति है । कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

पवेसिओ < प्रवेशित: (पृ.१०); भवइ < भवति (पृ.१०); पसवणकाल < प्रसवनकाल (पृ.११); जीवा < जीवा: (पृ.१४); देवीसहिओ < देवीसहितो (पृ.१७); समवाओ < समवाय: (पृ.१८); उस्सवो < उत्सव: (पृ.१९); सावज्जं < सावद्यं (पृ.२१); पडिनियत्तस्स < प्रतिनिवर्तितस्य (पृ.११); नियत्तह < निवर्तस्व (पृ.२१); संवरियदुवारं < संवृतद्वारं (पृ.२१); लायण्ण (अ) < लावण्य (पृ.२३,२८); सपरिवारस्स < सपरिवारस्य (पृ.२३); तहेव < तथैव (पृ.२४); गतिमणुयत्तमाणी < गतिमनुवर्त्तमाना (पृ.३५९); परभवे < परभवे (पृ.२६); विहवाणुरूपेण < विभवानुरूपेण (पृ.२७); नवजोव्वणगुणे- < नवयौवनगुणं (पृ.२९); खेतनियत्तणं < क्षेत्रनिवर्त्तनं (पृ.३०); वणदवेण < वनदवेन (पृ.३६); देवया < देवता (पृ.३७); भवणवासिणी भवणवणदेवया < भवनवासिनी भवनवनदेवता (पृ.४१); पयट्ठाविओ < प्रवर्त्तितो (पृ.४५); कूयं (कूवो) < कूपं (पृ.५२); परायत्तणकीलियं < परावर्त्तनकीलकं (पृ.६३); सहाओ (य-श्रुतिरहित) < स्वभाव: (पृ.१६४); नियत्तित < निवर्त्तित (पृ.२४१) आदि-आदि ।

९. अर्द्धमागधी में णत्वविधान का स्वातन्त्र्य उपलब्ध होता है, इसलिए शब्द के आदि, मध्य (अन्त में नहीं) और संयोग में सर्वत्र ण की तरह न भी स्थित रहता है । पूरी 'वसुदेवहिण्डी' में ऐसे भाषिक प्रयोगों का अतिशय प्राचुर्य है । निदर्शन के लिए कतिपय शब्द द्रष्टव्य :

आदि में : नाम (पृ. २); निज्जर (पृ. ३); निच्छओ (पृ. ४); नयणमणहरं (पृ. ५); निग्गओ (पृ. ४६); नागरेहि (पृ. ११३); निवारेंति (पृ. १२७); नट्टोवहारेण (पृ. १५६); नदीसेत (पृ. १३४); नगरं (पृ. २२७); नंगलग्गे (पृ. २४१); निद्धा (पृ. २६७); निवसत्तु (पृ. २६९); नाहिलसइ (पृ. २७८); नज्जए (पृ. २७८); नरा (पृ. २६७); निरुव्विग्गा (पृ. ३१३); निमित्तिणा (पृ. ३१७); नहयलं (पृ. ३३१); नमो भयवओ (पृ. ३३९); नाऊण (पृ. ३६८); नेसि (पृ. ३६९); नियगभवनमागतो (पृ. ३६९) आदि-आदि ।

मध्य में : जलधरनिनादं (पृ. ३); जंबुनामेण (पृ. १०); ओहिनाणं (पृ. ११); एयनामो (पृ. ११); किंनिमित्तं (पृ. ४०); सीहनाओ (पृ. ५५); अहिनेदंति (पृ. ७०); दिट्ठनट्टो (पृ. ८३); सच्चभामानिमित्ते (पृ. ९७); अतिसयनाणी (पृ. १८९); वेसानरेण (पृ. २३७); दंडनीईए (पृ. २५७); सीहनंदिया (पृ. ३२१); परिनेव्वाणं (पृ. ३३७); पव्वयनारदविवाते (पृ. ३५७); निययनार्माकिओ (पृ. ३६५) आदि-आदि ।

संयुक्ताक्षरों में शब्द के मध्य और अन्त में भी न का संयुक्त रूप मिलता है । जैसे : दिन्ना, मन्ने, समुप्पन्ना (पृ. ११); तन्निमित्तं (पृ. १९); विन्नवेइ (पृ. १९); पसन्नचंदो (पृ. १९); आसन्नो (पृ. २१); करेणुपरिकिन्नो (पृ. २३); कप्पाकप्पविहिन्नू (पृ. २५); अन्नकुंड (पृ. २७); मन्निस्सामि (पृ. ५७); पुन्ना (पृ. ६०); अन्नोन्ननेहणुराग (पृ. ६५); सव्वन्नू (पृ. ११०); सन्निभोरू (पृ. १२३); तिन्नि (पृ. १८४); धन्नंतरी (पृ. २३७); पडिवन्नो (पृ. २६१); मिच्छत्तसमोच्छन्नेण (पृ. २७९); अन्नमन्नसमल्लीणाओ (पृ. २८७); जन्नदत्ता (पृ. ३०); रन्नो (पृ. ६१); दोन्नि (पृ. ६२); जन्नवक्को (पृ. १५१, १५२) आदि-आदि ।

१०. वाक्यार्थद्योतक 'इति' के स्थान में स्वरांत शब्दों के बाद 'ति' या सानुस्वार शब्दों के बाद 'ति' का प्रयोग आगमिक अर्द्धमागधी में प्राप्त होता है । 'वसुदेवहिण्डी' में भी अर्द्धमागधी की यह प्रवृत्ति पूर्णतया सुरक्षित है । यद्यपि यह प्रवृत्तिगत भाषिक स्वरूप का उल्लेखनीय निर्णायक तत्त्व नहीं है । कतिपय उदाहरण :

अप्पाणं सारक्खमाणी अच्चिय ति (पृ. ४९); पुण्णो य मे मणोरोहो ति (पृ. ६६); किं पभायं सुणेण छाइज्जइ ? ति (पृ. ७२); अलं जुज्जेणं ति (पृ. ८१); वासुदेवेण भणिया-कह कह ? ति—सच्चभामा भणति—जइ अम्हेहि भणिणी वंदिया तुज्जं किं इत्थ वत्तव्वं ? ति (पृ. ८२); सो मे एयमट्ठं वागरेहिइ ति (पृ. ८४); पणिए कोडिं देहि ति (पृ. १०५); जो जुवाणो रूवस्सी सविज्जो माहणो खत्तिओ वा सो मे आणेयव्वो ति (पृ. १२१); नत्थि पुरओ, उव्वत्तो मण्णे होहिति ति (पृ. १४३); चारुसामि ! चंपागमणूसुओ ममं सुमरसु ति (पृ. १५३); देहि मे पडिवयणं ति (पृ. १६५); देव ! कोइ तरुणो रूवस्सी तेयस्सी अद्धाणागतो य इच्छति तुब्भे दट्ठुं ति (पृ. २०५); नत्थि इतो उत्तरीयं ति (पृ. २५५); सामि ! जहा मे दिवसो गतो, जं च मे सुयं समणुभूयं च तं सव्वं सुणेह मि ति (पृ. २८३); गन्धगए जणणीए अरो रयणमओ सुमिणे दिट्ठो ति (पृ. ३४६) आदि-आदि ।

११. 'यथा', 'यदि', 'यत्', 'यः' और 'यावत्' शब्दों में 'य' का 'ज' में परिवर्तन जैसी अर्द्धमागधी की सहज भाषिक प्रवृत्ति 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में भी विद्यमान है । यथा :

जाव < यावत् (पृ. ३); जावज्जीवं < यावज्जीवं (पृ. ३०); जहा < यथा (पृ. ४); जइ < यदि (पृ. ४); जो < यः (पृ. ५); जहासुतं < यथाश्रुतं (पृ. ११); जं < यत् (पृ. ४३) आदि ।

इसी प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन पूरे ग्रन्थ में द्रष्टव्य है । ज्ञातव्य है कि 'यत्' शब्द या यकारान्त सभी शब्दों के सभी रूपों में 'य' का 'ज' में परिवर्तन प्राकृत-भाषा की अपनी सहज प्रवृत्ति है ।

किन्तु 'यत्' और 'यदि' के लिए 'जय' (पृ.१२ और १००) रूप भी 'वसुदेवहिण्डी' में प्राप्त होता है। कहना न होगा कि भाषिक प्रयोग-स्वातन्त्र्य 'वसुदेवहिण्डी' की अन्यत्रदुर्लभ वैशिष्ट्य है।

१२. अर्द्धमागधी की भाषिक प्रवृत्ति के समानान्तर 'वसुदेवहिण्डी' में भी 'गृह' शब्द का 'घर', 'हर' और 'गिह' आदेश प्राप्त होते हैं। यथा :

रायगिहं< राजगृहं (पृ.२); भूमिघरं< भूमिगृहं (पृ.४४); भूयघरं< भूतगृहं (पृ.५४); वास-घरं< वासगृहं (पृ.७); कयलिलयाजालमोहनघरेसु< कदलीलताजालमोहनगृहेषु (पृ.३५९); आयंस-घरं< आदर्शगृहं (पृ.३५४); कस्स इमं घरं< कस्य इदं गृहं? (पृ.३४); आयरियगिहं< आचार्यगृह (पृ.३७); कुलघरं< कुलगृहं (पृ.१२०); लयाहरए< लतागृहे, लतागृहके (पृ.१३७); लयाहरं< लतागृहं (पृ.१३७) आदि-आदि।

१३. अर्द्धमागधी की स्वरभक्ति की प्रवृत्ति 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में भी उपलब्ध होती है। कतिपय उदाहरण :

समुसुओ< समुत्सुकः (पृ.१६); गरिहणं< गर्हणं (पृ.१७); आयंबिलं< आचाम्लं (पृ.२५); झियायंतो< ध्यायन्तः (पृ.३४); आचार्य< आयरिय (पृ.३७); इरिया< इर्या (पृ.३९); फरचरिय-सिक्खा< फलचर्या-शिक्षा (ढाल चलाने की शिक्षा : पृ.५५); निसिरियवलणा< निसर्जितचरणा (पृ.६०); सिरीओ< श्रीकः (पृ.६६); संजायहरिसरोमकूवा< संजातहर्षरोमकूपाः (पृ.७२) किलिस्सइ < क्लिश्यति (पृ.१८१); पुढवी< पृथ्वी (पृ.७३); सुदरिसणा< सुदर्शना (पृ.९०); सुसिलिङ्ग-संधी< सुश्लिष्टसन्धिः (पृ.७७); पडमवर< पद्मवर (पृ.७८); फलसिरिं< फलश्रीं (पृ.७९); सिलिङ्ग-संठिय< श्लिष्ट-संस्थित (पृ.८०); सिरिघरं< श्रीगृहं (पृ.८२); आरियवेद< आर्यवेद (पृ.१८३); पडमावइ< पद्मावती (पृ.२०४); सुयसिणेहेण< स्मृतस्नेहेन (पृ.२१४); सयपाकसिणेह< शतपाकस्नेह (पृ.२२२); तिरिओ< तिर्यक् (पृ.२५६); केवलपरियायं< केवलपर्यायं (पृ.२५७); उवदरिसिया< उप-दर्शिता (पृ.२८२); रयणज्झयं< रत्नध्वजं (पृ.३२२); रयणायुहो< रत्नायुधः (पृ.२६०); दंसिओ मे सिणेहो< दर्शितो मे स्नेहः (पृ.२५१); सिरिभूई< श्रीभूतिः (पृ.२५३); सिरिमती< श्रीमती (पृ. १७१) आदि-आदि।

१४. अर्द्धमागधी की एक भाषिक प्रवृत्ति यह भी है कि आचार्य हेमचन्द्र द्वारा बुधादिगण में पठित शब्दों या धकारान्त शब्दों के धकार का हकार आदेश हो जाता है। 'वसुदेवहिण्डी' में यह प्रवृत्ति विद्यमान है। कतिपय शब्द उदाहरणार्थ :

छुहाभिभूओ< क्षुधाभिभूतः (पृ.६); बहुसहिओ< वधूसहितः (पृ.७); महुबिंदु< मधुबिन्दुः (पृ.८); दुविहं< द्विविधं (पृ.१७); बहु-वरं< वधू-वरं (पृ.१८); बोही< बोधि (पृ.३८); रुहिरे< रुधरे (पृ.३९); निरवराही< निरपराधः (पृ.२७०); वह-बंध-बहुले< वध-बन्ध-बहुले (पृ.२७१); वह-बंधन-मरणाणि< वध-बन्धन-मरणानि (पृ.२६३); लक्खणवहाय< लक्ष्मणवधाय (पृ.२४५); बुह-विबुह-यतणे< बुध-विबुधायतने (पृ.१९५) आदि-आदि।

१५. 'वसुदेवहिण्डी' में, भाषिक प्रवृत्ति की दृष्टि से, अर्द्धमागधी के ऐसे शब्द भी प्रचुर परिणाम में उपलब्ध हैं, जिनका महाराष्ट्री में प्रायः अभाव रहता है। कतिपय उदाहरण :

सन्नेज्जनिमित्तं < सान्निध्यनिमित्तं (पृ.३); पडुच्च < प्रतीत्य (पृ.५); छसुडुसु < षड्भुतुषु (पृ.१३); झाणवाघायं < ध्यानव्याघातं (पृ.१६); वोच्छिज्जिहति < व्युच्छेत्स्यति (पृ.२०); बाहंसुपण्यच्छी < बाष्पाशुप्रप्लुताक्षी (पृ.२८); दिण्णेत्तयं < दत्तं (पृ.३०); अज्झोववण्णो < अधुपपन्नः (पृ.२९); मुहाए < मुधा (मुधैव); दैति < ददाति या ददति (बहुव. पृ.३४); सएज्जयभवणे < स्वाध्याय (प्राति-वेश्मिक)भवने (पृ.३७); पुरिच्छमित्ते < पौरस्त्ये (पृ.४४); कतोच्चया < कुतस्त्याः (पृ.४८); महिलियासु < महिलासु (पृ.४९); गामेल्लओ < ग्रामणी; ग्रामीणः (पृ.५७); इच्छामहल्लकल्लोले < इच्छामहोदधिकल्लोले (पृ.४२); वोच्छडिय < व्युत्सृष्ट (पृ.४४); कतो पाविताओ < कुतः प्राप्येथाः (पृ.७१); चमडिज्जिहति < मर्दयिष्यते (पृ.९८); पुरित्थिम < पौरस्त्य (पृ.१५९); उत्तर-पुरित्थिमे < उत्तरपूर्वसिम् (पृ.१६६); अदुगुच्छिय < अजुगुप्सित (पृ.२०१); दाहिणाए सेढीए < दक्षिणस्यां श्रेण्यां (पृ.२२७); उत्तरायं सेढीयं < उत्तरश्रेण्यां (पृ.२५७); तीयद्धाए < अतीताद्धायां (पृ.२५८); अमा-घाओ < अमाघातः (पृ.२६१); रमणिज्जियं < रमणीयकं (पृ.२८३); अवरिल्ले < उपरि (पृ.३२१); विज्जपुरे < विन्ध्यपुरे (पृ.३३१); उवरिमगेविज्जेसु < उपरितनग्रैवेयकेषु (पृ.३३३); उत्तरिल्ल-सेढीए < उत्तरश्रेण्यां (पृ.३३४); उत्तरिल्लाए सेढीए < उत्तरस्यां श्रेण्यां (पृ.३३६); तुसारोसद्धा < तुषारोपहता (पृ.३४८) आदि-आदि । इनमें अधिकांश शब्द अर्द्धमागधी जैनागम में भी यथावत् उपलब्ध होते हैं ।

१६. अर्द्धमागधी के आगमिक गद्य की भाँति, कथाकार ने भी अपादानसूचक पंचमी में 'हितो' विभक्ति का प्रयोग किया है । जैसे : सिबिगाहितो (पृ.३१४); चियगाहितो (पृ.१८५); पाएहितो (पृ.१३८-२८) आदि । पुनः 'वसुदेवहिण्डी' में प्राप्य बारस, तेरस, बावत्तरि, एगुणसत्तरि, पण्णस आदि संख्यावाची तथा धमधर्मेतं (पृ.४५), गुमगुमायंतं (पृ.५४), गुलगुलायंतं (पृ.५५), भिसमिसेमाणी (पृ.२८), फुरफुरेतं (पृ.३३७), थरहरंतो (पृ.३३०), किलकिलंती (पृ.२८३), घुरघुरेतं, गुलगुलंतं (पृ.४४) आदि नामधातुमूलक अनुरणनात्मक या ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग इस ग्रन्थ की भाषिक प्रवृत्ति को आगमिक प्रमाणित करते हैं ।

१७. अर्द्धमागधी में ऐसे शब्दों की संख्या बहुत अधिक है, जिनके रूप महाराष्ट्री से भिन्न होते हैं । उदाहरणार्थ, 'वसुदेवहिण्डी' में प्राप्य कतिपय अर्द्धमागधी शब्दों की तालिका उपन्यस्त है :

अर्द्धमागधी	महाराष्ट्री
आहरणं (पृ.५९)	उआहरणं
बंभणो (पृ.२९)	बम्हणो
माहणो (पृ.१८४)	बम्हणो
कीस (पृ.१२७)	केरिस
मेहुण (पृ.२९६)	मेहुणय
वट्ट (पृ.२२१)	वट्ट
विज्ज (पृ.५३)	वेज्ज (वैद्य)

अर्द्धमागधी	महाराष्ट्री
दाहिण (पृ. २३५)	दक्खिण
धूया (पृ. ३२०)	धूआ
सेढीयं (पृ. २५७)	सेढी
तिगिच्छिय (पृ. १०३)	चिइच्छिअ
तिरिक्ख (पृ. २९)	तिरिय
पारेवअ (पृ. ३३८)	पारावअ
इक्खु (पृ. १६४)	उच्छु
पिहु (पृ. १८७)	पुहं, पिहं
कीलणओ (पृ. १८१)	किड्डणओ
भिभल (पृ. ६४)	विब्भल
गरुय (पृ. १०)	गरुअ
भमुहा (पृ. २८)	भुमआ
दुगुल्ल (पृ. २१८)	दुअल्ल
निप्फण्ण (पृ. २६८)	णिप्पण्ण
पिया (पृ. १२)	पिआ
उवरि (पृ. १३)	उवरि
चिलाइगा (पृ. ३२५)	किराअ
सुकुमालिया (पृ. १३९)	सुकुमारिया
सुमिण (पृ. २)	सिमिण

उपर्युक्त तुलनात्मक तालिका से यह स्पष्ट है कि 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा का झुकाव महाराष्ट्री की अपेक्षा अर्द्धमागधी की ओर अधिक है। विशेषकर जैनागमोक्त दार्शनिक तत्त्वों के विवेचन की भाषा-शैली तो आगमिक भाषा के समानान्तर प्रतीत होती है।^१ किन्तु, इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि अर्द्धमागधी और जैन महाराष्ट्री में ततोऽधिक भाषिक समता है। जैन परम्परा में अर्द्धमागधी के आगम-ग्रन्थों के अतिरिक्त चरित, कथा, दर्शन, तर्क, ज्योतिष, भूगोल, स्तोत्र आदि विषयों से सम्बद्ध प्राकृत का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। इस साहित्य की भाषा को प्राकृत के वैयाकरणों ने प्राचीन जैन महाराष्ट्री नाम देकर महाराष्ट्री और अर्द्धमागधी से पृथक् इस भाषा का

१. इस सन्दर्भ में शान्तिस्वामी के प्रवचन की प्राञ्जल आगमिक भाषा-शैली की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : "अजीवा जीवा य। तत्थ अजीवा चउव्विहा—धम्मत्थिकाओ अहम्मत्थिकाओ, आगासत्थिकाओ, पोगगलत्थिकाओ। पोगगला पुण रूविणो, सेसाऽरूविणो। धम्मा-ऽधम्मा-ऽऽगासा जहक्कममुद्दिद्धा जीवपोगगलानं गिति-ठिति-ओगाहणाओ य उवयरेति। पोगगला जीवानं शरीरकरणजोगाऽऽणुपाणुनिवित्ती। जीवा दुविहा—संसारी सिद्धा य। तत्थ सिद्धा परिणेव्वुयकञ्जा। संसारिणो दुविहा—भविया अहविण य। ते अणाइकम्मसंबंधा य भवजोगगजा..." (केतुमतीलम्भ : पृ. ३४२)

अस्तित्व निर्दिष्ट किया है। यद्यपि काव्य, कथा, नाटक आदि की भाषा से आगमिक अर्द्धभागधी भाषा की प्रायः एकरूपता या सदृशता है, तथापि यह एक स्वतन्त्र भाषा के रूप में स्वीकृत हुई है। भाषातत्त्व की दृष्टि से परीक्षण करने पर यह स्पष्ट होता है कि जैन महाराष्ट्री की रूप-संरचना महाराष्ट्री और अर्द्धभागधी के मिश्रण से हुई है। आगम-ग्रन्थों के आधार पर रचे गये 'बृहत्कल्प-भाष्य', 'व्यवहारसूत्रभाष्य', 'विशेषावश्यकभाष्य' एवं 'निशीथचूर्णि' प्रभृति टीका और भाष्यग्रन्थों की भाषा भी जैन महाराष्ट्री ही है। साथ ही, 'वसुदेवहिण्डी', 'पउमचरिय', 'समराइच्चकहा', 'कुवलयमाला' आदि ग्रन्थों की भाषा को भी जैन महाराष्ट्री की संज्ञा दी गई है। भाषा का यह वर्गीकरण बहुत कुछ साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से जुड़ा हुआ है। ब्राह्मण-परम्परा में, जिस प्रकार वेदों की भाषा वैदिक संस्कृत और वेदोत्तर ग्रन्थों की भाषा लौकिक संस्कृत के नाम से संस्कृत की दो संज्ञाएँ मिलती हैं, उसी प्रकार जैन परम्परा में, आगमिक ग्रन्थों की भाषा अर्द्धभागधी और आगमोत्तर ग्रन्थों की भाषा जैन महाराष्ट्री के नाम से सम्बोधित हुई है।

'वसुदेवहिण्डी' की भाषा यथाप्राप्त प्राकृत-काव्यों और नाटकों की भाषा से निश्चय ही अतिशय प्राचीन है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री का यह अनुमान बहुत संगत है कि अर्द्धभागधी की भाषागत प्रवृत्तियों में थोड़ा-सा परिवर्तन होकर जैन महाराष्ट्री का विकास हुआ होगा और इसी जैन महाराष्ट्री से व्यंजन वर्णों का लोप होकर, काव्यों और नाटकों की महाराष्ट्री का प्रादुर्भाव हुआ है।^१ इस कथन से यह स्पष्ट संकेतित होता है कि अर्द्धभागधी में व्यंजन वर्णों के लोप होने की प्रवृत्ति बहुत ही स्वल्प है और जैन महाराष्ट्री में यह प्रवृत्ति अर्द्धभागधी से थोड़ा अधिक है और फिर यही प्रवृत्ति महाराष्ट्री में बहुत अधिक हो गई है। इस विचार से 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा जैन महाराष्ट्री से भी प्राचीन और अर्द्धभागधी के समानान्तर है, इसीलिए इस ग्रन्थ की भाषा को 'प्राचीन जैन महाराष्ट्री' कहा गया है, जिसकी पहचान 'आर्ष प्राकृत' के रूप में अधिक संगत प्रतीत होती है। सम्प्रदाय की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा को भले ही 'प्राचीन जैन महाराष्ट्री' कह दिया गया है, किन्तु फिर भी इस ग्रन्थ की भाषा को 'आर्ष प्राकृत' कहना इसलिए अधिक युक्तियुक्त होगा कि इसमें व्यंजनवर्णों के लोप की प्रवृत्ति अर्द्धभागधी की भाँति बहुत ही स्वल्प है। संघदासगणी ने, कहना न होगा कि भाषा के प्रयोग में मध्यम मार्ग अपनाया है। कहीं तो उन्होंने विशुद्ध अर्द्धभागधी का प्रयोग किया है और कहीं जैन महाराष्ट्री का। पुनः कहीं-कहीं शौरसेनी, पैशाची, मागधी और अपभ्रंश का प्रयोग भी उन्होंने किया है। इस प्रकार, उनकी 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा सर्वभाषामयी अर्द्धभागधी की ही निकटवर्तिनी 'आर्ष प्राकृत' सिद्ध होती है।

भाषिक प्रयोग-वैविध्य :

जैन महाराष्ट्री की प्रवृत्ति अर्द्धभागधी के ही समान है। जैसे : सामान्यतया 'क' के स्थान पर 'ग' (सावगो < श्रावक, लोगो < लोक, आगारो < आकारः आदि); लुप्त व्यंजनों के स्थान पर य-श्रुति (कहाणयं < कथानक, भगवया < भगवता, चयणा < चेतना आदि); ण की जगह न की यथास्थिति (नूनमेसा < नूनमेषा, पडिवन्ना < प्रतिपन्ना, उववन्नो < उत्पन्नः आदि); संस्कृत की भाँति सानुस्वार शब्दों की संहिता में अनुस्वार का म में परिवर्तन (अन्नमन्न, एगमेग, चित्तमाणदियं आदि);

अर्द्धमागधी के समान ही तृतीया के एकवचन में सा का प्रयोग (मणसा, वयसा, कायसा आदि); क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर च्वा, ता, तूणं, ऊणं, तूण, उण, उं आदि का आदेश (सोच्चा, वंदिता, गंतूण, चविरूण, काउणं, सामत्येऊणं, मारेऊणं, दडूणं, ठाउं, काउं आदि); त प्रत्ययान्त रूपों में 'त' की जगह 'ड' (कडं < कृतं, वावडं < व्यापृतं, संवुडं < संवृतं आदि) । ये कतिपय भाषिक प्रवृत्तियाँ निदर्शन के रूप में उपस्थाप्य हैं । कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' में भी ये समस्त भाषिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं । इनके अतिरिक्त, 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में प्रयुक्त अब्बो अब्बो, हितय, कतली, पातरास, अम्मातातो, समतो, भिंगार, इसी, होति, पिव (इव), घेप्पामि, घेतूण आदि प्रयोग उसकी पैशाची प्रवृत्ति के ही द्योतक हैं । पुनः चलणेणं, कीला (क्रीडा) आदि प्रयोग 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा की मागधी प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हैं । इसी प्रकार, पडिपुण्ण, पडिबद्ध, भिंभल आदि शौरसेनी तथा रिट्ट, सर, साहा, सोलस, वामोह, दंसण, नक्क (नाक) आदि अपभ्रंश की प्रवृत्ति की सूचना देते हैं ।

सतर्कता से भाषाशास्त्रीय परीक्षण करने पर, पालि के भी विभिन्न प्रयोगों से 'वसुदेवहिण्डी' के प्राकृत-प्रयोगों का साम्य उपलब्ध सम्भव है । उदाहरणार्थ : वाह (२.१०), कोलंब (४४.९), वाल (४४.२१), परियत्ति (६९.१०), थेव (२५६-२६), कठिण (२३७-१२), खुरप्प (पालि : खुरप्पजातक), सुंक (१३.१३) आदि शब्द द्रष्टव्य हैं । स्पष्ट है कि 'वसुदेवहिण्डी' की सर्वमिश्रा अर्द्धमागधी में पालि की अनेक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं । पालि की विभिन्न प्रवृत्तियों की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' का स्वतन्त्र भाषिक शोध-अध्ययन अपेक्षित है । (पालि-प्राकृत के कतिपय तुलनामूलक शब्द परिशिष्ट १ में द्रष्टव्य हैं) ।

संघदासगणी की 'वसुदेवहिण्डी' में केवल भाषिक प्रयोग-विविधता ही नहीं है, अपितु अर्थगूढ एवं आगमेतुर साहित्यिक ग्रन्थों में प्रायः अनुपलब्ध तथा प्राकृत-कोश के समृद्धिकारक प्रायोगिक चमत्कार की पर्याप्तता भी है, जिनमें देश्य शब्दों के प्रयोग विशेषतया परिगणनीय हैं । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

भेलविय (भेलित : मिश्रित : महाराष्ट्र में प्रयुक्त (जैसे : 'भेलपूरी') : सो भयभेलवियदिड्डी जलं ति मन्नमाणो, (पृ.६) : ड हरिका = ड हरिया (छोटी) : 'डहरिकासु नावासु' पृ.११; डहरग ('डहरगं दारगं गहेऊणं', पृ.२२); खंत (पिता : 'खंतरूवं च काऊणं देवो दंसेई से पुरओ अप्पाणं', पृ.२२); कुल्लरियावण (हलवाई की दुकान, पृ.३९); डिडी (दण्डिन् = दण्डाधिकारी; डॉ. मोतीचन्द्र के मत से छैला, पृ.५१); संगार (संकेत, पृ.५४); सुरियत्तगहत्थो (सुरीयमाणाग्रहस्तः = सँड का अच्छी तरह संचालन करते हुए, पृ.५५); पोट्ट (उदरपेशी, पेडू : 'वसुदत्ताए पोट्टे वेयणा जाया', पृ.६०); कुक्कुस (भूसा, पृ. ६२); वासी (बसूला, पृ.६३); सच्छमा (सदृशी, 'तिलतिल्लधारासच्छमा', पृ.६७); खुड्डय (अंगूठी : 'दाहिणहत्थेणं खुड्डुणं', पृ.७२); सॉपच्छाड्यसरीरा (सम्प्रच्छादितशरीरा, पृ.७३); कागबलं पोएमि ('काकबलं पातयामि', पृ.८१); तेइच्छं (चैकित्यं, पृ.८७); उड्डुसिय (रोमांचित, पृ.८८); कडिल्ल (कमर, कटिवस्त्र, पृ.९४); कडिल्ल (जंगल के अर्थ में, पृ.३२३); वेकड ('पलंडु-लसुण-वेकड-हिण्णुणं', पृ.१०६); मरणरहट्टं (रहट, पृ.२७२); रुड्याणि (पीसकर मिलाने के अर्थ में : 'छगलमुत्तेण सह रुड्याणि', पृ.१०६); फरिसेऊण (डॉटकर, पृ.१०७); चउक्क (चतुष्क : चार के अर्थ में और शहर के चौक के अर्थ में भी; कोडिचउक्के, पृ.१०७ तथा 'सावत्थी चउक्कम्मि', पृ.२८९); उल्लटंतीमिच्छसि (तू उलटना चाहती है, पृ.१०७); अतितयं < अत्यन्तं (पृ.१०७); बुहाहंकारा

(पृ.१११); विठवेइ (अर्जन करता है, पृ.११६); खिसिया (खिसियाकर : 'सनिदुरं खिसिया भणियाओ य', पृ.२८२); वुट्टे (अर्द्धमागधी प्रयोग : प्रथमा के एकवचन में ए की प्रवृत्ति, पाठान्तर के अनुसार छुट्टो; छूटा हुआ, खुला हुआ बछड़ा : 'वुट्टे : छुट्टो वच्छो त्ति', पृ.१२०); रस्सीओ (पृ.१५५); कलत्त (नितम्ब के अर्थ में : 'इत्थीणं पुण कलत्तगुरुयताए पण्हियासु उविद्धाणि भवंति', पृ.१३५); सहिण< श्लक्ष्ण (पृ.१३४); मंडुक्की (खोली या झोली के अर्थ में, पृ. १३८); सव्वं समादुवाली काऊण (सारी खाद्य-समाग्री को एक साथ सानकर, पृ.२९०); उपत्ती< उत्पत्ति (१५१.२२); आभोइओ < आभोगित; अर्थात् दृष्टः (११.२३); कक्खड< कर्कश (२२.१०); फिडिया (टूटने या भग्न होने के अर्थ में : २२१.२७); भरहो (बोरे के अर्थ में : १५.१९); पेल्लियं (१३.७); चंग (सुन्दर, ६५.१०); विलयाए< वनितया (९६.३२); वेण (बिछावन के अर्थ में : १८०.१०); अवधरो (अधम के अर्थ में : २४९.९); अणोयत्त< अवनत्त (पृ.१३८); आडत्तं (किराये पर देने के अर्थ में : 'खीणे य धणे धरणीए धरं आडत्तं, पृ.१४४); आगीयं< आकृति (पृ.२७९); उवच्छुभति (एकत्र करने के अर्थ में : 'उवच्छुभति भंडं', पृ.१४५); पीहइंपीहणं (नवजात बच्चे के लिए पेय : घूँटी : के अर्थ में, पृ.१५२); जाणुक (ज्ञानकार : 'पंथो पडिसिद्धो जाणुकजणेण', पृ.१७६); डियलितो (पृ.२२९); 'वसहि-पारा-सेहि< वसति-प्रातराशैः (पृ.२०९); पारद्धाओ (डण्डे से मारकर हटाने के अर्थ में : 'गोवा डंडहत्था तं पदेसमुवगया । . .ततो णेहिं गाओ पारद्धाओ,' (पृ.१८२); कठिणसंकाइयं (पालि-विनयपिटक में 'कठिण' का प्रयोग झोले के अर्थ में हुआ है। यहाँ भी इसी अर्थ में सम्भावित है : 'जमदग्गी वि. कठिणसंकाइयं धेतूण इंदुरमागतो', पृ.२३७); हेफहेण = हेफ्फअ = हेफ्फग< हेफ्फक ('क' की जगह 'ग', 'अ' और 'ह' भी, पृ.३०९); वणीमग < वनीपक ('प' की जगह 'म', पृ.२९); ओयविन्तेण (परिकर्मित, सेवित : 'सा य किर. वासुदेवेण भरहं ओयविन्तेण दिद्धा', पृ.२६५); सुगिहाणं (सुग्गा पक्षी के अर्थ में : 'जहा समाणे सउणभावे सुगिहाणं. पृ.२६७); तत्ती (तत्परता, पृ. ३४५); डक्को< दष्ट : (पृ. २५४); कडुच्छय (कलछल, पृ. १४७); कंसार^१ (—इंगुद-कंसार-णीवार-कथसंगहं, पृ.३५३); कुंटी (कुब्जा, कुबड़ी और बौनी; पृ.३५७); चम्महि (चकमा के अर्थ में : पृ. ५०)।

इनके अतिरिक्त भी लंखिया, लंडिया, कूव, होउदार, कुडंग, देवपाओग, अपज्जत्तीखमं, उच्चोली (झोली), अत्थध (अथाह), उच्चावग (ठगनेवाला, वंचक, उचक्का), दलिय (छिद्र, घात) आदि अनेक आगमिक या देश्य शब्दों का प्रयोग संघदासगणी ने किया है, जिनका प्रसंगानुसार सामान्य अर्थ ही बुद्धिगत होता है। डॉ. पिश्ल के व्याकरण में 'वसुदेवहिण्डी' का सन्दर्भ कहीं नहीं आया है। स्पष्ट ही, उस समय तक यह महाग्रन्थ उनके दृष्टिपथ में नहीं आया था। यहाँ तो कुछ ही शब्द निदर्शन-मात्र उपन्यस्त किये गये हैं। अन्यथा, 'वसुदेवहिण्डी' में अभिनव, अस्पृष्ट और अनास्वादित शब्दों के प्रयोग भरे पड़े हैं, जो शब्दशास्त्रियों को निरन्तर आमन्त्रित करते हैं, ताकि वे उनके तत्त्व की तल-सीमा तक पहुँचकर निश्चित निरुक्ति, व्युत्पत्ति और वास्तविक अर्थ का अन्वेषण और उद्घावन कर सकें। वैयाकरणों की यह मान्यता है कि धातु और शब्द अनेकार्थवाची होते हैं। इसके उदाहरण में 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा को सबसे आगे रखा जा सकता है। संघदासगणी वश्यवाक् कथाकार और भाषा के प्रौढ पण्डित थे, इसलिए उन्होंने अपनी कथा में हृदयावर्जकता उत्पन्न करने के लिए एक कुशल नृत्यनिर्देशक की भाँति शब्दों की अर्थभंगिमा को स्वेच्छानुसार विभिन्न चारियों में नचाया है और आवश्यकता पड़ने पर नये शब्दों का निर्माण भी किया है।

१. 'प्राकृतशब्दमहार्णव' के अनुसार, चावल के चूर्ण से बननेवाली एक मिठाई, कसार। सूर्य की पूजा में कसार अर्पित करने की प्रथा लोकादृत है।—ले.

संस्कृत-व्याकरण का प्रभाव :

‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा पर व्याकरण और वर्तनी की दृष्टि से संस्कृत की प्रवृत्ति भी स्पष्ट है। वर्तनी में, समस्त तथा व्यस्त शब्दों में सन्धि एवं अनुस्वार की जगह पंचम वर्ण का प्रयोग भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। कुछ शब्द तो ऐसे भी हैं, जिनमें स्वयं मूलग्रन्थ के सम्पादकों ने ही प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं।

समस्त तथा व्यस्त शब्दों में सन्धि : पवहणाभिरूढो (पृ.३); रहमारुहिकुण, नगरमागतो (पृ.३); गालणोवायं (पृ.११); पुत्तमणुसरंतो (पृ.१९); वेरग्गमग्गमोइण्णो (पृ.१९); रायाणुरुवेणं (पृ.२९); पुणरवि (पृ.४७); कोसंबिमागओ (पृ.५९); वेल्मइक्कमइ (पृ.७८); विमाणोवमो (पृ.७९); एयमासणं (पृ.९५); देवोवयणनिमित्तं (पृ.१११); दीवुज्जोवं (पृ.१२६); कडगमाणेरुण (पृ.१२७); गहणमतिगओ (पृ.१४५); वेदसत्थोवदेसस्स (पृ.१५३); मोहमुवगया (पृ.१६५); सयंपभाहिहाणं (पृ.१६५); तित्थय-राभिसेएण (पृ.१८३); विसयसुहमणुभवंतस्स (पृ.२०५); सयमागया (पृ.२१३); रायलक्खणोवयेयं (पृ.२१७); कुवियाणणा (पृ.२४१); कारणमासज्ज (पृ.२६२); थाण-माणारिहो (पृ.२६३); नियम-बलमासासयंतो (पृ.३१२); रोसभरावियनयणेण (पृ.३१५); ईसाणिंदो (पृ.३३१); सामणमणुपालेउं (पृ.३४३); खत्तियाणुमएण (पृ.३६५); सालमचाएतस्स (पृ.३७०) आदि-आदि।

पंचमवर्ण न-युक्त वर्तनी : पत्तिज्जिहिन्ति (पृ.३०, पं.३०); ‘दिति-पयाग’ न्ति वुच्चति तित्थं (पृ.१९३, पं.११); कन्दमूलफलाहारा (पृ.२१४, पं.३०); वन्तामयस्स (पृ.२८६, पं.१८); आजम्म-मरणन्ति पृ.३०४, पं. १३); ओयविन्तेण (पृ. २६५, पं. २) आदि।

वर्तनी के सम्बन्ध में यह भी ध्यातव्य है कि ‘वसुदेवहिण्डी’ के यथाप्राप्त भावनगर संस्करण में पूर्ण विराम (।) और अल्पविराम(,) का प्रयोग तो किया ही गया है, अल्पविराम के लिए अँगरेजी के फुलस्टॉप (.) का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। साथ ही, व्याकरणगत प्रयोग-वैचित्र्य भी उपलब्ध होता है। कर्मवाच्य के वाक्य-प्रयोग में, असमापिका क्रिया के वैचित्र्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है : ‘ततो सा मए करतलसंपुडेणं धनुण हियए निव्वोदएणं (?) तीए अग्गहत्थे भणिया’ (४२. ४), एक ही वाक्य में ‘सा’ और ‘तीए’ सार्वनामिक शब्दों या पदों का प्रयोग सचमुच विचित्र है। पुनः कर्मवाच्य के कर्ता के साथ कर्तृवाच्य की क्रिया का प्रयोग-वैचित्र्य भी उपलब्ध होता है। जैसे : ‘णाए भणइ य’ (२९१.२६)। हिन्दी में ‘और’ के बाद आनेवाले शब्द के अनुसार भी क्रिया के प्रयोग का अनुशासन प्राप्त होता है। संघदासगणी की प्राकृत में भी यह प्रयोग सुरक्षित है। जैसे : ‘पूजिया समणमाहणा, नागरया सयणो य पओसे वीसत्थो भुंजइ (७.८)।’ हिन्दी में अर्थ होगा : ‘पूजित श्रमण, ब्राह्मण, नागरक (बहुव.) और स्वजन (एकव.) सन्ध्या में विश्रस्त भाव से भोजन करता है।’

प्रयोग-वैचित्र्य की दृष्टि से कथाकार द्वारा प्रयुक्त एक ही शब्द की पर्यायमूलक आवृत्ति का भी उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है। प्रतीत होता है, अर्थव्यंजना के लिए ही उन्होंने ऐसा प्रयोग किया है। जैसे : ‘दोण्हं नतीणं मज्झदेसभाए अत्थि महइमहालिया पत्थरसिला’ (४४.९-१०)। यहाँ सिर्फ ‘सिला’ के प्रयोग से भी अर्थसिद्धि सम्भव थी, किन्तु बहुत बड़ी पत्थर की चट्टान की अर्थव्यंजना के लिए ही कथाकार ने ‘प्रस्तर’ के साथ ही उसके पर्यायवाची शब्द ‘शिला’ की आवृत्ति की है। इसी प्रकार के प्रयोग अनेकत्र परिलक्षितव्य हैं। जैसे : ‘पलंबंतकेसरसठं’ (४५.७); ‘विविहखज्ज-

पेज्जगीय-वाइय-हासरवसह्वोमीसेण' (४६.२२); 'वियसियसयवतपत्तलदलत्थो' (मंगलाचरण : १.७); 'कमलकुमुदोष्पलोवसोहियं' (६७.२६); 'पसण्ण-सच्छसीयलज्जलपाणिं' (६७.२६); 'समुप्पण्ण-केवलनाणविधुतरथ-म्लो' (११८.२३-२४); 'घण-मणदइयधूवधूविओ' (३९४.११); 'विगयपावकलिम्लो' (३४४.४); 'विहुम-ससिकंत-पउमाऽरविद-नील-फलिहंक-धूभियाए' (३४७.१४) आदि-आदि ।

सार्वनामिक प्रयोग : प्राकृत में 'अस्मद्' शब्द की तृतीया के एकवचन में 'मइ' या 'मए' या 'ममए' का बहुधा प्रयोग होता है, किन्तु संधदासगणी ने संस्कृत की भाँति 'मया' का भूरिशः प्रयोग किया है । जैसे : 'मया भणियं', 'मया चित्तियं', 'मया सम्मतं लद्धपुव्वं' आदि । इस प्रकार के कर्मवाच्यपरक प्रयोग पूरे ग्रन्थ में यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध होते हैं । 'वसुदेवहिण्डी' में कर्मवाच्य और भाववाच्य की वाक्यशैली की प्रचुरता है । प्राकृत में षष्ठी विभक्ति नहीं होती । चतुर्थी, षष्ठी की स्थानापन्न होती है । षष्ठीपरक अर्थ-द्योतन के लिए प्राकृत में 'युष्मद्' शब्द का रूप बहुधा 'तुव' या 'तुह' होता है । किन्तु संधदासगणी ने 'तुह' के अतिरिक्त संस्कृत की भाँति 'तव' का भी प्रयोग किया है । जैसे : 'अहं तव जीवियकयक्कीओ दासो त्ति' (पृ.१३९) । 'तव पाएसु घोलइ त्ति' (पृ.२७८) । 'तव पुत्तस्स डंडवेगस्स' (पृ.२४५), आदि-आदि ।

अव्यय-प्रयोग : समानतासूचक संस्कृत के 'इव' अव्यय शब्द के लिए प्राकृत में प्रायः 'विव', 'पिव' 'व' या 'व्व' आदि का प्रयोग होता है, किन्तु संधदासगणी ने समानवाची इन प्राकृतोक्त शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत की भाँति 'इव' का भी भूरिशः प्रयोग किया है । कतिपय उदाहरण : 'मरालगोणो इव मन्दगमणो' (पृ.२२१); 'सुमिणमिव पस्समाणो पसुत्तोहि' (पृ.२२६); 'कणेस्सहियस्सेव गयवरस्स' (पृ.३५५); 'कुमुददलमयं दिसावलिमिव कुणमाणी' (पृ.१९३); 'घण-पडलनिगम्यचंदपडिमा इव कित्तिपती' (पृ.३१३) आदि-आदि । संस्कृत के 'ततो' अव्यय का तो पूरे ग्रन्थ में सार्वत्रिक प्रयोग कथाकार ने किया है ।

इसके अतिरिक्त, कुछ प्रयोग तो ऐसे हैं, जो थोड़ा-बहुत ध्वनि-परिवर्तन के साथ संस्कृत से प्राकृत में अनुवर्तित जैसे लगते हैं । इस सन्दर्भ में रायलवखणोवयेयं (पृ.२१७); नेव्वाण-फलभागिणी (पृ.२१७); रोसहुयासणज्जालापलीवियं (पृ.२६३); जुवतिज्जणसाररूवनिम्मिया (पृ.२६५); विकयारविंदमवरदलोत्तच्छरणमुदियमुणमुणमणहरसरे (पृ.२६९); चउरंगुलण्णमाण-कंबुगीवो (पृ.१६२); करिकराकारोरुजुयलो (पृ.१६२); हेमघटिकाकिणकिणायमाणं (पृ.२४६); असोगतस्वरस्स (पृ.२५१); कुल-रूव-जोव्वण-विभववंतो (पृ.२२१); पूजित-कोमलजलणारविद (पृ.७८); गूढसिरहरिणजंघा (पृ.७७); तुरगपरिकम्मकुसलो (पृ.३६); पिउमाडविपत्तिकारणं (पृ.३१); परितोसविधिसियाणणा (पृ.५); सिरीसकुसुमसुकुमालसरीरा (पृ.१९८); परमपरितोसविसण्विध-नयणजुयलेण (पृ.२००) आदि-आदि ।

प्राकृत की मूलभाषा अर्द्धमागधी में संस्कृत के समान तद्धित-प्रत्यय भी होते हैं, जो प्रायः पाँच प्रकार के हैं : अपत्यार्थक, समुहार्थक, भवार्थक, स्वार्थक, मतुबर्थक और अनेकार्थक । 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा में प्रायः उक्त सभी तद्धित-प्रत्यय उपलब्ध होते हैं । प्रत्येक वर्ग से दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य :

अपत्यार्थक और समूहार्थक : समूह या सम्बन्ध और अपत्यार्थक बताने के लिए 'इय', 'अण्' और 'इज्ज' प्रत्यय जोड़े जाते हैं : सोयरिय (शूकर से सम्बद्ध शौरिक, पृ.७४); वासुदेवो (वसुदेव के पुत्र वासुदेव : कृष्ण, पृ.८४); कोक्कास (कुक्कस से सम्बद्ध, पृ. ६२-६३); सोरिय (शौरिपुर से सम्बद्ध शौरिक रसवणिक, पृ.३६८); चंपेज्ज (चम्पा से सम्बद्ध या चम्पा का रहनेवाला : चाम्पेय, पृ.६९); कोसिज्ज (कोशों के सूत्र-समूह के निर्मित कौशेय, पृ.२१८) आदि। इसी क्रम में 'वसुदेवहिण्डी' में प्रयुक्त लाघव, अज्जव, मदव, वाणिज्ज, पाडिहेर आदि शब्द भी द्रष्टव्य हैं।

भवार्थक : 'इम', 'इल्ल', 'इज्ज', 'इय', 'इक', 'क' आदि प्रत्यय भवार्थक होते हैं : उवरिम (उपरि भवं उपरितनं; उवरि + इम, पृ.३३३); पुरच्छिम या पुरत्थिम (पुरा भवं या पुरः भवं पौरस्त्यं; पुरच्छ या पुरत्थ + इम, पृ.२६१); वच्छिल्ल (वत्से भवं वत्सिलं; वच्छ + इल्ल : वच्छिल्ल नाम का राजा भी, पृ.३४८); उत्तरिल्ल (उत्तरे भवं उत्तरिल्लं, उत्तर + इल्ल, पृ.३३६); इसी क्रम में अन्तरिम, पुव्विल्ल, संवच्छरिय, सोप्पारय, आगमिय, णयरिज्ज वातिग, वाणियअ आदि 'वसुदेवहिण्डी' में प्रयुक्त तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द द्रष्टव्य हैं।

स्वार्थक : स्वार्थसूचक तद्धित-प्रत्ययों में भी 'इज्ज', 'इल्ल', 'इय', 'इम', 'मेत्त' 'क' आदि परिगणनीय हैं : सयणिज्ज (पृ.६४); छेज्ज (पृ.५८); खज्ज, भोज्ज, पेज्ज (पृ.६४); गोड्डिय (पृ.२८); गोमंडलिय (पृ.२९७); नेरइय (पृ.११४); भागधेज्ज (पृ.६५); धम्मिल्ल (पृ.२७); तवमोल्लकीयं (पृ.२६); माउलग (पृ.११५); अत्तओ (पृ.४९); विणायओ (पृ.५१); हएल्लिय (पृ.५६); सागडिअ (पृ.५७); वयणीयय (पृ.८०); महत्तरगा (पृ.१०८); जायमेत्तओ (पृ.८३); मेंदुल्लगं (पृ.९४); मुहुत्तगं (पृ.९५); आदि शब्द-प्रयोग इसके उदाहरण हैं। ज्ञातव्य है कि स्वार्थक प्रत्ययों के रूप बहुत व्यापक होते हैं और इनकी विविधता भी 'वसुदेवहिण्डी' में बहुशः प्राप्य है।

मतुबर्थक : संस्कृत में जो अर्थ मतुप् या वतुप् प्रत्यय के द्वारा व्यक्त किया जाता है, उसे अर्द्धमागधी में, 'मन्त', 'इल्ल' आदि प्रत्ययों से। 'मन्त', प्रत्यय जोड़ते समय मन्त के म के स्थान पर 'व' का वैकल्पिक प्रयोग किया जाता है। 'वसुदेवहिण्डी' में प्रयुक्त कतिपय मतुबर्थक शब्द द्रष्टव्य हैं : भयवया (पृ.५); भयवं (पृ.३); कण्वंताणं (पृ.३४३); सीलवं < शीलवान् (पृ.२५); तत्तिल्ल < तृप्तिवान् (पृ.३१); ददण्हारी < दृढप्रहारवान् (पृ.३६); जंबवंतो < जाम्बवान् (पृ.७९); महातपस्सी < महातपोवान् (पृ.११७); हिमवंत < हिमवान् (पृ.१२२); परमरूववती (स्त्री) < परमरूपवती (पृ.१२६); वण्णमंत (पृ.३५२); भयवंतो (पृ.३४८); विभववंतो (पृ.२२१); हिरण्णमती < हिरण्यवती (पृ. १७८); विउलोहिनाणी < विपुलावधिज्ञानवान् (पृ.२२३) आदि-आदि। ददण्हारी < दृढप्रहरी, महातपस्सी < महातपस्वी, विउलोहिनाणी < विपुलावधिज्ञानी आदि जैसे शब्द तो तद्धित के संस्कृत इन्-प्रत्ययान्त शब्दों के ही समानान्तर हैं।

अनेकार्थक : विभिन्न तद्धित प्रत्ययों से बने कतिपय शब्द यहाँ द्रष्टव्य हैं : कोड्डुकि (पृ.१११); जसभागी (पृ.२५); कप्पाकप्पविहिण्णू (पृ.२५); वेयावच्चं (पृ.२५); परिच्छाकोसल्लं (पृ.४); मिच्छंतं < मिथ्यात्वं (पृ.८); सुक्किला < शुक्लिल (पृ.८); पत्तल < पत्रल (पृ.१); बुद्धत्तण < वृद्धत्व (पृ.१७); उडयत्थी < उटजाथी (पृ.१८); वंतासी < वान्ताशी (पृ.२३); पासणिय < प्राशिनक (साक्षी या मध्यस्थ, पृ.२८); भागीरही (पृ.३०५); एक्कतरं (पृ.१३६); खोम < क्षौम (पृ.१४४); पाहेयं < पाथेयं (पृ.१४८); धण्णा, मंगल्ला < (पृ.१५९); मायावी (पृ.१४); आहिंतुडिक (पृ.२५४); केवली (पृ.२५५); महादुवारिओ (पृ.२८९); नाडइज्जा (पृ.२८१); नेमिती (पृ.१९९) आदि-आदि।

‘वसुदेवहिण्डी’ में कृदन्त-प्रत्ययों से निम्न शब्दों का भी प्रयोग-प्राचुर्य उपलब्ध होता है। ‘शत्’ और ‘शानच्’ एवं ‘क्त’ प्रत्ययमूलक शब्दों का तो भूयिष्ठ प्रयोग हुआ है। शत् और शानच् प्रत्ययों के कुछ उदाहरण : उदिक्रमाणी (पृ. १४); पसंसिज्जमाणो (पृ. १६); सीयमाणो (पृ. २२); दीसमाणो (पृ. २३); करेतस्स (पृ. ३७); उच्छरंतो (पृ. ४५); आसासेतो (पृ. ५५); हम्ममाणो (पृ. ८८); कुणंता (पृ. ८८); वेरमणुसरंतो (पृ. ९१); अपस्समाणो (पृ. १३९); पस्समाणो (पृ. १४१); जाणंती (पृ. १४१); हरंतेण (पृ. १४५); कुणमाणी (१५५); परिहायमाण (पृ. १७१); धुणंता (पृ. १८५); विक्कोसमाणं, पलायमाणं (पृ. २२१); विवयमाणं (पृ. ३२५); परिसिच्चमाणा (पृ. ३२८) आदि-आदि। ‘क्त’ प्रत्ययान्त शब्द तो पदे-पदे प्रयुक्त हैं।

कृदन्त-प्रत्ययों में क्त्वा (त्ता), तुमुण् (ऊण, तूण), ल्यप् (य), तव्य (अव्व), अनीय (इज्ज) आदि प्रत्ययों से निम्न शब्दों की भी प्रचुरता ‘वसुदेवहिण्डी’ में प्राप्त होती है। इस प्रसंग में आदेज्ज, माणणिज्ज, वंदित्ता, गंतूण, आरुहिय, दायव्व आदि इस प्रकार के प्रत्ययवाले शब्द द्रष्टव्य हैं। इनके अतिरिक्त भावार्थक, कर्मार्थक, विकारार्थक, सम्बन्धार्थक प्रत्ययों के प्रयोगों की भूयिष्ठता भी उपर्युक्त वर्गीकृत उदाहरणों में परिलक्षणीय है। इस क्रम में तिव्वुत्तो, दोच्चं, वेयावच्चं, रययमयं, चउत्थं, कयरो, कुंभगशो, तेलोक्कं, कोउहल्लं आदि जैसे प्रयोग उदाहर्तव्य हैं। कथाकार ने ‘तुमुण्’ प्रत्ययात्मक शब्दों में तो बिलकुल संस्कृत शब्दों का ही यथावत् प्रयोग किया है। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं : भोत्तुं (पृ. २४); आहंतुं (पृ. ४८); गंतुं (पृ. ५४) आदि। निश्चय ही, ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषिक प्रवृत्ति का अध्ययन पृथक् प्रबन्ध का विषय है। यहाँ स्थालीपुलाकन्याय से ही यत्किंचित् निदर्शन प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार, यथाप्रस्तुत अध्ययन से स्पष्ट है कि ‘वसुदेवहिण्डी’ में संस्कृतयोनि अर्द्धमागधी या आर्ष प्राकृत की भाषिकी प्रवृत्ति का ही वैविध्य और बाहुल्य है।

इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि प्राचीन आगमों की आर्ष प्राकृत या अर्द्धमागधी अर्वाचीन भाषा-शास्त्र या व्याकरण के अनुशासन की दृष्टि से खूब खरी नहीं उतरती। ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा भी आगमिक आर्ष प्राकृत के प्रभाव और वैशिष्ट्य से संवलित है, इसलिए इसके भाषिक प्रयोग-वैचित्र्य को आर्ष या आगमिक प्रयोग मानना अधिक संगत होगा।

संघदासगणी की ‘वसुदेवहिण्डी’ की आर्ष प्राकृत भाषा में संस्कृत का मिश्रण भी सहज ही सम्भावित है; क्योंकि कुछ विद्वानों का मत है कि ईसवी की प्रथम शती के आसपास एक प्रकार की मिश्रित संस्कृत का प्रचार हो रहा था, जिसका स्वरूप उत्कल के चक्रवर्ती जैन राजा खारवेल के हाथीगुम्फा-अभिलेख (ई.पू. प्रथम शती) में उपलब्ध होता है। इस अभिलेख की प्राकृत में ‘ण’ की जगह ‘न’ का प्रयोग किया गया है। ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा उक्त लेख की भाषा के उत्तरवर्ती विकसित रूप का प्रतिनिधित्व करती है। खारवेल के दो लेख तुलना के लिए उदाहर्तव्य हैं :

१. नमो अरहंतानं (।) नमो सव-सिद्धानं (।) ऐरेण महाराजेन महामेघवाहनेन चेत्ति-राज-व (.) स-वधनेन पसथ-सुभ-लखनेन चतुरंत-सुठ-(ण)-गुण-उपितेन कलिगाधिपतिना सिरिखार-वेलेन।

२. कपरुखे हय-गज-रथ-सह यत्ति सव-घरावास... सव-गहणं च कारयितुं ब्रह्मणानं ज (य)-परिहारं ददाति (।) अरहत्त... (नवमे च वसे) ।^१

१. विशेष द्र. डॉ. वासुदेव उपाध्याय : ‘प्राचीन भारतीय लेखों का अध्ययन’ : मूललेख : पृ. २६

इससे स्पष्ट है कि खारवेल-परवर्ती 'वसुदेवहिण्डी' के रचनाकाल में भी संस्कृत का प्रभाव अक्षुण्ण था। 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा से कभी-कभी तो ऐसा भी प्रतीत होता है, जैसे संध्यासगणी का मूल चिन्तन संस्कृत-भाषा से प्राकृत-भाषा में अनुवर्तित होकर लिपिबद्ध हुआ है।

(ख) साहित्यिक तत्त्व

आगमोत्तर कथा-साहित्य के सांगोपांग विकास की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' का पार्यन्तिक महत्त्व है। अन्तःसाक्ष्य के अनुसार, 'वसुदेवहिण्डी' एक ऐसा चरित-ग्रन्थ है, जिसमें अद्भुत, शृंगार और हास्यरसबहुल आख्यान उपन्यस्त हुए हैं। संध्यासगणी ने कथा के व्याज से 'चरित' की प्रामाणिक परिभाषा ही उपस्थित कर दी है। दसवें पुण्डालम्भ के आरम्भ की कथा है कि जयपुर-प्रवासकाल में एक दिन वसुदेव ने अपने साले अंशुमान् से कहा कि कुमार ! हम अब कोई अपूर्व जनपद देखें। अंशुमान् बोला : "आर्यपुत्र ! ऐसा ही हो। यहाँ समीप में मलय नाम का देश है। वहाँ ललितकला-प्रेमी जन रहते हैं और वह देश उपवनों और काननों की श्री-सुषमा से सम्पन्न है। हम वहीं चलें, अगर आपका देशाटन का ही अभिप्राय है।" इसके बाद वे दोनों बिना किसी को सूचना दिये, उल्टे-टेढ़े रास्ते से, माथा ढके हुए निकल गये और कुछ दूर जाने पर फिर सीधे रास्ते से चले।

वसुदेव को थका हुआ जानकर अंशुमान् बोला : 'आर्यपुत्र' ! मैं आपको अपने कन्धे पर ले चलता हूँ या आप मुझे अपने कन्धे पर ले चलें। 'वसुदेव ने सोचा : 'मुझ' थके हुए को अंशुमान् क्यों ढोयेगा ? यह तो स्वयं सुकुमार राजकुमार है, मेरे लिए रक्षणीय और आश्रित है। इसलिए, मैं ही इसे ढो ले चलता हूँ।' यह सोचकर उन्होंने उससे कहा : 'कुमार ! तुम्हीं मेरे कन्धे पर चढ़ जाओ, मैं ढो ले चलता हूँ।' अंशुमान् ने हँसते हुए कहा : आर्यपुत्र ! रास्ता चलने के क्रम में इस तरह नहीं ढोया जाता है। जो मार्गश्रान्त व्यक्ति के लिए अनुकूल कहानी कहते हुए चलता है, सही मानी में वही उसे ढोकर ले चलने का काम करता है।' वसुदेव ने कहा : 'अगर ऐसी ही बात है, तो कहानी कहने में तुम्हीं कुशल हो, अपनी पसन्द की कोई कहानी कहो' ('कहेहि ताव तुम चैव कुसलो सि जं ते अभिरुद्धं ति', पृ. २०८)।

कथा के विविध रूप :

अंशुमान् कहने लगा : "आर्यपुत्र ! कथा दो प्रकार की है : चरिता (सत्यकथा) और कल्पिता। इनमें चरिता दो प्रकार की है : स्त्री या पुरुष की कथा तथा धर्म-अर्थ-काम के प्रयोजन से सम्बद्ध कथा। दृष्ट, श्रुत और अनुभूत कथा को 'चरित' कहते हैं और जो विपर्यययुक्त कुशल व्यक्तियों द्वारा कथितपूर्व तथा अपनी मति से जोड़ी गई कथा होती है, उसे 'कल्पित' कहते हैं। (फिर, यह भी जान लें कि) पुरुष और स्त्री तीन प्रकार के हैं : उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। इनके चरित भी तीन प्रकार के हैं।" इस प्रकार, कथा के भेदों को कहकर अंशुमान् अद्भुत, शृंगार और हास्यरसबहुल चरित और कल्पित कथाओं को कहने लगा। फलतः, कथा के व्याज से, थकावट महसूस किये बिना, वे दोनों बहुत दूर निकल गये।

संघदासगणी द्वारा प्रस्तुत इस कथाप्रसंग से 'वसुदेवहिण्डी' की कथा-विधा के सन्दर्भ में यह स्पष्ट धारणा बनती है कि 'वसुदेवहिण्डी' की कथा चरित-प्रधान है, जिसमें ऐसे स्त्री-पुरुषों की कथा कही गई है, जो निरन्तर धर्म, अर्थ और काम के प्रयोजन की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी कि इसके स्त्री और पुरुष-पात्र उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीनों कोटि के हैं। कथाकार ने इस चरितकथा को प्रत्यक्ष देखी हुई घटनाओं, शास्त्र द्वारा अर्जित जानकारीयों एवं स्वयं अनुभव की गई बातों या स्वयं भोगी गई यथार्थताओं के आधार पर रचा है। यह 'वसुदेवहिण्डी' न केवल चरित-कथा है, अपितु कल्पित कथा भी है। इसलिए, इसमें कुशल व्यक्तियों द्वारा कथितपूर्व कथाओं को विपर्यय, अर्थात् तोड़-मरोड़ या उलट-फेर के साथ उपस्थापित किया गया है, साथ ही कथाकार ने इसमें अपनी मति से भी कुछ कथाएँ जोड़ दी हैं। इस प्रकार, चरित और कल्पना-प्रधान इस महाकथाग्रन्थ के आख्यानों में अद्भुत, शृंगार और हास्यरस के बाहुल्य का विपुल विनियोग हुआ है, अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि इस कथाकृति में प्रतिपादित शृंगार और हास्यरस अतिशय अद्भुत हैं। कुल मिलाकर, इस ग्रन्थ की कथावस्तु में रसोच्छलित भावों की हृदयावर्जक अभिव्यंजना हुई है। ऐसे ही गद्यमय कथाग्रन्थों के लिए महापात्र विश्वनाथ-कृत कथालक्षण संगत होता है : कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्।^१ कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं की सरसता ही उनके 'यत्परो नास्ति' वैशिष्ट्य का परिचायक तत्त्व है।

'वसुदेवहिण्डी' में जिस प्रकार अनेक प्राकृतों का संगम हुआ है, उसी प्रकार कथाओं के विविध भेदों का भी समाहार उपलब्ध होता है। 'स्थानांग' (४.२४६) में कथा के चार भेद कहे गये हैं : आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी (संवेजनी) और निवेदनी। पुनः इन चारों प्रकार की कथाओं के चार-चार भेद और लक्षण कहे गये हैं।^२ कहना न होगा कि संघदासगणी ने अपनी कथाओं के वर्ण्य विषय को इसी आगमिक कथा-सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में पल्लवित किया है। तदनुसार, 'वसुदेवहिण्डी' में ज्ञान और चारित्र्य के प्रति आकर्षण उत्पन्न करनेवाली आक्षेपणी कथाएँ भी परिगुम्फित हुई हैं, तो समार्ग की स्थापना करनेवाली विक्षेपणी कथाएँ भी समाविष्ट की गई हैं। इसी प्रकार, इस कथाग्रन्थ में जीवन की नश्वरता और दुःखबहुलता तथा शरीर की अशुचिता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करनेवाली संवेदनी कथाएँ भी आई हैं, तो कृत कर्मों के शुभाशुभ फल दिखलाकर संसार के प्रति उदासीन बनानेवाली निवेदनी कथाओं का भी विन्यास हुआ है।

'वसुदेवहिण्डी' में कुछ ऐसी आचाराक्षेपणी कथाएँ हैं, जिनमें आचार का निरूपण किया गया है, तो कुछ व्यवहाराक्षेपणी कथाएँ भी हैं, जिनके द्वारा व्यवहार या प्रायश्चित्त का निरूपण हुआ है। पुनः कुछ प्रज्ञप्त्याक्षेपणी कथाओं का विनियोग हुआ है, जिनमें संशयग्रस्त श्रोताओं के संशय का निवारण किया गया है, साथ ही दृष्टिवादाक्षेपणी कथाएँ भी कही गई हैं, जिनमें श्रोता की योग्यता के अनुसार विविध नयदृष्टियों से तत्त्व-निरूपण किया गया है। विक्षेपणी कथाओं के माध्यम से अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के साथ ही दूसरे के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन हुआ है, पुनः दूसरे के सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ ही अपने सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इसी प्रकार, सम्यग्वाद और मिथ्यावाद के प्रतिपादनपूर्वक अन्त में सम्यग्वाद की स्थापना की गई है।

१. साहित्यदर्पण : ६. ३३२

२. स्थानांग : ४. २४७-२५०

इस महत्कथाकृति में संवेदनी कथाओं के अन्तर्गत, मनुष्य-जीवन की असारता दिखानेवाली इहलोक-संवेदनी कथाएँ विन्यस्त हुई हैं, तो देव, तिर्यक् आदि के जन्मों की मोहमयता तथा दुःखात्मकता को निर्दिष्ट करनेवाली लोकसंवेदनी कथाओं का भी प्रचुरता से उल्लेख हुआ है। पुनः अपने शरीर की अशुचिता का प्रतिपादन करेवाली आत्मशरीर-संवेदनी एवं दूसरे के शरीर की अशुचिता की प्रतिपादिका परशरीर-संवेदनी कथाओं का प्राचुर्य भी इस कथाग्रन्थ में उपलब्ध होता है। निवेदनी कथाओं के प्रसंग में, इहलोक में किये गये दुष्कर्म और सुकर्म के इसी लोक में दुष्फल और सुफल देनेवाली कथाओं का आकलन हुआ है, तो परलोक के दुष्कृत और सुकृत के दुष्फल और सुफल देनेवाली कथाएँ भी निबद्ध हुई हैं।

कथा के अतिरिक्त, विकथाओं का भी उल्लेख 'स्थानांग' (४.२४१-२४५) में हुआ है। संध्यासगणी ने तदनुसार विकथाओं का भी निबन्धन अपने महान् कथाग्रन्थ 'वसुदेवहिण्डी' में किया है। ये विकथाएँ मुख्यतः चार प्रकार की हैं : स्त्रीकथा, देशकथा, भक्तकथा और राजकथा। स्त्रीकथा के अन्तर्गत, महान् कथाविद् ने स्त्रियों की जाति, कुल, रूप और वेशभूषा की कथा कही है। भक्तकथा के प्रसंग में, उसने विभिन्न प्रकार की भोज्य-सामग्री से सम्बद्ध आवाप और निर्वाप-कथाओं का पल्लवन किया है, तो धन की इयत्ता से सम्बद्ध आरम्भ और निष्ठान-कथाओं की भी भूयिष्ठ रचना की है। कथाकार ने देशकथा के सन्दर्भ में विभिन्न देशों में प्रचलित भोजन आदि बनाने के प्रकारों तथा वहाँ के विधि-नियमों की चर्चामूलक देशविधि-कथाओं का प्रस्तवन किया है, तो विभिन्न देशों में उपजनेवाले अन्नों और वस्तुओं का निर्देश करनेवाली देशविकल्प-कथाओं को विस्तार दिया है। इसी प्रकार, उसने विभिन्न देशों के विवाह आदि रीति-रिवाजों से सम्बद्ध देशच्छन्द-कथाओं का वर्णन किया है, तो विभिन्न देशों के पहनावे-ओढ़ावे से सम्बद्ध देशनेपथ्य-कथाओं का विधान भी इस कथाग्रन्थ में हुआ है। पुनः राजकथा के परिवेश में राजाओं के नगर-प्रवेश, नगर-निष्क्रमण, राजाओं के सैन्य-वाहन तथा कोश और कोष्ठागार की कथाओं का भी विपुल वर्णन हुआ है। 'स्थानांग' (७.८०) में वर्णित विकथाओं के अन्य तीन भेदों—मृदुकारुणिकी, दर्शनभेदिनी तथा चरित्रभेदिनी को भी संध्यासगणी ने अपने कथाग्रन्थ में समेटा है। आगमिक सिद्धान्त के अनुसार ही कथाकार ने वियोगजनित करुणरसप्रधान या मृदुकारुणिकी वार्तावाली कथाएँ कहीं हैं, तो चरित्र और विवेक या सम्यग्दर्शन को विनष्ट करनेवाली चरित्रभेदिनी और दर्शनभेदिनी कथाओं को भी अपने कल्पना-वैशिष्ट्य के साथ आकलित किया है। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' कथाओं और विकथाओं का विशाल संग्रह बन गया है, साथ ही यह कथा-साहित्य में प्रायः अचर्चित सूक्ष्म कथाभेदों या कथाविधाओं के तात्त्विक विवेचन के नवीन आयामों का उपस्थापक भी हो गया है।

'दशवैकालिकसूत्र' में प्रकारान्तर या संज्ञान्तर से 'स्थानांग' में उल्लिखित कथाभेदों (अकथा, कथा और विकथा) की ही आवृत्ति हुई है।^१ इसी सूत्र के अनुसार, कथा के अन्य चार भेद भी संकेतित हैं : अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रकथा। मिश्रकथा को ही परवर्ती जैन रचनाकारों, जैसे आचार्य हरिभद्रसूरि ('समराइच्चकहा'), जिनसेन ('महापुराण'), उद्योतनसूरि ('कुवलयमाला') आदि ने संकीर्ण कथा कहा है।^२ 'स्थानांग'-वर्णित कथा ही धर्मकथा है और विकथा में अर्थकथा

१. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री : 'प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' : पृ. ४४३-४४४

२. उपरिवत्।

और कामकथा दोनों का अन्तर्भाव होता है। संघदासगणी ने अर्थकथा और कामकथा का उदात्तीकरण धर्मकथा में प्रदर्शित किया है। अर्थ और काम के पूर्ण उपभोग के बाद आसक्तिरहित धर्माचरण ही सफल लोकयात्रा का परिचायक तत्त्व होता है। संघदासगणी द्वारा 'वसुदेवहिण्डी' में उपस्थापित अर्थकथा, कामकथा और धर्मकथा के साथ ही तीनों के मिश्रित रूप मिश्रकथाएँ भी रंजकता, रोचकता और रुचिरता की दृष्टि से अपना विशिष्ट मूल्य रखती हैं, फिर भी कामकथाओं में इन्द्रियरंजक उल्लास का ततोऽधिक मोहक और उत्तेजक साक्षात्कार होता है।

संघदासगणी ने अपनी कामकथाओं द्वारा 'त्रिकालवर्णनीय' रूप-सौन्दर्य के अतिरिक्त, सामाजिक यौन समस्याओं को भी अनेक कलावरेण्य आयामों में उपस्थापित किया है। काम मानव की सहज प्रवृत्ति है और यह प्रवृत्ति मानव-समाज की आदिम अवस्था, जैनदृष्टि से सृष्टि के आदिकाल की मिथुन-परम्परा के युग से ही काम करती आ रही है। मानव-हृदय में स्वभावतः जागरित होनेवाले काम और प्रेम का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। मूलतः शरीर ही काम और प्रेम की आदि-भूमि है।^१ यही प्रेम और काम जब शरीर से ऊपर उठकर अशरीरी हो जाते हैं, तब मनुष्य राग-द्वेष से मुक्त होकर मोक्षधर्मी बनता है। 'वसुदेवहिण्डी' की कामकथाओं में ही प्रेमकथाओं का अन्तर्भाव हो गया है। संघदासगणी ने प्रेमी और प्रेमिका के उत्कट प्रेम, उनके परस्पर मिलन में उत्पन्न बाधाएँ, मिलन के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न तथा अन्त में उनके मधुर मिलन का वर्णन बड़ी रोचकता से उपन्यस्त किया है। इसी क्रम में उन्होंने पूर्ण सौन्दर्य के वर्णन के निमित्त प्रेमिका के शरीर के अंग-प्रत्यंग—केश, मुख, भाल, कान, भौंह, आँख, चितवन, पयोधर, कपोल, वक्षःस्थल, नाभि, जघन, जंघा, नितम्ब आदि का मनोहारी चित्र अंकित किये हैं साथ ही वसन-आभूषण, सज्जा-शृंगार आदि के भी रसघनिष्ठ वर्णन उपन्यस्त किया है। इस सन्दर्भ में कथाकार की सौन्दर्यानुभूति, कल्पना की उत्कृष्टता तथा बिम्बों, प्रतीकों और उपमानों की उदात्तता से संवलित वर्णन-चमत्कार अपनी विविधता, विचित्रता और अद्वितीयता के साथ उद्भाविता हुआ है।

'कुवलयमाला' (अनुच्छेद ७) के रचयिता उद्योतनसूरि के कथा-सिद्धान्त के अनुसार भी 'वसुदेवहिण्डी' में कथाओं के पाँचों भेदों (सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा एवं संकीर्णकथा) का समाहार उपलब्ध होता है। सकलकथा के लक्षण के आसंग में देखें, तो स्पष्ट होगा कि वसुदेव की अभीष्ट-प्राप्ति-मूलक घटनाओं का विपुल विनियोग 'वसुदेवहिण्डी' में हुआ है। वसुदेव के व्यक्तित्व में वीर रस का प्राधान्य है, किन्तु उसके अंग-रूप में प्रायः सभी प्रकार के रसों का समन्वय उपलब्ध होता है। नायक की दृष्टि से भी वसुदेव का चरित अतिशय पुण्यात्मा, सहनशील और आदर्शोपस्थापक है। वसुदेव जैसे शलाकापुरुष नायक के जीवन में मानसवेग, अंगारक, हेफ्फग आदि प्रतिनायक अपने कष्टदायक क्रियाकलाप से निरन्तर संघर्ष उपस्थित करते रहते हैं। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से तो 'वसुदेवहिण्डी' के प्रायः सभी पात्र प्रभावित हैं।

'वसुदेवहिण्डी' के मुख्य इतिवृत्त के साथ-साथ खण्डकथाएँ भी अनुस्यूत हैं, और फिर इसमें वर्णित चारुदत्त के समुद्र-सन्तरण और उसी क्रम में शंकुपथ, अजपथ और वेत्रपथ की कठिन यात्रा

१. (क) 'देह प्रेम की जन्मभूमि है'; 'उर्वशी': डॉ. रामधारी सिंह दिनकर; प्रकाशक : उदयाचल, राजेन्द्रनगर,

पटना-१६; संस्करण : सन् १९८९ ई. अंक ३ : पृ. ४७ .

(ख) 'प्राणेर परश चाय गायेर परश'— रवीन्द्रनाथ टैगोर

आदि जैसी उल्लास या साहसिक कथाओं का भी सघन परिगुम्फन हुआ है, जिनके द्वारा विभिन्न पात्रों के साहसपूर्ण और दुर्घट कार्यों की व्याख्या भी उपन्यस्त की गई है। ऐसे अवसरों पर कथाकार ने माधुर्यव्यंजक वैदर्भी शैली^१ अपनाकर ललित-लघु पदशय्या में कथा की रचना की है। शाम्ब, प्रद्युम्न, भानु और सुभौम की कथा में तो व्यंग्य और परिहास का पूर्ण परिपाक उपलब्ध होता है। मिश्र या संकीर्ण कथाओं की शैली भी वैदर्भी ही है। 'वसुदेवहिण्डी' की संकीर्णकथाएँ रोमांसबहुल होने के कारण, जनमानस को ततोऽधिक अनुरंजित करने की क्षमता से सम्पन्न हैं। इस प्रकार, विभिन्न कथा-सिद्धान्तों की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' अपना पार्यान्तिक महत्त्व तो रखती ही है, प्राकृत कथा-साहित्य के विकास का आदिग्रन्थ होने की गरिमा का भी संवहन करती है। कुल मिलाकर, 'वसुदेवहिण्डी' की मूलकथा, धनंजय के शब्दों में 'नेत्ररसानुगुण्या' (दशरूपक : १. ६८) तो है ही, उसकी अवान्तर या खण्डकथाएँ भी तद्गत हैं।

संघदासगणी ने 'वसुदेवहिण्डी' की मूलकथा के विकास के लिए जितनी खण्डकथाएँ जोड़ी हैं, उनकी संज्ञाएँ भी विभिन्न रूपों में रखी हैं। ये संज्ञाएँ इस प्रकार हैं : कहाणय (कथानक), कहा (कथा), संबंध (सम्बन्ध), या कहासंबंध (कथासम्बन्ध), दिट्ठंत (दृष्टान्त), णाय (ज्ञात), उदंत (उदन्त), अक्खाणय (आख्यानक), परिचय, चरिय (चरित), पसंग (प्रसंग), अप्पकहा या अत्तकहा (आत्मकथा), आहरण (आहरण) और उदाहरण (उदाहरण)। ये सभी संज्ञाएँ प्रायः एक दूसरे की पर्यायवाची हैं, फिर भी कथा की प्रकृति की दृष्टि से इनमें सूक्ष्म भेद लक्षणीय हैं। इसलिए, खण्डकथाओं को विभिन्न संज्ञाओं के साथ उपन्यस्त करने में कथाकार का विशिष्ट उद्देश्य परिलक्षित होता है। अन्यथा वह सभी उपकथाओं की संज्ञाएँ एक ही रखते। अवश्य ही, इन सभी संज्ञाओं से तत्कालीन कथाओं के चारित्रिक विकास की बहुमुखता की सूचना मिलती है।

संघदासगणी ने अपने महाग्रन्थ में दो खण्डकथाओं का 'कथानक' शब्द से निर्देश किया है। वे हैं : 'विशेषपरिण्णाए इब्भपुत्तकहाणय' (पृ. ४ : पं. ११) तथा 'एगभवम्मि वि संबंध-विचित्तयाए कुबेरदत्त-कुबेरदत्ता-कहाणय' (१०.२७)। इन कथानक-संज्ञक दोनों खण्डकथाओं में दो गणिकाओं की कथाएँ गुम्फित की गई हैं, जिनकी परिणति धर्मकथा में हुई है। पहली खण्डकथा में एक इभ्यपुत्र के, ऐसी गणिका के साथ प्रसंग की कथा है, जो अपने ग्राहकों को विदा करते समय स्मृतिचिह्न-स्वरूप अपना कोई आभूषण उपहार में देती थी। इभ्यपुत्र भी जब उस गणिका के घर से विदा होने लगा, तब गणिका ने उससे कोई आभूषण लेने का आग्रह किया। वणिक्पुत्र रत्नपरीक्षाकुशल था। उसने गणिका से उसका पंचरत्नमण्डित सोने का मूल्यवान् पादपीठ माँगा। कथाकार ने इस कथा के उपसंहार में कहा है कि गणिका धर्मश्रुति का प्रतीक थी और उसके यहाँ आनेवाले राजा, अमात्य और वणिकों के पुत्र सुख भोगनेवाले देव और मनुष्य जैसे प्राणियों के प्रतीक थे। गणिका के आभरण देशविरति-सहित तपश्चर्या के प्रतीक थे। वणिक्पुत्र मोक्षाभिलाषी पुरुष का प्रतीक था। वणिक्पुत्र की रत्नपरीक्षाकुशलता सम्यग्ज्ञान का और रत्न-पादपीठ सम्यग्दर्शन का प्रतीक था। इसी प्रकार रत्न पाँच-महाव्रतों के प्रतीक थे और रत्न-विनियोग निर्वाणसुख-लाभ का प्रतीक था। यह कथानक संसार-विरक्त जम्बूस्वामी के अपने माता-पिता के साथ होनेवाले संवाद के अवसर पर उपन्यस्त हुआ है, जिसका आशय है कि विषयभोगबहुल संसार में

१. माधुर्यव्यंजकैर्वाणैः रचना ललितात्मिका।

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥ —साहित्यदर्पण : १. २

मोक्षाकांक्षी पुरुष ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करके इस संसार से अलग हो सकता है। इस प्रकार, इस कथानक में प्रतीक-प्रयोग का सुन्दर और व्यञ्जक उदाहरण प्रस्तुत हुआ है।

दूसरी खण्डकथा (कथानक) एक भव में ही सम्बन्ध की विचित्रता के प्रतिपादन के निमित्त उपन्यस्त हुई है। इसमें भी कुबेरसेना नाम की गणिका की कथा का परिगुम्फन हुआ है, जिसमें गणिका द्वारा परित्यक्त उसके बेटे और बेटी का अज्ञात परिस्थिति में आपस में विवाह हो जाता है। कुबेरदत्ता को उसी समय अवधिज्ञान उत्पन्न होता है और वह विरक्त होकर भिक्षुणी बन जाती है, किन्तु कुबेरदत्त पुनः अपनी माता कुबेरसेना गणिका के घर आकर उसके साथ भोगलिप्त होकर एक पुत्र को जन्म देता है। पुनः कुबेरदत्ता द्वारा वस्तुस्थिति का ज्ञान कराने पर कुबेरदत्त विरक्त हो उठता है और तपस्या द्वारा अपने शरीर का क्षय करके देवत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार उक्त दोनों कथानकों का कामकथा से धर्मकथा में उदात्तीकरण हुआ है। इससे स्पष्ट है कि कथाकार ने उक्त प्रकार की कथाओं को कथानक-कोटि में वर्गीकृत किया है, जो आगमिक कथा-सिद्धान्त के अनुसार 'विकथा' है।

कथाकार ने 'वसुदेवहिण्डी' की सात उपकथाओं को 'कथा' शब्द से निर्देशित किया है। इनमें पहली कथा ('दुल्लहाए धम्मपत्तीए मित्ताणं कहा' : ४.२९) जम्बू के माता-पिता के साथ संवाद के क्रम में ही कही गई है, जिसमें कुछ युवा मित्रों ने एक तीर्थंकर के दर्शन करने और प्रवचन सुनने के बाद समवसरण में ही प्रव्रजित होकर उनसे दुर्लभ धर्म प्राप्त किया। यह कहानी सुनाकर जम्बू ने अपने माता-पिता से कहा : यदि मैं भी संसार से जल्दी विमुख नहीं होऊँगा, तो मुझे दुर्लभ धर्म की प्राप्ति कैसे होगी।

दूसरी कथा ('इंदिय-विसयपसत्तीए निहणोवगयवानरकहा' : ६.५) भी उक्त प्रसंग में ही आई है। कथा है कि एक जंगल में बन्दरों का राजा (जूहवई = यूथपति) रहता था। एक बार किसी प्रौढ बलिष्ठ बन्दर ने उसे पराजित कर दिया और खदेड़कर बहुत दूर भगा दिया। भागते हुए बन्दरों के यूथपति ने एक पहाड़ की गुफा में शरण ली। गुफा में शिलाजीत का रस बह रहा था। भूख और प्यास से आक्रान्त वह बन्दर उसे पानी समझकर पीने लगा, पर शिलाजीत विषक जाने से उसका मुँह बन्द हो गया। उसे छुड़ाने के लिए जब वह मुँह पर अपने हाथों को ले गया, तब हाथ भी चिपक गये। अन्त में, वह असमर्थ होकर मर गया। कथा के उपसंहार में बताया गया है कि इन्द्रिय-विषयों में फँसकर मनुष्य बन्दरों के यूथपति की भाँति दुःखमय मृत्यु को प्राप्त करता है।

तीसरी कथा ('पमत्ताए लद्धमहिसजम्पणो माहणदारयस्स कहा' : २२.७) जम्बू-प्रभव-संवाद के प्रसंग में प्रस्तुत की गई है। कथा है कि विषय-प्रमादवश महिष-जन्म को प्राप्त एक ब्राह्मण-पुत्र को कसाई ने खरीद लिया और उसे डण्डे से पीटता हुआ ले चला। महिष, यानी पूर्वभव के ब्राह्मण-पुत्र, का पिता तप करके देवता हो गया था। उसने सस (महिष : पुत्र) को अपना दिव्य रूप दिखलाया, जिससे महिष को, आकरणीय के क्षयोपशम से, जातिस्मरण हो आया। उसने पिता को पहचान लिया और वह एकबारगी चिल्ला उठा : 'पिताजी ! मुझे बचाइए।' देवरूप पिता ने कसाई से कहा : 'इसे मत पीटो। यह मेरा पुत्र है।' कसाई बोला : 'इसने तुम्हारा कहना न मानकर गृहधर्म (आगारवास) स्वीकार किया था। इसलिए नहीं छोड़ूँगा।' इसके बाद महिष (ब्राह्मणपुत्र) ने जब गृहधर्म का मार्ग त्यागने की प्रतिज्ञा की, तब कसाई ने उसे छोड़ दिया। इसके बाद महिष ने

भक्त-प्रत्याख्यान करके देहत्याग किया और सौधर्म कल्प में देव हो गया। बात यह थी कि उस कसाई को देवरूप ब्राह्मण ने ही अपनी मति से निर्मित कर, पुत्र को धर्ममार्ग पर ले आने के निमित्त उसे उससे उत्पीडित कराया था। और, इस प्रकार, प्रतिबोधित करके पिता ने पुत्र का तिर्यग्गति से उद्धार किया।

चौथी कथा ('सकयकम्मविवागे कौकणयबंभणकहा' : २९.१७) धम्मिल्लचरित में कही गई है। इसमें मगध-जनपद के पलाशग्राम के कौकणक नामक ब्राह्मण की कथा है, जो अपने कर्मविपाकवश (शमीवृक्ष के नीचे स्थापित देव को बकरे की बलि चढ़ाने के कारण) मरने के बाद स्वयं वह अपने घर में ही बकरे के रूप में उत्पन्न हुआ। कुछ दिनों बाद कौकणक के पुत्र ने अपने मृत पिता को उद्दिष्ट कर बन्धु-बान्धवों को आमन्त्रित किया और देवता की पूजा की। उसके बाद उसका पुत्र (कौकणक का पौत्र) अपने घर के बकरे (अर्थात् अपने पितामह) के गले में रस्सी बाँधकर, बेबियाते हुए उसे वध के लिए ले चला। उसी समय पेड़ के नीचे विश्राम करते हुए एक सिद्ध साधु ने बकरे से उसके पूर्वकृत पाप के बारे में कह सुनाया और अन्त में, कौकणक के पुत्र-पौत्र को उस बकरे के पूर्वभव का परिचय दिया। वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर बकरे को मुक्त कर दिया गया। इस कथा का सार यही है कि स्वयंकृत कर्म के कारण ही मनुष्य इस संसार में दुःख पाता है और वह साधु की कृपा से ही ज्ञान प्राप्त कर दुःखमुक्त हो सकता है।

पाँचवीं कथा ('राहुगपुव्वभवकहा' : ८६: २७) पीठिका-प्रकरण में प्रद्युम्न के पूर्वभव की कथा के सम्बन्ध में उपन्यस्त की गई है। इसमें बलान्मूक राहुक के विभिन्न पूर्वभवों की विचित्रता की कथा कही गई है। सत्य नामक सत्यवादी साधु के उपदेश से ही उसे आत्मस्वीकृत गूँगेपन से छुटकारा मिला। कथाकार ने पूर्वभव की सिद्धि के क्रम में इस कथा का विनियोग किया है।

छठी कथा ('परलोगपच्चए धम्मफलपच्चए य सुमिताकहा' : ११५.२२) को शरीर-प्रकरण में उपस्थित किया गया है। इसमें भी परलोक और धर्मफल के अस्तित्व की सिद्धि के लिए वाराणसी के राजा हतशत्रु की पुत्री सुमित्रा के बाल्यभाव में ही पूर्वजन्म के स्मरण हो आने का रोचक वृत्तान्त उपन्यस्त किया गया है।

सातवीं कथा ('आइच्चाइमुणिचउव्वकहा' : २८४.१४) अट्टारहवें प्रियंगुसुन्दरीलम्भ में आई है, जिसमें एक मुनि ने रमणीय ग्राम के ग्रामस्वामी देवदत्त से सारस्वत, आदित्य, वह्नि और वरुण नामक मुनियों के ब्रह्मलोक से च्युत होकर दक्षिणार्द्ध भरत के यथाक्रम ऋषभपुर, सिंहपुर, चक्रपुर तथा गजपुर नामक नगरों में आदित्य, सोमवीर्य, शत्रुतम और शत्रुदमन राजाओं के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण करने की कथा कही है। यह कथा भी पूर्वभव और परभव के सम्बन्धों की विचित्रता को बताने के उद्देश्य से ही गुम्फित की गई है। इस प्रकार, उपरिवर्णित सातों खण्डकथाएँ विशुद्ध धर्मकथा की कोटि में आती हैं, इसलिए कथाकार ने इन्हें 'कथा' की संज्ञा-प्रदान की है।

कथाकार ने 'सम्बन्ध' या 'कथासम्बन्ध'-संज्ञक अनेक कथाएँ उपन्यस्त की हैं। ये निम्नांकित रूप में प्रस्तुत हैं:

पभवसामिसंबंधो (७.११); पसन्नचंद-वक्कलचीरीसंबंधो (१६.१६); जंबुसामिपुव्वभवकहाए भवदत्त-भवदेवजम्मसंबंधो (२०.१९); सागरदत्त-सिक्कुमार-संबंधो (२३.७); जियसत्तुरायपुव्वभव-संबंधो (३८.२१); दंडधम्माइमुणिछव्वकसंबंधो (४८.७); पज्जुण्ण-संबकुमारकहासंबंधो (७७.४);

अगिभूइ-वाउभूइपुव्वभवसंबंधो (८६.१२); राहुगबलामूककहासंबंधो (८६.२१); अंधगवणिहपुव्व-भवसंबंधो (११२.२४); इब्बदारयदुगकहासंबंधो (११६.१८); महाबल-सयंबुद्धपुव्वजाणं कहासंबंधो (१६९.१५); सगरसंबंधो (१८५.२४); नारय-पव्वयग-वसूणं संबंधो (१८९.२७); पउमसिरसंबंधो (२३०.२६); पउमसिरपुव्वभवसंबंधो (२३२.८); सणकुमारचक्कवट्टिसंबंधो (२३३.१५); सुभोमचक्कवट्टिसंबंधो (२५१.१४); जमदग्गिपरसुरामाइसंबंधो (२३५.२०); विज्जुदाढविज्जाहरसंबंधो (२५१.२४); संजयंतजयंताणं संबंधो (२५२.२१); विज्जुदाढसंजयंताणं पुव्वभविओ वेरसंबंधो (२५३.७); मिगद्धय-भद्दगाणं पुव्वभंबसंबंधो तत्थ तिविद्धु-आसग्गीवाणं संबंधो (२७५.९); गंगरक्खिअसंबंधो (२८९.१०); कामपडागासंबंधो (२९३.९); सामिदत्तसंबंधो (२९४.१३); इसिदत्ताणियपुत्ताणं कहासंबंधो (२९७.२३); पियंगुसुंदरीपुव्वभवसंबंधो (३०६.१); संतिज्जिणपुव्वभवकहाए अमियतेयभवो सिरिविज्जयाईणं संबंधो य (३१३.२३); इंदुसेण-बिंदुसेण-संबंधो (३२१.१); मणिकुंडलीविज्जाहरसंबंधो (३२१.१३); सुमतिरायकणासंबंधो (३२७.१५); संतिमतीए अजियसेणस्स य संबंधो तप्पुव्वभवो य (३३०.२२) और इंदसेणासंबंधो (३४८.१६)।

इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' में सम्बन्ध-संज्ञक कथाओं की विविधता और बहुलता उपलब्ध होती है। ये 'सम्बन्ध'-संज्ञक कथाएँ कथा और विकथा, अर्थात् धर्मकथा एवं कामकथा, अर्थकथा तथा मिश्रकथा के रूपों में वर्गीकृत की जा सकती हैं। 'सम्बन्ध' या 'कथासम्बन्ध'-संज्ञक ये सभी कथाएँ अपने नाम की अन्वर्थता के अनुसार कहीं कथा के पूर्वापर-सम्बन्ध को जोड़ने के लिए प्रस्तुत की गई हैं, तो कहीं मूलकथा के प्रसंग में, कथा-विस्तार के निमित्त, विनियोजित हुई हैं। कुल मिलाकर, इन सभी 'सम्बन्ध' संज्ञा से संवलित कथाओं का संगुम्फन विभिन्न कथा-पात्रों और पात्रियों के पूर्वभव और परभव के परस्पर सम्बन्ध और उनके कार्यों की विचित्रता के प्रदर्शन के लिए किया गया है।

संघट्टासगणी ने 'दृष्टान्त'-संज्ञक कथाओं का विन्यास भी अपनी बृहत्कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' में किया है। यथाविन्यस्त दृष्टान्त-कथाएँ संख्या की दृष्टि से कुल दो ही हैं : 'विसयसुहोवमाणं महुंबिंदुदिट्ठंत' (८.३) तथा 'दुक्खे-सुहकप्पणाए विलुत्तभंडस्स वाणियगस्स दिट्ठंत' (१५.१६)। 'दृष्टान्त' की शाब्दिक व्याख्या के अनुसार, परिणाम को प्रदर्शित करेवाली कथाएँ ही 'दृष्टान्त' (जिसका अन्त या परिणाम देखा गया हो : दृष्टः अन्तो यस्याः सा दृष्टान्तकथा) की संज्ञा प्राप्त करती हैं। मूलतः, इस प्रकार की कथाएँ नीतिकथाएँ हुआ करती हैं। विषय-सुख में लिप्त मनुष्य विषय के तादात्विक सुख की अनुभूति में ही अपने जीवन की सार्थकता का अनुभव करता है, उसके भावी दुःखमय परिणाम का ज्ञान उसे कभी नहीं रहता है। संसारी मनुष्य भय-संकट की स्थिति में भी अपने को अज्ञानतांश निर्भय समझता है, वस्तुतः उसका सुख केवल एक प्रकार की कल्पना ही होता है। कथाकार द्वारा उपन्यस्त मधुबिन्दु का दृष्टान्त श्रमण और ब्राह्मण-परम्परा के परवर्ती ग्रन्थकारों द्वारा भी बहुशः आवृत्त हुआ है।

कथा है कि अनेक देशों और नगरों में विचरण करनेवाला कोई पुरुष एक व्यापारी के साथ जंगल में जा पहुँचा। व्यापारी को चोरों ने मार डाला। व्यापारी से बिछड़ा हुआ वह पुरुष दिशा भूलकर भटकने लगा। इसी समय उसे एक मतवाले हाथी ने खदेड़ा। भागते हुए उस पुरुष को घास-फूस से ढका एक पुराना कुआँ दिखाई पड़ा। कुएँ की जगत पर बहुत पड़ा बरगद का पेड़ जम गया था और उसका बरोह कुएँ के भीतर लटक रहा था। भयाक्रान्त वह पुरुष कुएँ में, बरोह

पकड़कर लटक गया। कुएँ में उसे निगलने को मुँह बाये विशालकाय अजगर पड़ा था। फिर कुएँ में चारों ओर भयानक सर्प उसे डँसने को तैयार थे। ऊपर काले-काले दो चूहे बरोह को काट रहे थे और हाथी अपनी सूँड़ से उसके केशाग्र को छू रहा था। उस पेड़ पर मधुमक्खी के छत्ते में ढेर सारा मधु था। हाथी के झकझोरने या हवा से हिलने पर शहद की कुछ बूँदें उस पुरुष के मुँह में आ टपकती थीं, साथ ही उसे भौर काट खाने को चारों ओर मँडरा रहे थे। इस प्रकार, मधुबिन्दु के आस्वाद-सुख के अतिरिक्त शेष सारी बातें उस पुरुष के लिए दुःख का कारण बनी हुई थीं।

इस दृष्टान्त का उपसंहार है : मधु का आकांक्षी पुरुष संसारी जीव है। जंगल जन्म, जरा, रोग और मरण से व्याप्त संसार का प्रतीक है। बनैला हाथी मृत्यु का प्रतीक है और कुआँ देवभव एवं मनुष्य-भव का। अजगर नरक और तिर्यक् का प्रतीक है, तो सर्प क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का प्रतीक है, जो दुर्गति की ओर ले जाता है। बरगद का बरोह जीवनकाल का प्रतीक है, तो चूहे कृष्ण-शुक्लपक्ष के प्रतीक हैं, जो रात और दिन-रूपी दाँतों से जीवन को कुतरते हैं; पेड़ कर्मबन्धन के कारणभूत अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व का प्रतीक है। मधुबिन्दु शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध जैसे इन्द्रिय-विषय के प्रतीक हैं तथा भौर विभिन्न आगन्तुक शारीरिक रोग हैं।

दूसरी 'दृष्टान्त'-कथा में मधुबिन्दु के लोभी पुरुष की भाँति, दुःख में सुख की कल्पना करने-वाले एक विलुप्तभाण्ड बनिये की कथा उपस्थापित की गई है। कथा है कि एक बनिया एक करोड़ का भाण्ड (माल) गाड़ियों में भरकर व्यापारियों के साथ घोर जंगल में प्रविष्ट हुआ। उसका एक खच्चर था, जिसपर सामान्य लेन-देन के लिए पैसे या सिक्के लदे थे। जंगल में खच्चर के ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर चलने के झटके से बोरा फट गया और सिक्के गिरकर बिखर गये। यह देखकर उसने गाड़ियों को रोक दिया और वह बिखरे हुए सिक्के खोज-खोजकर बटोरने लगा। साथ चलनेवाले व्यापारी जब उसके पास आये, तब उन्होंने उससे कहा : 'गाड़ियों पर माल तो हैं ही, कौड़ी के लिए करोड़ क्यों छोड़ रहे हो? क्या चोरों का भय नहीं है?' उस बनिये ने कहा : 'जब भविष्य का लाभ सन्दिग्ध है, तब वर्तमान को क्यों छोड़ूँ?' उसके ऐसा कहने पर शेष व्यापारी उसे छोड़कर चले गये और इधर चोरों ने उसके सारे भाण्ड (माल) चुरा लिये।

इस प्रकार, दुःखपरिणामी वर्तमान सुख को ही सुख माननेवाले बनिये को अपने एक करोड़ के माल से हाथ धोना पड़ा। इसलिए, नीति यही है कि भावी सुख के लिए वर्तमान में दुःख उठाना ही श्रेयस्कर है, अन्यथा वर्तमान सुख सही मानी में दुःख है, और वर्तमान दुःख में सुख की कल्पना भविष्य के लिए हानिकारक होती है। इस प्रकार, कथाकार द्वारा उपन्यस्त उक्त दोनों दृष्टान्त-कथाएँ विशुद्ध रूप से नीतिपरक कथाएँ हैं।

संघदासगणी ने 'णाय' या 'ज्ञात' संज्ञा से भी कई कथाएँ प्रस्तुत की हैं। 'वसुदेवहिण्डी' में 'णाय'-संज्ञक कुल तीन कथाएँ हैं : 'गन्धवासदुक्खे ललियंगयणाय' (९.४), 'दढसीलयाए धणसिरी-णाय' (४९.२५) और 'सच्छंदयाए रिवुदमणनरवड्णाय' (६१.२४)। इस 'णाय' या 'ज्ञात'-संज्ञक कथाओं की गणना भी 'विकथा' में की जा सकती है; क्योंकि इनका सम्बन्ध भी कामकथा से जुड़ा हुआ है। कथाकार द्वारा प्रस्तुत अन्तःसाक्ष्य के अनुसार 'णाय'-संज्ञक कथाएँ 'दृष्टान्त'-संज्ञक

कथाओं के भेद हैं। 'ललितयंगयणाय' के उपसंहार में कथाकार ने संकेत भी किया है: 'एथस्स दिट्ठतस्स उवसंहारो (१०.७)।' कथा है कि वसन्तपुर के राजा शतायुध की रानी ललिता उसी नगर के एक कलाकुशल गुणी सार्थवाह-पुत्र ललितांगद पर रीझ गई। रानी की दासी प्रच्छन्न रूप से ललितांगद को रानी के पास पहुँचाने लगी। अन्तःपुर के महत्तरकों से राजा को जब इसकी सूचना मिली, तब उसने छानबीन शुरू की। आत्मरक्षा के लिए ललितांगद को रानी के सण्डास में छिपना पड़ा। वह सण्डास राजधानी की मुख्य खाई से सम्बद्ध था। वर्षा ऋतु आने पर सण्डास में जब पानी भर गया, तब उसी के प्रवाह में बहकर वह खाई के किनारे जा लगा। मूर्च्छित अवस्था में उसे उसकी धाई उठा ले गई, जहाँ वह सेवा-शुश्रूषा के बाद स्वस्थ हुआ।

इस कथा के उपसंहार में बताया गया है कि ललितांगद जीव का प्रतीक है। रानी के साथ उसकी भेंट मनुष्य-जन्म का प्रतीक है। दासी इच्छा का और रानी के घर में ललितांगद का प्रवेश विषय-प्राप्ति का प्रतीक है। ललितांगद की खोज करनेवाले राजपुरुष रोग, शोक, भय, शीत और ताप के प्रतीक हैं। सण्डास गर्भ का प्रतीक है। ललितांगद के सण्डास में रहते समय रानी उसे जो अपने भोजन का शेष खाने को देती थी, वह, गर्भस्थित शिशु को गर्भवती माँ के द्वारा खाये गये अन्न के द्वारा मिलनेवाले रस का प्रतीक है। ललितांगद का खाई से निकलना प्रसव-काल का, और धाई, देह का उपग्रह करनेवाली कर्मविपाक-प्राप्ति का प्रतीक है।

इसी प्रकार, धनश्री की कथा (णाय) में धनश्री पर आसक्त डिण्डी (नगर के आरक्षी-पदाधिकारी या कोई छैला) को अपने प्राण से हाथ धोना पड़ा। धनश्री ने ही उसे पहले योगमद्य पिलाकर बेहोश कर दिया, फिर उसी की तलवार से ही उसकी हत्या कर दी।

तीसरी णाय-कथा में वर्णन है कि ताम्रलिप्ति के राजा रिपुदमन के स्वाच्छन्द या दुराग्रह (यानी, जबरदस्ती अल्पभारवाही यान पर राजा के अपनी रानी को भी साथ लेकर सवार हो जाने) के कारण कोवकास द्वारा चालित यान यात्रिक गड़बड़ी से तोसली नगरी के राजा के राज्य में जाकर दुर्घटनाग्रस्त हो गया। उस यान पर सवार राजा-रानी दोनों बच तो गये, लेकिन तोसली-नरेश ने राजा को बन्दी बना लिया और रानी को अपने अन्तःपुर में रख लिया।

इस प्रकार, कथाकार ने इन तीनों ज्ञातकथाओं में विषयासक्त मनुष्य की दुर्गति की ओर संकेत किया है। ललितांगद और डिण्डी यौनसुख की आसक्ति रखते थे और राजा रिपुदमन अपनी रानी के साथ यान-विहार की आसक्ति में पड़ गया था। इस प्रकार, ये तीनों 'ज्ञात'-संज्ञक कथाएँ विशुद्ध कामकथाएँ हैं।

'वसुदेवहिण्डी' में 'उदन्त'-संज्ञक दो कथाओं का उल्लेख हुआ है। प्रथम, कथोत्पत्ति-प्रकरण में, 'अथविणिओगविरूवाए गोपदारगोदंतं' (५३.६) तथा द्वितीय, धम्मिल्लहिण्डी में, 'नागरिय-छलिअस्स सागडिअस्स उदंतं' (५७.९)। प्रथम 'उदन्त' में वर्णन है कि अंग-जनपद की एक गोप-टोली को चोरो ने लूट लिया। लूटने के क्रम में वे एक प्रथमप्रसूता रूपवती तरुणी को उठा ले गये और उसे उन्होंने चम्पानगर के, गणिका के बाजार में बेच दिया। तरुणी का नवजातपुत्र जब बड़ा हुआ, तब घी का व्यापार करने के क्रम में वह चम्पानगर पहुँचा। वहाँ उसने गणिका के घर में तरुण पुरुषों को स्वच्छन्द क्रीड़ा करते देखा। उसकी भी कामक्रीड़ा करने की इच्छा हुई। वह जब गणिका-गृह में घुसा, तब वहाँ उसे अपनी माँ ही पसन्द आ गई। उसने इच्छित शुल्क जमा कर दिया। सन्ध्या में स्नात-विभूषित होकर जब वह अपनी माँ : गणिका के पास चला, तभी

कृपापूर्वक एक देवी ने बछड़े के साथ गाय का रूप धारण करके उसके सामने अपने को प्रकट किया। गोपदारक, अपने गन्दे पैर को उस बछड़े पर रखकर पोंछने लगा। उस बछड़े ने मनुष्यवाणी में गाय से पूछा : 'माँ, यह कौन आदमी मुझपर अपने गन्दे पैर को रखकर पोंछ रहा है?' गाय ने कहा : 'बेटे ! गुस्सा मत करो। यह अभागा अपनी माँ के पास अकृत्य करने जा रहा है। फिर, इसके लिए यह काम कोई बड़ी बात नहीं है।' यह कहकर देवी अदृश्य हो गई।

गोपदारक ने सोचा : मेरी माँ को चोर हर ले गये थे, जाने वही कहीं गणिका तो नहीं हो गई है? उसने जाकर अपनी अभीप्सित वेश्या से वस्तुस्थिति की जिज्ञासा की, तो ज्ञात हुआ कि सचमुच वह वेश्या उसकी माँ ही है, जिसने अभिज्ञानपूर्वक अपना परिचय प्रस्तुत किया। इस प्रकार, देवी द्वारा प्रतिबोधित गोपदारक मातृगमन के अकृत्य से बच गया।

दूसरी 'उदन्त'-संज्ञक कथा में एक नागरिक गन्धिपुत्र द्वारा गाड़ीवान के और फिर गाड़ीवान द्वारा उस नागरिक के छले जाने का वर्णन हुआ है। नागरिक ने वाक्छल से एक कार्षापण में तीतर-समेत उसकी गाड़ी ले ली और पुनः गाड़ीवान ने कुलपुत्र द्वारा प्रदर्शित उपाय से दो पैली सत्तू के साथ उसकी स्त्री को भी हथिया लिया। अन्त में मुकदमे के द्वारा दोनों में निबटारा हुआ।

इस प्रकार, इन दोनों 'उदन्त'-संज्ञक कथाओं में गुप्त वार्ता की ओर संकेत किया गया है। कोशकार आटे महोदय ने 'उदन्त' का अर्थ गुप्तवार्ता भी किया है, इसीलिए शब्दशास्त्रज्ञ कथाकार संध्यासगणी ने उक्त दोनों कथाओं को 'उदन्त' संज्ञा से अभिहित किया है।

कथाकार ने 'आख्यानक'-संज्ञक कथाओं का भी उपन्यास किया है। 'वसुदेवहिण्डी' में कुल तीन आख्यानक इस प्रकार हैं : 'लोकधम्मासंगययाए महेशरदत्तक्खाणयं' (१४.११); 'चित्तयत्थ-विवज्जासे वसुभूईबंभणक्खाणयं' (३०.२१) और 'कयग्घाए वायसक्खाणयं' (३३.४)। प्रथम, महेश्वरदत्त के आख्यान में श्राद्ध आदि लोकधर्म की असंगति दिखाई गई है, अर्थात् मृत पिता की सद्गति के उद्देश्य से आयोजित श्राद्ध में महेश्वरदत्त, स्वयं (महिषयोनि में उत्पन्न) अपने पिता को ही काटकर उसके मांस से भोज का आयोजन करता है।

द्वितीय, वसुभूति ब्राह्मण के आख्यानक में यह बताया गया है कि मनुष्य सोचता कुछ और है, लेकिन हो जाता है कुछ और ही। वसुभूति ने खेत में धान रोपा, लेकिन देखरेख के अभाव में धान की जगह घास उग आई। उसकी रोहिणी नाम की गाय का गर्भ असमय ही गिरकर नष्ट हो गया, इसलिए वह बच्चा नहीं दे सकी। ब्राह्मण का बेटा सोमशर्मा नट की संगति में पड़कर नट हो गया और ब्राह्मणपुत्री सोमशर्माणी किसी धूर्त के फेरे में पड़कर वचरिपन में ही गर्भिणी हो गई। इस प्रकार, ब्राह्मण के द्वारा चिन्तित अर्थ का विपर्यास या अन्यथात्व हो गया।

तृतीय, कौए के आख्यानक में यह निर्देश किया गया है कि अकाल पड़ने के कारण चारे-दाने के अभाव में कौए अपने भाँजे कर्पिजलों के पास समुद्रतट पर चले गये। वहाँ कर्पिजलों ने कौओं का हृदय से आतिथ्य किया और वे वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। जब कौओं को पता चला कि अपने जनपद में सुमिक्ष (सुकाल) लौट आया है, तब वे वापस जाने को तैयार हो गये। जब कौए लौट चले, तब कर्पिजलों ने कहा : 'आप क्यों जा रहे हैं?' कौओं ने उनसे कहा : 'प्रतिदिन सूर्य उगने से पहले हमें तुम्हारा अधोभाग देखना पड़ता है। यह स्थिति हमें बरदाश्त नहीं होती, इसीलिए हम जा रहे हैं।' इस प्रकार, कर्पिजलों पर लांछन लगाकर कृतघ्न कौए लौट गये।

यहाँ भी कर्पिजलों का सोचना कुछ अन्यथा ही हो गया। कर्पिजलों ने मामा मानकर कौओं की खातिरदारी की और कृतघ्न कौए अपने भागिनों (कर्पिजलों) को लांछित करके चले गये।

इस प्रकार, कथाकार **संघट्टासगणी** ने चिन्तित अर्थ के विपर्यास या अन्यथात्व को संज्ञापित करनेवाली कथाओं को 'आख्यानक' कोटि की कथा में श्रेणीबद्ध किया है।

'परिचय'-संज्ञक कथाएँ अपने नाम के अनुसार ही पात्र-पत्रियों के परिचय प्रस्तुत करने के निमित्त उपन्यस्त की गई हैं। इनमें प्रायः मूल कथा के विशिष्ट पात्रों के ही परिचय परिनिबद्ध हैं। संख्या की दृष्टि से कुल परिचय-कथाएँ चौदह हैं :

'अगडदत्तस्स सामदत्ताए परिचओ' (३७.१); 'विमलसेनापरिचओ' (५४.६); 'रामकण्हाण अग्गमहिशीण परिचओ' (७८.१); 'अन्धगवण्हपरिचओ' (१११.१); 'साम्म-विजयापरिचओ' (१२१.११); 'साम्मलीपरिचओ' (१२३.१); 'अंगारकपरिचओ' (१२४.१); 'गंधव्वदत्तापरिचओ' (१३३.१४); 'अमियगतिविज्जाहरपरिचओ' (१३९.१३); 'वइसेनकारिओ ललियंगयदेवपरिचओ' (१७४.२८); 'नीलजसापरिचओ' (१७८.१५); 'स्तवतीलसुणिकापरिचओ' (२१९.६); 'सोमसिरि-परिचओ' (२२२.१३) तथा 'पियंगुसुंदरीपरिचओ' (२६५.२०)।

कथाकार ने 'चरित'-संज्ञक कथाओं में शलाकापुरुषों या तत्कोटिक पुरुषों के चरित उपन्यस्त किये हैं। मूल 'वसुदेवहिण्डी' के अन्तर्गत निर्माकित चरित-कथाएँ गुम्फित हुई हैं :

'जंबुसामिचरियं' (२.४); 'धम्मिल्लचरियं' (२७.३); समुद्रविजयाईणं नवणं वसुदेवस्स य पुव्वभवचरियं (११४.४); 'विण्हुकुमारचरियं' (१२८.१८); 'उसभसामिचरियं' (१५७.१); 'रामायणं' (रामचरित, २४०.१५); 'सिज्जंसक्खायं उसभसामिसंबद्धं पुव्वभवचरियं' (१६५.१९); 'मिगद्धय-कुमारस्स भद्गमहिस्स य चरियं' (२६८.२७); 'संतिज्जिणचरियं' (३४०.१); 'कुंथुसामिचरियं' (३४४.१) एवं 'अरजिणचरियं' (३४६.१६)। इस प्रकार, इन कुल ग्यारह चरित-कथाओं में धर्म, अर्थ और काम के प्रयोजन से सम्बद्ध दृष्ट, श्रुत एवं अनुभूत कथावस्तुओं का वर्णन उपन्यस्त हुआ है।

विशिष्ट रूप से किसी कथा की प्रत्यासत्ति की स्थिति में कथाकार ने उस कथा को 'प्रसंग' नाम से उपस्थित किया है। इस सन्दर्भ में, कुल एकमात्र कथा 'वसंततिलयागणियापसंगो' शीर्षक से उपलब्ध होती है। यह कथा धम्मिल्ल के चरित की प्रत्यासत्ति में, प्रसंग के पल्लवन के लिए, कथावस्तु के मध्य की कड़ी की भाँति उपनिबद्ध हुई है।

'आत्मकथा' की संज्ञा से भी कई खण्डकथाएँ कथाकार ने प्रस्तुत की हैं। जैसे : 'अगडदत्तमुणिणो अप्पकहा' (पृ.३५); 'उप्पन्नोहिणाणिणो मुणिणो अप्पकहा' (पृ.१११); 'चारुदत्तस्स अप्पकहा' (पृ.१३३); 'मिहुणित्थियाऽऽवेइया पुव्वभवविया अत्तकहा' (पृ.१६६); 'ललियंगयदेवकहिया पुव्वभवविया अत्तकहा' (पृ.१६६); 'सिरिमइनिवेइया निण्णामियाभवसंबद्धा अत्तकहा' (पृ.१७१); 'चित्तवेगा अत्तकहा' (पृ.२१४); 'वेगवतीए अप्पकहा' (पृ.२२७) एवं 'विमलाभा-सुप्पभाणं अज्जाणं अत्तकहा' (पृ.२२३)। जैसा कि प्रत्येक कथा-शीर्षक से स्पष्ट है, इन कथाओं में यथोक्त पात्रों ने अपनी-अपनी आत्मकथा कही है, इसलिए कथाकार ने इन्हें 'आत्मकथा' की सटीक संज्ञा दी है।

कथा की इन संज्ञाओं के अतिरिक्त, कथाकार ने 'आहरण' और 'उदाहरण'-संज्ञक कथाओं की भी रचना की है। 'वसुदेवहिण्डी' में उपलब्ध 'आहरण' संज्ञक कुल आठ कथाएँ इस प्रकार हैं : 'सच्छंदयाए वसुदत्ता-आहरणं' (पृ.५९); 'महिसाहरणं' (पृ.८५); 'वायसाहरणं' (पृ.१६८);

‘जम्बुकाहरण’ (पृ.१६८); ‘सुमितरणो आहरण’ (पृ.२५८); ‘अदिण्णादाणदोसे मेरुस्स गुणे य जिणदासस्स आहरण’ (पृ.२९५); ‘मेहुणस्स दोसे पूसदेवस्स गुणे य जिणवालियस्स आहरण’ (पृ.२९६) और ‘परिग्गहगुण-दोसे चारुण्दि-फगुण्दि-आहरण’ (पृ.२९७)। इसी प्रकार, ‘उदाहरण’-संज्ञक कथाओं में यथानिर्दिष्ट तीन कथाएँ परिगणनीय हैं : ‘परदारदोसे वासवोदाहरण’ (पृ.२९२); ‘पाणाइवायदोसे मम्मण-जमपासोदाहरण’ (पृ.२९४) तथा ‘अलियवयणगुणदोसे धारणरेवइउयाहरण’ (पृ.२९५)।

कहना न होगा कि ‘आहरण’ और ‘उदाहरण’ संज्ञक कथाएँ प्रायः एक ही कोटि की हैं। क्योंकि, अन्तःसाक्ष्य से भी यह सिद्ध होता है कि कथाकार उक्त दोनों कथा-विधाओं को एक ही श्रेणी की मानते हैं। तभी तो उन्होंने अदिण्णादाण-विषयक मेरु की कथा को ‘आहरण’ की संज्ञा दी है। पुनः उसी क्रम में अदिण्णादाण-विषयक दूसरी जिनदास की कथा को ‘उदाहरण’ कहा है : ‘अहवा इमं अदिण्णादाणे पसत्थं बीयं उदाहरणं’ (२९५.२३)। ‘आहरण’ और ‘उदाहरण’-संज्ञक कथाएँ भी नीति-दृष्टान्त को दरसाने के लिए परिगुम्फित की गई हैं। प्रथम वसुदत्ता के ‘आहरण’ में, सास-ससुर का कहना न मानकर, स्वच्छन्दभाव से, अपने बच्चों के साथ उज्जयिनी के लिए प्रस्थित वसुदत्ता के जीवन के कदर्यित होने की कथा का लोमहर्षक वर्णन किया गया है।

द्वितीय महिष के आहरण में एक दुष्ट भैंसे की कथा कही गई है। एक जंगल में एक ही जलागार था। वहाँ विभिन्न प्यासे चौपाये जानवर आकर पानी पीते और अपनी प्यास बुझाते थे। लेकिन, दुष्ट भैंसा जब आता था, तब वह अपने सींगों द्वारा जलतल से कीचड़ निकालकर पानी को गँदला कर देता था। फलतः, जलाशय का पानी स्वयं उसके लिए और दूसरे के लिए भी पीने योग्य नहीं रह जाता था। यहाँ इस कथा को दृष्टान्त से जोड़ते हुए कथाकार ने प्रतीक-निरूपण किया है कि जंगल संसार का प्रतीक है और सरोवर का जल आचार्य का। प्यासे चौपाये जानवर धर्म सुनने के अभिलाषी प्राणी के प्रतीक हैं। और भैंसा धर्म में बाधा पहुँचानेवाले दुष्ट का प्रतीक है। इस प्रकार, यह कथा दृष्टान्त-कथा का भी प्रतिरूप है।

‘वायसाहरण’ तथा ‘जम्बुकाहरण’ नाम की तीसरी और चौथी ‘आहरण’-कथाएँ परलोकसिद्धि के प्रसंग में कही गई हैं। ‘वायसाहरण’ की कथावस्तु है कि एक बूढ़ा हाथी ग्रीष्मकाल में किसी पहाड़ी नदी में उतरते समय संकीर्ण और ऊबड़-खाबड़ तट में फँस गया। शरीर के भारीपन तथा दुर्बलता के कारण वह सँकरे तट से बाहर नहीं निकल सका और वहीं मर गया। भेड़िये और सियारों ने मृत हाथी को उसके गुदामार्ग की ओर से खाना शुरू किया। कौए भी उसी रास्ते से हाथी के पेट में चले गये और मांस तथा उसके रस का आहार करते हुए वहीं रह गये। गर्मी के कारण हाथी का शरीर सूख जाने से प्रवेश-मार्ग भी सूखकर सिकुड़ गया। कौए बड़े सन्तुष्ट हुए कि वहाँ वे अब निर्बाध रूप से रहेंगे। बरसा का समय आया! पहाड़ी नदी उपड़ चली। नदी के प्रवाह में हाथी का बहता हुआ शरीर महानदी की धारा के सहारे समुद्र में चला गया, जहाँ बड़ी-बड़ी मछलियों और मगरों ने उसे नोच डाला। फलतः, हाथी के कलेवर में पानी धुस गया और कौए उससे बाहर निकल पड़े, किन्तु कहीं किनारा न पाकर उड़ते-उड़ते वे वहीं मर गये। यदि वे वर्षा आने के पूर्व ही निकल गये होते, तो दीर्घकाल तक जीवित रहकर स्वच्छन्द घूमते और अनेक प्रकार के लहू-मांस का आहार करते।

इस कथा को आध्यात्मिक प्रतीक-दृष्टान्त का रूप देकर कथाकार ने कहा है : कौए संसारी जीव के प्रतीक हैं, तो हस्तिकलेवर में उनका प्रवेश मनुष्य-शरीर प्राप्त करने का। कलेवर

के भीतर का मांसरस विषय-प्राप्ति का प्रतीक है, तो मार्ग का अवरोध सांसारिक प्रतिबन्ध का। जल का प्रवाह मरणकाल का प्रतीक है, तो कौए का हाथी के कलेवर से निकलना परभव में संक्रान्त होने का।

‘जम्बुकाहरण’ की विषयवस्तु है कि कोई भील जंगल में घूमते समय बूढ़े हाथी को देखकर सँकरे स्थान में जा छिपा और वहीं से उसने हाथी को एक बाण मारा। हाथी को गिरा हुआ जानकर उसने डोरी को उतारे बिना धनुष को रख दिया और फरसा लेकर दन्तमुक्ता के निमित्त हाथी के मृत शरीर पर प्रहार करने लगा। हाथी के गिरने से उसके नीचे एक महाकाय सर्प दबा पड़ा था। उसने भील को काट खाया। भील वहीं गिरकर ढेर हो गया।

जंगल में घूमता हुआ एक सियार वहाँ आया। उसने एक साथ हाथी, मनुष्य, साँप और धनुष को गिरा हुआ देखा। भय से सियार पहले तो पीछे हट गया, बाद में मांसलोभ के कारण बार-बार आने लगा और उसे जब यह निश्चय हो गया कि ये सब निर्जीव हैं, तब सन्तुष्ट होकर देखने-सोचने लगा: हाथी तो जीवन भर के लिए मेरा भोजन बनेगा। मनुष्य और साँप कुछ दिनों के लिए आहार होंगे। आज (चर्मनिर्मित) धनुष की डोरी ही खाता हूँ।^१ ऐसा निश्चय करके उस मूर्ख सियार ने ज्यों ही डोरी को दाँत से काँटा, त्यों ही धनुष का अगला हिस्सा जोर से उछलकर उसके तालू में जा धँसा और वह मर गया। इस कथा का विवेचन करते हुए कथाकार ने कहा है कि यदि वह सियार तुच्छ डोरी छोड़कर हाथी, मनुष्य और साँप के शरीर को खाने की इच्छा करता, तो और जीवों के शरीर भी उसे चिरकाल तक खाने को मिलते। इसी प्रकार, जो मनुष्य तुच्छ सुख में बँधा रहकर परलोक की साधना से उदासीन हो जाता है, वह सियार की भाँति विनाश को प्राप्त करता है।

अवश्य ही, उक्त कौए और सियार की नीतिपरक कथाएँ ब्राह्मण-स्रोत के प्रसिद्ध प्राचीन कथाग्रन्थ ‘पंचतन्त्र’, ‘हितोपदेश’ आदि पर आधारित हैं, जिन्हें कथाकार संघदासगणी ने, जैन दृष्टि से पुनः संस्कार करके परलोकसिद्धि-विषयक अभिनव आयाम के साथ उपन्यस्त किया है।

शेष ‘आहरण’-संज्ञक कथाएँ भी सम्बद्ध पात्रों के गुण-दोष तथा लोक-परलोक के विवेचन के क्रम में ही सन्दर्भित हुई हैं। पाँचवें सुमित्र राजा के ‘आहरण’ में आत्मा का निरूपण तथा मांसभक्षण-विषयक शास्त्रार्थ का रुचिकर और शास्त्रीय उल्लेख हुआ है। छठे अदत्तादान-विषयक ‘आहरण’ में ग्रामस्वामी मेरु के दोष और जिनदास के गुण की चर्चा हुई है। सातवें मैथुन-विषयक ‘आहरण’ में पुण्यदेव की स्त्री-लोलुपता और जिनपालित सुवर्णकार की स्त्री-विरक्ति की कथा कही गई है। इसी प्रकार, आठवें गोमाण्डलिक चारुनन्दी और फल्गुनन्दी के ‘आहरण’ में परिग्रह के दोष और अपरिग्रह के गुणों का कथापरक वर्णन किया गया है। इस प्रकार, कथाकार द्वारा उपन्यस्त प्रायः सभी आहरणों में अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की कथा का विनियोग हुआ है।

पुनः वासव, मन्मथ, यमपाश, धारण तथा रेवती के कथा-माध्यम से अहिंसा और सत्य की श्रेयस्करता प्रतिपादित की गई है। वासव के ‘उदाहरण’ में ‘तो ब्राह्मण-परम्परा के अहल्याजार

१. ‘हितोपदेश’ में एतद्विषयक कथा का व्यास के चिन्तन से सम्बद्ध समानान्तर श्लोक इस प्रकार है :

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ भृगुशूकरौ।

अहिरं दिनं याति अश्व भक्ष्यो धनुर्गुणः॥ (मित्रलाभ : श्लो. १६७)

इन्द्र की कथा के ही जैनदृष्टि से पुनःसंस्कृत रूप का नव्योद्भावन हुआ है। इस प्रकार, 'आहरण' और 'उदाहरण'-संज्ञक कथाएँ प्रायः समानान्तर विषय-प्रवृत्ति का ही द्योतन करती हैं।

खण्डकथाओं के अन्तर्गत कथाकार ने अनेक पात्रों की उत्पत्ति, वर्तमान भव और पूर्वभव की मनोरंजक कथाएँ उपन्यस्त की हैं। 'उत्पत्ति' शीर्षक कथाएँ वसुदेवहिण्डी में इस प्रकार हैं : 'अणाद्वियदेवस्सुप्पत्ती' (पृ.२५); 'वसुदेवचरियउप्पत्ती' (पृ.२६); 'गणियाणं उप्पत्ती' (पृ.१०३); 'विण्हुगीइगाए उप्पत्ती', (पृ.१२८); 'पिप्पलायस्स अहव्वेयस्स य उप्पत्ती' (पृ.१५१); 'आरियवेय-उप्पत्ती' (पृ.१८३); 'सोयासपुरिसायस्स उप्पत्ती' (पृ.१९७); 'अणारियाणं वेदाणं उप्पत्तिकारणं' (पृ.१८५); 'धणुव्वेयस्स उप्पत्ती' (पृ.२०२); 'पुंढाए उप्पत्ती' (पृ.२१४); 'अट्ठावयतित्थ-उप्पत्ती' (पृ.३०१) और 'हरिवंसकुलस्स उप्पत्ती' (पृ.३५६)।

'पूर्वभव' और 'भव' शीर्षक कथाएँ इस प्रकार हैं : 'धम्मिल्लपुव्वजम्मकहाए सुनंदभवो' (पृ.७४); 'धम्मिल्लपुव्वजम्मकहाए सरहभवो' (पृ.७५); 'पज्जुण्ण-संबपुव्वभवकहाए अग्गिभूइ-वाउ-भूइभवो' (पृ.८५); 'पज्जुण्णसंबपुव्वभवकहाए पुण्णभद्द-माणिभद्दभवो', (पृ.८९); 'पज्जुण्ण-संब-पुव्वभवकहाए महु-केट्ठवभवो' (पृ.९०); 'वसुदेवपुव्वभवकहाए नंदिसेणभवो' (पृ.११४); 'रत्नवती-लसुणिकापुव्वभवो' (पृ.२१९); 'सोमसिरीपुव्वभवो' (पृ.२२२); 'अमियतेय-सिरिविजय-असणिधोस-सुताराणं पुव्वभवो' (पृ.३२०); 'मणिकुडली-इंदुसेण-बिंदुसेणाणं 'पुव्वभवो' (पृ.३२१); 'संतिजिणपुव्वभवकहाए अपराजियभवो' (पृ.३२४); 'कणयसिरीए पुव्वभवो' (पृ.३२६); 'संति-जिण-पुव्वभवकहाए वज्जाउहभवो' (पृ.३२९); 'संतिमतीए अजियसेणस्स य पुव्वभवो' (पृ.३३०); 'संतिजिणकहाए मेहरहभवो' (पृ.३३३); 'कुक्कुडजुयलपुव्वभवो' (पृ.३३३); 'चंदतिलयविदिय-तिलयविज्जाहरपुव्वभवो' (पृ.३३४); 'सीहरहविज्जाहरपुव्वभवो' (पृ.३३६); 'पारावय-भिडियाणं पुव्वभवो' (३३८); 'सुरूवजक्खसंबंधो तप्पुव्वभवो य' (पृ.३३८); 'ललियसिरीपुव्वभवो' (पृ.३६२) और 'कंसस्स पुव्वभवो' (पृ.३६८)। कहना न होगा कि 'भव' और 'पूर्वभव' तथा पूर्वोक्त 'सम्बन्ध'-संज्ञक कथाएँ ही 'वसुदेवहिण्डी' की मूलकथा की स्नायुभूत हैं, जिनके माध्यम से सम्पूर्ण मूलकथा में आवर्जक कथारस अबाध रूप से प्रवाहित हुआ है।

इस प्रकार, महान् कथाकोविद संघदासगणी द्वारा आकलित खण्डकथाओं के सूक्ष्मतम भेदोपभेदों के सम्यक् नियोजन से 'वसुदेवहिण्डी' जैसी विशाल कथाकृति की संरचना हुई है। अवश्य ही, कथा और विकथा के यथोपन्यस्त भेदोपभेद कथातत्त्व की सैद्धान्तिक विवेचना के क्षेत्र में सर्वथा नई दिशा को प्रशस्त करते हैं। इससे कथाकार की कल्पनाशक्ति की विचित्रता के साथ ही उसकी अतिशय संवेदनशील और व्यापक गम्भीर दृष्टि का परिचय प्राप्त होता है।

साहित्यिक सौन्दर्य के विभिन्न पक्ष :

'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं में समाहित कला-तत्त्व की वरेण्यता के कारण ही इनका साहित्यिक सौन्दर्य अपना विशिष्ट मूल्य रखता है। विकसित कला-चैतन्य से समन्वित 'वसुदेव-हिण्डी' की कथाएँ न केवल साहित्यशास्त्र, अपितु सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से भी प्रभूत सामग्री प्रस्तुत करती हैं। साहित्यिक सौन्दर्य के विधायक मूल तत्त्वों में पदशय्या की चारुता,

अभिव्यक्ति की वक्रता, वचोभंगी का चमत्कार, भावों की विच्छिन्ति, अलंकारों की शोभा, रस का परिपाक, रमणीय कल्पना, हृदयावर्जक बिम्ब, रम्य-रुचिर प्रतीक आदि प्रमुख हैं। कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' में इन समस्त तत्त्वों का यथायथ विनियोग हुआ है। संक्षेप में कहें तो, 'वसुदेवहिण्डी' रूप, शैली और अभिव्यक्ति—कला-चेतना की इन तीनों व्यावर्तक विशेषताओं से विभण्डित है। इसलिए, कलाशास्त्र की विस्तृत पटभूमि पर व्यापक तात्त्विक विवेचन के अनेक आयाम 'वसुदेवहिण्डी' में निहित हैं, जिनका अध्ययन एक स्वतन्त्र प्रबन्ध का विषय है। यहाँ तद्विषयक यत्किंचित् प्रकाश डालकर ही परितोष कर लेना अभीष्ट है।

'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं में पात्र-पात्रियों और उनके कार्यव्यापारों को चित्रात्मक रूप देने का श्लाघ्य प्रयत्न किया गया है। कलाचेता संघदासगणी ने लोक-मर्यादा, वेश-भूषा, आभूषण-परिच्छद, संगीत-वाद्य, अस्त्र-शस्त्र, खान-पान आदि कलात्मक एवं सांस्कृतिक उपकरणों एवं शब्दशक्ति, रस, रीति, गुण, अलंकार आदि साहित्यिक साधनों का अपने ग्रन्थ में यथास्थान बड़ी समीचीनता से विनिवेश किया है। कला के स्वरूप को सांगोपांग जानने के लिए संघदासगणी के प्राकृत-कथा-साहित्य से कलाभूषित भावों और शब्दों का दोहन हिन्दी-साहित्य के लिए अतिशय समृद्धिकारक है। कामदुषा कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' से कला का मार्मिक ज्ञान और साहित्यिक अध्ययन, दोनों की सारस्वत तृषा सहज ही भिटाई जा सकती है। क्योंकि, इस कथाग्रन्थ में साहित्य और कला, दोनों के योजक रसतत्त्व की समान भाव से उपलब्धि होती है। संघदासगणी ने लोकजीवन की उमंग से उद्भूत साहित्य और कला के सौन्दर्यमूलक तत्त्वों की एक साथ अवतारणा की है। इसलिए, साहित्य और कला के युगपत् अध्ययन से ही 'वसुदेवहिण्डी' का समग्र रूप से परिचय सम्भव है।

प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से साहित्य और कला का नेदिष्ट और तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध है। इसीलिए, संघदासगणी के कथा-साहित्य में कला-चेतना का अन्तर्भाव उपलब्ध होता है। तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध के कारण ही साहित्य और कला में पर्याप्त निकटता प्रतीत होती है। संघदासगणी की कथा में, साहित्य-चेतना के समान ही कला-चेतना की भी पर्याप्त मौलिकता है। यही कारण है कि उनके कथा-साहित्य में ललितकलाओं का सौन्दर्य-बोध छिपा हुआ है। साहित्यिक और कलात्मक सौन्दर्य-विवर्द्धन ही 'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं का मूल उद्देश्य है। वास्तविकता यह है कि संघदासगणी की कथाओं में एक कलामर्मज्ञ कथाकार की सृष्टि-चेतना का मुग्ध संवेग एवं समग्र मानव-चेतना तक आशु संक्रमणकारी अशेष सामर्थ्य परिलक्षित होता है और यही कारण है कि उस कथाकार की अनुभूतियों में सुरक्षित अमूर्त कला कथा के माध्यम से अनुपम भव्यता के साथ मूर्त हो उठी है।

सौन्दर्य :

अभिनवगुप्त ने सौन्दर्यानुभूति को 'वीतविघ्ना प्रतीतिः' कहा है, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अन्तस्सत्ता की तदाकार-परिणति ('इमैथी') के रूप में स्वीकार किया है। संघदासगणी की कथा में भी यही विशेषता है, अर्थात् उनकी कथा में सौन्दर्य की निर्विघ्न प्रतीति होती है, इसीलिए कथाओं को पढ़ते समय उनके पात्र-पात्रियों के साथ पाठकों की अन्तःसत्ता की तदाकार-परिणति हो जाती है। सामान्यतः 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा-शैली इतनी प्राञ्जल है कि अर्थ

या भाव समझ पाने में प्रवाहावरोध की स्थिति नहीं आती। पढ़नेवाले पाठक 'वसुदेवहिण्डी' के कथातत्त्व में इस प्रकार रम जाते हैं कि उनकी देश-काल की आत्मगत और वस्तुगत सीमाएँ मिट जाती हैं। उनके अपने सुख-दुःख के भावों का कथापात्रों के सुख-दुःख के भावों के साथ साधारणीकरण हो जाता है। साथ ही, उन्हें अपनी उपचित अनुभूति को उदग्र करने का आवश्यक उदीपन भी प्राप्त होता है।

कालिदास की भाँति संध्यासगणी की सौन्दर्यमूलक मान्यता पाश्चात्य वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य-शास्त्रियों के मत से साम्य रखती है। वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यवादी पाश्चात्य मनीषियों का कथन है कि सौन्दर्य वस्तु में होता है, द्रष्टा के मन में नहीं। अतः, जो वस्तु सुन्दर है, वह सर्वदा और सर्वत्र सुन्दर है। कालिदास ने भी शकुन्तला के सन्दर्भ में इस मत को स्वीकार किया है। आश्रमवासिनी शकुन्तला के सम्बन्ध में कालिदास ने कहा है कि जिस प्रकार सेवार से लिपटे रहने पर भी कमल रमणीय प्रतीत होता है, चन्द्रमा का मलिन कलंक भी उसकी शोभा को बढ़ाता है, उसी प्रकार यह तन्वी (कृशगात्री) शकुन्तला वल्कल पहने हुई रहने पर भी अधिक मनोज्ञ लगती है, इसलिए कि मधुर आकृतिवालों के लिए अलंकरण की आवश्यकता ही क्या है? ^१

संध्यासगणी ने भी विद्याधरनगर अशोकपुर के विद्याधरराज की पुत्री मेघमाला को, जो केवल एक रक्तांशुक-वस्त्र तथा कमकीमती गहना पहने हुई थी एवं जिसका शरीर अशोकमंजरियों से सज्जित था, 'अच्छेरयपेच्छणिज्जल्लवा' कहा है। क्योंकि, उसकी मधुर आकृति के लिए विशेष अलंकरण की आवश्यकता ही क्या थी। उस विद्याधरी की आकृति नैसर्गिक रूप से सुन्दर थी वह नवयुवती थी, स्तनभार से उसकी गात्रयष्टि लची हुई थी, अपने पुष्ट जघनभार को वह सायास ढोती-सी लगती थी, इसलिए वह अपने पैरों को बहुत धीरे-धीरे उठा पाती थी। उसके होंठ अत्यन्त लाल थे और उसकी स्वच्छ दन्तपंक्ति बड़ी मनोहर थी। इस प्रकार, उस प्रसन्नदर्शना के प्रेक्षणीय रूप को देखने की इच्छा बार-बार होती थी, उसे देखकर 'दर्शकों' की रूपतृषा मिटती नहीं थी (धम्मिल्लचरिय : पृ.७३)।

सौन्दर्य-विवेचन में, विशेषकर नख-शिख के सौन्दर्योद्भावन में कथाकार ने उदात्तता (सब्लाइमेशन) की भरपूर विनियुक्ति की है। उक्त विद्याधरी के सौन्दर्यांकन में भी उदात्तता से काम लिया गया है। प्रसिद्ध सौन्दर्यशास्त्री डॉ. कुमार विमल के शब्दों में उदात्त वह सौन्दर्य है, जो आश्रय या द्रष्टा को पहले पराभूत, बाद में आकृष्ट करता है। ^२ संध्यासगणी ने 'अच्छेरयपेच्छणिज्जल्लवा' विशेषण के प्रयोग द्वारा इसी उदात्त सौन्दर्य का निरूपण किया है। यहाँ कथाकार द्वारा अंकित कतिपय उदात्त सौन्दर्य के चित्र उद्धृत किये जा रहे हैं, जो स्थालीपुलकन्याय से आस्वाद्य हैं।

प्रणय के सन्धि-विग्रह के क्रम में क्रुद्ध रति-रसायनकल्प विमलसेना का मनुहार करते हुए धम्मिल्ल ने भ्रमवश अपनी पूर्व प्रेयसी व्रंसन्ततिलका का नाम ले लिया, फलतः विमलसेना ने

१. सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं

मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी

किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥—अभिज्ञानशाकुन्तल : १.१९.

२. 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' (बही), प्र. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली : पृ. ९८

उसपर चरण से प्रहार किया। यहाँ विमलसेना और उसके चरण का कलात्मक सौन्दर्य सरस साहित्यिक भाषा और समासबहुला गौडी शैली में द्रष्टव्य है :

“बाहागयलोयणाए य पुत्रसगगरहिययाए, ईसिंदंतगदुडहराए, तिवलितरंगभंगुरं निडाले भिउडि रएऊण अव्यक्तवखरं भणंतीए, आकंपिउतमंगाए, वियण्णकेसहत्थाए, पडंतउक्कायंत-कुसुमाए, समोसरंतरंतसुयविलगंतमेहलादामकलावाए, विविहमणिविचित्तमुत्तिथाउत्तजालोव-सोहिण्णं, ससहस्रंदंतनेउररवेणं, अणुपुक्खसुजायअंगुलीदलेणं, कमलदलकोमलेणं, रत्तासोय-अवयसन्निभेणं, चंगालत्तयरसोस्लकोववससंजायसेणं चलणेणं आहओ।” (धम्मिल्लचरिय : पृ. ६५)

अर्थात्, क्रुद्ध विमलसेना की आँखों में आँसू आ गये थे, उसका हृदय (कण्ठ) पूरी तरह भर आया था, वह दन्ताग्र से अपने अधर को हल्के-हल्के काट रही थी, उसके ललाट पर त्रिवली के तरंग से भंगुर भृकुटि तनी हुई थी और अव्यक्त शब्दों में वह कुछ भुनभुना रही थी, उसका शिर काँप रहा था और केशपाश (जूड़ा) बिखर गया था, जिससे गुँथे हुए फूल झड़कर नीचे गिर रहे थे और खिसकता हुआ रक्तांशुक करधनी की डोरी से आ लगा था। इस प्रकार के रौद्रशृंगार की मुद्रा में उस विमलसेना ने अपने जिस चरण से धम्मिल्ल पर प्रहार किया, उसमें विविध मणिजटित और मुक्ताजाल से शोभित नूपुर बँधा हुआ था, जो रुनझुन-रुनझुन बज रहा था। उस पैर की अंगुलियों के दल सुन्दर जाति के थे और उनकी संरचना आनुक्रमिक थी, वह पैर कमल-दल के समान कोमल था और रक्ताशोक के पुष्पगुच्छ की तरह प्रतीत होता था, वह चरण सुन्दर अलक्तक रस से स्वतः आर्द्र था, फिर भी क्रोधवश स्वेदाक्त हो उठा था।

धम्मिल्ल विमलसेना का चरण-प्रहार पाकर सन्तोष के साथ मन-ही-मन हैसता हुआ घर से बाहर निकल गया और नागघर में चला गया। वहाँ उसे एक तरुण बालिका दिखाई पड़ी, जिसका सरस नवयौवन अभी फूट ही रहा था। उस तरुणी का सौन्दर्योद्भावन मोहक चित्र भी दर्शनीय है :

“नवजोवणसालिणी, समुब्भिज्जंतरोमराई, आपूरंतपरिवडुमाणपओधरा, तुंगायेतेणं नासा-वंसएणं, अभिनवनीलुप्पलपत्तसच्छहेहि नयणेहि, बिबफलसुजायरत्ताधरेणं, सुद्धदंतपंतिएणं, समत्तपुत्तिमायंदसरिसेणं वयणेणं।” (धम्मिल्लचरिय : पृ. ६५)

अर्थात्, वह तरुणी नवयौवनशालिनी थी, उसकी रोमराजि अभी उग ही रही थी, उसका भरा-भरा-सा पयोधर अभी बढ़ ही रहा था, उसकी नाक (नासिका-वंश) ऊँची और लम्बी (सुतवाँ) थी, नव प्रस्फुटित नीलकमल के दल की भाँति उसकी कजरी आँखें थीं, सुन्दर जाति के बिम्बफल के समान उसके लाल होंठ थे, उसकी दन्तपंक्ति बड़ी स्वच्छ थी और उसका मुँह पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह सुन्दर था।

कथाकार द्वारा वर्णित रुक्मिणी के नखशिख का सौन्दर्य भी बड़ा उदात्त है। रुक्मिणी के सम्बन्ध में नारद ने कृष्ण से कहा था कि उनके विचार में कुण्डिनपुर की रुक्मिणी के सौन्दर्य की द्वितीयता नहीं है। नारद के मुख से कथाकार के शब्दों में :

“सा सहस्रसरस्सिरंजियसयवतकंतवयणा, वयणकमलनालभूयचउरंगुलप्यमाणकंधरा, मउय-सुवट्टित-सिलिट्ट-संठिय-तणुय-सुकुमल-सुभलवखणसणाह-किसलपुज्जल-बाहलतिका,

करपरिमिय-वट्टहारपहसियपीणथणजुयल-भारसीदभाणवलिभंगवलियमज्झा, ईसिमउलायमाण-वरकमलवियडणाभी, कण्णालक्खणवियक्खणपसंसियमदणसरनिवारणमणुज्जसोणिफलका, खंभणिभ-परमसुकुमाल-धिर-वरोरु, सुलीणजाणुप्पएसा, गूढसिर-रोम-गोपुच्छसरिसजंघा, नवनलिणिकोमलतल-कमलरागसय्यभनहमणिभासियपसत्थचलणा, सवण-मणगाहिरिभित्त-वयण-वियक्खणा, आलओ गुणाणं ।" (पीठिका : पृ. ८०)

अर्थात् उस रुक्मिणी का मुख सूर्य-किरणों से रंजित कमल की तरह कान्त था, उसकी गरदन की लम्बाई चार अंगुल थी, जो मुख-कमल के नाल की भाँति लगती थी, उसकी बाहुलता कोमल, सुगोल, सुसंयुक्त, सुसंहत, सुकुमार, शुभलक्षणों से पूर्ण और किसलय की तरह उज्ज्वल थी, हाथ में अँटने लायक तथा गोलहार से सुशोभित दोनों स्तन पीन थे, जिनके भार से उसे (चलने में) कष्ट होता था, जिसका संकेत मध्यभाग में त्रिवली कि सिकुड़न से मिलता था, श्रेष्ठ कमल की थोड़ी खिली कली की भाँति उसकी नाभि खुली हुई थी, उसके श्रोणिफलक (नितम्बभूमि) कन्यालक्षण-विचक्षणों द्वारा प्रशंसित थे और कामबाण के निवारण के निमित्त मनोज्ञ साधन-स्वरूप थे, उसकी जाँघें परम सुकुमार, खम्भे के समान स्थिर और उत्तम थीं, उसके घुटने का भाग मांसलता में पूरी तरह डूबा हुआ था, उसकी जंघा (घुटने से पिंडुली तक का भाग) की सिराएँ न तो उभरी हुई थीं, न ही उसमें रोएँ थे और उसकी आकृति गावदुमा थी, उसके पैर नवविकसित कमलिनी के समान थे, तलवे कोमल थे और कमल की तरह लाल नखमणि से प्रभासित और प्रशस्त थे, वह ऐसी वाणी बोलने में विचक्षण थी, जिसके स्वर की गूँज श्रवण और मन को खींच लेती थी । इस प्रकार, वह गुणों का आलय थी ।

लग्नमण्डप में उपस्थित होने के लिए उज्ज्वल नेपथ्य (वेश) में कामदेव सेठ की पुत्री बन्धुमती जब बाहर निकली थी, तब उसका जो रूप-सौन्दर्य उद्भासित हुआ था, उसका रमणीय उदात्त चित्र द्रष्टव्य है :

"सह परिणोण य उज्जलनेवत्थेण निगगया बंधुमती दुव्वंकुरमीसमाला, वरकुसुमकथ-कुंडला, चूडामणिमउहरंजियपसत्थकेसहत्था, कलहोयकणयकुंडलपहाणुलित्तनयणभासुरंजिय-मुहारविंदा, मणहरकेयूरकणयमंडियसरत्तपाणितलबाहुलतिका, सतरलहारपरिणद्धपीवरथणहर-किलम्भमाणमज्झा, रसणावल्लिबद्धजहणमंडलगुरुयत्तणसीयमाणचलणकमला, कमलरहियसिरि-सोहमुव्वंहंती, ण्हाण-पसाहणकविहिव्हावणवावड्चेडोज्जणकथपरिवारा, कासिकसियखोमपरि-हणुत्तरीया ।" (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २८०)

अर्थात् उज्ज्वल वेश में परिजनों के साथ बन्धुमती बाहर आई । उस समय वह दूर्वाकुर-मिश्रित फूल की माला पहने हुई थी, कानों में उत्तम फूलों के कुण्डल झूल रहे थे, उसका केशपाश चूडामणि की किरणों से अनुरंजित था, उज्ज्वल कनककुण्डल की प्रभा से लिप्त आँखों से उसका मुखकमल जगमगा रहा था, लाल-लाल हथेलियोंवाली उसकी लता जैसी लचीली भुजाएँ मनोहर स्वर्ण-केयूर से अलंकृत थीं, तरलहार^१ से अलंकृत पुष्ट स्तनों के भार से उसकी देह का मध्यभाग मानों कष्ट पा रहा था और करधनी से बँधे जघनमण्डल की गुरुता से उसके कमल जैसे पैर

१. मूल प्राकृत पाठ 'सतरल-हार' है । यदि इसका अर्थ सात लड़ियोंवाला हार किया जाय, तो इससे यह स्पष्ट होता है कि उस युग में पीन स्तनों को सात लड़ियोंवाले हार से अलंकृत करने की प्रथा थी और बन्धुमती के भी स्तनों को सात लड़ियोंवाले हार से ही सजाया गया था ।—ले.

परिश्रान्त-से प्रतीत होते थे, कमल के बिना भी वह लक्ष्मी की तरह शोभा बिखेर रही थी, स्नान और प्रसाधन के विविध पात्र लिये दासियों से वह घिरी हुई थी और सफेद बारीक रेशमी चादर ओढ़े हुई थी।

इसी क्रम में वसुदेव की दो भुग्धा पत्नियों—संगीतकुशला भद्रमित्रा और नृत्यनिपुणा सत्यरक्षिता के उदात्त सौन्दर्य का चित्र द्रष्टव्य है :

“जा णवुगयपियंगुपसूयसामा, उवचिथ-सुकुमार-पसत्तचरणा, समाहिय-पसत्त-निगूढ-सिर-जाणु-जंघा, निरंतरसंहिओरु, विच्छिन्नकडिक्ता, गंभीरनाहिकोसा, वस्सवविहत्तकंतमञ्जा, तणुय-मउयबाहुलइया, पसण्णमुही, बिंबोट्टी, सिणिद्ध-सियदंती, विसालघवलच्छी, संगयसवणा, सुहुम-कसणसिरया, सहावमहुराडणी, गंधल्ले कयपरिस्समा सां अम्हं सामिणो भद्राए देवीए दुहिया भद्रमिता नाम । जा उण कणियारकेसरपिंजरच्छवी, कणयकुंडलकोडीपरिघट्टियकवोल-देसा, विकोसकमलकोमलमुही, कुवलनयनया, कोकणयतंबाहारा, कुमुदमउलदसणा, कुसुम-दामसणिह्वाहुजुयला, कमलमउलोपमाणपयोहरा, किसेयरी, कंचणकंचिदामपडि-बद्धविपुलसोणी, कयलीखंभसरिसऊरुजुयला, कुरुविदवत्तोवमाणजंघा, कणयकुम्पोवमाण-चलणा, नट्टे परिनिट्टिया एसा सोमस्स पुरोहियस्स कुंदलयाए खत्तियाणीए पसूया सच्चरविज्जया नाम ।” (भद्रमित्रा-सत्यरक्षितालम्भ : पृ. ३५५)

अर्थात्, जो नई खिली प्रियंगु की मंजरी जैसी श्याम वर्ण की है, जिसके पैर पुष्ट, सुकुमार और प्रशस्त हैं, जिसके घुटनों और उनके नीचे के भाग—जंघाओं की संरचना प्रशस्त और निगूढ शिराओंवाली है, जिसकी दोनों जाँघें अन्तर-रहित, एक-दूसरे से सटी हुई हैं, जिसकी कमर का घेरा पतला है, नाभिकोष गहरा है, मध्यभाग त्रिवली से विभक्त और मनोरम है, बहुलताएँ लचीली और कोमल हैं, जो प्रसन्नमुखी, बिम्बोच्छी तथा सफेद चिकने दाँतोंवाली है, जिसकी आँखें उज्ज्वल और बड़ी-बड़ी हैं, कान सलीकेदार हैं, केश पतले, मुलायम और काले हैं, स्वभाव से ही जो मधुर बोलती है और जिसने संगीत का अभ्यास किया है, वह हमारी स्वामिनी रानी भद्रा की पुत्री भद्रमित्रा है। और फिर, जो कनेर के केसर की भाँति सुनहले रंग की है, जिसके गालों पर स्वर्णकुण्डल की नौक से घर्षण हो रहा है, जिसका मुख खिले हुए कमल की भाँति कोमल है, आँखें नीलकमल जैसी हैं, रक्तकमल के समान जिसके लाल होंठ हैं, कुमुद-कली के समान दाँत हैं, फूल की माला जैसी दोनों भुजाएँ हैं, कमल की कली के समान पयोधर हैं, जो कृशोदरी है, सोने की कटिमेखला से बँधे जिसके विशाल नितम्ब हैं, जिसके ऊरुयुगल कदली के स्तम्भ के समान हैं, घुटने के नीचे का भाग कुरुविन्दावर्त की भाँति गोल है, सोने के कल्लुए के समान जिसके पैर हैं और जो नृत्य में निपुण है, वह सोम नामक पुरोहित की कुन्दलता नाम की क्षत्रियाणी पत्नी से उत्पन्न पुत्री सत्यरक्षिता है।

कथाकार नारी-सौन्दर्य के समानान्तर पुरुष-सौन्दर्य का भी उदात्त चित्र आँकने में कुशल है। पुरुष-सौन्दर्य का एक चित्र दर्शनीय है, जो ऋषभस्वामी की शारीरिक संरचना के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

“उसभसामी पत्तजोव्वणो य छत्तसरिससिरो, पयाहिणावत्तकसिणसिरोजो, सकलमहणा-यगमणोहरवयणो, आत्तभुमयाजुयलो, पुंडरियवियंसियनयणो, उज्जुयवयणमंडणणासावंसो, सितप्पवालकोमलाऽऽहरो, घवलविपलदसणपंती, चउरंगुलप्पमाणकंबुगीवो, पुरफलिह्दीह्वाहु,

लवणखण्डालकियपाणी, सिरिवच्छकियविसालवच्छो, गयकज्जमज्जो, अकोसपउमनाभी, सुबद्ध-
वट्टियकडिप्पणो, तुरगगुज्जदेसो, करिकराकारोरुज्जुयलो, निगूळजाणुमंडलो, कुरुविदा-
वत्तसंठियपसत्थज्जो, कणयकुम्भसरिसपादज्जुयलो, मधुरगंभीरमणहरगिरो, वसभललिधगमनो,
पभापरिबिन्धत्तकंठरूयो ।" (नीलयशालम्भ : पृ. १६२)

अर्थात् युवावस्था को प्राप्त ऋषभस्वामी का सिर छत्र के समान था, उनके केश दक्षिणावर्त, यानी दाई ओर से घुंघराले और काले थे, उनका मुख पूर्णचन्द्र के समान मनोहर था, उनकी दोनों भौंहें लम्बी थीं, खिले कमल की भाँति उनके नेत्र थे, सीधी लम्बी नाक उनके मुख की शोभा बढ़ाती थी, उनके होंठ कोमल प्रवाल की भाँति लाल थे, दन्तपंक्ति उज्ज्वल और निर्मल थी, शंख की आकृति जैसी उनकी ग्रीवा चार अंगुल लम्बी थी, नगरद्वार की अर्गला जैसी लम्बी उनकी भुजाएँ थीं, उनकी हथेली शुभलक्षणों से अंकित थी, विशाल वक्षःस्थल श्रीवत्स से अंकित था, त्रैवेयक मणि की भाँति उनके शरीर का मध्यभाग था, कोषहीन, अर्थात् अर्द्धप्रस्फुटित कमल की भाँति उनकी नाभि थी, उनका कटिप्रदेश सुबद्ध और गोल था, उनका गुह्यप्रदेश घोड़े के समान था, उनकी जाँघें हाथी की सूँड़ जैसी थीं, जानुमण्डल पुष्ट और मांसल था, जंघा अतिशय प्रशस्त और कुरुविन्द मणि के समान गोल थी, स्वर्णकच्छप की भाँति उनके दोनों पैर थे, स्वर मधुर, गम्भीर और मनोहर था, वह वृषभ की भाँति ललितगति से चलते थे और इस प्रकार उनका कान्तरूप प्रभा से समुद्भासित था ।

इसी क्रम में एक शय्या (पलंग) का उदात्त सौन्दर्य भी दर्शनीय है :

"सुरपतिनीलमणिसुकयच्चक्रवालयं, नवकणयचियसुकयफुल्लविरत्तगंधं, नाणारागभक्ति-
रइयं, रयणचित्तं, चित्तकम्पबिम्बोयणं, विपुलतूलीययवेणसमुच्चरणं, अच्युयं, भागीरहिरम्भ-
पुलिणोवमं, पीडियापरंपरागयं, अभिरोहिणीयं, सुकयउत्तलयं, आविद्धमत्तल्लदामकलायं, महसुहं
सयणीयमभिरूढो मि ।" (नीलयशालम्भ : पृ. १८०)

अर्थात्, वसुदेव जिस पलंग पर चढ़े, वह इन्द्रनीलमणि से सुनिर्मित चक्रवालों (मण्डलों) से सुशोभित था; नवीन सुवर्ण से बने, अतएव गन्धहीन फूल उसमें जड़े थे; वह अनेक रंगों की रचनाओं से भूषित था, वह रत्नजटित था, चित्रकर्म द्वारा उसमें स्त्री की अनेक शृंगार-चेष्टाएँ (बिम्बोक) अंकित थीं या अनेक प्रकार की चित्रकारियों से सज्जित तकिये (तकियावाची बिम्बोयण : देशी शब्द) विपुल रुई से बने विविध बिछावन उसपर बिछे थे, उपयोग के निमित्त किसी ने उसका स्पर्श भी नहीं किया था, वह गंगा के रमणीय पुलिन के समान प्रतीत होता था, उसमें पीढ़ियों की सीढ़ियाँ लगी थीं, आसानी से उसपर चढ़ा जा सकता था, उसमें सुन्दर ढंग से अगासी (छत) का निर्माण किया गया था, उसमें विभिन्न मालाएँ झूल रही थीं । इस प्रकार, वह पलंग महान् सुख देनेवाला था ।

पूरी 'वसुदेवहिण्डी' में इस प्रकार के अनेक उदात्त सौन्दर्य के चित्र अंकित हैं । इसमें विवाह-मण्डप, पालकी, तीर्थंकर का समयसरण, दुकान, बाजार, मन्दिर, आश्रम, नगर, गोशाला, सरोवर, वेश्यागृह आदि के एक-से-एक चित्र उदात्त सौन्दर्य के सन्दर्भ में अवलोकनीय हैं ।

निष्कर्ष :

यहाँ कथाकार संघदासगणी द्वारा निरूपित उदात्त सौन्दर्य के कतिपय प्रतिनिधि चित्र निदर्शन-स्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं। कथाकार की उपर्युक्त रूपवर्णन-शैली में उदात्त की विद्यमानता सहज ही स्वीकार की जा सकती है। अर्थात्, कथाकार के रूप-वर्णन में असामान्य अभिव्यक्ति का चमत्कार उदात्त की सृष्टि करता है। पाश्चात्य और पौरस्त्य सौन्दर्यशास्त्रियों द्वारा विच्छिन्तिपूर्ण वचोभंगी में ही उदात्त की सम्भावना मानी गई है। इस दृष्टि से वचोभंगी या वाग्मिताकुशल कथाकार के उक्त सौन्दर्य-वर्णन में आत्मोन्नयनकारी उदात्त शैली का साक्षात्कार होता है। कहना होगा कि कथाकार द्वारा उपन्यस्त सौन्दर्यमूलक चित्रों में चिन्तन की गरिमा, भव्य आवेगों और संवेगों का स्फूर्त-उत्तेजित निर्वाह, वाक्यालंकारों का सम्यक् सुष्ठु प्रयोग, शब्द-चयन, सादृश्य-विधान एवं अलंकार-योजना तथा स्थापत्य-कौशल का महिमामण्डित प्रयोग आदि उदात्त के नियामक अन्तरंग और बहिरंग तत्वों का सन्निवेश बड़ी ही समीचीनता से हुआ है।

उदात्त में भव्य आवेगों की महत्ता को स्वीकारते हुए डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है कि भव्य आवेग से हमारी आत्मा जैसे अपने-आप ही उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है। इसी प्रकार का आवेग उदात्त की सृष्टि करता है।^१ कहना न होगा कि उदात्त की भूमिकाएँ बहुकोणीय हैं। इसीलिए, प्रो. जगदीश पाण्डेय^२ ने उदात्त की चर्चा के क्रम में सूक्ष्मोदात्त, श्रेयोदात्त, परोदात्त, विस्तारोदात्त आदि उदात्त के अनेक भेदों की परिकल्पना की है। अभिनवगुप्त की दृष्टि से कथाकार संघदासगणी की सौन्दर्यानुभूति सार्वभौम है और यही सौन्दर्यानुभूति कथाकार की कलानुभूति का पर्याय है, जिसमें यथार्थ के साथ आदर्श का भी अल्पाधिक समावेश दृष्टिगत होता है। कथाकार का सौन्दर्यबोध यदि ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से सम्बद्ध है, तो सौन्दर्य के ग्रहण में उसके अन्तःकरण का योग भी आपेक्षिक महत्त्व रखता है। अवश्य ही, कथाकार संघदासगणी ने अपने सौन्दर्य-चित्रण में आध्यात्मिक वृत्ति, गहन आन्तरिकता और विभिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य प्रकृति के प्रेम को प्रचुर मूल्य प्रदान किया है। इसीलिए, सर्जना की ओर उन्मुख उनकी सौन्दर्यानुभूति सहज ही कलानुभूति में परिणत हो गई है।

कल्पना :

संघदासगणी की साहित्यिक कला-चेतना में कल्पना का सर्वोपरि स्थान है। कल्पनाशक्ति के माध्यम से ही कथाकार ने नूतन सृष्टि और अभिनव रूप-विधान का सामर्थ्य प्राप्त किया है। कल्पना ही उनकी सर्जनाशक्ति का आधार है। कथाकार ने कल्पना द्वारा एक ओर जहाँ वस्तु-सन्निकर्ष के सामान्य प्रभावों को सुरक्षित रखा है, वहीं दूसरी ओर वस्तु-सन्निकर्ष के मानसिक प्रभावों से निर्मित बिम्बों को भी आकलित करने में सफलता आयत की है। चित्र या बिम्बविधायिनी शक्ति ही कल्पना का पर्याय है। पाश्चात्य कलाशास्त्री वेबस्टर के मत का अनुसरण करते हुए डॉ. कुमार विमल^३ ने कहा है कि कल्पना का अर्थ यह है कि वह एक चित्रविधायिनी

१. 'काव्य में उदात्त-तत्त्व' : भूमिका : पृ. १०

२. 'उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन' : प्र. मातृ प्रकाशन, पटना, सासाराम (बिहार) : पृ. १३

३. 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' (वही) : पृ. ११०

शक्ति है। इस कल्पनाशक्ति द्वारा कलाकार पूर्वप्रत्यक्षित वस्तुओं अथवा पूर्वानुभूत प्रत्ययों या भावस्थितियों का पुनर्भावन करता है। दूसरे अर्थ में कल्पना एक पुनरुत्पादक या पुनः प्रत्यक्षाधायक शक्ति है, जिसके द्वारा कलाकार अपने अनुभव या अनुमान से प्राप्त सामग्री का नवीन संयोजन, क्रम या रूप-विधान प्रस्तुत करता है। इसी संकुल कल्पना को, सामान्यतः कला-आलोचना में मूर्तिविधायिनी या सर्जनात्मक शक्ति ('प्लास्टिक ऑव क्रियेटिव पावर') कहते हैं।

कलाचेता कथाकार संघदासगणी ने अपनी कथा-रचना में अपने परम्परागत अनुभव और तदाधृत अनुमान के आधार पर प्राप्त कथा-सामग्री का नवीन संयोजन और रूपविधान प्रस्तुत किया है और इस क्रम में उन्होंने अपनी उदात्त कल्पनाशक्ति या बिम्बविधायिनी शक्ति का भूरिशः उपयोग किया है। कुल मिलाकर, कथाकार की कल्पना और चैतन्य के मिश्रण से प्रसूत कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' दृष्टि, ध्वनि, स्पर्श, घ्राण, क्रिया और रस की मनोविज्ञान-सम्मत कल्पना का अद्भुत समाहार के रूप में उपन्यस्त हुआ है। पूर्वभावों से सम्बद्ध स्मृति-कथाएँ कथाकार की दृष्टि-कल्पना को संकेतित करती हैं। इन कथाओं में कलात्मक प्रत्यभिज्ञान की प्रचुर क्षमता है। 'वसुदेवहिण्डी' के कतिपय काल्पनिक प्रसंगों में ध्वनि-कल्पना के भी भव्य आसंग मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप, गन्धर्वदत्तालम्ब में संगीत की और विष्णुकुमारचरित में विष्णुगीत द्वारा स्तुति की, इसी प्रकार वेदश्यामपुर में वेदध्वनि की तथा प्रियंगुसुन्दरीलम्ब में नाट्यसंगीत की स्वरलहरी की कल्पना की पुष्कल सहायता कथाकार ने ली है। इस प्रकार की ध्वनि-कल्पना, श्रुत स्वर-लहरी को आनुपूर्वी रूप में आवृत करने की क्षमता से सम्पन्न होती है। यह भी विदित है कि काव्यकला के ध्वनि-प्रतीक भी इसी ध्वनि-कल्पना के उपजीवी होते हैं।

स्पर्श-कल्पना के सहारे स्पर्श-विषयक बिम्बों का विधान सहज हो जाता है। यों तो, 'वसुदेवहिण्डी' में स्पर्श-कल्पना के अनेक आयाम उद्भावित हुए हैं, किन्तु दो-तीन प्रतिनिधि स्पर्श-कल्पनाएँ तो पार्यन्तिक महत्त्व रखती हैं। प्रथम, मधु और चन्द्राभा की कथा की स्पर्श-कल्पना को लें। कथा है कि आमलकल्या नगरी का राजा भीम गजपुर के राजा मधु की आज्ञा का पालन नहीं करता था। एक दिन मधु ने भीम को अधीनस्थ करने के लिए यात्रा की। इसी क्रम में वह वटपुर पहुँचा। वहाँ राजा कनकरथ ने उसका बड़ा सम्मान किया और उसे अपने घर ले आया। स्वयं रानी चन्द्राभा ने सोने की झारी से जल उड़ेलकर मधु के पैर धोये। राजा मधु रानी चन्द्राभा के रूप पर रीझ गया और उसके मृदुल करों के स्पर्श से कामाभिभूत हो उठा। ('ततो मधु तीसे रूढे पाणिपल्लवफासे य रज्जमाणो वम्भहवत्तव्ययमुपगतो'; पीठिका : पृ. ९०)।

द्वितीय, चारुदत्त और वसन्ततिलका के स्पर्श की कल्पना को लें। मधु (मद्य) के प्रभाव से भ्रान्तदृष्टि चारुदत्त को वसन्ततिलका गणिका इन्द्र की अप्सरा के समान प्रतीत होती थी। चारुदत्त जब चलने लगा, तब मधु के प्रभाव से उसके पैर लड़खड़ाते लगे। गणिका ने अपने दायें हाथ से चारुदत्त की भुजाओं और माथे को सहारा दिया। लड़खड़ाता हुआ चारुदत्त गणिका के गले से लग गया। शरीर के स्पर्श से ही चारुदत्त को अनुभव हुआ कि सहारा देनेवाली स्त्री निश्चय ही इन्द्र की अप्सरा है। फलतः चारुदत्त में कामभाव जागरित हो आया और उसका सारा शरीर रोमांचित हो उठा। ('मया वि य खलंतगतिणा कंठे अवलंबिया, गतफरिसेण य वासवअच्छरा एसा धुव' ति संजायमयणो कंठयियसव्वंगो'; गन्धर्वदत्तालम्ब : पृ. १४३)।

तृतीय, अद्भुत वात्सल्यसूचक स्पर्श-कल्पना देखें। चिरकाल से बिछुड़े अपने शिशु पुत्र को युवा प्रद्युम्न के रूप में पाकर रुक्मिणी के बहुत दिनों से रुके आँसू बह चले और उसने अपने युवा पुत्र को आलिंगन में ले लिया और फिर गोद में बैठकर अपने झरते स्तन को उसके मुँह में डाल दिया। ('भाऊए चिरकालरुद्धं च बाहं मुयंतीए अवतासिउ, ... अभिणंदिउ, उच्छंगे निवेसाविउण दिण्णो मुहे धणो', पीठिका : पृ. ९६)।

निश्चय ही, इस प्रकार की स्पर्श-कल्पनाओं द्वारा कथाकार संघदासगणी ने स्पर्शपरक बिम्बों का मनोहारी अंकन किया है। इसी प्रकार, कथाकार की घ्राण-कल्पना भी अतिशय समृद्ध है। वात्सल्यवश बालक का माथा सूँघना, पंचदिव्य उत्पन्न होने के क्रम में गन्धोदक का बरसना, मण्डप या घर की सजावट के क्रम में उसे धूप से अधिवासित करना या बरात की शोभायात्रा के क्रम में युवतियों द्वारा खिड़कियों से वर की पालकी पर गन्धचूर्ण बिखेरना, खाद्य-सामग्री में सुगन्ध का अनुभव करना, गन्धमुखी बाला लशुनिका को सुगन्धमुखी बनाना आदि कथाकार द्वारा घ्राण-कल्पना की शक्ति से निर्मित बिम्ब हैं। इससे कथाकार के गन्धबोध या घ्राण-कल्पना की तीव्रता का संकेत प्राप्त होता है। कथाकार की घ्राण-कल्पना के कतिपय प्रसंग उदाहरणार्थ हैं :

‘सव्वोसहि व्व जोइयगंघजुत्तिमिव सुरहिं’ (भोजन : ३५२.८); ‘गोसीसर्वदणच्छाहिं कालायरुयूववासियाहिं दिसामुहाइं सुरहिंगंघगम्भिणा पकरेमाणीए’ (शिविका : ३४७.१५-१६); ‘पढममेव गंघसलिलावसिता कया समोसरणभूमी’ (समवसरण : ३४५.२४); ‘नंदणवण-मत्थ-समुब्भयकुसुमामोयसुहंगंधवाहणधानामयपसादज्जणणीहारसुरहिंगंधी’ (शान्तिनाथ : ३४०.१५-१६); घाणमणदइयधुवधुविओ’ (स्वयंवर-मण्डप : ३१४.११); ‘ततो णेण पलंडु-लसुण-वेकड-हिगुणि छगलमुतेण सह रुइयाणि सरावसंपुडेण आणीयाणि. संबो य सभादुवारो वित्तितो घाणपडिकूलेण लसुणादिजोएण। तेण य गंधेण परब्भाहतो सभागओ कुभारलोओ संवरिय-नक्कदुवारो। समंतओ विपलाओ’ (दुर्गन्ध : १०६.६-१०); ‘मुहस्स मे पडिकूलो गंधो लसुणोपमो’ (२१८.१७); लसुणगन्धि च दारियं सुगंधमुहिं च काहिति’ (लशुनिका : २२०.१५) आदि-आदि।

क्रिया-कल्पना दृष्टि-कल्पना के ही समीपी है। क्रिया-कल्पना कला के उन निदर्शनों में प्रचुर महत्त्व रखती है, जिनमें संस्मरणाश्रयी बिम्बविधान प्रस्तुत किया जाता है। डॉ. कुमार बिमल^१ के अनुसार, अतीत से सम्बद्ध कलात्मक सन्दर्भ क्रिया-कल्पना से सहायता लेते हैं, इनमें आश्रय और आलम्बन के पारस्परिक व्यवहार, क्रिया और प्रतिक्रिया को स्मृति के सहारे दुहराया जाता है। इस सम्बन्ध में, ‘वसुदेवहिण्डी’ में उल्लिखित जातिस्मरण या अवधिज्ञान को सन्दर्भित किया जा सकता है। कथाकार संघदासगणी ‘वसुदेवहिण्डी’ के कथापात्र के माध्यम से चाहे वे आश्रय (रसग्रहीता) हों या आलम्बन (रसोत्पत्ति का आधारभूत पुरुष या वस्तु), जातिस्मरण के सहारे उनके पारस्परिक व्यवहार और क्रिया-प्रतिक्रियाओं की आवृत्ति द्वारा संस्मरणाश्रयी बिम्ब-विधान में ततोऽधिक कृतकार्य हुए हैं। इसलिए, क्रिया-कल्पना पर आधृत उनके बिम्बविधान प्रायः गतिशील हैं। इसी गतिशीलता का परिणाम है कि ‘वसुदेवहिण्डी’ के पात्रों के व्यक्तित्व क्षणभर में ही अनुकूल से प्रतिकूल या प्रतिकूल से अनुकूल हो जाते हैं। कहना न होगा कि ‘वसुदेवहिण्डी’ में जातिस्मरण और अवधिज्ञान-रूप अतीत स्मृति से सम्बद्ध कलात्मक सन्दर्भ को क्रिया-कल्पना के माध्यम से भूयिष्ठता के साथ चित्रित किया गया है।

१. ‘सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व’ (वही) : पृ. १११

इसी प्रकार, रस-कल्पना के माध्यम से भी कथाकार ने अप्रस्तुतयोजना में गुणमूलक साम्य उपस्थित करने के लिए भोग्य वस्तुओं के स्वाद-बोध से काम लिया है। वसुदेव अपनी पत्नियों के साथ पंचलक्षण विषय के अनियन्त्रित आस्वाद का मुदित मन से सेवन करते हैं। 'सेवइ मं इच्छिर्हं, भोयणाऽच्छायणगंधमल्लेर्हि' (३४९.१५); 'तत्थ य पइदिवसपरिवडुमाण-भोगसमुदओ निवसामि' (२८१.१८-१९); 'ततो हं सोमसिरीसहितो देवो विव देविसहिओ रायविहियभोयण-ऽच्छादनगंध-मल्लेण परिचारकोपणीएहिं मणिच्छिर्हं परिभोगदब्बेहिं सण्णिएहिं इट्ठविसयसुह-सायरावगाढो निरुस्सुओ विहरामि' (२२४.१०-१२), 'परिभोगो विडलो' (२०८.१४) आदि सन्दर्भ कथाकार की रस-कल्पना के ही निदर्शन हैं। इस प्रकार, कथाकार ने रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शमूलक कल्पनाओं की विस्तार-शक्ति से आतिशय्य-गर्भ अप्रस्तुतयोजना उपस्थित करने में अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है। कहना न होगा कि कथाकार संघदासगणी की कल्पनाशांति में 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के तत्त्व अपनी बहुरूपता के साथ विद्यमान हैं। इसीलिए, उन्होंने विष्णुकुमार (गन्धर्वदत्तालम्ब) के वामन और विराट् दोनों रूपों की कल्पना की है। या फिर, नायिकाओं के नख-शिख-वर्णन के क्रम में किसी नायिका को 'कमलमउलसण्णिहपयोहरा' (अश्वसेना : २०८.१२) कहा है, तो किसी को 'महानिवेसनिरंतरहारपरिणद्धतालफलाणुकारिपओ-हरा' (गन्धर्वदत्ता : १३२.२१-२२) या 'धणज्जुयलेण य पीणुण्य-निरंतरेण बालतालफल-सिरी' (जाम्बवती : ७९.१८.१९) भी कहा है।

निश्चय ही, यह प्रसंग, मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तानुसार, भिन्न-भिन्न अवसरों पर कल्पना की क्रियाओं या उपक्रियाओं के परिवर्तित होते रहने की ओर संकेत करता है। इसलिए कथाकार ने एक ओर कमल-मुकुल के साथ पयोधर के सादृश्य के क्रम में कल्पना की लघिमा से काम लिया है, तो दूसरी ओर पयोधर का तालफल से साम्य दिखलाने के लिए कल्पना के विस्तार का आश्रय लिया है। इसी प्रकार, 'वाएरियजलबुब्बुओ इव विलीणो पोतो' (पृ. २५३ : पं. १६) जैसे प्रयोग में विशाल जलमग्न जहाज का पानी के बुलबुले से सादृश्य उपस्थित करके कथाकार ने कल्पना की लघिमा का बिम्बविधायक चमत्कार प्रदर्शित किया है। इस प्रकार, कथाकार ने सर्वत्र स्वेच्छानुसार अपनी कल्पना की लघिमा (संकोच) और तनिमा (विस्तार) को विभिन्न आसंगों में अतिशय प्रायोगिक मनोहारिता के साथ उपन्यस्त किया है। ज्ञातव्य है कि संघदासगणी ने अपनी कल्पनाओं को बिम्बित करने के लिए अलंकृत भाषा, दूसरे की मनःस्थिति का सहानुभूतिपूर्ण कथन, सादृश्य-विधान या अप्रस्तुतयोजना, जीवन्त चित्रविधान एवं उदाहरणों के सार्थक संचयन आदि कई उल्लेखनीय विशिष्ट शैल्यिक प्रविधियों से काम लिया है। संघदासगणी की कल्पना इतनी सटीक या ऐन्द्रजालिक केन्द्रणशीलता की शक्ति से सम्पन्न है कि वह विरोधी अतिवादों के बीच सन्तुलन स्थापित करती है और परिचित या प्राचीन वस्तुओं में भी असाधारण भावबोध के कारण अभिनवता का चामत्कारिक आधान कल्पित है।

संघदासगणी एक सारस्वत कथाकार थे। इसलिए, उनमें कारयित्री और भावयित्री दोनों प्रकार की प्रतिभाएँ थीं। प्रसिद्ध काव्यालोचक राजशेखर ने प्रतिभा को व्युत्पत्ति से अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने प्रतिभा को मूर्ति-विधायिनी शक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है कि जिसे प्रतिभा नहीं है, उसके लिए अनेक प्रत्यक्ष पदार्थ भी परोक्ष-से प्रतीत होते हैं।^१ राजशेखर

द्वारा निर्देशित प्रतिभा आधुनिक काव्यालोचन की कल्पना से अत्यधिक साम्य रखती है। क्योंकि, कल्पना में अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर देने की शक्ति रहती है। 'वसुदेवहिण्डी' में वर्णित कल्पवृक्ष, विभिन्न विद्याएँ, अनेक प्रकार के कल्प (स्वर्ग), साधुओं और विद्याधरों का आकाश-संचरण, अजपथ, शंकुपथ, वेत्रपथ, सुवर्णद्वीप, रत्नद्वीप, पशुओं का मनुष्यभाषा में बोलना, विभिन्न मिथक और कथारूढ़ियाँ कथाकार की इसी प्रतिभा या कल्पना-शक्ति के उदाहरण हैं।

राजशेखर ने भी अप्रत्यक्ष देशान्तर, द्वीपान्तर एवं कथापुरुषों के प्रत्यक्षवत् सजीव वर्णन को उक्त मूर्तिविधायिनी और अदृश्यगोचरकारिणी प्रतिभा का परिणाम माना है।^१ राजशेखर-पूर्ववर्ती आचार्यों ने प्रायः कविप्रतिभा, अर्थात् कारयित्री या रचनात्मक कल्पना पर ही विचार किया था, किन्तु राजशेखर ने प्रथम बार प्राचीन काव्यशास्त्र में उपेक्षित भावक, पाठक या आलोचक के पास रहनेवाली भावयित्री प्रतिभा, अर्थात् ग्राहिका कल्पना पर भी विचार किया है। डॉ. कुमार विमल^२ ने कहा है कि राजशेखर द्वारा निरूपित सारस्वत कवि की सहजा कारयित्री प्रतिभा कॉलरिज, क्रोचे एवं अन्य अनेक आधुनिक विचारकों की बिम्बविधायिनी कल्पना से पृथुल साम्य रखती है। कहना न होगा कि प्राचीन संस्कृत-आचार्यों में मूर्द्धन्य भट्टतोत, कुन्तक, अभिनवगुप्त, वामन, यम्मट और पण्डितराज जगन्नाथ ने भी 'प्रतिभा' के सन्दर्भ में उसके विभिन्न नामों और रूपों से अपना वाग्विस्तार किया है। शास्त्रदीक्षित कथाकार संघदासगणी ने जिस प्रतिभा का परिचय दिया है, वह अभिनवगुप्त की प्रतिभा, अर्थात् 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा'^३ के अधिक निकटवर्ती है। तदनुसार, संघदासगणी ने अपनी प्रतिभा या कल्पना के द्वारा मानसिक रूपविधान, बिम्बविधान अथवा मूर्तिविधान की अपूर्व शक्ति का प्रदर्शन किया है। निस्सन्देह, उन्होंने अपनी कथासृष्टि में रसात्मक परिवेश के साथ विशद सौन्दर्य के निरूपणपूर्वक विराट् कथा-प्रतिभा का प्रत्यभिज्ञान प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपनी चिन्तन-शक्ति और कल्पना की निपुणता तथा शास्त्रीय अभ्यास से परिपुष्ट 'व्युत्पत्ति' का आश्रय लेकर प्रस्तुत विषय 'वसुदेवचरित' को एक नूतन परिवेश और संयोजन प्रदान किया है, जिससे 'वसुदेवहिण्डी' जैसी 'बहुकालवर्णणजिज्ञ' अभिराम कथा की परम अद्भुत सृष्टि हुई है।

प्राचीन आचार्यों की 'प्रतिभा' और आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र की 'कल्पना' में बहुशः साम्य है। संघदासगणी की मानसिक सर्जनाशक्ति और रचनात्मक कल्पनाशक्ति द्वारा 'वसुदेवहिण्डी' में एक विशाल नन्दतिक लोक ('एस्थेटिक युनिवर्स') की स्थापना हुई है। निष्कर्ष रूप में कहें, तो 'वसुदेवहिण्डी' संघदासगणी की एक ऐसी मानसिक कथासृष्टि है, जिसमें कल्पना की उदात्तता और सौन्दर्यबोध की रमणीयता के साथ सम्मूर्तन की अपूर्व क्षमता और भावोद्बोधन के मोहक और विलक्षण गुणों का विपुल विनियोग हुआ है।

बिम्ब :

कल्पना, बिम्ब और प्रतीक में आनुक्रमिकता या पूर्वापरता का भाव निहित है। कल्पना से आविर्भूत होनेवाली बिम्बात्मकता ही प्रतीक-विधान की जननी होती है। कृतधी नव्यालोचक

१. 'काव्यमीमांसा' : अ. ४

२. 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' (वही) : पृ. १२६

३. 'ध्वन्यालोकलोचन', चौखम्बा-संस्करण : पृ. ९२

डॉ. कुमार विमल ने अपनी सौन्दर्यशास्त्र-विषयक पार्यन्तिक कृति 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' में गम्भीर साहित्यिक वैदुष्य का परिचय देते हुए सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक पर बड़ी विशदता से विचार किया है। उनके अनुसार, कल्पना जब मूर्त रूप धारण करती है, तब बिम्बों की सृष्टि होती है और जब बिम्ब प्रतिमित या व्युत्पन्न अथवा प्रयोग के पौनःपुन्य से किसी निश्चित अर्थ में निर्धारित हो जाते हैं, तब उनसे प्रतीकों का निर्माण होता है। इस प्रकार, बिम्ब, कला-विवेचन के सन्दर्भ में कल्पना और प्रतीक का मध्यवर्ती है। बिम्ब-विधान कलाकार की अमूर्त सहजानुभूति को इन्द्रियग्राह्यता प्रदान करता है। इसलिए, उसे कल्पना का पुनरुत्पादन कहना युक्तियुक्त होगा। अर्थात्, बिम्बों की प्राप्ति कल्पना के पुनरुत्पादन से ही सम्भव है। कल्पना से यदि 'सामान्य' विचार-चित्रों की उपलब्धि होती है, तो बिम्ब से 'विशेष' चित्रों की। 'वसुदेवहिण्डी' में अनेक ऐसे कलात्मक चित्र हैं, जो अपनी विशेषता से मनोरम बिम्बों की उद्भावना करते हैं।

बिम्बों को सादृश्याश्रित रूपक तक सीमित कर उन्हें अलंकारवादियों की तरह अलंकृत उक्ति-वैचित्र्य मानना संगत नहीं है। इसलिए, सौन्दर्यशास्त्रियों की यह अवधारणा है कि कला-जगत् के बिम्ब मानव की ऐन्द्रिय अनुभूति के कलात्मक अंकन होते हैं। इसलिए, उनका सैद्धान्तिक निष्कर्ष है कि वस्तुनिष्ठता और ऐन्द्रिय बोध बिम्ब-विधान के आवश्यक तत्त्व हैं। ध्यातव्य है कि बिम्ब-विधान में सदृशता या तुलनात्मकता के तत्त्व महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। सादृश्यमूलक रूपक, उपमा या मूर्तीकरण किसी भी माध्यम से अप्रस्तुतयोजना में बिम्ब-विधान का विनियोग किया जा सकता है। अर्थात्, कल्पनाशक्ति से अप्रस्तुत को नवीन सन्दर्भ देने से बिम्ब की सृष्टि होती है। इसलिए, बिम्ब-विधान अप्रस्तुतयोजना का ही प्रतिरूप है। डॉ. कुमार विमल द्वारा उपस्थापित परिभाषा के अनुसार, जब कलाकार अपने अमूर्त मर्म-संवेगों की यथातथ्य अभिव्यक्ति के लिए बाह्य जगत् से (आवेष्टनगत) ऐसी वस्तुओं को कला के फलक पर इस रूप में उपस्थित करता है कि हम भी उनके भावन से वैसे ही मर्म-संवेग की प्राप्ति कर सकें, जिससे कलाकार पहले ही गुजर चुका है, तब उन योजित वस्तुओं को वैसी प्रस्तुति को हम बिम्ब-विधान कहते हैं।^१

बिम्ब-विधान कला का क्रियापक्ष है और बिम्बों के कल्पना से उद्भूत होने के कारण उनके विधान के समय कल्पना सतत कार्यशील रहती है। और चूँकि, कल्पना का स्मृति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, इसलिए बिम्ब-विधान के निमित्त स्मृति सर्वाधिक आवश्यक है। 'वसुदेवहिण्डी' संस्मरणाश्रित मानसिक पुनर्निर्माण है, जिसमें अतीत की संवेदनात्मक अनुभूति सुरक्षित है, इसलिए अतीत-दर्शन के आधार पर निर्मित यह कथाकृति अधिक बिम्बगर्भ है। 'वसुदेवहिण्डी' में वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से बिम्बों का निर्माण हुआ है। इस क्रम में कथाकार ने बिम्ब-निर्माण के कई प्रकारों का आश्रय लिया है। जैसे, कुछ बिम्ब तो दृश्य के सादृश्य के आधार पर निर्मित हैं और कुछ संवेदन की प्रतिकृति से निर्मित हुए हैं। इसी प्रकार, कतिपय बिम्ब किसी मानसिक धारणा या विचारणा से निर्मित हुए हैं, तो कुछ बिम्बों का निर्माण किसी विशेष अर्थ को द्योतित करनेवाली घटनाओं से हुआ है। पुनः कुछ बिम्ब उपमान या अप्रस्तुत से, तो कुछ प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों पक्षों पर लागू होनेवाले श्लेष से निर्मित हुए हैं। कल्पना की भाँति बिम्ब भी विभिन्न इन्द्रियों, जैसे चक्षु, घ्राण, श्रवण, स्पर्श, आस्वाद आदि से निर्मित

होते हैं। कथाकार संघदासगणी द्वारा प्रस्तुत बिम्बों के अध्ययन से उनकी प्रकृति के साथ ही युग की विचारधारा का भी पता चलता है। कुल मिलाकर, बिम्ब एक प्रकार का रूपविधान है और ऐन्द्रिय आकर्षण ही किसी कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है। रूप-विधान होने के कारण ही अधिकांश बिम्ब दृश्य अथवा चाक्षुष होते हैं।

कथाकार द्वारा निर्मित श्रावस्ती के एक मन्दिर तथा उसमें प्रतिष्ठित महिष-प्रतिमा का चाक्षुष बिम्ब-विधान द्रष्टव्य है: "मणुयलोगविम्हयच्छाए पस्सामि तत्त्वेगदेसे पुरपागारसरिसपागारपरिगयं विणयणयधरापगारवल्लयमुत्तोकपेच्छणिज्जमाऽययणं सुणिवेसियवल्लभिचंदसालियजालालोय-णकवोयमा(प)लिपविराइयकणयथूभियागं ओसहिपज्जलियसिहररययगिरिकूडभूयं।... पस्सामि खंभऽनुसयभूसियं मंडवं विविहकडुकम्पोवसोहियं। बंभासणत्थियं च जालगिहमज्झगयं, सिलिदुरिदुमणिनिम्मइयकायं, पहाणसुररायनीलनिम्मियसिणिद्धसिगं, लोहियक्खपरिविखत्त-विपुलकाकारणयणं, महामोत्सकमलरागघडियवुरप्पएसं, महत्तमुत्ताहलविभिस्सकंछणकिंकिणी-माला-परिणद्धगीयं, तिपायं महिषं पस्सिऊण पुच्छियो भया...।" (बन्धुमतीलम्प : पृ. २६८)

अर्थात्, वहाँ (श्रावस्ती में) मैंने (वसुदेव ने) एक ओर मनुष्यलोक की दृष्टि को विस्मित करनेवाला मन्दिर देखा। वह मन्दिर नगर के प्राकार की तरह प्राकार से घिरा हुआ था; उस मन्दिर की भूमि विनय और नय से आवेष्टित प्रतीत होती थी; उसकी उज्ज्वलता बड़ी दर्शनीय थी; उसके छज्जे, अटारी और झरोखे बड़ी सुन्दरता से बनाये गये थे; उसके सोने के कंगूरे पर कपोतमाला विराज रही थी और उसका शिखर (गुम्बद) ओषधि से प्रज्वलित रजतगिरि (वैताद्व्य पर्वत) की चोटी के समान था। -उस मन्दिर में मैंने आठ सौ खम्भों से विभूषित तथा विविध काष्ठकर्म से उपशोभित मण्डप देखा। इसके बाद तीन पैरोंवाला एक भैंसा देखा, जो जालगृह में ब्रह्मासन पर बैठा था; काले रत्न से उसके शरीर की सुन्दर रचना की गई थी; उत्तम चिकनी इन्द्रनीलमणि के सींग थे; लोहिताक्षमणि से गढ़ी गई उसकी बड़ी-बड़ी लाल आँखें थीं, कीमती पद्मरागमणि से उसके खुरों का निर्माण किया गया था और गले में मूल्यवान् मोती-जड़े सोने के घुँघरुओं का माला पड़ी थी।

प्रस्तुत अवतरण में मनोरम चाक्षुष बिम्ब ('ऑप्टिकल इमेज') का विधान हुआ है। इस ऐन्द्रिय बिम्ब में दृश्य के सादृश्य पर रूप-विधान तो हुआ ही है, उपमान या अप्रस्तुत के द्वारा भी संवेदन या तीव्र अनुभूति की प्रतिकृति के माध्यम से स्थापत्य-बिम्ब का हृदयावर्जनकारी निर्माण हुआ है। इसमें वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से निर्मित बिम्ब तथ्यबोधक भाव-विशेष का सफल संवहन करते हैं। कथाकार द्वारा वर्णित महिष और मन्दिर का यह इन्द्रियगम्य बिम्ब सौन्दर्यबोधक और सातिशय कलारुचि भी है। मन्दिर की भूमि के नय-विनय से आवेष्टित होने में यद्यपि हमें कोई ऐन्द्रिय तथ्यबोधकता नहीं मिलती, तथापि इस सन्दर्भ की निश्चित अर्थवत्ता असन्दिग्ध है और इस दृष्टि से यह रूप-चित्रण विकसित बिम्ब की कोटि में परिगणनीय है।

इसी क्रम में, कथाकार की उदात्त कल्पना द्वारा निर्मित मार्तण्डादिका नीलयशा का चाक्षुष बिम्ब द्रष्टव्य है: "अण्णम्मि य अवगासे सममऽसमीवे दिट्ठु य भया कण्णा कालिगा मायंगी जलदागमसम्मुच्छिया विव पेघरासी, भूसणपहाणुरंजियसरीरा सणक्खत्ता विय सव्वरी, मायंग-दारियाहिं सोमरूवाहिं परिविया कण्णा।...ततो थवलंदसणप्पहाए जोण्हामिव करेतीए ताए भणियं-- एवं कीरउ, जइ तुम्हं रोयइ ति। कुसुमियअसोगपायवसंसिया मंदमारुयपकंपिया

इव लया पणच्चिया ।...ततो सा धवलेण लोयणजुयलसंचारेण कुमुदलमयं दिसावलमिव कुणमाणी, पाणिकमलविच्छोभेण कमलकिसलयसिरिमावहंती, कमागयपाउद्धारेण सारसारस-सोभमुव्वहंती नच्चइ ।" (नीलयशालम्भ : पृ. १५५)

अर्थात् अन्यत्र एक ओर थोड़ी ही दूर पर एक चण्डालकन्या मुझे (वसुदेव को) दिखाई पड़ी, जो रंग में सजल मेघ की तरह काली थी और रूप में श्रेष्ठ आभूषणों से अनुरजित शरीरवाली वह तारों से जगमगाती रजनी की तरह लगती थी। सौम्यरूपवाली वह कन्या कतिपय मातंगबालिकाओं से घिरी हुई थी ।... (बालिकाओं ने जब उसे नाचने के लिए कहा, तब) चाँदनी की तरह दन्तकान्ति छिटकाती हुई उसने कहा : 'जो तुम्हें पसन्द हो, वही करूँगी।' इसके बाद वह अशोकवृक्ष से लिपटी और मन्द-मन्द हवा से कम्पित लता की भाँति नाचने लगी ।... वह जब नृत्य के क्रम में आँखों का संचार करती, तब दिखाएँ जैसे कुमुदमय हो जातीं। हाथ की भंगिमा तो साक्षात् कमलपुष्प की कान्ति बिखेरती और क्रम से जब वह पैरों को उठाकर नाचती, तब उत्तम सारसी की भाँति उसकी शोभा मोहक हो उठती।

प्रस्तुत सन्दर्भ में कथाकार-निर्मित उपमान और रूपकाश्रित इन्द्रियगम्य बिम्बों का बाहुल्य है, जिन्हें भाव-जगत् के एक अनुभूत महार्घ सत्य की रूपात्मक अभिव्यक्ति कह सकते हैं। बिम्ब-विधान काव्य की विकसित दशा का उदात्तीकरण है। काव्य की विकसित दशा में प्रतीक, रूपक और उपमा के माध्यम से बनेवाले बिम्बों का अपना महत्त्व होता है। उक्त अवतरण में कमल हाथ का प्रतीक है, तो नृत्यगत क्रमिक पदक्षेप उत्तम सारसी की गति का। इसी प्रकार, उपमेय मातंगकन्या के लिए मेघराशि, नक्षत्रयुक्त रात्रि (तारों से जगमगाती रात) तथा अशोक-पादपाश्रित मन्दमारुतान्दोलित लता उपमान के रूप में प्रयुक्त हुई है। पुनः धवल दशनपंक्ति में चाँदनी एवं लोचन में कुमुद का रूपारोप हुआ है। इस प्रकार कथाकार द्वारा मातंगी का जो बिम्ब उपन्यस्त हुआ है, वह उपमा, रूपक और प्रतीक के आश्रित होकर उसकी अपूर्व सुन्दरता, सुकुमारता, नृत्यकला-कुशलता आदि अनेक गूढार्थों की व्यञ्जना करता है। 'कालिका' तथा 'सनक्षत्रा शर्वरी' का प्रयोग 'काले' रंगबोध से सम्पृक्त है, इसलिए यह बिम्ब चाक्षुष प्रतीति से सम्बद्ध है। मन्दमारुतान्दोलित लता के बिम्ब में स्पर्श की प्रतीति निहित है। आभूषणों से अनुरजित होने के कारण उसमें अन्तर्ध्वनित झंकार का बोध श्रावण-प्रतीति से सम्बद्ध है। इस प्रकार, कथाकार ने मातंगी के एक बिम्ब में अनेक बिम्बों का मोहक समाहार या मिश्रण उपस्थित किया है।

कला-जगत् में बिम्बों की प्रचुरता रहती है। किन्तु, प्रायः सभी बिम्बों में चाक्षुष बिम्ब को कलाशास्त्रियों ने अत्यधिक उत्कृष्ट मानकर उसे पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया है। कहना न होगा कि कलामर्मज्ञ कथाकार संघदासगणी की 'वसुदेवहिण्डी' में चाक्षुष बिम्बों की भरमार है। विशेषकर प्रमुख स्त्री-पात्रों या पुरुष-पात्रों के वर्णन में कथाकार द्वारा किया गया बिम्ब-विधान विस्मयाभिभूत करने की शक्ति से संवलित है। फिर भी, कथाकार मिश्रित बिम्ब प्रस्तुत करने में विशेष दक्ष प्रतीत होता है। यहाँ अटवी का एक मिश्रित बिम्ब दर्शनीय है।

"पत्ता य मो णाणाविहत्स्वखगहणं, वस्ति-लयावद्धगुच्छ-गुम्भं, गिरिकंदरनिज्जरोदरिय-भूमिभागं, णाणाविहसउणरडियसहाणुणइयं, अईव भीसणकरं, भिगारविरसरसियपउरं; कत्थइ वग्घ-उच्छभत्तपुरुपुरेतमुहलं, वानर-साहामिण्हिं रवमाणसइं, पुक्कारिय-दुंदुयाइण य कण्ण-

सहालभीसणकरं; पुलिंदवितासिंहि य वणहत्विदिदएहि गुलगुलेंतबहुलं; कथइ मड-
मडस्सभज्जंतसत्त्वइवणं; कथइ वोच्छडियसमिति-तंदुल-मास-भिण्णघयघडिया कूरउत्तलीओ य
पविद्धेतस्सभायणे य बहुविधपयारे छत्तयउवाहणाउ य छड्डियाउ पासिऊगा चित्तिंय मया।”
(धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४४)।

इस प्रसंग में श्रव्य कलाओं के लिए विशेष उत्कर्ष-विधायक श्रावण बिम्ब की ध्वनि-कल्पना का चमत्कार प्रत्यक्ष हो उठा है। इससे कथाकार की श्रुति-चेतना का विस्मयकारी परिचय मिलता है। इसी अवतरण में बनैले हाथी से वित्रासित साथवाहों द्वारा तैयार खाद्य-सामग्री, घी की हाँड़ी तथा भात से भरे थाल और तेल के बरतन छोड़कर भागने की कल्पना में आस्वादमूलक बिम्ब का मनोहारी विधान हुआ है। प्रकृत्याश्रित भयानक रस का यह बिम्ब अपने-आप में अद्वितीय है। विभिन्न जंगली जानवरों की आवाज से गुंजायमान अटवी की भयोत्पादक गहनता को चित्रात्मक अभिव्यक्ति देने के लिए कथाकार द्वारा वर्णित इस प्रसंग में संश्लिष्ट बिम्बों की रुचिर योजना हुई है। ये सहज ही मिश्रणशील और स्फूर्त बिम्बों के उदाहरण हैं, जो एक वन की भीषण आकृति की व्यंजना में समर्थ हैं।

कथाकार द्वारा निर्मित भयानक सर्प का चाक्षुष बिम्ब भी इसी क्रम में द्रष्टव्य है :

“पेच्छामो य पंथम्मि ठियं पुरतो, अंजणपुंजनिगरप्पयासं, निल्लालियज्जमलजुयलजीहं,
उक्कड-फुड-वियड-कुडिल-कक्खड-वियडफडाडोवकरणदच्छं तिभागूसियसरीरं महाभोगं
नागं।”(धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४५)।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रूप-विधान की परिभाषा के अनुसार, यह सर्पबिम्ब प्रत्यक्ष रूप-विधान का रोमांचकर उदाहरण है। अंजन के ढेर के समान यह सर्प अपनी दोनों जीभों को लपलपा रहा है, विकरालता के साथ फुफकारता, फन काढ़ता और अपने शरीर के एक-तिहाई हिस्से को उपर उठाये हुए, वह सामने रास्ते पर खड़ा है।

पुनः भयोत्पादक बाध का पुरुष चाक्षुष बिम्ब भी दर्शनीय है :

“पेच्छामो य अपरितंतकयंतनिव्वडियदुक्खं, पुरतो पलंबंतकेसरसदं,
महल्लविफालियनंगूलं रत्तुप्पलपत्तनियरनिल्लालियग्गजीहं, आभंगुरकुडिल-इतिक्खदादं,
ऊसवियदीहनंगूलं अभीसणकरं वग्घं।”(धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४५)

यह व्याघ्रबिम्ब भी प्रत्यक्ष रूप-विधान का आवर्जक निदर्शन है। भयानक होते हुए भी बाध का यह बिम्ब मोहक और दर्शनीय है : यह बाध दुःख देने में सदा प्रसन्न यम के समान था, उसके केसर बड़े लम्बे थे, वह अपनी बड़ी पूँछ को फटकार रहा था और लाल कमलदल की भाँति जीभ को बाहर निकाल रहा था, उसका जबड़ा अतिशय कुटिल और तोखा था, वह अपनी लम्बी पूँछ को ऊपर उठाये हुए था, जिससे ही बहुत ही डरावना लग रहा था।

कहना न होगा कि संघदासगणी प्रत्यक्ष रूप-विधान के तहत कल्पनाश्रावण कोमल बिम्बों की अवतारणा में जितने कुशल हैं, पुरुष बिम्बों के विधान में भी उनकी प्रतिभा की द्वितीयता नहीं है।

इसी प्रकार, कथाकार ने क्रुद्ध महिष, हाथी, घोड़े आदि के भी भयानक पुरुष बिम्बों का विधान किया है। इन सभी प्रत्यक्ष रूप-विधानों में तात्कालिक ऐन्द्रिय अनुभव की प्रधानता है।

प्रत्यक्ष रूपविधान के अन्तर्गत म्यान से निकली तलवार का एक उदात्त कल्पनामूलक चाक्षुष बिम्ब दर्शनीय है :

“दिद्वा य तिलतिलधारासच्छमा, अयसिकुसुमअच्छिनीलसम्पभा, अच्छेरयपेच्छणिज्जा, भमति य पसण्णयाए, उण्यति व्व लहुययाए, विज्जुमिव दुप्पेच्छा दरिसणिज्जा य ।”
(धम्मिल्लचरित : पृ. ६७)

अर्थात् म्यान से निकली तलवार तिल के तेल की धारा के समान चिकनी थी, तीसी के फूल और आँख के समान नीली थी और आश्चर्य के साथ प्रेक्षणीय थी। वह प्रसन्नता से मानों धूम रही थी, हल्केपन के कारण मानों उड़ रही थी और विद्युत् की भाँति दुष्प्रेक्ष्य होने पर भी दर्शनीय थी।

कहना न होगा कि प्रस्तुत चाक्षुष बिम्ब के अंकन में कथाकार ने अपने रंगबोध का मनोरम परिचय उपन्यस्त किया है। इस सन्दर्भ में, युवती के आँचल से निकले, जावकरस की भाँति पाण्डुर पयोधर के रंगबोधपरक बिम्ब का उदात्त सौन्दर्य द्रष्टव्य है : ‘पावरणंतरविणिगयमिव जावधरसंपंडुरं जुवतिपओहरं ।’ इस प्रकार के अनेक रंगबोधक बिम्ब कथाकार ने अपनी भावप्रवण कल्पना के माध्यम से समुद्भावित्र किये हैं।

‘रसमीमांसा’ (पृ. ३५८) में वर्णित आचार्य शुक्लजी के स्मृत रूप-विधान के अन्तर्गत उदाहरत्तव्य है राजगृह नगर, जिसके चाक्षुष स्थापत्य-बिम्ब की मनोहारिता विस्मयजनक रूप में उपस्थापित की गई है :

“तत्त्व मगहाजणवाए रायगिहं नाम नगरं दूरावगाढवित्थयसलिलखातोवगूढदढतरतुंगपराणीयभयदधागारपरिगयं, बहुविहिनयणाभिरामजलभारगरुयजलहरगमणविधातकरभवणभरियं, अणेगवाहपरिमाणपव्वयं, दिव्वाचारपभवं, भंडसंगहविणियोगखमं, सुसीलमाहणसमणसुसयण-अतिहिपूवनिरस्थधाणिक्खणोववेयं, रहतुरयज्जणोघज्जणियरेणुगं, मयगलमातंगदाणपाणियपसमिय-वित्थिन्नरायमगं ।” (कथोत्पत्ति : पृ. २)

प्रस्तुत स्मृत रूप-विधान में राजगृह के अतीत स्थापत्य की स्मृति के सहारे नूतन वस्तु-व्यापार-विधान किया गया है। वस्तु-व्यापार-विधान का यह क्रम स्मृति से अनुशासित रहकर अतीत का यथाक्रम अनुवर्द्धन करता है, जो मूलतः प्रत्यक्ष रूप-विधान पर ही आश्रित होता है। शुक्लजी ने केवल कल्पित रूप-विधान को ही विशुद्ध कल्पना का क्षेत्र माना है और इसी के अन्तर्गत काव्य के सम्पूर्ण रूप-विधान को स्वीकृत किया है। इस प्रकार, बिम्ब या रूप-विधान के लिए कल्पना का सातिशय महत्त्व सिद्ध होता है।

कथाकार संघदासगणी द्वारा उपन्यस्त कल्पित रूप-विधान के उदाहरणों में विद्याधर जाति के भूतों का बीभत्स बिम्ब यहाँ द्रष्टव्य है :

“तत्त्व य गयमयगणा गीयवाइयरवेण महया असि-सत्ति-कोत-तोमर-मोगगर-परसुहत्था भूर्इकयंगराया मिंगच्चम्मणियंसणा फुट्ट-कविल-केसा कसिणभुयंगमपलंबवेगच्छिया अयकर-कयपरिवारा लंबोदरोरुवयणा गोधुंदुर-नउल-सरइकण्णपूरा वारवरबहुरुवधरा सम्पभूया य से पुरतो पणच्चिया भूया ।” (केतुमतीलम्भ : पृ. ३३६)

अर्थात्, वहाँ बहुत सारे भूत आये। वे अपने हाथों में तलवार, त्रिशूल, भाला, बाण, मुद्गर और फरसा लिये हुए थे; शरीर में उन्होंने भस्म लपेट रखा था; वे मृगचर्म पहने हुए थे; उनके केश भूरे और बिखरे हुए थे और काले लम्बे साँप का उत्तरासंग धारण किये हुए थे। उन्होंने गले में अजगर लपेट रखा था; उनके पेट, जाँघ और मुँह बड़े विशाल थे; उन्होंने गोह, चूहा, नेवला और गिरगिट के कर्णफूल पहन रखे थे तथा बार-बार अनेक प्रकार से रूप बदलते थे। (मेघरथ और उसकी रानी प्रियमित्रा के आगे) उन भूतों ने गीत और वाद्य के गम्भीर स्वर के साथ नृत्य किया।

यह प्रसंग हास्य, बीभत्स, भयानक, रौद्र, शान्त, शृंगार और अद्भुत रसों का समेकित बिम्ब प्रस्तुत करता है। यहाँ सफल बिम्बग्रहण और बिम्बविधान के लिए कथाकार ने भयानक सौन्दर्य की अद्भुत कल्पना की है। यद्यपि कथाकार द्वारा निर्मित यह बिम्ब केवल शब्दाश्रित है।

इस प्रकार, कथाकार द्वारा अनेक शब्दाश्रित और भावाश्रित बिम्बों का विधान किया गया है, जिनमें भाषा और भाव दोनों पक्षों का सार्थक समावेश हुआ है। 'वसुदेवहिण्डी' में अनेक ऐसे स्थल सुलभ हैं, जहाँ कथाकार की कल्पना मूर्त रूप धारण करके, उपमा और रूपकों के माध्यम से निर्मित होकर भी स्वतन्त्र अस्तित्व के साथ बिम्बों की सृष्टि करने में समर्थ हुई है। बहुधा वस्तु-विशेष के प्रति ऐन्द्रिय आकर्षण के कारण ही कथाकार बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित हुआ है। 'वसुदेवहिण्डी' में प्राप्य कतिपय मोहक बिम्बविधायक प्रयोग यहाँ समेकित रूप में द्रष्टव्य हैं :

'बिम्बोय-णयणसंचारणजुतं' (पृ. २८, पं. २१) 'वायवसपकंपमाणनच्चंत-पल्लवगगहत्थस्स असोगवरपायवस्स' (३५.१४); 'भमर-महुकरिकुलोवगिज्जंतमहुलउवसइकुहरस्स रत्तासोयवर-पायवस्स' (३७.७-८); 'मिउ-विसय-सुर्गाधनीहारिणा सव्वकुसुमाहिवासिणं केसहत्थएणं सोभ-माणेणं' (३७.१८-१९); 'ईसीसिहसियदीसंतरूवलड्डसुद्धदंतपंतीए' (३७.२३); 'नवहरियपल्लवबहु-साहसीअलच्छयस्स सहयारपायवस्स' (४०.५); 'रहतुंडनिविद्धा कुप्पासयपिहियकाया तोतयगहिय-वावडगगहत्था' (५३.५); 'कयवायमलघुसरीरो विहगो विव लीलाए आरूढो' (६७.३); 'जहण-वित्थारेण भागीरहिपुलिणदेसं' (७९.२०); 'दिवायरकिरणालिगियमलिणमणहरमुहं' (९१.३०); 'फलरसपुट्टपरपुट्टमहुरभासिणीओ' (१२१.२५); 'सवणमणसुभगमहुरभणिया' (१२३.१२-१३); 'सारइयबलाहगसणाहसाणुदेसो इव मंदरो', 'कडगकेयूरभूसियभुमयाजुयलो य इंदायुध-चिधित इव गगणदेसो', 'पालंबोचूलरइयमुत्ताविहाणो य जोइसमालाधरो इव तिरियलोओ' (१३०.५-६); 'खारसलिलपंडरसरीरो' (१४६.१४); 'सिरीसकुसुमसुकुमालसरीरा' (१९८.१); 'उवणीयं भोयणं कणगरययभायणेण सुकुसलोपायसिद्धं सीहकेसर-कुवल्लयफालफलमोदकं', 'मिदु-विसद-सगसिद्धो य कलभोयणो', 'जीहापसायकराणि ठाणकाणि य विविहसंभारसिद्धाणि' (२१.८२३, २४, २५, २६); 'कुंडलजुयलालंकिंयवयणसयपत्तं चक्कजुयलपरिगगहियं पिव सयवत्तं' (२४६.२५); 'मणोसिला-धाउरंजियअंजणगिरिसिहरसरिस्स' (२५१.३); 'गावीओ रूविणीओ वण्ण-रूव-संठाण-सिगा-ऽऽगितिहिं कल्लाणिआओ' (२९७.७-८); 'विउलाए रयणमंडियाए सहाए बत्तीसरायसहस्सपरिवुडो सीसरक्खिय-पुरोहिय-मंति-महामंतिस्समग्गो सीहासणोवविट्ठो' (३३०.१४-१५); 'कणयमयसहस्स-पत्तपइट्ठियं तरुणरविमंडलनिभं धम्मचक्कं' (३४१.२३); (युद्धभूमि का रौद्र और वीर रस के माध्यम से निर्मित बिम्बः) 'खत्तियबलस्स य नायरस्स य संपलगं जुद्धं विविहाऽऽउहपरियरहवराबद्ध-

धयसमूहं, मुहमारुयपुणसंखसणाविद्धकलकलरूवं, ओसारियदाणपदमतगयविसाणसंघट्टपयट्टहुडं-
कणं, तूरवियतुरंगखरखुरक्खयक्खितिरयपडिरुद्धनयणविसयं जायामरिसभडमुक्कसरनिवहच्छण-
दिवसकरकरं' (३६५.५-८); 'कण्णा य कमलनिलया विव सुरूवा घणपडलनिगयचंदपडिमा इव
कित्तिमती लक्खणसत्थपसत्थरूवाइसया जोइप्पहा नामं'; 'सुरकुमारो विव मणोहरसरीरो घणपडल-
विणिग्गतो विव दिवायरो तेयस्सी अमियतेओ नाम'; दुहिया य सच्छंदवियप्पियरूवधारिणीण
सुरसुंदरीण विम्हियकरी चिरकालवण्णणीयसरीर-लक्खण-गुणा सुतारा नाम' (३१३.२५-२९)
आदि-आदि। इसी क्रम में रौद्र-बिम्ब का एक उत्तम उदाहरण द्रष्टव्य है : 'आसुरक्त-कुविय-
चंडिविकओ तिवलितं भिउडिं काऊण निराणुकंपो तं दारगं लयाए हंतुं पयत्तो'। (७५.१४-१५)

उपर्युक्त समस्त प्रयोग रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध-बिम्ब के उत्तम निदर्शन हैं। इनमें कथाकार की सूक्ष्म भावनाओं या अमूर्त सहजानुभूतियों को बिम्ब-विधान के द्वारा मूर्तता अथवा अभिव्यक्ति को चारुता प्राप्त हुई है। इन विभिन्न बिम्बों में कथाकार के घनीभूत संवेगों का संश्लेषण समाहित है। ये सभी बिम्ब स्रष्टा की चिन्तानुकूलता से आश्लिष्ट हैं, इसलिए चित्रात्मक होने के साथ ही अतिशय भव्य और रसनीय हैं।

निष्कर्ष :

बिम्ब-विधान के सन्दर्भ में संघदासगणी की भाषा ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। कहना न होगा कि कथाकार की भाषा सहज ही बिम्ब-विधायक है। कथाकार की कथा-साधना मूलतः भाषा की साधना का ही उदात्त रूप है। इसलिए, 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा यदि अनन्त सागर के विस्तार की तरह है, तो उससे उद्भूत विभिन्न बिम्ब लहरों की भाँति उत्साहकारक और हृदयाह्लादक हैं। वाक् और अर्थ की समान प्रतिपत्ति की दृष्टि से संघदासगणी की भाषा की अपनी विलक्षणता है। यही कारण है कि 'वसुदेवहिण्डी' भाषिक और आर्थिक दोनों प्रकार के बिम्बों की विभुता से आपातरमणीय हो गई है। बहिरंग और अन्तरंग दोनों दृष्टियों से, या अभिव्यक्ति और अनुभूति के विचार से कथाकार द्वारा निर्मित बिम्ब व्यापक भावसृष्टि की क्षमता तथा आत्मसम्मोहन की दिव्यशक्ति से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार, कथाकार-कृत समग्र बिम्ब-विधान सहजानुभूति की उदात्तता का भव्यतम भाषिक रूपायन है, जो इन्द्रिय-बोध की भूमि से अतीन्द्रिय सौन्दर्य-बोध की सीमा में जाकर निःसीम बन गया है।

प्रतीक :

कथाकार संघदासगणी की कल्पनातिशयता से निर्मित बिम्बों ने कहीं-कहीं, प्रयोग की बारम्बारता या भूयोभूयता से किसी निश्चित अर्थ में निर्धारित हो जाने के कारण, प्रतीकों का रूप ग्रहण कर लिया है। बिम्ब और प्रतीकार्थ के ग्रहण में बुद्धि की तरतमता अपेक्षित होती है। प्रतीक-ग्रहण ग्रहीता की ग्राहिका शक्ति के आधार पर विभिन्न रूपों में सम्भव है। क्योंकि, प्रत्येक ग्रहीता की चेतना और संवेदना की दृष्टि भिन्न हुआ करती है। बौद्धिक चेतना और अनुभूतिगत संवेदना को प्रतीकों में बाँधना मनुष्य का सहज स्वभाव है। इसीलिए, पाश्चात्य चिन्तकों ने प्रतीक-सर्जना को मनुष्य की बुद्धि का व्यापार या चिन्तन-प्रणाली और क्रिया का एक आवश्यक

अंग माना है। मनीषी चिन्तक डॉ. कुमार विमल^१ ने विभिन्न पाश्चात्य विचारकों के मतों का मन्थन करके निष्कर्ष रूप में कहा है कि प्रतीक-सृष्टि मनुष्य की अनिवार्य विशिष्टता है; क्योंकि मानव-मन प्रायः अपनी अनुभूतियों को प्रतीकों में अनूदित करता रहता है। इससे स्पष्ट है कि अनुभूतियों की विभिन्नता के आधार पर प्रयुक्त प्रतीकों के अर्थ की सन्दर्भ-भूमि या प्रसंग-परिवेश में वैविध्य सहज ही सम्भव है।

पाश्चात्य कलामनीषियों ने दार्शनिक, समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों से प्रतीकों पर विस्तृत और गम्भीर चिन्तन किया है। प्रतीक एक प्रकार का विशिष्ट चिह्न होता है, जिसे प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक हीगेल ने 'साइन' कहा है। उदाहरणार्थ, कामदेव की ध्वजा में प्रयुक्त मकर या विष्णु की ध्वजा में अंकित गरुड को उक्त दोनों देवों के विशिष्ट चिह्नों के रूप में लिया जा सकता है। कभी-कभी आन्तरिक गुणों के कारण भी विभिन्न प्राकृतिक उपादान प्रतीक का रूप ग्रहण कर लेते हैं, जैसे सिंह को प्रायः शक्ति के रूप में और शृगाल को धूर्तता या छल के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। दार्शनिक दृष्टि से शून्य यदि ब्रह्म का प्रतीक है, तो गणित की दृष्टि से नभ (आकाश) शून्यता का प्रतीक। समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी निर्मित प्रतीक सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यहाँतक कि लोकरूढ सामाजिक प्रथाओं तथा भाषा-सृष्टि तक में मनुष्य प्रतीकों का ऋण स्वीकार करता है। इसीलिए, डॉ. कुमार विमल^२ ने कहा है कि 'गणित से लेकर काव्य और धर्मपूजा तक के विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों में यदि मनुष्य के पास प्रतीक-सर्जन और उनके अर्थग्रहण की शक्ति नहीं रहती, तो आज मानव-शक्ति अविकसित रह गई होती।' मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी प्रतीक, अवचेतन मन में पड़ी अवदमित आकांक्षाओं और कुण्ठाओं की छद्म अभिव्यक्ति करते हैं। इतना ही नहीं, प्रतीकों द्वारा निश्चित धारणाओं और विचारों का भी सन्धान किया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि प्रतीकों का सान्दर्भिक महत्व होता है और वे मनुष्य की वैयक्तिक परिस्थितियों एवं विभिन्न आसंगों और सवेगों से संश्लिष्ट रहते हैं। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण प्रतीकों का सभी देशों और जातियों की पौराणिक कथाओं तथा सांस्कृतिक एवं धार्मिक निदर्शनों^३ में ततोऽधिक महत्व स्वीकृत किया गया है।

व्याकरणगत व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'प्रतीक' शब्द 'प्रति' उपसर्ग में 'कन्' प्रत्यय के जुड़ने से बना है। किसी वस्तु के अग्रभाग को 'प्रतीक' कहते हैं। कोशकारों ने प्रतीक के कई अर्थ किये हैं। जैसे: की ओर मुड़ा हुआ, भाग, अंग, अवयव आदि। कालान्तर में, विशिष्ट चिह्न के रूप में प्रतीक शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ। पाश्चात्य अवधारणा के सन्दर्भ में, प्रतीकवाद (सिम्बॉलिज्म) को ज्ञान-विज्ञान, साधना और साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों से जोड़ दिया गया। इस प्रकार, प्रतीक सभी प्रकार की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति से सहज ही सम्बद्ध हो गया। संस्कृत-काव्यालोचन के क्षेत्र में प्रतीक को ध्वनिमूलक अर्थ, विशेषकर, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य या अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य जैसे अविवक्षित वाच्यध्वनि के लिए भी प्रयुक्त किया गया है।

१. 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व (वही)' : पृ. २३७

२. 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' (वही) : पृ. २३८

३. धार्मिक प्रतीकों के अध्ययन के लिए डॉ. जनार्दन मिश्र-लिखित तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित 'भारतीय प्रतीक-विद्या' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

विश्वनाथ कविराज द्वारा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि के उदाहरण में 'गाथासप्तशती' की यह गाथा (२. ७५) प्रस्तुत की गई है :

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।

गोलाणइकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण ॥

यहाँ नायिका के नायक से विश्वस्त मिलन में शुनक (कुत्ता) विघ्न-कर्ता का प्रतीक है, तो दृप्तसिंह विघ्ननिवारक का । इस प्रकार, काव्यशास्त्रियों ने ध्वनि-विवेचन के प्रसंग में अनेक ध्वन्यर्थमूलक प्रतीकों का प्रयोग किया है । कहना यह है कि प्रतीकों का परिप्रेक्ष्य बड़ा व्यापक है और ये नित्य और कल्पित या निश्चित और अनिश्चित अर्थों के द्योतक होते हैं ।

कुछ विचारकों ने प्रतीक को उपमा, रूपक और अन्योक्ति से भी जोड़ा है । किन्तु, प्रतीक न तो केवल ध्वनि है, न ही अलंकार-मात्र । यह तो इन सबसे भिन्न है । इसे विशिष्ट शब्दशक्ति कहा जा सकता है । सम्पूर्ण अर्थ-सन्दर्भ की व्यापकता या असीमता को व्यक्त करने की शक्ति से सम्पन्न शब्द ही प्रतीक बन जाता है, जब कि उपमा, रूपक और अन्योक्ति का अर्थ-विधान सीमित होता है । डॉ. कुमार विमल^१ ने पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों के मतों के परिवेश में, उपमा, रूपक और अन्योक्ति के साथ प्रतीक का पार्थक्य-विश्लेषण करते हुए लिखा है कि प्रतीक प्रायः अनिर्धारित बिम्ब हुआ करते हैं, जिनका कभी न रीतनेवाला अर्थ भी विशेष ढंग से सुनिश्चित रहता है, जब कि उपमा, रूपक और अन्योक्ति में अर्थ की नमनीयता बनी रहती है । कुल मिलाकर, प्रतीकार्थ को केवल अलंकारों या चिह्नविशेषों की ईदृक्ता और इयता में परिमित नहीं किया जा सकता ।

संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त कतिपय शब्द-प्रतीकों का उपस्थापन इसी ग्रन्थ के 'कथा के विविध रूप' प्रकरण में किया गया है । उनके अन्य प्रतीकों में स्वप्न-प्रतीकों तथा दोहदों का उल्लेखनीय महत्त्व है । तीर्थकरों या श्रेष्ठ पुरुषों की माताएँ प्रायः महास्वप्न देखती हैं, जो उत्तम पुत्र की प्राप्ति के प्रतीक हैं । या फिर, शुभ या अशुभ दोहद उत्कृष्ट या निकृष्ट सन्तान की प्राप्ति का प्रतीक है । इस प्रकार, कथाकार ने महास्वप्न और दोहद के प्रतीक-विधान द्वारा पुत्र-रूप में महापुरुष की प्राप्ति तथा भावी सन्तान की उच्चावचता को संकेत-व्यंजना की है, जिसकी अभिव्यक्ति प्रचलित माध्यमों के सीमित रहने के कारण सम्भव नहीं थी । इसलिए, इसे कथाकार ने प्रतीक-माध्यम से व्यक्त किया है ।

कथाकार ने अपनी दृष्टान्त-कथाओं (जैसे, 'महुबिदुदिट्टंत', 'इब्मपुतकहाणय' आदि) में स्वानु-भूति के अकथनीय अंशों को प्रतीक के द्वारा कथनीय और प्रेषणीय बनाया है । कामकथा की वस्तुओं को धर्म-प्रतीकों में उपन्यस्त करके कथाकार ने यथाप्रयुक्त प्रतीकों के प्रतीकत्व को सुरक्षित रखने के लिए उनके नये अवेषणों के पौनःपुन्य का सचेष्ट निर्वाह किया है । 'इब्मपुतकहाणय' (कथोत्पत्ति : पृ. ४) का प्रतीकोपन्यस्त उपसंहार इस प्रकार है :

“जहा सा गणिया, तहा धम्मसुई । जहा ते रायसुयाई, तहा सुरमणुयसुहभोगिणो पाणिणो । जहा आभरणाणि, तहा देसविरतिसहियाणि तवोवहाणाणि । जहा सो इब्मपुतो, तहा मोक्खकंखी पुरिसो । जहा परिच्छाकोसल्लं, तहा सम्मन्नाणं । जहा रयणपायपीढं, तहा सम्म-ईसणं । जहा रयणाणि, तहा महव्वयाणि । जहा रयणविणिओगो, तहा निव्वाणसुह्लाभो ति ।”

१. 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' (वही) : पृ. २५६—२६०

स्पष्ट ही, ये काम-तत्त्व धर्म-प्रतीक में परिवर्तित होकर कथाकार की उदात्त अनुभूति या मनोदशा की अभिव्यंजना करते हैं।

इसी प्रकार, कथाकार ने ललितागंद की कथा (तत्रैव : पृ. १०) की, सार्धवाहपुत्र ललितांगद और रानी ललिता के वासनादग्ध जीवन से सम्बद्ध विषय-वस्तु में उपन्यस्त काम-तत्त्वों को गर्भवास-दुःख के प्रतीकों में परिणत किया है। जैसे :

“जहा सो ललियंगतो, तहा जीवो। जहा देवी-दरिसणसंबंधकालो, तहा मणुस्सज्जम्। जहा सा चेडी, तहा इच्छा। जहा वासघरे पवेसो, तहा विसयसंपत्ती। जहा रावपुरिसा, तहा रोग-सोय-भय-सी-उण्हपरितावा। जहा कूवो, तहा गम्भवासो। जहा भुत्तसेसाहारपरिक्खेवो, तहा जणणिपरिणाभियउन्न-पाणापरिसवादानं। जहा निग्गमो, तहा पसवसमतो। जहा धाई, तहा देहोपगगहकारी कम्मविवागसंपत्ती।”

पुनः कथाकार द्वारा ‘महुबिदुडिंत’ (पृ. ८) और ‘महिसाहरण’ (पृ. ८५) शीर्षक कथाओं में वर्णित प्राकृतिक उपादानों को धर्म-प्रतीक के रूप में उपन्यस्त किया गया है। ‘महुबिदुडिंत’ के प्रतीक द्रष्टव्य हैं :

“जहा सो पुरिसो, तहा संसारी जीवो। जहा सा अडवी, तहा जम्म-जरा-रोग-मरणबहुला संसाराडवी। जहा वणहत्थी, तहा भच्चू। जहा कूवो, तहा देवभवो मणुस्सभवो य। जहा अयगरो, तहा नरअतिरियगईओ। जहा सम्पा, तहा कोध-माण-माया-लोभा चत्तारि कसाया दोग्गइ-गमण-नायगा। जहा परोहो, तहा जीवियकालो। जहा मूसगा, तहा कालसुक्किला पक्खा राईदिय-दसणेहिं परिक्खवन्ति जीविअं। जहा दुमो, तहा कम्मबंधणहेऊ अन्नाणं अवरति मिच्छन्तं च। जहा महुं, तहा सह-फरिस-रस-रूप-गंधा इंदियत्था। जहा महुयरा, तहा आगंतुया सरीरुग्गया य वाही।”

‘महिसाहरण’ के धर्म-प्रतीक इस प्रकार हैं : जहा सा अडवी, तहा संसाराडवी, उदगसरिसा आयरिया, मिगसरिसा धम्मसवणाभिलासिणो पाणिणो।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि कथाकार द्वारा कल्पित प्रतीक निरन्तर परिवर्तनशील हैं। जैसे, ‘कूप’ को उन्होंने गर्भवास तथा देव और मनुष्य-भव दोनों प्रकार के प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रतीकों की इसी परिवर्तनशीलता को देखकर प्रतीकवादियों ने यह मान्यता स्थिर की है कि प्रत्येक संवेग और संवेदन के स्वरूप में व्यक्ति की चेतना के गति-सातत्य की भिन्न स्थितियों के कारण प्रतिपल परिवर्तन होता रहता है। कथाकार संघदासगणी प्रतीक-वैविध्य के प्रयोक्ता हैं। उनके कथाकार के व्यक्तित्व की अपनी वक्रताएँ तथा संवेग, संवेदन और रचना के क्षण की निजी विशेषताएँ हैं। इसीलिए, उन्होंने प्रतीकों के निर्माण में अपने व्यक्तित्व और अनुभूतियों की विशिष्टता के अनुरूप अभिव्यक्ति के विभिन्न आयामों का अन्वेषण और पुनः उनका निर्धारण किया है। इसी कारण, उन्हें नूतन प्रतीकों के प्रयोगों की अनिवार्यता से गुजरना पड़ा है। फलतः, उनके कतिपय प्रतीकों के अर्थ तो निश्चित हैं, किन्तु कतिपय प्रतीक अनिश्चित अर्थवत्ता के व्यंजक, अतएव आयास-ग्राह्य (जैसे : रात और दिन का चूहे के दाँत के रूप में प्रतीकीकरण) हो गये हैं। समष्टि-रूप में देखें, तो पूरी ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथायात्रा, प्रेम और वैराग्य-भावों के उद्योतक प्रतीकों का आकर है। इसी प्रकार, संस्मरण, औपम्य, सादृश्य और बिम्बमूलक प्रतीकों के भी निदर्शन ‘वसुदेवहिण्डी’ में प्राप्य हैं। इन प्रतीकों का विशद-गम्भीर अध्ययन स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध

का विषय है। यहाँ स्थालीपुलाकन्याय से ही कतिपय प्रतीकों का दिग्दर्शन उपस्थापित किया गया है।

निष्कर्ष:

रूप में यह ज्ञातव्य है कि 'वसुदेवहिण्डी' में सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीकों की दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्रियों के लिए प्रचुर अध्येतव्य सामग्री समाहित है। एक व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण 'वसुदेवहिण्डी' के सौन्दर्यशास्त्रीय या ललितकलामूलक सन्दर्भों को एक साथ ध्यान में रखकर उनका प्रामाणिक विवेचन करना दुस्साध्य सारस्वत साधना है। कहना न होगा कि **संघदासगणी** की महान् कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' भाषिक और साहित्यिक कला के चरम विकास के उत्तमोत्तम निदर्शनों का प्रशस्य प्रतीक है।

(ग) भाषा की संरचना-शैली एवं अन्य साहित्यिक तत्त्व

'वसुदेवहिण्डी' की कथाबद्ध भाषा सातिशय विलक्षण है। इस कथाग्रन्थ की भाषा काव्यभाषा के आस्वाद की समानान्तरता उपस्थित करती है। इसीलिए, इसकी भाषा काव्यभाषा की भाँति सहृदयों का ध्यानाकर्षण करती है। इसकी भाषा की संरचना-शैली अलंकृत है। वैदर्भी रीति में प्रसादगुण के साथ प्रायः छोटे-छोटे या नातिदीर्घ वाक्यों में पात्रों के सहज आलाप गुम्फित हैं। किन्तु, नख-शिख-वर्णन आदि सौन्दर्यमूलक प्रसंगों के लिए कथाकार ने अतिशय अलंकृत भाषा के प्रयोग में भी अपनी चूडान्त दक्षता का प्रदर्शन किया है। ऐसे अवसरों पर कथाकार ने काव्यशास्त्र के प्रायः सारे अंगों को अपनी गद्य-रचना का उपादान बनाया है। उनके गद्य के निबन्धन में प्राञ्जलता और प्रवाहशीलता, दोनों ही उदात्त गुणों का सहज समावेश हुआ है। फलतः उसमें शब्द, अर्थ और भाव—तीनों का आनुक्रमिक साहचर्य मिलता है। कथाकार ने 'वसुदेवहिण्डी' द्वारा केवल उत्कृष्ट भारतीय जीवन का ही चित्रण नहीं किया है, अपितु कथा को शाश्वतता प्रदान करनेवाली आदर्शमूलक भाषा का भव्यतम प्रतिमान भी प्रस्तुत किया है।

सहजता और सरसता 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा की ततोऽधिक उल्लेखनीय विशेषता है। यहाँतक कि समासबहुला गौड़ी शैली में निबद्ध अलंकृत गद्यांश की पदशय्या भी अपनी तरलता की मोहकता से आविष्ट कर लेनेवाली है। कथोचित लघुवाक्यों के अतिरिक्त शताधिक वर्णों वाले महावाक्यों का भी प्रयोग कथाकार ने किया है। पूरी 'वसुदेवहिण्डी' में सबसे बड़ा महावाक्य लगभग एक सौ ग्यारह वर्णों का प्रयुक्त हुआ है, जो इस प्रकार है:

'मंसगय-भिग-तुडिय-दीवसिह-जोइ-चित्तंग-चित्तरस-चित्तहारि-मणिगंग-गेहसत्थमत्थमाधू-तिलगभूयकिण्णकषपायवसंभवमहुरमयमज्जभायणसुइसुहसइणकासमल्लनयकारसातुरसभत्-भूसण-भवण-विकण-वरवत्थपरिभोगसुमणसुरमिहुणसेविए' (नीलयशालम्भ : पृ. १५७)।

इससे कुछ कम वर्णोंवाले महावाक्य भी हैं। जैसे : 'महु-मदिरा-खीर-खोदरससरिसविय-लपागडियतोय-पडिपुण्णरयणवरकणयचित्तसोमाणवावि-पुक्खरिणी-दीहिगाए' (तत्रैव); 'पक्की-लमाणतण्णगगिडिहुवरपाणुणइयगोवीजणमहुरगोयसागरगंभीरतरसणोवसुइज्जमाणत्थाणं' (बन्धु-मतीलम्भ : पृ. २६९) आदि।

संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार की तरल प्रांजल गद्यशैली परवर्ती बाणभट्ट की महत्कथाकृति 'कादम्बरी' की गद्यशैली की निश्चय ही अनुप्राणिका बनी होगी। कथाकार संघदासगणी की भाषा में निहित वर्ण-विन्यास की वक्रता ने अद्भुत नाद-सौन्दर्य की सृष्टि की है। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकारों एवं विभिन्न वृत्तियों और रीतियों के प्रयोग द्वारा कथाकार ने अनुपम वर्ण-चमत्कार का विधान किया है। वर्णों की चयन-मनोरमता, विविधता और श्रुतिपेशलता, साथ ही शब्दार्थ की पुंखानुपुंख योजना 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा की अपनी विशेषता है। इसके अतिरिक्त, कथाकार ने अनेक वर्णों की आवृत्ति से भाषा में प्रचुर अनुरणनात्मकता भी उत्पन्न की है।

'वसुदेवहिण्डी' की भाषा-संरचना में विविध वक्रताओं का मनोज्ञ-मंजुल समाहार हुआ है। जैसे 'विमउलवरपंकयसरिसनाभी' (१७६.४-५) में नाभि का सौन्दर्यसूचक सादृश्यमूलक शब्द 'पंकज' यदि पुलिंग है, तो 'नाभि' स्त्रीलिंग। इसी प्रकार, 'महद्दहावत्तवियरनाही' (३४९.६) एवं 'सलिलगुरुवारिधरणिणयहियहरमहुरवाणी' (३४०.१८) में सादृश्यमूलक 'महद्दह' (महाहृद) शब्द पुलिंग है, तो उपमेय 'नाभि' शब्द स्त्रीलिंग। पुनः दूसरे सौन्दर्य-चित्र के प्रयोग में सादृश्यसूचक उपमान 'गुरुवारिधर' शब्द पुलिंग है, तो उपमेय 'मधुरवाणी' स्त्रीलिंग। और फिर, 'तुसिणीया परिसा धिमियसागरो इव द्विया' जैसे सूचीपात नीरवता के सूचक प्रयोग में उपमान 'स्तिमितसागर' यदि पुलिंग है, तो उपमेय 'परिषद्' स्त्रीलिंग।

इस प्रकार, कथाकार ने अपनी भाषा को यत्र-तत्र लिंग-वैविध्य की वक्रता से भी विभूषित किया है। कुन्तक ने काव्यभाषा के विवेचन के सन्दर्भ में विशेषण-वक्रता का भी उल्लेख किया है। विशेषण-वक्रता में विशेषण के माहात्म्य द्वारा क्रिया अथवा कारक की रमणीयता प्रकाशित होती है। जैसे : 'सुरहिधूवगंधगन्धिषणं च पस्सामि दीवंमणिपरासियं विमाणभूयं पासायं' (पृ. २७९.२०-२१)। यहाँ प्रासाद के सुरभिधूपगन्धगंधी, दीपमणिप्रकाशित और विमानभूत विशेषणों के माहात्म्य से देखने की क्रिया में रमणीयता का उद्भावन हुआ है। इसी प्रकार, 'सारयससिदिणयराणुयत्तिणीहिं कंतिदिनीहिं समालिगियं' (पृ. ३४-५); 'पेच्छति य पुरओ हरियपत्त-पत्तल-साहं बहुस्त्वखोवसोहियं वणप्पएसं' (६७.२५); 'तम्मि य समए उवगतो माहणो धोयधवलबहुलंवरधरो कणियारकेसर-नियरगोर-समुवचियसरीरो' (२८०.१५-१६); 'कुसुमियअसोयपायवसंसिया मंदमारुयपकंपिया इव लया पणच्चिया' (१५५.२७); 'तुरियनिना-यमंगलसहाभिर्नदियाणि रायलंक्रियाणि उवगयाणि सण्णेज्झं वेयं' (२८०.२१-२२) आदि अनेकानेक विशेषण-वक्रताएँ 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा के वैशिष्ट्य-विभावन के सन्दर्भ में उदाहर्तव्य हैं।

संघदासगणी ने अपनी भाषा में कारक-वक्रता के भी अनेक प्रयोग किये हैं। जैसे : 'पाभाइए सीयलेणं वाएणं आसासिओ धम्मिल्लो' (३४.१)। यहाँ अचेतन शीतल प्रातर्वायु का आश्रस्त करने की क्रिया द्वारा चेतनवत् वर्णन हुआ है। अचेतन में चेतन का अध्यारोप कारक-वक्रता का लक्षण है। इस प्रकार, यह वक्रता उपचार-वक्रता (अमूर्त का मूर्तीकरण) तथा मानवीकरण से भी साम्य रखती है। कारक-वक्रता के कतिपय अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं : 'वाएण समाहओ मुच्छिओ ललियंगओ' (१०.५); 'तम्हा लोगदिट्ठी विसयाणुकूलवाइणी' (१५.४); 'उप्पाइयमा-रुयाहओ विण्णो सो पोतो' (१४६.१२); 'ततो जओ दाहिणो वाऊ अणुयत्तो भवइ ततो सो (वेत्तो) उत्तरं संखुभइ' (१४८.२१-२२); 'अतिच्छिया मे रयणी सुहेण पविचार-सुहसणाघा' (१८०.१२) आदि-आदि।

‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा में पुरुष-वक्रता का भी प्रयोग किया गया है। उत्तमपुरुष की जगह प्रथम पुरुष (अन्यपुरुष) को प्रयुक्त करके कथाकार ने अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न किया है। जैसे :

जो एस अज्जउत्तो जं जाणासि तं तहा इहं आणे ।

जइ नत्थि सो, इमा नत्थि एत्थ हु तुमंपि नत्थि ति ॥ (प्रियंगुसुन्दरीलम्भ : पृ. २९२)

प्रियंगुसुन्दरी गंगरक्षित महादौवारिक से वसुदेव को कन्या के अन्तःपुर में ले आने का आग्रह कर रही है : ‘वह जो आर्यपुत्र है, जिन्हें तुम जानते हों, उन्हें यहाँ ले आओ। यदि वह नहीं हैं, तो यह (प्रियंगुसुन्दरी) भी नहीं है और ऐसी स्थिति में तुम (गंगरक्षित) भी नहीं हो। अर्थात्, तब तुम्हारे लिए भी संकट उपस्थित होगा। यहाँ प्रियंगुसुन्दरी ने अपने लिए अहं (मैं) का प्रयोग न करके इमा (यह) का प्रयोग किया है, जिसमें कामजन्य असह्य दुःख की भावना की व्यञ्जना अभीष्ट है।

इसी प्रकार, ‘वसुदेवहिण्डी’ के ‘साहुसंदेसं पडिवालेभाणी अच्छामि’ (२२३.२१), ‘तम्मि देवे पडिबद्धरागा’ (२२३.१८) जैसे प्रयोगों के ‘पालयन्ती’ और ‘बद्धरागा’ शब्दों में ‘प्रति’ (प्रा. ‘पडि’) उपसर्ग लगाकर कथाकार ने साधु-सन्देश के विधिवत् पालन तथा देवता के प्रति एकान्त प्रेम या भक्ति की व्यञ्जना द्वारा शान्तरस को द्योतित करना चाहा है, इसलिए उन्होंने ऐसे प्रयोगों में उपसर्ग-वक्रता का आश्रय लिया है। पुनः रुक्मिणी के प्रति प्रद्युम्न की इस उक्ति, ‘माउए वि मे थणो न पीयपुक्खो ति’ (९५.१४), में कथाकार ने निपात, यानी अवयव या घटक उपादान से रहित अव्यय (‘वि’ = अपि) की वक्रता से काम लिया है। इससे वात्सल्यरस-बोधक यह अर्थ अभिव्यक्त होता है कि प्रद्युम्न ने पहले माँ का भी स्तन नहीं पिया था; क्योंकि जन्म लेते ही उसे पूर्व-वैरवश ज्योतिष्कदेव धूमकेतु उठा ले गया था। यहाँ प्रद्युम्न के मातृवियोगजन्य पूर्वानुभूत दुःख की अभिव्यञ्जना मर्म का स्पर्श करनेवाली है।

इस प्रकार, स्थाली-पुलाकन्याय से वक्रोक्ति-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में निदर्शित प्रसंगों से ‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा की ततोऽधिक समृद्धि का संकेत मिलता है। इतना ही नहीं, रस, ध्वनि, अलंकार, गुण, रीति आदि की दृष्टि से भी इस कथाकृति में अध्ययन के अनेक आयाम सुरक्षित हैं। यहाँ रीति की दृष्टि से कतिपय भाषिक प्रसंगों की विवेचना अपेक्षित होगी।

‘वसुदेवहिण्डी’ की भाषा में साहित्यिक दृष्टि से सभी गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद का समावेश मिलता है। वृत्तियों में भी यथाप्रसंग उपनागरिका, कोमला और परुषा का विनिवेश हुआ है। इन सब साहित्यिक और भाषिक वैशिष्ट्यों से समन्वित ‘वसुदेवहिण्डी’ में संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त रीति शरीर में आत्मा की तरह सन्निविष्ट है। साहित्याचार्यों द्वारा वर्णन की पद्धति या शैली या पद-संघटना ही रीति के रूप में अभिहित हुई है। कहना न होगा कि संघदासगणी के कथाग्रन्थ में भरत से विश्वनाथ तक के आचार्यों की रीति के स्वरूप परिलक्षणीय हैं। भरत (नाट्यशास्त्र : १४.३६) की दृष्टि से रीति का नाम ‘प्रवृत्ति’ है। तदनुकूल, कथाकार ने ‘वसुदेवहिण्डी’ में इस पृथ्वी के विविध देशों, वेश-भूषाओं, भाषिक प्रवृत्तियों, आचार्यों और वार्त्ताओं का समायोजन किया है। वामन (‘काव्यालंकारसूत्रवृत्ति’ : १.१.२) के द्वारा निर्धारित लक्षण के अनुसार देखें, तो कथाकार की शैली विशिष्ट गुणात्मक पदरचना से सातिशय रमणीयता का संवहन करती है। इसके अतिरिक्त, कथाकार की पद-संघटना गुणाश्रित होने के कारण रसोद्रेक की शक्ति से भी सम्पन्न है।

(आनन्दवर्द्धन : 'ध्वन्यालोक' : ३.५ की वृत्ति)। वाग्विन्यास की दृष्टि से भी कथाकार की रचना-रीति अतिशय विलक्षण है (राजशेखर : 'काव्यमीमांसा' : अ. १)। भोज के मत से, गत्यर्थ 'रीड्' धातु से 'रीति' शब्द निष्पन्न हुआ है ('सरस्वतीकण्ठाभरण' : २.५१) और नभिसाधु वर्णन की भंगी या विच्छित्ति को रीति कहते हैं (रुद्रट-कृत 'काव्यालंकारवृत्ति' : २.३)। तदनुकूल कथाकार की वर्णन-शैली में गतिशीलता तो है ही, वर्णन में भंगीगत विच्छित्ति भी है। विश्वनाथ ('साहित्यदर्पण' : १.१) की रीति-परिभाषा के अनुसार कथाकार की पद-संघटना कथाकृति की मनोरम अंगरचना की भौति हृदयवर्जक है।

'वसुदेवहिण्डी' में जहाँ साहित्यशास्त्रीय पांचाली रीति के माध्यम से कथा का वर्णन उपन्यस्त किया गया है, वहाँ कथाकार की भाषा में ईषत् समास (पाँच-छह पदों तक का समास) और ईषत् अनुप्रास से युक्त शिष्ट वाक्यों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। पद प्रायः पृथक् और प्रसिद्ध हैं, साथ ही कोमल वर्णों की भी अनुगुण योजना हुई है। जैसे :

(क) "आसी य इह पुरीए चिररुखरपरंपरागयो उभयजोणिविसुद्धे कुले जातो सेट्टी भाणु णाम समणोवासओ अहिगयजीवाजीवो साणुक्कोसो। तस्स तुल्लकुलसंभवा भद्दा नाम भारिया, सा उच्चपसवा पुत्तमलभमाणी देवयणमंसण-तवस्सिज्जणपूयणरया पुत्तस्थिणी विहरइ।" (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३३)

(ख) "इहं सोमदेवो राया पिउ-पियामहपरंपरागयरायलच्छीं पडिपालेइ। तस्स अग्गमहिंसी सोमचंदा नाम पगितिसोमवयणा। तेहिं दुहिया सोमसिरी कण्णा। तुब्भेहिं जीसे जीवियं दिण्णं, तीसे पिउणा सयंवरो दिण्णो। समागया य रायाणो, जे ताए कुल-शील-रुख-विभव-सम्पया।" (सोमश्रीलम्भ : पृ. २२२)

साहित्यशास्त्र में परिभाषित वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर कथाकार ने जहाँ जिस अंश को उपन्यस्त किया है, वहाँ उसमें उन्होंने प्रायः असमस्त पदों का प्रयोग किया है। समास की जब भी आवश्यकता हुई है, तब दो-तीन पदों तक को ही समस्त रूप में प्रस्तुत किया है। रसपेशलता और श्रुतिमाधुर्य तो इस रीति की अपनी अनन्य विशेषता है ही। दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(क) "ततो संवरियदुवारे वासधरे कुसुमेहिं सेतेहिं का वि देवया धविवा णाए, कयमच्चणं। सुमणसा य उवगया णिसाए, ततो मं भणति—अज्जउत्त! अरिहह देवयासेसं भोदगा उवणीया। ते मया तीसे अणुमएण वयणे पक्खित्ता। तेहिं मे निव्वातं सरीरं, ठितो मणोसहावो। ततो मज्जभरियं मणिभायणं उक्खित्तं—पिब त्ति। मया भणिया—पिए! न पिबामि मज्जं गुरूहिं अणुणुणायं ति। सा भणति—न एत्थ नियमलोवो गुरूवयणाइक्कमो वा देवयासेसो त्ति, पिबह मा मे नियमसमतीए कुणह विण्णं, कुणह पसायं, अलं विचारेण।... निहागममयपरिवड्डीए सुमिणमिव पस्समाणो एसुत्तो म्हि।" (वेगवतीलम्भ : पृ. २२६)

(ख) "देव अहं गतो गिरित्ठं, दिट्ठो य मया सो पुहवितलतिलओ मणस्स अच्चेरवभूओ. विज्जासाहणववएसेण य निणीओ गामाओ पक्खयकइयसंसिए य पएसे. विमाणं जंतमयं रज्जु-पडिबद्धं विलइओ राओ. ततो णं गगणगमणसंतियं निस्संदं नेमो. विभाए च नाऊण 'हीरामि' त्ति पलाओ, महत्तज्जवो न सक्किओ गहेइ।" (कपिलालम्भ : पृ. १९९)

कथाकार संघदासगणी ने अपनी रचना-प्रक्रिया के क्रम में भाषा-शैली का प्रयोग करते समय साहित्यिक अनुशासन का प्रायः सतर्कतापूर्वक पालन किया है। उनकी भाषा में 'अस्थाने प्रयोग'

जैसी दुर्बलता, बहुत ढूँढ़ने पर भी, कदाचित् ही मिले। इसलिए, विषय और प्रसंगवश उन्होंने गौडी रीति का भी सफल प्रयोग किया है। इसमें उन्होंने साहित्यशास्त्रोक्त विधि के अनुसार यथाशक्ति अत्यधिक दीर्घ समास तथा ओज और कान्तिगुणों से युक्त वाक्यों का प्रयोग किया है। कठोर और लम्बे-लम्बे पद महाप्राण वर्णों से रचे गये हैं। कथाकार द्वारा प्रयुक्त इस शैली में अर्थप्रौढि और बन्धगाढता देखते ही बनती है। एक-दो निदर्शन:

(क) “अहवा ओहिविसएण पस्सिअण परोप्परं पुक्खजम्भसुमरियवेराणुसया य पहरणाइं सुल-लउड-भिडमाल-णाराय-मुसलादीयाणि विउरुव्विअण पहरंति एक्कमेक्कं... वहए य फरुसवयणेहिं साहयंता दुक्खाइं दुड्ढा कोहुत्तयकूलसामलितिकखलोहकंटयसभाउलं कलकलेंता कलुणं विलवंति।” (बन्धुमतीलम्भ : पृ. २७१)

(ख) “वड्डमाणं तं पस्सिअण भयविसंदुला अंतरा सिलत्तालाणि पव्वयसिहराणि महेते पायवे पहरणाणि य खिवंति। ताणि य हुंकाराणिलसमुद्धयाणि सभंतओ पणिवयंति। तं च अदिट्ठपुव्वं महाब्बोदिं पस्समाणा किण्णर-किंपुरिस-भूय-जक्ख-रक्खस-जोइसांलया महोरगा भीय-हित्थपत्थिया विलोलणयणा गलियाभरणा अछरासहाया ‘को णु मो? कथ पत्थिओ? किं च काउकामो?’ ति काथरा विरसमालंवता परोप्परं तुरियमुव्वहंता, तेहि य वेवंतसव्वगत्तेहिं संचारिमो मंदरो व्व विम्भियमुहेहिं खहचरेहिं दिस्समाणो खणेण जोयणसवसहस्ससमूसिततणू जातो।” (गन्धर्वदत्तालम्भ : पृ. १३०)

(ग) “पेच्छामो य पंथमि ठियं पुरतो, अंजणपुंजनिगरप्पयासं, निस्सालिय-जमलजुयल-जीहं, उक्कड-फुड-वियड-कुडिल-कक्खड-वियडफडाडोवकरणदच्छं, तिभागूसियसरिं, महा-भोगेनागं। . . . पेच्छामो य अपरितंतकयंतनिव्वडियदुक्खं, पुरतो पलंबंतकेसरसदं, महल्लविफालियनंगूलं, रत्तुप्पलपत्तन्धिरनिस्सालियग्गजीहं, आंभगुर-कुडिल-तिक्खदादं, ऊसवियदीहंनंगूलं, अइभीसणकरं वग्गं।” (धम्मिल्लहिण्डी : पृ. ४५)

इस प्रकार के उदाहरणों से कथाकार संघदासगणी की रीति-रमणीय रचना-प्रतिभा का प्रौढ प्रमाण उपलब्ध होता है। प्रभाव के अनुसार, कथाकार ने कोमल, कठिन और मिश्र तीनों प्रकार की रीतियों की प्रयोगदक्षता का पुष्ट परिचय प्रस्तुत किया है। कहना न होगा कि संघदासगणी शब्दसागर के पारगामी कथाकार हैं। इसलिए, उन्होंने भाषा में सहज सम्प्रेषणीयता उत्पन्न करने में अभूतपूर्व सफलता अर्जित की है। उनकी भाषा की सम्प्रेषणीयता में ही प्रासंगिकता के शाश्वत आयाम सुरक्षित हैं। भाषा की सम्प्रेषण-शक्ति की सही पहचान के कारण ही उनकी शब्दचयन-पद्धति में विलक्षणता का विन्यास परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त, वाणी को प्रभावपूर्ण और सम्प्रेषण की क्रिया को तीव्र करने के लिए यथापेक्षित प्रचलित प्रयोग की परम्परा से हटकर नये प्रयोगों के प्रति भी कथाकार का आग्रह सजग हुआ है।

उदाहरण के लिए, साहित्यिक वर्णन में, नीली आँखों की ही अधिकतर चर्चा हुई है, किन्तु संघदासगणी ने सफेद आँखों को ही सौन्दर्य का उपादान या प्रतिमान स्वीकृत किया है। जैसे: ‘सभमरपोंडरीयपलास (पुण्डरीकपलाश : श्वेतकमलदल)-लोयणो’ (२८०.१-२); ‘पुंडरियविधसिय-नयणो’ (१६२.२); ‘सेधपुंडरीकोपमाणि लोयणाणि’ (३५३.१२-१३); ‘निरंजणविलासधवलनयणा’

(३५१.२१) आदि। इसी प्रकार कपाट से वक्षःस्थल के सादृश्य-निरूपण की परम्परा रही है, किन्तु संघदासगणी ने मणि की चट्टान से सादृश्य-प्रदर्शन किया है। जैसे : 'पवरमणिसिलातलोवम-विसालवच्छो' (२०४.१९); 'मणिसिलायलोवमाणवच्छस्थलो' (२८०.२) आदि। कवि-प्रसिद्धि है कि चम्पक पर भौर नहीं जाते, इसलिए चम्पक-पुष्प पर भौरों के गुंजन करने का वर्णन प्रायः परम्परा-प्रचलित नहीं है ('चम्पकेषु भृङ्गा न गच्छन्ति इति श्रुतिः')। किन्तु, संघदासगणी ने प्रमरी द्वारा पुष्पित चम्पक-पादप के आदरपूर्वक सेवन किये जाने का वर्णन किया है। जैसे : 'सा विसेसेण सेवइ मं आयेरेण पुण्फियमिव चंपयपाव्वं भभरी' (३५८.२६)। संघदासगणी ने सेतु के लिए 'संगम' शब्द का व्यवहार किया है। रामायण के प्रसंग में कथाकार ने लिखा है : 'तत्थ य पव्वदंतसमुद्दमज्झगयं, संधिम्मि संगमो बद्धो' (२४४.११)।

'वसुदेवहिण्डी' की भाषा-शैली आगमिक भाषा-शैली के समान लयात्मक (रिथ्मिकल) और सहजप्रवाहमयी है, साथ ही जनसमूह में पढ़कर सुनाने के अभिप्राय से कथाकार ने अपनी भाषा को वक्तृता-शैली ('ऑरेटोरिकल स्टाइल') में उपस्थापित किया है।

सूक्ति-चमत्कार :

वर्णन में चमत्कार उत्पन्न करने के निमित्त सूक्तियों का प्रयोग प्राचीन कथा-परम्परा की उल्लेखनीय विशेषता रही है। 'वसुदेवहिण्डी' प्राचीन लोकवृत्ताश्रयी प्रेमाख्यान होने के कारण, सहज ही नैतिक शिक्षा का निरूपण करती है। नैतिक शिक्षा सहज ही सूक्तिबहुल होती है। संघदासगणी ने अपनी पद्यगन्धी भाषा में कथा-चमत्कार उत्पन्न करने की दृष्टि से नैतिक प्रसंगों के बीच सरस सूक्तियों का मनोहारी गुम्फन किया है, जैसे नीलकमलों के बीच लाल कमल खिले हों।

संघदासगणी ने कथा-वर्णन के क्रम में प्रेम, उपदेश, नीति, दृष्टान्त आदि विभिन्न विषयों का बोध करानेवाली अनेक सूक्तियाँ रची हैं, जिनमें कथाकार की निजी अनुभूतियों का उत्कृष्ट उद्भावन हुआ है। कतिपय सूक्तियाँ 'वसुदेवहिण्डी' से यहाँ उद्धृत हैं:

१. जो वा सचक्खुओ उदिए सूरिए मूढयाए निमीलियलोचणो अच्छति तस्स निरत्थओ आइच्चोदयो । (५२४-२५)

(जो नेत्रवान् व्यक्ति सूर्य के उगने पर मूढतावश अपनी आँखों को बन्द किये रहता है, उसके लिए सूर्योदय निरर्थक है।)

२. परस्स अदुक्खकरणं धम्मो । (७६.५)

(दूसरे को दुःख से मुक्त करना ही धर्म है।)

३. रायाणो भज्जायारक्खणत्ता । (९१.१०)

(राजा मर्यादा के रक्षक होते हैं।)

४. जा किर इत्थिया भत्तुणो ण ब्भुमया तीसे अन्नच्चाणि मंदस्सुवाणि णित्तेयाणि भवंति ।

जा पुण वल्लभा तीसे भत्तारस्सरिस्सुवगुणाणि । (९७.५-६)

(जो स्त्री, अपने पति की अधिक प्यारी नहीं होती, उसकी सन्तानें कुरूप और निस्तेज होती हैं, और जो प्यारी होती है, उसकी सन्तानें उसके पति के ही समान रूप और गुणवाली होती हैं ।)

५. सीह्रस दंता केण गणेष्व्वा ? (१०७.८)

(सिंह के दाँतों को कौन गिन सकता है ?)

६. आभरणवाणमपत्तं रयणं विणासिचं होइ । (१३२.३०)

(जो रत्न आभरण की जगह नहीं लेता, वह नष्ट, अर्थात् निर्मूल्य हो जाता है ।)

७. डक्काहे सिरी वसति, दरिहो य मयसभो, सयणपरिभूओ य धी जीवियं जीवइ ।

(१४५.२४-२५)

(उत्साह में श्री का निवास होता है, दरिद्र तो मृतवत् होता है, फिर स्वजन से अपमानित व्यक्ति तो धिक्कारपूर्ण जीवन जीता है ।)

८. सुहे जो न मज्जति दुक्खे य जो न सीयति सो पुरिसो, इयरो अवयरो । (२४९.८-९)

(जो न तो सुख में ही मग्न होता है और न दुःख में ही छटपटाता है, वही पुरुष है, उससे इतर तो अधम है ।)

तुल. : दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (गीता २.५६)

९. जहा कोइ अण्णाणदोसेण अंगुलिं पलीवेउं परं ड्हेउकामो पुण अप्पाणं ड्हेइ ।

(२६३.४)

(अगर कोई अज्ञता या दोषवश दूसरे को जलाने की मंशा से अपनी उँगली जलाता है, तो वह फिर अपने को ही जला डालता है ।)

१०. जीएण वि कुणइ पियं भित्ति । (२९१.९-१०)

(मित्र अपना जीवन देकर भी भलाई करता है ।)

११. होति तिवग्गमि पुणो, संखेवेण य तिहा भवे पुरिसा ।

भित्ता सत्तूय तहा, मज्झत्था चेव ते तिन्नि ॥ (२९१.१-२)

(तीन वर्गों की दृष्टि से, पुरुष तीन प्रकार के होते हैं: मित्र, शत्रु और मध्यस्थ ।)

१२. रयणाणि रायगामीणि । (२१२.७)

रायगामीणि रयणाणि । (३२५.११)

(रत्न राजा के लिए होते हैं, अर्थात् रत्न राजा को ही शोभा देते हैं ।)

१३. पायसेसु घयधाराओ पलोद्वाओ, उज्जमेसु सिद्धिओ संधियाउ ति । (३१४.२१-२२)

(खीर या पायस में घी की धाराएँ गिरें और उद्यम में सिद्धियाँ आ मिलें ।)

१४. जम-कुबेरसरिसा राधाणो कोवे पसादे य । (३५४.३-४)

(राजा क्रुद्ध होने पर यम के समान और प्रसन्न होने पर कुबेर के समान हो जाते हैं ।)

१५. पुरिसा बलसोहिया कइयविद्या अकयण्णू । (३५२.११-१२)

(बलवान् या समर्थ पुरुष प्रायः धूर्त और अकृतज्ञ होते हैं ।)

१६. इत्थिजणो खोवहियओ अगणियकज्जा-उकज्जो अदीह्दरिसी । (३६३.२)

(स्त्रियाँ छोटे, यानी संकीर्ण हृदयवाली, अनगिनत कार्य-अकार्य करनेवाली और अदीर्घदर्शी होती हैं ।)

१७. सयत्थ नाणं परित्ताणं । (१३.३०)

(सर्वत्र ज्ञान ही परित्राण करता है ।)

१८. जीवंतो नरो भइ पस्सइ । (२४७.२१)

(जीवित मनुष्य ही कल्याण देखता है ।)

तुल : जीवन्नरो भद्रज्ञानि पश्येत् । (हितोपदेश)

निष्कर्ष :

इस प्रकार, संघदासगणी ने अपने कथाग्रन्थ में अनेक प्रकार की सार्वभौम मूल्यपरक सूक्तियों द्वारा लोकवृत्तानुकूल उपदेशों तथा ऐहिक जीवन को सुखी बनानेवाले सिद्धान्तों का चामत्कारिक ढंग से निबन्धन किया है। यद्यपि इन सूक्तियों का कथावस्तु के साथ अन्तरंग सम्बन्ध है, तथापि इनका अपने-आपमें स्वतन्त्र महत्त्व भी स्पष्ट है।

कुल मिलाकर, भाषिक संरचना एवं साहित्यिक तत्त्वों के विनियोजन की दृष्टि से 'वसुदेव-हिण्डी' की विशेषता की इयत्ता नहीं है। अतएव, इस बृहत्कथा-कल्प ग्रन्थ को ज्ञान, शिल्प, विद्या और कला का समुच्चय प्रस्तुत करनेवाला शास्त्र कहा जायगा, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वस्तुतः, इस कथाग्रन्थ की कामदुधा भाषा में विनिर्मित साहित्य-निधि में भारतीय जीवन, संस्कृति और कला-चेतना की समस्त गरिमा एक साथ समाहित हो गई है, जिसके ऐन्द्रिय सौन्दर्य-बोध में अतीन्द्रिय परमानन्द या संविद्रश्रान्ति की महानिधि का साक्षात्कार होता है।

उपसमाहार

यथाप्रस्तुत विवेचन-विवरण से यह नितरां स्पष्ट है कि कथाशास्त्रीय चेतना के अद्वितीय अधिकारी विद्वान् कथाकार आचार्य संघदासगणी ने अपनी महनीय कथाकृति 'वसुदेवहिण्डी' भारतीय प्रज्ञा के प्रायः प्रत्येक पक्ष को आत्मसात् किया है। इस ग्रन्थ के द्वारा 'यत्रेहास्ति न तत्त्वचित्' उक्ति को अक्षरशः अन्वर्थता देनेवाले क्रान्तद्रष्टा कथाकार ने भारतीय कथाशास्त्र के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करने के साथ ही कथा का सार्वभौम स्वरूप उपस्थापित किया है। फलतः, इस कथाग्रन्थ में कथा-पद्धति का एक समन्वित रूप प्रखर पाण्डित्य के धरातल पर उपन्यस्त हुआ है।

कथा-विवेचन की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' का अध्ययन भारतीय कथाक्षेत्र में एक नये क्षितिज का निर्देश करता है। कहना न होगा कि इस विशाल कथाकृति में चिन्तन के अनेक आयाम भरे पड़े हैं। इसलिए, कथा के आलोचकों के लिए प्रस्तुत महत्कथा का मनन और मीमांसा अनिवार्य है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' की परम्परा में लिखे गये इस ग्रन्थ के अध्ययन के बिना 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', 'बृहत्कथामंजरी' तथा 'कथासरित्सागर' का अध्ययन अधूरा ही रहेगा। 'वसुदेवहिण्डी' की विशेषता इस अर्थ में है कि यह ग्रन्थ पूर्ववर्ती समस्त भारतीय संस्कृति और साधना के तत्त्वों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से लिखा गया है।

'वसुदेवहिण्डी' इतिहास और कल्पना का अद्भुत मिश्रण है। इतिहास, कथाकार की निजी अनुभूति और कल्पना पर आधृत होता है। इसलिए, इस महान् ग्रन्थ को इतिहास से अधिक ऐतिहासिक तथ्यजन्य कल्पना का कथात्मक प्रतिरूप कहना अधिक उपयुक्त होगा; क्योंकि इसमें स्थूल ऐतिहासिकता की अपेक्षा कथाकार की अनुभूति और कल्पना की आत्मपरक अभिव्यक्ति ही अधिक उपलब्ध होती है।

प्रस्तुत प्राकृत-निबद्ध कथाग्रन्थ सम्पूर्ण भारतीय कथाक्षेत्र में अपनी महनीयता के लिए उल्लेख्य है। प्राकृत जैनकथा-साहित्य का तो यह भास्वर स्वर्णशिखर ही है। महाभारतोत्तर भारतीय कथा-साहित्य के आदिस्त्रोत के रूप में गुणाढ्य (ई. प्रथम शती) की पैशाची-भाषा में निबद्ध बडुकहा ('बृहत्कथा') का अवतरण साहित्य-जगत् के लिए निश्चय ही एक अभूतपूर्व घटना है। दुर्भाग्यवश, 'बडुकहा' की मूलप्रति का विलोप तो हो ही गया, उसकी प्रतिलिपि की भी कहीं कोई चर्चा नहीं मिलती। कतिपय अन्तस्साक्ष्यों के अनुसार, यह कहने का आधार प्राप्त होता है कि बुधस्वामी (ई. द्वितीय शती)-कृत 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', 'बडुकहा' का ही ब्राह्मण-परम्पराश्रित संस्कृत-रूपान्तर है और संघदासगणी (ई. द्वितीय या तृतीय-चतुर्थ शती : आगम-ग्रन्थों का संकलन-काल) द्वारा रचित 'वसुदेवहिण्डी' श्रमण-परम्पराश्रित प्राकृत-रूपान्तर। कालनिर्णय-परक सुदृढ़ साक्ष्य के अनुपलब्ध रहने की स्थिति में, बहुशः कथासाम्य की दृष्टि से यह निर्णय करना कठिन प्रतीत होता है कि 'वसुदेवहिण्डी' तथा 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', इन दोनों में कौन किसका आधारोपजीव्य है।

'वसुदेवहिण्डी' के चौथे नीलयशालम्भ (पृ. १६५) में कथाकार ने लिखा है कि मन्दर, गन्धमादन, नीलवन्त और माल्यवन्त पर्वतों के बीच बहनेवाली शीता महानदी द्वारा बीचोबीच विभक्त उत्तरकुरुक्षेत्र बसा हुआ था। शीता महानदी समुद्र के प्रतिरूप थी। कथा (कथोत्पत्ति :

पृ. २३) है कि पुष्कलावती-विजय की पुण्डरीकिणी नगरी के चक्रवर्ती राजा वज्रदत्त की रानी यशोधरा को जब समुद्र में स्नान करने का दोहद उत्पन्न हुआ, तब राजा बड़ी तैयारी के साथ समुद्र जैसी शीता महानदी के तट पर पहुँचा। रानी यशोधरा ने उस महानदी में स्नान करके अपने दोहद की पूर्ति की।

पुनः तीसरे गन्धर्वदत्तालम्भ में भी कथाकार ने इसी प्रकार की एक कथा लिखी है: पुराकाल में चम्पानरेश राजा पूर्वक अपनी रानी के समुद्रस्नान के दोहद की पूर्ति के लिए युक्तिपूर्वक प्रवाहशील जल से परिपूर्ण सरोवर का निर्माण कराया और उसे ही समुद्र बताकर रानी को दिखलाया। रानी ने उसमें स्नान करके अपनी दोहद-पूर्ति की और पुत्र प्राप्त करके वह प्रसन्न हुई। तब से रानी अपने मनोविनोद के लिए पुत्र और पुरवासियों के साथ सरोवर के पार्श्ववर्ती सुरवन की यात्रा करती रही और उसी यात्रा का अनुवर्तन बहुत दिनों तक होता रहा।

दोहद-पूर्ति के लिए रानी के समुद्रस्नान से सम्बद्ध एक कथा बुधस्वामी ने भी 'बृहत्कथाश्लोक-संग्रह' (१९.२३-२७) में उपन्यस्त की है: चम्पा में अनुकूल पत्नीवाला एक राजा रहता था। उसने जब दोहद के विषय में पूछा, तब उसकी लज्जाशीला पत्नी बोली: 'मैं आपके साथ मगर, घड़ियाल, कैंकड़े, मछली, कछुए आदि से भरे समुद्र में क्रीडा करना चाहती हूँ।' अनुल्लङ्घनीय आज्ञावाले राजा ने शीघ्र ही मगध और अंगवासियों द्वारा (अनुमानतः अंगवाहिनी गंगा या संघदासगणी द्वारा उल्लिखित चन्द्रा) नदी को बँधवाकर समुद्र के समान विस्तृत सरोवर का निर्माण कराया। उसमें यन्त्रचालित लकड़ी के मगर आदि जलजन्तु भर दिये गये और विमानाकार जलयान पर सवार होकर उन दोनों (राजा और रानी) ने उस कृत्रिम समुद्र में विहार किया। उसी समय से राजा ने कोकिलों से कूजित दिनों, अर्थात् वसन्तकाल में (प्रतिवर्ष) वहाँ यात्रा की प्रथा का प्रवर्तन किया।

'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' का यह प्रसंग 'वसुदेवहिण्डी' के प्रसंग का सुधारा हुआ या संशोधित रूप प्रतीत होता है। नदी में समुद्र की प्रतीति नहीं हो सकती; क्योंकि नदी प्रायः प्रवहमाण होती है, जब कि सागर का तट स्थिर होता है। अतः, विशाल हृद या झील में ही सागर की प्रतीति की सम्भावना अधिक है। इस प्रकार, 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' द्वारा किये गये भ्रम-संशोधन के आधार पर इस कथाग्रन्थ की 'वसुदेवहिण्डी' से परवर्तिता भी सिद्ध होती है। यद्यपि मन्दप्रवाहवाली झील या हृद की कल्पना संघदासगणी ने भी की है: ('अहमवि निराधारो पडिओ हरए। तं च सलिलं मंदवहं'; (रक्तवतीलम्भ : पृ. २१७, पं. २८)। कहना न होगा कि वर्णन-वैविध्य और प्रसंग-योजना की निपुणता की दृष्टि से बुधस्वामी और संघदासगणी दोनों ही अतिशय दक्ष और सतर्क कथाकार प्रमाणित होते हैं। इसलिए, दोनों में से किसी की भी कथाबुद्धि को भ्रान्त कहना संगत नहीं होगा। जिस प्रकार, काव्य के क्षेत्र में कालिदास और अश्वघोष की पूर्वापरवर्तिता विवादास्पद बनी हुई है, उसी प्रकार बुधस्वामी और संघदासगणी की पूर्वापरवर्तिता के प्रसंग में विभिन्न मनीषियों का ऐकमत्य सहज सम्भव नहीं है। किन्तु, इतना तो निर्विवाद है कि ये दोनों ही कथाकार भारतीय स्वर्णकाल के कथाकारों में मूर्द्धन्य स्थान के अधिकारी हैं।

'वसुदेवहिण्डी' भारतीय संस्कृति के महासरोवर में खिला हुआ सहस्रदल कमल के समान है। इसलिए, इसमें पौराणिक कथाएँ, पारम्परिक विद्याएँ, राजनीति, राजनय और शासनतत्त्व, अर्थ-व्यवस्था, लोकजीवन, समाजतत्त्व और समाजरचना, ज्योतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद,

प्रेम, सौन्दर्य-बोध, जीवन-सम्भोग, भौगोलिक और ऐतिहासिक तत्त्व, दार्शनिक मतवाद, साधु-जीवन आदि विभिन्न सांस्कृतिक विषयों के अतिरिक्त, तत्त्वत्यासत्या ललित कलाओं का भी सांगोपांग निरूपण किया गया है।

भाषा-शैली और साहित्य-सौन्दर्य की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' के गद्यशिल्प की द्वितीयता नहीं है। कथाकार ने यथाप्रसंग अलंकृत गद्य की भी सृष्टि की है, जो बाणभट्ट की गद्यरीति का आदिस्त्रोत प्रतीत होता है। इस प्रकार, यह कथाग्रन्थ वैभवशाली बृहत्तर भारत की सभ्यता, संस्कृति और साधना; समाज और राजनीति एवं व्यापार और अर्थनीति आदि विषयों की विशाल महानिधि है। इसमें तत्कालीन भारतीय समाज के आध्यात्मिक उत्कर्ष और भौतिक समृद्धि का हृदयावर्जक चमत्कारी प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है।

'वसुदेवहिण्डी' के कथालेखक ने अपनी रचना-प्रक्रिया से यह सिद्ध कर दिया है कि उस युग में कथा की रचना-प्रक्रिया कथ्य तथा शिल्प की दृष्टि से पर्याप्त विकसित थी। इसकी गल्पशैली इतनी रमणीय है कि अबुद्ध कथाप्रेमियों को कथा के अन्तस्तल में प्रवेश करने के लिए बौद्धिक व्यायाम नहीं करना पड़ता, अपितु कथाशास्त्र के आचार्यों के शब्दों में, इसकी कथा ऐसी नई वधू की भाँति प्रतीत होती है, जो अनुरागवश स्वयं शय्या पर चली आती है। इससे इस कथाग्रन्थ का भावात्मक सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीकाश्रित पदशय्या का माधुर्य स्वतः स्पष्ट है।

कहना न होगा कि दिव्य भावों के भव्य विनियोग से परिपूर्ण तथा अनुदात्त जीवन को उदात्तता की ओर प्रेरित करनेवाली 'वसुदेवहिण्डी' कथा के क्षेत्र में ललित गद्य का अप्रतिम प्रतिमान उपस्थित करती है। कुल मिलाकर, शलाकापुरुष कृष्णपिता वसुदेव की आत्मकथापरक यह गद्यकृति जनजीवन से अनुबद्ध लौकिक कथाओं को अलौकिक भूमिका प्रदान करनेवाली कथा-सरिताओं से निर्मित महान् कथासागर है।

यथाप्राप्य अपूर्ण 'वसुदेवहिण्डी' का कथा-विस्तार अट्हाईस (बीच के दो लम्बों के लुप्त हो जाने से छब्बीस) लम्बों में किया गया है। 'वसुदेवहिण्डी' की ही लम्बबद्ध संरचना-प्रणाली का उत्तरवर्ती विकास ग्यारहवीं-बारहवीं शती में, 'बृहत्कथामंजरी' तथा 'कथासरित्सागर' की लम्बकबद्ध रचना-पद्धति में मिलता है। इस प्रकार, परवर्ती संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश-कथासाहित्य के आधारदर्श के रूप में 'वसुदेवहिण्डी' का अधिक मूल्य है।

'वसुदेवहिण्डी' के माध्यम से, ब्राह्मण-परम्परा और जैनश्रमण-परम्परा की कथाशैलियों में स्पष्ट अन्तर भी परिलक्षित होता है। श्रमण-परम्परा में ब्राह्मण-परम्परा के पौराणिक-ऐतिहासिक तत्त्वों के पुनः संस्कार की ओर अधिक आग्रह है। वैदिक सम्प्रदाय में भी शाप और वरदान की परम्परा है। किन्तु, नैतिक दृष्टि से इसका मूल्यांकन न करके इसे ऋषियों का सामर्थ्य और अधिकार मान लिया गया है। भले ही, उसके पीछे नीति की भावना हो, या अनीति की।

वैदिक परम्परा में, ऋषियों के आचरण में संयम की वह कठोरता नहीं है, जो श्रमण मुनियों के चरित्र में दृष्टिगत होती है। इसके अतिरिक्त, वैदिक ऋषि, शाप या वरदान का प्रयोग परोपकार और लोक-कल्याण की अपेक्षा अधिकतर अपनी वैयक्तिक कामनाओं और लालसाओं की पूर्ति के हेतु ही करते दिखाई पड़ते हैं, फिर भी उनके आचरण में न कोई कलंक लगता था और न उनकी प्रतिष्ठा को आघात पहुँचता था। किन्तु, श्रमण मुनियों को, तनिक भी चारित्रिक स्खलन

होने पर उसका उचित प्रायश्चित्त भोगते हुए दिखाया गया है। निष्कर्ष यह कि वैदिक परम्परा में एक की कार्य-कारण-शृंखला दूसरे के द्वारा प्रदत्त शाप और वरदान के आधार पर अवलम्बित है, और श्रमण-परम्परा में स्वकृत पाप-पुण्य पर। स्वकृत पुण्य-पाप के फलभोग का सिद्धान्त जैन विचारधारा को दैववादी वैदिक धारा से सर्वदा पृथक् सिद्ध करता है।

इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण-परम्परा में ईश्वर-कर्तृत्व को वैयक्तिक कर्मफल-भोग से जोड़ा गया है, किन्तु जैन परम्परा में मानव के स्वकृत कर्म की ही प्रधानता का प्रतिपादन किया गया है। इसमें ईश्वर-कर्तृत्व का कोई स्थान नहीं है। कर्मफल की शृंखला प्रत्येक जीव के साथ अनादि काल से चल रही है और यह तबतक चलती रहेगी, जबतक जीव सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-रूप रत्नत्रय की प्राप्ति द्वारा नये कर्मबन्ध को रोककर संचित कर्मों की निर्जरा नहीं कर डालता। कर्मों का निर्जरा (निर्मूलन) से ही जीव परमात्मत्व को प्राप्त करता है, जो अनन्तज्ञानसुखात्मक है। परमात्मत्व की प्राप्ति ही मोक्ष है और वही जीव का परम लक्ष्य है। कर्मानुबन्ध के आधार पर जीवों के उत्थान-पतन को दरसने के लिए उनके अनेक जन्मान्तरों के विवरणों को उपस्थित करना श्रमण-परम्परा की एक अंकनीय विशेषता है। इस प्रकार, ब्राह्मण-परम्परा और श्रमण-परम्परा के सैद्धान्तिक पार्थक्य-बोध की दृष्टि से भी 'वसुदेवहिण्डी' की कथाओं का ध्यातव्य महत्त्व है।

साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से ब्राह्मण और श्रमण-परम्पराओं की साहित्यिक कृतियों के कलापक्ष की समानान्तरता रही है। फिर भी, ब्राह्मण-परम्परा का कलोद्देश्य जहाँ अधिकांशतः प्रवृत्त्यात्मक है, वहाँ श्रमण-परम्परा का निवृत्त्यात्मक। साहित्य और कला-स्थापत्य की दृष्टि से दोनों परम्पराओं में सौन्दर्य और जीवन-सम्भोग के चित्र उपस्थित किये गये हैं। यौवनस्फीत विलासिनियों, वारांगनाएँ, जलविहार, आसवपान, मनोहारी वाद्य, नृत्य और नाट्याभिनय, कामरतिरसायन का उपभोग आदि जीवन के विविध मार्मिक पक्षों का चित्रण दोनों परम्पराओं में समान भाव से मिलता है, किन्तु जीवन के भोगोपभोगों और आमोद-प्रमोदों के साथ जीवन-मूल्यों की व्याख्या निबद्ध करके मानव-जीवन को प्रवृत्तिमार्ग से निवृत्तिमार्ग की ओर मोड़ने की प्रयोजन-सिद्धि ही श्रमण-परम्परा का, ब्राह्मण-परम्परा से भिन्न, मूल स्थापत्य है। और, यही अभिनव स्थापत्य संघदासगणी ने अपनी महत्कृति 'वसुदेवहिण्डी' द्वारा सम्पूर्ण कथा-साहित्य को भेंट किया है।

'वसुदेवहिण्डी' में चित्रित सामन्त, राजे-महराजे, माण्डलिक, विद्याधर, चक्रवर्ती प्रभृति सभी पात्र घोर शृंगार में आमग्न दिखाये गये हैं और फिर वे ही किसी एक छोटे से निमित्त को प्राप्त कर या फिर साधु-उपदेश या जाति-स्मरण या अवधि-ज्ञान हो आने पर विरक्त हो जाते हैं, उन्हें विलास-वैभवपूर्ण जीवन्मोक्षभोग नीरस-निरर्थक प्रतीत होने लगता है। फलतः, वे सांसारिक विषय-वासना को पटान्त-लग्न तृण के समान त्याग देते हैं और श्रामण्य स्वीकार कर आश्रम या वन की ओर प्रस्थान करते हैं। वहाँ वे वीतरागता धारण कर देवत्व और मुक्ति के लिए सचेष्ट हो जाते हैं। पात्रों का, इस प्रकार का गुणात्मक परिवर्तन कथा-साहित्य के लिए एक नवीन कथा-चेतना है।

'वसुदेवहिण्डी' में ऋषि-मुनियों के अभिशाप और वरदान, कर्म-शृंखला के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। अवसर-विशेष पर उपवन या चैत्य या नगर के बाहर किसी उद्यान में मुनिराज का पदार्पण

होता है, राजा या विद्याधर या सार्थवाह या वणिक्-श्रेष्ठी पुरजन-परिजन-सहित मुनि की वन्दना के लिए जाते हैं। वन्दना के अनन्तर वे मुनिराज से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाने का आग्रह करते हैं। मुनिराज पूर्वभवों का वृत्तान्त सुनाते हैं और किसी विशेष प्रश्न के साथ कर्मफल का कार्य-कारण-सम्बन्ध जोड़ते हैं। इस प्रकार, कथा के वातावरण पर पौराणिक प्रभाव आ जाने पर भी पात्रों का यथार्थ क्रियाकलाप किसी प्रकार से और कहीं से भी आहत हुए बिना सम्पूर्ण कथा को रमणीयता से अनुरंजित करता है। यथाचित्रित पात्रों के संकट के समय, या उनके किसी समस्या से उलझ जाने की स्थिति में, मुनियों द्वारा कार्यकारण के सम्बन्ध का विश्लेषणपूर्वक समाधान उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी' में विन्यस्त पात्रों के जीवन-मूल्यों की विश्लेषण-विधि ब्राह्मण-परम्परा से परिवर्तित रूप में प्राप्त होती है। फिर भी, रसमयता की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' की प्राकृत-कथा किसी भी इतर भाषा की कथा से सर्वातिशायिनी है।

काव्यात्मक चमत्कार, सौन्दर्य-बोध एवं रसानुभूति के विविध उपादान 'वसुदेवहिण्डी' में विद्यमान हैं। निबन्धपटुता, भावानुभूति की तीव्रता, वस्तु-विन्यास की सतर्कता, विलास-वैभव, प्रकृति-चित्रण आदि साहित्यिक आयामों की सघनता के साथ ही भोगवाद पर अंकुशारोपण जैसी वर्ण्य वस्तु का विन्यास संध्यासगणी की कथावर्णन-शैली को सातिशय चारुता प्रदान करता है। इस प्रकार, साहित्यशास्त्रियों द्वारा विहित कथा के समस्त लक्षण 'वसुदेवहिण्डी' में परिनिहित हैं। ज्ञातव्य है कि साहित्यशास्त्रीय अध्ययन के क्रम में कथाकार द्वारा उपन्यस्त नायक-नायिका-भेदों की भीमांसा भी अपना विशिष्ट मूल्य रखती है और अपने-आपमें यह एक स्वतन्त्र अध्येतव्य विषय है।

'वसुदेवहिण्डी' में, नाम की अन्वर्थता के अनुकूल, वसुदेव का यात्रा-वृत्तान्त उपन्यस्त है। इसलिए, इसके प्रायः सभी पात्र हिण्डनशील हैं, जो वसुदेव के यात्रा-सहचर के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। गतिशीलता 'वसुदेवहिण्डी' के पात्रों की उल्लेखनीय विशेषता है। यहाँतक कि कथान्तर्ग या खण्डकथाओं के पात्र भी गतिशील हैं और वे सभी-के-सभी पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। कहना न होगा कि 'वसुदेवहिण्डी' जैसी चरित्रिक उत्क्रान्ति और जीवन के गति-सातत्य से संविलित महाकथा में काव्यात्मकता का प्रभूत संयोजन हुआ है, जिससे यह एक महाकाव्यात्मक उपन्यास बन गया है। इसके प्रज्ञावान् कथाकार संध्यासगणी को भाषा ने बहुत साथ दिया है, इसलिए यह ग्रन्थ एक ओर यदि कथाकृति के रूप में परम रमणीय आस्वाद उपस्थित करता है, तो दूसरी ओर काव्यात्मक भाषा और प्रज्ञोन्मेषक दर्शन का आनन्दामृत बरसाता है। कथाकार ने न केवल कथा, अपितु काव्यमय भाषा के द्वारा भी रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शमूलक देश, काल और पात्र के जो बिम्ब उद्भावित्र किये हैं, वे अनुपम हैं। 'वसुदेवहिण्डी' में केवल पुरुष-पात्र ही नहीं, वरन् नारी-चरित्र भी अप्रतिम आवेग, उद्दाम यौवन, उत्कट कामवासना और बहुरंगी जीवन की ऊष्मा के साथ चित्रित हैं। सम्मोहक और आकर्षक चित्रों की दृष्टि से इस कथाग्रन्थ को 'ऐन्द्रजालिक मंजूषा' कहना अधिक उपयुक्त होगा। तभी तो, कहीं इसकी भाषा की अर्थगर्भ शोभा हृदय को आकृष्ट करती है, तो कहीं यात्रा का रम्य-रुचिर वर्णन मन को मोह लेता है।

पौराणिक, धार्मिक और लौकिक महापुरुषों और सामान्य पुरुषों के जीवन को लेकर लिखी गई 'वसुदेवहिण्डी' में अलौकिक प्रसंगों की कमी नहीं है। कथाकार ने वसुदेव को महत्तम या

महामहिम के रूप में चित्रित करने के क्रम में उनकी मानवीयता, पराक्रम और साधना को भी रूपायित किया है। वसुदेव, इस महाकथा के चरितनायक हैं, इसलिए कथाकार ने उनमें अनेक गुणों का समाहार उपस्थित किया है। वसुदेव का व्यक्तित्व स्वाभिमान से दीप्त है, वह दीर्घायु हैं। सौ वर्षों तक तो वह केवल हिण्डन ही करते रह गये ('वासस्य परिभ्रमतेहि'; ११०.२०)। वसुदेव के व्यक्तित्व में कथाकार ने अनेक तीखे मोड़ प्रस्तुत किये हैं। कहीं वह अपनी पत्नी वेगवती के लिए करुण विलाप करते हैं (वेगवतीलम्भ : पृ. २२५), तो कहीं रतिक्रीडा में वह अपने को कामशास्त्रोक्त हस्ती-नायक सिद्ध करते हैं (तत्रैव : पृ. २२६)। वह रूप में तो कामदेव के प्रतिरूप हैं, सुन्दरियाँ उनपर निछावर हो जाती हैं (श्यामा-विजयालम्भ : पृ. १२०; भद्रमित्रा-सत्यरक्षितालम्भ : पृ. ३५३)। वेद और दर्शनशास्त्र में तो उनका प्रतिपक्षी होने का साहस किसी में नहीं था (ललितश्रीलम्भ : पृ. ३६१)। शल्यचिकित्सा ओषधिविज्ञान, तन्त्रचिकित्सा या भूतचिकित्सा में उनके जैसे अधिकारी भिषक् की द्वितीयता नहीं थी।

वसुदेव कामिनीप्रसादनोपाय में चतुर, कलाकुशल चित्रकार और मालाकार के रूप में भी वर्णित हैं। संगीत और वीणावादन की कला से उन्होंने चम्पापुर के प्रसिद्ध संगीताचार्य जयग्रीव को चकित-विस्मित कर दिया था और संगीत-प्रतियोगिता में विजयी होकर विद्याधरी गन्धर्वदत्ता को स्वायत्त किया था। नारद-श्रेष्ठ विष्णुगीत के गान में भी वह निपुण थे। दीनों और अनाथों के उद्धारकर्ता के रूप में भी उनकी चूडान्त प्रसिद्धि थी। सम्पूर्ण धनुर्वेद और युद्धविद्या में उन्होंने पारगामिता प्राप्त की थी। द्यूतकला की दृष्टि से भी वह 'अक्षशौण्ड' थे।

गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में यदि कहें तो, वसुदेव 'वज्रदेह दानवदलन' थे, तभी तो उन्होंने नरभक्षी राक्षस को अपनी भुजाओं में दबाकर मार डाला था (मित्रश्री-धनश्रीलम्भ : पृ. १९६)। संक्षेप में यह कि वह बहतर कलाओं में पण्डित थे। इस प्रकार, वह एक ऐसे वीर नायक थे, जिसके लिए कुछ भी असम्भव और अगम्य नहीं था। वह धीरोदात्त, धीरोद्धत और धीरललित, तीनों नायकों के सम्मिलित व्यक्तित्व से विभूषित थे। कुल मिलाकर, वह गुणातिशयता की प्रतिमूर्ति थे। ब्राह्मण-परम्परा में लोकनायकत्व की जो गरिमा राम और कृष्ण को प्रदान की गई है, वही गरिमा संघदासगणी ने वसुदेव को दी है। ब्राह्मण-परम्परा में कृष्ण के जिस अलौकिक चरित्र का महत्त्व रूपायित हुआ है, उसी का उदात्त रूप संघदासगणी द्वारा चित्रित वसुदेव की चरित-कल्पना में प्राप्त होता है।

मानवी और विद्याधरी-जाति को मिलाकर वसुदेव को कुल अट्टाईस पत्नियाँ प्राप्त हुई हैं। ये सभी-की-सभी उत्तम कोटि की नायिकाएँ हैं, कलाविदुषियाँ और रूप-लावण्यवती हैं। ये सभी नारियाँ, कालिदास के शब्दों में कहें तो, वसुदेव की गृहिणी-सचिव-सखी तथा ललित कलाविधि में प्रियशिष्या के रूप में चित्रित हुई हैं। ये सभी स्वकीया और अनुकूला नायिकाएँ हैं, और भारतीय ललितकला के वैशिष्ट्यों की श्रेष्ठतम प्रतीक हैं। सबसे अधिक ध्यातव्य विषय यह है कि बहुपत्नीकता के बावजूद वसुदेव का जीवन, उनकी दाक्षिण्य-वृत्ति के कारण, कभी असन्तुलित नहीं बना है। उनमें अस्वस्थ विषयैषणा का सर्वथा अभाव ही इसका सबसे बड़ा कारण है। वह एक आदर्श दाक्षिण्यनायक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

'वसुदेवहिण्डी' अनेकान्तवादी कथाशैली में परिनिबद्ध हुई है। इसमें भारतीय संस्कृति का सन्तुलित चित्र उपन्यस्त हुआ है। विषयैषणा को इसमें जितना अधिक महत्त्व दिया गया है, उसी

अनुपात में त्याग-तपस्या की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। संघदासगणी ने सांस्कृतिक उत्कर्ष का जो आदर्श चित्र प्रस्तुत किया है, उसमें कहीं भी एकांगिता नहीं है। किन्तु, आश्चर्य इस बात का है कि इस महान् कथाग्रन्थ को, एकांगी दृष्टिकोण से, केवल रत्यात्मक कथा के रूप में भी देखा जाता है, जो इसकी उपेक्षा का कारण बन गया है। साथ ही, साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह के कारण भी संघदासगणी जैसे आदर्शोन्मुख यथार्थवादी महान् श्रमणाचार्य की इस महत्कृति का आज तक सही मूल्यांकन अपेक्षित ही रह गया है। इस कथाग्रन्थ की कामकथाएँ निश्चय ही प्रवृत्त्यात्मक हैं, किन्तु वे ही जब परिणाम में धर्मकथा बन जाती हैं, तब निवृत्त्यात्मक हो जाती हैं। इस प्रकार, प्रवृत्ति और निवृत्ति के साथ ही साम्प्रदायिक समन्वय की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' की कथाएँ उभयात्मक या समन्वयात्मक हैं।

'वसुदेवहिण्डी' में भारतीय संस्कृति के उच्चतम शिखर पर पहुँचने का मूल्यवान् प्रयास परिलक्षित होता है। साथ ही, इसमें वैसी भारतीय सभ्यता चित्रित हुई है, जिसके अन्तःस्थल में वर्तमान आध्यात्मिक चेतना और संस्कृति भी प्रतिबिम्बित होती है। इस प्रकार, यह कथाकृति जीवन के मूल्यों के सन्दर्भ में भारत का विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है, जिसकी चरम परिणति वसुदेव में दिखाई गई है।

'वसुदेवहिण्डी' में भारतीय जीवन और संस्कृति का सर्वांगीण चित्र, अंकित किया गया है। व्यक्ति का जब स्वस्थ निर्माण होता है, तब वह सामाजिक प्राणी या योग्य पुरुषार्थी नागरिक बनता है और फिर वह अन्तर्मुख होकर चिन्तन-मनन करता है, श्रुत का अध्ययन और तप का आचरण करता है, जिसके फलस्वरूप वह अन्त में निर्मय भाव से शरीर का परित्याग करता है। इसी क्रम में मानव अपने तपोबल से स्वर्ग का अधिकारी होता है और मोक्षगामी भी बनता है। 'वसुदेवहिण्डी' में मानव-संस्कृति की इसी स्पृहणीय उदात्त कथा का विनियोग हुआ है। इसी कारण, 'धर्मशास्त्रों में बार-बार उद्धोषित धर्मार्थकाममोक्ष जैसे चतुर्विध पुरुषार्थ के सम्बन्ध में संघदासगणी द्वारा उद्धृष्ट पुनर्वक्तव्य और उसके उदाहरणार्थ उपन्यस्त की गई वसुदेव की कथा ततोऽधिक प्रतीकात्मक बन गई है। इस प्रकार, 'वसुदेवहिण्डी', सचमुच, भारतीय जीवन और संस्कृति की महानिधि एवं परम रमणीयोज्ज्वल महार्घ बृहत्कथा के रूप में प्रतिष्ठित है।



कतिपय विशिष्ट विवेचनीय शब्द

‘वसुदेवहिण्डी’ में, संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त ऐसे अनेक प्राचीन प्राकृत शब्द मिलते हैं, जो अपनी विविधता, विचित्रता और विशिष्टता की दृष्टि से विवेचनीय मूल्य रखते हैं, साथ ही प्राकृत के परवर्ती विकास की क्रमिकता के अध्ययन में भी जिनकी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका परिलक्षित होती है। यहाँ विहंगावलोकनन्याय से कतिपय विशिष्ट विवेचनीय विभिन्नवर्गीय (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेषण, क्रिया आदि) शब्द अनुक्रम से उपन्यस्त हैं। इसमें प्रयुक्त पृष्ठ-संख्याएँ मुनि चतुरविजय-पुण्यविजय द्वारा सम्पादित भावनगर-संस्करण के अनुसार हैं।

[अ]

अंछवियच्छि (२७१.१७) : कृष्टविकृष्टि (सं.); खींचतान। हेमचन्द्र ने भी आकृष्ट, अर्थात् खींचने या काढ़ने के अर्थ में देशी शब्द ‘अंछिय’ का उल्लेख किया है :
‘अंछियं च कड्डिअए।’—‘देशीनाममाला’ (१.१४)

अंछिय (२९१.२५) : आकृष्ट (सं.); खींचा, खींच लिया। मूलपाठ : ‘अंछिओ खगो’
= (म्यान से) तलवार खींच ली या काढ़ ली।

अंतेवासी (६२.७) : निकट में रहनेवाला; समीपवर्ती; पड़ोसी (प्रचलित अर्थ : शिष्य या छात्र)।

अइमुत्तयवल्लिदोलाए (४६.२५) : अतिमुक्तकवल्लिदोलायां (सं.) = माधवीलता के हिंडोले पर।

अगल्लिगा (९२.६) : अस्वस्थ (स्त्री) का अर्थवाचक यह शब्द कोई देश्य विशेषण-प्रयोग प्रतीत होता है।

अच्च (३०५.१६) : अर्चा (सं.); प्रतिमा। प्रतिमा के अर्थ में ‘अर्चा’ का उल्लेख कथाकार का प्रतीकात्मक प्रयोग-वैशिष्ट्य है।

अच्छुय (१८०.१) : [देशी]; अस्मृष्ट (सं.); विना छुआ हुआ, अनछुआ।

अज्जिथा (३६७.३) : आर्यिका (सं.); आजी; दादी; पिता की माता; पितामही (लोकभाषा : अइया; इया)। सामान्य प्रचलित अर्थ : भिक्षुणी।

अज्झोववाय (२९८.१५) : अध्युपपाद (सं.); अत्यन्त आसक्ति।

अणाते : अणाए (१७९.१५) : अनया (सं.); इसके द्वारा; इससे। केवल सार्वनामिक ही नहीं, तदितर शब्दों में भी ‘य’ की जगह ‘त’ वर्ण का विनियोग ‘वसुदेवहिण्डी’ में सार्वत्रिक रूप से भूरिशः उपलब्ध।

अणुसङ्गी (२८६.४) : अनुशिष्टि (सं.); आगम के अनुकूल उपदेश।

अणोयत्तं (१३८.२५) : अवनतं (सं.); झुक गया। मूलपाठ : ‘अणोयत्तं से वयणकमल’ = उसका मुखकमल झुक गया। यहाँ ‘ण’ का वर्ण-विपर्यय, जो ‘वसुदेवहिण्डी’

में प्रायः प्राप्त होता है, माना जाय, तो प्रा. 'अयोणत्तं' को संस्कृत 'अवनत' का प्रतिरूप सहज ही कहा जा सकता है।

अण्णयेणं (२९०.२५) : अन्वयेन (सं.); परम्परागत रूप से, वंशानुक्रम से।

अण्णिज्जमाणी (१३२.२५) : अन्वीयमाना (सं.); अनुसरण की जाती हुई। मूलपाठ : 'अण्णिज्जमाणी इव लज्जाए' = लज्जा से अनुगत, अर्थात् लज्जा जिसका अनुगमन कर रही है। लाजवन्ती गन्धर्वदत्ता के उपमामूलक चाक्षुष बिम्ब का यह उत्तम उदाहरण है।

अतीव (९९.११) : [क्रिया] अत्येतु (सं.); भागो; निकलो।

अत्तगमणं (४०.२४) : आत्मगमनं (सं.); आत्मबोध; आत्मज्ञान। प्रसंगानुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति का एक और प्रकार सम्भव है : अत्तग (आत्मक) + मणं (मनोनुसार) = अपने मन (ज्ञान) के अनुसार।

अत्थगघ (१४८.११) : [देशी] अथाह। 'देशीनाममाला' (हेमचन्द्र) में अथाह के लिए 'अत्थगघ' या 'अत्थघ' और 'अत्थाह' इन दो पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख हुआ है (१.५४)।

अत्थसत्थ (४५.२५) : अस्त्रशास्त्र (सं.); कतिपय विद्वानों ने इस शब्द का संस्कृत-रूपान्तर 'अर्थशास्त्र' किया है। किन्तु, प्रसंगानुसार स्पष्ट है कि कथाकार का अभिप्राय 'अस्त्रशास्त्र', अर्थात् अस्त्रविद्या या धनुर्विद्या से सम्बद्ध शास्त्र से है।

अत्थाणिवेलासु (१६३.२५) : आस्थानवेलासु (सं.); सभा के समय। आस्थान = सभा, सभाभूमि या सभामण्डप भी।

अद्धट्ठु (२७.१०) : अर्द्धाष्ट (सं.); साढ़े सात (सात और आठवें का आधा)। यह प्राकृत की अपनी संख्यावक्रताजन्य प्रायोगिक विशेषता है। जैसे : 'ततो नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं य राईदियाणं वितीक्कताणं जातो (मूलपाठ)।' अर्थात्, 'नौ महीने पूरे होने के बाद साढ़े सात दिन-रात बीतने पर (धम्मिल्ल) उत्पन्न हुआ।' जैन विश्वास के अनुसार, किसी सत्पुरुष के जन्म की प्रायः यही अवधि निश्चित होती है। अर्द्धमागधी में 'अद्धट्ठ' का प्रयोग-प्राचुर्य उपलब्ध होता है।

अद्धोत्थुय : अद्धोत्थुय (६७.२) : अर्द्धोरुक (सं.); वस्त्र-विशेष; आषे घुटने तक का हाफ पैण्टनुमा परिधान (विशेष विवरण प्रस्तुत शोधग्रन्थ के सांस्कृतिक जीवन-प्रकरण के वस्त्रवर्णन-प्रसंग में द्रष्टव्य)।

अपज्जतीखमं (१४०.३) : अ + पर्याप्तिक्षमं (सं.); पूर्णप्राप्ति के अयोग्य (अयोग्यतासूचक नञ् समास)। मूल कथाप्रसंग है कि विद्याधर ने आलोकमणीय पुलिनखण्ड को रति की पूर्णप्राप्ति के योग्य न मानकर, उसे छोड़ विद्याधरी के साथ आगे बढ़ गया।

अपरित्यक्त (१४५.२३) : अपरित्यागेन (सं.); यह निषेधमूलक विध्यर्थक प्रयोग है। इसमें विरोधार्थक नञ् के साथ ही 'विनायोगे तृतीया' भी है। अपरित्याग, अर्थात् परित्याग के विपरीत—संग्रह। मूलार्थः धन-संग्रह किये विना।

अपरियावत् (१७८.१७) : अपर्यावृत्त (सं.); असमाप्त; आनुक्रमिक। कथाकार ने आनुक्रमिक वंश-परंपरा के प्रसंग में 'अपरियावत्' का प्रयोग किया है: 'वंसे अपरियावत्ते'।

अप्फोडेऊण (२५.१५) : आस्फोटयित्वा (सं.); ताली बजाकर। (श्रावकों द्वारा मुनियों की वन्दना करने के बाद ताली बजाने की प्रथा।)

अभ्युस्ततमिव (१३७.२३) : अभ्युच्छ्वसन्निव (सं.); उसीसे लेता हुआ-सा।

अमाघात्रो (१९७.६-७) : अमाघातः (सं.); अभयघोषणा, जीवहिंसा की निषेधाज्ञामूलक घोषणा। (इसका एक और प्राकृत-रूप 'अमग्घाय' भी है।)

अमिला (२१८.९) : [देशी] ऊनी वस्त्र; भेड़।

अम्भयागार्हि (१३२.२६) : अम्बिकाभिः या अम्बाभिः (सं.); माताओं—कुलवृद्धाओं द्वारा।

अम्हित (२४८.६) : आश्चर्यित (सं.); चकित; विस्मित। 'विम्हित' (विस्मित) के तर्ज पर 'अम्हित' शब्द कथाकार ने गढ़ लिया है। संस्कृत का आश्चर्यसूचक 'अहो' शब्द प्राकृत में 'अम्हो' होता है। 'अम्हो' से ही कृदन्त 'क्त' प्रत्यय जोड़कर 'अम्हित' शब्द बनाया गया है।

अस्तिव्या (६०.२२) : उपसर्पिता (सं.); सामने उपस्थित किया [देशी शब्द]।

अवंगुतदुवारं (२२१.२४२५) : अपावृतद्वारं (सं.); खुला हुआ द्वार। 'अवंगुत' देशी शब्द है, जिसका अर्थ होता है—खुला हुआ। सं. 'अनवगुण्ठित' के समानान्तर इसे रखा जा सकता है।

अवतासिड (९६.६) : आश्लिष्य (सं.); आलिंगन करके। 'अवयासिड' का 'अवतासिड' रूप ('य' की जगह 'त') संघटासगणी के विशिष्ट प्रयोगाग्रह का निदर्शन है।

अवप्फुरो चेव विप्फुरिऊण (२९३.११) : अवस्फुरञ्चैव विस्फुरित्वा (सं.); आकारिक विस्तार को और अधिक विस्तृत कर; विस्तृत होने के बावजूद और अधिक विस्तृत होकर।

अवमासेऊणं (२२१.२७) : अवमासयित्वा (सं.); अदला-बदली करके। तौलने-बदलने के अर्थ में 'मस्' धातु का पाठ पाणिनि-व्याकरण में किया गया है। चादर और अंगूठी की अदला-बदली के प्रसंग में कथाकार ने इस पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। मूलपाठ है: 'तओ अणाए अवमासेऊणं णिवगमुत्तरीयं मम दिण्णं मदीयं गहिंयं अंगुलेयं च दिण्णं।' (तब उसने अदला-बदली करके अपनी चादर मुझे दे दी और मेरे द्वारा दी गई अंगूठी ले ली।)

अवरद्धा (४६.२७) : अपराद्धा (सं.); साँप से डँसी गई। ('प्राकृतशब्दमहार्णव' में इस शब्द का अर्थ अपराध भी है और विशेषण ('अपराद्ध') के रूप में 'अपराधी' एवं 'विनाशित' अर्थ भी हैं। यहाँ संघदासगणी का, साँप के अपराध करने से तात्पर्य है।)

अवारीए (५१.२१) : आपणे (सं.); यह देशी शब्द है : 'आवणे अवारो अंवारी अ।'—देशीनाममाला (१.१२)। अवारीए = दुकान में।

अविकिण्णमण्ययाए (१३६.१२-१३) : अविकीर्णपदया या अविकीर्णात्मपदया (सं.); प्रसंगानुसार अर्थ : जिसके चरणचिह्न बिखरे नहीं हैं, ताजा हैं। 'मण्य' का अर्थ यदि 'माप' लिया जाय, तो अर्थ होगा : जिसके चरणों की आकृति या माप का चिह्न अक्षुण्ण है। कथाकार द्वारा प्रयुक्त समस्त पदों में 'म' के आगम की प्रवृत्ति का वैचित्र्य अनेक स्थलों पर परिलक्षितव्य है। मूलग्रन्थ के सम्पादकों के अनुसार 'म' आगम की यह प्रवृत्ति आगमिक है। जैसे : 'जिणवरमुद्दिट्ठो' < जिनवरोद्दिष्ट : (१५.९), 'जोव्वणमुदये' < यौवनोदये (२०.२१) आदि।

[आ]

आइवाहिग (१५.२०) : आतिवाहिक (सं.); यात्रा-सहचर। आगम के अनुसार, देवविशेष, जो मृत जीव को दूसरे जन्म में ले जाने के लिए नियुक्त है।

आऊंजण (३६.१६) : आकुंचन (सं.); दही जमाने के लिए औट हुए दूध में डाला जानेवाला दही या और कोई खट्टी चीज; जामन, जोरन।

आग्गेऊण (३०५.१८) : आकम्पयित्वा (सं.); आराधना से द्रवित कर; प्रसन्न कर; विचलित कर।

आडत्त (१४४.१३) : आदत्त (सं.); किराये पर दिया गया।

आदण्णा (९५.११) : स्त्री. देशी शब्द। व्याकुल; व्यस्त। मूलपाठ : 'अण्णेण कज्जेण अहं आदण्णा' = मैं दूसरे काम से व्यस्त हूँ (सत्यभामा की उक्ति)।

आयंबिल (२५.७) : आचाम्ल (सं.); जैन मुनियों द्वारा पारण (व्रतान्त भोजन) में लिया जानेवाला कांजी-सहित केवल भात का आहार (आचाम्लाहार)।

आयरक्ख (१३०.१६) : आत्मरक्षक (सं.); अंगरक्षक (बोंडीगार्ड)।

आयसकीलुप्पालिएसु (१३८.१६) : आयसकीलोत्पीडितेषु (सं.); लोहे की कील से उत्पीडित रहने या होने पर भी। 'उप्पीलिय' की जगह 'उप्पालिय' प्रयोग भी अपना स्वर-वैपरीत्यमूलक ('पी' के स्थान पर 'पा') वैचित्र्य से संवलित है। प्रसंग को थोड़ा अन्तरित कर यदि 'उत्पाटितेषु' ('उप्पालिएसु') संस्कृत-रूप माना जाय, तो स्वर-वैपरीत्य की कल्पना अपेक्षित नहीं रहेगी। अर्थ होगा : लोहे की कील को शरीर से उखाड़ लेने पर भी रक्त नहीं निकलता आदि।

आल : (२९५.१५) : आल (सं.); दोषारोपण; कलंक का आरोप।

आवस्सय (२८१.३) : आपाश्रय (सं.); उठैंगने का आधार (तकिया, मसनद आदि) ।
मूलपाठ : 'सावस्सए आसणे' = आधार-सहित आसन पर ।

आवासन्ति (२२१.५) : आदृश्यन्ते (सं.); [आ + वास < पास < दृश् : भाववाच्य];
दिखाई पड़ते हैं । मूलपाठ : 'एयाओ पासायपंतीओ आवासन्ति ।'

आसण्णगिहे (१३३.८) : आसन्नगृहे (सं.); बैठके में ।

आसायण (६७.१७) : आशातन (सं.); नियन्त्रित; वशवर्ती (तिरस्कार या अपमान के अर्थ में भी यह शब्द प्रचलित है) ।

आसासेंता (५५.७) : 'आसिज्वन्' (सं.) का यह कथाकार-प्रयुक्त प्राकृत-रूप है । मूलपाठ है : 'पच्छापउरदानसलिलेणं भूमिं आसासेंतो' = झरते हुए प्रचुर मदजल से धरती को सींचता हुआ (हाथी) ।

आसुक्कार (७५.२५) : आशुकार (सं.); शीघ्र मार डालनेवाला रोग; विसूचिका आदि महामारी ।

आसुस्त (७५.१४) : आशुरुप्त (सं.); शीघ्र क्रुद्ध; अतिकुपित ।

[इ]

इरिया (२४.१९) : ईर्या (सं.); केवल शरीर से होनेवाली क्रिया (गतिक्रिया) ।

इओ वोलंतेहिं (१४३.११) : इतो गच्छद्भिः (सं.); क्रियादेश के नियमानुसार, गम् धातु का 'वोल्' आदेश । अर्थ : इधर से जाते हुए, गुजरते हुए ।

[उ, ऊ]

उक्कायंत (६५.७) : उल्लाम्यमाण (सं.); झड़ते हुए (फूल) ।

उच्चावग (१७४.९) : उच्च्यावक (सं.); कथाकार ने धूर्त, वंचक आदि के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है । कदाचित् हिन्दी का 'उचक्का' शब्द इसी से विकसित हुआ है ।

उच्चोली (१४८.१०) : [देशी]; झोली; पोटली; थैली ।

उज्जइय (७७.२१) : अवस्तृत (सं.); व्याप्त ।

उद्धया (३३.१९) : उद्धृता (सं.); गर्वोन्नत; ऊपर उठी हुई ।

उण्णिजल (१११.१९) : उत्पिजल (सं.); १. व्याकुल; अतिशय आकुल; २. देवता के आकाश से उतरने के समय की प्रकाशधूसर स्थिति या वातावरण ।

उलएइ (६६.१४) : उपलागयति (सं.); मूलपाठ : 'उरे उलएइ' = फूल की माला कण्ठ में पहना देती है ।

उलुगसरीरो (२९४.२) : अवरुणशरीरः (सं.); बीमार; रुग्ण शरीरवाला; भग्न; नष्ट; त्रुटित ।
पालि में भी जर्जर या खण्ड-खण्ड होने के अर्थ में 'ओलुग' शब्द का प्रयोग हुआ है (द्र. 'पालि-हिन्दीकोश': भदन्त आनन्द कौशल्यायन) ।

- उल्लोय (१६१.१५) : उल्लोक (सं.); छत । 'पाइयसदमहणवो' में 'उल्लोय' का 'उल्लोच' संस्कृत-प्रतिशब्द है, जिसका अर्थ 'चाँदनी' किया गया है ।
- उवक्खेसु (२७६.२) : उपस्करु (सं.); पास ले आओ, अपना बना लो । पालि में भी 'उपक्खट' विशेषण का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ है पास लाया हुआ ।
- उव्वुभति (१४५.१२) : उपक्षिपति (सं.); एकत्र करता है ।
- उवयंताणि (१३८.२) : उत्पतितानि (सं.); उभरे हुए (चरण-चिह्न) ।
- उवहाण (४.२२) : उपधान (सं.); तकिया; विशिष्ट तपश्चर्या ।
- उवाइउं (२९.२५) : उपयाचितुं (सं.); मनौती मानने (उतारने) के लिए ।
- उवाय (१२४.२७) : 'उवायण' का ण-लुप्त प्रयोग । उपायन (सं.); उपहार; भेंट ।
- उवायोषाहिं (१४९.२७) : उत्पातावपातैः (सं.); ऊपर उछलने और नीचे गिरने की क्रियाओं से ।
- उहावणा (१०२.४) : अपभावना (सं.); दुर्भावना ।
- ऊसासिय (६७.९) : उच्छ्वासित (सं.); उन्मुक्त, उन्मोचित । (प्रसंगानुसार : घोड़े को जीन आदि के बन्धन से मुक्त किया ।)

[ए]

- एकसिहाए (२२१.२४) : एकशिखातः (सं.); एकबारगी । इसका दूसरा संस्कृत-रूप 'एकस्पृहया' भी सम्भव है । मूलानुसार, यहाँ उपद्रवकारी विद्युन्मुख हाथी से डरी हुई एक बालिका का चाक्षुष बिम्ब उपस्थित किया गया है । डरी हुई बालिका धरती पर उगी हुई कमलिनी जैसी लग रही है; यूथप्रष्ट हिरनी (हरिणजुवई) की भाँति उसका शरीर भय से स्तम्भित है । जिस प्रकार हाथी वनलता की चोटी पकड़कर, उसे एकबारगी उखाड़कर ऊपर उठा लेता है, उसी प्रकार वसुदेव ने हाथी के प्रहार से बचाने के लिए बालिका की चोटी पकड़कर उसे एकबारगी ऊपर उठा लिया । इस ऊपर उठाने की क्रिया में वसुदेव की उस बालिका के प्रति एकान्त स्पृहा भी सजग हो आई थी । साथ ही, हाथी और वसुदेव के कार्य और स्वभाव की समानता की समासोक्ति का आधार लेकर कथाकार ने 'एकसिहाए' जैसे एक शब्द के द्वारा सरस शृंगारिक बिम्ब को विशाल अर्थफलक पर अंकित किया है ।

[ओ]

- ओयवित्त (२६५.२); ओजस्वित (सं.); ओजःपूर्ण ।
- ओरुभिय (४६.१४) : (अवा + रुह) अवारोहित (सं.); उतारा गया । प्रसंगानुसार अर्थ होगा : रथ में जुते घोड़े को खोलकर उसकी पीठ पर से पलान उतारा । ('पेसजणेण य तुरया रहो य जहाठाणं पवेसिया, ओरुभिया य ।') 'ओरुभिया'

से, 'भृत्यों ने थके हुए घोड़े की मालिश की', ऐसा अर्थ भी प्रसंग-ध्वनित होता है।

ओलइय (४०.७) : अवलगित (सं.); (शरीर से) लगा (सटा) हुआ; पहना (धारण किया) हुआ।

ओलोयण (३५७.३) : अवलोकन (सं.); छतदार बरामदा, जहाँ से सुखपूर्वक बैठकर बाहर के दूर तक के दृश्य का अवलोकन किया जा सके। सामान्य अर्थ : गवाक्ष; वातायन। (विशेष द्रष्टव्य : प्रस्तुत शोधग्रन्थ का वास्तुप्रकरण)।

ओवग : ओवगिय (३५५.२८) : उपवल्ग : उपवल्गित (सं.); आक्रान्त, आच्छादित।
मूलपाठ : 'पुष्फोवगदुम' = पुष्पाक्रान्त या पुष्पाच्छादित वृक्ष।

ओसक्किय (१३६.३१) : अवषक्कित (सं.); पीछे हटा या भागा हुआ; उत्तेजित किया हुआ।

ओसद्ध (३४८.१३) : [देशी] आहत; पातित। **मूलपाठ** : 'तुसारोसद्धा इव पडमिणी' = तुषाराहत कमलिनी के समान।

ओसहिपमत्त (२१६.२८) : ओषधिप्रमर्द (सं.); ओषधि से उत्पन्न घाव। मूलानुसार, कथा है कि युवती पुण्ड्रा की जाँघ चीरकर (उसके शैशव के समय रखी गई) जो ओषधि शल्यचिकित्सा द्वारा निकाली गई, उससे जाँघ में कुचलन या घाव (प्रमर्द) हो आया था। वह घाव संरोहिणी ओषधि के प्रयोग से भर गया।

ओहामिय (८८.२१) : [देशी]; अभिभूत; तिरस्कृत; विजित।

[क]

कंडियसाला (६२.१) : कण्डिकशाला (सं.); कण्डित = साफ-सुथरा किया हुआ।
प्रसंगानुसार अर्थ : चावल छॉटने या साफ-सुथरा करने का घर। यह आधुनिक 'खलिहान' से भी तुलनीय है।

कंसमादीया (१११.७) : कंसादिका; (सं.); 'कंस' और 'आदीया' के बीच में 'म' का आगम कथाकार के आगमिक प्रयोग-वैचित्र्य का सूचक है।

कंसार (३५३.३) : [देशी] चावल के आटे में चीनी या गुड़ मिलाकर बनाई जानेवाली मिठाई। मुण्डन, उपनयन, विवाह आदि सामाजिक संस्कारों के अवसरों पर होनेवाले देवपूजन, विशेषतः सूर्यपूजा, हवन प्रभृति विभिन्न मंगलकार्यों में इसका व्यवहार होता है। लोकभाषा में इसे 'कसार' कहते हैं।

कच्छुल्ल (३२५.५) : [देशी] नारदका नाम-विशेष। 'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश' के अनुसार, शलाकापुरुषों में ९ शरदों को भी परिगणित किया गया है। प्रसिद्ध ६३ शलाकापुरुषों के अतिरिक्त ५ नारद, १२ रुद्र, २४ कामदेव और १६ कुलकरों आदि को मिलाने पर १६९ शलाकापुरुष हो जाते हैं। नौ नारदों के नामों में भिन्नता मिलती है। कथाकार संघदासगणी ने कुल तीन नारदों का उल्लेख

किया है : कच्छुल्लनारद (पृ. ३१५); नेमिनारद (पृ. ३६८) और नारद (पृ. ८०, ८३, ९१, ९४ आदि) ।

कटयियसखंगो (१४३.१५) : 'कण्टकितसर्वाङ्गः' (सं.); सर्वाङ्ग से पुलकित; रोएँ खड़े हो जाने के कारण सारा शरीर कँटीला बना हुआ । ('कटयिय' में अनुनासिकता का लोप प्राकृत का प्रयोग है ।)

कठिणसंकाङ्ग्यं (२३७.१२) : 'कठिनशङ्खदिकं' (सं.); झोला (वस्त्र), शंख आदि को । पालि-विनयपिटक में भिक्षुओं के चीवर-विशेष को 'कठिन' कहा गया है । यहाँ भी साधुजनोचित वस्त्र की ओर कथाकार संघदासगणी ने निर्देश किया है, जिससे कथाकार पर बौद्धों के विनय और पालि-भाषा के प्रभाव का संकेत मिलता है ।

कडय (७५.१९) : कटक (सं.); प्रसंगानुसार पर्वत का मूलभाग; उपत्यका । इसका एक अर्थ पर्वत का ऊर्ध्वभाग या अधित्यका भी है । ऊर्ध्वभाग छिन्न हो जाने के कारण ही राजगृह के विपुलाचल का नाम संघदासगणी ने 'छिन्नकटक' दिया है ।

कडिल्ल (३२३.३) : [देशी] वन; जंगल; अटवी ।

कडिण (२१६.१७) : [देशी] बहँगी ।

कणिस (२६९.३) : कणिश (सं.); धान या किसी भी शस्य की बाली । 'कणिस' का विवरण प्रस्तुत करते हुए हेमचन्द्र ने कहा है : 'धान्यशीर्षवाची तु कणिसशब्दः संस्कृतभवः ।' — 'देशीनाममाला' (२.२६)

कणेरु (७०.१८) : 'क्रेणु' (सं.) का प्रा. वर्ण-विपर्यय—कणेरु; हस्तिनी । संघदासगणी ने 'ण' का वर्ण-विपर्यय कई जगह किया है । अन्य उदाहरण हैं : 'वाराणसी' का 'वाणारसी'; 'जोव्वण' का 'जोवण्ण' आदि ।

कब्बड (३३.२२) : कर्बट (सं.); छोटा गाँव, कुनगर । मूलपाठ : 'कब्बडदेवया = दुष्ट (हीन) देवता ।

कयवर (२४८.७) : [देशी] कतवार; कूड़ा-कतवार । विशेष द्र. 'देशीनाममाला' (२.११) ।

करण (९४.१९) : करण (सं.); क्षेत्र, खेत ।

कलत्तगुरुत्ताए (१३५.२६) : कलत्रगुरुकतया (सं.); कलत्र, यानी नितम्ब की गुरुता (भारीपन) के कारण । संघदासगणी ने कदाचित् पहली बार, नितम्ब के लिए 'कलत्र' का प्रयोग किया है । मूलपाठ है : 'इत्थीणं पुण कलत्तगुरुत्ताए पण्ह्यासु उविद्धाणि भवन्ति ।' [फिर, स्त्रियों के नितम्ब की गुरुता के कारण ही उसकी एड़ी (बालू पर) अधिक गहरी उभरी होती है ।]

किङ्कम्म (२४.१९) : कृतिकर्म (सं.); वन्दना; प्रणाम ।

कुंटी (३५७.१७) : कुण्टी (सं); लूली-लैंगड़ी, बौनी-कुबड़ी ।

कुंभगसो (६४.१३) : कुम्भाग्रशः (सं); मगधदेश का एक परिमाण, टोकरी-की-टोकरी (वस्तु) ।

कुक्कुस (६२.१) : [देशी] भूसा ।

कुम्भास (१३६.१८) : कुल्माष (सं); कुल्माष उड़द, मूँग आदि धान्य-विशेष के अर्थ को द्योतित करता है, किन्तु कथाकार ने इस शब्द को रंजन-क्रिया के अर्थ में रंगबोधक बिम्बोद्भावन के लिए, प्रयुक्त किया है । मूलपाठ है : 'अञ्जणघाउ-कुम्भासो इव रययपव्वयो' = अञ्जन धातु से रंजित रजतपर्वत के समान ।

कुस्तरिया (३९.२८) : हलवाई की दुकान । यह देशी शब्द है ।

कूर (२९०.५) : भात । 'देशीनाममाला' (२.४३) में भी भात को कूर कहा गया है : 'अत्र कूरं भक्तमिति संस्कृतसम्प्रदायोक्तम् ।'

कूवं गयस्स (५३.२३) : 'कूवं' देशी शब्द है । 'कूवं गयस्स' का अर्थ होगा : चुराई हुई (कूपंगत) चीज की खोज में गये हुए (व्यक्ति का) ।

कोट्टुअ : कोट्टुग (६१.२७) : कोट्टाक (सं); बढई ।

कोट्टुकिनेमिस्ती (११९.९) : क्रोष्टुकिनैमित्तिक (सं); सियार की आवाज के आधार पर शकुन विचारनेवाला या लक्षण बतानेवाला ज्योतिषी ।

कोलंब (४४.९) : 'कोलंब' शब्द पालि और संस्कृत में भी प्राप्त होता है । किन्तु, अर्थ भिन्न है । संस्कृत में 'कोलम्ब' का अर्थ है—वीणा का ढाँचा या तार-रहित वीणा । पालि में बड़े बरतन को 'कोलंब' कहा गया है । किन्तु, संघदासगणी द्वारा प्रयुक्त प्राकृत 'कोलंब' शब्द से प्रसंगानुसार पहाड़ के तराई-भाग का अनुमान होता है । 'वसुदेवहिण्डी' के गुजराती-अनुवाद के कर्ता प्रो. साण्डेसरा ने 'कोलंब' का अर्थ प्रदेश किया है । मूलपाठ है : 'एयस्स पव्वयस्स पुरिच्छमत्से कोलंबे दोण्हं नतीणं मज्झभाए . . ।' 'प्राकृतशब्द-महार्णव' में 'कोलंब' का अर्थ वृक्ष की शाखा का टुकड़ा हुआ अग्रभाग दिया गया है ।

कोलाल (२२.२८) : कुलाल (सं); खण्ड, मिट्टी के बरतन का टूटा हुआ टुकड़ा । प्रचलित अर्थ : कुम्भकार ।

केवइयं (३०३.२) : कियत् (सं); कितना (परिमाणवाचक) ।

[ख]

खंडिथ (३२०.७-८) : खण्डिक (सं); छात्र; विद्यार्थी ।

खंत (२२.११) : पिता [देशी] ।

खलिण (६६.२९) : खलिन (सं.); लगाम ।

खामो कालो (६२.१५) : क्षामः कालः (सं.); क्षीण समय; अकाल; अभाव का समय; कड़की का दिन ।

खारक (१२३.१४) : क्षारक (सं.) भुजपरिसर्प की एक जाति; भुजाओं से रेंगनेवाली सर्पजाति ।

खुहुय : खुहुग (७२.१०) : [देशी]; अंगूठी; छोटा साधु (क्षुद्रक) ।

खेमवट्टमाणी (१४६.६) : क्षेमवर्तमानी (सं.); कुशल-समाचार ।

[ग]

गणिया : गणियारी (७०.१७) : मूल प्रसंग से 'गणिया' का अर्थ हाथी का झुण्ड प्रतीत होता है और 'गणियारी' का 'महावत' या 'पीलवान' । 'गणियारी' का संस्कृत-रूप 'गणचारी' माना जाय, तो हाथी के झुण्ड को चरानेवाला या संचालित करनेवाला अर्थ सम्भव है । पालि में अनेक शिष्यों के शिक्षक को 'गणाचरिय' कहा गया है । जैन साधु 'गणी' शब्द से संज्ञित होते हैं, जिसका अर्थ है : गण का पति, जिसके अनेक अनुसर्ता हों । जैसे : 'वसुदेवहिण्डी' के लेखक संघदासगणी या श्वेताम्बरों के वर्तमान धर्माचार्य आचार्यश्री तुलसी गणी ।

गमेइ (५६.२६) : गमयति (सं.); = बोधयति । मूलपाठ : 'कमलसेणा विमलसेणं गमेइ' = कमलसेना विमलसेना को समझाती है ।

गयमय (३३६.४) : गतमृत (सं.); भूत-प्रेत । यह देशी शब्द है ।

गयवज्जमज्जो (१६२.४) : ग्रैवेयकमध्यः (सं.); जिसके शरीर का मध्यभाग ग्रैवेयक के समान है । यों, ग्रैवेयक का सामान्य अर्थ ग्रीवा (गले) का आभूषण है । किन्तु कथाकार का संकेत उस विशिष्ट आभूषण या गजमुक्ता (गजवज्र) की ओर प्रतीत होता है, जिसका मध्यभाग पतला रहता है । अर्थात्, प्रसंगानुसार ऋषभस्वामी के शरीर का मध्यभाग (कमर) पतला था ।

गवलगुलिय (२६५.८) : गवलगुलिक (सं.); भैंस का सींग और अंजनगुटिका (गुलिय = गुटिका) के समान (नीले आकाश का उपमान) ।

गामउड (२९५.१७) : ग्रामकूट (सं.); ग्रामणी; मुखिया । 'गामणी गामउड्ढे, गामगोहो गोहो एहे चत्थारोऽपि ग्रामप्रधानार्थीः ।' — 'देशीनाममाला' (२.८९)

गालेमि (२४६.१६) : गालयामि (सं.); नाश करता हूँ । [गालय घातु]; 'गालन' और भी कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । जैसे : छानना; गालना; निबोड़ना; अतिक्रमण करना; उल्लंघन करना आदि ।

गोज (३६४.१९) : [देशी] गवैया; ढोलकिया ।

[घ]

घरमयहरया (१४०.२७) : गृहमहत्तरका: (सं.); घर के बड़े-बूढ़े (‘महयरया’ का वर्ण-विपर्यय ‘मयहरया’ ।)

घारिय (२८७.२६) : घारित (सं.); विष के प्रभाव से व्याकुल। मूलपाठ : ‘विस-घारियाओ’।

[च]

चमढिज्जिहि (९८.२७) : [देशी] कुचले जाओगे। ‘चमढ’ देशी क्रिया के अनेक अर्थ हैं : मसलना; कुचलना; पीड़ित करना; आक्रमण करना; चढ़ बैठना। कथाकार द्वारा प्रयुक्त ‘चमढिज्जिहि’ (भविष्यत्क्रिया) में पर्याप्त क्रिया-वक्रता है।

चम्पहि (५०.१९) : इस देशी शब्द का प्रयोग कथाकार ने ‘चकमा’ के अर्थ में किया है। मूलपाठ है : ‘धणसिरिते चम्पहि दाऊण निग्गतो ।’ (धनश्री को चकमा देकर निकल गया ।)

चाउरंतग (१३२.१८) : चातुरन्तक (सं.); लग्नमण्डप। इससे चौकोर मण्डप की ओर संकेत होता है।

चिक्खल्ल (३२.२१) : कीचड़, कादो। यह देशी शब्द है। बुधस्वामी ने भी ‘बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह’ में कीचड़ के अर्थ में ‘चिक्खल्ल’ का प्रयोग किया है। (‘कंदलीफलचिक्खल्लप्रस्खलच्चरणः क्वचित्’ : १८.३४५ ।)

चीरिकामुण्डा (९६.३) : चीरिकामुण्डा (सं.); ‘चीरिका’ का अर्थ फतिगा है। पूरी तरह से नहीं मूड़े हुए या जहाँ-तहाँ मूड़कर छोड़े हुए माथे को कथाकार ने ‘चीरिकामुण्ड’ (सं.) कहा है। ‘चीरिकामुण्डा’ बहुवचनान्त प्रयोग है। यों भी, कैची से कपचे हुए माथे को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि माथे पर फतिगे आ बैठे हों।

चोक्खीकरेह (६९.१९) : चोक्षीकुरुष्व (सं.); शुद्ध, नीरोग करो। यहाँ कथाकार ने चोक्ष (शुद्धिवादी)-सम्प्रदाय की ओर भी संकेत किया है। (विशेष विवरण प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के सांस्कृतिक जीवन-प्रकरण के धर्म-सम्प्रदाय-प्रसंग में द्रष्टव्य ।)

[छ]

छिक्का (१७८.३०) : स्पृष्टा (सं.); स्पर्श की गई। ‘देशीनाममाला’ (३.३६) के अनुसार छूने के अर्थ में प्रयुक्त यह देशी क्रियाशब्द है।

छिण्णकड्ढग (२४८.२६) : छिन्नकटक (सं.); पहाड़ की खड़ी ढलाई; शृंगहीन पर्वतपीठ; अधित्यका।

[ज]

जति (१४१.३०) : यदि (सं.); अगर (‘द’ की जगह ‘त’)

जमगपख्य (१७१.१२) : यमकपर्वत (सं.); मूलपाठ : 'जमगपख्यसंसिथा इव लया सुहेण वड्डिया' = यमक कोई पर्वत-विशेष है, जिसपर लताएँ उसी प्रकार सुखपूर्वक, निर्बाध भाव से पल्लवित होती हैं, जिस प्रकार अलान का आश्रय पाकर वे बढ़ती हैं।

जाणुअ (१७६.१६) : ज्ञाता (सं.); जानकार, जाननेवाला।

जीवा (१६९.१) : ज्या (सं.); धनुष की डोरी, प्रत्यंचा।

[ठ, ड, ण]

ठियण्डियानिमित्तं (१४०.२७) : 'स्थितिपतितानिमित्तं' (सं.); पुत्रजन्म या पुत्रविवाह-सम्बन्धी उत्सव-विशेष ('स्थितिपतिता') के निमित्त।

डक्क (२४५.५) : [देशी]; दष्ट (सं.); डँस लिया, डँसा हुआ। डँसने या डंक मारने की अनुध्वनि के आधार पर देशी क्रिया 'डक्को' का निर्माण हुआ है।

डहरिका या डहरिया (११.७) : छोटी; जन्म से अठ्ठारह वर्ष तक की लड़की (देशी शब्द)।

डिंडी (५१.११) : यह देशी शब्द है। सं. 'दण्डिन्' से इसकी उत्पत्ति सम्भव है। दण्डी, अर्थात् दण्डाधिकारी। डॉ. मोतीचन्द्र ने 'डिण्डी' का अर्थ छैला किया है। द्र. 'चतुर्भाणी' ('शृंगारहाट') की भूमिका। बुधस्वामी ने 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में डोंग हाँकनेवाले विचित्र शस्त्रधारी आरक्षी सैनिक के अर्थ में 'डिण्डिक' का प्रयोग किया है (द्र. १८.२०२, २०८)।

णभोग (३४४.१५) : नभोग (सं.); नभोगामी; दिव्य। मूलपाठ : 'णभोग-परिभोग' = दिव्य परिभोग।

णिण्ति (१८२.१२) : निर्गच्छन्ति (सं.); बाहर निकल जाते हैं।

णिकाइय (२४८.२१) : निकाचित (सं.); कर्मबन्ध-विशेष से आबद्ध।

णित्थि (१७८.२७) : निश्चितं या नित्यं (सं.); निश्चित; नित्य।

णेगम (११६.२४) : नैगमं (सं.); वणिक्; व्यापारी; नगरसेठ; नगरपाल (नगर-निगम के अध्यक्ष)। इसका अन्य अर्थ है : वेद से सम्बद्ध या वेद में प्राप्य।

णिव्वहण (१४.१८) : निर्वहण (सं.); विवाह के अर्थ में प्रयुक्त देशी शब्द। विवाह ('णिव्वहण') में दाम्पत्य-जीवन के निर्वाह का अर्थ निहित है।

ण्हाविया (९६.१) : स्नापिताः (सं.); यहाँ कथाकार ने 'ण्हाविय' का प्रयोग 'नापित' के अर्थ में किया है। यद्यपि अन्यत्र 'स्नापित' (स्नान किये हुए) के अर्थ में भी यह प्रयुक्त हुआ है।

[त]

तित्थ (३३४.४) : तीर्थ (सं.); यात्रास्थान; पड़ाव; प्रचलित अर्थ धर्मक्षेत्र या देवायतन।

तीत (३८.२०) : अतीत (सं); बीता हुआ; विगत । विकल्प से 'अ' का लोप होने से 'ती' बन गया है ।

[थ द]

थेव (२५६.२६) : स्तोक (सं); थोड़ा; बिन्दुमात्र; अल्पमात्र । पालि में 'थेव' को 'बिन्दु' कहा गया है ।

दलिय (१८९.२६) : दलित (सं); 'दलिय' के विकसित, खण्डित विदारित आदि कई अर्थ हैं । 'देशीनाममाला' (५.५२) के अनुसार 'दलिय' का अर्थ 'निकूणितक्ष' (टेढ़ी, या ऐंची नजरवाला), उँगली और काष्ठ है । किन्तु, संघदासगणी ने दुर्गति या दुःखपूर्ण स्थिति की प्रतीक्षा के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है । मूलपाठ है : 'नरयगमणहेउं तेसि चित्तंतो उवेव्वत्ति दलियं विमग्गमाणो ।' (नरक-गमन के कारण को सोचता और उनकी दुःखपूर्ण स्थिति की प्रतीक्षा करता हुआ ।)

दसिणा (१५५.२१) : [देशी]; सूत या ऊन का पतला मुलायम घागा ।

दाइय (३८.१२) : दर्शित (सं); दिखलाया ।

दुगुणतरागं (५६.११) : द्विगुणत्वरकं (सं); जिसकी त्वरा (फुरती) द्विगुण (दुगुनी) हो गई हो ।

दुप्पडतप्पणा (३८.१९) : दुष्प्रतितर्पणा (सं); मूलपाठ 'दुप्पडतप्पणा बोही' का तात्पर्य बोधि (ज्ञान) की दुर्लभता से है । 'दुप्पडतप्पणा' का अर्थ दुर्लभ या दुर्ग्राह्य सम्भव है ।

दुवग्गा (१०३.३१) : द्विकाः (सं); दोनों ।

देवपाओगं (१४२.२४) : देवप्रायोग्यं (सं); देवोचित ।

देवोवयण (१४२.२४) : देवापपतन या देवोत्पतन (सं); देवता का आकाश से नीचे उतरना ।

देसिक (१२२.३) : देशिक (सं); पथिक; मुसाफिर; प्रेषित; प्रवासी ।

देसूण (२५७.२१) : देशोन या ईषदून (सं); कुछ कम; कम अंशवाला ।

[न]

नालियागलएहिं (१०१.१०) : नालिकागलकैः (सं); विशिष्ट नाट्य-विधि । (विशेष विवरण के लिए प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ का ललितकला-प्रकरण द्रष्टव्य ।)

निअहु (४२.२६) नि + अहु = निःशेष या निश्चित रूप से (नि) बाधक [अहु-देशी] ।
अहु = आड़े आनेवाला; बाधा पहुँचानेवाला ।

निग्गओ मि पेच्छाधरं (१८०.१३) : 'निर्गतोऽहं प्रेक्षामृहत्' (सं); मैं प्रेक्षागृह 'नाट्यशाला' से निकला । कथाकार का पंचमी (अपादान) की जगह कर्मकारक का प्रयोग-वैचित्र्य द्रष्टव्य ।

निद्धमण (९.४) : [देशी] खाल; मोरी; नाली; पानी जाने का रास्ता ।

निव्यतण (३०.२५) निवर्तन (सं.); खेत या भूमि की नाप ।

निययमेहुणया (२७.१५) : निजकमैथुनिका (सं.); यों, प्राकृत में प्रचलित 'नियय' और 'मेहुणया' ('मेहुणिया') देशी शब्द हैं । 'नियय' का अर्थ मैथुन है और मेहुणिया का अर्थ है मामा की लड़की । 'अपने मातृगोत्र की' ऐसा अर्थ भी इससे ध्वनित होता है ।

निव्युसणलत्तओ (३२.१०) निर्व्युषणालक्तकः (सं.); सूखा (निचोड़ा हुआ) अलता या महावर ।

निव्वोदण्ण (४२.४) : निव्व—णिव्व [देशी] = व्याज (बहाना) या अभिप्राय के उदय से । (अगडदत्त के मन में अपनी चहेती श्यामदत्ता को साथ ले जाने का व्याज (अभिप्राय) उत्पन्न हो आया था : 'हिबए निव्वोदण्ण' ।)

निसीहि्या (२४.१८) : निशीथिका या नैषेधिकी (सं.); स्वाध्याय-भूमि; तप के उद्देश्य से थोड़े समय के लिए स्वीकृत स्थान; पापक्रिया का त्याग; तप के अतिरिक्त व्यापार का निषेधक आचार ।

निहुओ (१२०.१२) : निभृतः (सं.); गुप्त; प्रच्छन्न ।

[ष]

पंचमघार (६७.१६) : घोड़े की विशेष गति; घोड़े की विशिष्ट चाल ।

पंडग (३९.२८) : पण्डक (सं.); नपुंसक; हिजड़ा ।

पउण्णय : पओण्णय (३०१.१५) : प्रपौत्रिक (सं.); वंश-परम्परा । इसका एक संस्कृत-रूप 'पदोत्पद' भी हो सकता है, जिसका अर्थ होगा : क्रम-क्रम से । पालि में इसका अर्थापकृष्ट रूप 'पटुण्णद' होगा, जिसका अर्थ होगा : घटने के क्रम से ।

पकट्ठिओ (१०५.७) : प्रकथितः (सं.); [प्र + कश् + क्त 'कश्' शब्दे] ।—

[प्र + कत्थ् + क्त] पकत्थिओ = कहा; प्रशंसा की ।

पक्खेव (१४६.४) : प्रक्षेप (सं.); पूँजी ।

पच्चतो (१५४.१३) : प्रत्ययः (सं.); विश्वस्त समाचार; ज्ञेय विषय ।

पच्चल (२०७.२८) : [देशी] समर्थ । 'असहणसमत्थप्सुं पच्चलो पक्कणो चेअ ।'
—'देशीनाममाला' (६:६९)

पक्खताण (६६.२९) : [देशी] जीन कसने की पेटी; घोड़े का पलान ।

पडिनिवेश (८९.८) : प्रतिनिवेश (सं.); दुराग्रह; अभिनिवेश ।

पडिओक्खिय (६४.१२) : प्रत्युपस्कृत (सं.); सजाया गया; अच्छी तरह सुसज्जित किया गया ।

पडिसर (६४.११) : प्रतिसर या परिसर (सं.); घेरा, कनात । [अँगरेजी : 'कैम्पस'] ।

पडिहत्थेल्लिय (४५.१३) : यह देशी शब्द है । इसका अर्थ है : पूर्ण; भरा हुआ; जोरों की आवाज से भरा हुआ । मूल प्रयोग : 'पडिहत्थेल्लियरबुम्मीसं'; जोरों की आवाज के साथ; भयंकर स्वर-मिश्रित ।

पणाभिअ (३२.१०) : (सं.); अर्पित के अर्थ में; समर्पित; देने के लिए सुरक्षित ।

पणेता (९९.७) : कथाकार द्वारा प्रयुक्त यह शब्द (पूर्वकालिक क्रिया) अस्पष्टार्थ है । इसे यदि 'पणित' से निष्पन्न माना जाय, तो 'बेचकर' ऐसा अर्थ होगा । मूलपाठ है : 'पणेता पकासा जाया ।' 'पणेता' को यदि 'प्रनेत्रा' माना जाय, तो अर्थ होगा : नेत्र के प्रत्यक्षीभूत; प्रकटित ।

पत्त (२४७.२९) : पत्र (सं.); यह भी बह्वर्थक शब्द है । यहाँ कथाकार ने जूए के दाँव के अर्थ में इसका प्रयोग किया है । मूलपाठ है : 'ततो ते जिप्पमाणा बिउण-तिउणानि पत्ताणि धरेति ।

पत्त-पट्ट (१४६.१२) : पट्ट (सं.); समुद्रमग्न जहाज का बहता हुआ तख्ता ।

पत्थड (२२३.८) : प्रस्तट या प्रस्तर (सं.) विमान (देव-भवन) के बीच का अन्तराल भाग (गलियारा) ।

पत्थिया (२९.५) : [देशी] बाँस की डलिया । इसी शब्द से कदाचित् 'पथरी' (पत्थर का भाजन-विशेष : 'पथिया') का विकास हुआ है ।

पत्थु (३०३.२२) : यह शब्द भी अपने अर्थ में कथाकार के प्रयोग-वैचित्र्य का ही उदाहरण है । यथाप्रसंग 'पत्थु' शब्द मृत्युवाचक है, जिसमें प्रस्थान करने, इस दुनिया से कूच करने का भाव निहित है । मृत्यु के लिए प्राकृत में 'मच्चु' रूप प्राप्त है, किन्तु 'पत्थु' प्रयोग तो विचारणीय है । मूलपाठ है : 'सप्पट्ठं बंभणपुत्तं पासेणं बंधुपरिवारियं पत्थुपरिभूयं उक्खविकुणं राखभवणं पवेसेइ ।' 'वसुदेवहिण्डी' में यथासंकेतित बंभणपुत्त की कथा 'महाभारत' में प्राप्य ब्राह्मणपुत्र की कथा के साथ ही पालि के ब्राह्मणपुत्तजातक से भी तुलनीय है ।

पदेसिणी (१८४.१२) : प्रदेशिनी (सं.); तर्जनी अंगुली । 'प्राकृतशब्दमहार्णव' के अनुसार 'पडोसिन' भी ।

पमेयग (४४.२१) : प्रमेदक (सं.); अतिशय मेदस्वी; स्थूल (हाथी का विशेषण) ।

परतती-तत्तिल्ल (३१.७) : यह देशी शब्द है । यम दूसरे की चिन्ता ('तती' : चिन्तित अवस्था) से ही तृप्त होता है : 'पिच्छमु कयंतस्स परततीतत्तिल्लस्स' । (तत्तिल्ल = तृप्ति) । चिन्ता के अतिरिक्त, इस शब्द का अर्थ है : प्रयोजन; तत्परता । 'वसुदेवहिण्डी' के पृ. ९४, पं. २७ में 'तती' शब्द तत्परता के अर्थ में ही प्रयुक्त है । इस प्रकार, उक्त मूल पाठ का अर्थ होगा : 'दूसरे को कष्ट (चिन्ता) में डालने के लिए सदा तत्पर क्रूर दुर्भाग्य (कृतान्त) को देखो । (तत्तिल्ल = तत्पर ।)

पराभग्नो (१८.२९-३०) : पराभग्नः (सं.); भाग गया; पराजित हो गया ।

परिधम्मिक (२७१.७) : प्रतिधार्मिक (सं.); विपरीत धर्मवाला; प्रतिपक्षी ।

परियत्ति (६९.१०) : पालि में इस शब्द का अर्थ है; धर्मग्रन्थों के अध्ययन की उपलब्धि ।
संघदासगणी ने संकेत की उपलब्धि के अर्थ में इसका प्रयोग किया है ।
मूलपाठ है : 'पड्ढागपरियत्तिपरायणो' = पताका के संकेत की उपलब्धि के लिए तत्पर । सं. 'पर्याप्ति' के समानान्तर इस शब्द की विवेचना सम्भव है ।

परिसाविथा (२९५.१३) : परिस्राविता (सं.); यों, 'परिस्राविता' का सामान्य अर्थ होगा :
निचोड़ी गई; चुलाई गई; टपकाई गई; पर कथाकार ने 'तुला परिसाविथा'
का प्रयोग सोद्देश्य किया है । न्याय के लिए तुला प्रस्तुत की गई है ।
'प्राकृतशब्दमहार्णव' के अनुसार, 'परिसाविथा' का एक भिन्न अर्थ भी
निकलता है : 'गुह्य बात प्रकट कर दी गई ।' प्राचीन न्यायपद्धति में तुला-परीक्षा
से छिपे हुए सत्य को प्रकट किया जाता था ।

पवितीतिण (२१६.७) : प्रवृत्त्यागमनेन (सं.); समाचार आने पर; समाचार मिलने से ।

पव्विद्ध : पव्विद्ध (२७७.६) [देशी] प्रेरित । 'पव्विद्धं पेरियए' ।—'देशीनाममाला'
(६.११) ।

पवियव्व (३५८.२५) : प्लवितव्य (सं.); [प्लव् + तव्यत्] तैरने योग्य या तैरने का
उपकरण । मूल प्रयोग 'पवियव्वजोग्गाणि' में 'पवियव्व' की स्वयं अर्थयोग्यता
के बावजूद 'जोग्गाणि' जोड़कर कथाकार ने प्रयोग-वैचित्र्य प्रदर्शित किया है ।

पवियार (९७.२६) : प्रविचार (सं.); काम-मैथुन या रतिकार्य ।

पहगर : पहयर (२४८.५) : [देशी] निकर; समूह; यूथ । 'पग्गेज्जपहयरा णियरे ।'—
'देशीनाममाला' (६.१५) ।

पाउखगमन (१७०.३०) : पादपोषगमन या प्रायोपगमन (सं.); अनशन-विशेष द्वारा मरण
को अंगीकृत करना; अनशन द्वारा मरने की तैयारी करना; आमरण अनशन ।
इसे 'प्रायोपवेशन' भी कहते हैं । वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम का तपोविशेष ।

पाडय (७४.२९) : पाटक (सं.); बाड़ा; मुहल्ला ।

पाठ (३०६.७) : पाट-पाटक (सं.); मुहल्ला; टोला; टोल ।

पायकेसरिया (१९.२१) : पात्रकेसरिका (सं.); जैन साधुओं का एक उपकरण; पात्र-प्रमार्जन
का वस्त्र ।

पारद्ध (१८२.३) : [देशी] पीडित । 'देशीनाममाला' में पूर्वकृत कर्म का परिणाम,
आखेटक (शिकारी) और पीडित के अर्थ में इस शब्द का उल्लेख किया
गया है : 'पुव्वकयकम्मपरिणइआहेडयपीडिएसु पारद्धं' (६.७७) । मूलपाठ
है : 'ततो पेहिं गाओ पारद्धाओ ।' तब उन्होंने (दण्डधारी गोपों ने) गायों को
पीडित किया (पीट करके भगा दिया) ।

पारास (२०९.८) : प्रातराश (सं.); सुबह का जलपान; पाथेय; बटकलेवा । 'पारास' में मध्यवर्ती 'त' का लोप हो गया है ।

पिंडोलग (११४.३०) : पिण्डावलगक (सं.); भिक्षा से निर्वाह करनेवाला; भिक्षु । पिण्ड = भिक्षा ।

पीलणवाररहिय (३४०.१५) : पीडनवाररहित (सं.); कथाकार द्वारा यह शब्द ऋषभस्वामी के नेत्र-कमल के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । मूलपाठ है : 'अच्छिकमलमालापीलणवाररहिय . . .' इससे निर्निमेष दृष्टि का भाव-बिम्ब उभरता है । क्योंकि, 'पीलण' और 'वार' दोनों क्रमशः पीडन और निवारणवाची शब्द हैं । 'पीलणवाररहिय' = आँख में पीडा और रुकावट उत्पन्न करनेवाले, अर्थात् निमेषपात से रहित ।

पीहड़ : पीहग (१५२.१४) : पीठक (सं.); नवजात शिशु को पिलाई जानेवाली घूँटी; घुट्टी ।

पुढविकज्ज (२५८.२४) : पृथिवीकाय-कार्य (सं.); पृथिवी-तत्त्वमूलक पदार्थ ।

पेरंत : पञ्जंत (६७.१८) : पर्यन्त (सं.); बाह्य परिधि; तक ।

पोएमि (८१.२०) : पातयामि (सं.); मार गिराता हूँ । 'पोत' (प्र. पोत) — पिरोने के अर्थ में भी 'पोएमि' सम्भव है । किन्तु प्रसंगानुसार 'पातयामि' ही संगत है । मूलपाठ : 'अहं एयं कागबलं पोएमि ।'

पोट्ट (६०.८) : [देशी] पेट या कुक्षि । मूलपाठ : 'वसुदत्ताए पोट्टे वेदणा जाया = (गर्भवती) वसुदत्ता के पेट या कोख में पैदा होने लगी ।

पोतवेंटलिय (५५.९-१०) [देशी] कपड़े का गोत किया हुआ रूप; कपड़े की गठरी या पोटली । पोत = कपड़ा; वेंटलिय = पोटली ।

पोत्साहका दिया (१९१.२१) : प्रोत्साहकाः द्विजाः (सं.); प्रोत्साहित या प्रेरित करनेवाले ब्राह्मण ।

पोरागमसो (३५२.४) : पौरागमाः (सं.); रसोइये । अकारान्त 'पौरागम' शब्द के प्रथमा बहुवचन में प्रयुक्त व्यञ्जनान्त (सकारान्त) 'पोरागमसो' रूप से कथाकार का प्रयोग-वैशिष्ट्य के प्रति आग्रह व्यक्त होता है ।

[फ]

फरुससाला (३०९.१) : परुषशाला (सं.); कुम्भकार का गृह; कुम्भकार-गृह । कुम्भकारवाची 'फरुस' देशी शब्द है ।

फरिसेऊण (१०७.११) : डाँटकर या निष्ठुर वचन बोलकर । फरुस (सं. परुष) = कुवचन, निष्ठुर वाक्य । 'फरुस' से निष्पन्न असमापिका क्रिया ।

फालिय (३७.११) : फालिक [देशी] देश-विशेष में बननेवाला वस्त्र-विशेष ।

फासुअ (२५.२) : प्राशु सुक (सं.); अचेतन; अचित्त; जीवरहित पदार्थ ।

फिडिय (२२१.२७) : स्फिटित (सं); मुक्त; उल्लंघित; भग्न ।

फेडेउं (८९.१०) : स्फेटितुं (सं); स्खलित करने के लिए; विचलित करने के लिए; नष्ट करने के लिए ।

[ब]

बंधामहे (३३०.१९) : यह 'बन्ध्' धातु का, आत्मनेपदी में, उत्तमपुरुष (हिन्दी का प्रथम पुरुष एवं अँगरेजी का 'फर्स्ट परसन') के बहुवचन का रूप है, जिसे कथाकार ने अविकल भाव से प्राकृत में आत्मसात् किया है ।

बाहिरभावो (११५.६-७) : इस शब्द को कथाकार ने पालि से आयातित किया है; क्योंकि प्राकृत में 'बाहिर' का बहिस् (बाहर) के अलावा और कोई विशिष्ट अर्थ कोश में उल्लिखित नहीं मिलता । पालि के अनुसार 'बाहिरक' का अर्थ 'दूसरे मत से' कोश-संगत है । मूलकथा के प्रसंगानुसार 'बाहिरभावो' का अर्थ होगा : मन में किसी प्रकार का अन्यथाभाव मत लाओ या, दूसरे मत का मत बनो । सामान्य अर्थ 'घर से कहीं बाहर चले जाने की भावनावाला' भी असंगत नहीं है । मामा की लड़कियों द्वारा तिरस्कृत नन्दिसेन (पूर्वभव के वसुदेव) और उसके मामा की उक्ति-प्रत्युक्ति के प्रसंग में, मामा के मुख से कथाकार ने यह शब्द कहलवाया है । मूलपाठ है : 'मा बाहिरभावो होहि' = मन में अन्यथाभाव मत लाओ या मन में घर से बाहर जाने की भावना मत आने दो ।

बित्तिज्जियं (१२०.२५) : द्वितीयः द्वितीयां (सं); दूसरा : दूसरी को । 'बित्ति' के स्थान पर 'यं' के पूर्व 'इज्ज' क्रियातिपत्ति के साथ 'बित्तिज्जियं' का प्रयोग-वैचित्र्य विचारणीय है ।

बिब्बोयण : [देशी] तकिया; उपधान । इसकी संस्कृत-छाया यदि 'बिब्बोकन' : 'बिब्बोक' माना जाय, तो अर्थ होगा : कामचेष्टा; शृंगारचेष्टा ।

बुहाहंकारा (१११.४) : बृहदहंकारः (सं); अतिशय गर्वोदीप्त ।

बोदिय : बोदि (३२३.९) : [देशी] शरीर; देह ।

[भ]

भवनकोडग (२२१.२५) : भवनकोटक (सं); भवन का कक्ष; घर की कोठरी ।

भाउभंड (१२५.३०) : भ्रातृभण्ड (सं); भाई के साथ बहन का युद्ध । भंड : भंडण = कलह; गाली-गलौज; क्रोधपूर्ण नोक-झोंक; युद्ध ।

भारग्गसो (३६८.३०) : भाराग्रशः (सं); परिमाण-विशेष; भार-का-भार (पदार्थ) ।
मूलपाठ : 'दिण्णं च भारग्गसो सुचण्णं ।'

भिडिय (३३७.५) : [देशी] भिड़नेवाला; भिड़न्त करनेवाला; बाजपक्षी ।

भिन्न (३२०१३) : भींगा हुआ। भींगने के अर्थ में देशी 'भिन्न' शब्द का प्रयोग अपनी विशिष्ट महत्त्व रखता है।

भुक्खंडिय (१५५.१९) : भुक्खंडिय ('देशीनाममाला' : ६.१०६); उद्धूलित; भस्मांचित।
मूलपाठ : चुण्णभुक्खंडिय्वाहु-सीसे = भुजाओं और माथे में चूने की बुकनी लगाये हुए।

भेडहत्थी (२८.२९) : 'भेड' देशी शब्द है, जिसका अर्थ है : भीरु; डरपोक; कायर।
भेडहत्थी = डरपोक हाथी।

भेलविय (६.१०) : भेल (महाराष्ट्री > मराठी); भेलित (सं.); मिश्रित; युक्त (भयभेलविय = भययुक्त)। (बम्बई में चाट की दुकान में प्राप्य चाट की मिश्रित सामग्री 'भेलपूरी' प्रसिद्ध है।)

[म]

मंगुल (१२२.२७) : [देशी] अनिष्ट। 'मंगुलं अनिष्टं पापं च'।—'देशीनाममाला' (६.१४५)

मण्डलग (१२३.८) : मण्डलाम् (सं.); तलवार की नोक।

मंडुक्की (१३८.१९) : झोली। यह देशी शब्द है। प्रसंगानुसार, इसका अर्थ झोली या थैली उन्नावित होता है। मूलपाठ : 'विज्जाहराणं किल चम्परयणमंडुक्कीसु ओसहीओ चत्तारि अत्ताणं रक्खिउं'। [विद्याधरों के चर्मरत्न-निर्मित थैली (झोली) में आत्मरक्षा के निमित्त चार ओषधियाँ रहती हैं।]

मरालगोण (२२१.२२) : [देशी] आलसी या सुस्त बैल। विशेष द्र. 'देशीनाममाला' (६.११२ तथा २.१०४)।

मत्सग (१४७.२) : [देशी] मलिया प्याला। 'मत्सयमपूवभेए सरायकोसुंभवस-एसु'।—'देशीनाममाला' (६.१४५)

महुरसंदाइऊणं (६७.१६) : सन्दानित (सं.); नियन्त्रित। धीरे-धीरे नियन्त्रित भाव से दौड़ाकर (अश्वशिक्षा)। क्रियाविशेषण-सहित पूर्वकालिक क्रिया का यह प्रयोग विचित्र भी है, विशिष्ट भी। संस्कृत-रूप होगा : 'मधुरं सन्दानयित्वा।'

मिड (२८५.१९) : मेड (सं.); मेष; लिंग।

मूण (२१५.२) : मौन (सं.); मौन; चुप। मौन का 'मूण' के रूप में प्रयोग पैशाची प्रवृत्ति का द्योतक है।

[र]

रसगल (२५८.२७) : रसार्द्र (सं.); रस से गीला; रसोल्बण; रसदार।

राउल (३९.६) : राजकुल (सं.); यहाँ इस शब्द में 'ज' का पूर्ण लोप हो गया है और 'कु' का उद्धृत स्वर 'उ' रह गया है। राउल < राजकुल।

रिडुवाइंगणी (१११.३) : [देशी] कटरेंगनी। वाइंगणी = बैंगन।

रिभितवाणी (७७.२४) : स्वर के घोलन से युक्त वाणी; गूँजनेवाली वाणी; ऋषभस्वर-युक्त वाणी। ('रिभित' शब्द प्राकृत का प्रयोग-वैचित्र्य ही है।)

रुइयाणि (१०६.७) : रुचितानि (सं.); पीसकर मिलाने या मिश्रण करने के अर्थ में प्रयुक्त। ('रिच्' वियोजन-सम्पर्चनयोः)। सम्पर्चन = मिश्रण। देशी प्राकृत में 'रिच्' का 'रुच्' आदेश।

रूवावेक्खा (३०७.२६) : रूपापेक्षा (सं.); रूप की अपेक्षा (परवाह) करनेवाली (स्त्री); रूपगर्विता।

[ल]

लया (७५.१४) : लता (सं.); यहि; छड़ी। छड़ी या यहि के लचीलेपन की भावकल्पना के आधार पर ही कथाकार ने 'लता' का प्रयोग किया है। लचीलेपन के कारण ही सुन्दरी के शरीर को 'देहयष्टि' या 'अंगलता' कहा गया है।

लेच्छारत्ता (२९६.२१) : [देशी] लेपकर; लोकप्रयोग—लेसाइकर। (पूर्वकालिक क्रिया)

लेण (३०९.२) : लयन (सं.); गुफा, गिरिवर्ती पाषाणगृह; बिल; जन्तुगृह। गुफा में लीन होने की भावकल्पना को आधार बनाकर ही गुफा के अर्थ में 'लेण' का प्रयोग हुआ है।

लेसिय (९५.२९) : लेसने, लेपने के अर्थ में प्रयुक्त देशी शब्द। 'लेसिय' का ही संस्कृत-रूप 'लेश्या' है। इसी से हिन्दी में 'लस्सा' या 'लट्टा' शब्द विकसित हुआ है। जैनदर्शन की परिभाषा के अनुसार, जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है, उसको 'लेश्या' कहते हैं।

लोगक्खाडग (२२३.८) : लोकाक्षवाटक (सं.); रिडुविमान में स्थित देवों का अखाड़ा या विशेष बैठका। (अक्षवाटक > अक्खाडग > अखाड़ा।)

लोभयत्थ (३०३.५) : लोभग्रस्त (सं.); लोभी; लोभ से ग्रस्त।

लहसिउ (२८७.२५) : संसित्वा (सं.); खिसककर, सरककर, गिरकर। (लहस्—संस्।)

[व]

वंचण (७६.८) : वञ्चन (सं.); बिताना। 'वञ्च्' गमने से निष्पन्न। मूलपाठ : 'दिवसा-वसेसवंचणनिमित्तं' = दिन का शेष भाग बिताने के निमित्त।

वतव (२१.२०) : वाक्तपः (सं.); वाक्संयम-रूप तप (वाक् > वाइ > वः : 'पाइयसद्-महणवो')।

वंसीकुइंग (६७.२१) : [देशी] कुटङ्क—वंशकुटङ्क (सं.) = बाँस का बिट्टा; वंशगुल्म। संस्कृत में 'कुटङ्क' का अर्थ छत या छप्पर है।

वइसाह (६९.१९) : वैशाख (सं.); तलवार की (विशाखा नक्षत्र के आकार की भाँति) मूठ।

वगहृद (२१५.२९) : वकहृद (सं.); हृदविशेष, जहाँ शल्यक्रिया से उत्पन्न घाव भरनेवाली संरोहिणी ओषधि पाई जाती है। कथाकार ने कई अद्भुत हृदों का उल्लेख किया है, जिनमें 'वकहृद' का भी उल्लेखनीय महत्त्व है।

वक्तव्य (९०.४) : वर्तव्यक (सं.); प्रसंगानुसार अर्थ : वंशवद; अधीन। मूलपाठ : **वम्पहवक्तव्यं** = मन्मथ (कामदेव) के अधीन। अन्यत्र एक स्थल पर (३०९.१) कथाकार ने निन्दित वचन के अर्थ में भी इसका प्रयोग किया है। मूलपाठ है : 'फरुससालाए वक्तव्यं भासिऊण गतो पुरिसपुरं।'

वर्धं गियत्या (३७.१२) : वस्त्र पहने हुई। परिधान के अर्थ में 'गियत्या' देशी शब्द है।

वदणवारी (३६५.१९) : यह शब्द भी कथाकार के प्रयोग-वैचित्र्य का उदाहरण है। 'वदण' को यदि 'वयण' या 'वयणिज्ज' के समानान्तर मानें, तो इसका अर्थ होगा : लोकापवाद या निन्दा। 'वारी' का अर्थ रोकनेवाला स्पष्ट है। प्रसंगानुसार : वसुदेव नहीं चाहते थे कि वह अपने ज्येष्ठ भाई समुद्रविजय से लड़ें। इसलिए, भाई-भाई में युद्ध के लोकापवाद को रोकने के लिए उन्होंने अपने नाम से अंकित बाण समुद्रविजय के पादमूल में निक्षिप्त किया था। इस प्रकार, 'सर' का विशेषण 'वदणवारी' का अर्थ होगा : (भ्रातृयुद्ध के) लोकापवाद को रोकनेवाला।

वद्यकर (१५१.२८) : व्यतिकर (सं.); संयुजन; परस्पर मिलन (सम्भोग की इच्छा से)।

वरत्ता (९९.६) : वरत्रा (सं.); रस्सी; डोरी; बरती (लोकभाषा)।

वत्संजेति (२५७.७) : यहाँ 'वल्' धातु से निष्पन्न क्रिया का प्रयोग-वैचित्र्य द्रष्टव्य है। व्यापार के लिए वणिकों द्वारा यातायात करने के अर्थ में यह क्रिया प्रयुक्त हुई है। संस्कृत-रूप 'वल्न्ति' सम्भव है।

वत्सव (३५५.४) : प्रसंगानुसार, 'वत्सव' का त्रिवली अर्थ सम्भावित है। प्रो. साण्डेसरा ने भी 'वसुदेवहिण्डी' के गुजराती-अनुवाद में अनुमान से ही 'वत्सव' का त्रिवली अर्थ किया है। डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने अपने अँगरेजी-अनुवाद में प्रो. साण्डेसरा का ही साक्ष्य प्रस्तुत किया है। बुधस्वामी ने भी 'वत्सव' शब्द का उल्लेख किया है, किन्तु वह रसोइया की संज्ञा में रूढ़ है। 'वसुदेवहिण्डी' का मूलपाठ है : 'वत्सवविहृतकंतमज्झा' (भद्रमित्रा का नखशिख-वर्णन)।

वसिऊण (९७.३०) : उषित्वा (सं.); प्रसंगानुसार अर्थ : कामक्रीडा करके; सहवास करके।

वाओ अगिय (२५१.१६) : वातोदमित (सं.); वायु से उत्कम्पित या ऊपर उठा हुआ।

वातिग (२०१.२५) : वाचिक (सं.); विद्वान्; पठित; वाक्शक्तिसम्पन्न। ('च' का 'त')।

वारवर (३३६.७) : बारम्बार (सं.); बार-बार। ('बराबर' अर्थ भी सम्भव है।)

बाल (४४.२१) : ब्याल (सं.); दुष्ट हाथी । (पालि : पूँछ के बाल ।)

वाससे (३०.४) : वाशसे (सं.); चीखते-चिल्लाते हो [वाश् शब्दे] । अमरसिंह ने पक्षियों या तिर्यक् जातियों की आवाज को 'वाशित' कहा है : 'तिरश्चां वाशितं रुतम्' (अमरकोश : १.६.२५) ।

वासी (६३.८) : बसूला (बढ़ई का औजार) ।

वाह (२.१०) : प्राचीन परिमाण-विशेष; आठ सौ आठक का परिमाण । (पालि : गाड़ी का भार ।)

विअड (८०.११) : विकट (सं.); प्रकट; विवृत; खुला हुआ ।

विडत (४४.१०) : अर्जित (सं.); उपार्जित किया । 'विडत' का संस्कृत 'रूप' 'विधृत' सम्भव है । इसी का तिङन्त रूप 'विडवेइ' ('वसुदेवहिण्डी' : ११६.२७) भी द्रष्टव्य है ।

वितड्ढि (३०.३) : वितर्द्धि (सं.); वेदिका; हवनस्थान; चौतरा ।

वितड्डिय (२८१.१०) : वितत (सं.); विस्तृत; फैला हुआ ।

वित्त (१८७.२) : वृत्त (सं.); कविता; पद्य; छन्द ।

विच्छिज्जा (८०.२८) : वृत्तियात्रा (सं.); वृत्ति, यानी संसिद्धि के लिए आयोजित यात्रा ।

विलइय (३७०.११) : विलगित (सं.); (रथ पर) चढ़ना; (धनुष पर डोरी) चढ़ाना ।

विलया (९६.३२) : [देशी] वनिता ।

विलिओ (१३९.२) : वीडित (सं.); यह देशी शब्द है । इसका अर्थ है 'लज्जित' । 'देशी-नाममाला' में हेमचन्द्र ने लज्जार्थक चार शब्दों में 'विलय' को भी परिगणित किया है : 'लज्जाइ विलिय-विडूण-वेदूणा तहेव वेलूणा' । (७.६५)

विसरियनिसित (१८८.१) : विस्मृतनिशित (सं.); मूलपाठ है : 'एकपोमलपइड्डिय-विसरियनिसित व्व पसन्नदिट्ठी' । तपोनिरत बाहुबली का यह उत्प्रेक्षामूलक चाक्षुष बिम्ब है । बाहुबली अपनी ध्यानमग्नता के कारण जंगम होते हुए भी स्थावर-से लगते हैं ('जंगमपवरो होइउण थावरो सि जाओ ।') ध्यानावस्थित बाहुबली की तीक्ष्ण (निशित) दृष्टि प्रसन्न है और किसी एक वस्तु (पुद्गल) पर जाकर निश्चल हो गई है, मानों वह दृष्टि सुध-बुध भूल गई हो (विसरिय) । इस सन्दर्भ में, एकाग्र ध्यान में अवस्थित महायोगी का धार्मिक बिम्ब उद्भावित होता है ।

वीसरियाणि (१७९.१) : विसृतानि (सं.); मूलपाठ है : 'वीसरियाणि कवाड्डाणि' = किवाड़ खुल गये [वि + सुड् गतौ] ।

वीसुं (२७३.२६) : विष्वक् (सं.); समन्तात्; चारों ओर से; सब ओर से ।

कुच्छो (९२.२३) : 'वूढो' (व्यूढो-सं.); के अर्थ में प्रयुक्त । मूलपाठ : 'उदरे कुच्छो' = पेट (गर्भ) में धारण किया हुआ ।

कुट्टे (१२०.९) : कुट्टो [देशी प्राकृत] ; उन्मुक्त; बन्धनमुक्त । [विष्—वियुक्त होना];
विष्ट > विट्ट > वुट्ट (अर्द्धमागधी प्रवृत्ति—प्रथमा एकवचन की विभक्ति 'अ'
' की जगह 'ए') ।

वेकड (१०६.७) : कथाकार द्वारा लहसुन, प्याज और हींग के साथ प्रयुक्त यह शब्द किसी
उत्कट गन्धवाले पदार्थ की ओर संकेत करता है । मूलपाठ है : 'पलंडु-
लसुण-वेकड-हिंगूणि छालमुत्तेण सह रुचियाणि ।' वेअड = विकट ।

वेण : वयण (१८०.१०) : [देशी] बिछावन; बिछौना; शय्या ।

वेयालीए (७९.६) : वेलाए (वेलायां—सं.) का यह प्रयोग-वैचित्र्य प्रतीत होता है । प्रसंग
के अनुसार, वेला (तट) का ही अर्थ व्यक्त होता है । मूलपाठ : 'दहिणवेयालीए
समुद्दमज्जणं सेवमाणी' = दक्षिण तट पर समुद्रस्नान का सेवन करती हुई ।

[स]

संगार (५४.१८) : यह देशी शब्द है । इसका अर्थ 'संकेत' है ।

संजाववेउं (२४७.१) : संयमितुं (सं.); समझाने के लिए; संयत या नियन्त्रित करने के
लिए ।

संघुक्किअ (२३८.७) : सन्धुक्षित (सं.); सुलगाया; सतेज किया ।

सउवग्घायं (१३३.१२) : सोपोदघातं (सं. क्रि. वि.); उपोदघात (भूमिका)-सहित ।

सएज्जय (६२.९) : [देशी] प्रातिवेशिक; प्रातिवेशिक; पड़ोसी ।

सकण्णा (३६२.३) : सकर्णा (सं.); विदुषी ।

सकण्णे ! (३६९.७) : श्लक्ष्णे (सं.); सुन्दरि !; लावण्यवति !; चंचले ! कथाकार द्वारा
निर्मित यह सम्बोधन-शब्द संस्कृत 'श्लक्ष्ण' का प्रतिरूप प्रतीत होता है, जिसके
सुन्दरतावाची अनेक अर्थ विभिन्न कोशों में निर्दिष्ट हुए हैं ।

सच्छम (६७.१४) : [देशी] सदृश के अर्थ में प्रयुक्त । सं. रूप 'सत्सम' या 'सक्षम'
सम्भव है ।

सतीत (१७९.५) : शयित (सं.); सोया हुआ । 'य' का 'त' । यह भी प्रयोग-वैचित्र्य का ही
निदर्शन है ।

सदुत्ति (१३७.२०) : सयुवतीकः या सद्वितीयकः (सं.); युवती-सहित या दूसरी के साथ ।

समकडकीमाणं कडिल्लं (९४.२६) : मूल ग्रन्थ के सम्पादकों ने ही इस प्रयोग पर
प्रश्न-चिह्न लगाया है । प्रसंगानुसार अर्थ अनुमित है : (धोड़े) ने कमर को
मटकाया; कमर को झटका दिया । कडिल्ल = कटि, कमर ।

समय (१२१.१७) : (सं.) 'शास्त्र' के अर्थ में प्रयुक्त ।

समाही (१४०.२३) : समाधि (सं.); मेल; बनाव; पटरी; समाधान ।

समोत्थङ्ग (२९.२६) : समवस्थित (सं.); समाच्छादित; अच्छी तरह ढका हुआ ।

सयं (२५८.२५) : सकृत् (सं.); एक बार ।

सयराहं (१८४.३) : [देशी] एक साथ; युगपत् । 'देशीनाममाला' (८.११) के अनुसार 'शीघ्र' ।

सरिष्वर्वाहिं (१४३.२०) : सदृशवयस्काभिः (सं.); समान उम्रवालिओं द्वारा ।

सर्वं समादुवाली काऊण (२९०.२४) : 'सर्वं समद्विपारिकं कृत्वा' (सं.), प्रसंगानुसार, यह वाक्य, सब प्रकार के भोजन को सनकर या मिलाकर बराबर करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । यहाँ भी कथाकार का प्रयोग-वैचित्र्य स्पष्ट है ।

सस्स (२६५.२९) : शस्य या प्रशस्य (सं.); शंसा, श्लाघा, प्रशंसा ।

सह (१८९.६) : [देशी] समर्थ; शक्तिमान्; कार्यक्षम । मूल के प्रसंगानुसार, रोगमुक्त होने के बाद कार्यक्षमता से युक्त । 'देशीनाममाला' (वर्ग ८ : गाथा १) के अनुसार 'योग्य' ।

सहिण (१३४.११) : श्लक्ष्ण (सं.); चिकना; मसृण ।

साउहस्सा निराउहस्सा (२७७.५) : सायुधस्य निरायुधस्य (सं.); आयुधसहित और आयुधरहित का । यहाँ प्राकृत में षष्ठी विभक्ति के 'स्स' रूप के विकृत प्रयोग का वैचित्र्य ('स्सा') द्रष्टव्य है ।

सौपच्छाङ्गयसरीरा (७३.११) : सम्प्रच्छादितशरीरा' (सं.); ढकी हुई देहवाली । यहाँ अनुस्वार ('संप') की जगह अर्द्धचन्द्र-सहित आकार 'सौप' का प्रयोग-वैशिष्ट्य ध्यातव्य है ।

सामत्थेऊण (३४.२०) : पर्यालोचन के अर्थ में यह देशी शब्द है । संस्कृत में इसका रूपान्तर 'सम्यक् अर्थयित्वा' किया जा सकता है । मूलपाठ है : 'हियणं सामत्थेऊण ।' अर्थात्, मन में विचार कर, सोच-समझकर ।

सारीहामि (२९१.१४) : सारयिष्यामि (सं.); छान-बीन करूँगा; अन्वेषण करूँगा ।

सावस्सयासण (१३३.८) : सापाश्रयासन (सं.); आधारयुक्त आसन । कथाकार का संकेत ऐसे आसन की ओर प्रतीत होता है, जिसमें उठने के लिए आधार बना हो; मसनद आदि से सज्जित आसन ।

सिद्ध (६८.१४) : शिष्ट (सं.); [शास् + क्त] कथित; शासित ।

सिरारोह (७०.१८) : शिरोरोही (सं.); हाथी के सिर पर चढ़नेवाला (महावत) ।

सुज्झोडिय (३२.३३) : सुज्झोटित (सं.); अच्छी तरह झाड़ा हुआ ।

सुरियत्त (५५.११) सुरचित (सं.); मूलपाठ : 'सुरियत्तग्गहत्थो' : शोभनाकार सँड़वाला या सँड़ को अच्छी तरह ऊपर उठाकर (हाथी का विशेषण) । 'सुरियत्त' को 'सु'

उपसर्गपूर्वक 'रीङ् गतौ' धातु से निष्पन्न माना जाय, तो अर्थ होगा : सँड को अच्छी तरह हिलाता हुआ ('सुरीयमाण'— सं.) ।

सेववण (३४२.५) : श्वेत-वन (सं.); उज्ज्वल उपवन । श्वेत > सेव : 'त' का 'व' ।

सोषण (३६५.३०) : शोधन (सं.); शुद्धि; आत्मशुद्धि (वसुदेव की) । प्रसंगानुसार, यहाँ 'आत्मपरिचय' अर्थ भी ध्वनित होता है ।

[ह]

हएल्लिय (५६.११) : प्राकृत में 'एल्ल' स्वार्थिक प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त होता है । 'हएल्लिय' का संस्कृत-रूप 'हतक' (हत : हय) + इल्ल - इल्लिय) होगा । अर्थ होगा : हत्यारा ।

हरे पाणा ! (९८.२७) भो: प्राणा (सं.); अरे चाण्डाल ! (सम्बोधन) । प्राकृत का 'हरे' सम्बोधन ही क्षेत्रीय भाषा में 'हे, रे' के रूप में विकसित प्रतीत होता है । 'पाण' देशी शब्द प्राकृत में चाण्डाल या पापी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

हल्लाविज्जमाणो (१४९.२६) : [देशी] चलता हुआ; उछलता हुआ ।

हुंड (२७०.३०) : हुण्ड (सं.); टेढ़ा-मेढ़ा; कुबड़ा; विकृतांग । लोकभाषा का 'हुड्डु' शब्द इसी से विकसित प्रतीत होता है ।

होउदारो (२२१.५) : भवतु उदारः (सं.); उदार हों; कथाकार संघदासगणी ने यहाँ एक 'उ' का लोप कर (होउ + उदारो = होउदारो) सन्धि का वैचित्र्य प्रदर्शित किया है ।

यथोपस्थापित विवेचनीय शब्दों की अनुक्रमणी से स्पष्ट है कि कथाकार संघदासगणी भाषा के वंशवद नहीं थे, अपितु भाषा ही उनकी वंशवदा थी । इस मानी में वह सच्चे अर्थ में वश्यवाक् कथाकार थे । वह प्रसंगानुसार, अर्थयोजना के आधार पर, शब्दों का प्रयोग करते या गढ़ते थे । लक्ष्य करने की बात है कि किसी भी कथाकार के कथा-प्रसंग को समझे बिना उसकी पदयोजना का ठीक-ठीक अर्थ निकालने में सहज ही भ्रान्ति की गुंजाइश हो सकती है । वास्तविकता तो यह है कि महान् कथाकार संघदासगणी ने भाषा को अपनी अर्थयोजना के अनुकूल विभिन्न चारियों में नचाया है । इसलिए, बड़े-बड़े शब्दशास्त्रियों के लिए भी 'वसुदेवहिण्डी' की कथा के मूल भाव तक पहुँचने में भाषागत पर्याप्त सारस्वत श्रम अपेक्षित है ।

'वसुदेवहिण्डी' की भाषा से उसके कथाकार की बहुशास्त्रज्ञता प्रतिभासित होती है । यह कथाग्रन्थ 'आपें हि सर्वें विषयो विकल्प्यन्ते' जैसी सैद्धान्तिक उक्ति का प्रत्यक्ष निदर्शन है । अभीप्सित भाव-व्यंजना के लिए भाषा का स्वैच्छिक प्रयोग कथाकार की अपनी विशिष्टता है । इसलिए, उसकी भाषा स्वयं व्याकरण का अनुसरण करने की अपेक्षा व्याकरण को ही स्वानुवर्ती होने के लिए विवश करती है । इस प्रकार, यह कथाग्रन्थ, परवर्ती प्राकृत-व्याकरण के निर्माताओं के लिए उपजीव्य प्रमाणित होता है । 'वसुदेवहिण्डी' की भाषा को समझने के लिए संस्कृत, प्राकृत, पालि और अपभ्रंश की समस्त शाखाओं से परिचित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है । यहाँ

जो विवरणमूलक शब्दानुक्रमणी उपस्थित की गई है, उसके लिए यथानिर्दिष्ट कोशों का आधार लिया गया है : 'पाइयसहमहणवो'; 'जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश'; 'पालि-हिन्दी-कोश'; 'संस्कृत-हिन्दी-कोश'; 'बृहत् हिन्दी-कोश'; 'देशीनाममाला'; 'अमरकोश' आदि-आदि ।

इन कोशों के अतिरिक्त, मूल कथाप्रसंग के आधार पर भी यथाप्रयुक्त शब्दों के अर्थतत्त्व तक पहुँचने का प्रयास किया गया है । आशा है, यथाप्रस्तुत शब्द-विवेचन से भावी शोधकों के लिए यत्किंचित् दिशा-निर्देश अवश्य उपलब्ध होगा । कहना न होगा कि प्राकृत-भाषा और साहित्य के शोध-अनुशीलन की दृष्टि से 'वसुदेवहिण्डी' का महत्त्व निर्विवाद है । इसलिए, इस महान् ग्रन्थ की 'अत्यग्व' शब्द-महोदधि में जो जितना ही गहरा पैठेगा, उसे उतने ही 'महग्व' अर्थरत्न की प्राप्ति होगी । वस्तुतः, 'वसुदेवहिण्डी' प्राकृत-भाषा और साहित्य के 'अन्तर्विषयी शोध' के लिए यूथबद्ध मनीषियों के प्रातिभ श्रम को आमन्त्रित करती है ।



वसुदेव की अट्ठाईस पत्नियों की विवरणी

- १-२. श्यामा और विजया : विजयखेट के राजा जितशत्रु की पुत्रियाँ (पृ.१२१) ।
३. श्यामली : कित्तरगीत नामक विद्याधरनगर के राजा अशनिवेग की रानी सुप्रभा से उत्पन्न पुत्री (पृ.१२४) ।
४. गन्धर्वदत्ता : चम्पानगर के चारुदत्त सेठ के घर में रहनेवाली, शिवमन्दिर नगर के विद्याधरनरेश अमितगति की रानी विजयसेना की पुत्री (पृ.१५३) ।
५. नीलयशा : विद्याधरनरेश सिंहदंष्ट्र की रानी नीलाञ्जना की पुत्री (पृ.१८०) ।
६. सोमश्री : गिरिकूट ग्राम के ग्रामनायक देवदेव की पुत्री (पृ.१८२) ।
७. मित्रश्री : अचलग्राम (मगध) के धनमित्र सार्थवाह की पत्नी श्री की पुत्री (पृ.१९७) ।
८. धनश्री : अचलग्राम के ही सोम नामक ब्राह्मण की पत्नी सुनन्दा की पुत्री (पृ.१९८) ।
९. कपिला : वेदश्यामपुर नामक नगर के राजा कपिल की पुत्री (पृ.१९९) ।
१०. पद्मा : शालगुह सन्निवेश के राजा अभयसेन की रानी श्रीमती की आत्मजा (पृ.२०१-२०४) ।
११. अश्वसेना : जयपुर के राजा मेघसेन की रानी की पुत्री (पृ.२०६) ।
१२. पुण्ड्रा : भद्रिलपुर के राजा पुण्ड्र की आत्मजा (पृ.२१४) ।
१३. रक्तवती : इलावर्द्धन नगर के सार्थवाह मनोरथ की पत्नी पद्मावती की आत्मजा (पृ.२१९) ।
१४. सोमश्री : महापुर नगर के राजा सोमदेव की रानी सोमचन्द्रा की पुत्री (पृ.२२२) ।
१५. वेगवती : विद्याधरनगर सुवर्णाम के विद्याधरनरेश चित्रवेग की रानी अंगारमती (अंगारवती) की आत्मजा (पृ.२२७) ।
१६. मदनवेगा : अरिजयपुर नामक विद्याधरनगर के विद्याधरनरेश विद्युद्धेम की रानी विद्युज्जिह्वा की आत्मजा (पृ.२४५) ।
१७. बालचन्द्रा : गगनवल्लभनगर के विद्याधरनरेश अरुणचन्द्र की रानी मेनका की आत्मजा (पृ.२६२-२६४) ।
१८. बन्धुमती : श्रावस्ती के कामदेव सेठ की पत्नी बन्धुश्री की पुत्री (पृ.२६८-२७९) ।
१९. प्रियंगुसुन्दरी : श्रावस्ती के ही राजा एणिकपुत्र की आत्मजा (पृ.३०६) ।
२०. केतुमती : वसन्तपुर नगर के राजा वत्सिल की पुत्री और राजा जितशत्रु की बहन (पृ.३४८) ।

२१. प्रभावती : पुष्कलावती नगरी के विद्याधरनरेश गन्धार की रानी अमितप्रभा से उत्पन्न पुत्री (पृ.३५१) ।
२२. भद्रमित्रा : पोतनपुर नगर के राजा विजय की रानी भद्रा की पुत्री (पृ.३५३-३५५) ।
२३. सत्यरक्षिता : पोतनपुर नगर के ही राजपुरोहित सोम ब्राह्मण की क्षत्रिया पत्नी कुन्दलता की आत्मजा (पृ.३५३-३५५) ।
२४. पद्मावती : कोल्लिकर नगर के राजा पद्मरथ की आत्मजा (पृ.३५६) ।
२५. पद्मश्री : कोल्लिकर नगर के ही राजा अमोघप्रहारी की पुत्री (पृ.३५९) ।
२६. ललितश्री : कंचनपुर नगर के परिव्राजक सुमित्र की गणिका-पत्नी सुमित्रश्री की आत्मजा (पृ.३६२) ।
२७. रोहिणी : रिड्डपुर नगर के राजा रुधिर की रानी मित्रदेवी की आत्मजा (पृ.३६४) ।
२८. देवकी : मृत्तिकावती नगरी के राजा देवक की आत्मजा (पृ.३६८) ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वसुदेव ने विभिन्न वंश, वर्ग और वर्ण की पत्नियाँ प्राप्त की थीं। इनमें कुछ तो विद्याधरी हैं और कुछ मानवी। मानवी पत्नियों में भी राजकन्याओं के अतिरिक्त दो-एक ब्राह्मण-पुत्रियाँ तथा एक गणिका-पुत्री भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार, वसुदेव ने अपनी विभिन्न पत्नियों के स्वीकरण द्वारा सर्ववर्णसमन्वय उपस्थित किया है। ब्राह्मणी पत्नियों में धनश्री तो विशुद्ध ब्राह्मण-पुत्री है, किन्तु सत्यरक्षिता राजपुरोहित सोम ब्राह्मण की क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न है। गणिकाएँ भी कुलवधू के पद पर प्रतिष्ठित होती थीं। इस प्रकार, उस पुराकाल में अनुलोम विवाह के साथ ही, अन्तरजातीय और प्रतिलोम विवाह, साथ ही वारवधू-विवाह की प्रथा के प्रचलित रहने का स्पष्ट संकेत मिलता है।



धम्मिल्ल की बत्तीस पत्नियों की विवरणी

१. यशोमती : कुशाग्रपुर (राजगृह) नगर के सार्थवाह धनवसु की पत्नी धनदत्ता की पुत्री (पृ.२७) ।
२. विमलसेना : चम्पानगरी के राजा जितशत्रु की पुत्री (पृ.५४) ।
३. नागदत्ता : चम्पानगरी के ही सार्थवाह नागवसु की पत्नी नागदित्रा (नागदत्ता) की पुत्री (पृ.६५) ।
४. कपिला : चम्पापुरी के ही राजा कपिल की पुत्री (पृ.६६) ।
५. विद्युद्धती : विद्याधरनगर शंखपुर के नरेश पुरुषानन्द की रानी श्यामलता की पुत्री (पृ.६८) ।
- ६—२१. श्रीचन्द्रा, विचक्षणा, श्रीसेना, श्री, सेना, विजयसेना, श्रीसोमा, श्रीदेवी, सुमंगला, सोममित्रा, मित्रवती, यशोमती (यशोवती), गान्धारी, श्रीमती, सुमित्रा और मित्रसेना । ये सभी उपर्युक्त विद्युद्धती की ही बहनें थीं (पृ.६८) ।
२२. पद्मावती : संवाह नामक अटविकर्बट के राजा सुदत्त की रानी वसुमती की आत्मजा (पृ.६९) ।
- २३—३०. देवकी, धनश्री, कुमुदा, कुमुदानन्दा, कमलश्री, पद्मश्री, विमला, वसुमती । ये सभी इन्द्रदम सार्थवाह के पुत्र सागरदत्त की पुत्रियाँ थीं (पृ.७०) ।
३१. मेघमाला : अशोकपुर के विद्याधरनरेश मेघसेन की रानी शशिप्रभा की पुत्री (पृ.७३) ।
३२. वसन्ततिलका : कुशाग्रपुर (राजगृह) नगर की गणिका वसन्तसेना की पुत्री (पृ.२८) ।

‘धम्मिल्लहिण्डी’ ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथावतरण-भूमि है । यायावर वीर योद्धा धम्मिल्ल के अद्भुत चरित्र के उपन्यास द्वारा कथाकार ने मानों वसुदेव जैसे धीर, वीर, ज्ञानी और प्रतापी चरित्र-नायक की आत्मकथा से संवलित ‘वसुदेवहिण्डी’ की कथाभूमि में प्रवेश करने के निमित्त पाठकों के लिए अनुरूप वातावरण और तदनुकूल मनोविज्ञान की सृष्टि की है । इस प्रकार, कथात्मक पृष्ठभूमि के समीकरण की दृष्टि से ‘धम्मिल्लहिण्डी’ की सार्थक विनियुक्ति के बावजूद इस कथा-प्रकरण का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है ।



‘वसुदेवहिण्डी’ के विशिष्ट चार्चिक स्थल

१. अणुव्रत के गुण-दोष (पृ. २९४) ।
२. अथर्ववेद की उत्पत्ति (पृ. १५१) ।
३. अनार्यवेद की उत्पत्ति (पृ. १८५) ।
४. अष्टापदतीर्थ की उत्पत्ति (पृ. ३०१) ।
५. आर्यवेद की उत्पत्ति (पृ. १८३) ।
६. कोटिशिला की उत्पत्ति (पृ. ३४८) ।
७. गणिका की उत्पत्ति (पृ. १०३) ।
८. गीत, नृत्य, आभूषण, काम आदि की दुःखावहता (पृ. १६६) ।
९. दिक्कुमारियों द्वारा आयोजित ऋषभस्वामी-जन्मोत्सव (पृ. १५९) ।
१०. धनुर्वेद की उत्पत्ति (पृ. २०२) ।
११. नरक का स्वरूप (पृ. २७०) ।
१२. परलोक के अस्तित्व की सिद्धि (पृ. ११५) ।
१३. पिप्पलाद की उत्पत्ति (पृ. १५१) ।
१४. पुरुषों के भेद (पृ. १०१) ।
१५. प्रकृति-पुरुष विचार (पृ. ३६०) ।
१६. महाव्रतों के स्वरूप (पृ. २६७) ।
१७. मांसभक्षण में गुण-दोष की चर्चा (पृ. २५९) ।
१८. माहणों (ब्राह्मणों) की उत्पत्ति (पृ. १८३) ।
१९. वनस्पति में जीवसिद्धि (पृ. २६७) ।
२०. विष्णुगीत की उत्पत्ति (पृ. १२८) ।
२१. सिद्धगण्डिका (पृ. ३०१) ।
२२. हरिवंश की उत्पत्ति (पृ. ३५३) ।

‘वसुदेवहिण्डी’ के उपर्युक्त सभी स्थल कथाकार संघदासगणी की मौलिक चिन्तन-प्रतिभा, बहुश्रुतता और स्वीकृत प्रतिज्ञा के फलस्वरूप की प्रौढता के साथ ही उनकी कथासृष्टि की विस्मयकारी निपुणता के अन्यत्रदुर्लभ रचना-प्रकल्प हैं ।

सन्दर्भ-ग्रन्थानुक्रमणी

वैदिक ग्रन्थ

अथर्वसंहिता : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी ।

आग्निवेश्यगृह्यसूत्र : चौखम्बा संस्कृत-भवन, वाराणसी, सन् १९९१ ई ।

आपस्तम्बगृह्यसूत्र : चौखम्बा संस्कृत-भवन, वाराणसी, सन् १९९१ ई ।

ईशोपनिषद् : ईशावास्योपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

ऋक्संहिता (ऋग्वेद) : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी ।

कठोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग : डॉ. श्रीकृष्ण लाल, प्र. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र. सं., सन् १९७० ई ।

तैत्तिरीयब्राह्मण : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

तैत्तिरीयोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

पारस्करगृह्यसूत्र : चौखम्बा संस्कृत-भवन, वाराणसी, सन् १९९४ ई ।

प्रश्नोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

बृहदारण्यकोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

मानवगृह्यसूत्र : वाराणसी ।

मुण्डकोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

यजुर्वेद : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी ।

वाराहगृह्यसूत्र : वाराणसी ।

वासिष्ठी हवनपद्धति : चौखम्बा-संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।

शतपथब्राह्मण : मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली ।

शांखायनगृह्यसूत्र : चौखम्बा संस्कृत-भवन, वाराणसी ।

शांखायन श्रौतसूत्र : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

स्मृति-ग्रन्थ

मनुस्मृति : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९८३ ई ।

याज्ञवल्क्यस्मृति : चौखम्बा संस्कृत-भवन, वाराणसी ।

पुराण-ग्रन्थ : इतिहास

अग्निपुराण : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी ।

गरुडपुराण : नाग पब्लिशर्स, दिल्ली ।

- देवीभागवतपुराण : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी ।
 दुर्गासप्तशती : गीता प्रेस, गोरखपुर ।
 भागवतपुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर ।
 मत्स्यपुराण : हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग (इलाहाबाद) ।
 महाभारत : गीता प्रेस, गोरखपुर ।
 मार्कण्डेयपुराण : चौखम्बा संस्कृत-पुस्तकालय, वाराणसी ।
 रामायण (वाल्मीकिरामायण) : गीता प्रेस, गोरखपुर ।
 लिंगपुराण : वाराणसी ।
 वामनपुराण : प्रयाग ।
 वायुपुराण : हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग (इलाहाबाद) ।
 वाराहपुराण : प्रयाग ।
 विष्णुपुराण : श्रीजीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, सरस्वती प्रेस, कलकत्ता ।
 श्रीमद्भगवद्गीता : गीता प्रेस, गोरखपुर ।

आयुर्वेद-ग्रन्थ

- अष्टांगहृदय (वाग्भटसंहिता) : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।
 चरकसंहिता : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।
 भावप्रकाश : भावमिश्र : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।
 माधवनिदान : माधवाचार्य, संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ीगली, बनारस सिटी, वि. सं. १९९५ ई. ।
 रसरत्नसमुच्चय : आचार्य वाग्भट (सुरतोर्ज्ज्वला टीका), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।
 सुश्रुतसंहिता : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

धनुर्वेद

- धनुर्विद्या : पं. देशबन्धु विद्यालंकार : प्र. गुरुकुल आयर्ला, बरेली ।

ज्योतिष - ग्रन्थ

- भारतीय ज्योतिष : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री : प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९५२ ई. ।
 भारतीय ज्योतिष : मूल : स्व. शंकर बालकृष्ण दीक्षित, अनु. श्रीशिवनाथ झारखण्डी, प्र. प्रकाशन ब्यूरो, सूचना-विभाग, लखनऊ (हिन्दी-समिति, लखनऊ) ।
 मुहूर्तचिन्तामणि : राम दैवज्ञ : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।
 बृहत्संहिता : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी ।

वास्तुशास्त्र

- पौराणिक वास्तुशान्तिप्रयोग : अनुद्भूत ।
 समरांगणसूत्रधार : भोजदेव, चौखम्बा संस्कृत-भवन, वाराणसी ।

तन्त्रशास्त्र

तान्त्रिक वाङ्मय में शक्तिदृष्टि : म. म. पं. गोपीनाथ कविराज प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, द्वि. सं., सन् १९७८ ई.।

पुष्कर्यार्णव : महाराजा प्रताप सिंह चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी।

भारतीय संस्कृति और साधना (२ भाग) : म. म. पं. गोपीनाथ कविराज प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्र. सं., सन् १९६४ ई.।

भारतीय प्रतीक-विद्या : डॉ. जनार्दन मिश्र, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

राजनीतिशास्त्र

अर्थशास्त्र : कौटिल्य : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

राजनीति और दर्शन : डॉ. विश्वनाथप्रसाद वर्मा, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्र. सं., सन् १९५६ ई.।

साहित्य, संगीत, संस्कृति और कलाशास्त्र

अभिज्ञानशाकुन्तल : कालिदास : मोतीलाल, बनारसीदास, दिल्ली।

अभिनवभारती : आचार्य विश्वेश्वर (सं. डॉ. नगेन्द्र) : ज्ञानमण्डल, वाराणसी।

उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन : प्रो. जगदीश पाण्डेय, अर्चना प्रकाशन, आरा (बिहार)।

औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

कथासरित्सागर (भाग १) : हिन्दी-अनुवाद-सहित : अनु. पं. केदारनाथ शर्मा सारस्वत, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

कन्नड-साहित्य का इतिहास : आर. नरसी वांचा, वेल्सूर।

कर्पूरमंजरी : राजशेखर : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९७० ई.।

कलाविलास : क्षेमेन्द्र : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी।

कला-विवेचन : डॉ. कुमार विमल : प्र. भारती भवन, एक्जिबीशन रोड, पटना, प्रथम संस्करण, सन् १९६८ ई.।

कामसूत्र : वात्स्यायन : चौखम्बा संस्कृत-भवन, वाराणसी।

काव्य में उदात्त तत्त्व : डॉ. नगेन्द्र।

काव्यरचना-प्रक्रिया : सं. डॉ. कुमार विमल, प्र. बिहार-हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी, पटना।

काव्यमीर्मासा : राजशेखर : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

काव्यादर्श : दण्डी : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी।

काव्यानुशासन : हेमचन्द्र : नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

काव्यालंकार : भागवत : भाष्यकार : आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

काव्यालंकार : रुद्रट : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : नमिसाधु : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी।

किरातार्जुनीय : भारवि : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

कुट्टिनीमतं काव्यम् : अनु. जगन्नाथ पाठक : मित्र प्रकाशन, इलाहाबाद ।

कुमारसम्भव : कालिदास : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

चतुर्भाणी (शृंगारहाट) : सं. डॉ. मोतीचन्द्र एवं डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, प्र. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

जेनरल एन्थोपोलॉजी : फ्रांज बोआज ।

डार्क कान्सिष्ट : धनपाल ।

दशरूपक : धनंजय (धनिक-वृत्तिसहित) : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

दि आउटलाइन आव माइथोलॉजी : लेविस स्पेन्स ।

ध्रुवपद और उसका विकास : आचार्य कैलाशचन्द्रदेव बृहस्पति, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना ।

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्द्धन : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

ध्वन्यालोकलोचन : अभिनवगुप्त : चौखम्बा, विद्या-भवन, वाराणसी ।

नाट्यशास्त्र : आचार्य भरत : सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

बृहत्कथामंजरी : क्षेमेन्द्र ।

बृहत्कथाश्लोकसंग्रह : बुधस्वामी, (डॉ. लाकोत द्वारा सम्पादित पेरिस-संस्करण) ।

बृहत्कथाश्लोकसंग्रह : डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल-सम्पादित संस्करण, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी ।

भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा : पं. बलदेव उपाध्याय, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना ।

भारतीय संगीत का इतिहास : श्रीउमेश जोशी ।

भारतीय संगीत-वाद्य : डॉ. लालमणि मिश्र प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।

महार्थमंजरी : 'कला-विवेचन' से सन्दर्भित ।

मानदण्ड : आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, प्र. मोतीलाल बनारसीदास, पटना : सन् १९६३ ई. ।

मालविकाग्निमित्र : कालिदास, प्र. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

मेघदूत : कालिदास : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

मेघदूत : एक अनुचिन्तन : डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, प्र. नागरी प्रकाशन प्रा. लि., पटना, प्रथम सं., सन् १९५० ई. ।

सुववंश : कालिदास : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

रसगंगाधर : पण्डितराज जगन्नाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

रसमीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।

रामकथा : उत्पत्ति और विकास : रेवरेण्ड डॉ. फादर कामिल बुल्के, लोकभारती, इलाहाबाद ।

रामचरितमानस : गो. तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

लोकसाहित्य की भूमिका : डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ।

विक्रमांकदेवचरित : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

विक्रमोर्वशीय : कालिदास : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

विधि-विज्ञान का स्वरूप : पं. सतीशचन्द्र मिश्र : प्र. बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना ।

वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति : म. म. पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, द्वि. सं., सन् १९७२ ई.।

व्रजलोक-साहित्य का अध्ययन : डॉ. सत्येन्द्र।

शुक्रनीतिसार : चौखम्बा संस्कृत-भवन, वाराणसी।

षड्दर्शनसंग्रह : अनूद्धत।

संगीतदामोदर : अनूद्धत।

संगीतरत्नाकर : अनूद्धत।

संस्कृत-साहित्य का इतिहास : कीथ : हिन्दी-अनु. डॉ. मंगलदेव शास्त्री, प्र. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

संस्कृत-सुकविसमीक्षा : पं. बलदेव उपाध्याय, प्र. चौखम्बा संस्कृत-पुस्तकालय, वाराणसी।

सरस्वतीकण्ठाभरण : भोज : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी।

सर्वसिद्धान्तसंग्रह : अनूद्धत।

सांख्यकारिका : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

सार्थवाह : डॉ. मोतीचन्द्र : प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्र. सं., सन् १९५३ ई.।

साहित्य का इतिहास-दर्शन : आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, प्र. सं., सन् १९६० ई.।

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ महापात्र : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व : डॉ. कुमार विमल, प्र. राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, सन् १९६५ ई.।

स्वतन्त्र कलाशास्त्र : डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डे, चौखम्बा-संस्करण, सन् १९६७ ई.।

हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन : डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्र. सं., सन् १९५३ ई.।

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्र. बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, द्वि. सं., सन् १९५७ ई.।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, (सत्रहवाँ पुनर्मुद्रण), नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

व्याकरण-ग्रन्थ

अभिनव प्राकृत-व्याकरण : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, तारा पब्लिकेशन, कमच्छ, वाराणसी।

पाणिनिसूत्र : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

प्राकृत-प्रबोध : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्ञानमण्डल, वाराणसी।

प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण : डॉ. रिचर्ड पिशल, अनु. डॉ. हेमचन्द्र जोशी, प्र. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्र. सं., सन् १९५८ ई.।

संक्षिप्तसार : अनूद्धत।

सिद्धान्तकौमुदी : पाणिनि : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

हैमशब्दानुशासन : चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी।

कोश-ग्रन्थ

- अमरकोश : (मणिप्रभा टीका तथा क्षीरस्वामी की टीका), चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी ।
 जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश : सं. श्रीजिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ।
 डिक्शनरी ऑफ़ वर्ल्ड लिटरेचर : टर्म्स : टी. शिप्ले ।
 पाली-हिन्दी-कोश : भदन्त आनन्द कौसल्यायन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।
 प्राकृतशब्दमहार्णव : सं. हरगोविन्द दास टी. शेठ, कलकत्ता, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।
 संस्कृत-हिन्दी-कोश : मोतीलाल बनारसीदास, द्वितीय संस्करण, सन् १९६९ ई. ।
 हिन्दी-विश्वकोश : काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
 हिन्दी-विश्वकोश : सं. प्राच्यविद्यामहार्णव : श्रीनगेन्द्रनाथ बसु ।
 हिन्दी-शब्दसागर : काशी-नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।
 हिन्दी (साहित्यकोश) भाग १, ज्ञानमण्डल, वाराणसी ।
 बृहत् हिन्दी-कोश : ज्ञानमण्डल, वाराणसी ।
 देशीनाममाला : आचार्य हेमचन्द्र : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

बौद्धग्रन्थ

- बृहत्कल्पसूत्रभाष्य : नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा ।
 मज्झिमनिकाय : सं. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ।
 महावस्तु (महावत्थु) : नवनालन्दा महाविहार, नालन्दा ।
 ललितविस्तर : उत्तर प्रदेश हिन्दी-संस्थान, लखनऊ, संस्करण : सन् १९८४ ई. ।
 विमानभट्टभाष्य : अनूद्धत ।
 सुत्तनिपातभाष्य : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।

जैनग्रन्थ

- अंगसुत्त : श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), सन् १९८० ई. ।
 आचारचूल : सम्पादक : मुनि नथमल, प्र. जैनश्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, सन् १९६७ ई. ।
 आचारांगसूत्र : जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता ।
 उत्तराध्ययनसूत्र : जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, अनुवादक-सम्पादक : मुनि नथमल, सन् १९६७ ई. ।
 उपासकदशासूत्र : श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), सन् १९८० ई. ।
 औपपातिकसूत्र : श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), सन् १९८० ई. ।
 कुवलयमाला : उद्योतन सूरि, सिन्धी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, सन् १९५९ ई. ।
 जैनदर्शन : प्रो. महेन्द्रकुमार जैन : श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदौनी, काशी ।

तत्त्वार्थसूत्र : उमास्वाति : सं. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा ।

तिलोयपण्णति : यतिवृषभाचार्य, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर ।

दशवैकालिकनिर्युक्ति : श्रीश्वेताम्बर स्थानकवासी जैनकानफरेस्, भाँगवाड़ी, मुम्बई, सन् १९३९ ई ।

दशवैकालिकसूत्र : जैनश्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता, वाचना-प्रमुख : आचार्य तुलसी, २०२० विक्रमाब्द ।

पंचास्तिकाय : परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई ।

पद्मचरिय : आचार्य विमलसूरि : प्र. प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद्, वाराणसी ।

प्रज्ञापनासूत्र : श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), सन् १९८० ई ।

ग्रन्थचिन्तामणि : मेरुतुंग : भारतीय विद्याभवन, बम्बई ।

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान : डॉ. हीरालाल जैन : प्र. मध्यप्रदेश शासन साहित्य-परिषद्, भोपाल, प्र. सं., सन् १९६२ ई ।

प्राकृत-भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री प्र. तारा पब्लिकेशन्स, कमच्छ, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सन् १९६६ ई ।

प्राकृत-साहित्य का इतिहास : डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्र. चौखम्बा विद्या-भवन, वाराणसी, सन् १९६१ ई ।

ग्रन्थकोश : राजशेखर सूरि : भारतीय विद्याभवन, बम्बई ।

बृहत्कथाकोष : हरिषेण : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ।

बृहत्कल्पभाष्य : प्राकृत-भारती, जयपुर, सन् १९६६ ई ।

महापुराण : राजशेखर सूरि : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ।

राजप्रश्नीयसूत्र : श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), सन् १९८० ई ।

राजवार्त्तिक : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ।

वसुदेवहिण्डी (गुजराती-अनुवाद) : अनु. प्रो. भोगीलाल जयचन्द भाई साण्डेसरा, प्र. श्रीआत्मानन्द सभा, भावनगर ।

वसुदेवहिण्डी : एन् ऑथेण्टिक जैन वर्सन ऑव द बृहत्कथा : डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, प्र. लाल भाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति-विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, सन् १९७७ ई ।

समवायांगसूत्र : जैनविश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान) ।

सर्वार्थसिद्धिटीका : देवनन्दी, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी ।

सूत्रकृतांग : श्रीआगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), सन् १९८० ई ।

स्थानांग (ठाण) : वाचनाप्रमुख : आचार्य तुलसी, प्र. श्रीजैनविश्वभारती, लाडनूँ (राजस्थान) ।

हरिभद्र के प्राकृत-कथासाहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन : डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, प्र. प्राकृत-जैनशास्त्र और अहिंसा-शोधसंस्थान, वैशाली, सन् १९६५ ई ।

हिस्ट्री ऑव तमिल लिटरेचर : एस. वी. पिल्लई, मद्रास, सन् १९५६ ई ।

पत्रिकाएँ

'कल्याण' (मासिक) : हिन्दू-संस्कृति-अंक, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

‘चन्दा मासा’ (हिन्दी-मासिक) : मद्रास ।

‘नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका’ : (त्रैमासिक) काशी ।

‘परिषद्-पत्रिका’ (त्रैमासिक) : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना ।

‘बुलेटिन ऑव दि स्कूल ऑव ओरिएण्टल स्टडीज’ : जिल्द १ ।

‘मनोरमा’ (पाक्षिक) : इलाहाबाद ।

‘सम्बोधि’ (त्रैमासिक) : प्र. ला. द. भारतीय संस्कृति-विद्यामन्दिर, अहमदाबाद ।

‘साहित्य’ (त्रैमासिक) : बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना ।



शब्दानुक्रमणी

अ

अंकमुखी (विद्या) : १६८

अंग-जनपद : ३६३, ४१३, ४६२, ४७१, ४७२,
४७३, ४८२

अंगदेश : ४६८

अंगमन्दर : ४६१, ४६२, ४७२

अंगराज : ४७१

अंगविद्या : १७८

अंगसुसाणि : २६८ टि.

अंजनगिरि : ४६०

अगडदत्त (मुनि) : ३७, ७०, २२३, २२४, २२८,
२५३, २५४, ३०२, ३३७, ३४२,
३८७, ४१२, ४७६

अगडदत्तचरियं (चरित) : ३७, ३०२

अगरचन्द नाहटा : ३४

अग्निदेव : २६६

अग्निपुराण : ११३, ११३ टि, २२४, २२६, २२६ टि,
२४३, २४९, २६५, २६६, ३७७ टि.

अग्निमित्र (शृंगकाल) : ३८३

अग्निवेश (महर्षि) : १९३, २१५

अच्छा (जनपद) : ४८२

अजपथ : ४५१, ५२४

अजातशत्रु : ७४, ७६, ४७५

अतिपाण्डुकम्बलशिला : ४६२

अत्रि (वास्तुशास्त्रज्ञ) : २४२

अथर्ववेद : १९४, २४२, २६६, ३२६, ३२७, ३६४,
३६४ टि, ४२०, ४५४, ४७६, ४८२

अथर्वसंहिता : १८०, १८० टि.

अनन्त (कश्मीर-नरेश) : २४

अनात्मवादी : ४८६

अनामजातक : १०७

अनार्यवेद : ३२४, ३२७, ४८२

अनुत्तरौपपातिकदशा : ५

अनुयोगद्वारसूत्र : ६, ३५६

अनेकान्तवादी : ४८५, ४८८

अन्तर्नदी : ४७०

अन्तरराष्ट्रीय प्राच्यविद्या-परिषद् (रोम) : ३४

अपरविदेह : ४५७, ४५९

अप्रतिष्ठान (नरक) : ३९०

अप्रतिहता (विद्या) : १६४

अभयचरण सान्याल : १७०

अभिज्ञानशाकुन्तल (नाटक) : २२७, ३३७, ५३७ टि.

अभिनवगुप्त (आचार्य) : ३५२ टि, ५३६, ५४२,
५४६

अभिनव प्राकृतव्याकरण : ५१४ टि.

अभिनवभारती : २७० टि.

अमरकोश : ३५५, ३८३, ३८३ टि, ३९८, ४०८,
४५४, ४५५, ५९३, ५९७

अमरसिंह : ४०८, ४०९, ४५४, ५९३

अयोध्या (नगरी) : ३९६, ३९९, ४६६, ४७७, ४८१,
४८२, ४८५, ५०३

अस्तू : २६०

अस्वामी (नाथ) : ३८६, ३९६, ४७६

अरिष्टनेमि : ३६०

अरुणपर्वत : ४७१

‘अरेबियन नाइट्स टेल’ : ३०

अर्थशास्त्र : १६० टि, १६२ टि, १७१, १७२,
२१७ टि, ३७१, ४२१, ४२२, ४२३,
४२३ टि, ४४१, ४४६, ४६३

अर्द्धपुष्करवादीप : ४५९

अर्द्धभरत : ३६९, ४५७, ४७६

‘अर्द्धमागध’ : ५०२

अर्नेस्ट ए. बेकर : १२०

अलिफलैला की कथा : ३०

अवन्ती (जनपद-देश) : १९, २२३, ३५२, ४७१,
४७५

अवलोकवृत्ति (टीका) : १९
 अवसर्पिणी (काल) : १८४
 अवस्वापिनी (विद्या) : १५६
 अविमुक्त (क्षेत्र) : ३४१
 अश्वघोष : ३५, ५६६
 अश्वमेधयज्ञ : ३२८, ३२८ टि.
 अश्वायुर्वेद : २२०
 अष्टांगयोग : ४८३
 अष्टांगहृदय : १९२, १९२ टि., १९६, २०५, २१०,
 २१४ टि, २१६ टि.
 अष्टापद (पर्वत) : ४६४, ४६५
 अस्त्रशास्त्र : २३१
 अहमिन्द्र : ४००
 अहिच्छत्रा : ४८२

आ

आइ. एस्. देसाई (प्रकाशक एवं मुद्रक,
 गुजराती प्रिण्टिंग प्रेस,
 सैसून बिल्डिंग्स, फोर्ट बम्बई) : ३२८ टि.
 आकाशगामिनी (विद्या) : १६०
 आख्यानमणिकोश : ३८
 आग्निवेश्यगृह्यसूत्र : १८३
 आचार (आयार) चूला : २६८, २६८ टि.
 आचारांगसूत्र : ४८५, ४८५ टि.
 आठ विवाह : ३३६
 आत्मानन्द जैनसभा
 (भावनगर, गुजरात) : ६७, १५४ टि.
 आत्रेय (महर्षि : आचार्य) : १९४, २१५
 आदिम (रसायनाचार्य) : २१९
 'ऑन द लिटरेचर ऑव द
 श्वेताम्बरान्न ऑव गुजरात : ४
 आनन्दवर्द्धन : ५६०
 आनर्त (जनपद : देश) : ४७१, ४७९
 'आपराधिकी' (ग्रन्थ) : ४३९ टि.
 आपस्तम्बगृह्यसूत्र : १८२
 आपटे (वामन शिवराम) : १९४ टि, २२५ टि, २३२,
 ३५५, ३५८, ३५९, ३६७,
 ३७४

आभोगिनी (विद्या) : १६४
 आयनवाट : १२०
 आयुषवेद (विद्या) : २२१, २२४, २२५, २२८, २३४
 आरगायर (द्वीप) : ४५८
 आरण्यक : ३७८
 आर्. एस्. लूमिस : १२०
 आर्. के. करंजिया : १७०
 आर्. नरसी वाँचा (वेल्लूर) : ३० टि.
 आर्यभट्ट : १७१
 आर्यरक्षित : ६
 आर्यवेद : ३२४, ३३०, ४८२
 आर्ष प्राकृत : ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०४,
 ५१४, ५२०
 ऑल्सडोर्फ, लुडविग : २८, २८ टि. ३०, ३३, ३४,
 ४९८

आवर्त्तनी (विद्या) : १६३
 आवश्यकचूर्णि : २९
 आश्वलायनगृह्यसूत्र : २४३
 ऑस्टिन (अपराध-वैज्ञानिक) : ४३८
 आहरण (कथाभेद) : ५३३

इ

इण्ट्रोडक्शन : क्रिटिकल एपरेटस : ६८ टि.
 इन्द्र : १९४
 इन्द्रद (रसायनाचार्य) : २१९
 इन्द्रभूति (गौतम गणधर) : ११०
 इन्साइक्लोपीडिया ऑव लिटरेचर : १२०
 इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका : ८३, १२०
 इरावती (नदी) : ४६७
 इषुकार (पर्वत) : ४६०
 इषुवेगा (नदी) : ४५०, ४५२, ४६७
 इसिगिल्लिसुत : ४६४

ई

ई. म्यूलर : ५०३
 ईशानकल्प : ४०६
 ईशानेन्द्र : ४०६
 ईशोपनिषद् (ईशावास्योपनिषद्) : ३८८

उ

- उज्जयिनी : १९, २१३, २२८, ३०४, ४७६
 उणादिसूत्र : ४८४ टि.
 उत्कल : ४७१, ४७९
 उत्तरकुरु : ४५७, ४६६
 उत्तरकुरुक्षेत्र : ४०१, ४५९
 उत्तरगिरि : ३३६
 उत्तरपांचाल : ४७७
 उत्तरपुराण : १८, ३८
 उत्तराध्ययनसूत्र : ८५ टि. १९४, १९५,
 ३५०, ३५० टि.
 उत्तरार्द्धभरत : ४५७
 उत्पत्त-निपतनी (विद्या) : १६३
 उत्पलाचार्य : १७०
 उत्सर्पिणी : १८४
 उत्सर्पिणी (विद्या) : १५६
 'उदन्त' (कथाभेद) : ५३१
 उदयगिरि-खण्डगिरि : ३६०
 उदयन : ३०
 उदयनकथा : १९
 उदयाचल (राजेन्द्रनगर, पटना) : ५२४ टि.
 उदयिभद्र : ४७५
 'उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन : ५४२ टि.
 'उदाहरण' (कथाभेद) : ५३३
 उद्योतनसूरि (आचार्य) : ६, १०, १५, १४६, १४६ टि.
 ५२३, ५२४
 'उपयोग' : ४८५, ४८५ टि.
 उपरली इरावदी : ४६२
 उपरिचर वसु : ४७७, ४७८
 उपासकदशा : ५
 उमास्वाति : २५५ टि., ४८५ टि.
 'उर्वशी' (काव्य) : ५२४ टि.

ऋ

- ऋक्संहिता : १८०, १८० टि.
 ऋग्वेद (ऋक्) : १९४ टि., २६५, २६५ टि., २६६,
 २६७, ३२१, ३६४, ३६४ टि. ३६५

ऋषभनाथ (ऋषभदेव :

- ऋषभस्वामी : तीर्थकर) : ७०, ११३, १३७, १३९,
 १५६, १७३, १८१, १८२,
 १८७, २०३, २१३, २२१,
 २४१, २५१, २५३, २९४,
 २९५, ३२०, ३२१, ३२२,
 ३२३, ३४०, ३४७, ३५१,
 ३५९, ३८४, ३९६, ३९९,
 ४००, ४०१, ४०४, ४०५,
 ४२०, ४४०, ४६०, ४६२,
 ४६५, ४६७, ४७७, ५०३,
 ५८८

ऋषभस्वामी-चरित : ८०, १४०

ऋषिभाषित : ५००, ५०१

ए

- 'एइन नेवे वर्सन डेर वलों रेनेन बृहत्कथा
 डेस गुणादय' : 'एन्यू वर्सन ऑव दि
 लॉस्ट बृहत्कथा ऑव गुणादय'
 (जर्मन-निबन्ध) : २८ टि., ३३
 ए. एन्. उपाध्ये (डॉ) : १५१
 एजर्टन : २७
 एडविन होनिंग : १३३ टि.
 'एन् इण्डोडक्शन टु दि स्टडी
 ऑव लिट्रेचर : १२०
 'एपिक ऐण्ड रोमांस' : १२०
 ए. पी. जमखेडकर (डॉ) : ३४, ३१८ टि.
 एल. एच. लूमिस : १२०
 एल. डी. इन्स्टीच्यूट ऑव
 इण्डोलॉजी (अहमदाबाद) : ६८
 एल. मेरी बार्कर : १२०
 एस्. वी. देव (प्रो) : ३४, ३१८ टि.
 एस्. वी. पिल्लई (मद्रास) : ३० टि.
 ए. सी. गिन्स : १२०
 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' : ३

ऐ

- ऐरण्यवत (क्षेत्र) : ४६४
 ऐरवत (क्षेत्र) : ४५७, ४५९, ४६४, ४६५, ४६९
 ऐरवतवर्ष : ३९६
 ऐरावती (रावी) : ४६९

ओ

ओषनिर्युक्ति : ३५५

औ

औचित्यविचारवर्चा : २९३ टि.

औपपातिकसूत्र : २४३, २६१, ३५९, ५०१, ५०२ टि.

क

कंचनपुर : ४८२

कठोपनिषद् : ४४७ टि.

कण्ठकद्वीप : ४५७, ४५८, ४६१

कथाभेद : ५२४

कथासरित्सागर : १३, १४, १४ टि., १५, १८, १८ टि.,
१९, २०, २१ टि., २२, २२ टि., २३,
२४, २५, २६, २६ टि., २७, २८,
२८ टि., ३१, ३१ टि., ३४, ३५,
३६ टि., ६८ टि., ६९ टि., ७६, ७८ टि.,
१०९, ११०

कन्नड़ साहित्य का इतिहास : ३० टि.

कपाली (रसायनाचार्य) : २१९

कमलपुर (कमर : खेर) : ४४८, ४५१

कम्पिल्लपुर : ४८२

कम्बलि (रसायनाचार्य) : २१९

कम्बुज : ४५१

कम्बोडिया-शिलाभिलेख : १९

करकण्डू-कथानक : १५७ टि.

करुणाशंकर : २४३

कोर्टक (पर्वत) : ४५८

कर्पूरमंजरी : ५००

कला-विलास : २४, २६०, २६० टि., २७१

कला-विवेचन : १५५ टि., २५६ टि., २५८ टि.,
२६० टि., २६३ टि., २८५ टि.,
२८७ टि., २९३ टि., २९४ टि.

कलिंग : ४८२

कल्पवृक्ष : कल्पद्रुम : ३८३, ३८४, ३८५, ४०१

कल्पसूत्र : ३५८

कल्पावर्तसिका : ५

कल्पिका : ५

'कल्याण' (हिन्दू-संस्कृति-अंक) : २६८ टि.

कल्लिनाथ : २८६

कसवर्द्धन : ३५४

कांकदुक (कदन्न) : ३८७

काँवरिया बाबा : २५३, २५४

काकचण्डीश्वरतन्त्र : २१९

काकोदर (सर्प) : ३७६

काणधूति : १६७

काण्ट : ३१९

कादम्बरी : ६, १०, ८२, २५७

कान्तिचन्द्र पाण्डेय (डॉ.) : २४३ टि., २५७, २८५ टि.

कामधेनुतन्त्र : २१९

कामन्दकनीति : २२४

कामरूप (जनपद) : ४७१, ४८०

कामसूत्र (कामशास्त्र) : १५५, २४२, २५७, २५९,
२५९ टि., २६०, २६० टि.,
२६३, २७१, २८८

कार्तवीर्य : ४७६

कालकाचार्य : १७१

कॉलरिज : १३३, ५४६

कालिदास (महाकवि) : १४, ११, १९, ३५, २२७,
२४८, २५६, २६६, २८२,
३३७, ३६३, ३६७, ३८३,
४१३, ४१९, ४२३, ५३७,
५६६, ५७०

कालोदधि (कालोद) : ४६० ४६७

'काव्य के उदात्त तत्त्व' : ५४२ टि.

काव्यमीमांसा : ११४ टि., ५४५ टि., ५४६ टि., ५६७

काव्यरचना-प्रक्रिया : १४० टि.

'काव्यरचना-प्रक्रिया

और मिथ' (लेख) : १४० टि.

काव्यादर्श : १९, ११३ टि., ११४, ११४ टि., ५०१

काव्यानुशासन : २५, ११३ टि.,

काव्यालंकार : ११३ टि., ५०१

काव्यालंकारवृत्ति : ५६०

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : ५५९

- काशगर : ४५२
 काशिकावृत्ति : ४८४
 काशी : ४६७, ४७६, ४८२, ५०३
 काशी-जनपद : ४७१, ४७६
 काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा
 (वाराणसी) : २२७ टि., २४३ टि.
 काश्यप : २४३
 किजल्पिद्वीप : ४५७, ४५८
 किन्नरगीत (क) : २८४, २८५
 किरातरूपिणी (विद्या) : १६८
 कीथ (डॉ.) : २४, २४ टि., २६, २६ टि., २७,
 ३५ टि., ३६
 कुम्भकुट (सर्प) : ३७६
 कुचुमार (आचार्य) : २५९
 कुङ्कुमीमतकाव्य : २७१, २७१ टि.
 कुणाल (जनपद) : ४८१, ४८२
 कुण्डिनपुर : ८७, ३३८
 कुन्तक (आचार्य) : ५४६, ५५८
 कुन्धुनाथ (स्वामी) : ३९६, ४२१, ४७६
 कुमार विमल (डॉ.) : १३१, १३२, १४० टि., १५५ टि.,
 २५६, २६०, २६२, २९३, २९४,
 ५३७ टि., ५४२, ५४४, ५४६,
 ५४७, ५५४, ५५५
 कुमारसम्भव (महाकाव्य) : २५६
 कुम्हार : ४७५
 कुरुक्षेत्र : ४६६
 कुरु-जनपद : ४६७, ४७१, ४७६, ४८२
 कुरुविन्द (मणि) : ३५९
 कुललयमाला
 (कुललयमालाकहा) : ६, १०, १५, १४६ टि.,
 १५४ टि., ५१४, ५२३, ५२४
 कुशामपुर (राजगृह) : ४२०, ४६४, ४७३, ४८१
 कुशार्थ (कुशावर्त) : ४७१, ४७९, ४८२
 कुसुमपुर : ४७५
 कूणिक (कोणिक : अज्ञातशत्रु) : ७४, ७६, ४७३,
 ५०२
 कूर्मपुराण : ४६२
 कृपाराम : २४३
 कृष्णचरित्र : ८४
 कृष्णदेव उपाध्याय (डॉ.) : ८३
 कृष्णलाल (डॉ.) : १८३ टि.
 केकयाई (जनपद) : ४८२
 केदारनाथ शर्मा सारस्वत (पं.) : २६, ४६५
 कैलाशचन्द्र द्वे बृहस्पति (आचार्य) : २८६
 कोंकण (विषय : जनपद) : ४७१, ४८०
 कोक्कास (आकाशयान-शिल्पी) : ४१५, ४१६, ४१७
 कोटिवर्ष (जनपद) : ४८२
 कोलबुक : ५०३
 कोशल (जनपद) : ४७१, ४७६, ४७७, ४८२
 कोशल (प्रदेश) : ४७७, ५०३
 कौटिल्य : १६० टि., १६२ टि., १७१, १७२, २१७ टि.,
 २४३, ३७१, ४२१, ४२२, ४२३, ४२३ टि.,
 ४२५, ४३९, ४४१, ४४६, ४४७, ४५६,
 ४७१
 कौशाम्बी : १६, १८४, ४७५, ४७८, ४८२
 कौशीतकिब्राह्मण : २२१
 क्रमदीश्वर : ५०४
 क्रोचे : ५४६
 'क्वार्टर्ली जर्नल ऑव द
 मिथिक रिसर्च सोसायटी' : २३
 क्वेन-लुन (पर्वतश्रेणी) : ४६२
 क्षीरवर (द्वीप : समुद्र) : ४६०
 क्षीरस्वामी (टीकाकार) : ३५५, ४५५
 क्षीरोदसमुद्र : ४६७
 क्षुद्रहिमवन्त : ४६३
 क्षेमेन्द्र (आचार्य) : १३, १४, १५ टि., १९, २०, २४,
 २५, २७, २८, ३५, २६०, २७१,
 २९३, ४०७, ४६५, ४६५ टि.
 क्षौद्रवर (द्वीप : समुद्र) : ४६०
 ख
 खगपथ : ४५१
 खण्डकापालिक (रसायनाचार्य) : २१९
 खस (देश) : ४५०, ४५२, ४५६, ४७१, ४७९
 खारवेल (राजा) : ५२०

ग

गंगासागर : ४६७
 गठडवहो : ३५९, ५०४
 गजपुर (हस्तिनापुर) : ४७६, ४७८
 गद्यचिन्तामणि : २५, ८२
 गन्धमादन (पर्वत) : ४७१, ४७७
 गन्धर्ववेद (गन्धर्व) : २२४, ४१४, ४७२
 गन्धार-जनपद : ४२२, ४७१, ४७७, ४८८
 गन्धिलावती (विजय) : ४७७, ४८८
 गयदास (टीकाकार) : २०५
 गरुडपुराण : २४३, २४४, २४९, ३८८,
 ३८९ टि., ३९२
 गर्ग (आचार्य) : १७१
 गर्गसंहिता : १७१
 गवायुर्वेद : २२०
 गाथासप्तशती : ६, ५५५
 गाहासप्तसई : ५०४
 गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी (म. म.) : ३८१ टि. ४०३
 गीतगोविन्द : २८०
 गीता : ३६४, ३६४ टि., ३६५, ३८१, ३८८ टि.,
 ३९३ टि. ४०४, ४४२, ४४६, ४८९ टि.
 गुजराती प्रिण्टिंग प्रेस (बम्बई) : ३२८ टि.
 गुणदेव (गुणाढ्य-शिष्य) : १७
 गुणभद्र (आचार्य) : ११, ३८, ११०
 गुणाढ्य (महाकवि) : ११, १३, १४, १५, १६, १७,
 १८, २०, २२, २५, २८, २९,
 ३०, ३१, ३३, ३४, ३५, ३७,
 ३८, ७०, ७६, ७८, ८२, १०९,
 ११९, ३६६, ४५१, ५६५
 गुरुकुल आर्योला (बरेली) : २२३, २२७ टि.
 'गृह्यमन्त्र और उनका विनियोग' : १८३ टि.
 गोणिकापुत्र : २५९
 गोदावरी (नदी) : ४६८
 गोनर्दीय : २५९
 गोपीनाथ कविराज
 (पं., महामहोपाध्याय : कविराजजी) : १६९, १७०,
 १९९, २५८

गोमुख (रसायनाचार्य) : २१९

गोवर्द्धनाचार्य : १९

गोविन्द (रसायनाचार्य) : २१९

गोविन्दराजीय रामायणभूषण (टीका) : ३२८ टि.

ग्लेनेविल (अपराध-वैज्ञानिक) : ४३८

घ

घृतवर (द्वीप : समुद्र) : ४६०

घोटकमुख (आचार्य) : २५९

च

चतुरविजय (मुनि) : ६७, ६८, ७०

चतुर्धाणी : ३४, २४८ टि., २७१, २७१ टि., २७२ टि.,
 २७३ टि., २७४, २८८, ३०३ टि.,
 ३५२ टि., ५८३

चन्दन (चानन नदी) : ४६२

चन्दा (नदी) : २६३, ४६८

'चन्दामामा' (बाल-मासिक, मद्रास) : ३७५ टि.

'चन्द्रकान्ता' : ३०

'चन्द्रकान्तासन्तति' : ३०

चन्द्रगुप्त : ४७५

चन्द्रबली पाण्डे : ३५२ टि.

चन्द्रभागा (चिनाब) : ४६९

चन्द्रसेन (रसायनाचार्य) : २१९

चम्पा (नगरी, नगर, पुरी, पुर) : ७७, २६३, २८०,
 ३४४, ३४४ टि., ४१३,
 ४५२, ४५३, ४६७,
 ४६८, ४७२, ४७३, ४७६,
 ४८०, ४८१, ४८२

चम्पानगर (भागलपुर) : ३२, ३४४, ३४५, ३६३

चम्पानगरी ढोल : ३६३

चम्पानाला : ४६८

चम्पामण्डल : ४६२, ४७२

चरक (आचार्य) : १९४, १९५, १९६, १९८, २०४,
 २०५, २०६, २०८, २१२, २१४,
 २१५, २१६

चरकसंहिता : १९२, १९२ टि., १९३, १९६, २०५,
 २१२ टि., २१४ टि.

चर्चरी (कर्करी) : २६७
 चांदो सौदागर : ४७२
 चामुण्डराय : ४६३
 चारायण (आचार्य) : २५९
 चार्वाक : ४८४, ४८५, ४९५
 चित्रचूड (नास्तिकवादी देव) : ४०६
 चीनभूमि (चीनस्थान) : ४५०, ४५१, ४७१, ४७९
 चुल्लहिमवन्त (लघु हिमालय) : ४६०, ४६३
 चेदि-जनपद (देश) : ४७१, ४७७, ४७८, ४८२
 चेदिनगर (चेदिदेश) : २३२, ३२४
 चैम्बर्स इन्साइक्लोपीडिया : ८२
 चोक्षवादी : ४९५
 चोक्ष (चौक्ष)-सम्प्रदाय : ३५२, ३५२ टि.
 चौखम्बा ओरियण्टलिया (वाराणसी) : २३ टि.
 चौखम्बा-प्रकाशन : २४३
 चौखम्बा विद्याभवन (वाराणसी) : १९ टि,
 २१ टि, २१९ टि.
 चौपाईनगर (चम्पानगर : भागलपुर) : ३४४ टि.
 चौसर : २६

छ

छिन्नकटक (विपुलाचल) : ४७५, ४७९
 छोटानागपुर (प्रमण्डल) : ४६३

ज

जंगल (जनपद) : ४८२
 जगदीश गुप्त (डॉ.) : ३५९, ३५९ टि, ३८३ टि.
 जगदीशचन्द्र जैन (डॉ.) : ११, १३, १४, २१, २२, २३
 २३ टि, २९, ३३, ३५, ३६,
 ६८, ६८ टि, ६९, १५४ टि,
 ३१८ टि, ४०८, ४९८, ५९२
 जगदीशचन्द्र बसु : ३८२ टि.
 जगदीश पाण्डेय (श्री) : ५४२
 जगन्नाथ (पण्डितराज) : २६२
 जगन्नाथ पाठक (डॉ.) : २७१
 जर्नादन मिश्र (डॉ.) : ५५४ टि.
 जमदग्नि : ४७६

जम्बू : ७३
 जम्बूद्वीप (जम्बूखण्ड) : २९८, ३७६, ३९६, ४५७,
 ४५८, ४५९, ४६०, ४६४,
 ४६५, ४६९, ४७०, ४७१
 जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बूद्वीपपण्णसि) : ४५८, ४५९
 जम्बूनदी : ४५८
 जम्बूप्रस्थ : ४५८
 जम्बूस्वामी : ७१, ७३, ७६, १५०, १५५, १५६,
 १६९, १७३, ३३९, ४७३, ५०२
 जम्बूस्वामी-चरित : ८०
 जयदेव (कवि) : २८०
 जयपुर : ४७०
 जयशंकर 'प्रसाद' (महाकवि) : २८०
 जरासन्ध : ४०३, ४७४, ४७५
 जवाहरी (काशी की प्रसिद्ध गणिका) : २८०
 जॉर्ज बेटमैन सेण्ट्सबरी : १२०
 जॉर्जवैले : १३२
 'जाह्नवी' : ४६७
 जिनभद्र : ६६७
 जिनभद्रगणिश्वरमश्रमण : ६७
 जिनविजय (मुनि) : १५४ टि.
 जिनसेन (आचार्य) : ११, ३८, १४६, १४६ टि, ५२३
 जेज्जट (टीकाकार) : २०५
 जेनरल एन्ड्रोपोलॉजी : १४० टि.
 'जैनदर्शन' (ग्रन्थ) : ४८६ टि.
 जैन विश्वभारती (लाहौर) : २६६
 जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश : ४७७, ५७८, ५९७
 जोसेफ टी. शिले : १२०
 जोलोविस्ट (अपराध-वैज्ञानिक) : ४३८
 ज्ञातृधर्मकथा : ५
 ज्योतिषसंहिता : १७१
 ज्वालवती (जालवती) : १६४

ट

टंकण (देश) : ४५०, ४७१, ४७९
 टंकण (म्लेच्छजाति) : ४५०
 टी. एस. हलियट : ९

टी. शिल्पे : ११६
टोडरमल : २४३
टोडरानन्द : २४३

ठ

ठाण : २६६, २६७, २६९
ठाणांग (स्थानांग) : १८५ टि.

ड

डब्ल्यू. एच्. हडसन : १२०
डब्ल्यू. नार्मन ब्राउन : ११७
डब्ल्यू. पी. केर : १२०
डल्हणाचार्य (टीकाकार) : २०५
डार्क कान्सियेट (लन्दन) : १३२
डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर टर्म्स : ११६ टि.
डिण्डी (डिण्डिक) : ३०२, ३०३ टि.
डार्विन : ४८५

ण

णमोकार-मन्त्र : १५७ टि.
'णाय' (कथाभेद) : ८१
णायकुमारचरित : ३७
णायामम्मकहाओ : ३६३

त

तंगण (टंकण) : ४५२
तक्षशिला : ४६६, ४७६
तत्त्वार्थसूत्र : २५५ टि., ४८५, ४८५ टि., ४८६
तमत्ता (नरकभूमि) : २९१
तरंगलोला : ६
तरंगवती : ६, ६ टि.
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि : २५९ टि.
ताम्रलिपि : ३४२, ३५२, ४१५, ४५२,
४५६, ४८१, ४८२
तारा बुक एजेंसी (वाराणसी) : २३ टि.
तारीम (घाटी) : ४७१
तालोदघाटिनी (विद्या) : १५६

ताशकुरगन : ४५२
तिरस्करिणी (विद्या) : १८२
तिलकमंजरी : ६, २०, ४२७ टि.
तिलोयपण्णति : २४४ टि., २४५, ३९३
तुलसीगणी (आचार्यश्री) : ११०, ५८१
तुलसीदास (गोस्वामी) : ३१७, ३४०, ५७०
तैत्तिरीयब्राह्मण : १८१, १८१ टि., ३३७ टि.
तैत्तिरीयोपनिषद् : २६२
तोरमाण (हृणवंशी) : ४७७
तोसलि (नगरी) : ४१६
त्रिपिटक (बौद्ध) : ४
त्रिविक्रम : ५०१
त्रिविक्रमभट्ट : १९
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित : ११, २९, ३८, ८४

द

दधप्रजापति : ३३५
दक्षिणभरत : ४५७
दक्षिणार्द्धभरत : ४००, ४५७
'दण्डविवेक' (ग्रन्थ) : ४३८
दण्डी (आचार्य) : १९, ११३, ११४, ५०१
दत्तक (आचार्य) : २७१
दत्तात्रेयसंहिता : २१९
दधिमुख (पर्वत) : ४६०
दलसुख मालवणिषा (पं) : ६८
दशरथकथानम् : १०७
दशरथजातक : १०७
दशरूपक : १९, ५००
दशवैकालिक (सूत्र) : १४५, १४६, १४६ टि., ५२३
दशवैकालिकनिर्युक्ति : १४५, १४५ टि.
दशार्ण (जनपद) : ४८२
दस दशार्ह : ८५, ४७९
'दसिपूर' : ३५४
दामोदरगुप्त : २७१
'दि आउट लाइन ऑफ माइथोलॉजी' : १३२ टि.
दिनकर (राष्ट्रकवि) : ३२०

दिनकरभट्ट : २४३

दिनेश्वर प्रसाद (डॉ०) : १४०, १४० टि.

'दि वसुदेवहिण्डी : एन. ऑथेण्टिक

जैन वर्सन ऑव दि बृहत्कथा' : १३, ३३, ६८,
६८ टि., ३१८ टि.

दिव्यावदान : ७८, २४८ टि., ४५९

दिशाप्रोक्षित : ४९५

दिशाप्रोक्षी : ३५२, ४९५

'दि स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑव फोकलोर' : ८३

'दि हिस्ट्री ऑव इंगलिश नॉवेल' : १२०

दीपकर्णी : १७

दीर्घवैताल्य (पर्वत) : ४५९, ४६४, ४६५

दुर्गाप्रसाद द्विवेद : २६७ टि.

दुर्गासप्तशती : १६१ टि., १९३, २३९

द्विप्रयाग : ३२६

दृष्टिवाद (श्रुतांग) : १५३

दृष्टिविष (सर्प) : २७६

देव : ४००, ४०१, ४०३, ४०५, ४०६

देवकीनन्दन खत्री : ३०

देवकुरु : ४५७, ४५९

देवदूष्य : ३५५

देवनन्दिपूज्यपाद : ४८६

देवर्द्धिगणी : ५०३

देव-विमान (विमान : देवलोक) : ३९३, ३९४, ३९५,
३९६, ३९७, ४०६

देवीपुराण : २४३

देवीभागवतपुराण : ४६३

देवेन्द्रगणी (आचार्य) : ३७, ३८

देवेन्द्रसूरि : ८४

देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र : ३४१ टि.

देशबन्धु विद्यालंकार : २२३, २२७ टि.

देशीनाममाला : ५७५, ५७९, ५८०, ५८१, ५८४,
५८५, ५८७, ५९०, ५९३, ५९७

देशोपदेश : २४

देह-परिमाण-आत्मवाद : ४८६, ४८८

देह-परिमाण-आत्मवादी : ४८७

देहात्मवादी : ४८६

दौगुन्दुकदेव : ९४

द्रोणाचार्य (धनुर्वेदाचार्य) : २२५

द्वावती (द्वारकानगरी) : ७४, ८५, २५०, ४७९, ४८२

ध

धनंजय (आचार्य) : १९, ५२५

धनपाल : ६, २०, ४२७ टि.

धनिक (टीकाकार) : १९, ५००

धनुर्विद्या : २२१, २२२, २२४, २४१

'धनुर्विद्या' (ग्रन्थ) : २२३ टि., २२७ टि.

धनुर्वेद : २२४, २२५, २२८

धन्वन्तरि (आदिदेव) : १९४, २०८

धम्मिल्लचरित : ३२, ३७, ७०, ७३, ७४, ८०, १२८,
१५६, १५७, २१३, २६९, ३६६,
३७०, ३७१, ४३२, ४३४, ४३६,
४३८, ४४०, ४५२, ४५४, ४६७,
४९१धम्मिल्लहिण्डी : ६९, ७०, ७३, ७४, ९७, ११३,
१४४, १८७, २०९, २१०, २१६,
२१७, २२१, २२३, २२९, २५३,
२६१, २६३, २६९, २७४, २९६,
२९७, ३०२, ३०९, ३१०, ३३८,
३४४, ३४९, ३५१, ३५२, ३५६,
३६०, ३६३, ३६६, ३६८, ३७३,
३७५, ३७६, ३७९, ३८२, ३८७,
३९४, ४१०, ४१६, ४२४, ४७२, ४७६

धर्मदास : ६९

धर्मदासगणी : ६९

धर्मसेनगणिमहत्तर :

(धर्मसेन) : १४, ६७, ६८, ६९

धर्मसेनगणी : ६९

धात्री : धातकीखण्डद्वीप : ४५७, ४५९, ४६०, ४७०

धूमप्रभा (नरकभूमि) : ३९१

धूर्तज्याण (धुतकजाण) : १५३

'धुवपद और उसका विकास' : २८६ टि.

धुवागीति : २८६, २८७

ध्वन्यालोक : ५६०

ध्वन्यालोकलोचन (चौखम्बा-संस्करण) : ५४६ टि.

न

नगेन्द्र (डॉ.) : ५४२
 नगेन्द्रनाथ वसु (प्राच्यविद्यामहार्णव) : २२४, २२७
 नथमल (मुनि) : २६६, २६८
 नटुनारायणराग : २८५
 नन्दिदेव (गुणाढ्य-शिष्य) : १७
 नन्दिपुर : ४८२
 नन्दी (शिवानुचर;
 कामशास्त्र-प्रणेता) : २५९, २६०
 नन्दोत्तरद्वीप : ४५७, ४६०, ४६१
 नमि (राजा) : ४८१
 नमिसाधु
 (पण्डित : टीकाकार) : ११३ टि., ५०१, ५६०
 नरवाहन (रसायनाचार्य) : २१९
 नरवाहनदत्त (राजा) : ६, १३, १९, २३, २४, २७, २९,
 ३०, ३१, ३७, ७१, ७२, ७६,
 ३४९, ४१३, ४६५
 नरवाहनदनचरित : १८
 नरसिंह (ग्रन्थकार) : ५००
 नर्ममाला (ग्रन्थ) : २४
 नलिनविलोचन शर्मा
 (आचार्य : नलिनजी) : ७, ९, २०, २१, ८२, ८२ टि.
 नलिनीविजय : ४५८, ४७०
 नागपुर-विश्वविद्यालय : ३४, ३१८ टि.
 नागबोध (रसायनाचार्य) : २१९
 नागमूर्च्छना : २८४
 नागराग : २८४, २८५
 नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका (काशी) : ३४
 नागहस्ती : ६
 नागार्जुन (बौद्धमिक्षु) : २०५, २१७, २१९
 नागार्जुनतन्त्र : २१९
 नाट्यवेद : २६६
 नाट्यशास्त्र : १५५ टि., २५७, २६६, २६८ टि., २६९,
 २६९ टि., २७१, २८०, २८२ टि.,
 २८३ टि., २८४, २८४ टि., २८५,
 २८५ टि., २८६, २८६ टि., २८७,
 २८७ टि., २८८ टि., ३०७, ३०७ टि.,
 ३६३, ५०० टि., ५५९

नाभिकुमार : ४७७
 नारदमुनि : २६५
 नारदसंहिता : १७१
 नारायणभट्ट : २४३
 'नारी के विविध रूप' : २३ टि.
 नास्तिकवाद : ४८४
 नास्तिकवादी : ४८३, ४८६, ४८७, ४८८
 निम्बार्काचार्य : ४९४
 निवर्तनी (विद्या) : १६३
 निशीथ (चूर्णि) : २६८
 निशीथचूर्णि : ६, ५१४
 निषध (पर्वत) : ४५९
 निसीहज्झयण : २६८
 नीतिमयूख : २२४
 नीलवन्त (पर्वत) : ४७१
 नीलवान् (पर्वत) : ४५९
 नेमिचन्द्र (वीरभद्र-शिष्य) : ६
 नेमिचन्द्र शास्त्री (डॉ.) : ५, ६८, ६८ टि., ११६, ११७,
 १४६ टि., १४७, १५७ टि.,
 १७२, १८१ टि., १९१ टि.,
 ४९८, ५०३, ५१४, ५२३ टि.
 नेमिनाथ : ३६०
 नेमिनाथचरित : २९
 नेशनल पब्लिशिंग हाउस (दिल्ली) : १८३ टि.
 नैपाल-माहात्म्य : १८ टि., ३६, ३६ टि.

प

पंकप्रभा (नरकभूमि) : ३९१
 पंचतन्त्र : २७, ५३४
 पंचदिव्य : ४०१, ४८०
 पंचपरमेष्ठी : ११३
 पंचभूतवाद : ४८४
 पंचाल : ४८२
 पंचास्तिकाय : ४८६ टि.
 पठमचरित : १०९
 पठमचरियं (य) : ७, ८, ८ टि., ९, १०९, ११०,
 ११० टि., १११, ११२, ११२ टि.,
 २३०, ३५७, ३६५, ५१४

- पट्टलिका : ३५३
 पतंजलि (महर्षि) : १७०
 पत्रलघुकिता (विद्या) : १६०
 पद्यचरित : १०९
 पद्यप्राभृतक (भाण) : ३५२
 पद्मिनीखेट : ४५२, ४६९, ४७७
 परलोक : ४९०
 परशुराम : ४०६
 परिशिष्टपर्व : ३०८
 'परिषद्-पत्रिका' (त्रैमासिक) : ११ टि, २१ टि, २२ टि,
 २२ टि, २३, २३ टि,
 २९ टि, १२० टि, १३२
 टि, १३३ टि, १३५ टि,
 १३६ टि, १७० टि, २८६
 टि, ४०८ टि, ४६२ टि,
 ४६४ टि.
 'परिषद्-पत्रिका' (म. म. गोपीनाथ कविराज-
 स्मृति-तीर्थ : विशेषांक) : १७० टि, १९९ टि.
 पश्चिमविदेह (क्षेत्र) : ४७०
 पाटलिपुत्र : २५९, ४७५
 पाणिनि (महर्षि : आचार्य) : २५६, ५७४
 पाण्डवपुराण (जैनमहाभारत) : ८४
 पादताडितक (भाण) : ३५२ टि.
 पादलिप्तसूरि : ६
 पामीर : ४६२
 पारस्करगृह्यसूत्र : १८२
 पारिजातहरण : १८२
 पालि-हिन्दी-कोश : ५७६, ५९७
 पावा (जनपद) : ४८२
 पिप्पलाद : ४७६
 पी. के. अग्रवाल (डॉ.) : २३
 पीयर्स साइक्लोपीडिया : १२०
 पुण्यविजय (मुनि) : ६७, ६८, ७०
 पुण्यास्रवकथाकोश : ३८
 पुण्याहवाचन : ३३१ टि.
 पुनर्जन्मवाद : ४८८
 पुनर्जन्मवादी : ४८९
 पुरुवर्त : जनपद (प्रा. पुरिवट्ट) : ४८२
 पुरश्चर्यार्णव : १५९ टि.
 पुष्करद्वीप : ४५९, ४७०
 पुष्करवरद्वीप : ४५७, ४५९, ४६०
 पुष्करार्द्ध : ४५७, ४५९, ४६०
 पुष्कलावती (विजय : प्रान्त) : ४७०, ४७१, ४७७, ५६६
 पुष्पदन्त (आचार्य) : ११, ३७, ३८, १०२
 पुष्पदन्त (शिवगण) : १६, १७
 पुष्पमित्र : २०५
 पूर्वविदेह (क्षेत्र) : २९८, ३००, ४५७, ४५९, ४७०
 पृथु (राजा, वेणुपुत्र) : २२५
 पृथ्वीसूक्त : ४५४
 पेरिस : २३
 पेशावर (पुरुषपुर) : ४८१
 पैंगर : २६, ११७
 पौराणिक वास्तुशान्तिप्रयोग : २४४ टि.
 प्रज्ञप्ति (विद्या) : ९४, १५७, १५८, १६२ टि
 प्रज्ञापना (सूत्र) : ४००
 प्रतापसिंह (नेपाल-महाराज) : १५९ टि.
 प्रतिष्ठान (झुंसी) : ४६८
 प्रथमानुयोग : ४९९
 प्रबन्धकोश : २४२, २५७, २६१
 प्रबन्धचिन्तामणि : १२३ टि.
 प्रभव (स्वामी) : ७३
 प्रभाचन्द्र : ६
 प्रभावकचरित्र : ६
 प्रभासतीर्थ : ४७९
 प्रयाग : ४६७
 प्रवरसेन : ५०४
 प्रश्नव्याकरणसूत्र : १७१
 प्रश्नोपनिषद् : २०२
 प्रसन्नचन्द्र : ५०२
 प्रसेनजित् : ४७६, ४७७
 प्रहरणावरणी (विद्या) : १५९
 प्राकृत-ग्रन्थ-परिषद् (वाराणसी) : ११२ टि.
 प्राकृतप्रबोध : १५७ टि.
 प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण : ५०० टि, ५०३ टि,
 ५०४ टि.
 'प्राकृत-भाषा और साहित्य का
 आलोचनात्मक इतिहास' : ५०३ टि, ५२३ टि.

प्राकृत-शब्दप्रदीपिका : ५००

प्राकृतशब्दमहार्णव :

(पादयसदमहर्णवो) : ३५३, ३५४, ३५६, ३५८,
३५९, ३६३, ३६५, ३६७, ३७४, ३७५,
३८७, ४२२, ४५४, ४५५, ४९५, ५१६ टि,
५७५, ५७७, ५८०, ५८६, ५८७, ५९७

प्राकृत-साहित्य का इतिहास : २१, १५४ टि, ४९८

प्राचीन भारत के वाद्ययन्त्र (लेख) : २६८ टि.

प्रियंगुपट्टण : ४५१

प्रेमचन्द्र तर्कवागीश : ५०१

फ

फंक : ८०

फादर कामिल बुल्के

(रेक्वेण्ड डॉ) : १०२ टि, ११० टि.

फाहियान : ४६७

फिक्ट : ३१९

फ्रांज बोआज़ : १४०

फ्रॉयड : १३३, ३२०

ब

बदरीनारायण सिन्हा (डॉ) : ४३९ टि.

बन्धविमोक्षणो : १५९

बन्धविमोचनी : १५९

बन्धुपुत्र (बाधुपुत्र) पांचाल : २५७, २५९, २६२

बर्बर (देश : जनपद) : ४५१, ४५६, ४७१, ४७९

बलखण्ड : ४७१

बलदेव उपाध्याय (आचार्य) : १४ टि, १९, १०१ टि.

बहुरूप (नाटककार) : २८२

बह्वचब्राह्मण : १८०

बाणभट्ट (महाकवि बाण) : ६, १०, १५, ७८, ८२,

२५७, ३५६, ५५७

बार्बरिकोन : ४५१

बालुकाप्रभा (नरकभूमि) : ३९१

बाहुबलि (ली) : ४६३, ४६६, ४७६

बिम्बिसार : ७४, ११०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) : ७ टि, १४ टि, २३
३४, ६८ टि, १०१ टि, ११४ टि,
१७० टि, २८०, २८६ टि, ३१९ टि,
४३४ टि, ४५१ टि, ४६५ टि,
५०० टि, ५५४ टि.

बिहार हिन्दी-ग्रन्थ-अकादमी (पटना) : ४३९ टि.

बिहुला-विषहरी (लोकगाथा) : ४७२

बीम्स : ५०४

बुधस्वामी : १३, १४, २०, २१, २२, २३, २३ टि,
२४, २५, २८, ३१, ३२, ३३, ३५, ३६,
८१, १२०, १२८, २२४, २७३, २८४,
३०३ टि, ३२२, ३४१, ३४९, ३६६,
३६७, ४१७, ४२३, ४४७, ४५०, ४६५,
४९३ टि, ५६४, ५६६, ५८२, ५८३, ५९२

बूलर : ३०

बृहज्जातक : १७१

बृहत्कथा (बहुकहा) : ११, १३, १४, १५, १९, २०, २१,
२२, २४, २५, २७, २८, २९,
३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६,
३६ टि, ३७, ३८, ७०, ७६, ७८,
८०, १०९, ११९, १९०, ३६६,
४०७, ४५१, ५६४

बृहत्कथाकोश : ३८, १५१ टि.

बृहत्कथामंजरी : १३, १४, १५ टि, २०, २२, २४, २७,
२८, ३१, ३४, ७०, ७६, १०९, १९०

बृहत्कथाश्लोकसंग्रह : १३, १४, २०, २१, २२, २३,
२३ टि, २४, २५, २७, ३०, ३१,
३२, ३३, ३४, ३५, ३५ टि, ३६,
३७, ७०, ७१, ७६, १०९, १२८,
१९०, २२४, २८४ टि, २८५,
३०३ टि, ३२२, ३४१, ३४९,
३६६, ३६७, ४०३, ४१४, ४२३,
४५०, ४५१, ४६५, ४९३ टि,
५६४, ५६६, ५८२, ५८३

बृहत्कल्पशास्त्र : ५१४

बृहत्कल्पसूत्रशास्त्र : ४८१, ४८२

बृहत्संहिता : २४९

बृहत् हिन्दी-कोश

(ज्ञानमण्डल, वाराणसी) : ३५९, ४५४, ५९७

बृहदारण्यकोपनिषद् : ३९८, ३९८ टि.
 बेकन : ३१९
 बेनिफी : ११७
 बैतालपचीसी : २७
 बोकेशियो : २६
 बोधिसत्त्वावदानकल्पलता : २४
 बौसी (उपनगर) : ४७३
 बह्मदत्त (राजा) : २२४
 ब्रह्मपीठ : ब्रह्मबाबा : ४०३
 ब्रह्मा (रसायनाचार्य) : २१९
 ब्राह्मविधि : ३३७
 ब्राह्मी : ३४८
 ब्रोनिस्लाव मालिनोव्स्की : ३१९
 'ब्लिट्ज' (साप्ताहिक) : १७०
 ब्लूमफील्ड : ११७
 ब्लैकस्टोन (अपराध-वैज्ञानिक) : ४३८

भ

भंगिजनपद : ४८२
 भगवतीसूत्र : ३६३
 भगवद्गीता : ३०२, ३५२, ३८८
 भट्टतोत (आचार्य) : ५४६
 भट्टरुद्र (आचार्य) : २६७
 भदन्त आनन्द कौशल्यायन : ५७६
 भद्रक (महिष) : ३७२
 भद्रिलपुर : ४८२
 भम्भा (वाद्य) : ३६३
 भरत (आचार्य : महर्षि : मुनि) : १५७, २५७, २६६,
 २६८, २६८ टि., २६९, २६९ टि.,
 २७०, २८०, २८२, २८३, २८४,
 २८५, २८६, २८७, २८८, ३०७,
 ३५२ टि., ३६३, ३६५, ५००,
 ५५९
 भरत (क्षेत्र) : ४६४, ४७४
 भरत (राजा) : २७३, ३४८, ४६६
 भरद्वाज (आचार्य) : २४३, ४२३
 भरहुत : ३८४

भर्तृहरि (आचार्य) : ३४०, ३५३
 'भव-भावना' : ३८
 भागलपुर (प्राचीन अंग) : २५३, ३६३, ४६२, ४६८
 भागवतपुराण : २५७
 भागीरथि (भगीरथ) : ४६५, ४६७, ४७६
 भागीरथी : ५६७
 भामह (आचार्य) : ११३
 भायाणी (डॉ.) : ६८
 भारत : ४५७
 भारतमंजरी : २४
 भारतवर्ष : ४५७, ४६६, ४८१
 भारतीय ज्ञानपीठ (वाराणसी) : १७२ टि., १८१ टि.
 'भारतीय ज्योतिष' (ग्रन्थ) : १७२ टि., १८१ टि.
 'भारतीय प्रतीकविद्या' : ५५४ टि.
 'भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा' : १०१
 'भारतीय संगीत-वाद्य' : ३६३ टि., ३६५, ३६६
 'भारतीय संस्कृति और साधना' : १७० टि.
 'भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का
 योगदान' : ६ टि., ६८ टि., ८४ टि., १५५ टि.,
 २४५ टि., २५६ टि., २५७ टि.,
 ३९३ टि., ४६० टि., ४६१ टि., ४९८
 भारतीय संस्कृति-विद्यामन्दिर (अहमदाबाद) : १८ टि.
 भारद्वाज (आचार्य) : १९४
 भारवि (कवि) : ३६८
 भावप्रकाश : १९४, १९६, १९९ टि., २००,
 २०० टि., २०१, २०२, २०३ टि.,
 २०४ टि., २०५
 भावप्रकाशनिषण्डु : २००
 भावमित्र : १९४, १९६, २०१, २०२, २०८,
 २११, २२०
 भास्कर (टीकाकार) : २०५
 भास्कर (रसायनाचार्य) : २१९
 भास्कर गोविन्द घाणेकर (डॉ.) : २०५
 भुजपरिसर्प (नाग) : ३७५
 भूताभूतवादी : ४८५
 भृगु (वास्तुशास्त्रज्ञ) : २४२
 भैषज्यरत्नावली : १९६

भोगीलाल जयचन्दभाई :

साण्डेसरा (श्री. साण्डेसरा) : १९, २८ टि, ३४,
३०३ टि, ४९६,
४९८, ५८०, ५९२

भोजकट (नगर) : ४८०

भोजदेव : २४३, २४६, २४९

म

मंगलदेवशास्त्री : २४ टि, २६ टि.

मंगलावतीविजय : ४५८

मंगोल : ४५२

मगध-जनपद (प्रदेश) : ७२, ३२८, ४७१, ४७२,
४७३, ४७४, ४७५, ४८२,
५०३

मगधसेना : ६

मगधापुर (श्री. मगहापुर) : ४७३

‘मज्झिमखण्ड’ : १४

मणिप्रभा (टीका) : ४५४

मत्तमाण्डव्य (रसायनाचार्य) : २१९

मत्स्य (जनपद) : ४८२

मत्स्यपुराण : १४, ७८, १०२, २४२,
२४३, २४९, ४५२, ४७१

मथुरा (जनपद : नगरी) : ४६८, ४७४, ४७९, ४८२

मधुसूदन सरस्वती : २२४, २२५

मध्य-एशिया : ४५१, ४५२, ४५६, ४६२, ४६९

मध्यप्रदेश शासन साहित्य-परिषद् (भोपाल) : ६ टि.

मध्यमखण्ड

(मज्झिम या मज्झिमल्लखण्ड) : ६८, ६८ टि, ६९

मध्यम वसुदेवहिण्डी : ६९

मनु (महाराज) : ३१९, ३३६, ३३६ टि,
३३७, ४३८, ४३९, ४४२

मनुसंहिता : ४३८

मनुस्मृति : ३४५, ३९८, ३९८ टि, ४२२, ४३६ टि,
४३७, ४४२, ४४२ टि, ४४३, ४६३

‘मनोरमा’ (इलाहाबाद) : ३५९ टि, ३८३ टि,

मन्यानिधैरवतन्त्र : २१९

मन्दरगिरि : ४६२

मन्दरपर्वत (मन्दर) : ४५९, ४६२, ४६३, ४६४,
४६६, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३

मन्दराचल : ३७८, ४६२

मन्दारपर्वत (भागलपुर, बिहार) : १६७

मयदानव : २४३, २४६, २५४

मयमत : २४३

मयशिल्प : २४३

मयासुर (मयदानव) : २४२

मलधारि हेमचन्द्र : ३८

मलय : ४८२

मलय-एशिया : ४५१

मलयदेश : ४५३

मलय-प्रायद्वीप : ४६७

मल्लविद्या : २२३, २३८, २८४

मल्लिनाथ (आलोचक) : १९

मल्लिनाथ (तीर्थकर) : ४८

मल्ली (स्त्री-तीर्थकर) : ४८

महाचुल्ली (विद्या) : १६८

महाजाल (महाजालिनी) विद्या : १६५

महातमा (नरकभूमि) : ३९२

महाद्रुम : ४५९

महानदी : ४७०, ४७१

महानिदेश (स) : ४५२

महापुराण : ११, ३८, ८४, १४६ टि, ५२३

महाभारत : २४, ७८, १०२ टि, १०७ टि, १०९,
२२४, २२५, २२५ टि, २२८, २४२, २५४,
३६४, ३६५, ३८४, ४३८, ४५२, ४५७,
४६२, ४६४

महाराज श्यामशाह शंकर : २४३

महार्थमंजरी : २९३ टि.

महावस्तु : २७२

महाविदेह : ३९५, ४५७, ४७०

महावीर (तीर्थकर : भगवान्) : ४, ७, ७३, ७४, ७६,
८४, ८५, ११०, १७३,
१७४, २०३ टि, ४५७,
४६४, ४७३, ५०२

महाहिमवान् (पर्वत) : ४५९, ४६३

महाहद : ४६६, ४७०
 महेन्द्रकुमार जैन (प्रो) : ४८६ टि, ४९२
 'माउण्ट मेलियस' : ४६२
 मातृ प्रकाशन
 (पटना : सासाराम : बिहार) : ५४२ टि.
 माधवनिदान : १६६, १९८ टि.
 माधवाचार्य : १९६
 मानदण्ड : ८२ टि.
 मानवगुणसूत्र : १८२
 मानवसार : २४३
 मानसारवस्तु : २४३
 मानुषोत्तर (पर्वत) : ४६०
 मार्कण्डेयपुराण : १६१ टि, ३९२, ४६३, ४६४
 मालविकाग्निमित्र (नाटक) : २८२
 माल्यवत्पर्याय (पर्वत) : ४६४
 माल्यवन्त (पर्वत) : ४७१
 माल्यवान् : १६, १८
 मासपुरी (जनपद) : ४८२
 माहण : ३२७, ३५०
 मिडल इंगलिश रोमांस : १२०
 मित्र प्रकाशन (इलाहाबाद) : २७१ टि.
 मिथिला (नगरी : जनपद) : ४७८, ४७८ टि,
 ४८१, ४८२
 मिलिन्दपञ्च : ४५२
 मुंजवत् (पर्वत) : ४७१
 मुण्डकोपनिषद् : २२२
 मुद्राराक्षस (नाटक) : १९
 भूलप्रकृति : ४९१
 मुहूर्तचिन्तामणि : १८०
 मुच्छकटिक (नाटक) : २७१, २८८
 मृत्तिकावती (जनपद) : ४८२
 मेगास्थनीज : ४६२
 मेघदूत : १४, १९, २४८, २४८ टि, २७२, ३८३,
 ३८३ टि, ३८६, ४१३
 मेडिएवल रोमांसेज : १२०
 'मेघदूत' एक अनुचिन्तन : १४ टि, १९ टि, २० टि,
 ३८६ टि.
 मेरुतुंग (आचार्य) : १५३ टि.

मेरुपर्वत : ४६१, ४६३
 मेष-संक्रान्ति (सतुआनी) : ४७२
 मोचिनी (विद्या) : १५६
 मोतीचन्द्र (डॉ) : ३४, २४८ टि, २७१ टि, २७२,
 ३०३ टि, ३५२ टि, ४५१, ४५२,
 ४५८, ४६१, ४६३, ४६७, ४६९,
 ४७१, ४७७, ५८३
 मोतीलाल बनारसीदास (पटना) : १९ टि.

य

यजुर्वेद : २२२, २२२ टि, २२४,
 २६६, ३१९, ३१९ टि.
 यतिवृषभाचार्य : २४४, २४५
 यमदग्नि : ४०५
 यवद्वीप : ४५६, ४५७, ४५८
 यवन (जनपद : देश) : ४५६, ४७१, ४७९
 यवनद्वीप (जावा) : ४४८, ४५८
 यशोधन (रसायनाचार्य) : २१९
 यशोधर (टीकाकार) : २५७
 याकोबी : ३०, १०१, ५०३
 याज्ञवल्क्य : ३९८, ४३६ टि, ४३९, ४४२,
 ४४६, ४७६
 याज्ञवल्क्यस्मृति : ३३६ टि, ३४५, ३६५, ४२२,
 ४२३, ४३६ टि, ४३० टि.
 याज्ञिकदेव : २४३
 यास्क (श्रीयास्काचार्य) : ३९८
 युक्तिकल्पतरु : २२६, २४२
 युद्धकल्पतरु : २२४
 युद्धजयार्णव : २२४
 योगशास्त्र : २२३
 योगसूत्र : तत्त्ववैशारदी टीका : ४९२
 योगेन्द्र मिश्र (डॉ) : ४६९ टि.

र

रघुवंश (महाकाव्य) : २२७, २४८, ३६७ टि, ३६८,
 ४१९, ४२३
 रजतबालुका (नदी) : ४७२
 रतिकर (पर्वत) : ४६०
 रत्नकोश (रसायनाचार्य) : २१९

रत्नद्वीप : ४५७, ४६१
 रमणीकलाल (डॉ.) : ६८
 रमणीकविजय : ४५८
 रमेश कुन्तलमेष (डॉ.) : १३२, १३३, १३५, १३६
 रम्यक (वर्ष : क्षेत्र) : ४५९, ४६४
 रवीन्द्रनाथ टैगोर : ५३४ टि.
 रसगंगाधर : २६२
 रसतरंगिणी : १९६
 रसपारिजात : २१९
 रसरत्नसमुच्चय : १९६, २१८, २१९, २१९ टि.
 रसार्णव : १९६
 रसिकलाल पारीख : २८ टि.
 रसेन्द्रसारसंग्रह : १९६
 राधवन (डॉ.) : २८६
 राजकमल प्रकाशन (नई दिल्ली) : ५३७ टि.
 राजगृह : ७२, ७७, ४३३, ४६४, ४६९, ४७३, ४७४, ४७५, ४८२, ५७९
 राजनीति और दर्शन : ३१९ टि.
 राजप्रश्नीय : ५
 राजप्रश्नीयसूत्र : २३६, २३७
 राजवल्लभमण्डन (सूत्रधारमण्डन) : २४३
 राजवार्तिक : ४८८
 राजशेखर (आचार्य) : ११४ टि., ५४५, ५४६, ५६०
 राजशेखर सूरि : २४२, २५७
 राधाकान्त देव : ४८४
 राम (दैवज्ञ) : १८०
 रामकथा उत्पत्ति और विकास : १०२ टि., ११० टि.
 रामकृष्ण भट्ट : २४३
 रामचन्द्र मुमुक्षु : ३८
 रामचन्द्र शुक्ल (आचार्य) : ८३, ५३६, ५५०, ५५१
 रामचरितमानस : ४२८ टि.
 रामधारी सिंह 'दिनकर' (डॉ.) : ५२४ टि.
 रामप्रकाश पोद्दार (डॉ.) : २३, २३ टि., ४०८ टि.
 रामललानहक्कू : ३४०
 रामानुजाचार्य : ४९४
 रामायण : ६, १९, २४, १०९, २२४, २२८, २५४, ३८४

रामायणमंजरी : २४
 रामोपाख्यान : १०७ टि.
 रावणवहो : ५०४
 रिचर्ड पिशल (डॉ. पिशल) : ५०० टि., ५०१, ५०३, ५०४, ५१६
 रुक्मी (पर्वत) : ४५९
 रुक्मिणी : ४५७, ४६०
 रुद्रट (आचार्य) : ११३, ५०१, ५०३
 रुद्रयामलतनत्र : २१९
 रेवरेण्ड ट बार्ड : २३
 रैन्डू (फ्रेंच सम्पादक) : २३
 रोहिणी (विद्यादेवी) : १६६

र

लंकाद्वीप : ४५७, ४६१
 लंकेश (रसायनाचार्य) : २१९
 लघुवीरचिन्तामणि : २२४
 लम्प (ट) क (रसायनाचार्य) : २१९
 'लम्बक' : १९, २५, ११३
 'लम्प' : २५, ३१, ११३
 'लम्पक' : २५
 ललितविस्तर : १५५, २४२, २५७, २६०, २६१, २६३, २८८
 ललितस्तवराज : २५८
 लवणसमुद्र : ४५९, ४६०, ४७१, ४७९
 लाकोत (प्रो.) : २१, २३, २४, २५, २८, २९, ३०, ३४, ३५
 लाट (जनपद) : ४८२
 लॉ फानेन : २६
 लालबाई दलपतभाई
 भारतीय संस्कृति-विद्यामन्दिर
 (अहमदाबाद) : ३५, ६८
 लालमणि मिश्र (डॉ.) : ३६३, ३६३ टि., ३६५, ३६६
 लास्सन : ५०३
 लिंगपुराण : ३५९
 लेक्सि स्पेन्स : १३२
 'लोक-साहित्य की भूमिका' : ८३ टि.
 लोकायत : ४८५, ४९५

व

वंशु (नदी) : ४५२, ४६७, ४७१

वंग : ४८२

वक्षस्कार : वर्षघर (पर्वत) : ४६२, ४७७

वक्षार (पर्वत) : ४५९, ४७७

वज्रि : ४७४

वत्स-जनपद : ४७१, ४७८, ४८२

वत्सराज उदयन : १९

वत्सावतीविज्ञय : ४५८

वरणा (वरुण-जनपद) : ४८२

वरदा : ४६८

वररुचि : १६, १७

वराहमिहिर (आचार्य) : १७१, १९१, २४७

वरुणवर (द्वीप : समुद्र) : ४६०

वरुणोदिका (नदी) : ४६९

वर्द्धमान उपाध्याय (पं) : ४३८

वर्षघर (पर्वत) : ४७०

वल्लभ (अक्ष) : ३७२

वल्लभदेव (टीकाकार) : १९, ३८६

वल्लभाचार्य : ४९४

वसिष्ठ (वास्तुशास्त्रज्ञ) : २४२

वसुदेवचरित : २९, ७०, ७१, ७३, ७४, ७६, ८०,
४९६, ४९८

वसुदेव नार सिन्दम : ३०

'वसुदेवहिण्डी' : एनू ऑथेण्टिक

जैन वर्सन ऑव द बृहत्कथा : १३

'वसुदेवहिण्डी का सांस्कृतिक इतिहास' : ३१८ टि.

वाक्पतिराज : ५०४

वागनल्स : ८०

वाग्भट (आचार्य) : १९४, १९६, १९७, २०४, २०५,
२०६, २०८, २१०, २१४, २१५,
२१६, २१८

वाग्भटसंहिता : १९२

वाग्भटालंकार : ५८०

वात्स्यायन : १५५, २४२, २५७, २५९, २६२, २६३,
२७१, २७९, २८८

वादीभसिंह (सुरि) : २५, २८

वामन (आचार्य) : ५५९

वामनपुराण : ४६२

वामन शिवराम आप्टे : २८३

वायुपुराण : ४५२, ४६४, ४७१,

वाराणसी : २२४, ४७६, ४८१, ४८२

वाराहगृह्यसूत्र : १८३

वाराहपुराण : ४६२

वाल्मीकिरामायण : ९, १०७ टि., १११, ११२, १५३,
३२८ टि., ३६४, ३६५, ४५८,
४७८ टि.

वासवदत्ता (कथा) : १९

वासिष्ठीहवनपद्धति : ३३१ टि.

वासुदेव (वास्तुशास्त्रज्ञ) : २४३

वासुदेवशरण अग्रवाल

(डॉ. अग्रवाल) : १४, २०, २१, २२, २३, २६,
२७, २८ टि., ३०, ३४, ३६ टि.,
६८, ६८ टि., ६९, ७०, ७८,
२४८ टि., २७१ टि., २८६, ३५५,
३८६, ४५५, ४५५ टि.

वासुपूज्य (साधु) : ४८१

वासुपूज्य (स्वामी : तीर्थंकर) : ४७२, ४७३

वासुपूज्य-क्षेत्र : ४६२

वास्तुकुण्डली : २४३

वास्तुचन्द्रिका : २४३

वास्तुतत्त्व : २४३

वास्तुपुरुषविधि : २४३

वास्तुपूजनपद्धति : २४३

वास्तुप्रदीप : २४३

वास्तुयागतत्त्व : २४३

वास्तुशान्ति : २४३

वास्तुशान्तिप्रयोग : २४३

वास्तुशास्त्र : २४३

वास्तुशिरोमणि : २४३

वास्तुसौख्य : २४३

विक्रमांकदेवचरित : ३६७, ३६७ टि.

विक्रमोर्वशीय (नाटक) : २६६

विजया नदी : ४५२, ४६८, ४६९

विजयार्द्ध : ४५७, ४६३, ४६४
 विज्ञान-भवन : ४१८
 विदूषः : ४७७
 विण्टरनिस् (नित्त्र) : ३, २८, २९, १०१
 वितस्ता (झेलम) : ४६९
 विदर्भ-जनपद : ८७, ४६८, ४७१, ४८०
 विदेह (क्षेत्र) : ४५७, ४६१, ४७०, ४८२
 विद्याधर-निकाय : ४०७
 विद्याधरी (काशी की प्रसिद्ध गणिका) : २८०
 विद्यामुखी (विद्या) : १६५
 'विधिविज्ञान का स्वरूप' : ४३४ टि., ४३७
 विनफील्ड (अपराध-वैज्ञानिक) : ४३८
 विनीता (अयोध्या) : ३९९, ४७७, ४७१, ४८२
 विन्ध्यगिरि (पर्वत) : ४६३
 विपाशा (व्यास) : ४६९
 विपुलाचल : ३७८, ४६४, ४७५, ५७९
 विमलसूरि (आचार्य) : ६, ७, ७ टि., ८, ९, ११, १०९, ११०, १११, ११२, ११४, १५३, २३०
 विमानभट्टभाष्य : ४६४
 विलियम्स (अपराध-वैज्ञानिक) : ४३८
 विशाखदत्त : १९
 विशाखिल : २७१
 विशारद (रसायनाचार्य) : २१९
 विशाल (राजा) : ४७८, ४७८ टि.
 विशालापुर : ४७८ टि.
 विशुद्धानन्द (स्वामी, परमहंस) : १६९, १७०
 विश्वकर्मप्रकाश : २४३
 विश्वकर्मा : २२६, २४२, २४३, २४६, २५४, ३६५
 विश्वकर्माय शिल्पशास्त्र : २४३
 विश्वनाथ
 (महापात्र : कविराज : आचार्य) : ८, ८१, ११३, २३६, २६७, २७५, २८२, ५२२, ५५५, ५५९, ५६०
 विश्वनाथप्रसाद वर्मा (डॉ.) : ३१९
 विश्वामित्र : २२५
 विष्णुकुमार : ४१४, ४७६

विष्णुगीत : २८६, २८७, ४१४
 विष्णुपुराण : ३९३, ४७८ टि.
 वीतिभय (जनपद) : ४८२
 वीरचिन्तामणि : २२४
 वीरभद्र (आचार्य) : ६
 वृक्षायुर्वेद : २२१
 वृत्तवैताक्य (पर्वत) : ४५९, ४६४
 वृद्धशार्ङ्गधर : २२४, २२५, २२६, २२७
 वेणुपथ : ४५१
 वेतालपंचविंशति : २७
 वेतालविद्या : १६१
 वेत्रपथ : ४५०, ५२४
 वेबर : ५०९
 वेबस्टर : ५४२
 वेयङ्ग (वैताक्य) : ४६५
 वैखानस : २४३
 वैतर्द्ध : ४६५
 वैताक्य (पर्वत) : ४०७, ४५०, ४६१, ४६४, ४६५, ४६८, ४७७, ४८१
 वैदिक विज्ञान और
 भारतीय संस्कृति : ३८१ टि., ३९८ टि., ४०३ टि.
 वैभारगिरि : ४६४
 वैराग्यशतक : ३५३
 वैराट (जनपद) : ४८२
 वैशम्पायन : २२४, २२५, २२६, २२७
 वैशाली : ४७५, ४७८ टि.
 वैशाली भवन (टिकियाटोली, पटना) : ४६९ टि.
 व्यवहारसूत्रभाष्य : ५१४
 व्याडि (रसायनाचार्य) : २१९
 व्यास : ११३
 व्यासदास (क्षेत्रेन्द्र का अपर नाम) : २४
 'वृजलोक-साहित्य का अध्ययन' : ११५ टि.
 श
 शंकर बालकृष्ण दीक्षित : १८१ टि.
 शंकराचार्य : १७०, ३४१ टि.

शंकुपथ : ४५०, ४६८, ५२४

शंखनदी : ४६९

शक्तिसंगम (तन्त्र) : १५९ टि.

शक्तिसूत्र : १७०

शतद्रु (सतलज) : ४६९

शतपथब्राह्मण : ३३६, ३९८

शतसहस्रपाकतैल : २१३

शतसहस्रवेधी रस : २१८

शब्दकल्पद्रुम : ४८४

शम्भु (रसायनाचार्य) : २१९

शर्कराप्रभा (दूसरी नरकभूमि) : ३९६

शर्ववर्मा : १७

शाखायनगृह्यसूत्र : १८२

शाखायनश्रौतसूत्र : ३६५

शांगदिव : २६८

शार्गधर (वृद्ध) : २२७

शार्गधरसंहिता : १९६

शाकलीय वास्तुपूजापद्धति : २४३

शाकल्य (मुनि) : ३९८

शाक्ततन्त्र : १६१ टि.

शाण्डिल्य (जनपद) : ४८२

शान्तिनाथ (शान्तिस्वामी) : ३९६, ४१८, ४२१,
४७६, ४९१, ५०२, ५१३

शालिमाम (जनपद) : ४७१, ४८१

शिवनाथ झारखण्डी : १८१ टि.

शिवपूजन सहाय (आचार्य) : २८०

शिशुपाल : ४७७

शीता (सीता महानदी) : ३९१, ४७०, ४७१, ५६६

शीतोदा (महानदी) : ४६२, ४७०

शुकराष्ट्र : ४७१, ४७९

शुक्तिमती (नगरी) : ४७७, ४७८, ४८२

शुक्रनीति : २२४

शुक्रनीतिसार : २५२, २५७, २८८

शुक्राचार्य : १२४

शुम्भा-निशुम्भा (विद्या) : १६२

शूरसेन-जनपद (देश) : ३५१, ४७१, ४७९,
४८२, ५०३

शृंगारसट : ३४, २७१ टि., २७२ टि., २७३ टि., ५८३

शैलोदा (नदी) : ४७१

शैवतन्त्र : १५५, १९३

शौनक : २४३

शौरि (जनपद) : ४७९, ४८२

श्येनमुखी (विद्या) : १६८

श्रमणकेलौल (मैसूर) : ४६३

श्रावस्ती : ४५३, ४८०, ४८१, ४८२

श्रीजैनविश्वभारती (लाङ्गनू) : २२ टि.

श्रीमत्कान्तिविजय : ६७

श्रीमद्भगवद्गीता : २०२, ४८६, ४८६ टि.

श्रीमद्भागवत (पुराण) : ४, ८४, ९३ टि., ९८, ९९

श्रीरंजन सूरिदेव (डॉ.) : १४ टि., १९ टि., २० टि., २३,
३८६ टि.

श्रेणिक (राजा :

सम्राट् : बिम्बिसार) : ७४, ७६, ८४, ११०,
४५७, ४७३, ५०२

श्वेतकेतु (उद्दालकपुत्र) : २५९

श्वेतपुर (चेचर) : ४६९ टि.

'श्वेतपुर की खोज और उसका इतिहास' : ४६९ टि.

श्वेतविका : ४८२

श्वेता (जनपद) : ४७१, ४८१

श्वेताश्वतरोपनिषद् : ४९१

ष

षट्कर्म : ४८०

षट्खण्डचक्रवर्ती : ४६१

षड्दर्शनसंग्रह : ४८४ टि.

स

संक्षिप्तसार : ५०४

संगीतदामोदर : २६८

संगीतपारिजात : ३६३

संगीतरत्नाकर : २६८, २६८ टि., २८६

संगीतसार : ३६३

संघदासगणिकाचक

(आचार्य : संघदासगणी) : ६, ९, १०, ११, १२,
१३, १४, २०, २२, २३ टि.,

२७, २८, २९, ३२, ३३, ३५, ३६,	सत्येन्द्र (डॉ) : ११५
३७, ३९, ६७, ६८, ६९, ७०, ७३,	सनत्कुमार : २४३
७४, ७५, ७७, ७८—८२, ८५, ८६,	सनत्कुमार (चक्रवर्ती) : ४७६
८८, ९४, ९८—१०३, १०७,	सप्तरूप (प्राचीन गीत) : २६९
१०९—११६, ११९—१२१, १२६,	समयमातृका : २४
१२८, १२९, १३१—१३६, १३८,	समरांगणसूत्रधार : २४३, २४६, २४७, २४९ टि.
१३९, १४३, १४४, १४७, १४८,	समराइच्चकहा
१५०, १५२—१५४, १५६,	(समरादित्यकथा) : ९, १०, ८२, ५१४, ५२३
१६१ टि, १६२ टि, १६३, १७१,	समवसरण (धर्मसभा) : ३६१
१७२, १७९, १८२, १८४, १८५—	समवायांगसूत्र : १५५, २४२, २५७, २६१, ५०१
१९२, १९५—१९९, २०३—२२१,	'सम्बोध' (त्रैमासिक) : १८ टि.
२२३, २२५—२३६, २३९—	सम्प्रेदशिखर (पारसनाथ पर्वत) : ३७८, ४६२, ४६४
२५४, २६०—२६५, २६९, २७०,	सयुगवा रैक्व : ४४६
२७२—२७५, २७९—२८८,	सरस्वतीकण्ठाभरण : ५६०
२९०—२९९, ३०२, ३०५—	सर्पविद्या : १६५
३०८, ३१५—३२०, ३२२, ३२६,	सर्वसिद्धान्तसंग्रह : ४८४ टि.
३२९, ३३०, ३३२—३३६, ३३८,	सर्वार्थसिद्धिटीका : ४८६
३४०, ३४२, ३४३, ३४५—३६३,	सर्वौषधिलब्धिविद्या : १६६
३६४—३६८, ३७०, ३७२—	सलिलावतीविजय : ४५८, ४७०
३७८, ३८१—३८९, ३९३, ३९६,	सहस्ररजनीचरित : ३०
३९७, ४००, ४०१, ४०३, ४०५—	सहस्राभवन : ३८१, ३८५, ३८६
४१५, ४१६, ४१९, ४२२, ४२४—	सहस्रारचक्र : २३३, २३४
४२७, ४२८, ४३२—४३४,	सांख्यकारिका : ४८९, ४९२, ४९२ टि.
४३६—४४८, ४५१—४६१,	साँची : ३८४
४६३—४६७, ४६९—४७१,	साकेत : ४७७, ४८२
४७३—४७६, ४८१—४८३,	साईबाबा : १६९, १७०
४८५, ४८६, ४८८, ४८९, ४९१,	'सात' : १७
४९२, ४९४—४९६, ४९९, ५०२,	सातवाहन (राजा) : १७, १८, ३५, ७८
५०४, ५०९, ५१४—५१८,	सात सम्प्रदाय : ४८३, ४९४
५२०—५२५, ५२८, ५२९, ५३१,	सात्त्विक (रसायनाचार्य) : २१९
५३२, ५३४—५३७, ५४२—	सामवेद : २६६, २६७
५४६, ५४९, ५५१, ५५३, ५५५—	सायणाचार्य : १८०
५६२, ५६४, ५६६, ५६८—५७२,	'सार्थवाह' : ४५१ टि., ४५२ टि., ४५५ टि., ४५८ टि.,
५७४, ५७५, ५७८—५८१, ५८४,	४५९ टि., ४६१ टि., ४६२ टि., ४६३ टि.,
५८७, ५९६	४६७ टि., ४६९ टि., ४७१ टि., ४७७ टि.

संस्कृत-साहित्य का इतिहास : २४ टि., २६, २६ टि.,
३५ टि., ३६ टि.

संस्कृत-सुकवि-समीक्षा : १४ टि., १९ टि.

संस्कृत-हिन्दी-कोश : २५५ टि., ५९७

सतीशचन्द्र मिश्र (पं. मिश्र) : ४३४, ४३७, ४३८

'सार्थवाह' : ४५१ टि., ४५२ टि., ४५५ टि., ४५८ टि.,
४५९ टि., ४६१ टि., ४६२ टि., ४६३ टि.,
४६७ टि., ४६९ टि., ४७१ टि., ४७७ टि.
'साहित्य का इतिहास-दर्शन' : ७ टि., २१ टि.

साहित्यदर्पण : ८, ८१, १०० टि., ११३ टि., ११४ टि.,
२६६, २६७ टि., २७५ टि., २८२ टि.,
५२२ टि., ५२५ टि., ५६०

सिंह (शिग) भूपाल : २८५

सिंहदेवगणी : ५००

सिंहल (श्रीलंका) : ४४८, ४५१

सिंहलद्वीप (देश) : ४५७, ४६१, ४७१, ४८१, ५०३

सिकन्दरिया : ४५१

सिद्धशिला : ३९७

सिद्धान्तकौमुदी : २५६

सिद्धार्थवन : ३८१

सिन्धु (जनपद) : ४७१, ४८१

सिन्धुघाटी-सभ्यता : ४६९

सिन्धुनदी : ४६९

सिन्धुसागरसंगम (प्राचीन बर्बर) : ४६९

सिन्धु-सौवीर : ४८२

सिलवाँ लेवी : ४६२

सी. एच्. टॉनी : २६

सीर-दरिया : ४५२, ४६९

'सीता की अग्निपरीक्षा' : ११०

सुकच्छ (जनपद) : ४७०, ४८१

सुकच्छविजय : ४५८

सुत्तनिपातभाष्य : ४६४

सुधर्मास्वामी : ७१, ७२, ७३, ७४, ७६, ४७३, ५०२

सुप्रतिष्ठित (नगर) : १६

सुप्रतीक (यक्ष) : १६

सुबन्धु (नाट्यकार) : १९

सुभौम : ४७६

सुरलोज्ज्वला (भाषाटीका) : २१९ टि.

सुरवन : ४७३

सुरानन्द (रसायनाचार्य) : २१९

सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) : ४७१, ४७९

सुलसा (परिव्राजिका) : ४७६

सुवर्णद्वीप (भूमि) : ४५७, ४६१

सुवर्णद्वीप (सुभागा) : ४४८

सुवर्णनाभ : २५९

सुशीलकुमारदे : २६

सुशीलकुमार फुल्ल (डॉ.) : १२०

सुश्रुत (महर्षि, आचार्य) : १९२, १९३, १९४, १९५,

१९६, १९८, २०२, २०३, २०४, २०५,

२०६, २०७, २०८, २०९, २१०,

२११, २१२, २१४, २१५, २१६

सुश्रुतसंहिता : १९२, १९२ टि., १९३ टि., १९६, १९८,

२०२ टि., २०४, २०५, २०७,

२१२ टि., २१४ टि., ३७७

सुत्रकृतांग : ३७५, ४८४

सूरसेन (रसायनाचार्य) : २१९

सूराबाँध : ४७२

सूर्य (ऋषि) : १७१

सूर्यमती (कश्मीर की रानी) : २४

सूर्यविज्ञान : १६९

सूर्यसिद्धान्त : १७१

सेतुबन्ध (काव्य) : ५०४

सैमोण्ड (अपराध-वैज्ञानिक) : ४३८

सोमदेव (भट्ट-आचार्य) : १३, १४, १५, २०, २४,

२६, २७, २८, २९, ३१, ३५, ७८, ४६५

'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' : १३२ टि., ५३७ टि., ५४२ टि.,

५४४ टि., ५४६ टि., ५४७ टि.,

५५४ टि., ५५५ टि.

सौराष्ट्र (देश-जनपद) : ४७९

स्कन्दिलाचार्य : ५०३

स्टेनकोनो : ३४

स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑफ फोकलोर : ८०

स्तम्भिनी (विद्या) : १५५, १६९

स्थानांग (ठाणांग, ठाणी) : २२ टि., १७१, १९४,

१९५, २०३ टि., २४१ टि., ३३६, ३७५,

३७६, ३८४, ३८४ टि., ३८५, ३८६,

३८९, ३९३ टि., ३९९, ४००, ४०१ टि.,

४३९, ४५८, ४५९, ४६१, ४६३, ४६४,

४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०,

४७८, ५२२ टि., ५२३

स्थानांगवृत्ति : २६७, ३७५, ३७५ टि.

स्फुलिंगमुख (अश्व) : ३७०

स्मार्तरघुनन्दन (आचार्य) : २४३
स्वच्छन्दभैरवतन्त्र : २१९
स्वतन्त्र कलाशास्त्र : २४३ टि., २५७ टि., २८५ टि.
स्वयम्भू कवि : ७ टि., १०९
स्वयम्भू रामायण : १०९
स्वाति (संगीतकार) : ३६५
स्वोपज्ञवृत्ति (टीका) : २०

ह

हंसनदी (जयपुर) : ४७०
हंसलक्षण : ३५३, ३५५
हंसविलम्बित (अश्व) : ३७०, ३७९
हजारीप्रसाद द्विवेदी (आचार्य) : १७ टि., ८०, ८२, ११५, १४८
हम्बोल्ट (पाश्चात्य चिन्तक) : ३१९
हयशीर्ष पंचरात्र : २४३
हरगोविन्द मिश्र (पं., टीकाकार) : ४५४
हरि (क्षेत्र) : ४५९, ४६४
हरि (रसायनाचार्य) : २१९
हरिनैगमेषी (नैगमेषी) : २०३, २०३ टि., २९७
हरिभद्र (सूरि : आचार्य) : ६, ९, १०, ११, ८२, १३१, १५३, ५२३
हरिभद्र के प्राकृत-कथासाहित्य का
आलोचनात्मक परीक्षण : ६८ टि., ११६ टि., ११७ टि., १४६ टि., १४७ टि.
हरिवंश (कुल) : ३८६, ४०३, ४७८, ४७९
हरिवंशचरित : ११
हरिवंशपुराण : ३८, ८४
हरिवर्ष : ३८५, ४५७, ४७८
हरिवेण (आचार्य) : ३८, १५१ टि.
हरिवेण (राजा) : ४७८
हटेल (प्रो.) : ४, २४
हर्डर (चिन्तक) : ३१९
हर्षचरित : १५, ८२

हर्षचरित : एक
सांस्कृतिक अध्ययन : २८६ टि., ३५५ टि.
हस्तिनापुर (दिल्ली) : १६७, ४४१, ४६६, ४६७, ४७६, ४८१, ४८२
हस्त्यायुर्वेद : २२०
हातिमताई का किस्सा : ३०
हाथीगुम्फा-अभिलेख : ५१६
हारिभद्रवृत्ति : १४६, १४६ टि.
हार्नेले (डॉ.) : ५०३
हाल सातवाहन (राजा सातवाहन) : ६, १४, १६, ५०४
हितोपदेश : ३०८, ५३४, ५३४ टि.
हिन्दी-विश्वकोश : २२४, २२७ टि.
हिन्दी-विश्वकोश
(नागरी-प्रचारिणी सभा) : २२७ टि., २४३ टि.
हिन्दी-समिति (लखनऊ) : १८१ टि.
हिन्दी-साहित्य और बिहार : २८०
हिन्दी-साहित्य का आदिकाल : १७ टि., ८३ टि., ११५ टि., १४८ टि.
हिन्दी-साहित्य का इतिहास
(सत्रहवाँ पुनर्मुद्रण) : ८३ टि.
हिन्दी-साहित्यकोश : ८०
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर : २८
हिस्ट्री ऑफ तमिल लिटरेचर : ३० टि.
हीगेल : २५७, ५५४
हीरालाल जैन (डॉ.) : ६, ६ टि., ६८, ६८ टि., ५५, २४५ टि., २५६, ४६४, ४९८
हुण (देश : जनपद) : ४५०, ४५२, ४५६, ४७१, ४७९
हेनरिच जिम्मर : १३२
हेमचन्द्र (आचार्य) : ११, १९, २०, २५, २९, ३८, ११३, ३०८, ४८४, ५००, ५११, ५७२, ५७९, ५९३
हेमचन्द्र जोशी (डॉ.) : ५००
हैमवत (क्षेत्र : पथ) : ४५९, ४६४, ४७१
हैरण्यवत (क्षेत्र) : ४५९, ४६४



डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

जन्म : २८ अक्टूबर १९२६ ई० : शुभमेश्वरनाथ धौनी, जि० दुमका (सन्थाल परगना : बिहार)।

शैक्षिक उपाधियाँ : एम० ए० (प्राकृत-जैनशास्त्र, संस्कृत एवं हिन्दी) स्वर्णपदकप्राप्त; पी-एच०डी०; साहित्य-आयुर्वेद-पुराण-पालि जैनदर्शनाचार्य, व्याकरणतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार।

कार्यक्षेत्र : वीर-ओइयारा उच्च विद्यालय (पटना) में संस्कृत और हिन्दी का अध्यापन; बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना का कार्यालय संचालन एवं सम्मेलन के शोध-त्रैमासिक 'साहित्य' का सह सम्पादन; बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना में उपनिदेशक (शोध एवं सम्पादन) : 'परिषद्-पत्रिका' (शोध-त्रैमासिकी); प्राकृत-जैन और अहिंसा शोध-संस्थान, वैशाली में प्राकृत के व्याख्याता बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साहित्यमन्त्री एवं पुस्तकालय मन्त्री।

कृतियाँ : 'गीत संगम', 'बहुत है' (काव्य); 'मेघदूत : एक अनुचिन्तन (समीक्षा); 'प्राकृत-संस्कृत का समानान्तर अध्ययन' (समीक्षा) 'वसुदेवहिण्डी : भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा (समीक्षा)' 'अगडदत्तकहा (प्राकृत-कथा : मूल-सह-हिन्दी) अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त-विषयक तीन व्याख्यानों का संकलन; आठ जैन बाल-कथाकृतियाँ; 'अक्षरभारती' (संस्कृत गद्य-पद्य-संग्रह)। अनेक ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनुवाद। पार्यान्तिक, अनूदित कृतियों में 'वसुदेवहिण्डी' (प्राकृत) धूर्वाख्यान (प्राकृत) तथा 'सिंहासनद्वित्रिंशिका' (संस्कृत) उल्लेख हैं।

विशिष्ट सम्मान एवं पुरस्कार : 'विद्यावाचस्पति', हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, (इलाहाबाद); 'वाङ्मयरत्न', साहित्यकार संसद, समस्तीपुर (बिहार); 'साहित्यमार्तण्ड', कला संस्कृति साहित्य-विद्यापीठ, मथुरा; 'विद्याविभूषण' भारतीय शास्त्र समाज समिति, छपरा (बिहार), 'साहित्यरत्न', राजस्थान हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, बीकानेर; 'साहित्यिक पत्रकारिता-सम्मान बिहार पत्रकारिता-संस्थान एवं संग्रहालय, पटना, 'बलिनारायण राष्ट्रभाषा-पुरस्कार', भाषा-संगम, दुमका (बिहार) इत्यादि।

दि. २८ फरवरी, १९९५ ई० : बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना (बिहार शिक्षा-सेवा, संवर्ग-१) के उपनिदेशक (शोध) के पद सेवानिवृत्त।

